प्रकाशक —
श्री आचार्य विमलसागर संघ

ग्रन्थ मिलने का पता —
राय साहब नेमीचन्द्र जैन
बनारसी प्रेस,
जलेसर (एटा)
उत्तर प्रदेश

मुद्रक —
नेमीचन्द्र जैन
बनारसी प्रेस, बनारसी कुञ्ज,
जलेसर (एटा)

* श्री वीतरागाय नमः *

श्री आचार्यवर्य सकलकीर्ति विरचितः—



मूलाचार प्रदीपः

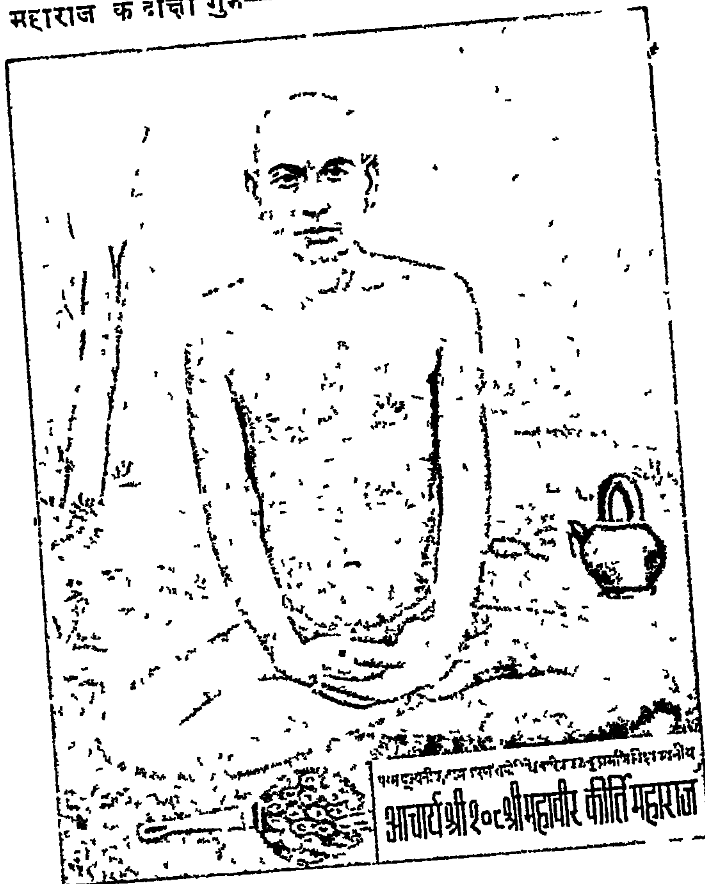
अनुवादकः—धर्मरत्न पं० लालाराम जी शास्त्री



श्री वीतराग तपोमूर्ति धर्म दिवाकर १०८ आचार्य दिमलसागर जी महाराज

श्री बनारसी प्रेस, जलेसर।

आचार्य विमलसागर जी महाराज के दीक्षा गुरु—



१८ भाषा भाषी उद्भट विद्वान

परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज

बनारसी प्रेस, जलेसर।

परम पूज्य श्री १०८

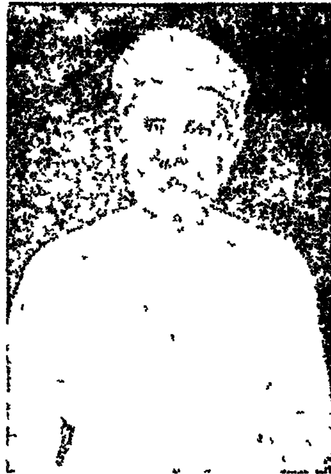
आचार्य सुधर्मसागर जी महाराज



आचार्य जी ने अपने रुग्ण स्वल्प कालीन जीवन मे
संस्कृत में अनेक ऐसे महान शास्त्रो की रचना
की जो मुनि धर्म और श्रावकधर्म के लिए
महान उपयोगी और पथ प्रदर्शक हैं।

सरस्वती दिवाकर धर्मरत्न पूज्यनीय

प० लालाराम जी शास्त्री



महान मूलाचार प्रदीप ग्रथ के अनुवादक

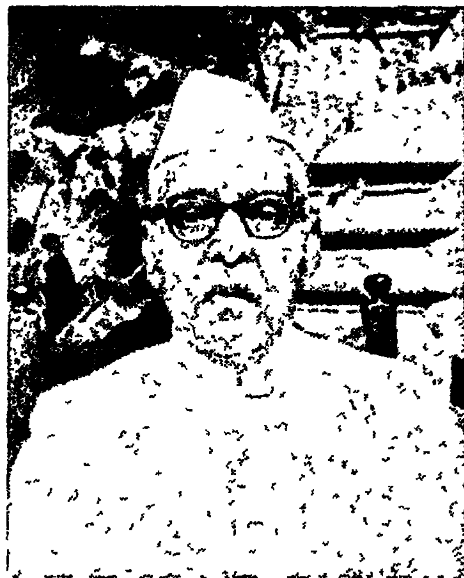
अनेक महान ग्रथा के टीकाकार

बनारसी प्रेस, जलेसर।

इस ग्रन्थ के मुद्रण के सहायक



सेठ सुन्दरलाल जैन, देहली



सेठ भगवतीप्रसाद जैन, मथुरा

॥ श्रीः ॥

* विषय-सूची *



प्रथम अधिकार

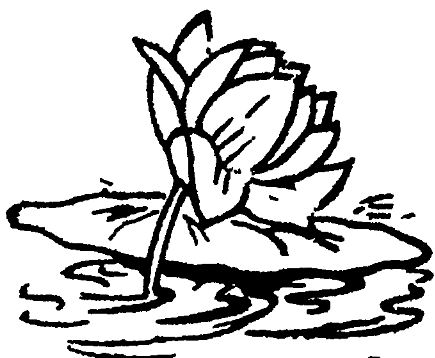
दूसरा अधिकार

तीसरा अधिकार

दशवां अधिकार

ग्यारहवां अधिकार

बारहवां अधिकार



श्री

इस महाग्रंथ के मूलकर्ता

आचार्य श्री सकलकीर्ति जी महाराज



इनका पूर्ण चरित्र तो मुझे मालूम नहीं है मैं तो केवल इतना ही जानता हूं कि ये ईडरगादी के भट्टारक थे बड़े विद्वान् थे संस्कृत भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था तथा जैन सिद्धान्त के बहुत ही मर्मज्ञ ज्ञाता थे। यही कारण है कि आपने प्राचीन उत्तमोत्तम ग्रंथों की विशद टीकायें पद्यमय संस्कृत भाषा में की हैं। यह भी मूलाचार की टीका है इसी प्रकार प्रश्नोत्तर श्रावकाचार रत्नकरंडश्रावकाचार को टीका है। आपने शांतिपुराण ऐसे अनेक पुराणों की रचना की है जिनमें जैन सिद्धान्त के अनेक विषय विशद रूप से कूटकूट भर दिये हैं। इनमें बुद्धि की अच्छी स्फूर्ति थी और शीघ्रता के साथ रचना करने की अद्भुतशक्ति थी। यही कारण है कि आपने अनेक विषय के कितने ही ग्रंथ लिखडाले हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि आपने अपना समस्त जीवन इन ग्रंथों की रचना ही में लगा दिया होगा।

इस समय हमारे पास यथेष्ट साधन न होने से हम न तो इनके बनाये हुये समस्त ग्रंथों के नाम ही लिख सकते हैं और न इनका जीवन चरित्र वा धर्म की दृढता उसकी वृद्धि वा समाज हित की बातें ही लिख सकते हैं। तथापि यह निश्चित है कि ये बड़े धर्मात्मा थे समाज हितैषी थे और रत्नत्रय को धारण करने वाले थे। इन समस्त कार्यों की पूर्ण जानकारी न होने के कारण हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

—लालाराम शास्त्री

* श्रीवर्धमानाय नमः *

टीकाकार का परिचय



उत्तर प्रान्तवर्ती आगरा नगर के निकट एक चावली गांव है। वह है तो छोटा पर है सुन्दर इसी गांव के पद्मावतीपुर जाति में भूषणस्वरूप लाला तोताराम जी थे। वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अच्छे अनुभवी वैद्य थे, तथा जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे। यही कारण था कि वे गांव के शिरोमणि गिने जाते थे। आपने अपने नश्वर शरीर को वि०सं० १९६५ में छोडा था।

आपके छह पुत्र हुए। उनका परिचय इस प्रकार है:—

१—**लाला रामलाल जी**—आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घर पर व्यवसाय करते रहे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार और उत्तम था आप अच्छे धर्मात्मा थे। आपने वि० सं० १९७० में अपने शरीर का त्याग किया।

२—**लाला मिट्ठनलाल जी**—आप घर पर रहकर व्यवसाय करते रहे। आपने बाल्य जीवन मे कुछ दिन अलीगढ़ की पाठशाला में संस्कृत भाषा का अभ्यास किया था। आपका स्वर्गवास वि० स० २००७ मे हुआ था।

३—**इस ग्रंथ के टीकाकार धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर पं० लालाराम जी शास्त्री।**

४—**श्री १०८ आचार्य श्री सुधर्मसागर जी महाराज**—आपका पूर्व नाम पं० नन्दनलालजी शास्त्री था। वीर नि० सं० २४५४ फाल्गुन शुक्लपक्ष मे जबकि श्री सम्मेदशिखर पर इतिहास प्रसिद्ध पचकल्याणक

महोत्सव हुआ था उस समय आपने फाल्गुन शुक्ला १३ के दिन परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज से गृह विरत सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली थी। इसके एक वर्ष बाद श्री कुंडलपुर क्षेत्र पर दशवीं अनुमति विरत प्रतिमा धारण की थी। फिर अलीगढ में क्षुल्लकदीक्षा धारण की थी। तदनतर प्रतापगढ मे आपने श्री जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी।

आप संस्कृत भाषा के तो शास्त्री थे ही साथ में हिंदी और गुजराती भाषा के भी लेखक थे, तथा प्रसिद्ध व्याख्याता भी थे। आपने चौवीसी पाठ दिवाली पूजन आदि कविताये ग्रंथ लिखे हैं तथा सूर्य प्रकाश पुरुषार्थानुशासन आदि संस्कृत ग्रंथों की टीकाये भी लिखी हैं। उत्तमोत्तम और उपदेश पूर्ण जीव कर्म विचार सदृश ट्रैक्ट लिखे हैं। कितनी ही लेखमालायें लिखी हैं गुजराती भाषा में कुछ ग्रंथ लिखे हैं। आपको वैद्यक शास्त्रों का भी अच्छा अनुभव था। आपकी लिखी एक नीतिवाक्यमाला नाम की पुस्तक है उसमे आपने सदाचार नाम की पुस्तक का भी उल्लेख किया है। परन्तु हमारे देखने में आई नहीं है।

गृहस्थावस्था का अंतिम जीवन आपने बम्बई में व्यतीत किया। श्री ऐलक पन्नालालजी सरस्वती भवन की उन्नति के मूलकारण आप ही थे। श्री आचार्य संघ को उत्तर प्रांत में लाने का मुख्य प्रयत्न आपका ही था। इसीलिए आप संघ के साथ हो लिये थे, और फिर संघ में ही रह गये थे।

श्री जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आपने कितने हो वड़े काम किये थे। प्रथम तो आपकी योग्यता से प्रसन्न होकर पूज्य आचार्य श्री ने अपना सब संघ आपको ही सौंप दिया था और आपको आचार्य पद दे दिया था। इसके सिवाय आपने नीमाड गुजरात वागड मालवा आदि प्रांतो मे विहार कर शास्त्रोक्त मार्ग का अनुपम प्रचार किया था। तथा साथ में चतुर्विंशति तीर्थंकर महा स्तुति, सुधर्मध्यान प्रदीप और सुधर्म श्रावकाचार ऐसे संस्कृत भाषा के महाग्रन्थों की रचना भी की थी। आपने कुशलगढ़ में मुनि ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारियों के मध्य श्रेष्ठ समाधिमरण पूर्वक इस नश्वर शरीर का त्याग किया था।

उनकी शव यात्रा के समय कुशलगढ़ स्टेट ने अपना बैंड, ध्वजा निशान आदि सब लवाजिमा दिया था उनकी निषद्या बनाने के लिये स्टेट ने नदी के किनारे एक उत्तम स्थान दिया था। शव यात्रा में राज्याधिकारी तथा नागरिक मंडली सब साथ थी, तथा उस दिन की सदा के लिये स्टेट भर मे छुट्टी रहने और किसी भी जीव की हिंसा न होने की घोषणा की थी। यह स्टेट का सराहनीय भक्ति का नमूना है।

निषद्यास्थान पर कूआ बाग धर्मशाला बन गई है, छतरी बन गई है, उस छतरी मे उनके चरण कमल प्रतिष्ठित होकर स्थापन किये जा चुके हैं। उनके चरण कमलो को स्थापना स्वयं आचार्य श्री १०८ कुंथुसागर जी महाराज ने की थी। श्री कुंथुसागर जी महाराज आचार्य श्री सुधर्मसागर जी को अपना विद्या गुरु मानते थे तथा उन्होंने अपने समस्त स्वरचित ग्रन्थो में आचार्य सुधर्मसागर जी को अपना विद्या गुरु लिखा है। आचार्य सुधर्मसागर जी की एक एक खड्गासन मूर्ति भी जयपुर मे बन गई है।

उनके गृहस्थावस्था के पुत्र का नाम वैद्यराज जयकुमार है जो सपरिवार नागौर मे रहते हैं और अपना निजी औषधालय अच्छे रूप में चला रहे हैं।

५—न्यायालंकार पं० मक्खनलाल जी शास्त्री—आप संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् हैं, और हिंदी भाषा के सम्मान्य लेखक तथा प्रौढ़ वक्ता हैं। आपने देहली नगर मे आर्य सामाजियो के साथ उन्हीं के सभापतित्व तथा मण्डप में छः दिन तक शास्त्रार्थ कर बड़ी शानदार विजय प्राप्त को थी। उसी समय वहाँ के अग्रवाल, खंडेलवाल, पद्मावती पुरवाल आदि समस्त पंचों ने देहली शिमला प्रांत और दूर दूर से आए हुए समस्त जैनियो ने मिल कर वादीभकेशरी की सुप्रसिद्ध उपाधि आपको प्रदान की थी। इसी प्रकार अंबाला मे भी सनातनी विद्वान के साथ शास्त्रार्थ कर बड़ी खुशी के साथ विजय प्राप्त की थी। इसके सिवाय न्यायालंकार विद्यावारिध न्याय दिवाकर की उपाधियाँ भी आपको प्राप्त हैं। भारतवर्षीय दि० जैन महासभा ने आपकी अनुपम सेवा से प्रसन्न होकर धर्मवीर की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

इस समय आप समस्त दि० जैन समाज मे एक अच्छे माननीय कर्णधार विद्वान् हैं। आपने वर्षों तक उक्त महासभा के मुखपत्र साप्ताहिक जैनगजट की सम्पादकी का जिम्मेदार कार्य बड़ी सुयोग्यता से किया है तथा अधार्मिक वातावरण को हटाते हुए धर्म का उद्योत किया है।

आपने पंचाध्यायी पुरुषार्थ सिध्युपाय और उत्तरार्द्ध राजवार्तिकालंकार की अत्यंत विस्तृत और स्वतन्त्र टीकाएं लिखी हैं, जिनमें प्रत्येक पदार्थ का विवेचन बड़ी योग्यता और सरलता के साथ किया है। आपने भारतवर्षीय दि० जैन महासभाश्रित परीक्षालय के मंत्रित्व का कार्य भी बड़ी योग्यता के साथ किया है। इस समय आप श्री गोपाल दि० जैन सिद्धांत विद्यालय मोरेना का कार्य बड़ी योग्यता और जिम्मेदारी के साथ चला रहे हैं। आप बहुत दिन तक जैन बोधक के सम्पादक रहे हैं तथा इस समय जैन दर्शन का सम्पादन कर रहे हैं।

६—बाबू श्रीलाल जी जौहरी—आप इस समय सपरिवार जयपुर में रह कर जवाहरात का व्यवसाय कर रहे हैं। वहा के जौहरियो में आपकी प्रतिष्ठा अच्छी मानी जाती है।

इस ग्रंथ के टीकाकार—"धर्मरत्न" सरस्वती दिवाकर पं० लालाराम जी शास्त्री—समाज में एक प्रसिद्ध विद्वान हैं। आपने अनेक गम्भीर महान् ग्रथो की बड़ी सरल रूप मे हिंदी टीकाएं की हैं, तथा ग्रथों के मर्म स्थलों को बहुत उत्तमता के साथ स्पष्ट एव विशद किया है। आपकी टीकाओं मे ग्रंथ का कठिन भाग भी सरलता से समझा दिया जाता है।

आपके द्वारा टीका किये हुये बहुत से ग्रथ हैं जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

आदिपुराण, उत्तरपुराण, शान्तिपुराण, धर्मामृत श्रावकाचार, प्रबोधसार, चारित्रसार, आचारसार, बोधामृतसार, ज्ञानामृतसार, सुधर्मोपदेशामृतसार, धर्म प्रश्नोत्तर, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, जिनशतक, (स्वामी समन्तभद्र कृत) पात्र केशरी स्त्रोत, सशयि वदन विदारण, गौतम चारित्र, सूक्ति मुक्तावली, तत्त्वानुशासन, वैराग्य मणिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, दशलाक्षणिक जयमाला, वृहत्स्वयंभू स्तोत्र, लघीयस्त्रय, सुभौम चरित्र, चतुर्विंशति सधान, चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तोत्र, चतुर्विंशति तीर्थंकर महास्तुति, सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार, शान्ति सिधु, मुनिधर्मप्रदीप, दश भक्त्यादि सग्रह, लाटी संहिता, भावसग्रह, जिनसेन सहस्र नाम, आशाधर सहस्रनाम, मूलाचार प्रदीप, सार समुच्चय, मोक्षशास्त्र, आलाप पद्धति आदि।

इसके सिवाय षोडश सस्कार, जैन धर्म, जैन दर्शन, बालबोध जैनधर्म तीसरा चौथा भाग, आदि पुराण समीक्षा की परीक्षा आदि कितनी ही स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं।

भक्तामर शतद्वयी, नमस्कारात्मकसहस्रनाम, अकंपन संघ पूजा, विष्णुकुमार पूजा, श्रीसम्मेद शिखर पूजा, आचार्य शांतिसागर पूजा तथा अन्य मुनियो की पूजाए सस्कृत भाषा मे लिख कर संस्कृत साहित्य का विकास किया है।

आपने इन महान् ग्रंथों की रचना कर तथा सरल हिंदी टीकाएं कर समाज को जो लाभ पहुँचाया है तथा हिंदी तथा संस्कृत साहित्य की जो उन्नति की है उसके लिये यह समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा। आप

भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के अनेक वर्षों तक सह महामंत्री रहे हैं तथा उसके मुख पत्र जैन गजट के संपादक रहे हैं। महासभा ने आपके दूरदर्शिता की पूर्ण निस्पृह सेवा से प्रसन्न होकर आपको 'धर्मरत्न' की महत्वशालिनी उपाधि से विभूषित किया है। आप भारतवर्षीय शास्त्रिपरिषद के सभापति और सरंक्षक भी रहे हैं। भारतवर्षीय दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा बम्बई के भी आप सभापति तथा संरक्षक रहे हैं, तथा इसी सभा ने आपको सरस्वती दिवाकर की उपाधि प्रदान की है। आपके पुत्र का नाम राजेन्द्रकुमार है।

श्री पंडित जी की यह साहित्य सेवा जैन साहित्य के प्रचार के लिये पूर्ण सहायक हुई है। जैन समाज हृदय से अपने महोपकारी का अभिनन्दन करता है और करेगा। हम पंडित जी का सदा अभिनन्दन करते हैं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण के सहायक श्रीयुत सेठ सुन्दरलाल का परिचय

आप का जन्म दिल्ली के एक प्रसद्धि एवं धनाढ्य परिवार सेठ रामजीदास जैनी जो कि 'पान का इक्का' बीड़ी के निर्माता हैं तारीख २६—६—१६१७ को हुआ। वाल्यकाल मे ही माता की मृत्यु हो गई तथा इनके पिता जी के ज्येष्ठ भ्राता सेठ छुन्नामल जैन की विधवा पत्नी श्रीमती नथियादेवी ने इन्हे दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया। इनके लिए इन्होंने ही माता और गुरु का कर्त्तव्य पूर्ण किया और इसी कारण सेठ जी की रुचि प्रारम्भ से ही धर्म की तथा निर्धनो की सहायता की ओर विशेष रूप से रही। यह इनकी माता जी का ही प्रताप और आशीर्वाद है कि आप इसी प्रसिद्ध फर्म के पूर्ण रूप से मालिक हैं तथ इतनी छोटी आयु में इन्होंने उन्नति की है और कर रहे हैं तथा इनके और कई बड़े व्यापार भी हैं।

इन्होंने दिल्ली डिप्टीगंज मे अपने पूज्य पिता सेठ छुन्नामल जैन की स्मृति मे आँख, नाक व गले का धर्मार्थ चिकित्सालय स्थापित किया है जिसका उद्‌घाटन स्वर्गीय पंडित गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा हुआ था। गोदिया (बम्बई राज्य) में जहाँ इनका बीडी का उद्योग है एक आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित किया है और इनकी एक अत्यत तीव्र इच्छा है कि दिल्ली में एक ऐसा स्कूल खोला जाय जहां धर्म और प्रचीन सस्कृति के अनुसार उच्च शिक्षा प्रदान की जाए। आप बड़ी बडी सस्थाओं की कार्यकारिणी मे भी हैं। अपने स्वर्गीय पिताजी की पावन स्मृति में १५००) इस शास्त्र के छपने मे सहायता दी है तथा निर्धनो की हर प्रकार से सहायता करते रहे हैं।

***

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज का

॥ संक्षिप्त जीवन परिचय ॥

***

विमल प्रतिभा, विमल वाणी, विमल छवि मनहार। विमल मुद्रा, विमल चारित, विमल ज्ञान अपार॥
विमल पर्शन, विमल दर्शन, विमल पद दातार। 'विमल सिन्धु', महा मुनी पद, वन्दना शत वार॥

परमपूज्य, पूज्याराध्य, प्रातस्मरणीय, चारित्र चूडामणि, निर्भीक आर्ष मार्ग प्ररूपक, श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज के अनुपम और अपार गुणों को कोई व्यक्ति लिखना या कहना चाहे तो न तो वह लिख ही सकता है न कह ही सकता है। कारण आपका जीवन सदैव से विमल रहा है, और आप में सदैव से अनेक गुण विद्यमान रहे हैं जो कहे या लिखे नहीं जा सकते हैं। परम पूज्य चरित नायक जी का जन्म भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश में एटा जिलान्तर्गत तहसील जलेसर के थोडी दूर स्थित कोसमां नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम धन-धान्य पूर्ण था, यहाँ दि० जैन धर्मानुयायी पद्मावती पुरवाल जैन बन्धुओं के चार पांच परिवार निवास करते थे। जो कि प्रतिभाशाली वैभव सम्पन्न थे। इन्हीं परिवारो में से एक परिवार के नायक श्रीमान् स्वनामधन्य लाला विहारीलाल जी जैन थे, जिनकी परम सुन्दर सुशीला धर्मपत्नी का शुभ नाम श्री कटोरीवाई जैन था, यह कुसवा निवासी ला० चोखेलाल जी जैन की लघु पुत्री थीं। उक्त दम्पति परम धार्मिक और सदाचारी, उदार, सज्जन प्रकृति थे। शुभ मिती आश्विन कृष्णा सप्तमीं वि० सं० १९७३ की शुभ बेला और शुभ नक्षत्र में हमारे पूज्याराध्य चरित नायक ने श्री माता कटोरीवाई के उदर से जन्म गृहण किया। "होंन हार विरवान के होत चीकने पात" की कहा-वत के अनुसार नवजात बालक अपनी मंद मद मुस्कान और विनोदमयी बाल क्रीडाओ से परिवार के मन को आकर्षित करता था। बालक का शुभ नाम श्री नेमीचन्द्र जैन रखा गया। दुर्योग से आपकी माताजी का उदर रोगस्थ व्याधि के कारण पट् मास बाद ही स्वर्गवास हो गया। अब आप के पालन पोपण का कार्य आपके पिताजी की भगनी (आपकी बुआ) श्री दुर्गाबाई जैन ने किया। बालक वय मे आपने स्थानीय पाठशाला में शिक्षा गृहण

की, विद्यार्थी नेमीचन्द्र अपने कक्षा मे योग्य रहते थे, विद्याभ्यास के साथ साथ ही आपमें धर्म रुचि भी जागृत होने लगी और वह रुचि उत्तरोत्तर वढती ही गई। वय के वढने के साथ साथ बुद्धि ने भी विकास किया, धर्मानुराग अधिक होने से आपको धर्म शिक्षा हितार्थ धार्मिक समाज के प्रख्यात श्री गो० दि० जैन सि० विद्यालय मोरेना में भेज दिया गया, जहाँ कि सदागम के पोषक, धर्म मार्ग के प्रचारक, प्रौढ विद्वानो का आपको समागम प्राप्त हुआ। इन्हीं दिनों विश्व वंद्य चारित्र चक्रवर्ति, आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ससंघ उत्तर भारत में विहार कर रहे थे, विद्यार्थी नेमीचन्द्र ने फीरोजाबाद मे सघ का दर्शन किया और वहीं पूज्य आचार्य द्वारा आपका यज्ञोपवीत सस्कार हुआ। यह चारित्र वर्द्धक सस्कार वि० सं० १९८६ में हुआ था। मोरेना महाविद्यालय मे न्याय, व्याकरण, साहित्य ग्रथों का अध्ययन तथा विशेष रुप से सिद्धांतिक शास्त्राय अध्ययन न्यायदिवाकर श्री पं० मक्खनलाल जी शास्त्री महोदय से करके विद्यार्थी नेमीचन्द्र ने विशेष योग्यता प्राप्त की। तदनन्तर आपने अनेक स्थानों का भ्रमण भी किया, साथ ही तीर्थ क्षेत्रो की वंदना गुरुओं की सेवा, मुनियो के दर्शन, विद्वानों का सत्सग भी आपने खूब किया। जयपुर मे परमपूज्य श्री १०८ तपोधन मुनि चन्द्रसागर जी महाराज विराजमान थे, श्री पं० नेमीचन्द्र जी भी महाराज के दर्शन करने जयपुर पहुँचे, वहाँ आपने भविष्य में होने वाले अपने दीक्षा गुरु श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी से उनकी ब्रह्मचारी अवस्था में ब्रह्मचारी महेन्द्रसिंह के रूप में भेंट की। साथ ही वहीं आपने शूद्र-जल त्याग की प्रतिज्ञा भी ली। अब आपने विद्यालय छोड़कर अध्यापकी का कार्य शुरू किया, और आप विशेष करके मारवाड प्रान्त मे अध्यापक रहे। अध्यापकी करते हुए ज्ञान का विकास तो हुआ ही साथ ही चरित्र वल भी विकास को पाने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् अपने पूज्य पिताजी के विशेष आग्रह से आप अध्यापकी छोडकर ग्राम में ही आगये, यहाँ आकर आपने बजाजी का व्यौपार प्रारम्भ किया, साथ ही ग्रामवासी प्रौढ़ पुरुषों एव बालको को नि.शुल्क विद्याध्ययन कराया और सदाचार धार्मिक भावनाएं भी उनमें जाग्रत की। समय समय पर आप अपनी तीर्थ यात्रा का प्रोग्राम वरावर चालू रखते थे, आपने एक वार सतत वन्दनीय श्री सिद्ध क्षेत्र सम्मेदा-चल तीर्थराज की वन्दना अकेले साइकिल से की, साईकिल पर आप थोडा थोड़ा आवश्यकीय सामान पीछे रखते थे, और आगे एक सुन्दर पेटी मे श्री १००८ जिनेन्द्र मूर्ति भी रखते थे, कारण आपके नित्य जिनदेव दर्शन का नियम था, दूसरे थी शूद्र जल त्याग प्रतिज्ञा। आप महान साहसी और निर्भीक युवक थे, आपकी निर्भीकता और साहस की अनेक घटनायें हैं जिन्हें लिखने से लेख वृद्धि का भय है। आपकी कट्टर धार्मिकता, देव, शास्त्र, गुरू, भक्ति जन्म से ही सराहनीय है, आप अपनी धर्म ध्वनि के पक्के पुरुषार्थी आर्ष मार्ग वादी सदाचारी पंडित थे। आपने कुछ समय तक परम तपस्वी, धीर ध्यानी, शास्त्र ज्ञानी, उपाध्याय तुल्य महाविद्वान परम पूज्य श्री १०८ आचार्य सुधर्म-

सागर जी महाराज के भी चरण सान्निध्य मे रहकर ज्ञान अर्जन किया था, और उनसे शास्त्रीय विषयों का विशेष अनुभव भी प्राप्त किया था।

वैराग्य भावना और दीक्षा समारम्भ

राजस्थान के कुचावन शहर में श्री १०८ मुनि पुंगव वीरसागर जी महाराज ससघ पधारे। इधर हमारे चरितनायक जी के पूज्य पिताजी का स्वर्गवास हो जाने से वजाजी का कार्य वन्द करके श्री प० नेमीचन्द्र जो ने पुनः कुचावन में जाकर धर्माध्यापकी का कार्य शुरू कर दिया था। सुगुरु भक्त प० जी को आपने उत्थान का शुभ निमित्त मिला, और आपने उक्त मुनिराज से दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये पश्चात् अखण्ड ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमा धारण की। बस अवतो सभी घरेलू गोरख धन्धों से छुट्टी पाकर केवल एक तीर्थ बन्दना की ही धुनि सवार रही, और अनेक तीर्थों की बन्दना करते हुए वि० स० २००६ चैत्र कृष्णा में होने वाले श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र मरसलगंज के मेले पर आप पधारे। और आपने उस समय क्षेत्र पर होने वाले "कलशा रोहण विधान" को विधि-विधान युक्त वृहद् रूप से कराया। क्षेत्र पर पधारे हुए हजारो नर नारियो ने श्री पं० नेमीचन्द्र जी का अब ब्रह्मचारो जी के भेप में दर्शन किया। इस अवस्था में रहते हुए भी हमारे चरित नायक जी को सतोप न हुआ, और चल पडे अब पूर्ण तया भव बन्धन को तोडने की ओर। वि० सं० २००७ की अपाढ़ वदी पचमी को श्री सिद्ध क्षेत्र बड़वानी पर परम पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। अव ब्रह्मचारी प० नेमीचन्द्र जी पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक वृपभसागर जी बन गये। परमपूज्य, अठारह भाषा के ज्ञाता, निर्भीक वक्ता सदागम पोशक, महाविद्वान श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज जैसे महानगुरु के सव में रहकर आपने अनेक गुणों का संग्रह किया। पुनः आठ माह के पश्चात् ही शुभ मिती माह शुक्ला १३ वि० स० २००७ को शुभ महूर्त में आपने पूज्य गुरुवर्य से ऐलक दीक्षा ले ली, और दो वर्ष तक आप इसी अवस्था में रहकर पूर्ण इन्द्रिय विजयी बने, एवं ज्ञान, ध्यान, शिक्षा, दीक्षा, योगादि क्रियाओं का विशेष अभ्यास किया। अव आप पूज्य श्री १०५ ऐलक सुधर्मसागर जी इस नाम से प्रसिद्ध हुये। दो वर्ष तक इस पद पर स्थित रहने के वाद भी वैराग्य भावना का उत्तरोत्तर विकास ही होता गया, इधर आचार्य संघ विहार करता हुआ श्री सिद्ध क्षेत्र सौनागिर जी पर पधारा। काल लब्धि की प्रेरणा से इस महान उत्तम निमित्त को पाकर आपने अपने गुरु से दिगम्बरी दीक्षा देने की याचना की, महामहिम आचार्य श्री ने अपने सुयोग्य शिष्य की समुचित प्रार्थना को स्वीकार कर शुभ मिती फागुन शुक्ला १३ वि० सं० २००६ को शुभ महूर्त में तीन चार हजार भव्य समुदाय के समक्ष निर्ग्रन्थ दीक्षा दी, अब आपका श्री १०८ विमलसागर जी शुभ नाम रक्खा गया। श्रीमुनि विमलसागर जी में अनेक विमल गुणों का समावेश तो था ही, अब तो विमलदर्शन, विमलज्ञान, और विमल-

चारित्र के धारण से पूर्ण पूज्यता प्राप्त हुई। महाराज विमलसागर जी ने अहर्निश गहन स्वाध्याय करके अपने अनुभव को बढ़ाया, तथा कठिन २ तपस्या और व्रताचरण से आत्मवल की प्राप्ति की। आप अपने शरीर से भी निष्प्रही होकर घोर तपस्वी बन गये। आप साहसी और निर्भीक तो थे ही, अबं त्याग और विराग का समावेश परिपूर्ण होने से आपका तपोवल चमक उठा, आपकी प्रतिभा प्रखरित हो उठी, आपका ब्रह्मचर्य धीरता और वीरता लाया। आपने निर्भीक होकर आगम मार्ग को दर्शाया, आपकी निमित्त ज्ञानशक्ति, ज्योतिपशक्ति एवं स्मरणशक्ति महान है। आपकी वाणी में वह मोहकता है कि कठोर से कठोर पुरुप उसे सुनकर नतमस्तक हो जाता है आपका स्वभाव इतना सरल है कि प्रत्येक प्रश्नार्थी अपनी हृदय की बात खुलकर कह सकता है। आपकी शान्ति मुद्रा, सौम्य मूर्ति, हँसमुखप्रकृति, जीवों पर जादू सा असर करती है। आप रात दिन के चौवीस घन्टों में केवल चार घन्टे ही निद्रा लेते हैं। बाकी समय तत्व चिंतन एवं शास्त्र स्वाध्याय मे, धर्मोपदेश और साधुचर्या मे ही व्यतीत होता है। आप निरालसी साधु हैं, दो दो उपवासों के अनन्तर आहार तो आप विशेप दिनों करते हैं। नमक, घृत, तेल, दही इन चार रसों के तो आप यावज्जीवन त्यागी हैं, बाकी दूध और मीठा इन दो रसो को भी प्रतिदिन रस परित्याग तप को करते हुए लेते है, महीनो अन्न भोजन का त्याग भी आप कर देते हैं। आपने नमक का त्याग तो अपने सघस्थ सभी त्यागियों को करा दिया है। आप अपने शिष्य वर्ग को स्वयं आगम अभ्यास कराते हैं। आपने अपने सघ के साथ २ दक्षिण उत्तर के सभी तीर्थों की वंदना की है। साधु परमेष्ठी पद के आप मे सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं। इन्दौर, फल्टन, पन्ना आदि नगरों में चतुर्मास योग रखकर विहार करते हुए इस वर्प का चतुर्मास आपने टूण्डला चतुष्पथ पर किया था, वहाँ श्री गुरु सघ के विराजने से चतुर्थकाल का सा दृश्य बन गया था। चातुर्मास योगान्त मे आपकी गृहस्थ अवस्था के कुटुम्वी भाई श्री ला० होतीलाल जी जैन कोसमा वालों ने बृहद् सिद्धिचक्र विधान कराया, विधान की सम्पूर्ण धर्म क्रिया आगमोक्त श्री गुरु महाराज जी ने ही स्वयं कराई थी। यह विश्व शान्ति महायज्ञ दर्शनीय विधान था, हमने इस प्रकार का विधान आगे कभी नहीं देखा था, दो दो उपवासों के दिनो में लगातार चार २ पाँच २ घंटे तक बोलना गुरू महाराज का प्रतापी तपोवल था, महाराज जी की इस निश्चलता और विद्वत्ता को देख लोग धन्य२ जै जै पुकारते थे। इसी शुभावसर पर चतुर्विधि संघ की, विद्वद्वर्ग की, समागत समाज की, प्रार्थना एवं प्रेरणा से तथा दीक्षा गुरु श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के आदेश से श्री शुभ मिती मगसर कृष्णा दौज वि० स० २०१७ को शुभ योग एव उत्तमनक्षत्र मे विद्वद् शिरोमणि न्यायाचार्य प० मानिकचन्द जी फीरोजाबाद एव धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर महा विद्वान प० लालाराम जी शास्त्री मोरेना द्वारा आचार्य पद धारण किया। इस समय का दृश्य जिसने देखा वह दर्शक भी अपने को धन्य समझता था, श्री चरितनायक जी की उस समय

की महा मनोहर झाँकी जिसने की वह भाग्यशाली जीव था। समाज के अनेक प्रतिष्ठित गणमान्य व्यक्तियों एवम् विद्वानों ने इसमें भाग लिया था जलेसर के रईस श्री राय साहब ला० नेमीचन्द्र जी ने भी विधान में सकुटम्ब भाग लिया और आहारदान का महान लाभ उठाया उन्होंने आचार्य महाराज का दीक्षा विशेषांक अपने पत्र वीर भारत का निकाला है जो प्रशसनीय है। अब श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज पचाचार तथा छत्तीस मूलगुणधारक धर्मशासक बन गये। अब आपके अनुशासन में हर धार्मिक व्यक्ति को रहना चाहिए, अब श्री आचार्य महाराज हमारे धर्मचरित्र रक्षक शासक हैं, और वह धर्म मार्ग के विरुद्ध चलने पर हर प्रकार का दण्ड विधान कर सकते हैं। श्री आचार्य महाराज की प्रभावशाली हृदयग्राही देशना से अनेकों भव्य समूह का कल्याण हुआ है। श्री महाराज जी के द्वारा श्रेयोमार्ग का विशेष प्रचार हो रहा है और आगे भी होगा। आपके धर्मोपदेश से लाखों व्यक्तियों ने मद्य, मांस, मधु का त्याग कर हिंसा मार्ग को छोडा है। हजारों ही व्यक्ति सदा- चार की ओर मुडे हैं और शुद्ध जल पान का व्रत आचरण किया है। आपने सैकडो भव्य जीवों को आत्म कल्याणकारी व्रत दिये हैं, जिनमे पहली दर्शन प्रतिमा के व्रत से लेकर बृह्मचारी सप्तम प्रतिमा, क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका, मुनि पद पर भी आज वह नर पुंगव विराजमान है। अब तक महाराज द्वारा १॥ लाख व्यक्तियों को शूद्र जल मास भक्षण आदि का त्याग कराया गया है। लगभग २॥ सौ त्यागी उनके द्वारा बनाये गये हैं। वर्तमान मे श्री आचार्य संघ मे तीन नग्न गुरु, एक आर्यका माता जी, एक क्षुल्लिका माताजी, चार एकादश प्रतिमा धारक क्षुल्लक महाराज तथा ब्रह्मचारीगण है। परमपूज्य आचार्य सघ मे किसी भी प्रकार की अराजकता नहीं है। सभी त्यागी ज्ञान ध्यान मे रत रहते हुए गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं, सभी व्रतो लालच लोलुपता रहित आत्म सयमी हैं। श्री आचार्य महाराज का तपोबल एव निमित्त बल इतना प्रबल है कि आपने अनेको चमत्कार कर दिखाये हैं। अनेक आश्चर्यकारी घटनाएं आपके द्वारा हो चुकी है। सूखे हुए कुंओं में अटूट पानी हाने आदि की कई महत्वशाली चमत्कारी बाते हैं। आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी का जीवन उपसर्गों और अतिशयो से भरा है। जब आप बन्धा अतिशय क्षेत्र पहुँचे तो वहाँ के कुए मे पानी नहीं था आपने भगवान आदिनाथ की शांतिधारा कराकर कुँए में प्रच्छाल डलवा दिया जिससे कुछ ही देर में उस जल शून्य कुँए मे अटूट पानी हो गया। जूडापाना में पानी का अभाव था वहाँ के अध्यापको एव छात्रो के आवेदन पर महाराज ने कुँओ मे अटूट पानी होने का आशीर्वाद दिया। मिर्जापुर के रास्ते मे सिंह उपसर्ग और विशालकाय अजगर का उपसर्ग हुआ और दूर हो गया जब आप सघ सहित अकबरपुर होकर जौनपुर जा रहे थे तो रास्ते मे एक रेलवे की चौकी पर शयन करना पडा। उस समय एक भयानक दो हाथ लम्बा सर्प आया और महाराज के हाथ पर लगभग तीन घन्टे खडा रहा और

रेल आने पर उसकी रोशनी से भाग गया। परम तीर्थ गिरनार की वंदना कर जब आप तोपाहाँ पहुँचे तो वहाँ पर और उसके बाद भररिंयाँ में आने पर निवासियों के झुण्डके झुण्ड आपको मारने केलिए आए पर आपकी तपस्या के प्रताप से सब उपसर्ग टला। अपने चरित नायक के साहस और वीरता, धीरता की तो हम गाथा ही कहाँ तक लिखे, वीतरागी अवस्था मे भी आपने अपने ऊपर आये हुए भयंकर क्रूर फणधारी सर्प, एवं विकराल सिंहादिक हिंसक जीवो के उपद्रवों उपसर्गों से अनेक वार विजय प्राप्त की है। पमरपूज्य आचार्य महाराज से धर्म और समाज का विशेष उत्थान होने को है। हमे आपसे बडी आशायें हैं, आपके द्वारा अनेकों धर्म कार्य तथा अनेको जीवो के अनेक हित होगे। अन्त में हम अपने मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक सुगुरु चरणो में मस्तक नवाते हुये भगवान ऋषभदेव से प्रार्थना करते हैं कि वह ऐसे स्वपर कल्याणकारी आचार्य महाराज को दीर्घायु एवं यशस्वी बनावे, जिससे धर्म मार्ग की शतत: उन्नति हो।

सुगुरु हरें, अज्ञान अन्धेरा। सुगुरु हरें, भव बन्धन फेरा।
सुगुरु सदा है, मगल दाई। सुगुरु चरण, वदों सिरनाई॥

सुगुरु चरण सरोज भ्रमर—
भगवतस्वरूप जैन 'भगवत्'
स० मंत्री अतिशय क्षेत्र मरसलगज, पो० फरिहा (मैनपुरी)



प्रस्तावना



आचारांग सूत्र के अनुमार मुनि और श्रावकों के आचरणों का उनको दिन चर्या, व्रत, उपवास, पूजा, दान, परस्पर का व्यवहार आदि का वर्णन अनेक ग्रंथों में पाया जाता है। स्वामी वट्टेकर विरचित मूलाचार, विद्वद्वर्य पंडित आशाधर जी विरचित धर्मामृत के पूर्व भाग यत्याचार, आचार सार, चारित्र सार आदि ग्रंथों में मुनि धर्म का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार धर्मामृत श्रावकाचार, रत्नकांड श्रावकाचार, मेधावी श्रावकाचार आदि अनेक श्रावकाचारों मे श्रावक धर्म का निरूपण है।

इस प्रस्तुत ग्रंथ मे मुनि धर्म का स्वरूप बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ आचार्य सकल-कीर्ति का बनाया हुआ है। श्री सकलकीर्ति आचार्य ईडर गादी के परम विद्वान् तथा विख्यात भट्टारक थे। इनके बनाये हुए अनेक ग्रथ हैं जो अनेक विषयों से भरपूर हैं और अनेक प्रकार की तात्विक चर्चा से भरे हुए हैं।

आचार्य सकल कीर्ति के बनाये हुए ग्रंथों में एक शातिनाथ चरित्र है। जिसमें जिन धर्म के अनेक तत्वो का वर्णन है। इम शांतिनाथ चरित्र के पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि पार्श्व पुराण जो हिन्दी छंदो वद्ध है वह भी मूल ग्रंथ इन्हीं का बनाया हुआ है। क्योकि इस शांतिनाथ चरित्र में इसी ढ़ंग से अनेक उपयोगी जैन तत्वों का वर्णन है। आचार्य सकलकीर्ति ने जो यह मूलाचार प्रदीप नाम का ग्रंथ मूलाचार की टीका रूप में निरूपण किया है। उसी प्रकार इन्हीं आचार्य श्री सकलकीर्ति का बनाया हुआ एक प्रश्नोत्तर श्रावकाचार है। जो प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया है। यह प्रश्नोत्तर श्रावकाचार भी रत्नकाण्ड श्रावकाचार की टीका है। इसी प्रकार इन्हीं आचार्य के बनाये अनेक ग्रंथ हैं।

वास्तविक वात है कि इस ईडर की गद्दी पर वैठने वाले जो पहले भट्टारक हुए हैं वे बड़े ही विद्वान और तपस्वी हुए है। वहुत दिन पहले यह भी सुनने में आया था कि ये सकलकीर्ति आचार्य दिगम्वर अवस्था मे ही रहते थे। आचार्य ललितकीर्ति आदि और भी अनेक विद्वान ऐसे हो गये हैं जो उत्कृष्ट विद्वान और तपस्वी थे। आचार्य ललितकीर्ति का बनाया हुआ एक सिद्धचक्र विधान है जो संस्कृत भाषा में लिखा हुआ वहुत सुन्दर है।

जो प्रकाशित होने के लिए पूज्य ब्र० पं० श्रीलाल जी काव्यतीर्थ के पास श्री महावीर जी को जा चुका है।

वास्तव मे देखा जाय तो इस ग्रंथ का जो नाम है वह सर्वथा सार्थक है। इसका नाम है "मूलाचार प्रदीप" अर्थात् मूलाचार ग्रंथ के विपयो को दिखलाने वाला एक दीपक। इसलिए कहना चाहिए कि यह मूलाचार ग्रथ की एक विस्तृत श्लोक वद्ध टीका है। जो तीन हजार तीन सौ पेसठ श्लोकों मे पूर्ण हुई है।

इस ग्रथ मे जितने विपयो का वर्णन किया गया है। वह आद्यन्त पूर्ण रूप से किया गया है। प्रायश्चित्त समाचार नीति, विनय, शुद्धि, मुनियो की भावनाएं, समाधि मरण की विधि, उत्तर गुणो के भेद, शीलो के भेद, ऋद्धियां आदि अनेक विपयो का वर्णन पूर्ण रूप से किया गया है।

इसमें बारह अध्याय है। सक्षेप से उनमे नीचे लिखे विपयो का वर्णन है।

पहला अध्यायः—मूल गुण और पाचो महाव्रतो का वर्णन है।

दूसरा अध्यायः—इसमे पाचो समितियों का वर्णन है, ऐषणा समित में छयालीस दोप, बत्तीस अंतरायों का वर्णन है।

तीसरा अध्यायः—इन्द्रिय निरोध, इन्द्रियो के भेद, आवश्यकताओ का वर्णन, कृति कर्म, चिति कर्म, पूजा कर्म, विनय कर्म लोकानु वृत्ति विनय, अर्थ विनय, काम विनय, भय विनय, मोक्ष विनय, रत्नत्रय विनय, औपचारिक विनय, पार्श्वस्थ आदि त्याज्य मुनियों का वर्णन, मुनियों की वदना कब करनी चाहिए, वंदना के दोष आदि का वर्णन है।

चौथा अध्याय—आवश्यको की महिमा प्रतिक्रमण निंदा केशलोच निपिद्धिका आसिका तथा अन्य गुणों का वर्णन है

पांचवां अध्याय—विस्तार पूर्वक सम्यग्दर्शन उसके अंग गुण आदि का वर्णन है।

छठा अध्याय—ज्ञानाचार चारित्रचार गुप्ति तप के भेद तथा महिमा वीर्याचार का वर्णन है।

सातवां अध्याय—समाचार नीति, औधिक समाचार नीति के भेद, पद विभागी समाचार अर्जिकाओ की समाचार नीति, एकाविहारी का निपेध आदि का वर्णन है।

आठवां अध्याय—अनेक प्रकार की शुद्धियो का वर्णन है।

नौवां अध्याय—पीछी, अधः कर्मजन्य आहार का निपेध, अन्य दोशो का निशेध, समाधिमरण में स्वगण का निपेध भिक्षा शुद्धि आदि का वर्णन है।

दशवां अध्याय—समाधि मरण की विधि, मरण के भेद हैं।

ग्यारहवा अध्याय—उत्तर गुण और शीलो के भेद दशधर्म का वर्णन है।

वारहवा अध्याय—अनुप्रेक्षाए परीपह जप और ऋद्धियों का वर्णन है।

इस प्रकार वारह अध्यायो में मुनि धर्म के समस्त विपयों का वर्णन बडे विस्तार के साथ निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसी पर से समझ लेना चाहिए कि जब यह ग्रन्थ परम पूज्य स्व० आचार्य शांतिसागर जी महाराज को दिखाया गया था तब उन्होंने अपने शिष्य क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति को उसी समय उसकी एक प्रति लिखकर सघ मे रख ली थी। क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति जी आज मुनि अवस्था में विराजमान है।

परमपूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी ने भी इसको वहुत ही पसन्द किया और अंत मे उनकी रुचि के अनुसार यह ग्रन्थ प्रकाशित हो ही गया।

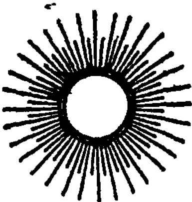
इसके प्रकाशन में राय साहब लाला नेमीचन्द्र जी चेअरमैन जलेसर (एटा) ने भी अपने बनारसी प्रेस मे प्रकाशित कर आचार्य विमलसागर जी की एक मुनि धर्मस्वरूप की विशद जानकारी की अभिलापा पूर्ण की है इसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। उनकी मुनियों के प्रति श्रद्धा प्रशंसनीय है।

इस ग्रथ के प्रकाशन मे श्री सेठ सुन्दरलाल सुरेन्द्रकुमार जैन सदर बाजार देहली ने अपने छुन्नामल चैरिटेवल ट्रस्ट द्वारा १५००) व श्री सेठ भगवतीप्रसाद जैन एन्ड सन्स मथुरा ने १०००) तथा श्री पुत्तूलाल जी कुनेरा इटावा ने ५००) व श्रीमती केसरकुमारी जी धर्म पत्नी श्री बडेलाल जी इटावा ने ५००) व अन्य धर्मवन्धुओ ने आर्थिक सहायता देकर जो प्रकाशन का व्यय भार अपने ऊपर लिया है वे भी अत्यंत धन्यवाद केपात्र हैं। इसके प्रकाशन से केवल परम पूज्य आचार्य विमलसागर जी की धार्मिक अभिलापा ही पूर्ण नही हुई है किन्तु आगामी काल मे इस ग्रन्थ को पढ़कर अनेक मुनि जो अपने व्रतों को अक्षुण्ण रीति से पालन करेंगे अनेक शिष्यो से पालन करावेगे तथा यह मोक्ष मार्ग का साधक निर्ग्रन्थ मार्ग अक्षुण्ण रीति से चलता रहेगा इसका भी श्रेय उन्हीं लोगो को प्राप्त होगा जो किसी न किसी रूप से इसके प्रकाशन में सहायक हुए हैं।

मैं कोई बडा पंडित नहीं हूँ न मुझ मे कोई विशेप ज्ञान है। तथापि मैंने जो धर्म प्रेमवश इसकी टीका लिखी है वह जब तक चन्द्र सूर्य है तब तक भव्य जीवों का कल्याण करती रहे यही मेरी सम्भावना है। अज्ञानता और प्रमाद वश इसमें जो कमी हो भूल हो उसको परमपूज्य आचार्य, मुनिराज एव विद्वज्जन क्षमा करते हुए शुद्ध कर पठन पाठन का प्रचार करते रहे यही मेरी अंतिम प्रार्थना है।

मोरेना ज्येष्ठ कृष्णा १० वृहस्पतिवार
वि० सं० २०१८, वीर नि० सं० २४८७

मोक्ष मार्गाभिलाषी—
लालाराम जैन शास्त्री



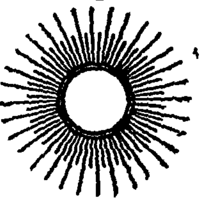
❋ समर्पण ❋

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज,

यह मूलाचार प्रदीप की हिंदी टीका आपने बहुत पसंद की है। है भी इसमे समस्त मुनियो के कर्तव्यो का पूर्ण विवरण। वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले मुनियों के लिये यह अत्यंत लाभप्रद एवं मार्गदर्शक है। आप एक विद्वान् तपस्वी हैं इसीलिये यह महाग्रथ आपके ही करकमलों में सादर समर्पण किया जाता है।

भवच्चरण सरोरुह सेवी

लालाराम शास्त्री



श्रीः

* श्री वीतरागाय नमः *

श्री आचार्यवर्य, सकलकीर्ति विरचितः

मूलाचार–प्रदीपः

भाषा टीका सहितः



मंगलाचरण टीकाकार

परमेष्ठी पांचों नमूं जिनवाणी उरलाय ।
मूलाचार प्रदीप की टीका लिखूँ बनाय ॥

श्रीमन्तं मुक्तिभर्तारं वृषभं वृषनायकम् । धर्म तीर्थकरं ज्येष्ठं वन्देऽनंतगुणार्णवम् ॥१॥ आचारांगं वभाषे यो यत्याचारनिरूपकम् । आदौ चतुर्थकालस्यात्राद्य मोक्षाप्तये सताम् ॥२॥ तमादितीर्थकर्तारं यत्याचारपरायणम् ।

जो भगवान् श्री वृषभदेव स्वामी अंतरंग, वहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, जो मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी हैं, धर्म के नायक हैं, धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हैं । इस युग के तीर्थकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं और अनंत गुणों के समुद्र हैं, ऐसे भगवान वृषभदेव को वंदना करता हूँ ।१। सज्जन पुरुषों को इस भरत क्षेत्र में आज भी मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस चतुर्थ काल के प्रारम्भ में ही जिन्होंने मुनियों के आचरणों को निरूपण करने वाला आचारांग का निरूपण किया था तथा जो मुनियों के आचरण पालन करने में स्वयं तत्पर हुए थे और जिन्होंने इस युग में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की है, ऐसे

आचारशुद्धये स्तौमि धर्मतीर्थप्रवर्तकम् ॥३॥ येन प्रकाशितं लोकेऽस्मिन्नाचारांगमूर्जितम् । हीयमानमपि स्थास्यति यावदन्तिमं दिनम् ॥४॥ कालस्य पंचमस्याहो तं नौम्याचारपारगम् । श्रीवर्द्धमाननामानं मिथ्याज्ञानतमोपहम् ॥५॥ शेषा ये तीर्थकर्तार आचारांगप्रवर्तिनः । आचारभूषिता वंद्यास्त्रिजगत्स्वामिभिः स्तुताः ॥६॥ अजिताद्या जिनाधीशा विश्वभव्यहितोद्यताः । संतु ते मे स्वभूत्याप्त्यै वंदिताः संस्तुता मया ॥७॥ विदेहेपूर्व सद्म यः प्रवर्तयति मुक्तये । अद्यापि भव्यजीवनामाचारांगं सुवृत्तदम् ॥८॥ तस्मै तीर्थकृते श्रीसीमंधरस्वामिने नमः । तद्गुणाय जिनेन्द्राय ह्यनन्तगुणसिंधवे ॥९॥ येऽत्रार्धाधिकसद्वीपद्वये सन्ति जिनाधिपाः । आचारवर्तिनः पुंसां दिव्येन ध्वनिना भुवि ॥१०॥ आचारभूषणा अन्तालीलाः कालत्रयोद्भवाः । वंद्याः स्तुत्याः सुरेन्द्रा—

प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभ देव की मैं (आचार्य सकल कीर्ति) अपने आचरण शुद्ध करने के लिये स्तुति करता हूं ॥२—३॥ जो भगवान् वर्द्धमान स्वामी मिथ्या ज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान हैं और जिन्होंने इस संसार में अत्यन्त देदीप्यमान आचारांग को प्रकाशित किया है तथा उन वर्द्धमान स्वामी का कहा हुआ जो आचारांग इस पंचमकाल में दिनोदिन घटता हुआ भी इस पंचमकाल के अन्त तक बराबर बना रहेगा ऐसे आचारांग को निरूपण करने वाले और आचार पालन करने में पारंगत भगवान् वर्द्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४—५॥ भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक मध्य के तीर्थंकर भी आचारांग की प्रवृत्ति करने वाले हैं, आचार से विभूषित हैं, तीनों लोकों के स्वामी जिनकी वंदना करते हैं स्तुति करते हैं तथा जो समस्त भव्य जीवों के हित करने में उद्यत रहते हैं और मैंने भी जिनकी वंदना और स्तुति की है, ऐसे वे तीर्थंकर परमदेव अपनी अनत चतुष्टय रूपी विभूति मुझे भी प्रदान करें ॥ ६—७ ॥ जो भगवान् सीमंधर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्र मे भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए आज भी निर्मल चरित्र को बतलाने वाले आचारांग की प्रवृत्ति कर रहे हैं, जो अनंत गुणों के समुद्र हैं और जिनेन्द्र हैं ऐसे भगवान् सीमंधर स्वामी को उनके गुण प्राप्त करने के लिए मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८—९ ॥ इस ढाई द्वीप में भूत, भविष्यत्, वर्तमान् तीनों कालों में होने वाले जिन तीर्थंकर वा सामान्य केवलियों ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा इस संसार में भव्य जीवों के लिए आचारांग की प्रवृत्ति की है, जो आचार से विभूषित

थैस्ते ये सन्त्वस्य सिद्धये। आचारांगोक्तमार्गेणाराध्य रत्नत्रयं द्विधा। तपसाहत्य कर्माणि येऽगुर्निर्वाणमद्भुतम् ॥१२॥ आचारफलमाप्तांस्तान् सिद्धान् लोकाग्रवासिन.। दिव्याष्टगुणशर्माब्धीन् वन्देऽनन्तान् शिवाप्तये ॥१३॥ आचरन्ति स्वयं साक्षात् पंचाचारं सुखाकरम्। आचारशास्त्रयुक्त्या ये शिष्याणां चारयन्ति च ॥१४॥ स्वर्गमुक्त्यादिसौख्याय सूरयो विश्ववन्दिताः। तेषां पादाम्बुजान् नौमि पंचाचारविशुद्धये ॥१५॥ आचारप्रमुखांगानि निष्प्रमादाः पठन्ति ये। पाठयन्ति विनेयानां ज्ञानायाज्ञानहानये ॥१६॥ पाठकास्त्रिजगद्वंद्याः महामतिविशारदाः। विश्वदीपाश्च ये तेषां क्रमाब्जानंगहेतवे ॥ १७ ॥ ज्ञानाचारादिसर्वांगास्त्रिकालयोगधारिणः। उग्रदीप्तमहाघोरतपोलंकृतविग्रहाः ॥१८॥

हैं और इन्द्रादिकदेव भी जिनकी वंदना और स्तुति सदा किया करते हैं, ऐसे अनंत तीर्थंकर वा सामान्य केवली भगवान् मेरे इस कार्य की सिद्धि करें। १०-११। जिन्होंने आचारांग में कही हुई विधि के व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय का आराधन कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों का नाश किया है और इस प्रकार अद्भुत मोक्ष पद प्राप्त किया है तथा जो इस प्रकार आचार पालन करने के फल को प्राप्त हुए हैं, जो लोक शिखर पर विराजमान हैं और दिव्य आठ गुण रूपी कल्याण के समुद्र हैं ऐसे अनन्त सिद्धों को मैं मोक्ष प्राप्त कराने के लिए वंदना करता हूं। १२-१३। जो आचार्य सुख की खानि हैं, ऐसे पांचों आचारों को स्वयं साक्षात् पालन करते हैं, जो आचार शास्त्रों से सदा सुशोभित रहते हैं जो शिष्यों को स्वर्गमोक्ष के सुख प्राप्त कराने के लिए उन्हीं पंचाचारों को उन शिष्यों से सदा पालन कराते हैं और समस्त संसार जिन्हें वंदना करता है, ऐसे आचार्य परमेष्ठी के चरण कमलोंको मैं अपने पंचाचार की विशुद्धिके लिए सदा नमस्कार करता हूं। ॥१४-१५॥ जो उपाध्याय अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये वा अज्ञानको दूर करने के लिये प्रमाद रहित होकर आचारांग आदि अंगोंको सदा पढ़ते रहते हैं और शिष्योंको पढ़ाते रहते हैं तथा जो तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय हैं, महाबुद्धिको धारण करने से जो अत्यंत चतुर हैं, और जो संसार के समस्त पदार्थों का स्वरूप दिखलाने के लिये दीपक के समान हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के चरण कमलों का मैं उन समस्त अंगों की प्राप्ति के लिये आश्रय लेता हूं ॥१६-१७॥ जो साधु आचार आदि समस्त अंगों को जानते हैं, जो तीनों काल योग धारण करते हैं, जिनका शरीर उग्रतप, दीप्ततप, महातप और घोरतप आदि तपों से अलंकृतहै, जो तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हैं, प्रमाद

साधवो ये त्रिलोकार्च्याः निष्प्रमादाः जितेन्द्रियाः । गुहाद्र्यादिकृतावासास्तेभ्यः सुतपसे नमः ॥१६॥ प्रारम्भे तुर्यकालस्य रचितं येन धीमता । आचारांगं शिवाप्त्यै च वृषभसेनगणेशिना ॥२०॥ गुरोस्तदर्थमादाय तं सप्तर्द्धिविभूषितम् । चतुर्ज्ञानधरं स्तौमि कवीन्द्रं तद्गुणाप्तये ॥२१॥ पदरूपेण येनात्राचारांगं रचितं परम् । आचारवृत्तयेनाचार निषेधाय योगिनाम् ॥२२॥ तस्यांशं वर्ततेऽद्यापि स्थास्यत्यग्रे न संशयः । स्तुवेऽहं तं गणाधीशं गौतमं गुणवारधिम् ॥२३॥ शेषा गणधरा आचारांगादिरचने क्षमाः । चतुर्ज्ञानाखिलार्थज्ञा. ये महाचारभूषिताः ॥२४॥ मोक्षमार्ग प्रणेतारो महान्तो मुक्तिगामिनः । तान् सर्वान् शिरसा वन्दे तत्समस्तगुणाप्तये ॥२५॥ यत्प्रसादेन मेऽत्राभूत् रागदूरा महामति. । समर्थानेकशास्त्राणां रचने शुभदाऽनघा ॥२६॥ सा जिनेन्द्रमुखोत्पन्ना भारती पूजिता स्तुता । वर्द्धिता

रहित हैं, जितेन्द्रिय हैं और जो गुफा वा पर्वतोंमें निवास करते हैं, उन साधु परमेष्ठियों के लिये मैं तपश्चरणकी प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१८–१६॥ जिन श्री वृषभसेन महाचतुर गणधर ने चौथे कालके प्रारम्भ में मोक्ष प्राप्त करने, करानेके लिए अपने गुरु भगवान् वृषभदेव से उस अंगका अर्थ लेकर आचरांग की रचना की है तथा जो सप्त ऋद्धियों से विभूषित हैं, और चारों ज्ञानोंको धारण करने वाले हैं, ऐसे कवियों के इन्द्र भगवान् वृषभसेन गणधर की मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये स्तुति करता हूँ ॥२०–२१॥ जिन भगवान् गौतम गणरने धर्मुनियों के आचारकी प्रवृत्ति करनेके लिये तथा अनाचार का निषेध करने के लिए पदरूपसे आचारांगकी उत्कृष्ट रचना की है तथा उसी आचारगां का अंश आज भी विद्यमान है और आगे भी अवश्य निःसंदेह बना रहेगा ऐसे गुणों के समुद्र भगवान् गौतम गणधर की मैं स्तुति करता हूँ ॥२२–२३॥ बाकी के जितने गणधर हैं जो कि आचारांगादिककी रचना करने में समर्थ हैं जो अपने चारों ज्ञानों से समस्त पदार्थों के जानकार हैं, जो महा आचारोंसे विभूषित हैं। मोक्षमार्ग को निरूपण करने वाले हैं, जो महापुरुष हैं और मोक्षगामी हैं, ऐसे समस्त गणधरों को मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥२४–२५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुई जिस सरस्वती के प्रसाद से मेरी यह महाबुद्धि रागरहित होकर अनेक शास्त्रों की रचना करनेमें समर्थ हुई है तथा जो शुभ देने वाली है, पाप रहित है, गणधर देवों ने जिसकी पूजा की है, स्तुति की है और खूब वृद्धि की है तथा मैंने भी जिसकी पूजा स्तुति और वृद्धि की है, ऐसी सरस्वती देवी मेरे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति

श्री गणेशाद्यैः मया चास्तु चिद्दे मम ॥२७॥ अंग पूर्व प्रकीर्णांगैनामाचाराद्यर्थसूचकान्। त्रिजगद्दीपकान् सर्वान् तदर्थाप्त्यै भजेन्त्वहम् ॥२८॥ सुधर्म सूरिंजम्बूस्वामिनौ केवल लोचनौ। शुद्धाचारान्वितौ नौमि स्वाचारांगप्ररूपकौ ॥२९॥ विष्णुश्च नंदिमित्राख्योऽ पराजितो मुनीश्वर गोवर्द्ध नो मुमुक्षुश्च भद्र बाहु र्ज्जगन्नुतः ॥३०॥ श्रु तकेवलिनोत्रैते पंचाचारादि देशिनः। परमाचार सम्पन्ना कीर्तिनाः मन्तु मे चिद्दे ॥३१॥ विशाखाचार्य मुख्या ये सूरयो वहवोभुवि। आचारांगादिशास्त्रज्ञा. दद्युस्तेमेस्तुता श्रुतम् ॥३२॥ कवीन्द्रा वादिनो ये श्री कुंदकुंदादि सूरयः। तान्स्तुवे सत्कवित्वाय स्वाचारश्रुतसूचकान् ॥३३॥ वाह्यान्त ग्रंथनिर्मुक्तान् दिग्वस्त्रालंकृतान् परान्। मदीयांश्च गुरून्नौमि

करो ॥२६–२७॥ इस प्रकार अंग, पूर्व और प्रकीर्ण आदि में कहे हुए आचार आदि के अर्थ को सूचित करने वाले और तीनों जगत के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले जितने भी महापुरुष हैं उन सबकी में उन अंग पूर्व और प्रकीर्णक का अर्थ जानने के लिए प्रतिदिन सेवा करता हूँ ॥२८॥ केवल ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करने वाले, शुद्धाचार को पालन करने वाले और अपने आचारांग को निरूपण करने वाले सुधर्मा गणधर और जम्बू स्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥२९॥ विष्णु, नदिमित्र, मुनिराज अपराजित, मोक्ष की इच्छा करने वाले गोवर्द्धन और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है ऐसे भद्रवाहु ये पांच इस पंचम काल में श्रुत केवली हुए हैं ये पांचों ही श्रुत केवली पंचाचार का उपदेश देने वाले हैं और परमोत्कृष्ट आचार को पालन करने वाले हैं इसलिये मैं उनकी स्तुति करता हूँ जिससे कि मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो ॥३०–३१॥ इस संसार में विशाखाचार्य को आदि लेकर और भी अनेक आचार्य हुए हैं, जोकि आचारांगादि शास्त्रों के जानकार हैं उनकी मैं स्तुति करता हूं वे सब मुझे श्रुतज्ञान को प्रदान करें ॥३२॥ आचार प्ररूपक श्रुतिज्ञान को निरूपण करने वाले और भी जो कविराज वा वादी मुनि हुए हैं वा कुंदकुंदादिक आचार्य हुए हैं उन सबकी मैं श्रेष्ठ कवित्व प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥३३॥ जो वाह्य और अंतरंग परिग्रह से सर्वथा रहित हैं जो दिशा रूपी वस्त्रों से ही सुशोभित हैं अर्थात् दिगम्बर हैं और इसलिये जो उत्कृष्ट हैं ऐसे अपने समस्त गुरुओं के लिये भी मैं उनके श्रेष्ठ गुण प्राप्त करने

विघ्नान् गुरुगुणाप्तये ॥३४॥ इति तद्विघ्नहान्यै च मांगल्यार्थं प्रसिद्धये। स्तुता ये वंदिता ग्रंथारम्भेर्हच्छ्रु त-योगिनः ॥३५॥ इष्टा इष्टाप्तये सन्तु प्रत्यूहान् घ्नंतु तस्य च। कुर्वन्तु मंगलं ते ये विश्वमांगल्य कारिणः ॥३६॥ इष्टदेवान् प्रणम्येति विज्ञायार्थान् परान् शुभान्। मूलाचारादि सद्ग्रंथानामाचार प्रवर्तये ॥३७॥ महाग्रंथं करिष्ये हं श्री मूलाचार दीपकम्। हिताय मे यतिनां च शुद्धाचारार्थदेशकम् ॥३८॥ आचारांगं यदष्टादशसहस्र पदान्वितम्। श्रुतकेवलिभिः प्रोक्तं ह्यर्थैर्गम्भीरमब्धिवत् ॥३९॥ शत षोडश कोट्यामा चतुस्त्रिंशच्च कोटयः। त्र्यशीति रथलक्षाण्यष्टासप्तति शतान्यपि ॥४०॥ अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा इति संख्या जिनोदिता। आगमेऽत्र संख्याभिः पदैकस्य नचान्यथा ॥४१॥ एतदंगमहाग्रंथं समस्ताचारदीपकम्। मया प्रोक्तं कथं शक्यं कविना

के लिये नमस्कार करता हूं ॥३४॥ इस प्रकार ग्रंथ के प्रारंभ में इसकी रचना में होने वाले विघ्नों को दूर करने के लिये तथा मंगलमय पदार्थों की प्राप्ति के लिये जिन अरहंत शास्त्र और मुनियों की वंदना की है वा उनकी स्तुति की है ऐसे वे समस्त संसार में मंगल करने वाले देव शास्त्र गुरु इष्ट वा पंच परमेष्ठी मुझे इष्ट की प्राप्ति करें अर्थात् मेरे ग्रंथ को पूर्ण करें उसमें होने वाले विघ्नों को नष्ट करें, और मेरे लिये मंगल करें ॥३५–३६॥ इस प्रकार मैं अपने इष्ट देवों को नमस्कार कर तथा शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर मूलाचार आदि श्रेष्ठ ग्रंथों मे कहे हुए आचारों को प्रवृत्ति करने के लिये तथा अपना और मुनियों का हित करने के लिये शुद्धाचार के स्वरूप को निरूपण करने वाले मूलाचार प्रदीपक नाम के महाग्रंथ की मैं रचना करता हूँ ॥३७–३८॥ आचारांग नामके अंग में अठारह हजार पद हैं वह श्रुत केवलियों के द्वारा कहा हुआ है तथा समुद्र के समान अर्थों से महा गंभीर है ॥३९॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने कहे हुए आगममें एक एक पद के अक्षरों की संख्या सोलह अरब चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी बतलाई है ॥४०–४१॥ समस्त आचारों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान यह आचारांग नामका महा ग्रंथ है। वह इतना बड़ा महा ग्रंथ भला अत्यंत थोड़ीसी बुद्धि को धारण करने वाले मुझ ऐसे कवि से कैसे कहा जा सकता है ॥४२॥ तथापि पहिले के आचार्यों को प्रणाम करने से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से

स्वल्पबुद्धिना ॥४२॥ तथापि पूर्वसूर्यादिप्रणामार्जितपुण्यत.। स्तोक सारं करिष्यामि ग्रथमाचारसूचकम् ॥४३॥
तस्यादौ ये जिनैः प्रोक्ता अष्टाविंशति सख्यकाः। परा मूलगुणा सारा मूलभूताः सुयोगिनाम् ॥४४॥
गुणानां चात्र दीक्षाया आचारस्य शिवकरान्। तान् प्रवक्ष्ये स्वशक्त्या ह सर्वान् सर्वार्थसाधकान् ॥४५॥
महाव्रतानि पंचैव पराः समितय स्तथा। पंचेन्द्रियनिरोधाश्च लोच आवश्यकानि पट् ॥४६॥ अचेलत्वं ततोऽस्नानम्
धराशयनमेवहि। अदन्त घर्षणं रागदूरं च स्थिति भोजनम् ॥४७॥ एकभक्तं समासेनामी सन्मूलगुणा वुधैः।
विज्ञेयाः कर्महंतारः शिवशर्मगुणाकराः ॥४८॥ पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि विस्तरेण पृथक् पृथक्। विस्तार रुचि
शिष्याणामनुग्रहाय सिद्धये ॥४९॥ हिंसायाअनृता त्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहात्। कृत्स्नान्मनोवचः कायैः कृत–

आचार को सूचित करने वाले वहुत ही स्वल्प और सारभूत ग्रंथ की रचना मैं करूंगा ॥४३॥ उस ग्रंथ के प्रारंभ में भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और श्रेष्ठ मुनियों के मूलभूत अट्ठाईस मूलगुणों को कहूंगा। ये मूलगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, मुनियों के गुण दीक्षा और आचार को मंगल करने वाले हैं और समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाले हैं उन्ही सबको मैं अपनी शक्ति के अनुसार कहूंगा ॥४४–४५॥ पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, केश लोच, नग्नत्व धारण करना, स्नान नहीं करना, दंतधावन नहीं करना, रागरहित खड़े होकर भोजन करना, दिन में एकबार ही भोजन करना और भूमिपर शयन करना ये संक्षेप में अट्ठाईस मूलगुण हैं। ये समस्त मूलगुण कर्मों को नाश करने वाले हैं और मोक्ष के सुख तथा सिद्धों में होने वाले समस्त गुणों को देने वाले हैं। विद्वानों को यह वात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये ॥४६–४८॥ विस्तार के साथ समझने वाले शिष्यों का उपकार करने के लिये तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिये आगे हम इनका अलग अलग स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं ॥४९॥ श्रेष्ठ मुनिराज अपने मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से जो हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का पूर्ण रूप से सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनको भगवान जिनेन्द्र देव मुनियों के महाव्रत कहते हैं ॥५०–५१॥ छहों काय के समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान समझकर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के नौ भेदों से प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पहला अहिंसा महाव्रत कहलाता है। इस अहिंसा

कारितमाननैः ॥५०॥ सर्वथा विरतिर्या च क्रियते मुनिपुंगवैः । महाव्रतानि तान्यत्र कथ्यन्ते योगिना जिनैः ॥५१॥ हृदा च वपुषा वाचा कृतेन कारितेन च । स्वानुमत्या प्रयत्नेन रक्षा यात्र विधीयते ॥५२॥ मत्वात्मसदृशान् जीवान् नवभेदैः षडंगिनाम् । मूलं सर्वव्रतानां स्यात्प्रथमं तन्महा व्रतम् ॥५३॥ कायेन्द्रियगुणस्थान मार्गणाश्च कुलान्यपि । योनीश्च सर्वजीवानां ज्ञात्वा सम्यक् जिनागमे ॥५४॥ तेषां विविधजन्तूनामिति रक्षा प्रयत्नतः । कर्तव्या मुनिभिर्नित्यं सर्वथा च कृतादिभिः ॥५५॥ शिलाद्रि धातुरत्नादि खरपृथ्व्यंगिनो बहून् । मृदादि मृदु-पृथ्वीकायांश्च सूक्ष्मेतरान् सदा ॥५६॥ हस्त पादांगुलीकाष्ठशलाकाखर्परादिभिः । न खनेत् खानयेन्नैव न लिखेन्नैव लेखयेत् ॥५७॥ नभंज्यान् भंजयेन्नैव न हन्यान् घातयेन्न च । जातु संघट्टयेन्नैव पीडयेन्न दयात्तधीः ॥५८॥

महाव्रत को समस्त व्रतों का मूल समझना चाहिये ॥५२–५३॥ मुनियों को सबसे पहले जिनागम के अनुसार समस्त जीवों की काय इन्द्रिय गुणस्थान मार्गणा कुल और योनियों को समझ लेना चाहिये और फिर उन अनेक प्रकार के जीवों की रक्षा सब तरह से बड़े प्रयत्न से मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे करनी चाहिये ॥५४–५५॥ शिला पर्वत धातु रत्न आदिमें बहुतसे कठिन पृथिवी कायिक जीव रहते हैं तथा मिट्टी आदि में बहुत से कोमल पृथ्वी कायिक जीव रहते हैं तथा उनके भी स्थूल सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं । इसलिये मुनिराज अपने हाथ से पैर से उंगली से लकड़ी से सलाई से वा खप्पर से पृथ्वी कायिक जीव सहित पृथ्वी को न खोदते हैं, न खुदवाते हैं, न उस पर लकीरें करते हैं न कराते हैं न उसे तोड़ते हैं न तुड़वाते हैं न उस पर चोट पहुँचाते हैं न चोट पहुँचवाते हैं तथा अपने हृदय में दया बुद्धि धारण कर न उस पृथ्वी को परस्पर रगड़ते हैं और न उसको किसी प्रकार की पीड़ा देते हैं । यदि कोई अन्य भक्त पुरुष उस पृथ्वी को खोदता है वा उसपर लकीरें करता है, वा उस पर चोट मारता है वा रगड़ता है वा अन्य किसी प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुँचाता है तो वे योगी उसकी अनुमोदना भी नहीं करते । इस प्रकार वे मुनिराज अहिंसा महाव्रत को प्राप्त करने के लिये उन पृथिवी कायिक जीवों की विराधना कभी नहीं करते ॥५६–६०॥ पृथिवी काय का समारंभ करने से पृथिवी कायिक जीवों की तथा पृथिवी काय के आश्रय रहने वाले जीवों की विराधना अवश्य होती है । इसलिये जिन मार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को अपने

खनंतं च लिखन्तं वा भक्तवन्तं परं जनम्। निघ्नंतं घट्टयन्तं वा पीडयन्तं धरात्मनः ॥५६॥ नानुमन्येत योगी न्यायैः प्रकारैर्विराधना। न कार्या मुनिभिस्तेषां योगैराद्यव्रताप्तये ॥६०॥ ये पृथ्वीकायका जीवा ये पृथ्वीकायमाश्रिता.। पृथ्वीकायसमारम्भाद् ध्रुवं तेषां विराधना ॥६१॥ तस्मात्पृथ्वीसमारम्भो द्विविधस्त्रिविधेन च। यावज्जीव न योग्योत्र जिनमार्गानुचारिणाम ॥६२॥ न श्रद्धाति यो जीवान् पृथ्वीकायगतानिमान्। सभवेदीर्घसंसारी लिंगस्थोप्यति दुर्मतिः ॥६३॥ मत्वेति तत्समारम्भो जातु कार्यो न योगिभिः। स्वेन वान्येन मुक्त्याप्त्यै चैत्यगेहादि कारणैः ॥६४॥ स्थूलाणुविंदुमेघावश्यादिजलदेहिनाम्। न कुर्यात्कारयेत्रैव स्पर्शसघट्टनादिकम् ॥६५॥ बाधां वान्यं च कुर्वन्तं मनसा नानु मन्यते। वाचागेन यतिः शौचपादप्रक्षालनादिभिः ॥६६॥ जीवा अप्कायिका येत्र ये चाप्कायं समाश्रिताः। अप्कायाग्नि समारम्भात्स्फुटं तेषां परिक्षयः ॥६७॥ तस्मादपां समारम्भो द्विधा वाक्कायमानसैः। यावजीव मनाक् योग्यो नात्रहिद्वेप धारिणाम् ॥६८॥ न श्रद्धाति योत्रैतान प्राणिनोप्-

---

जीवन पर्यंत मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से दोनों प्रकार का पृथ्वी का समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥६१—६२॥ जो दुर्बुद्धि जिन लिंग धारण करके भी पृथिवी काय में प्राप्त हुए जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उसे दीर्घ संसारी ही समझना चाहिये ॥६३॥ यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वयं वा दूसरे के द्वारा जिनालय आदि बनवाकर भी पृथ्वी का समारंभ नहीं करना चाहिये ॥६४॥ मेघ वा बरफ की छोटी बूंदों में रहने वाले जलकायिक जीवों का स्पर्श वा संवहन आदि न कभी करना चाहिये और न करना चाहिये ॥६५॥ इसी प्रकार शौच पाद प्रक्षालन आदि के द्वारा उन जीवों को बाधा देने वाले अन्य पुरुषों को मन वचन कायसे कभी अनुमोदना नहीं करनी चाहिये ॥६६—६७॥ क्योंकि जल कायिक जीवों से भरे हुए जल का समारंभ करने से (जल को काम में लाने से) जलकायिक जीव और जलकाय के आश्रय रहने वाले जीवों का नाश अवश्य ही होता है। इसलिये अरहंत के भेष को धारण करने वाले मुनियों को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से जीवन पर्यंत दोनों प्रकार के जलका समारंभ कभी नहीं करनाचाहये ॥६७—६८॥ जो मुनि अपकाय में प्राप्त हुए इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह

कायतामितान्। स भ्रमेद्दीर्घसंसारं लिंगस्थोपि कुमार्गगः ॥६६॥ ज्ञात्वेति जलकायानां कार्या हिंसा न जातुचित्। शौचादि कारणैर्दक्षैर्मनोवाक् कायकर्मभिः ॥७०॥ ज्वालांगारार्चि शुद्धाग्न्यादि तैजः कायिकात्मनाम्। शीत-ज्वरादिके जाते सति कार्यं न संयतैः ॥७१॥ विध्यापनं करार्द्यैः प्रजालनं च विराधनम्। संघट्टनं क्वचिद्घातं प्रच्छादनं कदर्थनम् ॥७२॥ अधश्चोर्द्ध्वं चतुर्दिक्षु ह्यनिलोऽखिलान्। भस्मसात्कुरुते जीवान् षड्विधान् स्वोष्ण-तापतः ॥७३॥ तस्य द्योतेतिपापाढ्ये ऽनेक सत्त्वक्षयंकरे। ईहते न यमी स्थातुं कदापि सति कारणे १ ॥७४॥

कुमार्गगामी बहुत दिन तक संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये चतुर मुनियों को शौचादि कार्यों में जलकायिक जीवों की हिंसा मन वचन कायसे कभी नहीं करनी चाहिये ॥६९–७०॥ मुनियों को शीत ज्वर आदि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार अग्नि की शिखा, शुद्ध अग्नि आदि तेजस्कायिक जीव सहित अग्नि को कभी काम में नहीं लाना चाहिये ॥७१॥ मुनियों को अपने हाथ से वा अन्य किसी उपाय से न तो अग्नि को बुझाना चाहिये न जलाना चाहिये न उसकी विराधना करनी चाहिये न उसे कभी रगड़ना चाहिये न ढकना चाहिये न उसका घात करना चाहिये ॥७२॥ यह अग्नि अपनी उष्णता के संताप से ऊपर नीचे चारों विदिशाओं में छहों प्रकार के समस्त जीवों को भस्म कर देती है ॥७३॥ इस अग्नि का उद्योत वा प्रकाश भी अनेक जीवों का नाश करने वाला और पापरूप है इसलिये मुनिराज कारण मिलने पर भी उसके प्रकाश में कभी रहने की इच्छा नहीं करते ॥७४॥ (यही बात दश वैकालिक ग्रंथ मे लिखा है यथा—यह अग्नि पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे दिशा विदिशामें सब जीवों को जला देती है ॥१॥ अतएव अपने मन से अग्नि के प्रकाश की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये।) इसलिये अग्नि का समारंभ करने मे तेजस्कायिक जीवों की

१ उक्तं च दशवैकालिक ग्रंथे—

पाचीण पच्छिम चावि मुनीर्चि दाहिणतहा। अधो दहनि उड्ढं चदिसासु विदिसासुय ॥ १ ॥

एसो जीवोत्ति अक्खादा हव्ववाहो ण ममओ। तमुज्जोवपदा वड्ढं मणसावि ण पत्थए ॥ २ ॥

ये तेजस्कायिका जीवा येत्र तेजोंगमाश्रिताः। तेजःकायसमारम्भाद् मुंछु तेषां विहिंसनम् ॥७५॥ तस्मात्तेजः समारम्भाद्त्रियोगै द्विविधः क्वचित्। निग्रंथ संयतानां च यावज्जीवं हि नोचितः ॥७६॥ एतान् यो मन्यते नैवाप्तान् तेजोंग च देहिनः। मिथ्यादृष्टिः स विज्ञेयो लिंगस्थोप्यति पापभाक् ॥७७॥ ज्ञात्वेत्यग्नि समारम्भोऽनन्तजीवक्षयंकरः। मनोंगवचनैर्जातु न कार्यः श्रोक्षणादिभिः ॥७८॥ उत्कलिर्गुञ्जमगुंजादि वातकायिक जन्मिनाम्। वधोत्पत्ति करं वात कुर्य्याज्जातु न संयतः ॥७९॥ कारयेत्र च वस्त्रेण व्यजनेन करेण वा। वस्त्रकोणेन पत्रेण सति दाहे परेण वा ॥८०॥ ये वात कायिका जीवा वातकायं च ये श्रिताः। वातकाय समारम्भाद् हिंसा तेषां न चान्यथा ॥८१॥ तस्माद्वात समारम्भो द्विधा योगत्रयैरपि। जिनमार्गानुलग्नानां यावज्जीव न युज्यते ॥८२॥ न श्रद्धाति योत्रामून् जीवान् वातांगमश्रितान्। संसार सागरे मग्नो द्रव्यलिंगी स केवलम् ॥८३॥ मन्वेति

तथा तेजस्काय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है ॥७५॥ इसलिये निग्रंथ मुनियों को अपने पर्यंत मन वचन कायमे दोनों प्रकार की अग्नि का समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥७६॥ जो मुनि तेजस्कायमें प्राप्त हुए जीवों को नहीं मानता वह मुनि होकर भी अत्यंत पापी मिथ्या दृष्टी है ॥७७॥ इसलिये अग्नि के समारंभको अनंत जीवों का नाश करने वाला समझकर देखने आदि कार्यों के लिये भी मन वचन कायसे उसका समारंभ नहीं करना चाहिये ॥७८॥ मुनियों को अनेक प्रकार की वायु में रहनेवाले वायुकायिक जीवों का घात करने वाली वायु कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥७९॥ मुनियों को अधिक दाह होनेपर भी वस्त्र से पंखे से हाथ से वस्त्र के कोने से वा पत्ते से दूसरे के द्वारा भी कभी वायु उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ॥८०॥ वायुका प्रारंभ करने मे वायुकायिक जीवों की वा वायुकायके आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥८१॥ इसलिये जिन मार्ग में लगे हुए मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन वचन कायसे दोनों प्रकार को वायुका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥८२॥ जो मुनि इन वातकाय के आश्रित रहने वाले जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह संसार सागर में डूबता है। उसे केवल द्रव्य लिंगी ही समझना चाहिये ॥८३॥ यही समझकर चतुर मुनियों को उष्णता से पीड़ित होने पर भी

स्वशरीरादौ वातः कार्यो न जातुचित्। वातांगिवध कृद्दक्षैर्मुखाद्यैरुष्ण पीडितैः ॥८४॥ हरिनाकुर वीजानां पत्रपुष्पादिकांगिनाम्। वनस्पति शरीराणां मुनिर्जातु करोति न ॥८५॥ कारयेन्न त्रिशुध्यात्र छेदनं भेदनं कचित्। प्रपीडनं वधं वाधां स्पर्शनं च विराधनाम् ॥ ८६ ॥ सेवाल पुष्पिकादीनामनन्त काय देहिनाम्। विधेया जातु हिंसा न गमनागमनादिभिः ॥ ८७ ॥ ये वनस्पतिकाया ये वनस्पत्यंगमाश्रिताः। वनस्पतिसमारम्भाद्वधस्तेषां हि देहिनाम् ॥ ८८ ॥ तस्मात्तेषां समारम्भो द्विधा योगत्रिकैः कचित्। मरणान्तं न योग्योर्हन्मुद्रा स्वीकृतयोगिनाम् ॥ ८९॥ न रोचते त्रयो ह्येतान् जीवान् वनस्पतिं गतान्। जिनधर्म वहिर्भूतो मिथ्या दृष्टिः स पापधीः ॥ ९०॥ विज्ञायेति न कर्त्तव्या वनस्पति विराधना। हस्त पादादिभिर्जातु ह्यनन्त सत्त्वनाशदा ॥ ९१ ॥ द्वित्रि तुर्येन्द्रियाणां च

वातकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख आदि से भी कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥८४॥ मुनिराज मन वचन काय की शुद्धता धारण करने के कारण हरित अंकूर वीज पत्र पुष्प आदिके आश्रित रहने वाले वनस्पति कायिक जीवों का छेदन भेदन पीड़न वध वाधा स्पर्श और विराधना आदि न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं ॥८५–८६॥ मुनियों को गमन आग–मन आदिके करने में सेवाल (काई) और पुष्पिका (फूलन) (अथवा वरसात में होने वाला एक छोटा पौधा जिसके ऊपर सफेद इरारी वा फूलसा रहता है) आदि में रहने वाले अनंतकाय जीवो की हिंसा भी कभी नही करनी चाहिये ॥८७॥ वनस्पति का समारंभ करने से वनस्पति कायिक जीव और वनस्पति का समारंभ करने से वनस्पति कायके आश्रित रहने वाले जीवों हिंसा अवश्य होती है ॥८८॥ इसलिये अर्हमुद्रा वा जिनलिंग को स्वीकार करने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन वचन कायसे उन दोनों प्रकार की वनस्पति का समारंभ नहीं करना चाहिये ॥८९॥ जो मुनि वनस्पति मे प्राप्त हुए इन जीवों को नही मानता उसे जिन धर्म से वाहर मिथ्यादृष्टि और पापी समझना चाहिये ॥९०॥ यही समझकर अपने हाथ पैर आदि के द्वारा अनंत जीवों का नाश करनेवाली वनस्पति की विराधना कभी नही करनी चाहिये ॥९१॥ प्रयत्न करने में तत्पर रहने वाले मुनियों को दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की वाधा कभी नहीं करनी चाहिये ॥९२॥ मुनियों को चलने में

पंचाक्षाणां त्रसात्मनाम्। वाधा नैव विधातव्या मुनिभिर्यत्न तत्परे॰ ॥ ६२ ॥ गमने चासने स्थाने रात्रौ वादृष्टिगोचरे। सर्वथा च दया कार्या मृदु पिच्छिकयेक्षणात् ॥ ६३ ॥ त्रस कायाश्च ये जीवा त्रसकाय हि ये श्रिताः। त्रसकायसंमारम्भा त्तेषां वाधा वधोऽथवा ॥ ६४ ॥ तस्मात् त्रससमारम्भो द्विधा योगैः कृतादिभि । योग्यो न मृत्युपर्यंत जिनवेषधृतात्मनाम ॥६५॥ नमन्यतेगिनोत्रै तान् यस्त्रसत्व गतान् वहून्। लिंगस्थोपि स पापात्मा भ्रमेद् घोरा भवाटवीम् ॥६६॥ विचिंत्येति प्रयत्नेन दया त्रसांगिना सदा। अनुष्ठेया न वाधा चात्राप्रमत्तैस्तपोधनै ॥ ६७ ॥ त्रिशुध्द्यत्यनिश योत्र रक्षा कुर्यात् षडगिनाम। अप्रमत्तो भवेत्तस्याद्य सम्पूर्णं महाव्रतम् ॥६८॥ सर्वजीवकृपाक्रान्तमना योऽखिलदेहिनाम्। यत्नाचारी सुरक्षार्थं महाव्रती स नापर ॥ ६९ ॥ यतो जीवे मृते

बैठने में शय्यासन करने में रात्रि वा दिन में कोमल पीछी से वा देखकर जीवों पर सर्वथा दया करनी चाहिये ॥६३॥ त्रस काय जीवों का समारंभ करने से (त्रस जीव विशिष्ट वस्तुओं को काम में लाने से) त्रस जीवों की और त्रस जीवों के आश्रित रहने वाले जीवों की वाधा अथवा उनका वध अवश्य होता है ॥६४॥ इसलिये जिनलिंग धारण करनेवाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे दोनों प्रकार के त्रस जीवों का समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥६५॥ जो मुनि त्रस पर्याय को प्राप्त हुए अनेक प्रकार के जीवों को नहीं मानता है वह पापी जिन लिंग धारण करता हुआ भी संसाररूपी घोर वन में परिभ्रमण करता है ॥६६॥ यही समझकर प्रमाद का त्याग करने वाले मुनियों को प्रयत्न पूर्वक त्रस जीवो की दया पालन करनी चाहिये तथा उनकी वाधा कभी नहीं करनी चाहिये ॥६७॥ इस प्रकार जो मुनि अप्रमत्त होकर तथा मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक छहों प्रकार के जीवों की निरंतर रक्षा करता है उसके पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है ॥६८॥ जो मुनि अपने मन में समस्त जीवो की दया धारण कर समस्त जीवों की रक्षा के लिये पूर्ण प्रयत्न करता है उसे ही महाव्रती समझना चाहिये उसके सिवाय अन्य कोई महाव्रती नहीं हो सकता ॥६९॥ इसका भी कारण यह है कि जो मुनि यत्नाचार का पालन नहीं करता उससे जीव मरे वा न मरे फिर भी उसके क्षणक्षणमें कर्मों का वंध होता ही है। इसके सिवाय उनके व्रतों का भंग होता है और

वा न कर्मबंधः पदे पदे। अयत्न चारिणां नूनं व्रतभंगोऽशुभागतिः ॥१००॥ कचिन्मृतेप्यहो जीवो यत्नाचारि मुनीशिताम्। न बंध कर्मणां किंतु शुद्धिः स्याद्योग शुद्धितः ॥१॥ तस्माद् व्रतार्थिनो दक्षाः यत्नं कुर्वन्तु सर्वथा। सर्व जीव दया सिध्यै त्रिशुध्या सद्व्रताय च ॥२॥ अहिंसा जननी प्रोक्ता सर्वेषां च व्रतात्मनाम्। दृग्ज्ञानवृत्तरत्नानां खनी विश्वहितं करा ॥३॥ सूत्राधारेण तिष्ठन्ति दाम हारादयो यथा। कृपाधारेण सर्वे च योगिनां सद्गुणा-स्तथाः ॥४॥ शेष व्रत समित्यादीन् ब्रुवन्ति श्रीजिनाधिपाः। आद्य व्रत विशुध्यर्थं केवलं च तपः क्रिया ॥५॥ विना तेन व्रतेनास्मात् सर्वो शेषव्रत व्रजम्। व्यर्थं स्यांच्च तपो घोरं यतीनां तुषखंडनम् ॥६॥ दयापूर्व मनुष्ठानं तपो योगादिभिः कृतम्। भवेन्मोक्षतरो वींजं सतां विश्वर्द्धि कारणम् ॥७॥ कृत्स्नसत्त्व कृपा क्रान्तं यस्यासी न्मानसं

उससे अशुभ गति की प्राप्ति होती है ॥१००॥ जो मुनि अपनी प्रवृत्ति यत्नाचार पूर्वक करते हैं उनसे यदि कोई जीव मर भी जाय तो भी उनके कर्मों का बंध नहीं होता। तथा उनके मन वचन काय की शुद्धि होने से उनके आत्मा की शुद्धि और बढ़ जाती है ॥१॥ इसलिये अपने व्रतों की रक्षा की इच्छा करने वाले चतुर मुनियों को मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक अपने श्रेष्ठ व्रतों की रक्षा के लिये और समस्त जीवों की दया पालन करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥२॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने यह अहिंसा समस्त व्रतों की माता बतलाई है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नों की खानि बतलाई है और समस्त जीवो का हित करने वाली बतलाई है ॥३॥ जिस प्रकार सूत की गाँठ से बनने वाले हार सूत के ही आधार से ठहर सकते हैं उसी प्रकार मुनियों के समस्त सद्गुण जीवो की कृपा के आधार से ही ठहरते हैं ॥४॥ इस अहिंसा महाव्रत के सिवाय जितने भी व्रत समिति और तपश्चरण आदि हैं वे सब केवल एक इसी अहिंसा महाव्रत की विशुद्धि के लिये ही भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥५॥ इस अहिंसा महाव्रत के बिना बाकी के जितने व्रतों का समुदाय है वा जितना भी मुनियों का घोर तपश्चरण है वह सब व्यर्थ है भूसी को कूटने के समान असार हैं ॥६॥ यदि तप-श्चरण योग आदि के द्वारा किया हुआ अनुष्ठान दया पूर्वक किया जाता है तो वह सज्जनों को मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज माना जाता है तथा समस्त ऋद्धियों का कारण बन जाता है ॥७॥ जिस मुनि का

शुभम्। सिद्धं समीहित तस्य संवरो निर्जरा शिवम् ॥८॥ क्रियते स्वगृह त्यागो दीक्षा च गृह्यते बुधैः । केवलं करुणा सिध्यै तां विना तौ निरर्थकौ ॥९॥ विज्ञायेति विधायोच्चैः सर्वं जीवकदम्बकम्। समान स्वात्मन श्चित्ते रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥१०॥ गमनागमनोत्सर्गं प्रावृट्कालेंगिसंकुले। अहोरात्रे यतीन्द्रैश्चादाननिक्षेपणादिना ॥११॥ ये यत्न-चारिणो त्राहो पालयन्ति व्रतोत्तमम्। तेपा सर्व व्रतान्येव यान्ति सम्पूर्णतां लघु ॥१२॥ यदि कश्चिदहो दत्तो मृत्यर्थं कस्यचिन्महीम्। सर्वां रत्नादि पूर्णां स तथापीच्छति नोमृतिम् ॥१३॥ अतो विश्वागिनां लोकेऽभयदाना त्परं न च। विद्यते परमं दान वृथा दान दयां विना ॥१४॥ हिंसैव पच पापानां परं पाप न्निगद्यते। विश्वदु खाकरी भूता श्वभ्रद्वारि प्रतोलिका ॥१५॥ ये केचि दुःसहा रोगा सर्व दु ख विधायिन.। तेऽखिला निर्दयानां च जायन्ते

शुभ हृदय समस्त जीवों की कृपा से भरा हुआ है उसके संवर निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥८॥ बुद्धिमान् लोग जो अपने घर का त्याग करते हैं और दीक्षा ग्रहण करते वह केवल दया की सिद्धि के लिये ही करते हैं। यदि दया नहीं है तो घर का त्याग और दीक्षा दोनों ही व्यर्थ हैं ॥९॥ यही समझ कर तथा समस्त जीवों के समूह को अपने हृदय मे अपने आत्मा के समान मानकर बड़े प्रयत्न के साथ अच्छी तरह उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥१०॥ वर्षाकाल में बहुत से जीवों का समुदाय उत्पन्न हो जाता है इसीलिये मुनिराज उन दिनों में गमन आगमन का त्याग कर देते हैं। उन दिनों जो मुनिराज रात दिन के किसी पदार्थ के ग्रहण करने वा रखने आदि के द्वारा यत्नाचार पूर्वक इस अहिंसा महाव्रत रूपी उत्तम व्रत को पालन करते हैं उनके अन्य समस्त व्रत बहुत ही शीघ्र पूर्ण हो जाते हैं ॥११–१२॥ यदि किसी से यह कहा जाय कि हम तुझे समस्त रत्नों से परिपूर्ण इस समस्त पृथ्वी को देते हैं इसके बदले तू मर जा, परंतु इतने पर भी कोई मरने की इच्छा नहीं करता इसलिये कहना चाहिये कि इस संसार में समस्त जीवों को अभयदान से बढकर और कोई दान नहीं है। यह अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान है। दया के विना अन्य दान सब व्यर्थ है ॥१३–१४॥ पांचों पापों मे यह हिंसा ही सबसे बड़ा पाप कहा जाता है। यह हिंसा समस्त दुःखों की खानि है और नरक के द्वार की गली है ॥१५॥ इस संसार में समस्त दुःखों को देने वाले जितने

त्राधयोऽशुभात् ॥१६॥ दुर्गतिर्जीवघातेन सद्गति जीव रक्षणात् । देहिना, च विदित्वेति यदिष्टं तत्त्वमाचर ॥१७॥ एपणासमिति श्चित्तगुप्तीर्यामसिती परे । तथैवादाननिक्षेपणाख्या समितिसत्तमा ॥१८॥ दृशालोकित पानादि भोजनं पंचभावनाः । इत्यार्या भावयन्त्वाद्यव्रतस्थैर्यार्थमन्वहम् ॥१६॥ भावितं भावनाभि. प्रथमं सार महाव्रतम् । प्रारोहति परा कोटिं शुद्धिं मुक्तिकरं सताम् ॥२०॥ असमगुण निधानं स्वर्गमोक्षैक हेतु व्रत सकल सुमूल तीर्थनाथैर्निषेव्यम् । अभयकरमपाप सर्वयत्नेत दक्षा. भजत शिवसुखाप्त्यै ह्याद्दिम सद्व्रत भो ॥२१॥ तथ्यं हितं सित सारं जिनसूत्रानुगं शुभम् । निष्पापं करुणाक्रान्त ब्रूयं यन्मुनीश्वरै. ॥२२॥ धर्मज्ञानोपदेशाय रागद्वेषादिं दूरगम् । वचनं श्री जिनैः प्रोक्तं तद्द्वितीय महाव्रतम् ॥२३॥ वच. सत्य मसत्य चोभयं ह्यनुभय

भी कठिन रोग हैं वे सब निर्दयी जीवों के ही होते हैं तथा इसी निर्दयता के पाप से मानसिक व्याधियाँ होती हैं ॥१६॥ इस संसार में जीवों को जीवों का घात करने से दुर्गति प्राप्त होती है तथा जीवों की रक्षा करने से उत्तम गति प्राप्त होती है। यही समझ कर हे जीव जो तुझे अच्छा लगे सो कर ॥१७॥ एपणा समिति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पांच इस अहिंसा महाव्रत की भावना हैं। इस अहिंसा महाव्रत को स्थिर रखने के लिये मुनियों को प्रतिदिन इन भावनाओं का चितवन करना चाहिये ॥१८–१६॥ सज्जनों को मोक्ष प्रदान करने वाला और सारभूत यह अहिंसा महाव्रत इन भावनाओं के चिंतवन करने से सर्वोत्तम शुद्धता को प्राप्त होता है ॥२०॥ यह अहिंसा महाव्रत सर्वोत्तम गुणों का निधान है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है, समस्त व्रतों का मूल है, भगवान तीर्थंकर परमदेव के द्वारा भी सेवन करने योग्य है तथा समस्त जीवों को अभय देने वाला है और पापों से सर्वथा रहित है। इसलिये हे चतुर पुरुषो! मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये सब तरह के प्रयत्न कर इस अहिंसा महाव्रत का पालन करो ॥२१॥ मुनिराज जो धर्म और ज्ञान के उपदेश के लिये राग द्वेष रहित यथार्थ हित करने वाले परिमित सारभूत जिन शास्त्रों के अनुसार शुभ पाप रहित और करुणा से भरे हुए जो वचन कहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव दूसरा सत्य महाव्रत कहते हैं ॥२२–२३॥ भगवान गणधर देवों ने वचन के चार भेद

परम् । चतुर्द्धेति गणाधीशै रुक्त वचन मजसा ॥२४॥ असत्योभयनामात्र द्विधा वाक्यं शुभातिगम् । सर्वपाप-कर त्याजं दूरतो व्रतकाङ्क्षिभि ॥२५॥ सत्यानुभय सद्वाणी जगन्ध्धर्म विधायनी । निष्पापा धर्मदा वाच्या सारा धर्माय योगिभि ॥२६॥ प्रियं हितं वच. किंचि त्परं किंचिद्धिताप्रियम् । अप्रियाहित मेवान्यच्चतुर्धेति वचो नृणाम् ॥२७॥ अप्रियाहित मेवैकं स्वान्ययो पाप दु खदम् । यत्नेन परि हर्तव्य संयतैर्धर्मसिद्धये ॥२८॥ क्वचि-द्धर्म वशाद्ग्राह्य हिता प्रिय महात्मभि । वचनं धर्म मिथ्यर्गं विपाके केवल हितम् ॥२९॥ हितं प्रियं च वक्तव्यं वचः सर्वार्थसिद्धये । प्रस्पष्टं निर्मल दद्यौ धर्मोपदेशनाय च ॥३०॥ चौरस्य चौर एवायं ह्यंधस्यांधोत्र पापिन' ।

बतलाये हैं पहला सत्य वचन, दूसरा असत्य वचन, तीसरा उभय वचन और चौथा अनुभय वचन ॥२४॥ इनमे से असत्य और उभय दोनों प्रकार के वचन अशुभ हैं और समस्त पापों के करने वाले हैं। इसलिये व्रत धारण करने की इच्छा करने वालों को इन दोनों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये ॥२५॥ सत्य और अनुभय वचन संसार का कल्याण करने वाले हैं, पाप रहित हैं, धर्म की वृद्धि करने वाले है कहने योग्य हैं और सारभूत है इसलिये मुनियों को ये ही दो प्रकार के वचन कहने चाहिये ॥२६॥ कोई वचन प्रिय होकर भी हित करने वाले होते हैं; कोई हित करने वाले होकर भी अप्रिय होते हैं तथा कोई प्रिय भी नहीं होते और हित करने वाले भी नहीं होते। इन तीनों के सिवाय जो वचन हैं वे सब चौथे भेद मे शामिल हैं ॥२७॥ इनमें से अप्रिय और अहित करने वाले वचन अपने और दूसरे दोनों को दुःख देने वाले तथा पाप उत्पन्न करने वाले है। इसलिये मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिये ऐसे वचन बोलने का प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये ॥२८॥ महात्मा लोग कभी कभी धर्म के निमित्त से होने वाले हितकारी किंतु अप्रिय वचनों को धर्म की सिद्धि करने वाले और ग्रहण करने योग्य समझते हैं क्योंकि ऐसे वचनों का अंतिम फल आत्मा का हित ही होता है ॥२९॥ चतुर पुरुषों को समस्त पदार्थों की सिद्धि के लिए और धर्म का उपदेश देने के लिए निर्मल और स्पष्ट ऐसे हितकारी प्रिय वचन ही कहने चाहिये ॥३०॥ चोर को चोर कहना, अंधे को अंधा कहना, पापी को पापी कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना और रांड को रांड कहना दुर्वचन कहलाते

पापी षंडस्य पंडो रंडाया रंडेति दुर्वचः ॥३१॥ सत्यं चापि न वक्तव्यं पर क्रोधादिकारणम् । निष्ठुरं कटुकं निंद्यं वचः पीडाकरं नृणाम् ॥३२॥ वचसा येन जायेत बाधा पीडा च देहिनाम् । तत्सत्यमपि लोकेस्मिन्न सत्यं गदितं बुधैः ॥३३॥ असत्यमपि सत्यं स्यात्परार्थेन शुभप्रदम् । जीवरक्षा हितार्थं वचो ब्रूतं कचिद् बुधैः ॥३४॥ येन संतप्यते लोकः क्रोधलोभादयोखिलाः । वधबंधान्यपीडाद्याः स्मरादीन्द्रिय विद्विषः ॥३५॥ जायन्ते चोत्कटाः पुंसां जातु वाच्यं न तद्वचः । रागद्वेषमदोन्मादैः प्राणनाशेपि संयतैः ॥३६॥ स्थिरं जायेत वैराग्यं वर्द्धन्ते सद्गुणाः सताम् । विलीयन्ते च रागाद्याः साम्यन्त्यत्र स्मरादयः ॥३७॥ दुर्ध्यानानि च येनाशु शुभो भावोस्ति धीधनै । वक्तव्यं तद्वचो मिष्टं धर्मतत्त्वादिदर्शकम् ॥३८॥ उक्तेनानेन मे न्येषां शुभं किंवाशुभ भवेत् ।

हैं। यद्यपि ये वचन सत्य हैं तथापि दूसरों को क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये ऐसे वचन कभी नही कहने चाहिये। इनके सिवाय कठोर, कड़ुये निंदनीय और मनुष्यों को दुःख उत्पन्न करने वाले वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये ॥३१–३२॥ जिन वचनों से जीवों को पीड़ा वा बाधा पहुँचती हो ऐसे वचन यद्यपि सत्य हों तथापि बुद्धिमान लोग इस संसार में ऐसे वचनों को सत्य कभी नहीं कहते ॥३३॥ बुद्धिमान मनुष्यों को जीवों की रक्षा और किसी आत्मा का हित करने के लिये कभी कभी असत्य वचन भी कहने पड़ते हैं परंतु ऐसे असत्य वचन दूसरे का कल्याण करने के कारण सत्य और शुभप्रद वा कल्याण करने वाले ही माने जाते हैं ॥३४॥ जिन वचनों से लोगों को संताप हो, क्रोध लोभ आदि विकार उत्पन्न हों, वध बंध वा दूसरों को पीड़ा हो काम आदि इन्द्रियों के विकार उत्पन्न हों और तीव्रता बढ जाय ऐसे राग द्वेष मद और उन्माद से उत्पन्न होने वाले वचन कभी नही कहने चाहिये। मुनियो को अपने प्राण नष्ट होने पर भी ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये ३५–३६॥ जिन वचनों से वैराग्य की स्थिरता हो, सज्जनों के गुण वृद्धि को प्राप्त होते रहें, राग द्वेष नष्ट हो जॉय, कामादिक विकार तथा आर्त रौद्र ध्यान नष्ट हो जाय तथा जिन वचनों से शुभ भाव प्रगट हो जॉय जो वचन मिष्ट हो और धर्म वा तत्त्वों का उपदेश देने वाले हो ऐसे ही वचन बुद्धिमानों को बोलने चाहिये ॥३७–३८॥ मुनियों को बोलने के पहले यह विचार कर लेना

यशो थवा यशः स्वास्थ्यं श्रेयो श्रेयोथ सम्प्रति ॥ ३६ ॥ पूर्वं चित्ते विचार्येति पश्चाद्वदन्तु योगिनः । शश्वद्धर्मो-पदेशाय स्वागमानिंदित वच ॥ ४० ॥ नोचेन्मौन प्रकुर्वन्तु सार सर्वार्थसिद्धिदम् । धर्मशुक्लागमात्मज्ञाः सर्व दोषापहं परम् ॥४१॥ सत्येन वचसा कीर्तिः परमा शशिनिर्मला । भ्रमे त्लोकत्रये सर्वे वर्द्धंते सद्गुणाः सताम् ॥ ४२ ॥ सत्य मन्त्रेण योग्यं वा भारती विश्वदीपिका । सद्बुध्यावतरत्येवामा मुखे सत्यवादिनाम् ॥४३॥ सम्पद्यते परा बुद्धि र्निकषग्रावसन्निभा । विश्वतत्त्व परीक्षायां सुधिया सत्यवाक्यत ॥४४॥ वाक्येन मधुरेणाण तुष्यन्ति प्राणिनो यथा । न तथा वस्तुदानाद्यैर्वाक्येहो का दरिद्रता ॥४५॥ मत्वेति मधुरं वाक्यं हित कर्ण-सुखावहम् । कटुकं निष्ठुरं त्यक्त्वा वक्तव्यं धर्मसिद्धये ॥ ४६ ॥ सत्ये च मधुरे वाक्ये जगत्पूज्ये शुभाकरे । सत्य-

---

चाहिये कि इन वचनों से कहने से मेरा वा दूसरे का शुभ होगा वा अशुभ होगा, यश होगा वा अपयश होगा तथा कल्याण होगा वा अकल्याण होगा यह सब विचार कर मुनियों को बोलना चाहिये। तथा निरंतर धर्मोपदेश देने के लिये अपने आगम के अनुसार अनिंदित वचन ही कहने चाहिये ॥३६–४०॥ यदि ऐसे वचन (आगमानुकूल वचन) कहने का समय न हो तो धर्मध्यान शुक्लध्यान और आगम को जानने वाले मुनियों को समस्त दोषों को दूर करने वाला समस्त पदार्थों की सिद्धि करने वाला सर्वोत्कृष्ट और सारभूत मौन धारण कर लेना चाहिये ॥४१॥ सत्य वचन कहने से सर्वोत्कृष्ट और चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा सज्जनों के समस्त श्रेष्ठ गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं ॥४२॥ इस सत्यरूपी मंत्र के प्रभाव से संसार के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली सरस्वती श्रेष्ठ बुद्धि के साथ साथ सत्यवादियों के मुख में ही आकर अवतार लेती है सो योग्य ही है ॥४३॥ इस सत्य वचन के प्रभाव से बुद्धिमान् पुरुषों की श्रेष्ठ बुद्धि समस्त तत्त्वों की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान हो जाती है ॥४४॥ इस संसार के प्राणी जिस प्रकार मधुर वचनों से संतुष्ट होते हैं उस प्रकार अन्य पदार्थों के देने से सन्तुष्ट नहीं होते इसलिये वचनों में कभी दरिद्रता नहीं रखनी चाहिये ॥ ४५ ॥ यही समझकर धर्म की सिद्धि के लिए कठोर और कड़वे वचनों का त्याग कर मधुर

सत्यं जगन्निन्द्य वचः कटुकं सुधीः ॥४७॥ इन्द्राद्यो न समर्थः कर्तुं दुःखं सत्यभाषिणाम् । खादन्ति न सर्पाद्याः सत्य भीमाजलविनाम् ॥४८॥ अग्नयो न दहन्त्यत्र नागा खादन्ति जातु न । सुखदा सत्यवादिनो लोके दृश्यन्तेऽति दृश्यते ॥४९॥ असत्यवादिनस्तेपि न सहन्तेन्नतावः मुखरोगादयः सर्वे जायन्ते नून भाषिणाम् ॥५०॥ मृषावादोत्थपापेन मूर्खता जायते नृणाम् । हीयते परमा बुद्धि रकीर्तिः स्याज्जगत्त्रये ॥५१॥ सूत्रस्य भक्षणं वरं वा विषभक्षणम् । नासत्यभाषणं धर्मविरोधि या शुभाकरम् ॥५२॥ चिर प्रव्राजितो योगी महाश्रुतावबोधितः । यः सोप्यत्र मृषावादात् निन्द्यः स्याच्चंडालादपि ॥५३॥ विज्ञायेति न वक्तव्यं क्वचित् विसत्यं वचः । पर पीडाकरं धीः सत्सु कार्यकोटिषु ॥५४॥ अनिष्टं कठोरं वाक्यं कर्णयोः । न वाच्यं सत्य-

हित करने वाले और कानों को सुख देने वाले वचन कहने चाहियें ॥४६॥ सत्य और मधुर वचन जगत पूज्य हैं और शुभ की खानि हैं फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान है जो ऐसे वचनों को छोड़कर असत्य जगत निंद्य और कड़वे वचनों को कहेगा अर्थात् कोई नहीं ॥४७॥ सत्य वचन कहने वाले बुद्धिमानों के कार्यों में इन्द्र भी कोई विघ्न नहीं कर सकता तथा क्रूर सर्पादिक भी उसे नहीं काट सकते ॥४८॥ इस संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सत्यवादी लोगों को न तो अग्नि जलाती है और न सर्प ही काटते हैं ॥४९॥ वे अग्नि सर्प आदिक असत्य वादियों को कभी सहन नहीं कर सकते। असत्य वादियों के मुखरोग वा कुष्ट आदि समस्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥५०॥ मिथ्या भाषण से उत्पन्न हुए पाप के द्वारा मनुष्यों में मूर्खता उत्पन्न होती है श्रेष्ठ बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और तीनों लोकों में अपकीर्ति फैल जाती है ॥५१॥ यह असत्य भाषण धर्म का विरोधी है और दुर्गतियों को देने वाला है। इसलिये विष खा लेना अच्छा अथवा विष्ठा खा लेना अच्छा परंतु असत्य भाषण करना अच्छा नहीं ॥५२॥ जो मुनि चिरकाल का दीक्षित है, महा श्रुतज्ञानी है तथा महा तपस्वी है वह भी असत्य भाषण करने से चांडाल से भी निंद्य समझा जाता है ॥५३॥ यही समझ कर करोड़ों श्रेष्ठ और अच्छे कार्य होने पर भी चतुर पुरुषों को दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले असत्य वचन कभी नहीं कहने चाहियें ॥५४॥ जो वचन दूसरों को अनिष्ट हों, जो कठोर हों और

स्यैतन्मूल धर्मव्रतात्मनाम् ॥ ५५ ॥ मौनमेवोचित सारं सर्वास्रव निरोधकम् । मुनीनासमवा जाते कार्ये धर्म निवधिनि ॥ ५६ ॥ वदन्तु मुनय सत्य मित स्वल्पाक्षर शुभम् । वह्वर्थं धर्म ससिध्यै व्यक्त चागमसम्भवम् । ५७ ॥ क्रोध लोभभय त्यागा हास्यवर्जनमेव च । सामस्त्येन विचार्योच्चैरागमोक्त सुभाषणम् ॥ ५८ ॥ इमा मद्भावना पंच भावयन्तु तपोधना । सत्यव्रत विशुध्यर्थं प्रत्यह व्रत कारिणीः ॥ ५६ ॥ श्रुतसकलविधातार महाधर्म वीज शिव सुरगति हेतुं विश्वकीर्त्यादिहानिम् । दुरित तिमिर भानुं सर्वकल्याणमूल, मियमपगतदोषा सद्व्रत पालयन्तु ॥ ६० ॥ ग्राम खेटाटवीशैल गृहारण्यपथादिपु । पतितं विस्मृतं नष्ट स्थापित वान्य वस्तु च ॥ ६१ ॥ सूक्ष्म स्थूल महद्वाल्पं गृह्यते यन्न जातुचित् । कृष्णाहिरि व विज्ञेयं तत्तृनीयं महा—

कानों को दुख देने वाले हो ऐसे वचन धर्मात्मा और व्रती पुरुषो को कभी नहीं कहने चाहिये ॥५५॥ प्रायः मुनियों को मौन धारण करना चाहिये यह मौन ही समस्त आस्रव को रोकने वाला है और सारभूत है। यदि किसी धर्म काय के लिये बोलना पड़े तो मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिये सत्य परिमित शुभ थोड़े से अक्षरों में बहुत से अर्थ को सूचित करने वाला व्यक्त और आगम के अनुकूल बोलना चाहिये ॥५६–५७॥ क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हास्य का त्याग और सब बातों का विचार कर आगम के अनुसार भाषण करना ये पांच इस सत्य महाव्रत की भावना हैं। ये भावना ही व्रतों को स्थिर रखती हैं इसलिये मुनियों को अपना सत्यव्रत विशुद्ध रखने के लिये प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५८–५९॥ यह सत्य महाव्रत समस्त श्रुतज्ञान को देने वाला है, धर्म का श्रेष्ठ बीज है, मोक्ष तथा स्वर्ग गति का कारण है, संसार भर में कीर्ति को फैलाने वाला है पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है समस्त कल्याणों का मूल है अतएव समस्त दोषों से रहित मुनियों को इसका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥६०॥ किसी गाँव, खेट, वन पर्वत घर जंगल वा मार्ग आदि में पड़ी हुई, भूली हुई, खोई हुई वा रक्खी हुई छोटी बड़ी बहुत वा कम दूसरे की वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना है उसे काले सर्प के समान समझ कर अलग हट जाना है उसको तीसरा अचौर्य महाव्रत कहते हैं ॥६१–६२॥ देखो जो मुनि वंदनीय हैं जो अपने शरीर में

व्रतम् ॥ ६२ ॥ अहो ये मुनयो वंद्या निर्लोभाः स्वतनावपि । दत्तं जातु न गृह्णन्ति श्रामण्यायोग्यमेव यत् ॥६३॥ कथं गृह्णन्ति ते निंद्यं परं स्वं श्वभ्रकारणम् । अदत्तं स्वान्ययो घोर दुःख क्लेशाशुभादिदम् ॥ ६४॥ अदात्तादान दोषेण वंधवधादयो नृपात् । लभन्ते त्रैव चौरैश्च परत्र नरकादयः ॥ ६५ ॥ क्षणमात्रं न चेहन्ते संसर्गं तस्करस्य भो । यतयः स्वजना वात्र वधवधादिशंकया ॥६६॥ अदत्तादानमात्रेण कलंकं दुस्त्यजं भुवि । जायते प्राण सन्देहः कुलस्य दुर्धियां क्षणात् ॥६७॥ अर्हतां याष्टधा पूजा केनचिद्धीमता कृता । तामादत्तेत्र यो लुब्धो महाचौरः स कथ्यते ॥६८॥ श्री जिनेन्द्रमुखोत्पन्ने शास्त्रे केनापि पूजिते । तत्पूजावस्तु नादेयं जात्वचौर्यव्रताप्तये ॥६९॥ रत्नत्रयं समुच्चार्य गुरुपादौ प्रपूजितौ । अर्चेया सा न चादेया सद्द्रव्या जातुचिज्जनै ॥७०॥

भी लोभ वा ममत्व नहीं रखते जो मुनियों के अयोग्य पदार्थों को देने पर भी ग्रहण नहीं करते वे भला दूसरे के द्वारा विना दिये हुए निंदनीय परधन को कैसे ग्रहण कर लेंगे क्योंकि विना दिया हुआ दूसरे का धन नरक का कारण है तथा अपने और दूसरों के लिये घोर दुःख घोर क्लेश और अनेक दुर्गतियों को देने वाला है ॥६३—६४॥ विना दिए हुए धन को ग्रहण करने के दोष से चोरों को राजा से इसी लोक में अनेक प्रकार के बध वंधन आदि के दुःख प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरक आदि दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं ॥६५॥ हे मुनिराज ! देखो चोर के कुटंबी लोग भी वध वंधन-आदि की आशंका से क्षण भर भी चोर का संसर्ग नहीं चाहते ॥६६॥ विना दिए हुए धन को ग्रहण करने मात्र से इस संसार में कभी न छूटने वाला कलंक लग जाता है। तथा वह कलंक उन मूर्खों के कुल भर में लग जाता है और क्षण भर में ही उनके प्राणों में संदेह हो जाता है ॥६७॥ किसी भी बुद्धिमान के द्वारा जो अष्ट द्रव्य से भगवान अरहंत देव की पूजा की जाती है उस चढी हुई पूजा द्रव्य को जो ग्रहण करता है उसे भी लोभी और महाचोर समझना चाहिये ॥६८॥ जिस किसी भी पुरुष ने भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई सरस्वती की पूजा की है और उसमें जो द्रव्य चढ़ाया है वह भी अचौर्य व्रत पालन करने के लिए कभी नही लेना चाहिए ॥६९॥ जिस द्रव्य से रत्नत्रय का उच्चारण करते हुए आचार्य उपाध्याय और साधुपरमेष्टी की पूजा की है वह द्रव्य भी सज्जनों को कभी नही लेना चाहिए ॥ ७० ॥ बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना

किमित्र वहुनोक्तेन निर्माल्यं दुरिताकरम् । देवशास्त्र गुरूणा च नादेयं धर्मकांक्षिभिः ॥७१॥ यदि स्वर्गं व्रजेत् पूजाकृर्तार्हद् ज्ञान योगिनाम् । तन्निर्माल्यात्तचित्ताना श्वभ्रं केन निर्वार्यते ॥७२॥ अदत्तमथवा दत्त यत्संयमादि हानि कृत् । तत्सर्वथा न च ग्राह्यं प्राणैः कठगतैरपि ॥७३॥ इति मत्वा नचादेयं संयतै दंन्तशुद्धये । अदत्तं तृणमात्रं भो का कथा परवस्तुपु ॥७४॥ परस्वं ये न गृह्णन्ति ग्राहयन्ति न जातुचित् । गृह्णन्तं नानुमन्यन्ते-ऽत्राणुमात्रेतरं वुधाः ॥७५॥ कालाहि मिव कायेन वचसा मनसा भुवि । सपूर्णं जायते तेषा ज्ञानिनां तन्महा व्रतम् ॥७६॥ याचाख्या समनुज्ञापना नात्म भाव एवहि । तथैव निरवद्यं प्रतिसेवनं सुभावनाः ॥७७॥ सधर्म्युपकरस्यानु वीची सेवनं स्त्विमाः । अस्तेय व्रतशुध्यर्थं भावनीयाः सुभावना. ॥७८॥ अखिल विभवहेतुं

चाहिए कि देव शास्त्र गुरुओं पर चढाया हुआ निर्माल्य द्रव्य धर्मात्मा पुरुषों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योकि उसको ग्रहण करने से अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं ॥७१॥ यदि देव शास्त्र गुरु की पूजा करने वाला स्वर्ग को जाता है तो उस निर्माल्य द्रव्य को ग्रहण करने वाले को नरक में जाने से कौन रोक सकता है अर्थात् कोई नहीं ॥७२॥ जो द्रव्य दिया हो वा न दिया हुआ हो यदि वह संयम की हानि करने वाला है तो कंठगत प्राण होने पर भी मुनियों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥७३॥ यही समझ कर मुनियों को अपने दाँत शुद्ध करने के लिये विना दिया हुआ तृण भी ग्रहण नहीं करना चाहिए फिर भला पर पदार्थों की तो वात ही क्या है ॥७४॥ जो वुद्धिमान् पुरुष अणुमात्र वा वहुतसी पर वस्तु को काले सर्प के समान समझ कर मन वचन काय से न तो स्वयं ग्रहण करते हैं न कभी दूसरों से ग्रहण कराते है और न कभी ग्रहण करने वाले की अनुमोदना करते हैं उन ज्ञानी पुरुषों के इस संसार मे तीसरा अचौर्य महाव्रत पूर्ण प्रगट होता है ॥७५-७६॥ कभी किसी से याचना नही करना, किसी को कुछ आज्ञा न देना, किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखना, सदा निर्दोष पदार्थ का सेवन करना और साधर्मी पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल वर्ताव करना ये पाँच अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखने वाली श्रेष्ठ भावनाएं हैं ॥७७-७८॥ यह अचौर्य महाव्रत समस्त विभूतियों का कारण है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिये सिंह के

लोभमातंगसिंहं शिवशुभगति मार्गं सार मस्तेयमंत्रम् । व्रतवरमपदोषं मुक्तिकामा शिवाप्त्यै, भजत परमयत्ना लोभशत्रुं निहत्य ॥७९॥ स्वात्मजेव सुकन्या यौवनस्था भगिनीव च । वृद्धा नारी निजाम्बेव दृश्यते या विरागिभिः ॥८०॥ सरागपरिणामादीन् त्यक्त्वा शुद्धाशयैः सदा । निर्मलं तज्जिनैः प्रोक्तं ब्रह्मचर्यं महाव्रतम् ॥८१॥ स्त्री तिरश्ची च देवीमाः कथ्यन्ते त्रिविधाः स्त्रियः । मनो वचन कायैस्ताः प्रत्येकं गुणिता भुवि ॥८२॥ नवधेति विकल्पाः स्युरब्रह्महेतवोऽखिलान् । परिहृत्य त्रिशुध्या तान्नवधा ब्रह्म रक्षत ॥८३॥ मनोवाक्काययोगैः कृत कारितानुमोदनैः । प्रत्येकं गुणिता स्त्रीणां नवभेदा भवन्ति वा ॥८४॥ सर्वथा वाङ्मनः कायान् कृतादीनि निरुध्य च । नवधा ब्रह्मचर्यं हि पालयन्तु जितेन्द्रियाः ॥८५॥ स्त्रीशृंगार कथालापाः

समान है, मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, समस्त व्रतों में सार है, सब व्रतों में उत्तम है और समस्त दोषों से रहित है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालों को लोभरूपी शत्रु को मार कर बड़े प्रयत्न से केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस महाव्रत का पालन करना चाहिए ॥७९॥ शुद्ध हृदय को धारण करने वाले वीतरागी पुरुष अपने राग रूप परिणामों का सर्वथा त्याग कर कन्या को अपनी पुत्री के समान मानते हैं, यौवनवती स्त्री को अपनी भगिनी के समान मानते हैं और वृद्धा स्त्री को अपनी माता के समान मानते हैं। इस प्रकार जो वे निर्मल ब्रह्मचर्य पालन करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते हैं ॥८०–८१॥ संसार में मनुष्यनी तिर्यंचिनी और देवी ये तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं। यदि इन तीनों को मन वचन काय इन तीनों से सेवन करने की इच्छा की जाय तो अब्रह्मचर्य के नौ भेद हो जाते हैं। इसलिए मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए ॥८२–८३॥ अथवा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के भेद से प्रत्येक स्त्री के नौ भेद होते हैं इसीलिये मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना को सर्वथा रोक कर जितेन्द्रिय पुरुषों को नौ प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए ॥८४–८५॥ स्त्रियों के शृंगार की कथा का कहना भी कामोद्रेक

कामोद्रेक निबन्धना. । न श्रोतव्या न कर्तव्या विशुध्या ब्रह्मचारिभिः ॥८६॥ विलासहास शृंगार गीत नृत्य कलादिकान् । योषिता नैव पश्यन्ति बहून् रागकरान् बुधा' ॥८७॥ क्षणमात्रं न कर्तव्यं संसर्गं योषिता क्वचित् । कलक कारिण निंद्य ब्रह्मचर्यपरायणैः. ॥८८॥ यत ससर्गमात्रेण स्त्रीणा सजायते सताम । कलकं दुस्त्यज लोके प्राणसन्देह एव च ॥८९॥ चित्रादि निर्मिता नारी मन' क्षोभ करोति भो । साक्षात्पुंसा सुरूपा स्त्री किमनर्थं करोति न ॥९०॥ नवनीत निभ चित्तं ह्यग्नि ज्वालोपमागिनाम् । किं नाकृत्य नृणां कुर्यात्तयो ससर्ग एव च ॥९१॥ वर व्याघ्राहि चौराणां ससर्ग. प्राणनाशकृत् । न च स्त्रीणा जगन्निंद्यो व्रतघ्नो नरक प्रद. ॥९२॥

का कारण है। इसलिए ब्रह्मचारियों को अपने मन वचन काय को शुद्ध रख कर स्त्रियो के शृंगार की कथा न कभी सुननी चाहिए और न कभी कहनी चाहिये ॥८६॥ स्त्रियों के विलास हास शृंगार गीत नृत्य कला आदि सब बहुत ही राग उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए बुद्धिमान् लोग इनको कभी नहीं देखते हैं ॥ ८७ ॥ स्त्रियो का संसर्ग कलंक लगाने वाला और अत्यंत निंद्य है। इसलिए ब्रह्मचारी पुरुषो को स्त्रियों का संसर्ग क्षणमात्र भी कभी नहीं करना चाहिये ॥ ८८ ॥ इसका भी कारण यह है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्र से सज्जन पुरुषों को कभी भी न छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा उनके प्राणों में भी संदेह हो जाता है ॥८९॥ अरे देखो चित्र की बनी हुई स्त्री भी पुरुषों के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है फिर भला अत्यंत रूपवती साक्षात् स्त्री क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकती ? अर्थात् सब कुछ कर सकती है ॥९०॥ पुरुष का हृदय मक्खन के समान है और स्त्री का हृदय अग्नि की ज्वाला के समान है फिर भला इन दोनों का संसर्ग क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकता अर्थात् सब तरह के अनर्थ कर सकता है ॥९१॥ सिंह सर्प और चोर आदि का संसर्ग यद्यपि प्राणों को नाश करने वाला है तथापि वह तो श्रेष्ठ है परंतु संसार भर में निंदनीय, व्रतों को नाश करने वाला और नरक मे ढकेलने वाला स्त्रियों का संसर्ग कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता ॥९२॥ भगवान जिनेन्द्रदेव के आगम से जाना जाता है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्र से अनेक योगी नष्ट हो गये हैं और कितने ही योगी

नारी संसर्ग मात्रेण वहवो योगिनो भुवि । नष्टाः श्वभ्रं गताः केचिच्छ्रूयन्ते श्रीजिनागमे ॥६३॥ मत्वेति सर्व यत्नेन संसर्गो ऽनर्थ कृद्बुधैः । त्याज्यः स्त्रीणां च सर्वासां कलंकशंकयातराम् ॥६४॥ न केवलं बुधैस्त्याज्यः संसर्गो योषितामिह । किन्तु निःशीलपुंसां च संगो लोकद्वयांतकृत् ॥६५॥ ब्रह्मचर्यं च सर्वेषां व्रतानां शुद्धिकारणम् । ब्रह्मचर्य विनाशेन सर्वे नश्यन्ति सद्व्रताः ॥६६॥ ब्रह्मचर्य च्युत. श्चैव सर्वत्र चापमान्यते । मुनिभिः सुजनैः प्राणी हेहामुत्राति दुःखभाक् ॥६७॥ गौर चर्मावृतं कान्तं वस्त्राभरणमंडितम् । स्त्री रूपं त्वं मुने वीक्ष्य तस्यान्तःस्थं विचारय ॥६८॥ अहो घृणास्पदं निंद्यं लालाम्बुकर्दमी कृतम् । श्लेष्मागारं च दुर्गंध स्त्रीमुखंक प्रशस्यते ॥६६॥ मांसपिण्डौ कुचौ स्त्रीणां धातुश्रोणितसंभृतौ । विष्ठादि निचितं चास्तिपंजरं जठरं परम् ॥२००॥

नरक में पहुंचे हैं ॥६३॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को कलंक लगने की शंका से पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त स्त्रियों का संसर्ग छोड़ देना चाहिये क्योंकि स्त्रियों का संसर्ग अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाला है ॥६४॥ बुद्धिमान पुरुषों का कार्य केवल स्त्रियों के संसर्ग के त्याग करने से ही पूर्ण नहीं होता किंतु उन्हें शील रहित पुरुषों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि शील रहित पुरुषों का संसर्ग भी दोनों लोको को नाश करने वाला है ॥६५॥ यह ब्रह्मचर्य समस्त व्रतों की शुद्धि का कारण है तथा इस ब्रह्मचर्य का नाश होने से समस्त श्रेष्ठ व्रत नष्ट हो जाते हैं ॥६६॥ जो प्राणी ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाता है उसका अपमान मुनि वा अन्य सज्जन सर्वत्र करते हैं। तथा वह प्राणी इस लोक और पर लोक दोनों लोकों में दुःख पाता है ॥६७॥ हे मुनिराज गौर वर्ण के चमड़े से ढके हुए, अत्यंत मनोहर, और वस्त्र आभूषणों से सुशोभित ऐसे स्त्री के रूप को देख कर तू उसके भीतर भरे हुए पदार्थों का चिंतवन कर ॥६८॥ देखो स्त्रियों का मुख अत्यंत घृणित और निंदनीय है थूक के पानी की बनी हुई कीचड़ से वह भर रहा है, कफ का वह घर है और अत्यंत दुर्गंधमय है। भला ऐसे स्त्री के मुख की प्रशंसा कहाँ की जा सकती है। अर्थात् कहीं नहीं ॥६६॥ और देखो स्त्रियों के कुच मॉस के पिंड हैं तथा धातु और रुधिर से भरे हुए हैं। इसी प्रकार स्त्रियों का उदर विष्ठा से भरा हुआ है और हड्डी पसलियों से परिपूर्ण है ॥२००॥ स्त्रियों

स्रवन्मूत्रादि दुर्गंधं योनिरध्र घृणास्पदम् । श्वभ्रागारमिवासारं कथं स्याद्रतये सताम् ॥१॥ सूक्ष्मा अलब्ध-पर्याप्ता जायन्ते मानवाः सदा । योनौ नाभौ च कक्षायां विश्वस्त्रीणा स्तनान्तरे ॥२॥ तेषु सर्व प्रदेशेषु म्रियन्ते जन्तुराशयः । लिंगहस्तादि सस्पर्शादित्युक्त स्वागमे जिनै ॥३॥ अतो मुनीश्वरैर्निंद्यं श्वभ्र दुःखनिबन्धनम् । सर्वपापाकरी भूतं मैथुनं स्यात्कुमार्गगम ॥४॥ कामदाहाग्निशान्त्यर्थं सेवन्ते येत्र मैथुनम् । वृषभास्ते नल दीप्तं तैलेन वारयन्ति भोः ॥५॥ कार्यं न शयन जातु कोमले सस्तरे कचित् । आसने चासन ब्रह्मघातक ब्रह्मचा-रिभि. ॥६॥ सर्वः शरीर सस्कार' कामरागादिवर्द्धक' । न विधेयो बुधैर्निंद्यो ब्रह्मरक्षात्तमानसै. ॥७॥ दुग्धाद्याः

की योनि से सदा रुधिर मूत्र बहता रहता है इसलिये वह दुर्गंधमय अत्यंत घृणित और नरक के घर के समान असार समझी जाती है। उसमें भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥२०१॥ कर्मभूमि की समस्त स्त्रियो की योनि में नाभि में कांख में और दोनों स्तनों के मध्य भाग में सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं ॥२॥ उन समस्त प्रदेशों में लिंग वा हाथ का स्पर्श होता है। उस स्पर्श से वह सब जीवों की राशि मर जाती है । ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में बतलाया है ॥ ३ ॥ इसलिये कहना चाहिए कि यह मैथुन कर्म मुनीश्वरों के द्वारा निंदनीय है, नरक के दुःखों का कारण है, समस्त पापों की खानि है और कुमार्ग में ले जाने वाला है ॥ ४ ॥ जो लोग केवल काम के संताप को शांत करने के लिये मैथुन सेवन करते हैं उन्हें बैल समझना चाहिये । वे लोग जलती हुई अग्नि को तेल से बुझाना चाहते हैं ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारियों को कोमल बिछौने पर कभी नहीं सोना चाहिये और न कोमल आसन पर बैठना चाहिये क्योंकि ब्रह्मचारियों को कोमल आसन भी ब्रह्मचर्य का घात करने वाला है ॥ ६ ॥ शरीर का सब तरह का संस्कार काम और राग को बढ़ाने वाला है तथा निंदनीय है । इसलिये ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में जिनका मन लगा हुआ है ऐसे बुद्धिमान पुरुषों को किसी भी प्रकार का शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्य के रक्षा करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को न तो बल देने वाला दूध आदि का आहार

सवलाहारा. सुस्वादा मोदकादयः । कामाग्नि दीपिका ग्राह्या न कचित् ब्रह्मकांक्षिभिः ॥८॥ यथा तृणादि संयोगैः प्रादुर्भवेद्गृहेऽनल' । तथा काये च कामाग्निः सवलाहार सेवनैः ॥९॥ अन्नपानासनाद्यैश्च रक्षणीयो न शर्मणा कामनागालय.-काय. कचिद् ब्रह्मविशुद्धये ॥१०॥ यत' कामप्रकोपेन शरीरसुखकांक्षिणाम् । सार्द्धं सर्वव्रतैः शीघ्रं ब्रह्मचर्यं पलायते ॥११॥ मत्वेति सर्वथा त्याज्यं वपुःसौख्यं विषान्नवत् । सवलान्नं मुखाद्यंगसंस्कारं शयनादि च ॥१२॥ निरीक्षणं न कर्तव्यं स्त्रीणा हावेगिते मुखे । यतस्तल्लोकना देते जायन्ते नर्थकारिणः ॥१३॥ दृष्टिपातो भवेदादौ व्यामुह्यति मनस्ततः । सराग. कुरुते पश्चात्तत्कथागुण कीर्तनम् ॥१४॥ तत' प्रेमानुवंधः

करना चाहिये और न लड्डू आदि स्वादिष्ट पदार्थों का आहार करना चाहिए क्योंकि ये सब पदार्थ कामरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने वाले हैं ॥८॥ जिस प्रकार घास फूंस के संयोग से घर में अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पौष्टिक आहार के सेवन करने से शरीर में कामाग्नि उत्पन्न हो जाती है ॥९॥ यह शरीर कामरूपी सर्प का घर है। इसलिये अपने ब्रह्मचर्य को विशुद्ध रखने के लिये अन्न पान आसन आदि से कभी इसकी रक्षा तो करनी चाहिये परन्तु इन्द्रिय भोगों के लिये नहीं करनी चाहिये ॥१०॥ इसका भी कारण यह है कि शरीर के सुख की इच्छा करने वालों के शरीर मे काम का प्रकोप उत्पन्न हो जाता है और फिर समस्त व्रतों के साथ साथ उसका ब्रह्मचर्य भी शीघ्र ही भाग जाता है ॥११॥ यही समझ कर शरीर के सुख को विष मिले हुए अन्न के समान सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा इसी प्रकार पौष्टिक आहार, मुख आदि शरीर के अंगों का संस्कार और अधिक शयन आदि का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१२॥ हाव भाव से भरे हुए स्त्रियों के मुख को कभी नहीं देखना चाहिये। क्योंकि स्त्रियों का मुख देखने से नीचे लिखे अनुसार अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१३॥ देखो सबसे पहले तो दृष्टिपात होता है, तदनंतर मन मोहित होता है, फिर वह मनुष्य उससे प्रेम करने लगता है फिर वह उसकी कथा कहता है फिर उसके गुणो का वर्णन करता है तदनंतर उन दोनो के प्रेम का संबंध बढता है फिर उन दोनों का मन उत्कंठित होता है अथवा काम सेवन आदि की उत्कंठा करता है तदनंतर परस्पर देने लेने

प्रवर्द्धते ह्युभयो स्ततः। उत्कठते शुभ चेत. कामभोगादि केवलम् ॥१५॥ दानदाक्षिण्यवार्ताद्यै रुभयो वर्द्धते स्मर:। तत. कामाभिलापेण परा प्रीतिश्च जायते ॥१६॥ तया मिलति चान्योन्य मानस कामलालसम्। प्रणश्यति ततो लज्जा कंदर्पशरताडिता ॥१७॥ निर्लज्ज कुरुते कर्म रहोजल्पनमन्वहम्। तयोस्ततश्च कामाग्नि-दुर्निवारोविजृम्भते ॥१८॥ दह्यमान स्तत स्तेन वहिरन्त. स्मराग्निना। अविचार्यतया वाशु वर्तते निंद्य कर्मणि ॥१९॥ तेन श्रुतं तपः शीलं कुल च वृत्तमुत्तमम्। इंधनी कुरुते मूढ़ प्रविश्य स्त्री विलानले ॥२०॥ ततोपमानमत्रैव वधवधकदर्थनम्। लभते स परत्राहो नरक सप्तम कुधी ॥२१॥ विदित्वेति न पश्यन्ति कामिनीं ब्रह्मचारिणः। कचिद् दृष्टिविषाहिमिवाखिलानर्थ कारिणीम् ॥२२॥ धन्यास्ते एव लोकेऽस्मिन् यैर्ब्रह्म निर्मलं

व चतुरता की बातचीत से वा और भी ऐसी ही बातों से दोनों का कामदेव बढ़ता जाता है। तदनंतर काम सेवन की इच्छा से दोनो में प्रेम की मात्रा खूब बढ जाती है ॥१४—१६॥ तदनंतर काम सेवन की लालसा करने वाला उन दोनों का मन परस्पर मिल जाता है और फिर कामदेव के वाणों से ताड़ित हुई लज्जा शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७॥ तदनंतर निर्लज्ज होकर वे दोनो एक दिन एकांत में बैठ कर बात चीत करने का कार्य करते रहते हैं और फिर उन दोनों की कामरूपी अग्नि ऐसी बढ़ जाती है जो किसी से रोकी नही जा सकती ॥१८॥ उस कामदेव रूपी अग्नि से वे बाहर और भतर जलते रहते हैं जिससे उनका विचार सब नष्ट हो जाता है और विचार वा बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण वे दोनों शीघ्र ही निंद्य कर्म में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं ॥१९॥ उस निंद्य कर्म के करने से वह मूर्ख स्त्रीरूपी अग्निकुंड में पड़ कर अपने उत्तम श्रुतज्ञान को, तपश्चरण को, शील को, कुल को, और चारित्र को जला डालता है ॥२०॥ श्रुत शील तप आदि के नष्ट हो जाने से इस लोक में ही उसका भारी अपमान होता है और वध बंधन के द्वारा वह भारी तिरस्कृत होता है तथा परलोक में उस मूर्ख को सातवाँ नरक प्राप्त होता है ॥२१॥ यही समझ कर ब्रह्मचारी पुरुषों को दृष्टि विष (जिसको देखने मात्र से विष चढ़ जाय) सर्प के समान समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ कभी नहीं देखनी चाहिये ॥२२॥ संसार में वे ही लोग

क्वचित् । स्वप्नेप्युपद्रितैः स्त्रीभिः न नीतं मलसन्निधौ ॥२३॥ शीलालंकरिणां पादाब्जम न्त्याज्ञाविधायिनः देवेशाः समराश्चाहो का कथा पर भूभुजाम् ॥ २४ ॥ विज्ञायेति जगत्सारं शीलरत्नं सुदुर्लभम् । स्त्रीकटाक्षादि चौरेभ्यो रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥२५॥ स्त्रीरूप मुखशृंगार विलासाङ्गनिरीक्षणम् । पूर्वानुभूत मद्भोगरत्यादि स्मरणो ज्झनम् ॥२६॥ स्त्रीशृंगार कथा त्यागः सरसान्नाद्यसेवनम् । कामिनीजनसंसक्त वसति त्यजनं सदा ॥२७॥ पंचेमा भावनाः शुद्धाः ब्रह्मव्रतविशुद्धदाः । न मोक्तव्या इदो जातु मुनिभिर्ब्रह्म शुद्धये ॥२८॥ नरसुरपति वंद्यं स्वर्गसोपानभूत, सकलगुण समुद्रं धीर वीरै निषेव्यम् । शिवसुख शुभखानिं सर्वयत्नेन पूतं भजत गत विकारं ब्रह्मचर्यं सदार्च्याः ॥२९॥ त्यजन्ते निखिला यत्र बाह्यान्तःस्थाः परिग्रहाः । जीवावद्ध निवद्धाश्च ममतान्मूर्च्छया

धन्य हैं जो स्त्रियों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी स्वप्न में भी अपने निर्मल ब्रह्मचर्य को कभी मलिन नहीं होने देते हैं ॥२३॥ समस्त पृथ्वी पर आज्ञा करने वाले इन्द्र भी अपने अनुचर देवों के साथ शील पालन करने वाले मनुष्यों के चरणों को नमस्कार करते हैं। फिर भला राजाओं की तो बात ही क्या है। वे तो नमस्कार करते ही हैं ॥२४॥ यही समझ कर तीनों लोकों में सारभूत और अत्यंत दुर्लभ ऐसे इस शील रत्न को प्रयत्न पूर्वक स्त्रियों के कटाक्ष आदि चोरों से रक्षा करनी चाहिये ॥२५॥ स्त्रियों के रूप मुख शृंगार विलास आदि को नहीं देखना, पहले भोगे हुए भोग और रति क्रीड़ा आदि के स्मरण करने का भी त्याग कर देना, स्त्रियों के शृंगार की कथा का भी त्याग कर देना रसीले पौष्टिक आहार के सेवन का त्याग कर देना और स्त्रियों के रहने सोने बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिये त्याग कर देना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत को विशुद्ध करने वाली शुद्ध भावना हैं। मुनियों को अपना ब्रह्मचर्य शुद्ध रखने के लिये अपने हृदय से इन भावनाओं को कभी अलग नहीं करना चाहिये अर्थात् इनका चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥२६—२८॥ यह ब्रह्मचर्य महाव्रत इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके द्वारा वंदनीय है, स्वर्ग के लिये सीढी के समान है, समस्त सद्गुणों का समुद्र है, धीर वीर पुरुष ही इसका सेवन कर सकते हैं अत्यंत शुभ ऐसे मोक्ष सुख की यह खानि है अत्यंत पवित्र है और विकार रहित है। इसलिये

वुधैः ॥३०॥ कृत कारित सकल्पैर्मनोवाक्कायकर्मभि । तत्प्रणीत जिनै' पूज्यमाकिंचन्य महाव्रतम ॥३१॥ चेत्रं वास्तुधनं धान्यं द्विपद पशुसचयम् । आसन शयनं वस्त्र भाड वाह्या परिग्रहाः ॥ ३२ ॥ दशामी सर्वथा त्याज्याः पृथग्भूता निजात्मनः । जीवावद्धास्त्रिशुध्यात्र यतिभि. सहमूर्च्छया ॥३३॥ मिथ्यात्व च त्रयो वेदा रागाहास्यादयोत्र पट् । चत्वारोपि कपाया हि चतुर्दश परिग्रहा' ॥ ३४ ॥ अभ्यंतरा इमे जीवनिवद्धा दुस्त्यजा वुधैः । विश्वदोपाकरा हेया. सर्वथा जीवतन्मया ॥३५॥ चेतना स्तेथवा दासीदास गोश्वादयो भुवि । मणि-मुक्तासुवर्णांशुकगेहाद्या अचेतना ॥३६॥ चेतना चेतना' सर्ववाह्याः सगा. अघार्णवाः । ज्ञानसयम शौचोपकरणेन

पूज्य पुरुषों को बड़े प्रयत्न से सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ॥२६॥ जहाँ पर बुद्धिमान लोग शरीर कषाय आदि संसारी जीवों के साथ रहने वाले और वस्त्रालंकार आदि जीव के साथ न रहने वाले समस्त परिग्रहों का त्याग कर देते हैं तथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से उन परिग्रहों में होने वाली मूर्च्छा व ममत्व का भी त्याग कर देते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने पूज्य आकिंचन्य महाव्रत कहा है ॥३०–३१॥ खेत, घर, धन, धान्य, दास, पशु, आसन शयन वस्त्र और वर्तन ये दश प्रकार के वाह्य परिग्रह कहलाते हैं। परिग्रह जीवावद्ध वा जीव से भिन्न कहलाते हैं क्योंकि ये सब आत्मा से अलग हैं। मुनियों को इनमें रहने वाली मूर्च्छा के साथ साथ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥३२–३३॥ मिथ्यात्व, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद राग हास्य अरति शोक भय जुगुप्सा, क्रोध, मान माया लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। ये चौदह परिग्रह जीव निवद्ध हैं जीव के साथ लगे हुये हैं और इसीलिए कठिनता से त्याग किये जाते हैं। ये जीव से तन्मय होकर रहते हैं और समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए बुद्धिमानों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥३४–३५॥ अथवा दासी दास गाय घोड़ा आदि इस संसार में चेतन परिग्रह कहलाते हैं तथा मोती मणि सुवर्ण वस्त्र घर आदि अचेतन परिग्रह कहलाते हैं ॥३६॥ चेतन अचेतन वाह्य आभ्यंतर सब परिग्रह पापों के समुद्र हैं और मुनि धर्म के अयोग्य है। इसलिये ज्ञान संयम और शौच के

विना बुधैः ॥ ३७ ॥ न ग्राह्याश्च स्वयं श्रामण्यायोग्याहि परस्यभोः । न दातव्या न कार्योनुमोद स्तद्ग्रहणे परैः ॥ ३८ ॥ मूर्च्छा तेषु न कर्तव्या खनिः सर्वैनसां बुधैः । यतो मूर्च्छैव सिद्धांते संगः प्रोक्तो गणाधिपै ॥३९॥ असंयतजनछात्रो वासुश्रूषादि हेतवे । असंयमकरः स्वांते रक्षणीयो न संयतेः ॥४०॥ वसत्यादौ विधेयं न स्वामित्वं संगकारणम् । पूजा द्रव्यांगवस्त्रेषु चान्यत्रपर वस्तुनि ॥४१॥ बहुनोक्तेन किं साध्यमत्रादेयो न योगिभिः ॥४२॥ वालाग्र कोटिमात्रः श्रामण्यायोग्यः सजातुचित् । परिग्रहार्जनेनात्र परा चिंता च जायते । तस्याप्ते परमोरागो रौद्रध्यानं च रक्षणे ॥४३॥ तन्नाशे शोक कोपाद्याः सर्वे प्रादुर्भवन्ति भोः । तैश्च पापानि

उपकरणों को छोड़ कर बुद्धिमानों को बाकी के सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये । न तो उन्हें स्वयं ग्रहण करना चाहिये न दूसरों को देना चाहिये और अन्य कोई ग्रहण करता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये ॥३७–३८॥ बुद्धिमानों को इन परिग्रहों में कभी ममत्व भी नहीं रखना चाहिये । क्योंकि इनमें ममत्व रखना भी समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है इसका भी कारण यह है कि भगवान गणधर देव ने सिद्धांत शास्त्रों में मूर्च्छा वा ममत्व को ही परिग्रह बतलाया है ॥३९॥ मुनियों को अपनी सेवा सुश्रूषा करने के लिये असंयम को बढ़ाने वाला असंयमी मनुष्य वा विद्यार्थी अपने समीप नहीं रखना चाहिये ॥४०॥ इसी प्रकार वसतिका आदि मे भी अपना स्वामित्व नहीं रखना चाहिये क्योंकि उसमें स्वामित्व रखना भी परिग्रह का कारण है । तथा पूजाद्रव्य अंग भूत वस्त्र आदि पर वस्तुओं में भी अपना स्वामित्व कभी नहीं रखना चाहिये ॥४१॥ बहुत कहने से क्या लाभ है, इतने में ही समझ लेना चाहिये कि मुनियों को मुनि धर्म के अयोग्य पदार्थ का एक बाल के अग्र–भाग का करोड़वाँ भाग भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४२॥ इस संसार में परिग्रह को इकट्ठा करने मे बड़ी चिंता करनी पड़ती है, उसके प्राप्त होने पर परम राग उत्पन्न हो जाता है, उसकी रक्षा करने में रौद्रध्यान प्रगट हो जाता है, तथा उसके नाश होने पर क्रोध शोक आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उन क्रोधादिक विकारों से महा पाप उत्पन्न होते हैं, उन पापो से नरकादिक समस्त दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं और उन दुर्गतियों में परिग्रह रखने वाले वे मूर्ख तीव्र दुःखो को

घोराणि पापैर्दुर्गतयोऽखिला: ॥ ४४ ॥ तासु दुःखानि तीव्राणि लभन्ते संगिनः शठाः। इति मत्वा बुधैर्हेयः सग. सर्वोपि सर्वथा ॥४५॥ अथा येऽभ्यन्तरा विश्वे दुस्त्याज्या. कातरांगिनाम्। महायत्नेन ते त्याज्याः कृत्स्ना दोपविधायिन ॥४६॥ यतोऽत. सगपाकेन मज्जंति प्राणिनोऽखिला.। वाह्येषु संगपंकेषु पाप दुर्ध्यानखानिषु ॥४७॥ अतस्तपो व्रतैः सार्द्ध प्रवृज्या निष्फला सताम्। वृथा वस्त्रपरित्यागोऽत्रान्तर्ग्रंथाच्च्युतात्मनाम् ॥४८॥ यथा मुंचति कृष्णाहिर्निर्मोक च विप न भोः। तथा कश्चित्कुधीः वस्त्रादीनि नान्त परिग्रहान् ॥४९॥ अतो मिथ्यात्ववेदांश्च कपायान्सकलेतरान्। त्यक्तु येत्राक्षमास्तेपां वस्त्रत्यागोहिवद्भवेत् ॥५०॥ महायत्नेन मत्वेति मिथ्यावेदोदयान् वुधाः। हास्यादींश्च कपायारीन् घ्नतु शत्रूनिवाखिलान् ॥ ५१ ॥ वाह्यान्तर्ग्रंथसंत्यागाच्चित्त शुद्धि परा सताम्। जायते च तया ध्यान कर्मारण्यदवानलम् ॥५२॥ ध्यानाच्च कर्मणां

प्राप्त होते हैं। यही समझ कर बुद्धिमानों को सब तरह के परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥४३–४५॥ अंतरंग परिग्रह कातर पुरुषों से कभी नहीं छोड़े जाते तथा वे अंतरंग परिग्रह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये महा प्रयत्न कर के उन सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥४६॥ इसका भी कारण यह है कि इस अंतरंग परिग्रह रूपी कीचड़ से संसार के समस्त प्राणी पाप और अशुभ ध्यान की खानि ऐसे वाह्य परिग्रह रूपी कीचड़ में अवश्य डूब जाते हैं ॥४७॥ वाह्य परिग्रहों में डूब जाने से सज्जन पुरुषों के व्रत तपश्चरण आदि भी सब निष्फल हो जाते हैं। और उनके साथ साथ दीक्षा भी निष्फल हो जाती है। इसलिए जिन लोगों ने अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं किया है उनका वस्त्रों का त्याग करना भी व्यर्थ है ॥४८॥ जिस प्रकार काला सर्प अपनी कॉंचली तो छोड़ देता है परंतु विप को नहीं छोड़ता उसी प्रकार कोई कोई मूर्ख वस्त्रों का तो त्याग कर देते हैं परंतु अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं करते ॥४९॥ इसलिये जो पुरुष मिथ्यात्व, वेद, कपाय और नौकषायों के त्याग करने में असमर्थ है उनका वस्त्रों का त्याग भी सर्प के समान समझना चाहिये ॥५०॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से मिथ्यात्व वेद कपाय और नौकपाय रूप समस्त शत्रुओं को अच्छी तरह नाश कर देना चाहिये ॥५१॥ अंतरंग और वाह्य परिग्रहों का त्याग कर करने से सज्जनों का हृदय परम शुद्ध हो जाता है तथा कर्मरूपी वन को जलाने के लिये दावानल अग्नि के समान उत्तम ध्यान प्रगट हो जाता है ॥५२॥

नाशस्ततो मोक्षोऽसुखार्तिगः । वाचामगोचरं सौख्यं नित्यं तत्रभजन्ति ते ॥५३॥ द्रव्यादीनुपधीन् वाह्यान् यः क्लीवस्त्यक्तुमक्षमः । सोऽन्तःस्थांश्च कषायादीन् रिपून् हन्ति कथं वहून् ॥५४॥ पूर्वं त्यक्त्वाखिलान् संगान् कटिसूत्रादिकांस्ततः । इष्टवस्तूनि गृह्णाति यः सो हो किं न लज्जते ॥५५॥ धन्याः पूज्यास्तएवात्र विरक्ता ये मुमुक्षवः । शरीरादिषु नेहन्तेसंगं स्वल्पं सुखादि वा ॥५६॥ विज्ञायेति द्विधा संगान् त्यजन्तु मुक्ति कांक्षिणः । सौख्यैर्वैषयिकैः सार्धं हत्वा लोभाक्षविद्विषः ॥५७॥ शब्दरूपरसस्पर्श गंधेषु विपयेषु च । सुमनोज्ञामनोज्ञेपु पंचाक्षाणामिहाखिलाः ॥५८॥ रागद्वेषादयो दक्षै स्त्यज्यन्ते ये सुभावनाः । ताः पंच सर्वदा ध्येयाः

ध्यान से कर्मों का नाश हो जाता है, कर्मों के नाश होने से समस्त दुःखों से रहित मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और मोक्ष में उनको वाणी के अगोचर ऐसा नित्य सुख प्राप्त हो जाता है ॥५३॥ जो नपुंसक मनुष्य (कुछ न करने वाला) धन धान्य आदि वाह्य परिग्रहों का ही त्याग नहीं कर सकता वह भला अंतरंग कषाय रूपी अनेक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥५४॥ जो मुनि पहले तो करधनी आदि समस्त परिग्रहों का त्याग कर देता है और फिर वह इष्ट पदार्थों को ग्रहण करता है आश्चर्य है कि वह फिर भी लज्जित नहीं होता ॥५५॥ इस संसार में मोक्ष की इच्छा करने वाले जो वीतरागी पुरुष हैं वे ही धन्य और पूज्य हैं। क्योंकि वे शरीरादिक के लिये भी कुछ परिग्रह नहीं चाहते और न कभी सुख की इच्छा करते हैं ॥५६॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को लोभ और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को नाश कर विपय जन्य सुखों के साथ साथ दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥५७॥ इन्द्रियाँ पाँच हैं तथा उनके विपय भी शब्द रूप रस स्पर्श और गंध ये पाँच हैं, ये पाँचों विपय मनोज्ञ भी होते हैं और अमनोज्ञ वा अनिष्ट भी होते हैं इन सबमें चतुर पुरुषों को राग द्वेष छोड़ देना चाहिये, मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विपयों में द्वेष छोड़ देना चाहिये। इन्हीं को परिग्रह त्याग की पाँच भावना कहते हैं। परिग्रह त्याग महाव्रत को शुद्ध रखने के लिए इन पांचों भावनाओ का का सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५८–५९॥ यह आकिंचन्य महाव्रत तीनों लोकों के स्वामी

पंचमव्रतशुद्धये ॥५९॥ त्रिभुवनपतिपूज्यं लोभतृष्णाद्रिवज्रं दुरित तिमिर सूर्यं श्रीजिनेशादिसेव्यम् । शिवशुभगतिमार्गं सौख्यखानिं गुणाब्धिं श्रयत विद इहाकिंचन्यसार प्रयत्नात् ॥६०॥ महार्थं मोक्षमेवाहो वा त्रिलोकीपतेः पदम् । साधयन्ति महद्भिर्या चरितानि जिनादिभिः ॥ ६१ ॥ महान्ति वा स्वयं यानि महाव्रतान्यतो बुधैः । सार्थ नामानि नान्यत्र कीर्तितानि शिवाप्तये ॥६२॥ एतान्यत्र महाव्रतानि महतां योग्यानि साराणि च स्वर्मोक्षैकनिबंधनानि विबुधा येपालयन्त्यन्वहम् । ते संप्राप्य महत्सुखं त्रिभुवने सर्वार्थसिध्यादिज हत्वा कर्मरिपून् व्रजन्त्यचिरतो मोक्षं सुशर्माकरम् ॥६३॥ ये पालयन्ति यमिनोत्र महाव्रतानि यैः पालितानि

तीर्थंकर देवों के द्वारा भी पूज्य है, लोभ तृष्णा रूपी पर्वत को चूर करने के लिए वज्र के समान है, पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है, भगवान जिनेन्द्रदेव भी इसको सेवन करते हैं, यह मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, सुख की खानि है और गुणों का समुद्र है। इसलिये बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से इस परिग्रह त्याग महाव्रत को धारण करना चाहिये ॥६०॥ ये महाव्रत सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं अथवा तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर के पद को सिद्ध करते हैं इसलिए इनको महाव्रत कहते हैं। अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुष इनका पालन करते हैं इसलिये भी ये महाव्रत कहलाते हैं अथवा ये स्वयं ही महान् हैं इसलिये भी इनको महाव्रत कहते हैं। इस प्रकार विद्वानों के द्वारा सार्थक नाम को धारण करने वाले महाव्रत मोक्ष प्राप्त करने के लिये ही मैंने यहाँ पर निरूपण किये हैं ॥६१–६२॥ ये महाव्रत महा पुरुषों के ही योग्य है, सारभूत हैं और स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, जो विद्वान् इनको प्रतिदिन पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले सर्वार्थ सिद्धि आदि के महा सुखों को पाकर फिर मनुष्य पर्याय में कर्मरूपी समस्त शत्रुओं को नाश कर अनंत सुख देने वाले मोक्ष में शीघ्र ही जा विराजमान होते हैं ॥६३॥ जो मुनिराज इन महाव्रतों का पालन करते हैं अथवा जिन तीर्थंकर वा गणधर देवों ने इनका पालन किया है वे पूज्य तीर्थंकर वा गणधर देव मेरे हृदय में विराजमान हों

जिनदेवगणाधिपाद्यैः । ते संस्तुताश्च महिता गणिनो जिनेशाः सर्वार्थ सिद्धि मखिलां स्वयमादिशन्तु ॥२६४॥

इतिश्रीमूलाचार प्रदीपाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते अष्टाविंशति
मूलगुण व्याख्याने पंचमहाव्रत वर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः

तथा मेरे लिये समस्त मोक्ष आदि सर्वोत्कृष्ट पदार्थों की सिद्धि प्रदान करें ॥२६४॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ में अट्ठाईस मूलगुणों के व्याख्यान में पाँचों महाव्रतों को वर्णन करने वाला यह प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।



अथद्वितीयोधिकारः ।



श्री मद्भ्य' परमेष्ठिभ्यो मोक्षगामिभ्य एव च । महासमिति युक्तेभ्यो नम. समिति सिद्धये ॥१॥ ईर्या भाषैषणादान निक्षेपण समाह्वया । प्रतिष्ठापनसज्ञाः समितय. पच चेति वै ॥२॥ दिवसे प्रासुके मार्गे गोखरोष्ट्ररथादिभिः । प्राणिभूतातिगे शुद्धे जनाद्यै रूपमर्दिते ॥३॥ कार्यार्थं गमन यच क्रियते संयतैः शनै. । यत्नाद् युगान्तरं प्रेक्षिभिः सेर्यासमितिर्मता ॥४॥ कार्याद्दते न गन्तव्यं जातु ग्राम गृहादिषु । वृथा पर्यटनं भूमौ न कार्यं वा शुभप्रदम् ॥५॥ अस्तं गते दिवानाथे थवाभानून्याद्दते । विधेयं गमनं जातु न सत्सु

दूसरा अधिकार ।

जो परमेष्ठी अंतरंग वहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं जो मोक्षगामी हैं और महा समितियों से सुशोभित हैं उनको मैं समितियों की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति ये पाँच समितियाँ कहलाती हैं ॥२॥ जो यत्न पूर्वक चार हाथ भूमि को देख कर गमन करने वाले मुनि अपने किसी काम के लिए गाय गधा ऊंट रथ आदि से मर्दित वा मनुष्यों से उपमर्दित शुद्ध प्रासुक मार्ग में दिन में ही धीरे धीरे गमन करते हैं उसको इर्या समिति कहते हैं ॥३–४॥ मुनियों को विना काम के किसी गांव वा घर में कभी नहीं जाना चाहिये और न पृथ्वी पर व्यर्थ घूमना चाहिये। क्योंकि इससे अशुभ वा पाप ही उत्पन्न होता है ॥५॥ यदि कैसा ही और कितना ही श्रेष्ठ कार्य आ जाय तथापि सूर्य अस्त होने पर अथवा सूर्य उदय होने के पहले कभी गमन नहीं

कार्यराशिषु ॥६॥ यतो रात्रौ त्रिअन्ते अजनेनादृष्टिगोचरे। पंचाचा बहवस्तस्मादरथेनाशं महाव्रतम् ॥७॥ व्रतनाशेन जायते महत्पापं प्रमादिनाम्। पापाद् घोरतरं दुःखं दुर्गतौ च न संशयः ॥८॥ मही सत्त्वाकुले जाते चातुर्मासे सुसंयतैः। पापभीतैर्न गतव्यं प्रयोजनशतैः क्वचित् ॥९॥ प्रेरणं नात्र कर्तव्यं सति कार्ये व्रतात्मनाम्। गमने प्रेरणं वाह्यो बुधैर्जीववधंकरम् ॥१०॥ विधेयानुमतिर्जातु गमनादौ न पापदा। प्रयोजनवशात्पुंसां मुनिभिर्यत्न चारिभिः ॥११॥ आगच्छ गच्छ तिष्ठेदं कुरु कार्यं च भोजनम्। इति जातु न वक्तव्यं व्रतिभिः पापकारणम् ॥१२॥ चतुर्हस्तान्तरालस्थां महीं वीक्ष्यानि यत्नतः। शनैः पादौ न्यसेत्सुधीः पर्यायागमनोद्यतैः ॥१३॥ पूर्वं स्थित्वा धरां वीक्ष्य दूरस्थां प्रासुकां बुधाः। कुर्वन्तु गमनं पश्चात्संकोच्यावयवान्

करना चाहिये ॥६॥ क्योंकि रात्रि में गमन करने से दृष्टि के अगोचर ऐसे अनेक पंचेन्द्रिय जीव मर जाते हैं जिससे अहिंसा महाव्रत सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥७॥ अहिंसा महाव्रत के नाश होने से प्रमादी पुरुषों को महा पाप उत्पन्न होता है और पाप से अनेक दुर्गतियों में अत्यंत घोर दुःख प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥८॥ चतुर्मास में जब पृथ्वी अनेक जीवों से भर जाती है तब पापों से डरने वाले मुनियों को सैकड़ों आवश्यक कार्य होने पर भी कहीं गमन नहीं करना चाहिये ॥९॥ विद्वानों को चतुर्मास में आवश्यक कार्य होने पर भी किसी व्रती को बाहर नहीं भेजना चाहिए। क्योंकि जाने के लिये गमन के लिये प्रेरणा करना अनेक जीवों का घात करने वाला है ॥१०॥ यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को किसी प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति कभी नहीं देनी चाहिये ॥११॥ यहाँ आ, यहाँ जा, यहाँ बैठ, इस कार्य को कर वा भोजन कर इस प्रकार कहना भी पाप का कारण है। इसीलिए व्रती पुरुषों को इस प्रकार भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥१२॥ ईर्या समिति से गमन करने की इच्छा करने वाले मुनियों को बड़े प्रयत्न से चार हाथ पृथ्वी देखकर धीरे धीरे पैर रखना चाहिये ॥१३॥ पहले खड़े होकर दूर तक की प्रासुक भूमि देख लेनी चाहिये और फिर विद्वानों को अपने शरीर के अवयवों को संकोच कर गमन करना चाहिये ॥१४॥ दया धारण करने वाले

सदा ॥ १४ ॥ काष्ठं पापाणमन्यद्वा ज्ञात्वा चलाचलं वुधे' । तेपु पादं विधायाशु न गन्तव्यं दयोद्यतैः ॥ १५॥ शीघ्रं गमन कार्यं नाति मंदं च सयतैः सहसाघ्रिर्न दातव्य स्थित्वा मार्गे च जल्पनम् ॥ १६ ॥ इतीर्यागमनस्याहो विधिं ज्ञात्वा व्रजति ये । स्वकार्येऽत्र भवेत्तेपां परेर्यासमिति' सताम् ॥ १७ ॥ तां विना स्वेच्छया येत्र गमनं कुर्वते वधा । तेपा पडगघातेन नश्येदाद्य व्रतोत्तमम् ॥ १८ ॥ मत्वेति धीधना जातु मा व्रजन्तु महीतले । त्यक्त्वेर्यासमितिं चाद्य व्रताम्चा व्रतशुद्धये ॥ १९ ॥ गुणसमुदायखानिं स्वर्गसोपानमालां शिव सुखजननींहिंसादि दूरां पवित्राम् । जिनगणधरसेव्यां दोपदूरां भजध्व समिति मिह सुयत्नादादिमां मुक्ति कामा' ॥ २०॥ हास्यकर्कश पैशून्यपरनिन्दात्मशंसनात् । विकथाश्च सत्यज्य धर्ममार्गप्रवर्तये ॥ २१ ॥ स्वस्यान्येपां हितं सारं

विद्वानों को काठ वा पापाण को हिलता हुआ समझ कर उन पर पैर रख कर गमन नहीं करना चाहिये ॥१५॥ मुनियों को न तो शीघ्र ही गमन करना चाहिये न धीरे ही गमन करना चाहिये न अकस्मात् किसी पर पैर रखना चाहिये और न मार्ग में खड़े होकर वात चीत करनी चाहिये ॥१६॥ इस प्रकार ईर्या गमन की विधि समझ कर जो अपने कार्य के लिये गमन करते हैं उन सज्जनों के उत्कृष्ट ईर्या समिति होती है ॥१७॥ जो विद्वान् इस ईर्या समिति के विना स्वच्छन्द गमन करते हैं वे छहों काय के जीवों का घात करते हैं और इसीलिये उनका अहिंसा महाव्रत नष्ट हो जाता है ॥१८॥ यही समझ कर वुद्धिमान पुरुपों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिये सबसे मुख्य व्रत स्वरूप इस ईर्या समिति को छोड़ कर इस पृथ्वी पर कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥१९॥ यह ईर्या समिति समस्त गुणों की खानि है, स्वर्ग की सीढ़ी है, मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाली माता है, हिंसा आदि पापों से सर्वथा दूर है, अत्यंत पवित्र है, तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवन करने योग्य है और समस्त दोषों से रहित है। इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुपों को वड़े प्रयत्न से इस ईर्या समिति का पालन करना चाहिये ॥२०॥ चतुर पुरुप हँसी के वचन, कठोर वचन, चुगली के वचन, दूसरे की निंदा के वचन और अपनी प्रशंसा के वचनों को तथा विकथाओं को छोड़ कर केवल धर्म मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिये तथा अपना और दूसरों का हित करने के लिये

मितं धर्माविरोधि यत् । वचनं ब्रूयते दक्षैः साभाषासमितिर्मता ॥२२॥ सत्यं जनपदाख्याथं संमतं स्थापना-ह्वयम् । नामरूपं प्रतीतं संभावना सत्यसंज्ञकम् ॥२३॥ व्यवहाराभिधं भावमुपमासत्यमेव च । दशधेति वचो वाच्यं सत्यं सत्यागमोद्भवम् ॥ २४ ॥ नानादेशादि भाषाभिः कथ्यते यच्छुभाशुभम् । वस्तु तच्च विरुद्धं न सत्यं जनपदाभिरधम् । यथा च प्रोच्यते लोकैः सर्वभाषाभिरोदनम् ॥२५॥ चौरः द्राविडभाषाभिः न विवादोत्र विद्यते ॥ २६ ॥ बहुभिः संमतं यत्तत्सत्यं संमत मुच्यते । मानुष्येपि यथा लोके महादेवी निगद्यते ॥२७॥ स्थाप्यते प्रतिविम्वं यत्स्थापना सत्यमेव तत् । यथार्हन्मुनिसिद्धानां प्रतिमा चार्चप्रवृत्तये ॥२८॥ गुणैस्तथ्यमतथ्यं वा नाम यत्क्रियते नृणाम् । नामसत्यं तदेवात्र देवदत्तो यथापुमान् ॥२९॥ मुख्यवर्णेन यद्रूपं रूपसत्यं तदुच्यते ।

सारभूत परिमित और धर्म के अवरोधी जो वचन कहते हैं उसको भाषा समिति कहते हैं ॥२१—२२॥ आगम में सत्य वचनों के दश भेद बतलाये हैं । यथा पहला जनपद सत्य, दूसरा संमत सत्य, तीसरा स्थापना सत्य, चौथा नाम सत्य, पाँचवाँ रूपसत्य, छठा प्रतीत सत्य, सातवाँ संभावना सत्य, आठवाँ व्यवहार सत्य, नौवाँ भावसत्य और दशमा उपमासत्य ॥२३—२४॥ अनेक देशों की भाषा मे जो शुभाशुभ कहा जाता है और जो किसी के विरुद्ध नहीं होता उसको जनपद सत्य कहते हैं। जैसे लोग सब भाषाओं में ओदन वा भात कहते हैं अथवा चोर भी सब भाषाओ में कहते हैं तथा द्राविड़ आदि किसी भाषा में उसके लिये विवाद उपस्थित नहीं होता इसको जनपद सत्य कहते हैं ॥२५—२६॥ जिसको बहुत से लोग मानें उसको संमत सत्य कहते हैं। जैसे रानी मनुष्य है तो भी उसे महादेवी कहते हैं ॥२७॥ किसी के प्रतिबिंब को स्थापन करना स्थापना सत्य है जैसे पूजा करने के लिये अरहंत सिद्ध वा मुनियों की प्रतिमा स्थापन की जाती है ॥२८॥ जो मनुष्यों का नाम रक्खा जाता है वह गुणों से सत्य भी होता है और असत्य भी होता है तथापि उसको नाम सत्य कहते हैं। जैसे किसी पुरुष का नाम देवदत्त रख लिया जाता है ॥२९॥ जो रूप किसी मुख्य वर्ण से कहा जाता है उसको रूप सत्य कहते हैं जैसे बगला सफेद होते हैं। यद्यपि बगलों में और भी वर्ण होता है तथापि वे सफेद ही कहलाते हैं ॥३०॥ जो अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा

यथा श्वेता वलाकाख्या सति वर्णांतरे परे ॥३०॥ अन्यं ह्यपेक्ष्य सिद्धं यत्प्रतीतसत्यमेव तत्। यथा दीर्घोयमन्यद् ह्रस्वमपेक्ष्यात्र कथ्यते ॥३१॥ शक्याशक्य द्विभेदाभ्यां कार्यं कर्तुं यदीहते। सभावनाभिधं तद्वाहुर्भ्यां ततुं यथाम्बुधिम् ॥३२॥ व्यवहारेण कार्यांगै प्रोच्यते यद्वचो जनैः। व्यवहाराख्यसत्यं तद् यथा क्रूरोत्र पच्यते ॥३३॥ हिंसादि दोष दूरं यत्सत्यं वासत्यमुच्यते। भावसत्य च तल्लोके दृष्टश्चौरो यथात्र न ॥३४॥ औपम्येनात्र सयुक्त ब्रूयते वचनं च यत्। उपमासत्यमेवैतद् यथा पल्योपमादयः ॥ ३५ ॥ अमीभि र्दशभि र्भाषाभेदैर्धर्मप्रवृत्तये। आगमोक्तै. स्वतत्त्वज्ञाः वदन्तु सूनृतं वचः ॥ ३६ ॥ भाषाभेदेभ्य एतेभ्यो दशभि. प्रोच्यतेत्रया। विपरीताऽशुभा भाषा तदसत्यं वचोमतम् ॥ ३७ ॥ सत्यासत्यद्वयोपेता भाषा या ब्रूयते नरैः। सात्र सत्यमृषा भाषा भाषिता श्री जिनागमे ॥३८॥ तस्मात्सत्यमृषा वादाद्विपरीतं च भाषणम्। यत्सासत्यमृषा भाषा नवधा कथिता श्रुते ॥३९॥ प्रथमामन्त्रिणी

से सिद्ध होता है उसको प्रतीत सत्य कहते हैं जैसे यह लंबा है। यह लंबाई किसी की कम लंबाई की अपेक्षा से कही जाती है ॥३१॥ यह काम हो सकता है वा नहीं इस प्रकार दोनों ओर के विकल्प से जो काम करने की इच्छा की जाती है उसको संभावना सत्य कहते हैं। जैसे यह समुद्र भुजाओं से पार किया जा सकता है वा नहीं ॥३२॥ किसी भी कार्य में व्यवहार से जो लोग वचन कहते हैं उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे यह भात पकाया जाता है, पके चावलों को भात कहते हैं तथापि व्यवहार में भात पकाना कहते हैं ॥३३॥ जो हिंसादिक पापों से रहित वचन हैं उनको भाव सत्य कहते हैं जैसे घर में चोर रहते हुए भी कहना कि यहाँ नहीं है ॥३४॥ जो वचन किसी उपमा के साथ कहे जाते हैं उनको उपमा सत्य कहते हैं। जैसे पल्य सागर आदि ॥३५॥ आत्म तत्त्व को जानने वाले पुरुषों को धर्म की प्रवृत्ति करने के लिये आगम में कहे अनुसार भाषा भेद से जो दश प्रकार के सत्य के भेद हैं उन्हें ही बोलना चाहिये ॥३६॥ भाषा के भेद से जो सत्य के दश भेद बतलाये हैं उससे विपरीत जो अशुभ भाषा है उसको असत्य वचन कहते हैं ॥३७॥ मनुष्यों के द्वारा जो सत्य और असत्य उभय रूप भाषा बोली जाती है उसको जिनागम में सत्यासत्य भाषा कहते हैं ॥३८॥ उस सत्यासत्य भाषा से जो विपरीत भाषण है उसको अनुभय भाषा अथवा असत्या—

भाषा ज्ञापना याचनाभिधा । संपृच्छना तथाप्रज्ञापना भाषा च पंचमी ॥४०॥ प्रत्याख्यानाह्वयेच्छानुलोमाख्या सप्तमी ततः । संशयादिवचन्यंत भाषाष्टमी ततोऽपरा ॥४१॥ अनक्षराभिधा भाषा सारा सत्यमृषाह्वया । असत्यासत्य भाषाया नवभेदा भवन्त्यमी ॥४२॥ आमंत्र्यते यया लोकोभिमुखी क्रियते प्रति । व्यापारान्तरमेवान्यै भाषासामंत्रणी स्मृता ॥४३॥ आज्ञाप्यते यया लोके आज्ञां तेहं ददामि भो । इत्यादि वचनं यत्सा ज्ञापना गीर्निरूपिता ॥४४॥ याचना क्रियते लोके यया सा याचनाख्यगीः । यथाहं याचयामित्वां किंचिद्वस्तु शुभाशुभम् ॥४५॥ संपृच्छ्यते ययान्यैः सा भाषा संपृच्छनाह्वया । यथा पृच्छाम्यहं त्वां च किंचित्कार्यं हिताहितम् ॥४६॥ यया प्रज्ञाप्यते लोको भाषा प्रज्ञापनात्रसा । यथा प्रथापयामि त्वामहं किंचिन्मनोगतम् ॥ ४७॥ यत्प्रत्याख्यायते भाषया सा भाषात्र कथ्यते । प्रत्याख्याना यथा प्रत्याख्यानं मे दीयतामिदम् ॥४८॥

सत्य कहते हैं । वह अनुभय भाषा शास्त्रों में नौ प्रकार की बतलाई है ॥३९॥ आमंत्रणी, आज्ञापना, याचना संपृच्छना, प्रज्ञापना, प्रत्याख्याना, इच्छानुलोमा, संशयवचनी और अनक्षरा ये नौ अनुभय भाषा के भेद हैं ॥४०—४२॥ किसी को अपने सामने करने के लिये बुलाने के लिये वा व्यापारांतर करने के लिये दूसरों के द्वारा जो भाषा बोली जाती है उसको आमंत्रणी भाषा कहते हैं ॥४३॥ "मैं तुमको यह आज्ञा देता हूँ" इस प्रकार जो आज्ञारूप वचन कहना है उसको आज्ञापनी भाषा कहते हैं ॥४४॥ मैं तुमसे यह शुभ वा अशुभ वस्तु माँगता हूं इस प्रकार मागने के लिये जो भाषा बोली जाती है उसको याचना नाम की भाषा कहते हैं ॥४५॥ "मैं तुमसे कुछ हित वा अहित की बात पूछना चाहता हूँ" इस प्रकार जो दूसरो के द्वारा पूछने के लिये भाषा बोली जाती है उसको संपृच्छना भाषा कहते हैं ॥४६॥ "मैं तुमको अपने मन की कुछ बात बताना चाहता हूं" इस प्रकार लोगों को कुछ सूचना देने की बात कही जाती है उसको प्रज्ञापना भाषा कहते हैं ॥४७॥ "मुझे यह प्रत्याख्यान दीजिये" इस प्रकार भाषा के द्वारा जो प्रत्याख्यान किया जाता है उसको प्रत्याख्याना भाषा कहते हैं ॥४८॥ "मैं ऐसा करता हूं" इस प्रकार सर्वत्र अपने अनुकूल अपनी इच्छानुसार बोलने को इच्छानुलोमा नाम की भाषा कहते हैं ॥४९॥ बालक वृद्ध और पशुओं की भाषा से

मू०प्र० ॥४३॥

सर्वत्रात्रानुकूलाया स्वेच्छया प्रोच्यते जनैः। भाषा सेच्छानुलोमाख्या यथैवं च करोम्यहम् ॥४९॥ बालवृद्धपशूनां च यथानार्थ-प्रतीयते। भाषया सशयाख्त वचनी सा निगद्यते ॥५०॥ अनक्षरगता भाषा या द्वीन्द्रियादि देहिनाम्। सात्रा सत्यमृषा नाम्नी कथ्यते नवमी बुधैः ॥५१॥ विशेषाप्रतिपत्तेर्न मृषाभेद नवान्विता ॥ ५२ ॥ शश्वन्मौनं विधातुं ये समर्था योगिनोभुवि। सत्यानुभय भाषाभ्या ते ब्रुवन्तु वचः शुभम् ॥५३॥ कर्कशा कटुका भाषा परुषा निष्ठुराघदा। परप्रकोपिनी मध्यकृशाभिमानिनीचर्गाः ॥५४॥ तथानयंकरा च्छेदंकरी भूतवधकरी। निंद्येमा दशधा भाषा त्याज्या निंद्याधिकारिणी ॥५५॥ त्व मूर्खस्त्व वलीवर्दो न किंचिद्वेत्सिरे शठ। सताप जननीत्याद्या यागी" सा कर्कशोच्यते ॥५६॥ कुजातिस्त्वंचनिर्धर्म इत्यादि वचनं हि यत्। उद्वेग जननी भाषा कटुका सा मतागमे ॥५७॥ अनेक देश दुष्टोसि त्वमाचार परान्मुखः।

अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसको संशय वचनी भाषा कहते हैं ॥५०॥ दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि जीवों की जो अक्षर रहित भाषा है उसको अनक्षरा नाम की अनुभय भाषा कहते हैं ॥५१॥ इन नौ प्रकार की भाषाओं में पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान नहीं होता इसलिये ये वचन सत्य नहीं कहलाते तथा इनसे सामान्य का ज्ञान होता है इसलिए इनको असत्य भी नहीं कहते। अतएव इन नौ प्रकार की भाषा को अनुभय वचन कहते हैं ॥५२॥ इस संसार में जो मुनि सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हैं उनको सत्य और अनुभय भाषा के द्वारा शुभ वचन कहने चाहिये ॥५३॥ कर्कश, कटुक, परुष (कठोर), निष्ठुर, पर प्रकोपिनी, मध्यकृशा, अभिमानिनी, अनंयकरी, छेदंकरी, और भूतवधंकरी ये दश प्रकार की भाषायें निंद्य कहलाती है निंद्य जीव ही इसके बोलने के अधिकारी होते हैं इसलिये इन निंद्य भाषाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥५४–५५॥ तू मूर्ख है तू बैल है अरे शठ तू कुछ नहीं जानता इस प्रकार की संताप को उत्पन्न करने वाली जो भाषा है उसको कर्कश भाषा कहते हैं ॥५६॥ तू कुजाति है तू अधर्मी है इस प्रकार के जो वचन हैं वा उद्वेग उत्पन्न करने वाली भाषा है उसको आगम में कटुक भाषा कहते हैं ॥५७॥ "तू बहुत अंशों में दुष्ट है, तू आचार पालन करने से परान्मुख है" इस प्रकार के मर्म छेदने वाले वचनों को परुष भाषा कहते हैं ॥५८॥

इत्यादि यद्वचो मर्मचालनी परुषात्र सा ॥५८॥ त्वामहं मारयिष्यामि कर्तयिष्यामि ते शिरः। इत्यादि ब्रूयते वाक्यं यत्सा भाषाति निष्ठुरा ॥५९॥ किं तेतयोत्र निर्लज्जस्त्वंरागी हसनोद्यतः। इत्यादि कोप कृद्वाक्यं यत्सागीः परकोपिनी ॥ ६० ॥ हड्डानां मध्यभागं च यया निष्ठुरया गिरा। कृत्यते सुमतां मध्य कृशा सा निर्दया-त्रगीः ॥ ६१ ॥ स्वगुणख्यापनं लोके परेषां दोपभाषणम्। यया च क्रियते निंद्यैर्निंद्या गीः साभिमानिनी ॥६२॥ या खण्डनकरी शीलानां या चान्योन्य गतात्मनाम्। विद्वेष कारिणी भाषा स्मृता सात्रानयंकरा ॥६३॥ वीर्यशील गुणादीनां या निर्मूलविधायिनी। असद्भूतान्यदोपोद्भाविनी छेदंकरात्र सा ॥ ६४ ॥ प्राण-नाशोऽशुभं पीडा भूतानां जायते यया। सर्वानिष्टकरी भूता सा गीर्भूतवधंकरी ॥६५॥ इमा दश विधा भाषाः खन्यः सर्वैनसां भुवि। प्राणान्तेपि न वक्तव्या मुनिभिः पर दुःखदाः ॥६६॥ विधेया न कथा स्त्रीणां

"मैं तुझे मार डालूंगा तेरा मस्तक काट डालूंगा" इस प्रकार के वचन कहना निष्ठुर भाषा है ॥ ५९ ॥ हे निर्लज्ज तू यह क्या तपश्चरण करता है क्योंकि तू रागी है सदा हंसता ही रहता है" इस प्रकार के क्रोध उत्पन्न करने वाले वचनों को परकोपिनी भाषा कहते हैं ॥ ६० ॥ जिस निष्ठुर भाषा से हड्डी के मध्य भाग भी कट जॉय ऐसी निर्दय भाषा को मध्य कृषा भाषा कहते हैं ॥ ६१ ॥ निंद्य लोग जिस भाषा से अपने गुणों का वर्णन करते हैं और दूसरे के दोषों का वर्णन करते हैं उस भाषा को अभिमानिनी भाषा कहते हैं ॥ ६२ ॥ जो भाषा परस्पर एक दूसरे के शील खंडन करने वाली है वा परस्पर विद्वेष उत्पन्न करने वाली है उसको अनयंकरी भाषा कहते हैं ॥ ६३ ॥ जो भाषा वीर्य शील और गुणों को निर्मूल नाश करने वाली है जो असत्य है और दूसरे के दोषों को कहने वाली है वह छेदंकारी भाषा है ॥ ६४ ॥ जिस भाषा से जीवों का प्राण नाश होता हो अशुभ और पीड़ा उत्पन्न होती हो जो सब तरह का अनिष्ट करने वाली हो उसको भूतवंधकारी भाषा कहते हैं ॥ ६५ ॥ यह दश प्रकार की भाषा समस्त पापों की खानि है और दूसरों को दुःख देने वाली है। इसलिये मुनियों को अपने प्राण नाश होने पर भी ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये ॥ ६६ ॥ व्रती पुरुषों को ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये जो काम के विकार को बढ़ाने वाली हो और ब्रह्मचर्य को नाश करने

शृंगार रस वर्णनै. । कामादि दीपिका जातु व्रतिभिः ब्रह्म नाशिनी ॥६७॥ भक्तपान रसादीनामिष्टानां सुखकारिणाम् । कचिन्न कुकथा कार्याहारसञ्ज्ञाप्रवर्द्धिनी ॥६८॥ रौद्रकर्मोद्भवा निंद्या रौद्रसग्रामपोषणैः । भूभुजा कुकथा त्याज्या रौद्रध्यानविधायिनी ॥६९॥ चौराणा वहुदेशानां मिथ्या दृष्टि कुलिंगिनाम् । अर्थार्जन विधीनां च भाषणं वैरिणां भुवि ॥७०॥ मृषास्मृतिकुशास्त्रादि पुराणाना च या कथाः । विकथास्ता न कर्तव्या न श्रोतव्या अघाकराः ॥७१॥ किमत्र वहुनोक्तेन जिनकेवलि योगिनाम् । मुक्त्वा धर्मकथा अन्याः कार्या जातु न संयतैः ॥७२॥ विकथाचारिणामत्र यतो नश्येच्छुत मतिः । महान् पापास्रवो नित्यं मूर्खता च प्रजायते ॥७३॥ परनिंदा न कर्तव्या स्वान्य दुःखविधायिनी । पृष्ठमासोपमा जातु वृथाघास्रव कारिणी ॥७४॥

वाली हो तथा ऐसी कथा भी नहीं कहनी चाहिये जिसमें स्त्रियों के शृंगार रस का वर्णन हो ॥ ६७ ॥ आहार संज्ञा को वढाने वाली तथा मीठे और सुख देने वाले भोजन पान वा रस आदि को वर्णन करने वाली कुकथा वा भोजन कथा भी नहीं कहनी चाहिये ॥ ६८ ॥ रौद्र संग्राम का वर्णन करने से रौद्र कर्म को उत्पन्न करने वाली और रौद्रध्यान को बढाने वाली निंदनीय राज्य कथा भी कभी नहीं कहनी चाहिये ॥६९॥ चोरों की कथा, अनेक देशों की कथा, मिथ्यादृष्टी कुलिगियो की कथा, धन उपार्जन के कारणों की कथा, शत्रुओं की कथा, मिथ्या स्मृति शास्त्र कुशास्त्र मिथ्या पुराणों की कथायें वा पाप उत्पन्न करने वाली विकथायें कभी नहीं कहनी चाहिये न कभी सुननी चाहिये ॥७०–७१॥ बहुत कहने से क्या थोडे से में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को भगवान अरहंतदेव केवली भगवान और मुनियों की धर्म कथा को छोड़ कर वाकी की कोई कथा नहीं कहनी चाहिये ॥७२॥ इसका भी कारण है कि विकथा कहने वालों की वुद्धि और श्रुतज्ञान सव नष्ट हो जाता है तथा प्रति समय तीव्र पाप कर्मों का आस्रव होता रहता है और मूर्खता भी प्रगट होती है ॥७३॥ मुनियों को परनिंदा भी कभी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि परनिंदा अपने को तथा दूसरों को सबको दुख देने वाली है व्यर्थ ही पापास्रव उत्पन्न करने वाली है और पीठ के माँस के समान (कुबड़े के कुब्ज के समान) दुःख देने वाली है ॥७४॥ मुनियों को कोई भी ऐसी वाणी नहीं

जायेतात्र यथान्येषां पीडा वधश्च देहिनाम् । क्लेशाब्धौ पतेत्स्वात्मा सागीर्वाच्या न योगिभिः ॥७५॥ चतुर्विधसुसंघानां निर्दोषाणां निसर्गतः । जातु दोषो न वक्तव्यः प्राणान्तेप्यघसागरः ॥७६॥ सर्वं सत्त्वेषु कर्तव्या मैत्री धर्मखनी परा । प्रमोदः परमः कार्यं गुणाधिक तपस्विषु ॥७७॥ करुणाक्लिष्ट जीवेषु विधेयानुग्रहादिभिः । माध्यस्थ्यं मुनिभिः कार्यं विपरीत जडात्मसु ॥७८॥ आभिः सुभावनाभिर्ये प्रवर्तन्तेन्वहं बुधाः । लोके मुक्ता इवांहो ते रागाद्यंशं स्पृशन्ति न ॥७९॥ विश्वदेहाक्षसौख्यादौ विरक्ति र्जायते यथा । सम्यग्दृग्ज्ञान चारित्र शमादि गुणराशयः ॥८०॥ स्वान्येषां च प्रवर्द्धन्ते धैर्यं संपद्यतेतराम् । तपो योगादि सिध्यै सा भाषा वाच्या मुमुक्षुभिः ॥८१॥ मूलभूतां न जानाति भाषा समिति मूर्जिताम् । जिनधर्मस्य यः सोत्र कथं कर्मास्रवा—

बोलनी चाहिये जिससे कि अन्य प्राणियों को पीड़ा वा वध होता हो अथवा क्लेश होता हो अथवा अपनी आत्मा क्लेश आदि के महासागर में पड़ती हो ऐसी वाणी कभी नहीं कहनी चाहिये ॥७५॥ चारों प्रकार का संघ स्वभाव से ही निर्दोष है इसलिये प्राणों का अन्त समय आने पर भी संघ का दोष नहीं कहना चाहिये । क्योंकि संघ का दोष कहना महा पाप का कारण है ॥७६॥ मुनियों को समस्त प्राणियों में धर्म की खानि ऐसा मैत्रीभाव धारण करना चाहिये तथा जो तपस्वी अधिक गुणी हैं उनको देख कर परम प्रमोद धारण करना चाहिये । दुःखी जीवों को देख कर अनुग्रह पूर्वक करुणा धारण करनी चाहिये और मिथ्यादृष्टी अज्ञानी मनुष्यों में मध्यस्थता धारण करनी चाहिये ॥७७–७८॥ जो बुद्धिमान रात दिन इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं वे इस संसार में मोती के समान राग द्वेष के अंशों को कभी स्पर्श नहीं करते ॥७९॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को तप और ध्यान की सिद्धि के लिये ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जिससे कि शरीर और इन्द्रियों के सुख से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और समता शांतता आदि अपने वा अन्य लोगों के गुणों की वृद्धि हो जाय तथा सर्वोत्तम धीरता की प्राप्ति हो जाय ॥८०–८१॥ जो मुनि जिन धर्म की मूलभूत और सर्वोत्कृष्ट ऐसी इस भाषा समिति को नहीं जानता है वह अपने कर्मों के आस्रव को कैसे रोक सकता है? अर्थात् कभी नहीं रोक सकता ॥८२॥ यही समझ कर

स्त्यजेत् ॥८२॥ मत्वेति यत्नतो नित्यं पालयन्तु शिवार्थिनः । भाषासमिति मत्यर्थं जिनोक्तां शिवसिद्धये ॥८३॥ श्रुतसकलगुणाम्वां विश्वविज्ञानखानिं जिनपतिमुनिसेव्यां पाविनीं धर्ममूलाम् । शिवशुभगतिवीथीं मोक्षकामा स्वसिध्यै प्रभजत समितिं भाषभिधां सर्वयत्नात् ॥८४॥ शीतोष्णादि यथालब्धं भुज्यते यन्मुमुक्षुभिः । परगृहे शनं शुद्धं सैषणासमितिर्मता ॥८५॥ मुक्ता यैरष्टभि र्दोषैरेषणा शुद्धिरद्भुता । निर्मला स्यात्प्रवक्ष्येतान् पिण्ड–शुद्धिमलप्रदान् ॥८६॥ षोडशैवोद्गमा दोषा षोडशोत्पादनाभिधाः । दशैवाशन दोषाहि दोषः संयोजना ह्वयः ॥८७॥ अप्रमाणं स्तथांगारो धूमः कारणसंज्ञक. । अमीभिरष्टभिर्दोषैः समासेन विवर्जितः ॥८८॥ अधः कर्मातिगा पिंडशुद्धिः स्यादष्टधा परा । निर्मला च मुमुक्षूणां कर्मास्रव निरोधिनी ॥८९॥ एतै दोषैर्वहिर्भूतो

मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये भगवान जिनेन्द्रदेव की कही हुई भाषा समिति को यत्न पूर्वक प्रतिदिन अच्छी तरह पालन करना चाहिये ॥८३॥ यह भाषा समिति समस्त श्रुतज्ञान को देने वाली है, समस्त विज्ञान की खानि है, भगवान तीर्थंकर परमदेव और मुनियों के द्वारा सेवन करने योग्य है, अत्यंत पवित्र है, धर्म की मूल है, तथा मोक्ष और स्वर्गगति का मार्ग है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ भाषा समिति का पालन करना चाहिये ॥८४॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनिराज दूसरे के घर में जाकर शीत वा उष्ण जैसा मिल जाता है वैसा शुद्ध भोजन करते हैं इसी को एषणा समिति कहते हैं ॥८५॥ आठ प्रकार के दोषों से रहित हो एषणा शुद्धि निर्मल कही जाती है। इसलिये पिंड शुद्धियों में मल उत्पन्न करने वाले उन दोषों को अब कहते हैं ॥८६॥ सोलह तो उद्गम दोष कहलाते हैं सोलह उत्पादन दोष कहलाते हैं दश भोजन के दोष कहे जाते हैं एक संयोजन एक अप्रमाण एक अंगार एक धूम और एक कारण। संक्षेप से इन आठ दोषों से रहित ही भोजन होना चाहिये ॥८७–८८॥ इस प्रकार अधः कर्म से रहित पिंडशुद्धि आठ प्रकार से मानी है। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को ऐसी पिंडशुद्धि ही निर्मल और कर्मों के आस्रव को रोकने वाली कही जाती है ॥८९॥ गृहस्थ और पाखंडियों के आश्रित रहने वाला तथा इन सब दोषों से भिन्न एक अधः कर्म नामका सबसे बड़ा

गृहि पाखंडिसंश्रितः । योधः कमचृहद्दोषः षट् प्राणिवधकारकः ॥९०॥ नीचकर्मोद्भव स्त्याज्यो दूरतः सोत्र संयतैः । पापभीतै र्महापापाकरोऽकीर्ति निबंधनः ॥९१॥ षड्विधांगिनिकायानां, मारणं च विराधनम् । कृत्वा निष्पन्नमन्नं स्वयं कायेनात्र यत्कृतम् ॥९२॥ कारितं वचसा वानुमतेन सकलं च तत् । नीचकर्म, करं निंद्यमधः कर्म निगद्यते ॥९३॥ ज्ञात्वेत्ययं महादोषो ह्यसंयत जनाश्रितः । सर्वयत्नेन संत्याज्यः सदाधः कर्मसंज्ञकः ॥९४॥ आद्य उद्देशिको दोषो द्वितीयोऽध्यधि नामकः । पूति मिश्राभिधो दोषः स्थापितो बलिसंज्ञकः ॥९५॥ प्रावर्तिता—ह्वयः प्राविष्करणः क्रीत एव च । ततः प्रामिच्छदोषोथ परिवर्तक संज्ञकः ॥९६॥ दोषोभिघट उद्भिन्नो मालारोह समाह्वयः । आच्छेद्याख्योऽनीशार्थोऽमीदोषाः षोडशोद्गमाः ॥९७॥ नागादि देव पाषंडि दीनाद्यर्थं च यत्कृतम् । उद्दिश्यान्नं गृहस्थैतदुद्देशिकमिहोच्यते ॥९८॥ सामान्यांश्च जनान् कांश्चित् तथा पाषंडिनो

दोष है तथा यह दोष छहों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने वाला है ॥९०॥ पापों से डरने वाले मुनियों को नीच कर्मों से उत्पन्न हुआ आहार दूर से ही छोड़ देना चाहिये क्योंकि ऐसा आहार महा पाप उत्पन्न करने वाला है और अपकीर्ति का कारण है ॥९१॥ छहों प्रकार के जीवों को स्वयं अपने हाथ से मारने वा उनकी विराधना करने से वा वचन के द्वारा दूसरों से मरवाने वा विराधना कराने से अथवा अनुमोदना करने से जो अन्न उत्पन्न होता है ऐसे निंदनीय और नीच कर्म से उत्पन्न होने वाले अन्न को अधः कर्म कहते हैं ॥९२–९३॥ यह अधः कर्म नाम का महादोष असंयमी लोगों से उत्पन्न होता है इसलिये इस अधः कर्म नाम के दोष को अपने पूर्ण प्रयत्नों से सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥९४॥ आगे सोलह उद्गम दोषों को कहते हैं। पहला उद्देशिक, दूसरा अध्यधि, तीसरा पूति, चौथा मिश्र, पाँचवाँ स्थापित, छठा बलि, सातवाँ परावर्तित, आठवाँ प्राविष्करण, नौवाँ क्रीत, दशवाँ प्रामिच्छ, ग्यारहवाँ परिवर्तक, बारहवाँ अभिघट, तेरहवाँ उद्भिन्न, चौदहवाँ माला रोहण, पंद्रहवाँ आच्छेद्य और सोलहवाँ अनीशार्थ ये सोलह उद्गम दोष कहलाते हैं ॥९५–९७॥ गृहस्थों के द्वारा जो नाग आदि देवों के उद्देश्य से अथवा पाखंडियों के, वा दीन हीन मनुष्यों के उद्देश्य से जो आहार तैयार करते हैं। ऐसे आहार को लेना उद्देशक दोष कहलाता है ॥९८॥ एक तो

खिलान् । श्रमणाश्च परिव्राजकान्नीनिर्ग्रंथ संयतान् ॥ ९९ ॥ उद्दिश्य यत्कृतं चान्नमुद्देशिकं चतुर्विधम् । तत्सर्वं मुनिभि स्त्याज्यं पूर्वसावद्यदर्शनात् ॥ १०० ॥ दानार्थं संयतान् दृष्ट्वा निक्षेपो यः स्वतण्डुले । अन्येषां तण्डुलानांस दोषोध्यधिसमाह्वयः ॥१॥ अन्नपानादिकं मिश्र यदप्रासुकवस्तुना । पूति दोषः स एवस्यात्पंच भेदोघका-रक ॥२॥ रन्धन्युदूखलो दर्वीभोजनम् गंधएवहि । पूतिदोषो इमे ज्ञेया पंच सावद्यकारिणः ॥ ३ ॥ रंधन्या प्रवराहारं निष्पाद्य साधवे चयम् । दास्याम्यादौ ततोऽन्येषां पूतिदोषः स उच्यते ॥ ४ ॥ चूर्णयित्वाशुभं वस्तूदूखले योगिने न यत् । यावदास्यामि नान्येभ्यस्तावत्पूति स कथ्यते ॥ ५ ॥ द्रव्यांनयाकृतं द्रव्यं याव-दास्यामिनोर्जितम् । ऋषिभ्योन्यस्य तावन्न पूतिदोष. स पापकृत् ॥६॥ ददामि भोजनं यावत्साधुभ्यो न

अन्य सामान्य लोगों के लिये भोजन बनाया जाता है दूसरे बहुत से पाखंडियों के लिये बनाया जाता है तीसरे परिव्राजक साधुओं के लिये बनाया जाता है और चौथे निर्ग्रंथ मुनियों के लिये बनाया जाता है यह जो चारों के उद्देश्य से आहार बनाया जाता है वह चार प्रकार का उद्देशिक कहलाता है। मुनियों को उस आहार के बनने के सब पापों को देख कर सबका त्याग कर देना चाहिये ॥९९–१००॥ आहार के लिए आते हुए संयमियों को देख कर पकते हुये अपने चावलों में किसी दूसरे के चावल और मिला देना अध्यधि नाम का दोष कहलाता है ॥१०१॥ जो अन्न पानादिक अप्रासुक वस्तु से मिला हो उसको पूति दोष कहते हैं। यह पूति दोष पाप उत्पन्न करने वाला है और इसके पाँच भेद हैं ॥२॥ रंधनी (चूल्हा) उदूखल (ओखली) दर्वी (करछली) भोजन और गंध ये पाँच प्रकार के पूति दोष कहलाते हैं। ये सब पाप उत्पन्न करने वाले हैं ॥३॥ इस चूल्हे पर सबसे पहले उत्तम आहार बनाया है इसे सबसे पहले किसी साधु के लिये दूंगा तदनंतर किसी दूसरे को दूंगा। ऐसे आहार में पूतिदोष उत्पन्न होता है ॥४॥ किसी ओखली में अच्छी वस्तु कूट कर विचार करना कि जब तक इसमें से किसी मुनि को नहीं दे लूंगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूंगा ऐसे आहार में भी पूति दोष उत्पन्न होता है ॥५॥ इस करछली से यह श्रेष्ठ द्रव्य बनाया है। जब तक इस करछली से ऋषियों को नहीं दे लूंगा तब तक दूसरों को नहीं दूंगा इस प्रकार के अन्न

श्रुतावहम् । इदं तावन्न चान्येषां योग्यं पूतिः स एव हि ॥ ७ ॥ यतिभ्यो दीयते नायं गंधो भोजनपूर्वकः । यावत्तावन्न योग्योत्र स्वान्येषां पूतिरेव सः ॥ ८ ॥ प्रथमारम्भसंजात मिदमाहारमंजसा । यतिभिः परिहर्तव्यं दातृसंकल्पदोषजम् ॥ ९ ॥ मुनिभ्यो दातुमुद्दिष्टः निष्पन्नं मशनं च यत् । साद्धं पाषंडिसागारैः मिश्रदोषोत्र सोघदः ॥ १० ॥ पाक भाजनतो न्यस्मिन् भाजने स्थापितं च यत् । अन्नं स्वान्यस्य गेहे वा सदोषः स्थापितान्वयः ॥ ११ ॥ यक्षनागादिदेवानां निमित्तं यः कृतो वलिः । तच्छेषः मप्रज्ञप्त उपचारेण भो वलिः ॥ १२ ॥ संयतागमनार्थं यद् वलिकर्म विधीयते । अर्चाम्बु क्षेपणाद्यैर्वा, वलिदोषः स उच्यते ॥ १३ ॥ द्विधा प्राभृतकं वादरं सूक्ष्माभ्यां प्रकीर्तितम् । वादरं द्विविधं कालहानिवृद्धि द्विभेदतः ॥ १४ ॥ सूक्ष्मं प्रभृतकं द्वेधोक्तं काल—

में पाप उत्पन्न करने वाला पूतिदोष होता है ॥६॥ इस भोजन में से जब तक साधुओं को नहीं दूंगा तब तक दूसरों को नहीं दूंगा । ऐसे अन्न में भी पूतिदोष प्रगट होता है ॥७॥ इस गंध में से जब तक आहार देकर मुनियों को न चढ़ा लूंगा तब तक यह गंध दूसरों को नहीं दूंगा । इस प्रकार के अन्न में भी पूतिदोष होता है ॥८॥ अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ से प्रथम आरंभ हुआ प्रथम ही बनाया हुआ भोजन मुनियों को ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि उसमें दाता के संकल्प का दोष उत्पन्न हो जाता है ॥९॥ मुनियों को देने के उद्देश से पाखंडी गृहस्थों के साथ साथ जो अन्न तैयार किया गया है उसमें मिश्र नाम का दोष उत्पन्न होता है ॥१०॥ जिस वर्तन में भोजन बनाया गया है उसमें से लेकर यदि किसी दूसरे वर्तन में रख दिया गया हो चाहे वह अपने घर में रक्खा हो और चाहे दूसरे के घर में रख दिया हो ऐसे अन्न के लेने में स्थापित नाम का दोष होता है ॥ ११ ॥ किसी यक्ष नाग आदि देवों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है उसमें से उनको देकर जो बच रहता है उसको उपचार से वलि कहते हैं ॥ १२ ॥ अथवा संयमियों के आने के लिये पूजा जल क्षेपण आदि के द्वारा जो वलि कर्म किया जाता है वह भी वलि नाम का दोष कहा जाता है ॥ १३ ॥ प्राभृत दोष के दो भेद होते हैं एक बादर और दूसरा सूक्ष्म । कालकी हानि और वृद्धि के भेद से बादर प्राभृत के भी दो भेद हैं । इसी प्रकार काल की हानि और वृद्धि के भेद से सूक्ष्म प्राभृत के भी दो भेद हैं । अब आगे इन्हीं सब भेदों का स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं तुम

हानिवृद्धित । अमीषां विस्तरेणैतान् भेदान् शृणु ब्रुवेबुना ॥ १५॥ परावृत्य दिनं पक्ष मासं वर्षं च दीयते। वारं यद्दिवसाद्यैस्तत् स्थूल प्राभृतक द्विधा ॥ १६ ॥ वेलां पूर्वाह्न मध्याह्नापरा ह्नानां विहाययत्। ददाति हानि वृद्धिभ्यां सूक्ष्मं प्राभृतकं च तत् ॥ १७॥ इम प्रावर्तितं दोष हिंसा संक्लेश कारणम्। त्यजन्तु सर्वथा सर्वं वहुभेदं शिवार्थिनः ॥ १८ ॥ प्राविष्कारो द्विधा संक्रमणप्रकाशनाद्भुवि। भाजनानां तथा भोजनादीनां चाघ-कारकः ॥१६॥ आहारभाजनादीनामन्यस्माद्य प्रदेशात.। अन्यत्र नयनं भस्मादिनादिमार्जन च यत् ॥२०॥ प्रदीप

सुनो ॥१४-१५॥ जो दान आज देना हो उसे कल वा परसों देना अथवा जो दान कल परसों देना हो उसको किसी मुनि के आने पर आज ही देना दिवस परावृत्य नाम का स्थूल प्राभृत दोष है। जो दान शुक्ल पक्ष में देना हो उसे कृष्ण पक्ष में देना अथवा जो कृष्ण पक्ष में देना हो उसको शुक्ल पक्ष में देना पक्ष परावृत्य नाम का स्थूल प्राभृत दोष है। इसी प्रकार जो दान चैत में देना हो उसे वैसाख में देना अथवा वैसाख में देना हो उसे चैत में ही देना मास परावृत्य नाम का स्थूल प्राभृत दोष है। जो दान अगले वर्ष में देना हो उसे इसी वर्ष में देना तथा इसी वर्ष में देना हो उसे आगे के वर्ष में देना वर्ष प्राभृत नाम का दोष है। जो दान शाम को देना चाहिये उसको किसी संयमी के आजाने पर सबेरे ही देना अथवा सबेरे देना चाहिये उसको शाम को देना वा दोपहर को देना दोपहर के देने योग्य दान को सबेरे वा शाम को देना इस प्रकार किसी संयमी के आने पर सबेरे दोपहर शाम को देने योग्य दान को बदल कर देना सूक्ष्म प्राभृत नाम का दोष है ॥१६-१७॥ इस प्रकार काल की मर्यादा के बदलने में हिंसा अधिक होती है और परिणामों में संक्लेशता बढ़ती है इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अनेक प्रकार का यह प्राभृत नामका दोष सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥१८॥ प्राविष्कार नाम के दोष के दो भेद हैं जो कि संक्रमण करने और प्रकाश करने से उत्पन्न होते हैं। आहार और वर्तनों को बदलने स्थानांतर करने वा प्रकाशित करने में पाप उत्पन्न होता है। इसलिये इसको दोष माना है ॥१६॥ आहार और बर्तनों को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में ले जाना अथवा वर्तनों को भस्म से माँजना अथवा दीपक जला कर मंडप को प्रकाशित करना वा घर में प्रकाश करना प्रावि-

ज्वालनं मंडपादेः प्रद्योतनं हि स:। प्राविष्करोखिलो दोषः पापरंभादि वर्द्धकः ॥२१॥ स्वकीयं परकीयं वा द्रव्यं यच्चेतनेतरम्। दत्त्वा प्रगृह्य चाहारं पात्रेभ्यो दीयते तथा ॥२२॥ स्वामंत्रं परमंत्रं वा दत्त्वाऽऽयाशनं च यत्। तत्सर्वं क्रीत दोषत्वं जानीहि क्लेशपापदम् ॥२३॥ ऋणेनानीय दाता यत्परान्नं परगेहतः। भक्त्या ददाति पात्राय दोषः प्रामिच्छ एव स: ॥२४॥ स्वान्नं दत्त्वा स्वगेहाद्दानीयान्नं प्रवरं च यत्। यतिभ्यो दीयते भक्त्या स दोषः परि वर्तितः ॥२५॥ द्विधाभिघट मन्त्रोक्तं देश सर्व प्रभेदतः। तद्देशाभिघटं द्वेधा योग्यायोग्य-प्रकारत ॥२६॥ द्वित्र्यादिसप्तगेहेभ्यः पंक्तिरूपेण वस्तुयत्। आगतं चान्नपानादि तद्योग्यं योगिनां मतम् ॥२७॥ यस्मात्कस्माद् गृहा त्पक्त्याविनावाष्टमगेहतः। आहारादि यदानीतं ग्रहणायोग्यमेव तत् ॥२८॥ चतुर्विधं

ष्कार नाम का दोष है। यह दोष पाप और आरंभ को बढ़ाने वाला है इसलिये इसका त्याग कर देना चाहिये ॥२०–२१॥ अपने वा दूसरों के गाय भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रुपया पैसा आदि अचेतन पदार्थों को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना क्रीत दोष है। अथवा अपनी विद्या वा मंत्र को देकर वा दूसरे की विद्या वा मंत्र को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना क्रीत दोष है। यह दोष भी क्लेश और पाप उत्पन्न करने वाला है ॥२२–२३॥ जो दाता दूसरे के घर से कर्ज के रूप में दाल चावल रोटी आदि लाता है और उसे भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसके प्रामिच्छ नाम का दोष लगता है ॥२४॥ जो दाता अपने भात वा रोटी को देकर दूसरे के घर से मुनियों को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात रोटी लेकर भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसको परिवर्तक नाम का दोष लगता है ॥२५॥ अभिघट दोष के दो भेद हैं। एक देशाभिघट और दूसरा सर्वाभिघट। उसमें भी देशाभिघट के दो भेद हैं एक योग्य और दूसरा अयोग्य ॥२६॥ जो अन्न पान पंक्ति रूप में रहने वाले दो तीन आदि सात घरों से आया है वह मुनियों के लिये योग्य माना जाता है ॥२७॥ जो अन्न पान बिना पंक्ति रूप से बने हुए जिस किसी घर से लाया गया है अथवा आठवें नौवें घर से लाया गया है वह मुनियों के ग्रहण करने के अयोग्य समझा जाता है ॥२८॥ जो अन्न पान अपने गाँव से आया है वा दूसरे के गाँव से

परिज्ञेयं स्वपाट कान्यपाटकात् । ओदनादि यदानीतं स्वग्रामाभिघटं हि तत् ॥ ३० ॥ एष सर्वोपि सत्त्याज्यो दोषोभिघट संज्ञक' । सयतैः संयमार्थं हि यातायातांगिवाधनात् ॥ ३१ ॥ घृतादि भाजनं कर्दमादिना मुद्रित व्रतम् । उद्भिद्य यद्धदेयं स उद्भिन्नदोषनामकः ॥ ३२ ॥ नि.श्रेण्यादिकमारुह्य द्वितीयगृह भूमितः । आनीतं खलु यद्देयं स मालारोहणो मलः ॥ ३३ ॥ सयतानागमान् दृष्ट्वा राजचौर्यादिजाद्भयात् । जनैर्यद्दीयते दानमाच्छेद्य दोष एव सः ॥ ३४ ॥ सारदोषेश्वरेणैवानीश्वरेण च दीयते । व्यक्ताव्यक्तेन दानं यद्दोषोनीशार्थ एव स. ॥३५॥

आया है वा अपने देश से आया है वा दूसरे देश से आया है ऐसे अन्न पान को देना सर्वाभिघट नाम का दोष कहलाता है ॥२९॥ इस प्रकार सर्वाभिघट दोष के चार भेद हैं। स्वग्रामाभिघट, परग्रामाभिघट, स्वदेशाभिघट, परदेशाभिघट। एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में लाना स्वग्रामाभिघट है। दूसरे गाँव से अपने गाँव में लाना परग्रामाभिवट है। अपने देश से गॉव में लाना स्वदेशाभिघट और परदेश से गॉव में लाना परदेशाभिघट है ॥३०। इन सब दोषों में आने जाने में जीवों की वाधा होती है इसलिये संयमियों को अपना संयम पालन करने के लिए सब तरह के अभिघट दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥३१॥ जो घी गुड़ शकर का पात्र किसी से ढका हो वा कीचड़ आदि के जंतुओं से आच्छादित हो रहा हो उसको उघाड़ कर मुनियों को देना उद्भिन्न नाम का दोष कहलाता है। ढके हुए में भी चींटी आदि चढ़ सकती हैं इसलिये यह दोष माना है ॥३२॥ जो अन्न पान नसेनी पर चढ़ कर वा उतर कर ऊंची वा नीची दूसरे की भूमि पर से लाकर मुनियों को लाकर दिया जाता है उसमें मालारोहण दोष लगता है। इसमें दाता का अपाय होता है ॥ ३३ ॥ मुनियों के आगमन को देख कर राजा वा चोरों के भय से जो लोगों के द्वारा मुनियों को दान दिया जाता है उसको आच्छेद्य दोष कहते हैं। (यदि दान न दोगे तो हम तुम्हारा धन लूट लेंगे वा तुम्हें निकाल देंगे इस प्रकार से डर से डर कर दान देना आच्छेद्य दोष है) ॥३४॥ व्यक्त और अव्यक्त के भेद से ईश्वर के अर्थात् स्वामी वा प्रभु के दो भेद हैं तथा व्यक्त और अव्यक्त के ही भेद से अनीश्वर अर्थात् अमुख्य वा गौड़ के दो भेद हैं। इस प्रकार व्यक्त वा अव्यक्त ईश्वर और व्यक्त वा अव्यक्त अनीश्वर यदि किसी के निषेध करने पर भी दान दे तो उसके अनीशार्थ नाम का दोष लगता है ॥ ३५ ॥

एकोदानं ददात्यन्यो निषेधयति यद्भुवि ।" इत्यादि सोखिलो ज्ञेयो दोषोनीशार्थ संज्ञकः ॥३६॥ षोडशैव परित्याज्याः सद्भिःक्लेशाघकारिणः ॥३७॥ धात्रीदूतोनिमित्ताख्यो दोष आजीवनाह्वयः । वनीपक वचो दोष श्चिकित्साद्दोष एव च ॥३८॥ क्रोधो मानो तथा माया लोभश्च पूर्वसंस्तुतिः । पश्चात्सस्तुति दोषोथ विद्यामंत्र-समाह्वयः ॥३९॥ चूर्णयोगाभिधो मूल कर्मैते षोडशाशुभाः । ज्ञेयाः पात्राश्रिता दोषा उत्पादन समाह्वयाः ॥४०॥ मज्जनं मंडनं क्रीडनं चीरपानकारणम् । तथा स्वापविधिं वालकानां युक्त्योपदेशनैः ॥४१॥ गृहिणामुप-दिश्योत्पाद्यान्नं धात्रीव यद्भुवि । संयतै गृह्यते निंद्यं धात्रीदोषः सचोच्यते ॥४२॥ स्वापरग्राम देशादिभ्यो त्र सागारिणां कचित् । आनीय शुभसन्देशं निवेद्य तेन गेहिभिः ॥४३॥ जातहर्षैः प्रदत्तं यदन्नदानमयुक्तिजम् । भुज्यते साधुभिर्दूतदोषः स दूत कर्मकृत् ॥४४॥ व्यंजनांगे स्वरश्छिन्नो भौमान्तरीक्ष संज्ञकौ । लक्षणं च ततः

इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है इस प्रकार के दान में अनीशार्थ नाम का दोष लगता है ॥३६॥ इस प्रकार ये उद्गम नाम के सोलह दोष है। ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित हैं और क्लेश तथा पाप उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिये सज्जनो इन सब दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥३७॥ आगे सोलह उत्पादन दोषों को कहते हैं। ये सोलहों दोष पात्रों के आश्रित होते हैं उनके नाम ये हैं। धात्री, दूत, निमित्त, आजीवन, वनीपक वचन, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वसंस्तुति, पश्चात्संस्तुति, विद्या मंत्र, चूर्णयोग और मूलकर्म ॥३८–४०॥ जो मुनि गृहस्थों को युक्ति पूर्वक धाय के समान बच्चों को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, क्रीड़ा कराने, दूध पिलाने और सुलाने आदि की विधि का उपदेश देकर निंद्य रीति से अन्न उत्पन्न कर ग्रहण करते हैं उनके निंदनीय धात्री नाम का दोष उत्पन्न होता है ॥४१–४२॥ जो मुनि अपने देश से वा दूसरे देश से तथा अपने वा दूसरे के गाँव से गृहस्थों के शुभ समाचार लाता है तथा जहाँ जाता है वहाँ के गृहस्थों से उन समाचारों को कहता है। उन समाचारों को सुन कर हर्षित हुए उन गृहस्थों के द्वारा दिए हुए दान को स्वीकार करता है उस साधु के दूत कर्म करने वाला दूत नाम का दोष लगता है ॥४३–४४॥ व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भौम, अंतरीक्ष, लक्षण और स्वप्न ये आठ प्रकार के निमित्त

स्वप्नं निमित्तमष्टधेति वै ॥४५॥ एतैरष्टनिमित्तोपदेशैरुत्पाद्य साधुभिः । भिक्षाया गृह्यते लोके निमित्त दोष एव च ॥४६॥ जातिं कुलं तपः शिल्पकर्म निर्दिश्य चात्मनः । करोत्याजीवनं योत्र स आजीवन दोषभाक् ॥४७॥ पाषंडिकृपणादीना-मतिथीनां चदानतः । पुण्यं भवेन्नवात्रेति पृष्ठो दात्रामुनिः क्वचित् । पुण्यं भवेदिदं चोक्त्वा ह्यनुकूलं वचोशुभम् । दातुर्गृह्णाति दानं यो दोषो वनीपकोपि सः ॥५०॥ क्रोधेनोत्पाद्यते भिक्षा या क्रोधदोष एव स । मानेनो त्पाद्यतेन्नं मानदोष स एव ॥५१॥ माया कौटिल्यभाव च कृत्वाहारादिक भुवि । उत्पाद्य भुज्यते यैस्तेषां मायादोष एवहि ॥५२॥ लोभ प्रदिश्य भिक्षा यः उत्पादयति भूतले । स्यात्मनो लोभिनस्तस्य लोभदोषोऽशुभप्रदः ॥५३॥ पत्तने

माने हैं। इन आठ प्रकार के निमित्तों का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है उसके निमित्त नाम का दोष लगता है। (इस दोष से रसास्वादन की लोलुपता और दीनता का दोष लगता है) ॥४५–४६॥ जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप और शिल्प कर्म वा हाथ की कलाओं का उपदेश देकर वा जाति कुल को बतला कर अपनी आजीविका करता है उसको आजीवन नाम का दोष लगता है ।४७॥ यदि कोई गृहस्थ किसी मुनि से यह पूछे कि पाखंडियों को कृपण वा कोढ़ी आदि को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणों को दान देने में पुण्य होता है वा नहीं। इसके उत्तर में वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह कह दे कि हाँ पुण्य होता है। इस प्रकार अशुभ वचन कह कर उसी दाता के द्वारा दिए हुए दान को ग्रहण करता है उसके वनीपक नाम का दोष लगता है ॥४८–४६॥ चिकित्सा शास्त्रों में आठ प्रकार की चिकित्सा बतलाई है उनके द्वारा मनुष्यों का उपकार कर जो मुनि उन्हीं के द्वारा दिए हुए अन्न को ग्रहण करता है उसके चिकित्सा नाम का दोष लगता है ॥५०॥ क्रोध दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है उसमें क्रोध नाम का दोष उत्पन्न होता है। अपना अभिमान दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है उसमें मान नाम का दोष लगता है ॥५१॥ मायाचारी वा कुटिल परिणामों को धारण कर जो आहार उत्पन्न कर ग्रहण किया जाता है उसमें माया नाम का दोष लगाता है ॥५२॥ जो मुनि अपना कोई लोभ दिखला कर भिक्षा उत्पन्न कर ग्रहण करता है उस लोभी मुनि के पाप उत्पन्न करने वाला लोभ नाम का दोष लगता है ॥५३॥

हस्तिकल्पाख्ये कश्चित्साधुः कुमार्गगः । भिक्षा मुत्पादयामास क्रोधेन गृह नायकात् ॥५४॥ वेणातटपुरे न्यो भिक्षा मुत्पादितवान् मुनिः । मानेन स्वस्य दुर्मार्गगतो मानी गृहस्थतः ॥५५॥ वाराणस्यां तथा कश्चित् सलोभः संयतोबुधः । मायया स्वस्य चाहारमाविश्चक्रेत निंदितम् ॥५६॥ तथान्यः संयतः कश्चिद्राशियानाभिधे पुरे । लोभं प्रदर्श्य भिक्षां पुंसा मुत्पादितवान् कचित् ॥५७॥ क्रोधादि कारिणामेषां चतुर्णां द्रव्य लिंगनाम् । चतस्रो हि कथाज्ञेया प्रसिद्धा श्री जिनागमे ॥५८॥ ब्रूयते यद्यशोदानग्रहणात्पूर्व मूर्जितम् । दातुरग्रे सुदानाय स दोषः पूर्वसंस्तुति ॥५९॥ गृहीत्वा पुरतो दानं पश्चाद्दानाद्विजान् गुणान् । दातुः स्तौति गिराय य. सः पश्चात्संस्तुतिदोष भाक् ॥६०॥ विद्यां साधयितुं सारं ते दास्यामीति यो मुनि । आशयोत्पादयेद्भिक्षां विद्यादोषोत्र तस्य च ॥६१॥ गृहिणां सिद्धतन्मंत्रदानाशाकरणादिना । उत्पाद्य गृह्यतेन्नं यन्मंत्रदोषः स कथ्यते ॥६२॥

हस्तिकल्प नाम के नगर में किसी कुमार्गगामी साधु ने किसी गृहस्थ से अपना क्रोध दिखला कर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥५४॥ वेणातट नाम के नगर में कुमार्ग में चलने वाले किसी अभिमानी मुनि ने अपना अभिमान दिखला कर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥ ५५ ॥ वाराणसी नगरी में किसी बुद्धिमान लोभी मुनि ने अपनी मायाचारी प्रगट कर निंदनीय आहार उत्पन्न किया था ॥५६॥ इसी प्रकार राशियाना नाम के नगर में किसी अन्य साधु ने लोगों को अपना लोभ दिखला कर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥५७॥ क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों को प्रगट करने वाले इन चारों द्रव्य लिंगी मुनियों की चारों प्रसिद्ध कथायें श्री जिनागम से जान लेनी चाहिये ॥५८॥ जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से उसी दाता के सामने उसका श्रेष्ठ यश वर्णन करता है उसके पूर्व संस्तुति नाम का दोष प्रगट होता है ॥ ५९ ॥ जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा दाता के दिये हुये उस दान के गुणों की प्रशंसा करता है उसके पश्चात् संस्तुति नाम का दोष लगता है ॥६०॥ जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि "मैं तुझे सिद्ध करने के लिये एक अच्छी विद्या दूंगा" इस प्रकार आशा दिला कर जो भिक्षा उत्पन्न करता है उसके विद्या नाम का दोष लगता है ॥ ६१ ॥ जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्धि किए हुए मंत्र को देने की

नेत्रांजनवपुः संस्कार हेतु चूर्णंगनत । या भिक्षो त्पाद्यते लोके चूर्ण दोपोहि सोधद ॥६३॥ दानाय क्रियते यद्धि वशीकरणमजसा । अवशानां जनानां च मायावाक्यादि जल्पनै. ॥६४॥ योजनं विप्रयुक्तानां तथानुष्ठीयते भुवि । यत्तत्सर्वं भवेन्मूल कर्मदोपो शुभप्रदः ॥६५॥ एते पात्राश्रिता दोपाः पोडशोत्पादनाह्वयाः । यतिभिर्यत्नतो हेया अध कर्मांश दोपगः ॥६६॥ शकितो मृपितो दोपो निक्षिप्त. पिहिताभिधः । दोपो थ व्यवहाराख्यो दायकोन्मिश्रसंज्ञकौ ॥६७॥ तथापरिणतो लिप्तः परित्यजन नामकः । दशैते शनदोषाहि यत्नात्त्याज्या मुमुक्षुभि ॥६८॥ एतच्चतुर्विधाहारं किमध. कर्मणोद्भवम् । नवेति शंकया भुंक्तेयः स शकितदोपवान् ॥६६॥ कडछुकेन हस्तेन स्निग्धेन भाजनेन च । यद्देयं गृह्यते लोके दोपो मृपित एव सः ॥७०॥ पृथ्व्यादिषु सचित्तेषु

आशा दिलाता है और इस प्रकार आशा दिला कर आहार ग्रहण करता है उसके मंत्र नाम का दोप लगता है ॥ ६२ ॥ जो मुनि नेत्रों का अंजन अथवा शरीर का संस्कार करने वाला कोई चूर्ण देकर लोक में भिक्षा उत्पन्न करता है उसके चूर्ण नाम का दोप लगता है। यह दोप महा पाप उत्पन्न करने वाला है ॥६३॥ जो मनुष्य अपने वश नहीं है उनको मायाचारी के वचन कह कर अथवा और किसी तरह से दान देने के लिये वश कर लेना अथवा जो मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते हैं और दान नही देते दान से अलग रहते हैं उनको अपने दान के लिये लगा देना पाप उत्पन्न करने वाला मूलकर्म नाम का दोप कहलाता है ॥६४–६५॥ ये सोलह उत्पादन दोप कहलाते हैं और पात्रों के आश्रित रहते हैं। तथा इन दोषों में अधः कर्म नाम के दोप का भाग अवश्य रहता है इसलिये मुनियों को यत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥६६॥ आगे दश अशन दोषों को कहते हैं। शंकित, मृपित, निक्षिप्त, पिहित, व्यवहार दायक, उन्मिश्र, परिणत, लिप्त और परित्यजन ये दश अशन के दोप हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को यत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ६७–६८॥ यह चार प्रकार का आहार अधः कर्म से उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं, इस प्रकार की शंका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है उसके शंकित नाम का दोप लगता है ॥६९॥ जो साधु चिकने वर्तन से वा चिकने हाथ से अथवा चिकनी करछली से दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेता है उसके मृपित नाम का दोप लगता

तेजोन्तेषु त्रसेषु च । हरितेषु च बीजेषु चेतनालक्षणात्मसु ॥७१॥ यद्देयं वस्तु निक्षिप्तं साधुभ्यो दीयते जनैः । सचित्त दोषदो निंद्यो दोषो निक्षिप्त एव सः ॥७२॥ सचित्तेनाप्यचित्तेन गुरुकेण च वावृतम् । दीयते मुनये दानं यद्दोषः पिहितोत्र सः ॥७३॥ दानाय व्यवसायं चेल भाजनादिकात्मनाम् । कृत्वा विधीयते दानं यत्स्यात्तस व्यवहारजः ॥७४॥ सूती शौंडी तथा रोगी मृतकश्च नपुंसकः । पिशाचो नग्न एवाङ्ग उच्चारः पतितस्तत. ॥७५॥ वातोर्गी रुधिराक्तांग' वेश्या दासी तथार्जिका । अति वालातिवृद्धा रामागाभ्यंगणकारिणी ॥७६॥ उत्कृष्टा गर्भिणी चांधलिका ह्यंतरितांगना । उपविष्टा तथोच्चस्था नीच प्रदेश संस्थिता ॥७७॥ एवंविधो नरः

है । चिकनी करछली आदि में सम्मूर्च्छन जीवो की सम्भावना रहती है इसीलिये यह दोष है ॥७०॥ जो देने योग्य पदार्थ सचित्त पृथ्वी सचित्त जल सचित्त अग्नि सचित्त हरित सचित्त बीज अथवा त्रस जीवों पर रक्खे हों ऐसे पदार्थों को जो लोग दान देते हैं उनके सचित्त दोष को उत्पन्न करने वाला निंद्य निक्षिप्त नाम का दोष लगता है ॥७१–७२॥ जो देने योग्य पदार्थ किसी सचित्त पदार्थ से ढके हों अथवा भारी अचित्त पदार्थ से ढके हों ऐसे पदार्थों को मुनियों के लिए देना पिहित नाम का दोष कहलाता है ॥७३॥ दान देने के लिए जो वस्त्र वर्तन आदि को झटपट बेचकर आहार तैयार करता है उसके व्यवहार नाम का दोष लगता है ॥७४॥ जो बच्चों को खिलाने वाला हो, जो मद्यपान का लंपटी हो, रोगी हो, जो किसी मृतक के साथ श्मशान मे जाकर आया हो, अथवा जिसके घर कोई मर गया हो, जो नपुंसक हो, जिसे वात की व्याधि हो गई हो, जो वस्त्र न पहने हो नग्न हो, जो मल मूत्र कर के आया हो, जो मूर्छित हो, पतित हो, जो वमन कर के आया हो, जिसके शरीर पर रुधिर लगा हो, जो वेश्या हो दासी हो अर्जिका हो वा लाल वस्त्र पहनने वाली हो, जो स्नान उवटन करने वाली हो जो अत्यंत बालक स्त्री वा मुग्धा हो जो अत्यंत वृद्धा हो, जो खाकर आई हो, जो पाँच महीने से अधिक गर्भिणी हो, अंधी हो, दीवाल के बाहर रहने वाली हो, जो बैठी हो, किसी ऊंची जगह पर बैठी हो वा नीची जगह पर बैठी हो, ऐसी चाहे कोई स्त्री हो वा पुरुष हो ऐसा पुरुष वा स्त्री दान देवे और मुनि लेवे तो उनके दायक नाम का पाप उत्पन्न

स्त्री वा यदि दानं ददाति च। तत्र दायक दोष स्यान्मुनेस्तत्सेविनो शुभः ॥७८॥ वन्हौ संधुत्तणं प्रज्वालन-मुत्कर्षण तथा। प्रच्छादनं च विध्यापनं निर्वातं च घट्टनम् ॥७९॥ इत्याद्यग्निकार्यं च कृत्वारंभं हि या गता। तस्या हस्तेन न ग्राह्यं दानं दायक दोषदम् ॥८०॥ लेपन मार्जनं स्नानादिक कर्म विधाय च। स्तनपानं पिवन्तं बालकं निक्षिप्य यागता ॥८१॥ इत्याद्यपरमावद्य कर्म कृत्वात्र दातृभिः। दानं यद्दीयते सर्वो दोषः स दायकाभिधः ॥८२॥ पृथ्व्याम्बुना च वीजेन हरितेन त्रसांगिभिः। यो देयो मिश्र आहारो दोषश्चोन्मिश्र एव सः ॥८३॥ तिलोदकं तथा तंडुलोदकं चणकोदकम्। तुषोदकं चिरान्नीरं तप्तं शीतत्वमागतम् ॥८४॥ विभीतक

करने वाला दोष उत्पन्न होता है ॥ ७५—७८ ॥ जो स्त्री वा पुरुष अग्नि को जला कर आया हो, अग्नि फूंक कर आया हो, अग्नि में अधिक लकड़ी डाल कर आया हो, अग्नि को भस्म से दबा कर आया हो, वा बुझा कर आया हो, वा अग्नि से लकड़ियों को अलग कर के आया हो, अथवा अग्नि को मिट्टी आदि से रगड़ कर आया हो, इस प्रकार जो अग्नि के कार्य को कर के आया हो और दान देने के प्रारंभ में ही आगया हो उसके हाथ से दान नहीं लेना चाहिये। क्योंकि उसमें भी दायक दोष उत्पन्न होता है ॥७९—८०॥ जो स्त्री लीप कर आई हो दीवाल आदि झाड़ कर आई हो, किसी को स्नान करा कर आई हो, स्तन पान करते हुए बालक को छोड़ कर आई हो, तथा इसी प्रकार के पाप रूप कार्यों को कर के जो स्त्री वा पुरुष आया हो ऐसे दाता के द्वारा जो दान दिया जाता है उस सबमें दायक नाम का दोष प्रगट होता है। ऐसे दाता के हाथ से मुनियों को दान कभी नहीं लेना चाहिये ॥८१—८२॥ जिस आहार में सचित्त पृथ्वी, जल, वीज, हरित वनस्पति, और त्रस जीव मिले हों, ऐसे आहार को लेना उन्मिश्र दोष है ॥८३॥ तिलों के धोने का पानी, चावलों के धोने का पानी, चनों के धोने का पानी, चावलों की भूसी के धोने का पानी, तथा जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठंडा हो गया हो तथा हरड बहेड़ा के चूर्ण से अपने रस वर्ण को बदल न सका हो ये सब प्रकार के जल संयमियों को कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये। जिस जल का वर्ण वा रस किसी चूर्ण आदि से बदल गया हो ऐसा जल आँख से अच्छी

हरीतक्यादिकचूर्णैस्तथाविधम् । स्वात्मीय रसवर्णादिभिश्चापरिणतं जलम् ॥८६॥ न ग्राह्यं संयतैर्जातु सदा ग्राह्याणि तानि च । परीक्ष्य चक्षुषा सर्वाण्यहो परिणतानि च ॥८६॥ संतप्तं वा जलं ग्राह्यं कृतादि दोष दूरगम् । तथा परिणतं द्रव्यै र्नानावर्णै मुमुक्षुभिः ॥८७॥ योत्रापरिणतान्येव तानि गृह्णाति मूढधीः । १—तस्यापरिणतो दोषो जायते सत्त्वघातक ॥८८॥ आमपिष्ठेन चूर्णेनापकशाकेन चाम्बुना । खडिकाहरतालादि द्रव्यैरार्द्रकरेण च ॥८६॥ भाजनेनात्र देय यदन्नादि यतये जनैः । लिप्त दोष स एवस स्यात्सूक्ष्मजंत्वादि-

तरह देख कर परीक्षा कर संयमियों को ग्रहण करना चाहिये ॥८४—८६॥ अथवा मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमियों को कृतकारित अनुमोदना आदि के दोषों से रहित गरम जल ग्रहण करना चाहिये अथवा अनेक वर्ण के द्रव्यों से (हरड़ इलायची आदि के चूर्ण से) जिसका रूप रस बदल गया हो ऐसा जल ग्रहण करना चाहिये ॥८७॥ जिस जल का रूप रस नहीं बदला है किसी चूर्ण के मिलाने पर भी रूप रस नहीं बदला है वा गर्म करने से स्पर्श नहीं बदला है ऐसा जल जो अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है उसके अनेक जीवों की हिसा करने वाला अपरिणत नाम का दोष उत्पन्न होता है ॥८८॥ यही बात मूलाचार ग्रन्थ में लिखी है। यथा—(तिल तंडुल उसणोदय चणोदय तुसोदयं अविध्दुत्थं। अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेहिज्जो ॥ अर्थात् तिल वा चावलों का धोया जल, ठंडा हुआ गरम जल, चना तुष आदि का धोया जल, जिसका वर्णरस गंध न बदला हो तथा हरड़ बहेड़ा आदि के चूर्ण से जिसका वर्णरस न बदला हो ऐसा जल कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥) कच्चे चावलों के चूर्ण से, बिना पके शाक से अप्रासुक जल से, खड़ी सेलखड़ी हरताल आदि द्रव्यों से स्पर्श किए हुये लगे हुए द्रव्यों को दान में देना अथवा गीले हाथ वा गीले बर्तन से आहार देना लिप्त नाम का दोष कहलाता है। ऐसे आहार मे सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती

तथाचोक्तं मूलाचार ग्रथे—

तिल तडुल उसणोदय चणोदयं तुसोदयं अविद्धच्छु । अण तथाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हजो ॥

घातक' ॥६०॥ दीयमान यमाहारं घृततक्रोदकादिभि । वरं परि गलन्तं सच्छिद्रपाणिपुटेन च ॥६१॥ स्रवंतं यदि गृह्णाति संयतो संयमप्रद । तदा स कथ्यते दोष परित्यजन सज्ञक' ॥६२॥ एतेशनाह्वया दोषा हिंसारंभाघकारिणः । सर्वथा मुनिभिर्हेया दशैव यत्नतोऽनिशम् ॥६३॥ सयोजयति यो भक्तं शीतमुष्णेन वारिणा । शीतोदकेन वोष्णान्नं तस्य सयोजनो मलः ॥६४॥ उदरस्यार्द्धं मन्नेन तृतीयांशं जलादिभि. । पूरयेच्चतुर्थांशं धत्ते रिक्तं सदा यमी ॥ ६५ ॥ प्रमाणभूत माहारस्तस्य निद्राजयो भवेत् । शुभध्यानं च सिद्धांत पठनं कर्म निर्जरा ॥६६॥ अस्मात्प्रमाणतोन्नादिमतिमात्रं भजेन्मुनि । यस्तस्यात्राप्रमाणाख्य दोषो रोगोऽसमाधिता ॥६७॥ सगृध्या मूर्छितो य' प्रभुंक्तेत्राहारमजमा । मंदबुद्धि र्भवेत्तस्यांगार दोषोऽशुभार्णव. ॥ ६८ ॥ सरसान्नाद्यलाभेन

है ॥८६–६०॥ जो दाता घी दूध छाछ वा जल का आहार देता हो और वह अपने हाथों से अधिक रूप में टपकता हो ऐसे असंयम उत्पन्न करने वाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है उसके परित्यजन नाम का दोष लगता है ॥६१–६२॥ ये दश अशन नाम के दोप कहलाते हैं तथा हिंसा आरंभ और पाप के कारण कहलाते हैं। इसलिये मुनियों को यत्नपूर्वक इनका सर्वथा सदा के लिए त्याग कर देना चाहिये ॥ ६३ ॥ जो मुनि ठंडे भोजन को गरम जल में मिला कर खाता है अथवा गरम भोजन को ठंडे जल में मिला कर खाता है उसके संयोजन नाम का दोप लगता है ॥६४॥ मुनियों को अपना आधा पेट अन्न से भरना चाहिये, एक भाग जल से भरना चाहिये और एक भाग खाली रखना चाहिये। इस प्रकार प्रमाण के अनुसार जो मुनि आहार लेता है उसकी निद्रा का विजय होता है, शुभ ध्यान होता है सिद्धांत शास्त्रों का पठन पाठन होता है और कर्मों की निर्जरा होती है ॥६५–६६॥ जो मुनि इस प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण करता है उसके अप्रमाण नाम का दोप लगता है अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और ध्यान का नाश हो जाता है ॥६७॥ जो मंद बुद्धि मुनि अपनी लंपटता से मूर्छित होकर आहार को ग्रहण करता है उसके पापों का सागर ऐसा अंगार नाम का दोष प्रगट होता है ॥६८॥ जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से अपने वचनों से दाता की निंदा करता हुआ आहार ग्रहण करता है उसके निंदनीय धूम नाम का दोष प्रगट होता है ॥६६॥

निंदन् दातृन् गिराशनम् । भुनक्ति योऽधमोनिंद्यं धूमदोषंलभेत सः ॥ ६६ ॥ पिंडीकृता अमी सर्वेपट्चत्वारिंश-देवहि । यत्नेन परिहर्तव्यां दोषा दोषकरा बुधैः ॥ २०० ॥ कारणै पड्भिराहार गृह्णन धर्मं चरेद्यतिः । त्यजन् पट्कारणैश्चान्नं तरां संयममाचेरन् ॥ २०१ ॥ क्षुद्वेदनीयोपशान्त्यर्थं वैयावृत्त्याय योगिनाम् । पडावश्यक पूर्णाय सर्वसंयम सिद्धये ॥ २ ॥ प्राणार्थं च क्षमामुख्या दशसद्धर्म हेतवे । एतैः पट्कारणै योगी गृह्णीया दशनं भुवि ॥ ३ ॥ तीव्रक्षुद्वेदनाक्रान्तो वृतं पालयितुं क्षमः । नाहं मत्वेति वृत्ताय भुंजे भक्तं न शर्मणे ॥४॥ आहारेण विना नाहं कर्तुं शक्नोमि योगिनाम् । वैयावृत्यमिहातोन्नंभुंजे तत्सिद्धये क्वचित् ॥ ५ ॥ विनाहारं पडावश्यक व्युत्सर्गान् वलातिगः । नाहं धर्तुं समर्थोस्माद् भिक्षां तद्धेतवे श्रये ॥ ६ ॥ दयां कर्तुं न शक्तोहं क्षुधाक्रांतोगिराशिषु । अतः संयमसिध्यर्थं गृह्णाम्यन्नं न चान्यथा ॥७॥ न तिष्ठन्ति दश प्राणाः अन्नाद्दतेय

ये सब दोष मिल कर छयालीस होते हैं तथा सब अन्य अनेक दोष उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को यत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥२००॥ मुनियों को उचित है कि वे छह कारणों से आहार को ग्रहण करते हुए धर्म का पालन करें तथा छह कारणों से आहार को छोड़ कर संयम का पालन करें ॥ २०१ ॥ क्षुधा वेदना को शांत करने के लिए, मुनियों की वैयावृत्य करने के लिये, छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करने के लिये, सब तरह के संयमों का पालन करने के लिये, प्राणों की रक्षा करने के लिए और उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को पालन करने के लिये मुनियों को आहार ग्रहण करना चाहिये। मुनियों को आहार ग्रहण करने के ये छह कारण है ॥ २०२–२०३ ॥ तीव्र क्षुधा की वेदना से पीड़ित हुआ मैं चारित्र को पालन नहीं कर सकता अतएव चारित्र पालन करने के लिये मैं आहार लेता हूँ मैं सुख के लिये आहार नहीं लेता ॥४॥ मैं विना आहार के मुनियों की वैयावृत्य नहीं कर सकता अतएव वैयावृत्य करने के लिए ही मैं आहार लेता हूँ ॥५॥ मैं निर्वल हूँ और विना आहार के छहों आवश्यकों को तथा व्युत्सर्ग को पालन नहीं कर सकता अतएव आवश्यक पालन करने के लिये मैं आहार लेता हूँ ॥६॥ भूख से पीड़ित हुआ मैं जीवों की दया पालन नहीं कर सकता अतएव संयम पालन करने के लिये ही मैं अन्न ग्रहण करता हूं अन्यथा नहीं ॥७॥

हेतवे । तस्मान्मे प्राणरक्षार्थं सेवेन्न पारणेकचित् ॥ ८ ॥ दशलाक्षणिकं धर्मं नाहमाचरितुं क्षमः । अतो धर्माय गृह्णामि शुद्धान्नं नान्यहेतुना ॥६॥ मत्वेति कारणै षड्भिरेतैर्गृह्णन् शुभाशनम् । कर्म वध्नाति नात्मज्ञः क्षिपेन्नित्यं पुरातनम् ॥ १० ॥ दुर्व्याधौ च समुत्पन्ने ह्युपसर्गे चतुर्विधे । ब्रह्मचर्याक्षशान्त्यर्थं सर्वजीवदयाप्तये ॥११॥ तपसे किल संन्याससिद्धयेशनमात्मवान् । त्यजेन्मनो वच. कायैः सत्सु क्षुद्वेदनादिषु ॥ १२ ॥ दुर्व्याधौ सति मे हानि दृश्यते संयमादिषु । अतो रुक्कर्मनाशाय करोमि प्रवरं तप· ॥ १३ ॥ जाते सत्युपसर्गेस्मिन् प्राण नाशकरे क्रमे । जीवतव्यमतोत्राहं त्यजाम्यन्नं शिवाप्तये ॥ १४ ॥ प्रयांत्युत्कटतामन्नात्स्मरादीन्द्रिय शत्रवः ।

विना अन्न के मेरे प्राण ठहर नहीं सकते अतएव प्राणों की रक्षा करने के लिए मैं कभी कभी पारणा के दिन आहार लेता हूं ॥८॥ मैं विना आहार के दश लाक्षणिक धर्म को पालन नहीं कर सकता अतएव धर्म पालन करने के लिये मैं शुद्ध अन्न ग्रहण करता हूँ। मैं किसी अन्य हेतु से आहार नहीं लेता ॥६॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि इन छह कारणों को समझ कर शुद्ध आहार ग्रहण करता है वह कर्मों का बंध नहीं कर सकता किंतु प्राचीन अनेक कर्मों की निर्जरा करता है ॥१०॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को किसी दुष्ट व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर, चारों प्रकार के उपसर्ग आजाने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा और इन्द्रियों को शांत करने के लिये, समस्त जीवों की दया पालन करने के लिये, तपश्चरण पालन करने के लिये और समाधिमरण धारण करने के लिये क्षुधा वेदना के होने पर भी मन वचन काय से आहार का त्याग कर देना चाहिये ॥११–१२॥ आहार त्याग करते समय मुनियों को विचार करना चाहिये कि इस दुष्ट व्याधि के होने से मेरे संयम में हानि दिखाई देती है अतएव रोग उत्पन्न करने वाले कर्म को नाश करने के लिये मैं आहार का त्याग कर श्रेष्ठ तपश्चरण करता हूं ॥१३॥ यह उपसर्ग प्राणों का नाश करने वाला है इसके होने पर मेरा जीवन कभी नहीं टिक सकता अतएव मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस अन्न का ही त्याग करता हूं ॥१४॥ अन्न के सेवन करने से कामदेव और इन्द्रिय रूपी शत्रु अत्यंत प्रवल हो जाते हैं। अतएव उनको वश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये मैं इस अन्न का ही त्याग करता

तस्मात्तेषां वशार्थं चाहारं जहामि मुक्तये ॥१५॥ अथाहार प्रभुक्तेन म्रियंते जन्तुराशयः। ततस्तेषां च रक्षार्थं भक्तं त्यजामि सिद्धये ॥१६॥ विनात्र तपसा जातु न च कर्मक्षयः शुभम्। तस्मात्तपो विशुध्यर्थ-माहारं वर्जयाम्यहम् ॥१७॥ सजातं विकलत्व च मेऽक्षाणां रुक्ज्वरादिभिः। अतः संन्यास संसिध्यै त्यजाम्यशनमंजसा ॥१८॥ विज्ञायेति त्यजेदेतं कारणैः षड्विधैर्मुनिः। आहारं सकलं मुक्त्यै यत्नाद्रत्नत्रयं भजेत् ॥१९॥ बलायुर्वृद्धि सुस्वादु शरीरोप चयाच। तेज कांतिसुखाद्यर्थं जातु भुंक्ते न संयमी ॥२०॥ सिद्धातपाठ संसिध्यै प्रशस्तध्यान हेतवे। पंचानां समयानां च प्रालनाय सुवृद्धये ॥२१॥ अतापनादियोगाय धर्मोपदेशनाय च। भुंक्ते शनं कचिद् योगी पष्ठाष्टमादि पारणे ॥२२॥ नव कोटि विशुद्धं चाशनं संयोज-

हूं ॥१५॥ आज आहार के सेवन करने से अनेक जीवों का समूह मृत्यु को प्राप्त होता है अतएव उन जीवों की रक्षा करने के लिये और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिये मैं इस आहार का ही त्याग करता हूँ ॥१६॥ इस संसार में बिना तपश्चरण के कर्मों का नाश कभी नहीं होता और न कल्याण ही होता है। अतएव अपने तपश्चरण को विशुद्ध रखने के लिये मैं इस आहार का ही त्याग कर देता हूँ ॥१७॥ ज्वर आदि अनेक रोगों के उत्पन्न होने से मेरी इन्द्रियाँ सब विकल हो गई हैं अतएव समाधिमरण धारण करने के लिये मैं इस आहार का ही त्याग कर देता हूँ ॥१८॥ इन छह प्रकार के कारणों को समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये सब तरह के आहार का त्याग कर देना चाहिये और यत्नपूर्वक रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये ॥१९॥ संयमी मुनि बल और आयु की वृद्धि के लिये, स्वाद चखने वा शरीर की वृद्धि के लिये अथवा तेज कांति और सुख बढ़ाने के लिये कभी आहार ग्रहण नहीं करते हैं ॥२०॥ वे मुनिराज सिद्धांत ग्रंथों के पठन पाठन करने के लिये, प्रशस्त ध्यान धारण करने के लिये, पाँचों प्रकार के संयमों को पालन करने के लिये अथवा संयमों की वृद्धि के लिये, वा आतापन आदि योग धारण करने के लिये अथवा धर्मोपदेश देने के लिये कभी कभी वेला तेला करने के बाद पारणा के दिन आहार ग्रहण करते हैं ॥२१-२२॥ वे मुनिराज तपश्चरण पालन करने के लिये प्राणियों की रक्षा करने के लिये, मोक्ष प्राप्त करने

नातिगम् । दोषै स्त्यक्तं द्विचत्वारिंशत्प्रमै. प्रासुकं शुभम् ॥२३॥ प्रमाणसहितं दत्त विधिना गृह नायकैः । विगतांगारधूमे च सुषट्कारणसंयुतम् ॥२४॥ तपसे प्राणरक्षायै मोक्षाय पारणाहनि । कश्चिद् गृह्णाति मुक्त्यर्थं चतुर्दश मलोज्झितम् ॥२५॥ नखरोम मलोजन्तुरस्थि कुंडः कणस्तत. । पूयं च रुधिरं चर्म मांस बीजं फलं तथा ॥२६॥ कंदोमूलममी ज्ञेया मलाश्चतुर्दशाशुभाः । आहारेत्र मुमुक्षूणां परीषह विधायिन. ॥२७॥ एषां मध्येत्र केचित्स्युर्मला महान्त एव च । केचित्स्वल्पमला. केचिन्मध्यमादोषभेदत. ॥२८॥ चर्मास्थि रुधिरं मास नखःपूयमिमे मलाः । महान्तोशन त्यागेपि प्रायश्चित्त विधायिनः ॥२९॥ द्वीन्द्रियादिवपुर्वालावाहार त्याग–

और कर्मों को नाश करने के लिये आहार ग्रहण करते हैं तथा वह आहार भी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना की विशुद्धता पूर्वक होना चाहिये, संयोजन दोष से रहित होना चाहिये, व्यालीस दोषों से रहित होना चाहिये, प्रासुक और शुभ होना चाहिये, प्रमाण सहित होना चाहिये अर्थात् प्रमाण से अधिक नहीं होना चाहिये, घर क स्वामी के द्वारा विधि पूर्वक देना चाहिये, अंगार और धूम दोषों से रहित होना चाहिये, श्रेष्ठ छहों कारणों से सहित होना चाहिये, और चौदह मलों से रहित होना चाहिये। ऐसे आहार को वे मुनिराज पारणा के दिन ग्रहण करते हैं ॥२३–२५॥ नख, रोम अर्थात् बाल, जंतु अर्थात् जीव रहित शरीर, हड्डी, कुंड अर्थात् चावल आदि के भीतर के सूक्ष्म अवयव, कण अर्थात् जौ गेहूँ आदि के बाहरी अवयव, पीव, रुधिर, चर्म, माँस, बीज, फल, कंद मूल ये चौदह अशुभ मल कहलाते हैं। ये चौदहो मल मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को आहार में परीषह उत्पन्न करने वाले हैं ॥२६–२७॥ इनमें से कितने ही मल बहुत बड़े हैं, कितने ही छोटे मल कहलाते हैं और कितने ही मध्यम कहलाते हैं। दोष के भेद से इनके अनेक भेद हो जाते हैं ॥२८॥ चमड़ा, हड्डी, रुधिर, मॉस, नख और पीव ये महा मल कहलाते हैं। आहार में इनके निकल आने पर आहार का भी त्याग करना पड़ता है और प्रायश्चित भी लेना पड़ता है ॥२९॥ दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि विकल त्रयों का शरीर और बाल के निकल आने पर आहार का त्याग कर देना चाहिये। तथा कण, कुंड, फल, बीज, कंद, मूल, दल ये अल्प मल कहलाते हैं। इनको आहार

कारिणौ । कणः कुंडः फलं बीजं कंदो मूलं दला अमी ॥३०॥ अल्पास्त्यजन योग्याश्च तुच्छदोषविधायिनः । यदि त्यक्तुं न शक्यन्ते त्याज्यं तदशनं बुधैः ॥३१॥ प्राणिनः प्रगता यस्माद् द्रव्यात्तद्द्रव्यमुत्तमम् । शुद्धं च प्रासुकं योग्यं मुनीनां कथितं जिनैः ॥३२॥ तद्द्रव्यं यदि चात्मार्थं कृतं वा कारितं क्वचित् । योगैरनुमतं निंद्यमशुद्धं नोचितं सताम् ॥३३॥ सत्यपि प्रासुके द्रव्ये योत्राधः कर्मणा यतिः । योगैः परिणतः प्रोक्तः स कर्मबंधकोनिशम् ॥३४॥ मुनिं गवेषमाणो यः शुद्धाहारमतंद्रितः । शुद्ध एव स योग्यार्थे सत्यधः कर्मणि क्वचित् ॥३५॥ विज्ञेयोशन कालोत्र संत्यज्य घटिका त्रयम् । मध्येच योगिनां भानूदयास्तमनकालयोः ॥३६॥

में से निकाल कर अलग कर देना चाहिये। क्योंकि ये बहुत थोड़ा दोष उत्पन्न करने वाले हैं। यदि आहार में से ये अलग न हो सकें तो फिर बुद्धिमानों को आहार का ही त्याग कर देना चाहिये ॥३०–३१॥ जिस द्रव्य में कोई प्राणी न हो उसको उत्तम द्रव्य कहते हैं ऐसा उत्तम शुद्ध और प्रासुक द्रव्य ही भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिये योग्य द्रव्य कहा है ॥३२॥ यदि ऐसा द्रव्य अपने लिये बनाया गया हो वा बनवाया गया हो अथवा मन वचन काय से उसकी अनुमोदना की गई हो तो वह द्रव्य निंद्य और अशुद्ध कहलाता है। सज्जनों को ऐसा द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिये ॥३३॥ यदि वह द्रव्य प्रासुक हो और वह मुनि अपने मन वचन काय से अधः कर्म रूप परिणत हो जाय अर्थात् उसे अपने लिये बनाया हुआ समझले तो फिर वह मुनि सदा कर्मबंध ही करता रहता है ॥३४॥ यदि वही मुनि मन वचन काय से शुद्ध होकर तथा आलस को छोड़ कर शुद्ध आहार को ढूंढ़ता है तो फिर कहीं पर अधः कर्म होने पर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूंढ़ने से अधः कर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु के कर्मबंध करने वाला नहीं हो सकता ॥३५॥ आगे भोजन का समय बतलाते हैं। सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्य के अस्त होने से तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है इसमें भी मध्य वा दोपहर के समय की सामायिक काल की कम से कम तीन घड़ी छोड़ देनी चाहिये ॥३६॥ बाकी का जो आहार का

तथैवाशन कालस्य मध्ये प्रोत्कृष्ठतो जिनै. । भिक्षा कालो मतो योग्यो मुहूर्तैकप्रमाणकः ॥३७॥ योगिनां द्विमुहूर्तप्रमाणो मध्यम एव च । जघन्यं त्रिमुहूर्तप्रमो भिक्षाकाल एवहि ॥३८॥ घटिकाद्वयहीने मध्याह्नकाले प्रयत्नतः । स्वाध्यायमपि संहृत्य कृत्वा श्री देववन्दनाम् ॥३९॥ भिक्षा वेलां परिज्ञाय कुंडिका पिच्छिके यतिः । गृहीत्वा कायसंस्थित्यै निर्याति स्वाश्रमाच्छनै. ॥४०॥ गुप्तिश्च-समितीः सर्वा व्रतमूलगुणान् परान् । रक्षंश्चरति मार्गे म मनोवाक्कायकर्मभिः ॥४१॥ भावयस्त्रिकसंवेगं देहभोग भवादिषु । जिनाज्ञां पालयन् सम्यगनवस्थां निजेच्छया ॥४२॥ मिथ्यात्वाराधनामात्मनाशं दूरात्परित्यजन् । न कुर्वंश्चमनाक् यत्नात्सुसंयमविराधनाम् ॥४३॥ नाति द्रुतं न मंदं न विलंवितं पथि व्रजेत् । न तिष्ठेत्केनचित्साद्धं न कुर्याज्जल्पन यमी ॥४४॥ इदं च

समय है उसमें आहार का समय भगवान जिनेन्द्रदेव ने एक मुहूर्त उत्कृष्ट काल बतलाया है। तथा दो मुहूर्त मध्यम काल बतलाया है और तीन मुहूर्त जघन्य काल बतलाया है। (यह काल की मर्यादा सिद्ध भक्ति से लेकर भोजन के अंत तक समझनी चाहिये ।) ॥३७-३८॥ जब मध्यान्ह काल में (सामायिक के समय में) दो घड़ी बाकी रह जाय तब प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिये और फिर देव वंदना करनी चाहिये ॥३९॥ तदनंतर भिक्षा का समय जान कर मुनियों को पीछी कमंडलु लेकर शरीर को स्थिर रखने के लिये अर्थात् आहार के लिये अपने आश्रम से धीरे धीरे निकलना चाहिये ॥४०॥ समस्त गुप्ति, समिति, व्रत और मूलगुणों की मन वचन काय के द्वारा अच्छी तरह रक्षा करते हुए उन मुनियों को मार्ग में चलना चाहिये ॥४१॥ उस समय उन मुनियों को संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर तीनों प्रकार का संवेग धारण करना चाहिये, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को अच्छी तरह पालन करना चाहिए अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिका, मिथ्यात्व की आराधना का, और आत्मा के नाश होने को अकल्याण होने का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये तथा यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करते हुये संयम की विराधना किंचित मात्र भी नहीं करनी चाहिये। मार्ग में न धीरे चलना चाहिये न जल्दी चलना चाहिए, न ठहरना चाहिये, न खड़े होना चाहिये और न किसी के साथ बात चीत करनी चाहिये। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार चर्या

धनितो - गेह मिदं हि निर्धनस्य भो । इति जातु न संकल्पं हृदि धत्ते जितेन्द्रियः ॥४५॥ गृहपंक्त्या क्रमेणासौ प्रविशेच्छ्रावकालयम् । अन्ये भिक्षाचरा यावदायान्ति तावदेव हि ॥४६॥ अप्रति ग्राहितस्तस्मान्निर्गच्छेद् द्रुतमात्मवान् । विधिना वा प्रतिग्राहितस्तिष्ठेद् योग्य भूतले ॥४७॥ स्वांघ्रि भोजनदातॄणां स्थित्यै निरीक्ष्य सद्धराम् । त्रस जीवादिसंत्यक्तां कायस्थित्यर्थमात्मवान् ॥४८॥ पादयोरंतरं कृत्वा चतुरंगुलसंमितम् । निश्छिद्रं पाणिपात्रं विधाय तिष्ठेत्सुसंयतः ॥४९॥ सिद्धभक्तिं ततः कुर्यान्निष्पापं प्रासुकाशनम् । विधिना दीयमानं स प्रतीच्छेत् क्षुद्विहानये ॥ ५० ॥ यथागतं तदन्नं स सरसं वा रसातिगम् । स्वादं त्यक्त्वा भजेद्गोचाराटि

करनी चाहिये ॥४२–४४॥ उन जितेन्द्रिय मुनियों को, "यह किसी धनी का घर है अथवा यह किसी निधन का घर है" ऐसा संकल्प अपने हृदय में कभी नहीं करना चाहिये ॥४५॥ उन मुनियों को घरों की पंक्ति के अनुक्रम से ही श्रावकों के घर प्रवेश करना चाहिये और वहीं तक जाना चाहिये जहाँ तक अन्य साधारण भिक्षुक जाते हों ॥४६॥ यदि वहाँ पर किसी ने प्रतिग्रहण न किया हो तो आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को वहाँ से शीघ्र ही निकल जाना चाहिये । यदि किसी ने विधि पूर्वक प्रतिग्रहण कर लिया हो तो उनको अपने योग्य पृथ्वी पर खड़े हो जाना चाहिये ॥४७॥ तदनंतर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को आहार करने के लिये उस पृथ्वी को देखना चाहिये कि वहाँ पर अपने खड़े होने को और दाताओं के खड़े होने को स्थान है वा नहीं और वह पृथ्वी त्रस जीवों से रहित है वा नहीं ॥४८॥ फिर उन मुनियों को अपने दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रख कर खड़ा होना चाहिये और अपने दोनों करपात्रों को छिद्र रहित बना लेना चाहिये ॥४९॥ तदनंतर उन मुनियों को सिद्ध भक्ति करनी चाहिये और फिर क्षुधा वेदना को दूर करने के लिये विधि पूर्वक दिये हुये पापरहित प्रासुक आहार को ग्रहण करना चाहिये ॥५०॥ दाता के द्वारा दिया हुआ जो अन्न सरस हो वा नीरस हो उन मुनियों को अपना स्वाद छोड़ कर ग्रहण कर लेना चाहिये । उन मुनियों को खड़े होकर आहार लेना चाहिये और गोचार आदि पाँच प्रकार की वृत्ति पूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिये ॥५१॥ पहला गोचार दूसरा

पंचविधं स्थित ॥ ५१ ॥ गोचारः प्रथमो भेदो परोक्षम्रक्षणाह्वयः । तृतीय उदराग्निप्रशमनाख्यश्चतुर्थकः ॥५२॥ भ्रमराहारनामाथ श्वभ्रपूरणसंज्ञकः । एतैः पंचविधैरत्र भेदै भुंक्तेशनं यतिः ॥५३॥ यथोपनीयमानं तृणादिकं दिव्ययोषिता । गौश्चाभ्यवहरत्यत्र न तदंग निरीक्ष्यते ॥ ५४ ॥ तथालंकार धारिण्या दिव्य नार्योप ढौकितम् । पिंड गृह्णाति सद्योगी त्तस्या रूपं न पश्यति ॥ ५५ ॥ अथवा गौर्यथा नानातृण नीरादि संचयम् । न सर्वं मीहते किंतु यथालब्धं भजेत्तदा ॥ ५६ ॥ तथान्नरस सुस्वाद्व्यंजनादिसमीहते । नैकी कृतं मुनिः किंतु यथालब्धं भुनक्ति तत् ॥५७॥ स्निग्धेन केनचिद् यद्वदक्षलेपं वि... भोः । नयेद् देशांतरं वैश्य. शकटीं रत्नपूरिताम् ॥५८॥ गुणरत्नभृतां तद्वच्छरीर शकटीं मुनिः । स्वल्पा... णेनास्मात्प्रापयेच्छिवपत्तनम् ॥५९॥ समुत्थितं यथा वन्हिं भांडागारे भृते वणिक् । रत्नाद्यैः शमयेच्छीघ्रं शुच्यशुच्यादिवारिणा ॥ ६० ॥ तथोत्थितं क्षुधावन्हि

अक्षमृक्षण, तीसरा उदराग्निप्रशमन चौथा भ्रमराहार और पाँचवाँ श्वभ्रपूरण इस प्रकार पाँच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं ॥५२–५३॥ जिस प्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गाय को घास भुस डालने आती है तो वह गाय उस घास भुस को ही खाने लगती है वह गाय उस सुन्दर स्त्री के शरीर को नहीं देखती, इसी प्रकार वस्त्राभूषणों को धारण करने वाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिये हुये आहार को श्रेष्ठ मुनिराज ग्रहण कर लेते हैं परंतु उसके रूप को नहीं देखते ॥५४–५५॥ अथवा जिस प्रकार गाय अनेक प्रकार के घास भुस को वा पानी को चाहती नहीं किंतु जो सामने आजाता है उसी को खा लेती है उसी प्रकार मुनिराज भी अन्न रस स्वादिष्ट व्यंजन आदि किसी की इच्छा नहीं करते किंतु जो कुछ दाता दे देता है उसे इकट्ठा कर खा लेते हैं। इसको गोचार वृत्ति कहते हैं ॥५६–५७॥ जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी को पहियों की धुरी में थोड़ी सी चिकनाई लगा कर देशांतर में ले जाता है उसी प्रकार मुनिराज भी गुणरूपी रत्नों से भरी हुई इस शरीररूपी गाड़ी को चिकनाई के समान थोड़ा सा आहार देकर इस आत्मा को मोक्ष नगर तक पहुँचा देते हैं। इसको अक्षमृक्षण वृत्ति कहते हैं ॥५८–५९॥ जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नादिक से भरे हुए भंडागार में (भंडारे में) अग्नि के लग जाने पर तथा उसकी ज्वाला बढ़ जाने

मुदरे शमयेद्धर्मा । सरसेतर भक्तेन दृगादि-रत्न हेतवे ॥६१॥ यथा स्वगेह मध्यस्थं गृही गर्तं प्रपूरयेत् । येन केनोपनीतेन कर्तवारेण नान्यथा ॥६२॥ तथोदर गर्तं श्वभ्रं पूरयेत्संयमी कचित् । यादृक् तादृक् विधान्नेन नच पिष्टाशनादिना ॥६३॥ भ्रमरोत्र यथा पद्माद् गंधं गृह्णाति तद्भवम् । घ्राणेन न मनाक् तस्य बाधां जनयति स्फुटम् ॥६४॥ तथा हरित चाहारं दत्तं दातृजनैर्यतिः । न मनाक् पीडयेद् दातॄन जात्वलाभाल्पलाभतः ॥६५॥ इति पंचविधाहारं भजन् योगी कचित्त्यजेत् । द्वात्रिंशदंतरायाणामन्तरायागते सति ॥६६॥ काकोमेध्यं तथा छर्दि रोधनं रुधिरं ततः । अश्रुपाताभिधो जान्वधः परामर्श संज्ञकः ॥६७॥ अन्तरायस्ततोजान परिव्यतिक्रमाह्वयः । नाभ्यधो निर्गमनाख्यः स्वप्रत्याख्यान सेवनात् ॥६८॥ तथा जीववधः काकादि पिंडहरणाभिध. । पिंडस्यपतनं

पर शीघ्र शुद्ध वा अशुद्ध पानी से उसे बुझा देता है उसी प्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा करने के लिये अपने पेट में बढ़ी हुई क्षुधा रूपी वन्हि को सरस वा नीरस आहार लेकर शीघ्र ही बुझा देते हैं इसको उदराग्निप्रशमन वृत्ति कहते हैं ॥६०—६१॥ जिस प्रकार कोई गृहस्थ अपने घर के मध्य के गड्ढे को किसी भी कूड़े कर्कट से भर देता है उसके लिए अच्छी मिट्टी की तजवीज नहीं करता उसी प्रकार मुनिराज भी अपने पेट के गड्ढे को जैसा कुछ मिल गया उसी अन्न से भर लेते हैं उसको भरने के लिए मिष्ट भोजन की तलाश नहीं करते। इसको श्वभ्रपूरण वृत्ति कहते हैं ॥६२—६३॥ जिस प्रकार भ्रमर अपनी नासिका के द्वारा कमल से गंध को ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचितमात्र भी बाधा नहीं देता उसी प्रकार मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेते हैं परंतु चाहे उन्हें आहार मिले वा न मिले अथवा थोड़ा ही मिले तो भी वे मुनिराज किसी भी दाता को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं देते हैं। इसको भ्रामरी वृत्ति कहते हैं ॥६४—६५॥ इस प्रकार वे मुनिराज पाँच प्रकार के आहार को ग्रहण करते हैं यदि उस समय बत्तीस अंतरायों में से कोई अंतराय आजाय तो उस आहार को भी छोड़ देते हैं ॥६६॥ काक १ अमेध्य २ छर्दि ३ रोधन ४ रुधिर ५ अश्रुपात ६ जान्वधः परामर्श ७ जानुपरि व्यति क्रम ८ नाभ्यधो निर्गमन ९ प्रत्याख्यात सेवन १० जीव वध ११ काकादि पिंडहरण १२ हस्तात् पिंडपतन १३ पाणिपात्रे जंतुवध १४

हस्तात्पाणौ जन्तुवधस्ततः ॥६९॥ मांसादि दर्शनं चोपसर्गः पादद्वयान्तरे । अजेत्पंचेन्द्रियो जीवः संपातो भाजनस्य च ॥७०॥ उच्चार प्रस्रवणं चाभोज्यगेहप्रवेशनम् । मूर्च्छाया पतनं चोपवेशनं दष्टनामकः ॥७१॥ भूमिसस्पर्शनामाथ निष्ठीवन समाह्वय. । उदरा त्सयतस्यैव क्रमिनिर्गमन ततः ॥७२॥ अदत्त ग्रहण शस्त्रैः प्रहारो ग्रामदाहक । पादेन ग्रहणं किंचि त्वस्तु भूमेः करेण च ॥७३॥ अन्तराया इमे ज्ञेया द्वात्रिंशत्सख्यका मुनेः । अलाभ हेतवोन्नादौ वक्ष्यमाणा. पृथक् पृथक् ॥७४॥ स्थितस्य गच्छतो चोपरि व्युत्सर्गं प्रकुर्वते । काकाद्या पक्षिणोयं स काकान्तरायनामकः ॥७५॥ गच्छन्मार्गे स्वपादेनामेध्यं यदि यतिः स्पृशेत् । जायते वमनं स्वस्य योगिनोघविपाकतः ॥७६॥ यदि कश्चित्करोत्येव यमिनो धरणादिकम् । आत्मनो वा परस्यासौ रुधिरं यदि पश्यति ॥७७॥ दुखः शोकादिभि. स्वात्मनो श्रुपातो भवेद्यदि । अत्यक्तः परेषां वासन्नानां मरणादिभिः ॥७८॥

मांसदर्शन १५ उपसर्ग १६ पादान्तर पंचेन्द्रिय जीव गमन १७ भाजन संपात १८ उच्चार १९ प्रस्रवण २० अभोज्य गृह प्रवेश २१ मूर्छापतन २२ उपवेशन २३ दंष्ट २४ भूमिस्पर्श २५ निष्ठीवन २६ उदर कृमि निर्गमन २७ अदत्त ग्रहण २८ शस्त्रप्रहार २९ ग्रामदाह ३० पादेन ग्रहण ३१ हस्तेन ग्रहण ३२ । इस प्रकार मुनियों के भोजन के ये बत्तीस अंतराय हैं और आहार के लाभ में बाधा डालने वाले हैं। आगे इन सबका स्वरूप अलग अलग कहते हैं ॥६७–७४॥ मुनिराज चाहे आहार के लिये चल रहे हों अथवा बैठे हों उस समय यदि कोई कौवा वा बाज आदि पक्षी उनके ऊपर बीट कर दे तो उन मुनि के काक नाम का अंतराय होता है ॥७५॥ यदि मार्ग में चलते हुए मुनि के पैर में विष्ठा लग जाय वा विष्ठा का स्पर्श हो जाय तो उनके अमेध्य नाम का अंतराय होता है। यदि मुनि के पाप कर्म के उदय से वमन हो जाय तो छर्दि नाम का अंतराय होता है ॥७६॥ यदि कोई मुनि को रोक ले तो रोधन नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि अपने शरीर से निकले हुये अथवा दूसरे के शरीर से निकले हुए रुधिर को देखलें तो उनके रुधिर नाम का अंतराय होता है ॥७७॥ यदि दुःख वा शोकादिक के द्वारा मुनि के आँसू निकल आवें अथवा किसी आसन्न (नजदीकी) पुरुष के मरण हो जाने से रोने वाले दूसरों के आँसुओं को वे मुनि देख लेवें तो उनके अश्रुपात नामका

यदि जानोरधो भागे करोति स्पर्शनं मुनिः। व्यति क्रमं विधत्ते च जानोरुपरि कारणात् ॥७९॥ नाभेरधः शिरः कृत्वा, कुर्यान्निर्गमनं यतिः। मुने र्नियमितस्यैव वस्तुनो भक्षणं भवेत् ॥८०॥ आत्मनः पुरतोऽन्येन क्रियतेंगिवधोयदि। काकाद्या. पाणितः पिंडं योगिनोपहरन्ति च ॥८१॥ ग्रासमात्रं पतेद्हस्ताद्भुंजानस्य यतेर्यदि। म्रियते स्वयमागत्य पाणौ जतुश्च पापतः ॥८२॥ पश्येद्यदि प्रमादेन मांसादीन्संयतोऽशुभान्। योगिनो यदि जायेतोपसर्गो नृसुरादिजः ॥८३॥ पादयोरन्तरे गच्छेज्जीवः पंचेन्द्रियो मुनेः। पारिवेषकहस्ताद्वै भाजनं च

अंतराय होता है ॥७८॥ यदि वे मुनि जंघा के नीचे के भाग को स्पर्श कर लें तो उनके जान्वधः परामर्श नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि किसी कारण से जंघा के ऊपर व्यतिक्रम कर लें जंघा से ऊंची सीढ़ी पर इतनी ऊंची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़े तो उनके जानूपरिव्यतिक्रम नाम का अंतराय होता है ॥७९॥ यदि मुनि नाभि से नीचे अपना शिर कर के निकलें तो उनके नाभ्यधो निर्गमन नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि त्याग किए हुये पदार्थ को भक्षण कर लें तो उनके प्रत्याख्यात सेवन नाम का अंतराय होता है ॥८०॥ यदि कोई मनुष्य अपने सामने ही किसी जीव को मार डाले तो उन मुनियों के जीव वध नाम का अंतराय होता है। यदि काक आदि पक्षी मुनि के हाथ से आहार के पिंड को अपहरण कर ले तो उन मुनि के काकादि पिंडहरण नाम का अंतराय होता है ॥८१॥ यदि आहार करते हुए मुनि के हाथ से एक ग्रास के समान आहार गिर जाय तो उनके पिंडपतन नाम का अंतराय होता है। यदि पाप कर्म के उदय से कोई जीव स्वयं आकर मुनि के हाथ पर मर जाय तो उनके पाणिपात्रे जंतुवध नाम का अंतराय होता है ॥८२॥ यदि मुनि अपने प्रमाद से मांसादिक अशुभ पदार्थों को देख लें तो उनके मांसदर्शन नाम का अंतराय होता है, यदि उन मुनि के ऊपर कोई मनुष्य देव वा तिर्यंच उपसर्ग करे तो उनके उपसर्ग नाम का अंतराय होता है ॥८३॥ यदि मुनि के दोनों पैरों के मध्य में से कोई चूहा आदि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय तो उनके पदांतर पंचेन्द्रिय जीव गमन नाम का अंतराय होता है। यदि दान देने वाले के हाथ

पतेद्यदि ॥८४॥ स्रवेदुच्चार एवोदराच्च मूत्रादिक यते । प्रवेशो यदि जायेत चांडालादि गृहेस्य च ॥८५॥ मूर्च्छादिना पतेद्योगी कुर्याद्यद्युपवेशनम् । श्वादिभिर्यदि दष्टः स्यान्मुनिः स्वपापकर्मणा ॥८६॥ सिद्धभक्तौ कृतायां स्वहस्तेनासौ धरा स्पृशेत् । निष्ठीवनं विधत्ते वा क्षिपेत् श्लेष्मादिकं यमी ॥८७॥ निर्गच्छति स्वयं चास्योदरादेव कृमिर्वहिः । किंचिल्लोभेन गृह्णाति सोदत्तं परवस्तु च ॥८८॥ खड्गादिभिः प्रहारः स्या त्स्वात्मनो वा परांगिनाम् । जायते गृह दाहश्च किंचिद् गृह्णाति सोंघ्रिणा ॥८९॥ यद्यादत्ते करेणासौ किंचिद्वस्तु महीतलात् ।

से कोई वर्तन गिर जाय तो उन मुनि के आहार में भाजन संपात नाम का अंतराय होता है ॥८४॥ यदि मुनि के उदर से मल निकल आवे तों उच्चार नाम का अंतराय होता है, यदि मूत्र निकल पड़े तो प्रस्रवण नाम का अंतराय होता है। यदि आहार के लिये फिरते हुये मुनि किसी चांडालादिक के घर में प्रवेश कर जाँय तो उनके अभोज्य गृह प्रवेश नाम का अंतराय होता है ॥८५॥ यदि आहार करते हुये मुनि मूर्च्छा आदि के कारण से गिर जाँय तो उनके पतन नाम का अंतराय होता है। यदि आहार करते हुये मुनि बैठ जाँय तो उनके उपवेशन नाम का अंतराय होता है। यदि पाप कर्म के उदय से कुत्ता आदि कोई जानवर काट ले तो उन मुनि के दंष्ट नाम का अंतराय होता है ॥८६॥ यदि मुनि सिद्धभक्ति करने के बाद अपने हाथ से पृथ्वी को स्पर्श कर लें तो उनके भूमिस्पर्शन नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि सिद्धभक्ति के बाद थूक दें अथवा कफ थूक दें तो उनके निष्ठीवन नाम का अंतराय होता है ॥८७॥ यदि मुनि के उदर से अपने आप कोई कीड़ा बाहर निकल आवे तो उदर कृमिनिर्गमन नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि किसी लोभ के कारण विना दिये हुये किसी परपदार्थ को ग्रहण करलें तो उनके अदत्तग्रहण नाम का अंतराय होता है ॥८८॥ यदि कोई मनुष्य उन मुनि पर तलवार आदि शस्त्र का प्रहार करे वा उनके सामने अन्य किसी मनुष्य पर प्रहार करे तो उन मुनि के शस्त्र प्रहार नाम का अंतराय होता है। यदि आहार के समय उसी गाँव के किसी घर में अग्नि लग जाय तो ग्राम दाह नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि अपने पैर से कोई वस्तु उठा कर ग्रहण कर लें तो उनके पादेन ग्रहण नाम का अंतराय होता है ॥८९॥ यदि वे

द्वात्रिंश त्संख्यका एते अन्तराया मतामुनेः ॥९०॥ अन्येपि वहवः सन्ति भोजनालाभकारिणः। चांडाल स्पर्श साधर्मिक मृत्यादय एव भोः ॥९१॥ एषामन्यतमः कश्चिदंतरायः स्वकर्मणा। यन्यायाति तदाहारमर्द्ध मुक्तं त्यजेयमी ॥९२॥ ततोसौ संयतो ह्येनानन्तरायान् प्रपालयन्। स्वादुं त्यक्त्वा चर्यां कृत्वा प्रयाति स्वाश्रमं द्रुतम् ॥९३॥ न तत्रोपविशेद योगी ग्लान्यादिकारणं विना। जल्पनं हसनं वा न कुर्याद् योपिज्जनादिभिः ॥९४॥ किंतु स्वगुरुमासाद्य नत्वा भक्त्या चतुर्विधम्। प्रत्याख्यानं स गृह्णीयात्स्वशक्त्या कर्महानये ॥९५॥ ततोतीचार शुध्यर्थं निंदा गर्हादिपूर्वकम्। मुनि कुर्याद्धि गोचारी प्रतिक्रमणमंजसा ॥९६॥ पुनः कर्मक्षयायासौ

मुनि अपने हाथ से पृथ्वी पर से कोई वस्तु उठा लें तो उनके हस्तेनग्रहण नाम का अंतराय होता है। इस प्रकार मुनियों के आहार को निषेध करने वाले ये वत्तीस अन्तराय माने हैं ॥९०॥ इनके सिवाय चांडाल का स्पर्श हो जाना किसी साधर्मी की मृत्यु हो जाना आदि और भी भोजन में वाधा डालने वाले बहुत से अन्तराय हैं ॥९१॥ अपने कर्म के उदय से इन अन्तरायों में से यदि कोई भी अन्तराय आजाय तो मुनियों को उसके वाद आहार का त्याग कर देना चाहिये आधे खाये हुये आहार का भी त्याग कर देना चाहिये ॥९२॥ तदनंतर उन मुनियो को इन अन्तरायों का पालन करते हुये स्वाद को छोड़ कर चर्या करनी चाहिये और चर्या कर के शीघ्र ही अपने आश्रम में आजाना चाहिये ॥९३॥ मुनियो को वहाँ पर ग्लानि आदि किसी कारण के विना बैठना नही चाहिये। तथा स्त्री वा पुरुषों के साथ वात चीत वा हँसी कभी नहीं करनी चाहिये ॥९४॥ किंतु अपने गुरु के पास आकर भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये और कर्मों को नाश करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥९५॥ तदनंतर उन मुनियों को उस चर्या में लगे हुए अतिचारो को शुद्ध करने के लिये निंदा और गर्हा पूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण (आहार मे लगे हुये दोषो की क्षमापणा) करना चाहिये ॥९६॥ इसके वाद उन मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये निरंतर शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये और परमेष्ठियों का सारभूत सर्वोत्कृष्ट प्रशस्त

शास्त्राभ्यासं निरन्तरम । ध्यान वा परमं सारं प्रशस्त परमेष्ठिनाम् ॥६७॥ करोति तत्त्वचिन्ता च भावना स्वपरात्मन. । निर्विकल्प मनः कृत्वा सवेग धर्मवासितम ॥६८॥ न दिवाशयन कुर्याद् विकथा नाघकारिणीम । लाभालाभादि पृष्टोपि वदेज्जातु न सयमी ॥६६॥ वहुनोक्तेन किं साध्यं धर्मध्यान विना यति. । एका कालकलां जातु गमयेन्नाति दुर्लभाम् ॥३००॥ यतो येनपराहार गृहीत्वा कुर्वते शठा. । चतुर्धा विकथां तेषां वृथा दीक्षाघसंचयात् ॥१॥ वा ते प्रमादिनो नून पराहारादि भक्षणात् । विना रत्नत्रयं दीना भवन्ति भार वाहकाः ॥२॥ इति मत्वा न कर्तव्यः प्रमादो विकथादिज । किंतु स्वमुक्ति ससिध्यै स्थातव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥३॥ इत्येषाशन शुद्धिश्चानुष्ठेया यत्नतोन्वहम् । विश्वधर्मखनी सारा वृत्तमूला गुणाकरा ॥४॥ यतो

ध्यान धारण करना चाहिये ॥६७॥ उन मुनियों को अपने मन के समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग कर देना चाहिये तथा मन को संवेग और धर्म मे स्थिर कर तत्त्वों का चिंतवन तथा अपने आत्मा की भावनाओं का और अन्य आत्माओं की भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ॥६८॥ मुनियों को न तो दिन में कभी सोना चाहिये, न पाप उत्पन्न करने वाली विकथायें कहनी चाहिये तथा पूछने पर भी किसी के लाभ वा अलाभ को नहीं वतलाना चाहिये ॥६६॥ बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को विना धर्मध्यान के अत्यंत दुर्लभ ऐसी काल की एक घड़ी भी नहीं वितानी चाहिये ॥३००॥ इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी मुनि दूसरे का आहार ग्रहण कर के भी चारो प्रकार की विकथा में लगे रहते हैं उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है, क्योंकि विकथाओं के कहने से उनके निरंतर पापों का संचय होता रहता है ॥१॥ अथवा यों कहना चाहिये कि दूसरों का आहार खा खाकर वे प्रमादी वन गए हैं और रत्नत्रय के विना वे दीन केवल भार वहन करने वाले वा बोझा ढोने वाले हैं ॥२॥ यही समझ कर विकथादिकों से उत्पन्न हुआ प्रमाद मुनियों को कभी नहीं करना चाहिये किंतु मोक्ष की इच्छा करने वाले उन मुनियों को स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥३॥ इस प्रकार कही हुई यह भोजन शुद्धि मुनियों को प्रयत्न पूर्वक प्रति दिन करनी चाहिये । क्योंकि यह भोजन शुद्धि समस्त धर्मों की खानि है, सारभूत है,

बहूपवासाश्च योगो आतपनादयः । अधः कर्म भुजां व्यर्थाःस्युः षडंगि विघातनात् ॥५॥ यथात्र व्यवहाराख्या शुद्धिः सागारिणां परा । भिक्षा शुद्धि स्तथा सारा योगिनां शुद्धिकारिणी ॥६॥ वरं प्रत्यह माहारं निरवद्यं तपस्विनाम् । न च पक्षोपवासाद्यै मदोष पारणं क्वचित् ॥७॥ विज्ञायेति प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धिः शिवंकरा । गुणरत्नखनी नित्यं विधेया भव भीरुभिः ॥८॥ सकल चरणमूलां दुःख दावाम्बु वृष्टिं जिन मुनिगण सेव्यां स्वाक्ष कर्मारि शस्त्रीम् । परम सुगुण खानिं स्वर्गमोक्ष द्रुधात्रीं भजत परमयत्नादेषणा शुद्धिमार्याः ॥९॥ ज्ञानसंयमशौचोप करणानां प्रयत्नतः । यत्संस्तरादि वस्तूनां ग्रहणं क्रियते बुधैः ॥१०॥ निक्षेपणं निरीक्ष्यो

चारित्र की जड़ है और गुणों की खानि है ॥४॥ जो मुनि अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं उनके छहों प्रकार के जीवों के घात करने का पाप लगता है अतएव उनके अनेक उपवास, और आतापन आदि योग सब व्यर्थ हो जाते हैं ॥५॥ जिस प्रकार गृहस्थों की उत्कृष्टि शुद्धि व्यवहार शुद्धि कहलाती है उसी प्रकार मुनियों को शुद्धि करने वाली सारभूत भिक्षा शुद्धि समझनी चाहिये ॥६॥ मुनियों को निर्दोष आहार प्रति दिन कर लेना अच्छा परंतु पंद्रह दिन वा महीने भर का उपवास कर के पारणा के दिन सदोष आहार करना अच्छा नहीं ॥७॥ यही समझ कर संसार से भयभीत रहने वाले मुनियों को गुणरूपी रत्नों की खानि और मोक्ष प्रदान करने वाली भिक्षा की शुद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिये ॥८॥ इस प्रकार यह एषणा शुद्धि समस्त चारित्र की मूलकारण है, दुःख रूपी दावानल अग्नि के लिये पानी की वर्षा है, भगवान जिनेन्द्रदेव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते हैं इसको पालन करते हैं, अपनी इन्द्रियों और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिये यह भिक्षा शुद्धि एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणों की खानि है और स्वर्ग मोक्ष रूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिये धाय के समान है । अतएव मुनियों को परम प्रयत्न पूर्वक इस एषणा शुद्धि को धारण करना चाहिये ॥९॥ बुद्धिमान मुनि ज्ञान के उपकरणों को, संयम के उपकरणों को, शौच के उपकरणों को और सोने बैठने के साधनों को नेत्रों से अच्छी तरह देख कर तथा कोमल पीछी से शोध कर प्रयत्न

च्चेश्चत्तुर्भ्या प्रतिलेख्यवै । मृदु पिच्छिकयादान निक्षेपा समितिश्च सा ॥११॥ पुस्तकाद्युपधीन् साधुः कार्यार्थं चक्षुषा मुहु । विलोक्य प्रतिलेख्यात्रगृह्णीयात्स्थापयेत्तथा ॥१२॥ सस्तर फलक वान्योपधिं रात्रौ न चालयेत् । सति कार्येपि योगीन्द्रो जीववाधाधिशंकया ॥१३॥ यतो रात्रौ न दृश्यन्ते सूक्ष्माः स्थूलाश्चजंतव' । तस्मात्तच्चालनेनाशु ध्रुवं तेषां विराधना ॥१४॥ दिवसे वा प्रदेशे वह्वंधकारान्विते वुधै· । अदृष्टिगोचरे कार्यं वस्तूनां स्थापनादि न ॥१५॥ पट्टके फलके ऽन्यत्र वाचले शयनासनम् । जाववाधाकर जातु न कर्तव्यं व्रतार्थिभिः ॥१६॥ धर्मोपकरणादीनां निंद्यमप्रतिलेखनम् । आदान स्थापना काले तथा दुष्प्रति लेखनम् ॥१७॥ महासंयम संसिध्यै सहसा प्रतिलेखनम् । अयत्न मनसा जातु न कार्यं सयतैः क्वचित् ॥१८॥ किंतु कुर्यात्प्रयत्नेन ग्रहण स्थापना–

पूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रयत्न पूर्वक ही रखते हैं उनकी इस क्रिया को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं ॥१०–११॥ साधुओं को पुस्तक आदि ज्ञान के समस्त साधन अपने कार्य के लिये नेत्रों से अच्छी तरह देख कर तथा पीछी से शोध कर ग्रहण करना चाहिये और इसी प्रकार देख शोध कर रखना चाहिये ॥१२॥ मुनियों को आवश्यक कार्य होने पर भी अनेक जीवों की वाधा के डर से रात्रि में अपने सोने बैठने के पाट को वा अन्य संस्तर को कभी हिलाना व चलाना नहीं चाहिये ॥१३॥ क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म वा स्थूल कोई भी जीव दिखाई नहीं देते अतएव उस पाट व संस्तर के हिलाने चलाने में वहुत शीघ्र उन जीवों की विराधना हो जाती है ॥१४॥ यदि दिन भी हो और जिस किसी अँधेरे स्थान में वहुत अंधेरा हो कुछ दिखाई न देता हो उसमें भी किसी पदार्थ को नहीं रखना चाहिये ॥१५॥ व्रती मुनियों को हिलने डुलने वाले तखते पर वा पाट पर न कभी सोना चाहिये और न बैठना चाहिये क्योंकि ऐसे आसन पर सोने वैठने से अनेक जीवों की वाधा हो जाती है ॥१६॥ मुनियों को धर्मोपकरणों के उठाने वा रखने में निदनीय अप्रतिलेखन (पीछी से शुद्ध नहीं करना नहीं देखना आदि) कभी नहीं करना चाहिये तथा दुष्प्रतिलेखन (अच्छी तरह न देखना न अच्छी तरह पीछी से शोधना यों ही इधर उधर पीछी मार देना) भी नहीं करना चाहिये तथा महा संयम की सिद्धि के लिये सहसा प्रतिलेखन (जल्दी जल्दी देख शोध लेना) भी नहीं करना चाहिये और

दिकम् । शनैः स प्रतिलेख्येद्य स्त्रोपधीनां मुहुर्मुहुः ॥१९॥ इमां ये समितिं मारां निष्प्रमादा भजंति वै । तेषां माद्यं व्रतं पूर्णं व्रतानां मूलकारणम् ॥२०॥ विनेमां समितिं योत्र शिथिला विहरन्ति मो..। घ्नन्ति स्थूलांगि राशीस्ते का कथा सूक्ष्मदेहिनाम् ॥२१॥ मत्वेति मुनयो नित्यं पालयन्तु दयाप्तये। इमां सुसमितिं यत्नाद्दर्शन प्रति लेखनैः ॥२२॥ वृषभमुनि निषेव्यां स्वर्गसोपानपंक्तिं शिवशुभगति वीथीं निर्जरा संवरस्य । भुवि सकल विधीनां हेतुभूतां मुनीन्द्राः प्रभजत समितिं चादान निक्षेपणाख्याम् ॥२३॥ एकान्ते निर्जने दूरे संवृते दृष्ट्य-

---

बिना प्रयत्न तथा बिना मन के भी कभी प्रतिलेखन नहीं करना चाहिये ॥१७-१८॥ किंतु अपने धर्मोपकरणों का ग्रहण और स्थापन प्रयत्न पूर्वक बार बार देख कर और बार बार पीछी से शोध कर धीरे धीरे करना चाहिये ॥१९॥ जो मुनिराज प्रमाद रहित होकर इस आदान निक्षेपण नाम की सारभूत समिति को पालन करते हैं उनके समस्त व्रतों का मूल कारण ऐसा पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है ॥२०॥ इस आदान निक्षेपण समिति को पालन किये बिना जो शिथिलाचारी मुनि विहार करते हैं वे अवश्य ही अनेक स्थूल जीवों के समूह का नाश करते हैं फिर भला सूक्ष्म जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् सूक्ष्म जीवों का तो बहुतों का नाश होता है ॥२१॥ यही समझ कर मुनियों को जीवों की दया पालन करने के लिये अच्छी तरह देख कर और अच्छी तरह पीछी से शोध कर प्रयत्न पूर्वक इस आदान निक्षेपण समिति को पालन करना चाहिये ॥२२॥ इस आदान निक्षेपण समिति को सर्वोत्कृष्ट मुनि भी पालन करते हैं, यह स्वर्ग के लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष का मार्ग है तथा शुभगतियों का मार्ग है और कर्मों की निर्जरा की तथा संवर की समस्त विधियों का कारण है। अतएव हे मुनिराजो ! आप लोग भी इस आदान निक्षेपण समिति का पालन करो ॥२३॥ मुनि लोग जो मल मूत्र करते हैं वह ऐसे स्थान में करते हैं जो एकांत हो, निर्जन हो, दूर हो, ढका हो अर्थात् आड़ में हो, दृष्टि के अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हो, जो अचित्त हो, विरोध रहित हो अर्थात् जहाँ किसी की रोक टोक न हो और जिसमें जीव जंतु न हों

गोचरे । विलादि रहितेऽचित्तेऽविरोधे जन्तुवर्जिते ॥२४॥ प्रदेशे क्रियते यत्स्वोचार प्रस्रवणादिकम् । दृष्टिपूर्वं प्रतिष्ठापनिका सा समितिर्मता ॥२५॥ मलमूत्रादिक सर्वं श्लेष्मनिष्ठीवनादि च । प्रासुकं भूतल वीक्ष्य प्रतिलेख्य क्षिपेद्यमी ॥२६॥ क्षपायां दिवसे वात्र प्रदेशे दृष्टिगोचरे । कायोद्भव मलं सर्वं क्षिपेज्जातु न संयमी ॥ २७ ॥ श्लेष्मादिकं परिक्षिप्य धरादौ वालुकादिभि. । छादयन्तु बुधा यत्नाज्जन्तुपातादिशंकया ॥२८॥ किमत्र वहुनोक्तेन सर्वमन्तर्मलोज्झनम् । अवष्टम्भं च कुड्यादौ वपु.कंडूयनादिकम् ॥ २९ ॥ अन्यद्वा त्यजनं किंचिल्लोकन प्रतिलेखनै । विना जातु न कर्तव्यं संवराय मुमुक्षुभि ॥ ३० ॥ यतो येन्तर्मल मूढा क्षिपन्ति यत्नतो विना । त्रसांस्ते मारयन्त्यत्र का वार्ता स्थावरांगिनाम् ॥३१॥ मत्वेति सर्व यत्नेनात्रेमां समितिमूर्जिताम् ।

ऐसे स्थान में देख शोध कर वे मुनिराज मल मूत्रादिक करते हैं इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं ॥२४–२५॥ मुनियों को प्रासुक भूमि देख कर और पीछी से शुद्ध कर फिर उस पर मल मूत्र कफ थूक नाक का मल आदि डालना चाहिये ॥२६॥ चाहे दिन हो और चाहे रात हो जो प्रदेश दृष्टि के गोचर नहीं होता जो स्थान दिखाई नहीं देता उस स्थान पर मुनियों को अपने शरीर का कोई भी मल नहीं डालना चाहिये ॥२७॥ बुद्धिमान संयमियों को चाहिये कि वे पृथ्वी पर कफ वा नाक का मैल डाल कर उसके ऊपर बालू डाल दें जिससे कि उसमें किसी जीव के पड़ कर मर जाने की शंका न रहे ॥२८॥ बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमियों को जो कुछ करना हो दूर वा समीप में मल मूत्र कफ आदि का त्याग करना हो किसी दीवाल से शरीर खुजलाना हो अथवा और कोई पदार्थ रखना हो इत्यादि सब काम बिना देखे और बिना शोधे बिना पीछी से शुद्ध किये कभी नहीं करने चाहिये क्योंकि देख शोध कर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है अन्यथा नहीं ॥२९–३०॥ इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी संयमी बिना यत्नाचार के मल मूत्र का त्याग करते हैं वे अवश्य ही त्रस जीवों का घात करते हैं फिर भला स्थावर काय के जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् उनका घात तो होता ही है ॥३१॥ यही समझ कर बुद्धिमान संयमियों को मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न के साथ नेत्रों से अच्छी तरह

पालयन्तु विदो योगशुध्या दृक्प्रतिलेखनैः ॥३२॥ जिनवर मुख जातां धर्मरत्नादि खानिं गणधर मुनि सेव्यां स्वर्गसोपानमालाम् । शिवमुख फलवल्लीं मुक्तिकामा भजन्तु समिति मपमलां यत्नात्प्रतिष्ठापनाख्याम् ॥३३॥ एताः पंच शुभाकराः सुसमितीः स्वर्मोक्षसौख्यप्रदा. । अन्तातीत गुणाकरा भुवि महा सर्वव्रताम्बाः पराः । ये यत्नेन सुपालयन्ति निपुणास्तेषां च पचैवस्तुः सम्पूर्णानि महाव्रतानि सुधियां स्वमुक्तिशर्मादयः ॥३४॥ आसां ये शिथिलाः प्रपालन विधौ निंद्यंप्रमादं सदा कुर्वन्त्यत्र दयादयो व्रतगुणास्तेषां प्रणश्यन्ति भोः । तन्नाशाच्च महाघमात्महतकं तत्पाकतो दुर्गतौ घोरं स्याद्सुख ह्यमुत्र परमं चांतातिगासंसृतिः ॥३५॥ मत्वेतीह बुधाः प्रयत्नमनसा स्वर्मोक्षसंसिद्धये कारुण्याग्निगुणाय मुक्तिजननीः कृत्स्नव्रताम्बाः शुभा । तीर्थेशाग्निविभूतिदाश्च

देख कर तथा पीछी से शोध कर इस सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते रहना चाहिये ॥३२॥ यह प्रतिष्ठापन समिति भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, धर्मरूपी रत्नों की खानि है, समस्त गणधर देव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते हैं इसको पालते हैं, यह स्वर्ग के लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष सुखरूपी फलों की बेल है और समस्त दोषों से रहित है ऐसी यह प्रतिष्ठापना समिति मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक पालन करनी चाहिये ॥३३॥ ये ऊपर कही हुई पाँचों समितियाँ कल्याण करने वाली हैं, स्वर्ग मोक्ष के सुख देने वाली हैं अनंत गुणों की खानि हैं और समस्त महाव्रतों की जननी हैं। जो बुद्धिमान मुनि प्रयत्न पूर्वक इन उत्कृष्ट समितियों का पालन करते हैं उन चतुर पुरुषों के पाँचों महाव्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं तथा स्वर्ग मोक्ष के पूर्ण सुख और कल्याण प्राप्त होते हैं ॥३४॥ जो मुनि इन पाँचों समितियों के पालन करने में शिथिलता करते हैं तथा निंदनीय प्रमाद करते हैं उनके दया आदि व्रत और गुण सब नष्ट हो जाते हैं। व्रतों के नष्ट होने से आत्मा का घात करने वाला महा पाप उत्पन्न होता है, उस महा पाप के उदय से परलोक में दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं उन दुर्गतियों में महा घोर दुःख उत्पन्न होते हैं और अनंत संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है ॥३५॥ ये पाँचों समितियाँ मोक्ष की जननी है, समस्त व्रतों की माता हैं, कल्याण करने वाली हैं तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की उत्तम विभूतियों को देने वाली हैं समस्त पापों

समिती. पंचैव पापातिगा' दृग्रत्नादि खनी भवारिमथनीः मंपालयन्नूत्तमाः ॥३६॥ ये पालयन्ति निपुणा' समिती' समस्ताः आचार्य पाठक सुसाधुमुनीन्द्र वर्गा. । वाह्यान्तरोपधिविधि रक्तमनोंग वाक्या स्तेपां गुणाय चरणान् प्रणमामि नित्यम् ॥ ३७ ॥

इति मूलाचार प्रदीपकाख्ये भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते अष्टाविंशति
मूलगुण व्याख्याने पंचसमिति वर्णनो नाम द्वितीयोधिकार:

से रहित हैं सम्यग्दर्शनादिक रत्नों की खानि हैं और संसार रूपी शत्रुओं को नाश करने वाली हैं यही समझ कर बुद्धिमान् मुनियों को स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने के लिये और करुणा आदि गुणों को धारण करने के लिये अपने मन में अत्यन्त प्रयत्न कर के इन पाँचों उत्तम समितियों का पालन करते रहना चाहिये ॥३६॥ जो आचार्य उपाध्याय साधु वा मुनीन्द्र वर्ग अपने मन वचन काय से वाह्य और आभ्यंतर परिग्रहो का त्याग कर इन समस्त समितियों का पालन करते हैं उन समस्त चतुर आचार्य उपाध्याय साधुओं के गुण प्राप्त करने के लिये उनके चरण कमलों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥३३७॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीपक नाम के महा ग्रंथ मे अट्ठाईस मूलगुणों
के व्याख्यान में पाँचों समितियों का वर्णन करने वाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।



तृतीयोधिकारः ।



निर्जिताक्षफलाप्तांश्च जिनेन्द्रान् सिद्धिमाश्रितान् । हतपंचाक्षमातगान् साधुसिंहान् स्तुवेखिलान् ॥१॥ अथपंचाक्षरोधादीन् वक्ष्येमूलगुणान् परान् । विश्वर्द्धि गुणमूलांश्च स्वान्येषां सिद्धिशर्मणे ॥ २ ॥ चक्षुः श्रोत्रेंद्रियं घ्राणं जिह्वास्पर्शं इमानि वै । पंचेन्द्रियाणि जतूनां सर्वानर्थं कराण्यहो ॥ ३ ॥ अमीषां गच्छतां स्वस्व विषयेषु निरोधनम् । विधीयतेत्र यत्पंचेन्द्रियरोधाहि ते मलाः ॥ ४ ॥ सचित्ताचित्त मिश्राणां रूपाणां स्त्रीनरात्मनाम् ।

तीसरा अधिकार ।

जिन्होंने इन्द्रियों को जीतने का केवल ज्ञान रूपी फल प्राप्त कर लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूं तथा जिन्होंने आत्म सिद्धि प्राप्त कर ली है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति करता हूँ और पाँचों इन्द्रियों रूपी हाथियों को मारने के लिये सिह के समान समस्त साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ॥१॥ अब आगे पाँचो इन्द्रियों के निरोध करने रूप श्रेष्ठ मूलगुणों को कहते हैं ये गुण अपने और दूसरों के समस्त ऋद्धियों और गुणों के मूल हैं इसलिये मोक्ष सुख के लिये उनका निरूपण करता हूँ ॥२॥ चक्षुः श्रोत्र घ्राण जिह्वा और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और जीवों के समस्त अनर्थों को करने वाली हैं ॥३॥ ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषय ग्रहण करने के लिए जाती हैं उनको विषयों के प्रति न जाने देना उनका निरोध करना पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध कहलाता है ॥४॥ कोई रूप सचित्त होता है कोई अचित्त होता हैं और कोई मिश्र होता है तथा स्त्री पुरुषों के रूप गौर वर्ण

गौरादिवर्ण भेदानां दिव्यसंस्थान धारिणाम् ॥५॥ कलानृत्यादि युक्तानां रागाद्यैश्चानिरीक्षणम् । मुनीनां यत्स विज्ञेय श्चक्षुरोधो निरास्रव ॥६॥ नाना स्त्रीरूपसंस्थान सुश्रृंगार मुखादिकान् । वहून् नाटकभेदांश्च कला विज्ञान कौतुकान् ॥७॥ अनेक चित्र कर्माद्यान् रागोत्पत्ति करानपि । क्रीडा विनोद हास्यादीन् पश्येज्जातु न सयमी ॥८॥ द्रव्यकांचन रत्नादींश्चित्त व्यामोह कारिणः । नेपथ्य पट्टकूलाद्यान् न च पश्यन्ति योगिन. ॥९॥ भोगोपभोग वस्तूनि संज्ञा वृद्धि कारिण च । पवित्राण्यपवित्राणि नालोकयेद्यमी क्वचित् ॥१०॥ भूपसामन्त सैन्यादीन् रौद्रध्यान विधायिनः । कलि सग्राम सर्वांश्च विलोकयति नात्मवान् ॥११॥ कुदेव लिंगी पाषंडि मठविम्बानि भूतले । कुतीर्थाणि कुशास्त्राणि षडनायतनानि च ॥१२॥ मिथ्यात्ववर्द्धकान्येव स्थानानि

भी होते हैं तथा अन्य वर्ण भी होते हैं । दिव्य संस्थान को धारण करने वाले तथा कला नृत्य आदि से सुशोभित स्त्री पुरुषों के रूप को राग पूर्वक न देखना मुनियों का चक्षुनिरोध नाम का गुण कहलाता है । यह गुण भी आस्रव को रोकने वाला है ॥५–६॥ संयमी मुनियों को अनेक प्रकार की स्त्रियों के रूप, संस्थान, शृंगार वा मुख आदि अंगों को नही देखना चाहिये । अनेक प्रकार के नाटक कला, विज्ञान, कौतुक, राग उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के चित्र कर्म, क्रीडा, विनोद, हास्य कर्म आदि कभी नहीं देखने चाहिये ॥७–८॥ चित्त को मोहित करने वाले धन, सुवर्ण, रत्न, परदे के भीतर के पदार्थ, वस्त्र वा वस्त्र के किनारे आदि मुनियों को कभी नहीं देखना चाहिये ॥९॥ मुनियों को आहार भय मैथुन परिग्रह बढाने वाले भोगोपभोग के पवित्र वा अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिये ॥१०॥ आत्मज्ञ पुरुषों को रौद्रध्यान उत्पन्न करने वाले राजा सामंत और उनकी सेना को भी कभी नहीं देखना चाहिये तथा कलयुग के समस्त संग्रामों के देखने का भी त्याग कर देना चाहिये ॥११॥ सम्यग्दृष्टी पुरुषों को कुदेव, कुलिगी, पाखंडी, उनके मठ, उनके प्रतिबिंब, कुतीर्थ, कुशास्त्र, छहों अनायतन, आदि कभी नहीं देखने चाहिये । क्योंकि ये बहुत से स्थान मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले हैं । इसलिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न में मल उत्पन्न होने की शंका से डर कर ऐसे स्थान

प्रचुरान्यपि । पश्येज्जातु न सद्दृष्टि र्दृग्रत्न मलशंकया ॥ १३ ॥ धामशालप्रतोल्यादीन् स्थानान् रोग करान् वहून् । अन्यांश्च पत्तनादीन् स पश्येज्जातु न शुद्धये ॥ १४ ॥ ताननीहतवृत्यात्र कचिद्दृष्ट्वाघशंकया । रागभीत्याथवा योगी सहसाधोमुखो भवेत् ॥ १५ ॥ रागवुध्या न पश्येद्धि एतांल्लोके चरन्नपि । कर्मभिर्बध्यते नाहो किंतुस्यान्मुक्त एव स. ॥१६॥ रागवुध्यात्र य पश्येदिमां तस्य प्रतिक्षणम् । कचिद्रागः कचिद्द्वेपो जायते मानसेन्वहम् ॥ १७ ॥ ताभ्यां घोरतरं पापं पापाचातिग भवः । भवेऽनन्तं महादुखं चतुर्गतिभवं ध्रुवम् ॥ १८ ॥ तथाऽजितेन्द्रियारीणां दुर्धियां चचलात्मनाम् । कथं ब्रह्मव्रत तिष्ठेत्तद्विनाक व्रतं तपः ॥१६॥ मत्वेति विश्वयत्नेन चक्षुरोधं सुधीधना । रागहान्यै प्रकुर्वन्तु ब्रह्मभगादिशंकया ॥ २० ॥ सर्वानर्थकर च रागजनकं

कभी नहीं देखने चाहिये ॥१२–१३॥ मुनियों को अपने आत्मा की शुद्धि रखने के लिये धाम, कोट, गलियाँ वा राग उत्पन्न करने वाले नगर आदि बहुत से स्थानों को कभी नहीं देखना चाहिये ॥१४॥ यदि अपनी इच्छा के विना इन पदार्थों में कभी मुनियो की दृष्टि गड़ जाय तो पाप की शंका से अथवा राग के डर से उनको उसी समय अपनी दृष्टि नीची कर लेनी चाहिये अपना मुख नीचा कर लेना चाहिये ॥१५॥ यद्यपि मुनि इस संसार में सब जगह विहार करते हैं तथापि वे राग बुद्धि से इन पदार्थों को कभी नहीं देखते। ऐसे मुनि कर्मों से कभी नहीं बँधते किंतु मुक्त होते हैं उनके आस्रव नहीं होता किंतु निर्जरा होती है ॥१६॥ जो मुनि इन पदार्थों को राग बुद्धि से देखता है उसके प्रति क्षण में कहीं राग उत्पन्न होता है, और कहीं मन में द्वेप उत्पन्न होता है। उन राग द्वेप से प्रति दिन घोर पाप उत्पन्न होते रहते हैं उन पापों से अनंत भवों मे जन्म मरण करना पड़ता है तथा चारों गतियो में उत्पन्न होने वाले महा दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके सिवाय दुर्बुद्धि को धारण करने वाले जो पुरुप अपनी इन्द्रियों को नही जीतते हैं उनका मन सदा चंचल बना रहता है। ऐसी अवस्था में उनका ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं टिक सकता तथा विना ब्रह्मचर्य के व्रत और तपश्चरण भी नहीं ठहर सकते ॥१७–१६॥ यही समझ कर बुद्धिमान् पुरुषों को अपना राग घटाने के लिये तथा ब्रह्मचर्य व्रत के भंग होने की आशंका से पूर्ण प्रयत्न के साथ चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥२०॥ समस्त

चक्षुर्भ्रमद्भूतले । रोधित्वाशु बुधा निरोधनगुणैं मोक्षार्थससिद्धये । स्वनुक्तैक विधं कुकर्महतक धर्माकर यत्नतः कुर्वीध्व सकलं गुणाम्बुधिमिगं चक्षुर्निरोध सदा ॥२१॥ षड्जर्षभौ च गांधारो धैवतो मध्यम स्वर । पचमाख्यो निपाद सप्त शब्दाजीवजा इमे ॥२२॥ एतेषां जीवशब्दानां वीणाद्यचेतनात्मनाम् । रागेणाश्रवणं यत्स. श्रोत्ररोधोघहानिकृत् ॥२३॥ सरागगीतगानाद्या रागकामाग्निदीपिका । वीणामृदगवाद्याश्च न श्रोतव्या जितेन्द्रियै. ॥२४॥ शृंगार युद्ध हास्यादि पोषकाणि ह्यनेकशः । कलि कौतूहलोत्पादकानि शास्त्राणि जातुचित् ॥२५॥ मिथ्यामताघद्धधानि महापापा कराणि च । धूर्तैः प्रज्वलितान्यत्र न श्रूयन्ते दृगन्वितैः ॥२६॥ असत्या कुकथा मिथ्यामार्गजा विकथादय. । वृथास्तवान्यनिंदाद्या न श्रोतव्याः बुधैः कचित् ॥२७॥ कुकाव्यं

संसार में परिभ्रमण करते हुये ये चक्षु समस्त अनर्थों को करने वाले हैं और राग को बढ़ाने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये अपनी इन्द्रियो को रोकने रूप गुण से चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये। और चक्षुर्निरोध नाम के गुण को सदा के लिये धारण करना चाहिये। यह चक्षुर्निरोध नाम का गुण स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अशुभ कर्मों को नाश करने वाला है धर्म का खजाना है और गुणों का समुद्र है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक इसका पालन करना चाहिये ॥२१॥ षड्ज, ऋषभ, गांधार, धैवत, मध्यम, पंचम और निषाद ये जीवों से उत्पन्न होने वाले सात प्रकार के स्वर हैं। जीवों से उत्पन्न हुए इन शब्दों को तथा वीणा आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए शब्दों को राग पूर्वक सुनना श्रोत्र निरोध नाम के गुण को हानि पहुँचाने वाला है ।२२–२३॥ राग पूर्वक होने वाले गीत वा वीणा मृदंग आदि बाजे राग और कामरूपी अग्नि को बढाने वाले हैं। इसलिये जितेन्द्रिय पुरुषों को कभी नहीं सुनने चाहिये ॥२४॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष शृंगार युद्ध हास्य आदि को पुष्ट करने वाले तथा कलियुग का कौतूहल बढाने वाले (परस्पर युद्ध कराने वाले) अनेक प्रकार के शास्त्रों को कभी नहीं सुनते हैं। जो शास्त्र मिथ्यामत रूपी पाप से भरे हुये है जो महा पाप उत्पन्न करने वाले हैं और धूर्तों के द्वारा बनाये गये हैं ऐसे शास्त्र भी कभी नहीं सुनते हैं ॥२५–२६॥ बुद्धिमान पुरुषो को असत्य कुकथाएं, मिथ्यामतों की विकथाएं, व्यर्थ की स्तुति और दूसरों की निंदा कभी नहीं सुननी चाहिये ॥२७॥ इसी प्रकार मिथ्यामत से भरा हुआ और

दुर्गतोपेतं न श्रोतव्यमघाकरम् । मुक्त्वा जिनोजित काव्यं दक्षैः प्रज्ञादिवृद्धये ॥ २८ ॥ यतो जिनेन्द्रकाव्येणानघो धर्मोघसंवरः । ताभ्यां स्याच्च महाप्रज्ञा सतां विश्वार्थदर्शिनी ॥२६॥ कुकाव्यश्रवणेनाघमघान्सति विपर्ययः । तेन पातो दृगादिभ्यस्ततोऽशर्मासतां महत् ॥३०॥ इत्यादीन् परान् शब्दान् ये श्रृण्वन्ति न योगिनः । चरन्तस्तेन वध्यन्ते पापैर्जातु महीतले ॥३१॥ शब्दान् रागादि हेतूंस्तान् ये श्रृण्वन्त्यत्र रागिणः । रागद्वेषौ परौतेषां प्रजायेतेऽन्वहं तराम् ॥३२॥ ताभ्यां स्युर्दुष्टसंकल्पास्तैस्यात्पाप दुरुत्तरम् । पापेन ससृतौ दुःखं ते लभन्ते वचोतिगम् ॥३३॥ विज्ञायेत्येनसा शान्त्यै सर्वयत्नेन धीधनाः । श्रोत्ररोध प्रकुर्वन्तु त्यक्त्वा चापल्य मजसा ॥३४॥ विविधसकलशब्दान् रागहेतून् विमुच्य जिनवरमुखजातान् धर्मशब्दान् गृहीत्वा । निखिलसुखनिधानं सर्वसिद्धांत–

पाप उत्पन्न करने वाला वा कुकाव्य कभी नहीं सुनना चाहिये। बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि बढ़ाने के लिए भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य ही पढ़ने चाहिये अन्य नहीं ॥२८॥ क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये काव्य के पढ़ने से पाप रहित निर्मल धर्म की वृद्धि होती है और पापों का संवर होता है। तथा धर्म और संवर से सज्जन पुरुषों के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है ॥२६॥ मिथ्या काव्यों के सुनने से पाप होता है, पाप से बुद्धि विपरीत हो जाती है, बुद्धि के विपरीत होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है और सम्यग्दर्शन के छूट जाने से उन दुष्टों को महा दुःख उत्पन्न होता है ॥३०॥ इस प्रकार जो मुनि सर्वत्र विहार करते हुए भी दूसरे के शब्दों को नहीं सुनते हैं वे इस संसार में कभी पापों से नहीं बँधते हैं ॥३१॥ जो रागी पुरुष इस संसार में राग द्वेष उत्पन्न करने वाले शब्द सुनते हैं उनके रात दिन राग द्वेष उत्पन्न होता रहता है। तथा राग द्वेष उत्पन्न होने से दुष्ट संकल्प उत्पन्न होते हैं, उन दुष्ट संकल्पों से अत्यंत घोर पाप उत्पन्न होता है और पापों से इस संसार में वचनातीत महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥३२–३३॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पाप शांत करने के लिये अपनी चंचलता छोड़ कर पूर्ण प्रयत्न के साथ शीघ्र ही श्रोत इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥३४॥ मुनिराजों को राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के शब्दों के सुनने का त्याग कर देना चाहिये और भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुये धर्म रूप शब्दो को सुनना चाहिये। तथा परम प्रयत्न के साथ समस्त सुखों का निधान और

हेतुं कुरुत परमयत्नाच्छ्रोत्ररोधं यतीन्द्रा ॥३५॥ निसर्गवासितानां च चेतनाचेतनात्मनाम् । द्रव्यादीनां सुसंरम्भाणां रागादि विधायिनाम् ॥३६॥ गधो न घ्रायते योत्र रागादिभिर्विरागिभिः । द्वेषेण वेतराणा स घ्राणरोधो जिनैर्मतः ॥३७॥ पुष्पकर्पूरकस्तूरी श्रीखण्डाद्या अनेकशः । सुगधयः शुभद्रव्या घ्रातव्या नाक्ष निर्जितैः ॥३८॥ घृतपक्वान्नपानाद्या घ्राणेन्द्रियसुखप्रदाः । भोजनावसरे जातु न घ्राणीया यतीश्वरैः ॥३९॥ दुर्गंध वा समाघ्राय द्वेष कार्यो न संयतैः । पूतिगन्धो यत कायः स्वस्यैव विद्यतेऽशुभः ॥४०॥ मत्वेति ये न कुर्वन्ति सुगधेतर वस्तुषु । रागद्वेषौ न तेषां न कर्मबंधोत्रतत्कृत ॥४१॥ रागद्वेषेण गृह्णन्ति गंधौ येत्र शभेतरौ । भवेत्पापार्जन तेषां पाप दुःख च दुर्गतौ ॥४२॥ विदित्वेति पदार्थज्ञाः प्राप्य गंधौ शुभाशुभौ । कचिदीहां

समस्त सिद्धांत का कारण ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥३५॥ वीतरागी पुरुष स्वभाव से सुगंधित चेतन वा अचेतन सुगंधित और राग बढ़ाने वाले द्रव्यों को राग पूर्वक कभी नहीं सूंघते हैं इसी प्रकार दुर्गंध युक्त पदार्थों को द्वेष पूर्वक नहीं सूंघते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव घ्राण इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ॥३६–३७॥ इन्द्रियों को जीतने वाले संयमियों को पुष्प कपूर कस्तूरी चंदन आदि अनेक प्रकार के सुगंधित और शुभ द्रव्य कभी नहीं सूंघने चाहिये ॥३८॥ मुनिराजों को भोजन के समय में भी घ्राण इन्द्रिय को सुख देने वाले घी में पके हुये अन्न पान आदि पदार्थ भी कभी नहीं सूंघने चाहिये ॥३९॥ मुनियों को दुर्गंधमय पदार्थों को सूंघ कर द्वेष भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि अपना शरीर ही अत्यंत शुभ और अत्यंत दुर्गंधमय है ॥४०॥ यही समझ कर जो मुनि सुगंधित वा दुर्गंध युक्त पदार्थों में राग द्वेष नहीं करते उनके घ्राण इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला कर्मबंध कभी नहीं होता ॥४१॥ जो मुनि सुगंध को राग पूर्वक ग्रहण करते हैं और दुर्गंध को द्वेष पूर्वक ग्रहण करते हैं उनके पाप का बंध होता है और पाप से दुर्गतियों में महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥४२॥ यही समझ कर पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को विना इच्छा के प्राप्त हुई सुगंध और दुर्गंध को सूंघ कर कभी राग द्वेष नहीं करना चाहिये। प्रयत्न पूर्वक राग द्वेष का त्याग कर देना चाहिये ॥४३॥

विनायत्ना द्रागद्वेषौ त्यजन्तुभो. ॥४३॥ रागद्वेषकर निसर्गचपलं घ्राणेन्द्रियं पापद वैराग्येण निरुध्य धर्मजनकं रागादिनाशंकरम्। स्वर्मोक्षैकनिबंधनं शुभतम कर्मारि विध्वंसक कुर्वीध्व शिवशर्मणेप्यनुदिनं स्वघ्राणरोधं बुधा. ॥४४॥ अन्नादिचतुराहारे रसे तिक्तादि षड्विधे। मनोज्ञे प्रासुके लब्धे मति जिह्वासुखप्रदे ॥४५॥ या निराक्रियते कांक्षा गृद्धिश्च निर्जितेन्द्रियैः। आत्मध्यान सुधातृप्तै जिह्वारोध सकथ्यते ॥४६॥ अशनं पानकं खाद्य स्वाद्यं जिह्वा सुखप्रदम्। शुद्धं चात्र क्वचित्प्राप्य रागः कार्यो न संयतैः ॥४७॥ तिक्त च कटुक चाम्लं कषायं मधुरं रसम्। मनोज्ञं वेतरं प्राप्य रागद्वेषौ त्यजेद् यति. ॥४८॥ सरस वा रसैस्त्यक्त क्षार वा क्षारवर्जितम्। उष्ण वा शीतलं भद्र रसनाद्य सुखावहम् ॥४९॥ अनिष्टं वा यथालब्धमाहारं भिक्षयानघम्। आहारन्ति

बुद्धिमान मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वैराग्य से राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले और स्वभाव से चपल और पाप बढ़ाने वाले ऐसे घ्राणेन्द्रिय का निरोध करना चाहिये, तथा धर्म को प्रगट करने वाले, रागद्वेष को नाश करने वाले स्वर्ग मोक्ष का कारण अत्यंत शुभ और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने वाले ऐसा घ्राण इन्द्रिय का निरोध प्रति दिन करते रहना चाहिये॥४४॥ जो मुनि आत्मध्यान रूपी अमृत से तृप्त हो रहे हैं और इन्द्रियों को जीतने वाले हैं ऐसे मुनिराज खट्टे मीठे आदि छहों रसों से परिपूर्ण जिह्वा इन्द्रिय को सुख देने वाले अत्यंत मनोज्ञ और प्रासुक अन्नादिक चारों प्रकार प्रकार का आहार प्राप्त होने पर जो अपनी आकांक्षा रोक लेते हैं उसमें गृद्धता धारण नहीं करते उसको जिह्वा इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ॥४५–४६॥ जिह्वा इन्द्रिय को सुख देने वाला अन्न पान खाद्य स्वाद्य आदि चारों प्रकार को शुद्ध आहार प्राप्त होने पर मुनियों को कभी राग नहीं करना चाहिये ॥४७॥ तिक्त कटुक कषायला खट्टा और मीठा ये रस हैं ये रस मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के होते हैं इनको पाकर मुनियों को राग द्वेष का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ राग द्वेष का सर्वथा त्याग करने वाले मुनि अपना शरीर स्थिर रखने के लिये सरस वा नीरस, लवण सहित वा लवण रहित, उष्ण वा शीतल रसना इन्द्रिय को सुख देने वाला वा अनिष्ट जैसा भिक्षा वृत्ति से आहार मिल जाता है उसी निर्दोष आहार को वे ग्रहण कर लेते हैं ॥४९–५०॥ वे मुनिराज

तनुस्थित्यै त्यक्तरागादियोगिन' ॥५०॥ एवं ये प्रासुकाहारं भुंजन्ति पारणे क्वचित्। तेषां न तत्कृतो वंधः कुत. संवरनिर्जरे ॥ ५२ ॥ जिह्वा विनिर्जिता येन सर्वभक्षण राक्षसी। तस्य समीहित सिद्ध' याति सर्वेन्द्रिया वशम् ॥ ५३ ॥ जिह्वाहीमक्षमोयोत्र जेतु' दीनोक्ष वंचित'। स्मराद्यरीन् कथं हन्ति दुर्द्धरान् सोतिदुर्जयान् ॥५४॥ यतो जिह्वाचलांपट्यात्कामाद्या इन्द्रियारय.। प्रयांत्युत्कटतां नूनं धर्मसाम्राज्य घातिनः ॥ ५५ ॥ भिक्षाचरत्व-मासाद्य योद्ध दग्धशवा कृतिः। मिष्ट म ईहते नग्न' कथं लोके न लज्जते ॥ ५६ ॥ क्रीतान्नं यदि चेद्द्रव्यैरानीतं स्याद्विरूपकम्। तद्यत्र श्लाघ्यते रांप सयतैश्च कृतोभुवि ॥ ५७ ॥ नोचेदेवं मुधालब्धं भिक्षयान्न शुभाशुभम्।

पारणा के दिन इस प्रकार का जो प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं उससे उनके कर्मों का वंध नही होता किंतु उससे ही उनके कर्मों की निर्जरा होती है ॥५१॥ इस संसार में जो मूर्ख यति राग द्वेप पूर्वक आहार लेते हैं उनके पद पद पर कर्मों का वंध होता है फिर भला उनके संवर और निर्जरा किस प्रकार हो सकते हैं अर्थात् कभी नही होते ॥५२॥ यह जिह्वा इन्द्रिय सर्व भक्षण करने के लिये राक्षसी के समान है। ऐसी इस जिह्वा इन्द्रिय को जो जीत लेता है उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वह समस्त इन्द्रियों को वश करने वाला समझा जाता है ॥५३॥ इन्द्रियों से ठगा हुआ जो दीन मनुष्य जिह्वा इन्द्रिय रूपी सर्पिणी को जीतने में असमर्थ है वह अत्यंत दुर्जय और दुर्धर ऐसे कामादिक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ॥५४॥ क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता से धर्म के साम्राज्य को नष्ट करने वाले काम आदि इन्द्रिय शत्रु अत्यंत उग्र रूप धारण कर लेते हैं ॥५५॥ आधे जले हुये मुर्दे की आकृति को धारण करने वाला जो नग्न मुनि भिक्षा भोजन का नियम लेकर भी मिष्ट रस की इच्छा करता है वह लोक में लज्जित क्यों नहीं होता ॥५६॥ यदि द्रव्य देकर खरीद कर लाया हुआ अन्न बिगड़ा हुआ हो तो क्रोध करना भी अच्छा लगता है परन्तु इस संसार में मुनियों को ऐसा समय वा कारण कब मिलता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥५७॥ यदि ऐसा नहीं है तो फिर भिक्षा वृत्ति से शुभ वा अशुभ (इष्ट वा अनिष्ट) अन्न को ग्रहण करना व्यर्थ है। फिर तो आदर पूर्वक भोजन करना चाहिये। ऐसी अवस्था में भी क्रोध का अवसर कभी नहीं आ सकता ॥५८॥

तद्यादरेण भोक्तव्यं रोषस्यावसरः कभोः ॥५८॥ मत्वेति मुनयो यत्नात् दुर्द्धरं रसनेन्द्रियम् । जयंत्वत्रैनसां मूलं रसत्यागतपोयमैः ॥५९॥ कृत्स्नानर्थपरंपरार्पणपरं पंचाक्षशत्रोगृहं कर्मारण्यजलं निहत्य विषमं जिह्वेन्द्रियारिं खलम् । घोरैस्तीव्रतरैस्तपोभिरखिलं जिह्वानिरोधं गुणं सेवध्वं यतयो भवारिमथनं शेषाक्षविध्वंसकम् ॥६०॥ कर्कशो मृदुशीतोष्णाः स्निग्धरूक्षौ गुरुर्लघुः । जीवाजीव भवा एते त्राष्टौ स्पर्शाः शुभाशुभाः ॥६१॥ अमीषां स्पर्शने योत्राभिलाषो हि निवार्यते । स्पर्शनेन्द्रियरोधः स केवलं योगिनां महान् ॥६२॥ स्त्रीमर्त्य कोमलांगेषु गध्यकातूलिकादिषु । मृदुष्वासनशय्यादि संस्तरेष्वघ कारिषु ॥६३॥ पट्टकूलादिवस्त्रेषु स्पर्शनं ब्रह्मनाशकृत् । व्रतिभिर्जातु कार्यं न कालाहिकंटकेष्विव ॥६४॥ कोमले गध्यकादौ ये कुर्वन्ति शयनासनम् । स्पर्शनेन्द्रियलांपट्या–

यही समझ कर मुनियों को रसों का त्याग कर तथा तपश्चरण और यम नियम धारण कर बड़े प्रयत्न के साथ समस्त पापों की मूलकारण और अत्यंत दुर्धर ऐसी रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिये ॥५९॥ यह जिह्वा इन्द्रिय रूपी शत्रु अत्यंत दुष्ट है, समस्त अनर्थों की परंपरा को देने वाला है, पाँचो इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का घर है, कर्मरूपी वन को बढ़ाने के लिये जल के समान है और अत्यंत विषम है। इसलिये मुनियों को अत्यंत घोर और अत्यंत तीव्र तपश्चरण के द्वारा इस जिह्वा इन्द्रिय को अपने वश में कर लेना चाहिये और जन्म मरण रूप संसार शत्रु को नाश करने वाला तथा समस्त इन्द्रियों को निरोध करने वाला ऐसा जिह्वानिरोध नाम का गुण सदा पालन करते रहना चाहिये ॥६०॥ कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, तथा हलका भारी ये जीव अजीव से होने वाले आठ स्पर्श है। ये आठों ही स्पर्श शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। मुनिराज जो इन आठों प्रकार के स्पर्शों में अपनी अभिलाषा का त्याग कर देते हैं उसको स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध कहते हैं यह स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध मुनियों के लिये सर्वोत्कृष्ट है ॥६१–६२॥ स्त्री वा पुरुष को कोमल शरीर के स्पर्श करना रुई के कोमल गद्दों का स्पर्श करना, पाप उत्पन्न करने वाले कोमल शय्या आसन आदि बिछोनों पर सोना वा कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना आदि सब ब्रह्मचर्य को नाश करने वाला है इसलिये व्रती पुरुषों को काले सर्प वा काँटों के समान समझ कर कभी इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥६३–६४॥ जो पुरुष कोमल गद्दों पर बैठते हैं वा सोते हैं उनके स्पर्श इन्द्रिय की लंपटता होने

तेषां ब्रह्मव्रतं कुतः ॥६५॥ मत्वेति कोमले रम्ये शर्मदे शयनासने । ब्रह्मव्रतार्थिभिर्जातु न कार्यं शयनासनम् ॥६६॥ किंतु शिलाश्मभूम्यादौ कठिने फलकादिषु । शयन चासन कार्यं निद्राहान्यै सुब्रह्मणे ॥६७॥ यद्यनीहित वृत्यात्र वायुः स्पृशति शीतल. । ग्रीष्मे वपुस्तथाप्याशु रागस्त्याज्योऽशुभप्रद' ॥६८॥ शीतकाले थवा शीतो मरुत्स्पृशति योगिनम् । तत्रापि न मनाग्द्वेष करोति मुनिपुंगव ॥६९॥ इत्याद्या वहुधा स्पर्शाः सुख दु.ख विधायिनः । ये तानासाद्य योगीन्द्रा रागद्वेषौ न कुर्वते ॥७०॥ रागद्वेषपरित्यागा त्तेषां संवर निर्जरे । स्पर्शेषु सत्स्वपीहाहो न वन्धः कर्मणां कचित् ॥७१॥ स्पर्शेषु तेषु ये मूढा रागद्वेषौ वितन्वते । तेषां पापास्रवस्तस्माद्दुर्गतौ भ्रमणं चिरम् ॥७२॥ विज्ञायेति न कर्तव्यौ रागद्वेषौ सुसंयतै. । सर्वेषु स्पर्शभेदेषु सुख दु.खादि कारिषु ॥७३॥ विश्वा–

के कारण ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं ठहर सकता ॥६५॥ यही समझ कर ब्रह्मचर्य व्रत की इच्छा करने वाले पुरुषों को कोमल मनोहर और सुख देने वाले आसन पर कभी नहीं बैठना चाहिये और न ऐसी शय्या पर सोना चाहिये किंतु अपना ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये तथा निद्रा को दूर करने के लिये शिला पत्थर भूमि वा कठिन तखते पर सोना चाहिये और उसी पर बैठना चाहिये ॥६६–६७॥ यदि ग्रीष्म ऋतु में मुनियों के शरीर को विना उनकी इच्छा के अनायास शीतल वायु स्पर्श करे तो मुनियों को उसी समय उस शीत स्पर्श से अपना अशुभ उत्पन्न करने वाला राग छोड़ देना चाहिये ॥६८॥ यदि किसी मुनि के शरीर को शीत ऋतु में शीतल वायु स्पर्श कर ले तो भी उन मुनिराज को अपने हृदय में किंचित भी द्वेष नहीं करना चाहिये ॥६९॥ इस प्रकार वहुत से स्पर्श सुख देने वाले हैं और वहुत से स्पर्श दुःख देने वाले हैं उनको पाकर मुनियों को राग द्वेष कभी नहीं करने चाहिये ॥७०॥ राग द्वेष का परित्याग करने से स्पर्श होते हुए भी मुनियो के कर्मों का वंध कभी नहीं होता किंतु उनके कर्मों का संवर और निर्जरा ही होती है ॥७१॥ जो मूर्ख पुरुष उन स्पर्शों में राग द्वेष करते हैं उनके महा पाप का आस्रव होता है और उस पापास्रव से वे चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥७२॥ यही समझ कर श्रेष्ठ मुनियों को सुख वा दुख देने वाले अनेक प्रकार के स्पर्शों में कभी राग वा द्वेष नहीं करना चाहिये ॥७३॥ यह कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय समस्त अनिष्टों को करने वाली है और

निष्टकरं भवारिजनकं कामेन्द्रियस्पर्शनं जित्वाश्मादिमवैरतीव कठिनैः शय्यासनै दुष्करैः । स्वर्मोक्षैककरं सुसौख्यजलधिं कर्माद्रिवज्रं परं कृत्स्नाक्षारिवशीकरं प्रकुरुत स्पर्शाक्षरोधं बुधाः ॥७४॥ येषां मध्ये जनैर्ज्ञेयौ रसस्पर्शनाह्वयौ । द्वौहि कामेन्द्रियौ नृणां महानर्थविधायिनौ ॥७५॥ श्रोत्रं घ्राणेन्द्रियं चक्षुरिमाणि त्रीणि संसृतौ । भोगेन्द्रियाणि जंतूनां स्तोकानर्थकराण्यपि ॥७६॥ इमे पंचेन्द्रियाश्चौरा धर्मरत्नापहारिणः । जिताः संयमवाणैर्यैं सुखनिस्तेन चापरे ॥७७॥ धावन्तो विषयारण्ये दुर्दांतेन्द्रियदन्तिनः । त्रिवैराग्यांकुशेनात्र यैधृता-स्तेविदावराः ॥७८॥ पंचाक्षतस्कराः क्रूरास्तपः सुभट ताडिताः । विघटंते सतां मोक्षमार्गे विघ्नविधायिनः ॥७९॥ यथात्र पोषिता नागा नयन्ति स्वामिनो बलात् । यमान्तं च तथा पंचेन्द्रिया श्वभ्रंहि सप्तमम् ॥८०॥

संसार रूप शत्रु को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को पत्थर शिला आदि कठिन वा दुष्कर शय्या आसन आदि के द्वारा इस कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिये तथा स्वर्ग मोक्ष को देने वाला, अनंत सुख का समुद्र, कर्मरूपी पर्वत को चूर करने के लिये वज्र के समान और समस्त इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को वश करने वाला ऐसा स्पर्शन इन्द्रिय का निरोध अवश्य करना चाहिये ॥७४॥ इन पाँचों इन्द्रियों में से स्पर्शन इन्द्रिय और रसना वा जिह्वा इन्द्रिय ये दोनों इन्द्रियाँ कामेन्द्रिय कहलाती हैं और मनुष्यों के लिये अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करने वाली हैं ॥७५॥ इसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन इन्द्रियाँ भोगेन्द्रिय कहलाती हैं और जीवों को थोड़ा ही अनर्थ करती हैं ॥७६॥ ये पाँचों इन्द्रियाँ चोर हैं और धर्मरूपी रत्न को चुराने वाली हैं। जिन संयमियों ने अपने संयम वाणों से इनको जीत लिया है इस संसार में वे ही सुखी हैं अन्य नहीं ॥७७॥ ये इन्द्रियरूपी हाथी बड़े ही प्रबल हैं और विषय रूपी वन में दौड़ लगा रहे हैं। जो लोग संसार शरीर और भोगों के वैराग्यरूपी अंकुश से इन इन्द्रिय रूपी हाथियों को वश में कर लेते हैं उन्हें ही सबसे उत्तम ज्ञानी समझना चाहिये ॥७८॥ ये पंचेन्द्रिय रूपी चोर बड़े ही क्रूर हैं और सज्जन पुरुषों को मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले हैं ऐसे ये चोर तपश्चरणरूपी योद्धाओं से ताड़ित होने पर भी इधर उधर भागते हैं ॥७९॥ जिस प्रकार पालन पोषण किये हुये पालतू सर्प अपने स्वामी

अरिभ्योऽपि महादुष्टा अत्रान्तेन्द्रियशत्रवा । इहामुत्र मनुष्याणां कृत्स्न दुःख.निबन्धना. ॥८१॥ यतोत्रैवाराय किंचिद्दु:ख च ददते न वा । इहामुत्र नृणा घोर ददत्येवाक्षशत्रव ॥८२॥ रागेभ्योऽपि महादुःखकरा पचाक्ष दुर्जना. । लालिता' स्त्रीनराणा च निंद्या दुर्गतिदायिन ॥८३॥ जनयंति यतोरोगा अल्पासात क्वचित् नृणाम् । कोटी-कोटाब्धि पर्यन्तं दु:ख खानि च दुर्गतौ ॥८४॥ कालकूटविषं मन्ये सुख वैषयिक नृणाम् । अक्षज विषमं घोरदु:खतापनिबंधनम ॥८५॥ कालकूटं यतो भुक्त स्वासून् हरति केवलम् । सुख चेन्द्रियज पुं'सां ददातेनेकविधासुखम् ॥८६॥ चतुरंगुलमात्रेयं जिह्वा दु:खाशुभाविका । तावन्मात्रोप्यजय्योहो दुष्ट कामेन्द्रिय. खल ॥८७॥ एभिरष्टांगुलोत्पन्ने र्दोषै र्जीवा कदर्थिता । प्रकुर्वन्ति महापापं लभन्ते दु:खमुल्व–

को ही जबर्दस्ती यम मंदिर तक पहुँचा देते हैं मार डालते हैं उसी प्रकार ये पाँचो इन्द्रियाँ भी इस जीव को सातवे नरक तक पहुँचा देती है ॥८०॥ ये इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रु शत्रुओं से भी महादुष्ट है। तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में मनुष्यों को सब तरह के दुःख देने वाले हैं। इसका भी कारण यह है कि शत्रु इसी लोक मे थोड़ा सा दुःख देते हैं अथवा नहीं भी देते हैं किंतु इन्द्रिय रूपी शत्रु मनुष्यो को इस लोक में भी दुःख देते हैं और परलोक में भी महा दुःख देते हैं ॥८१—८२॥ स्त्री और पुरुषों के द्वारा लालन पालन किये गये ये पाँचो इन्द्रिय रूपी दुर्जन रोग से भी अधिक महा दुःख देने वाले है, निंदनीय हैं और दुर्गति को देने वाले हैं। क्योंकि रोग तो मनुष्यों को कहीं कहीं पर थोड़ा सा दुःख देते हैं परंतु ये इन्द्रियाँ दुर्गतियों में डाल कर कोडाकोडि सागर पर्यंत महा दुःख देते हैं ॥८३—८४॥ ये मनुष्यो के इन्द्रिय जन्य विषय संबंधी सुख अत्यंत विषय हैं तथा घोर दुःख और संताप को देने वाले हैं इसीलिये हम इनको कालकूट विष के समान ही मानते हैं। इसका भी कारण यह है कि भक्षण किया हुआ विष केवल अपने प्राणों को हरण कर लेता है परंतु इन्द्रिय जन्य सुख मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं ॥८५—८६॥ यह जिह्वा इन्द्रिय चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनेक दुःख और दुर्गतियों को देने वाली है। इसी प्रकार अत्यंत दुष्ट कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है और अत्यंत अजेय है ॥८७॥ इन आठ अंगुल प्रमाण दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोषो के द्वारा

णाम् ॥ ८८ ॥ इदं कामेन्द्रियं युग्मं निर्जितं यैस्तपो यमैः । तेषां शेषेन्द्रियाण्याशु वशं यान्ति हृदा समम् ॥८६॥ विज्ञायेति रसत्यागतपोभिरतिदुष्करैः । जयन्तु मुनयो त्रेदं स्वाक्षयुग्मं शिवाप्तये ॥ ६० ॥ पंचेन्द्रियठगा एते वैरिणोऽभ्यन्तरंगजाः । सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तादि रत्नान्यपहरन्ति नुः ॥ ६१ ॥ तथाक्षदंतिनोऽदांता धर्मकल्पद्रुमं क्षणात् । पुंसामुन्मूलयंत्यत्रानन्तमुक्ति सुधाफलम् ॥ ६२ ॥ पोषिता स्वेच्छयात्रैतेऽक्षाश्वा उत्पथगामिनः । उन्मार्गे पातयंत्याशु नरान् मुक्तिपथात् शुभात् ॥६३॥ ये केचन गताः श्वभ्रं यान्ति यास्यान्ति भूतले । केवलं ते जना नूनमिन्द्रियैर्व्याकुलीकृताः ॥ ६४ ॥ रुद्राद्या मुनयो ह्याहो दशपूर्वधरा विदः । खधूर्तैर्वंचिता हत्वा चारित्रं नरकं ययुः ॥ ६५ ॥ स्पर्शनाद्धोण मातगा मत्स्या जिह्वेन्द्रियेण च । घ्राणेन भ्रमराश्चक्षुषा पतंगा मृगास्तथा ॥६६॥

कदर्थित हुए दुःखी हुए जीव महा पाप उत्पन्न करते हैं और फिर घोर दुःखों को भोगते हैं ॥८८॥ जो जीव अपने तप और संयम के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय इन दोनों कामेन्द्रियों को जीत लेते हैं उनकी बाकी की समस्त इन्द्रियाँ भी हृदय के साथ साथ बहुत शीघ्र वश में हो जाती हैं ॥८६॥ यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अत्यंत कठिन ऐसे रस त्याग नाम के तपश्चरण से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में करनी चाहिए ॥६०॥ ये पाँचों इन्द्रियाँ बड़ी ठग हैं और इस जीव की अंतरंग शत्रु हैं। तथा मनुष्यों के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों को चुरा लेती हैं ॥६१॥ किसी के वश न होने वाले ये इन्द्रिय रूपी हाथी मोक्षरूपी अमृतफल को देने वाले ऐसे मनुष्यों के धर्मरूपी कल्पवृक्ष को क्षण भर में जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक देते हैं ॥६२॥ अपनी इच्छानुसार पालन पोषण किये हुये ये इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्गगामी हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को मोक्ष के शुभ मार्ग से हटा कर शीघ्र ही कुमार्ग में पटक देते हैं ॥६३॥ इस संसार में अब तक जितने जीव नरक गये हैं वा अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे मनुष्य केवल इन्द्रियों से व्याकुल होकर ही गये हैं वा जायेंगे और तरह से नहीं ॥६४॥ देखो ग्यारह अंग और दश पूर्व के जानकार रुद्र आदि कितने ही मुनि इस संसार में इन्द्रियों से ठगे गये और अपने चारित्र को नष्ट कर नरक में जा पहुँचे ॥६५॥ देखो केवल स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर हाथी अपने प्राण खो देता है, जिह्वा इन्द्रिय के वश होकर मछलियाँ

कर्णेन्द्रियेण चैकेन क्षयं यान्त्यत्र लोलुपाः । केवलं विषयाशक्त्या किंचित्सौख्यं श्रयन्ति न ॥ ९७ ॥ एकैका-चारिणाग्राहो प्रणष्टाः पशवो यदि । ततः पचाक्षलोला ये श्वभ्रनाथा. कथ न ते ॥ ९८॥ अन्येऽपि वहवो येऽर्द्धचक्रि चक्रयादयो भुवि । राजानो विषयाशक्त्या गताःश्वभ्रं च सप्तमम् ॥ ९९ ॥ भुक्त्वा जन्मादिमृत्यन्तं भोगान्पंचेन्द्रियोद्भवान् । तेषां को गदितुं शक्तः कथां भोगभवां बुधः ॥ १०० ॥ मत्वेति ज्ञानिनः शीघ्रं पंचेन्द्रियमृगान् चलान् । वध्नंतु दृढवैराग्यपाशेन शिवशर्मणे ॥ १ ॥ इन्द्रियारतयो धीरै र्यैर्जिताः सयमायुधैः । तैश्च दुर्मोह कर्माद्या हता मुक्तिः करे कृताः ॥ २ ॥ अक्षारीनपि ये जेतुमक्षयाः क्लीवतां गता । मोह दुष्कर्म-शत्रूंस्ते हनिष्यन्ति कथं भुवि ॥ ३ ॥ गृहस्त्रीश्र्यादिकां त्यक्त्वा दीक्षात्र गृह्यते बुधैः । जयाय स्वाक्षशत्रूणां

प्राण खो देती हैं, घ्राण इन्द्रिय के वश होकर भ्रमर अपने प्राण खोता है चक्षु इन्द्रिय के वश होकर पतंगा अपने प्राण खोते हैं और कर्ण इन्द्रिय के वश होकर हिरण अपने प्राण खोते हैं। विषयों में आसक्त और इन्द्रिय लोलुपी ये जीव कुछ भी सुख न पाकर अपने प्राण खो देते हैं ॥९६–९७॥ देखो एक एक इन्द्रिय रूपी शत्रु के वश होने से ये पशु सब नष्ट हो जाते हैं फिर भला जो पाँचों इन्द्रियों के लोलुपी हैं वे नरक के स्वामी क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् वे अवश्य नरक में जायेंगे ॥९८॥ और भी बहुत से चक्रवर्ती अर्द्ध चक्रवर्ती राजा विषयों में आसक्त होने के कारण सातवें नरक में पहुँचे हैं ॥९९॥ जो जीव जन्म से लेकर मरण पर्यंत पंचेन्द्रिय के भोगों को अनुभव करते हैं उनके भोगों से उत्पन्न होने वाली कथा को भला कौन बुद्धिमान् कह सकता है अर्थात् कोई नहीं ॥१००॥ यही समझ कर ज्ञानी पुरुषों को अपना मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही वैराग्य रूपी रस्सी से पंचेन्द्रिय रूपी चंचल पशुओं को दृढ़ता के साथ बाँधना चाहिये ॥१०१॥ जो धीर वीर पुरुष अपने संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ही पुरुष मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालते हैं तथा उन्हीं के हाथ में मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥२॥ जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को भी जीतने में असमर्थ हैं उन्हें नपुंसक ही समझना चाहिये। ऐसे पुरुष भला इस संसार में मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ? अर्थात कभी नहीं ॥३॥ बुद्धिमान लोग रत्नत्रय को अपहरण करने वाले इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए ही

रत्नत्रयापहारिणाम् ॥४॥ अतोऽनिर्जितखारीणां वृथा दीक्षातपः फलम् । व्यर्थो गृहपरित्यागो इहामुत्र सुखं न च ॥५॥ यतोऽक्षविजयः पुंसां तपः स्यात्परमं भुवि । अतः किं सत्तपस्तेषां येषां भो नाक्षनिर्जयः ॥६॥ किमत्र बहुनोक्तेन तेषां सिद्धिर्महात्मनाम् । ऋद्धयः सुतपांसि स्युर्जिता यैः स्वाक्षशत्रवः ॥७॥ अनिर्जिताक्षहीनानां नेह लोकोपकीर्तिनः । परलोको न तापस्यात् किंतु दुर्गतिरेव च ॥८॥ यथाध्वगमने स्याता पथानौ द्वौ न देहिनाम् । तथाक्षसुख मोक्षौ च वृथाजन्मद्विकांक्षिणाम ॥९॥ ज्ञात्वेति बहुयत्नेन हत्वा स्वार्थसिद्धये । खारीन् जयन्तु चारित्रतपखड्गैर्भयंकरैः ॥१०॥ वर्तन्ते भुवने त्रये च महिता वन्द्या स्तुता योगिनो, ये चारित्ररणाङ्गणे सुविषमे स्थित्वापि कृत्स्नार्जितम् । ध्यानं सुतपो धनुर्गुणयुत सम्यग्दृगाद्यैः शरैः, तीक्ष्णै

घर स्त्री और धन आदि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं। इसलिये जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा और तपश्चरण वा तपश्चरण का फल आदि सब व्यर्थ है, तथा उनका घर का त्याग भी व्यर्थ है। ऐसे पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सुख नहीं मिल सकता ॥४–५॥ इन्द्रियों को दमन करना जीतना इस संसार में मनुष्यों का परम तप कहलाता है इसलिये कहना चाहिये कि जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकते हैं उनके श्रेष्ठ तप कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥६॥ बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है उन्हीं महात्माओं के ऋद्धियाँ तपश्चरण और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥७॥ अपनी इन्द्रियों को न जीतने के कारण जो हीन हो रहे हैं उनके न तो इस लोक में कीर्ति होती है और न परलोक ही उनका सुधरता है किंतु इन्द्रिय लंपटता होने के कारण परलोक में उनकी दुर्गति ही होती है ॥८॥ जिस प्रकार चलते समय मनुष्य भिन्न भिन्न दो मार्गों में ही नहीं चल सकता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति चाहते हैं उनका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥९॥ यही समझ कर चतुर लोगों को अपने समस्त पदार्थों की सिद्धि करने के लिये चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से बड़े प्रयत्न के साथ इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेना चाहिये ॥१०॥ इस संसार में जो मुनिराज अत्यंत विषम ऐसे चारित्ररूपी रणांगन में ठहर कर

घ्नन्ति खलान् त्रिलोक जयिनः पंचाक्षशत्रून् द्रुतम्, विश्वार्च्यान् विश्ववंद्यान् जिनमुनिवृषभैः स्वीकृतान् धर्ममूलान्, पापाघ्नान् मुक्तिवर्त्मन् शिवसुख जलधीन् स्वर्गसोपान भूतान्। ज्ञानध्यानाग्निहेतून् सकलगुणनिधीन् चित्तमातंगसिंहान्, सेवध्वमुक्ति कामाः यमनियमचयैः कृत्स्नपंचाक्षरोधान् ॥१२॥ अथ मूलगुणान् वक्ष्ये षडावश्यकसंज्ञकान्। धर्म शुक्लोत्तमध्यानहेतून् सिद्धांतजान् सताम् ॥१३॥ सामायिकं स्तवो वंदना प्रतिक्रमणं तथः। प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः इमान्यावश्यकानि षट् ॥१४॥ जीविते मरणे लाभालाभे दृषदि सन्मणौ। संयोगे विप्रयोगे च रिपौ बंधौ खलाखले ॥१५॥ तृणे च कांचने सौख्ये दुःखे वस्तौ शुभाशुभे। क्रियते समभावो य

तथा उग्र उग्र श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी प्रत्यंचा सहित धनुष को चढ़ा कर समग्दर्शन आदि तीक्ष्ण वाणों से अत्यंत दुष्ट और तीनों लोकों को जीतने वाले ऐसे पाँचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को शीघ्र ही मार डालते हैं वश में कर लेते हैं वे ही मुनि धन्य हैं तीनों लोकों में पूज्य हैं वे ही वंदनीय हैं और वे ही स्तुति करने योग्य हैं ॥११॥ समस्त पाँचों इन्द्रियों का निरोध तीनों लोकों में पूज्य है, सबके द्वारा वंदनीय है, भगवान तीर्थंकर और गणधर आदि श्रेष्ठ मुनियों ने भी इसको स्वीकार किया है, यह पंचेन्द्रियों का निरोध पापों को नाश करने वाला है, धर्म का मूल है, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है, मोक्ष के अनंत सुख का समुद्र है, स्वर्ग की सीढ़ी है, ज्ञान और ध्यान का कारण है समस्त गुणों का निधि है और मन रूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह के समान है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को अपने यम और नियमों के समूह से इस पंचेन्द्रियों के निरोध को अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२॥ अब आगे छह आवश्यक नाम के मूलगुणों को कहते हैं। ये छह आवश्यक धर्म और शुक्ल नाम के उत्तम ध्यान के कारण हैं और सिद्धांत शास्त्रों में कहे हुये हैं ॥१३॥ सामायिक स्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कहलाते हैं ॥१४॥ जीने मरने में, लाभ अलाभ में, पत्थर मणि में, संयोग वियोग में, शत्रु वंधु में, दुष्ट सज्जन में, तृण सुवर्ण में, सुख दुःख में और शुभ अशुभ पदार्थों में समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है ॥१५-१६॥ यह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार

स्तद्धि सामायिकं मतम् ॥१६॥ नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभाश्रितः । भावः सामायिकोऽत्रैषो निक्षेपः षड्विधो भवेत् ॥१७॥ क्रूर बीभत्सनामान्यशुभानि द्वेषपदानि च । रागकर्तॄणि नामानि मनोहरशुभानि वै ॥१८॥ श्रुत्वा यद्वर्जनं राग द्वेषादीनां विधीयते । नाम सामायिकाख्यं तत्सतां प्रोक्तं गणाधिपैः ॥१९॥ स्थापनाः प्रतिमा दिव्यरूपा मनोज्ञशर्मदाः । नेत्रानिष्टाः कुरूपाश्च वेतालाकृतिधारिणीः ॥२०॥ विलोक्य क्रियते राग द्वेषयो र्यद्विसर्जनम् । शान्ति शर्मदं स्थापनासामायिकमेवतत् ॥२१॥ सुवर्णरूप्यमाणिक्यामुक्ताफलांशुकादिषु । द्रव्येषु भोगवस्त्राद्यै मृतिकाकंटकादिषु ॥२२॥ रागद्वेषादिकांस्त्यक्त्वा सतां यत्समदर्शनम् । द्रव्यसामायिकं तच्च द्रव्योत्पन्नाघनाशनम् ॥२३॥ सौधारामनदीकूलपुरादीनि शुभानि च । क्षेत्राणि दाव बीभत्सकंटकाद्या– श्रितान्यपि ॥२४॥ अशुभान्याप्य रागद्वेषयोरभाव एव यः । क्षेत्रसामायिकं तद्धि क्षेत्रप्रास्रवरोधकम् ॥२५॥

है ॥१७॥ द्वेष उत्पन्न करने वाले क्रूर बीभत्स और अशुभ नामों को सुन कर द्वेष नहीं करना तथा राग उत्पन्न करने वाले मनोहर और शुभ नामों को सुन कर राग नहीं करना शुभ अशुभ नामों में राग द्वेष का त्याग कर देना उसको गणधर देवों ने सज्जनों के नाम सामायिक कहा है ॥१८–१९॥ स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित मन और इन्द्रियों को सुख देने वाली प्रतिमाओं को देख कर राग नहीं करना तथा नेत्रों को अनिष्ट, कुरूप, वेताल की आकृति के समान प्रतिमाओं को देख कर द्वेष नहीं करना शांति और कल्याण करने वाला स्थापना सामायिक है ॥२०–२१॥ सोना, चाँदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि भोगोपभोग के पदार्थों में अथवा मिट्टी काँटे आदि पदार्थों में राग द्वेष का त्याग कर देना तथा समस्त पदार्थों में समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है। यह सामायिक द्रव्यों से उत्पन्न हुए समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥२२–२३॥ राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रों को पाकर राग नहीं करना तथा काँटों से भरे हुये कंकड़ पत्थरों से भरे हुये दावाग्नि से जले हुए वन आदि अशुभ क्षेत्र को पाकर द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है। यह क्षेत्र सामायिक क्षेत्र से उत्पन्न होने वाले आस्रव को रोकने वाला है ॥२४–२५॥

साम्यरूपान् शुभान् कालान् शीतोष्णादिच्युतान् क्वचित् । पड्ऋतूंश्च तम. पञ्चशीतोष्णाद्यान् कुदु'खदान् ॥२६॥ सरपर्शः त्यज्यते यद्धि रागद्वेप द्वयं बुधै. । कालसामायिकं कालकृतदोपादिहृत् यत् ॥२७॥ सर्वजीवेपु मैत्र्यादियुक्तोऽशुभापरान्मुख. । शुभो रागादिनिर्मुक्तो धर्मध्यानादितत्पर' ॥२८॥ शुद्धः समगुणापन्नो भावो यो धमितां महान् । भावसामायिक तद्धि चित्तोत्थदोपवारकम् ॥२९॥ एतै. पड्भिश्चनिक्षेपैरुपायैर्ज्ञानिनां परम् । सामयिकं शुभध्यान कारणं जायतेतराम् ॥३०॥ दर्शनज्ञानचरित्रतपोभिः सह चात्मन । ऐक्यं गमन मत्यर्थं यत्तत्सामायिकं महत् ॥३१॥ निर्जिताखिल घोरोपसर्गतीव्रपरीषहैः । व्रतैः समितिगुप्ताद्यै सर्वैश्च नियमैर्यमैः ॥३२॥ सुभावनाखिलैः सारै. शुभध्यानैरलंकृतः । य. सर्वत्र समारूढ. सोऽत्र सामायिकी महान् ॥३३॥

कोई समय शीत उष्णता से रहित समान रूप तथा शुभ होता है। कहीं पर छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता रहा है, कहीं शीतता अधिक होती है, कहीं उष्णता अधिक होती है किसी समय अँधेरा ही रहता है। इस प्रकार के सुख दुःख देने वाले समयों में राग द्वेष नहीं करना राग द्वेष का सर्वथा त्याग कर देना सो बुद्धिमानों के द्वारा काल सामायिक कहलाता है यह काल सामायिक काल से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥२६-२७॥ समस्त जीवों में मैत्री प्रमोद प्रमोद कारुण्य आदि भावों को धारण करना, अशुभ परिणामों से सदा परान्मुख रहना, रागादिक शुभ परिणामों का भी त्याग करना धर्मध्यान में सदा तत्पर रहना, समता गुण से सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूप से जो बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उसको भाव सामायिक कहते हैं। यह भाव सामायिक मन से उत्पन्न होने वाले समस्त दोपों को दूर करने वाला है ॥२८-२९॥ ज्ञानी पुरुषों के ऊपर लिखे अनुसार छह प्रकार के उपायरूप निक्षेपों से उत्कृष्ट सामायिक होता है तथा वह शुभ ध्यान का कारण होता है ॥३०॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपश्चरण के साथ साथ आत्मा की एकता हो जाना आत्मा में अत्यंत लीन हो जाना सर्वोत्कृष्ट सामायिक कहलाता है ॥३१॥ जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परिषहों को जीत लेता है, जो व्रत, समिति, गुप्ति, समस्त यम, नियम, सारभूत समस्त भावनायें और

समवायं स्वरूपं च यो जानाति स बुद्धिमान् । द्रव्याणां तद्गुणानां च पर्यायाणां जिनागमे ॥ ३४ ॥ हेयोपादेयतत्त्वं च कारणं बंधमोक्षयो. । तस्य सामायिकं विद्धि परमं ज्ञानिनो भुवि ॥ ३५ ॥ विरतः सर्वसावद्यान्निर्जिताक्षमना महान् । महातपा स्त्रिगुप्तो यः सामायिकी स उत्तमः ॥३६॥ यस्य सन्निहितोत्रात्मा संयमे नियमे गुणे । शमे तपसि तत्रैव तिष्ठेत्सामायिकं परम् ॥ ३७ ॥ यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च । सादृश्यः स्वात्मनो भावस्तस्य सामायिकं सताम् ॥३८॥ रागद्वेषाक्षमोहाद्या विकृतिं जनयन्ति न । शमाद्यैर्दमिता यस्य तस्य सामायिकं महत् ॥३९॥ कषाया. क्रोधमानाद्याश्चत्वारो येन निर्जिता. । क्षमामृद्वार्जवासंगगुणै–

शुभ ध्यान से सुशोभित रहता है जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है वह उत्कृष्ट सामायिक करने वाला कहा जाता है ॥३२–३३॥ जो बुद्धिमान पुरुष स्वपर पदार्थों के संबंध के स्वरूप को जानता है जिनागम के अनुसार द्रव्य गुण और पर्यायों के स्वरूप को उनके संबंध के स्वरूप को जानता है, हेय और उपादेय तत्त्वों को जानता है और बंध मोक्ष के कारणों को जानता है उस परम ज्ञानी के सामायिक होता है ॥३४–३५॥ जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया है, जो उत्कृष्ट है, महा तपस्वी है और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला है वह उत्तम पुरुष सामायिक करने वाला कहा जाता है ॥३६॥ जिस महा पुरुष का आत्मा संयम में, नियम में, गुणों में समता में और तपश्चरण में लगा हुआ है उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है ॥३७॥ जो पुरुष समस्त त्रस स्थावर जीवों में समता धारण करता है समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान मानता है। इस प्रकार के भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ॥३८॥ जिस पुरुष के राग द्वेष इन्द्रियाँ और मोह आदिक किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसके समता वा शांत परिणामों से रागद्वेषादिक सब शांत हो गये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ॥३९॥ जिस महा पुरुष ने क्रोधादिक की शक्ति को घात करने वाले क्षमा मार्दव आर्जव और आकिंचन्य गुणों से क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों को जीत लिया है तथा वैराग्य ब्रह्मचर्य और संयम से तीनों वेद और हास्यादिक नोकषाय जीत लिये हैं तथा जिसने और भी समस्त दोष जीत लिये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट

स्तन्छक्तिघातकैः ॥४०॥ हास्याद्याः षट् त्रिवेदाश्च वैराग्यब्रह्म संयमैः । अन्ये दोषाश्च तस्यात्र परं सामायिकं मतम् ॥४१॥ आहाराद्याश्चतु सञ्ज्ञाः लेश्यास्तिस्रोऽशुभाभुवि । न यान्ति विकृतिं यस्य तस्य सामायिक शुभम् ॥४२॥ यस्प पचेन्द्रियादान्तास्तपोभिःस्पर्शनादयः । शक्ता कर्तुं विकार न तस्य सामायिक महत ॥४३॥ दुर्ध्यानान्यार्त्त रौद्राणि योष्टौ नित्यं परित्यजेत् । प्रशस्तध्यानमालब्य तस्य सामायिक परम् ॥४४॥ ध्यानं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्ल ध्यायति योन्वहम् । जित्वा मनो वलात्तस्य तिष्ठंत्सामायिकोत्तमम् ॥४५॥ सर्वत्र समताभाव कारणाय जिनैर्मत । योगिना परमो नित्य मामायिकाख्यसंयम. ॥४६॥ सर्वसावद्ययोगानिवर्जनार्थं शुभाप्तये । सामायिकं गृहस्थाना प्रोक्त धर्मशमाय च ॥४७॥ मत्वेति श्रावकै र्नित्यं कार्यं सामायिक शुभम् । दिनमध्ये त्रिवार च धर्मध्यानाय शर्मणे ॥४८॥ यत कुर्वन् गृही नून शुद्धं सामायिक परम् । सर्वत्र समतापन्नो

सामायिक माना जाता है ॥४०–४१॥ जिस पुरुष के आहार आदिक चारों संज्ञाएं तथा तीनों अशुभ लेश्याएं कभी विकार भाव को प्राप्त नहीं होतीं उसी के शुभ सामायिक माना जाता है ॥४२॥ जिसके तपश्चरण के वल से स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियाँ शांत हो गई हैं और कभी भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकतीं उसी के उत्कृष्ट सामायिक होता है ॥४३॥ जो पुरुष धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण कर चारों प्रकार के आर्तध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग कर देता है उसी के श्रेष्ठ सामायिक कहा जाता है ॥४४॥ जो पुरुष अपनी शक्ति से मन को जीत कर चारो प्रकार के धर्मध्यान को और चारों प्रकार के शुक्लध्यान को प्रतिदिन धारण करता है उसी के उत्तम सामायिक होता है ॥४५॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने योगियों के लिये सर्वत्र समता भाव धारण करने के लिए प्रतिदिन परम सामायिक करना और प्रतिदिन इन्द्रिय संयम पालन करना ही वतलाया है ॥४६॥ गृहस्थों को समस्त पापरूप योगों का त्याग करने के लिये, शुभ की प्राप्ति के लिये तथा धर्म और कल्याण की प्राप्ति के लिये एक सामायिक ही वतलाया है ॥४७॥ यही समझ कर श्रावकों को धर्मध्यान की प्राप्ति और आत्मकल्याण करने के लिये प्रतिदिन दिन में तीन वार शुभ सामायिक करना चाहिये ॥४८॥ क्योंकि सर्वत्र समता भाव धारण करता हुआ और शुद्ध उत्कृष्ट सामायिक करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही भावलिंगी मुनि के

भावलिंगी यतिर्भवेत् ॥४६॥ अरण्ये श्रावकः कश्चित् धीरस्त्यक्तवपुर्महान् । निष्कंप ध्यानमालंब्य व्यधात्सामायिकं परम् ॥५०॥ शरेण केनचिद्विद्धो मृगस्तस्य पदान्तरे । प्रविश्यार्तं कियत्कालं स्थित्वा वेदनया मृतः ॥५१॥ तथापि न मनागेषो चलत्सामायिकात्सुधीः । अस्यौगमे कथा ज्ञेया गृहिणो भावलिंगिनः ॥५२॥ अजिताद्याश्च पार्श्वान्ता द्वाविंशति जिनेश्वरा । दिशन्ति मुक्तये वाण्या सामायिकैकसंयमम् ॥५३॥ छेदोपस्थापनं नैव यतोमीषां महाधियः स्वभावेन सुशिष्याः स्युः निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः ॥५४॥ सामायिकं च छेदोपस्थापनं संयमं परम् । आहतुर्ध्वनिना मुक्त्यै ह्याद्यान्तिमजिनाधियौ ॥५५॥ यतः श्री वृषभेशस्य सुशिष्या ऋजुबुद्धयः । सन्मतेः काल

समान माना जाता है ॥४६॥ कोई एक धीरवीर महा श्रावक अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर किसी वन में अचल और ध्यान में लीन होकर उत्कृष्ट सामायिक करने के लिये खड़ा था। उसी समय किसी के बाण से घायल हुआ कोई हिरण उस श्रावक के दोनों पैरों के बीच में आ पड़ा। उस समय वह हिरण अत्यंत दुःखी होकर चिल्ला रहा था और उसी वेदना से वह थोड़ी ही देर में वहीं मर गया तथापि वह बुद्धिमान श्रावक अपने सामायिक से रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। इस भावलिंगी गृहस्थ की कथा शास्त्रों में लिखी है वहाँ से जान लेनी चाहिये ॥५०–५२॥ भगवान अजित नाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने अपनी दिव्य ध्वनि से मोक्ष प्राप्त करने के लिये एक सामायिक नाम के संयम का ही उपदेश दिया है। इन बाईस तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना नाम के संयम का उपदेश नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि इन बाईस तीर्थंकरों के श्रेष्ठ शिष्य स्वभाव से ही महा बुद्धिमान थे, प्रमाद रहित थे और जितेन्द्रिय थे ॥५३–५४॥ प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेव ने तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिये सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयमों का उपदेश दिया है ॥५५॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान वृषभदेव के शिष्य सरल बुद्धि को धारण करने वाले थे और भगवान महावीर स्वामी के शिष्य कालदोष से सदोष थे और मंद बुद्धि को धारण करने वाले थे ॥५६॥ स्वभाव से

दोपेण सदोपामंदबुद्धय ॥ ५६ ॥ ऋजुमंदस्वभावास्ते योग्यायोग्यंव्यतिक्रमम् । व्यक्त सव नजानन्ति विस्तरोक्त्या– विनाभुवि ॥ ५७ ॥ तस्माचकारणात्तौद्वावूचतु'श्रीजिनाधिपौ । अनुग्रहाय शिष्याणां सग्मौ द्वौ शिवाप्तये ॥५८॥ आख्यातु'किलविज्ञातु'पृथग्भावयितु' तथा । महाव्रतानि पचैवगुप्तय समितीस्तथा ॥ ५६ ॥ तेपि सर्वे जिनेशानां शिष्या.शुद्धिशिवाप्तये । चरन्तिसर्वशेत्कृष्टं शुद्ध'सामायिक शुभम् ॥ ६० ॥ सामायिकवलाद्योगीक्षणार्द्धेन– क्षिपेच्चयत् । कर्मजाल महत्तन्न तपसा वर्षकोटिभिः ॥ ६१ ॥ सामायिकवलेनासौ करोति सवरंपरम् । कर्मणां विधिनाध्यानी महतीं सुनिर्जराम् ॥ ६२ ॥ सामायिकस्य सामर्थ्याद्विधत्ते मुनिपुगव । ध्यानानि ते.प्रजायेते केवलज्ञानदर्शने ॥ ६३ ॥ सामायिक जिनाःप्राहु पचाक्षमृगवन्धने । पाशवश्रृंखलातुल्य मनोमर्कटरोधने ॥६४॥

ही सरल बुद्धि और मंदबुद्धि को धारण करने के कारण वे लोग विना विस्तार से बतलाये योग्य अयोग्य मुनियों के पूर्ण चारित्र को व्यक्तरीति से नहीं जानते थे । इसी कारण से भगवान वृषभदेव और भगवान महावीर स्वामी ने उन शिष्यों का अनुग्रह करने के लिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार के संयम बतलाये हैं ॥५७–५८॥ कहने समझने और अलग अलग पालन करने के लिये महाव्रत पाँच हैं गुप्तियाँ तीन हैं और समितियाँ पाँच हैं । भगवान जिनेन्द्रदेव के शिष्य आत्म शुद्धि और मोक्ष प्राप्त करने के लिये इनका पालन करते हैं तथापि वे शुभ शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट सामायिक को अवश्य करते हैं क्योंकि सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं ॥५६–६०॥ मुनिराज इस सामायिक के बल से आधे क्षण में जितने कर्मों को नष्ट कर डालते हैं उतने महा कर्म करोड़ों वर्षों के तपश्चरण से भी नष्ट नहीं हो सकते ॥६१॥ ध्यान करने वाला योगी इस सामायिक के बल से परम संवर करता है और विधि पूर्वक कर्मों की महा निर्जरा करता है ॥६२॥ मुनिराज इस सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारण करते हैं और ध्यान से केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करते हैं ॥६३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने पाँचों इन्द्रियरूपी पशुओं को बाँधने के लिये इस सामायिक को रस्सी के समान बतलाया है और मनरूपी बंदर को रोकने के लिये इसी सामायिक को सांकल के समान बतलाया है ॥६४॥ विद्वान् लोग संसार

सामायिकमहामंत्रं संसाररोगकीलने । वुधा जगुश्च साधूनां कर्मारण्येनलोपमम् ॥ ६५ ॥ सामायिक सुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम् । सुखनिस्तेचिरेणस्युर्जन्ममृत्युविषातिगा' ॥ ६६ ॥ संचीयते परंधर्मं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । शुद्धंच चीयते पाप सामायिकात्तचेतसाम् ॥ ६७ ॥ मुक्तिश्रीःस्वपमागत्यासक्त्याेसामायिकात्मनः । वृणोत्यहो श्रियासार्द्धंकाकथादेवयोषिताम् ॥ ६८ ॥ सामायिकेन मागरा हिंसादिपंचपातकान् । हत्वोपाज्य परं धर्मं यान्ति स्वर्गंचषोडशम् ॥ ६९ ॥ द्रव्यसामायिकेनात्राभव्योजिनेन्द्रवेषधृत् । महातपा.सुशास्त्रज्ञःऊर्ध्वं ग्रैवेयकं व्रजेत् ॥७०॥ वह्वारम्भोद्भवं पापं चिपित्वा प्रत्यहं महत् । शुद्धसामायिकेनैव निंदयागर्हणेनच ॥ ७१ ॥ शिप्तकर्मादिमश्चक्री भरतेशोनुसंयमम् । गृहीत्वा ध्यानमालम्ब्य शुक्लं कर्मवनानलम् ॥ ७२ ॥ घटिकाद्वयमात्रेण हत्वा घातिचतुष्टयम् ।

रूपी सर्प को कीलने के लिये ('वश में करने के लिये) इस सामायिक को महामंत्र बतलाते है तथा साधुओं के कर्म रूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान कहते हैं ॥६५॥ जो मुनि इस सामायिक रूपी अमृत पान को निरंतर करते रहते हैं वे जन्म मरण रूपी विषय से छूट कर सदा के लिये सुखी हो जाते हैं ॥६६॥ जिनके हृदय में सामायिक की वासना भरी हुई है उनके पाप सब नष्ट हो जाते हैं, और अत्यंत शुद्ध तथा स्वर्ग मोक्ष को वश करने वाला परम धर्म संचित होता है ॥६७॥ सामायिक करने वाले पुरुषों को मोक्षरूपी लक्ष्मी समस्त लक्ष्मियों के साथ आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है फिर भला देवियों की तो बात ही क्या है ॥६८॥ इस सामायिक के प्रभाव से श्रावक भी हिंसादिक पाँचों पापों को नष्ट कर और परम धर्म को संचित कर सोलहवें स्वर्ग तक पहुँचते हैं ॥६९॥ भगवान जिनेन्द्रदेव के भेष को धारण करने वाला .(मुनि लिंग धारण करने वाला) महा तपस्वी और अनेक शास्त्रों का जानकार अभव्य जीव भी इस द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक पहुँचता है ॥७०॥ देखो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत महारंभ से उत्पन्न हुए प्रतिदिन के महा पापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे, तथा निंदा गर्हा के द्वारा बहुत से कर्मों को नष्ट करते थे । तदनंतर उन्होंने संयम धारण कर कर्मरूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान ऐसे शुक्ल ध्यान को धारण किया था और दो ही घडी में चारो घातिया कर्मों को नष्ट कर देव और इन्द्रों के द्वारा

साद्धं देवार्चनैर्दिव्यं प्रापानन्तचतुष्टयम् ॥७३॥ वहुनोक्तेन किं साध्यं नकिंचित्शिवसिद्धये । सामायिकेन सदृश विद्यते योगिनांकचित् ॥७४॥ ज्ञात्वेत्यस्यात्रमाहात्म्यमुत्थाय बुधसत्तमा । योगशुद्धिं विधाय प्रतिलेख्यांगं धरातलम् ॥७५॥ स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य कालेकाले शिवाप्तये । कुर्वन्तु सर्वदा यत्नात् शुद्धं सामायिकं परम् ॥७६॥ अखिलगुणसमुद्रं मुक्तिसौधाग्रमार्गं निरुपमसुखहेतुं धर्मवीज विशुद्धम् । दुरित तिमिरभानुं धीधनाः कर्महान्यै कुरुत हृदयशुध्या शुद्धसामायिकं भो ॥७७॥ इमां सामायिकस्यादौ नियुक्तिं प्रतिपाद्यवै । समासेन ततो वक्ष्ये नियुक्तसत्स्तवस्य च ॥७८॥ चतुर्विंशति तीर्थपा त्रिजगत्स्वामिनां च यत् । सार्थैं नीमादिभिः पड्भिःसारैर्लोकोत्तमैर्गुणैः ॥७९॥ स्तवनंक्रियते दक्षैः प्रणाम भक्तिपूर्वकम् । भावार्चनं महध्यानं

होने वाली पूजा के साथ साथ दिव्य अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिया था ॥७१-७३॥ वहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि योगियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस सामायिक के समान और कोई पदार्थ किसी स्थान में भी नहीं है ॥७४॥ इस प्रकार इस सामायिक के महात्म्य को समझ कर श्रेष्ठ बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये उठ कर खड़ा होना चाहिये तथा मन वचन काय को शुद्ध कर, अपने शरीर और पृथ्वी को देख शोध कर अपने दोनों हाथ जोड़ कर सामायिक के प्रति समय पर प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये ॥७५-७६॥ यह सामायिक समस्त गुणों का समुद्र है, मोक्षरूपी राजभवन का मुख्य मार्ग है, मोक्षरूपी अनुपम सुख का कारण है, धर्म का बीज है, अत्यंत विशुद्ध है, और पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है। इसलिये हे बुद्धिमान् लोगो अपने कर्मों को नाश करने के लिये शुद्ध हृदय से शुद्ध सामायिक धारण करो। प्रतिदिन नियम पूर्वक इसको करते रहो ॥७७॥ इस प्रकार पहले सामायिक का स्वरूप कहा अब आगे संक्षेप से दूसरे स्तव वा स्तुति नाम के आवश्यक का स्वरूप कहते हैं ॥७८॥ भगवान चौबीस तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामी हैं उनके सार्थक नामों के द्वारा वा सारभूत लोकोत्तम गुणों के द्वारा प्रणाम और भक्ति पूर्वक छह प्रकार से जो चतुर पुरुषों के द्वारा स्तवन किया जाता है उनकी भावपूजा की जाती है वा उनका महा ध्यान किया जाता है उसको मोक्ष सुख देने वाला स्तवन कहते हैं ॥७९-८०॥

सस्तवः शिवशर्मदः ॥८०॥ स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालो जिनोद्भवः। भावस्येति निक्षेप.स्तवश्चषड्विधः स्मृतः ॥८१॥ तीर्थेशनाममात्रोच्चरणेनचसतां द्रुतम्। विघ्नजालानि पापानि प्रलीयन्ते रुजादयः ॥८२॥ जायते च परं पुण्यं जिनचक्र्यादिभूतिदम्। धर्माद्यर्थाश्च सिध्यन्ति ढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥८३॥ इत्यादि नाममहात्म्य वर्णनैर्या विधीयते। स्तुति नामभिश्चाष्टाग्रसहस्रप्रणामकै. ॥८४॥ वर्तमानचतुर्विंशति तीर्थेश्वर नामभिः। स्तव. सकथ्यते सद्भिर्धर्ममूलोऽशुभान्तकः ॥८५॥ कृत्रिमाकृत्रिमाणां च मूर्तीनां तीर्थकारिणाम्। पूजास्तुतिनमस्कारैः क्षीयन्ते विघ्नराशय. ॥८६॥ सतां सम्पद्यते पुण्यं परं शर्मैककारणम्। विश्वाभ्युदयकल्याणा [ ] जायन्ते च पदे-पदे ॥८७॥ इत्यादिस्थापनास्तुत्या तीर्थेपांस्तवनंचयत्। शिवाय क्रियते विद्भिःसस्थापनाभिधःस्तव. ॥८८॥

वह स्तवन भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से छह प्रकार है। यह छह प्रकार का स्तवन का निक्षेप है और भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥८१॥ चौबीसों तीर्थंकरों के नाम मात्र के उच्चारण करने से सज्जनों के सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं पाप नष्ट हो जाते हैं और रोगादिक सब नष्ट हो जाते हैं ॥८२॥ इसके सिवाय तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने से तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की विभूति को देने वाला पुण्य प्राप्त होता है, धर्मादिक चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों की लक्ष्मियां प्राप्त हो जाती हैं ॥८३॥ इस प्रकार भगवान के नामों का महात्म्य वर्णन कर जो स्तुति की जाती है अथवा एक हजार आठ नाम पढ़ कर जो स्तुति की जाती है उनको एक हजार आठ प्रणाम किये जाते हैं अथवा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नाम पढ़ कर जो स्तुति की जाती है उसको धर्म का मूल और शुभ देने वाला नाम स्तवन कहते हैं ॥८४—८५॥ इस संसार में तीर्थंकरो की जो कृत्रिम वा अकृत्रिम प्रतिमायें हैं उनकी पूजा स्तुति वा नमस्कार करने से सज्जनों के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं परम कल्याणों का कारण ऐसा पुण्य प्राप्त होता है और क्षण क्षण में सब तरह के अभ्युदय और कल्याण प्राप्त होते हैं इस प्रकार विद्वान् लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्थापना निक्षेप से स्थापित की हुई तीर्थंकर की प्रतिमा को स्तुति करते हैं उसको स्थापना स्तव कहते हैं ॥८६—८८॥ भगवान तीर्थंकर परम देव

दिव्यौदारिकदेहाना कोटीनेभ्योखिलार्हताम् । विश्वनेत्रप्रियाणां सौम्यानामधिकतेजनाम् ॥८६॥ श्वेतपीतादि-सद्वर्णैः स्तवनं यत्सुकान्तिभिः । निष्पाद्यते च शास्त्रज्ञैः सद्द्रव्यस्तव एवहि ॥९०॥ कैलाशचलसम्मेदोर्जयतादि-शभात्मनाम् । निर्वाणक्षेत्रभूमीनामर्हतागुणवर्णनैः ॥९१॥ पूजास्तुति नमस्कारैर्यन्माहात्म्यप्रशंसनम् । क्षेत्रस्तवः सविज्ञेयःपुण्यनिर्वाणहेतुकृत् ॥९२॥ पच कल्याणके सारैः स्वर्गावतरणादिभिः । देवेन्द्राद्विकृतैर्भूत्यामहापुण्य निवधनैः ॥९३॥ स्तुतिर्याक्रियते तज्ज्ञैः कल्याणगुणभाषणैः । सर्वेषां तीर्थकर्तॄणां काल स्तवः सएवच ॥९४॥ केवलज्ञानदृष्ट्याद्या गुणा अन्तातिगा. पराः । विद्यन्तेयेर्हतां स्तोतुं तान्क्षमोमादृश.कथम् ॥९५॥ इत्यादि सद्गुणानांच भाषण यद्विधीयते । तद्गुणाय वुधैर्भावस्तव सतद्गुणप्रदः ॥९६॥ लोकोद्योतकरालोके विश्वतत्त्व-

दिव्य औदारिक शरीर को धारण करने वाले हैं संसार भर के समस्त नेत्रों को प्रिय हैं अत्यंत सौम्य हैं और करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेज को धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकरों के अत्यंत मनोहर श्वेत पीत आदि शरीर के रूप का वर्णन कर उनकी स्तुति करना अथवा अनेक शास्त्रो को जानने वाले जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार की स्तुति करते हैं उसको द्रव्य स्तवन कहते हैं ॥८६–९०॥ भगवान अरहंतदेव के गुणों का वर्णन कर कैलाश पर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि अरहंतों के शुभ निर्वाण भूमियों की पूजा स्तुति करना उनको नमस्कार करना और उनका महात्म्य प्रगट करना क्षेत्र स्तवन कहलाता है। यह क्षेत्र स्तवन भी पुण्य और निर्वाण का कारण है ॥९१–९२॥ विद्वान् लोग जो समस्त तीर्थंकरों के स्वर्गावतार आदि पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं इन्द्रादिक देवों ने जिस विभूति के साथ कल्याणोत्सव मनाया है उसका वर्णन करते हैं उन कल्याणोत्सवों को महा पुण्य का कारण बतलाते हैं और सारभूत कहते हैं इस प्रकार जो पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते है उसको कालस्तवन कहते हैं ॥९३–९४॥ "भगवान अरहंतदेव के केवल ज्ञान केवल दर्शन आदि अनंत गुण हैं उन सबकी स्तुति करने के लिये मेरे समान बुद्धिहीन पुरुष कभी समर्थ नहीं हो सकते" इस प्रकार विद्वान् लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिये जो अरहंतदेव के गुणों का निरूपण करते हैं वह उन गुणों को देने वाला भावस्तवन कहलाता है ॥९५–९६॥ भगवान अरहंतदेव इस लोक में समस्त लोक का उद्योत करने

प्रकाशकाः । धर्मतीर्थकराः सर्वज्ञान तीर्थविधायिनः ॥९७॥ अर्हन्तो मुक्तिभर्तारःपंचकल्याणभागिनः । शरण्या भवभीतानामनन्तगुणसागराः ॥९८॥ मंत्रमूर्तिमया ध्येयाः कीर्तनीयाःजगत्सताम् । वंदनीया महान्तश्च पूज्या-लोकोत्तमाःपराः ॥९९॥ दिव्यश्रीभूपितानित्या निस्पृहा स्तवनावपि । देवीनिकरमध्यस्थाः परब्रह्मव्रतांकिता ॥२००॥ विश्वभव्यहितोद्युक्ता. सार्थवाहाःशिवाध्वनि ॥१॥ मुक्ति भुक्त्यादिदातारो धर्मार्थकाममोक्षदाः । विश्वविघ्नाघह-न्तारो भाक्तिकानां नसंशयः ॥२॥ इत्याद्यन्यगुणौघैर्ये पूर्णा जिनवरा भुवि । ते मे बोधिं समाधिंचदिशन्तु कीर्तिता नुताः ॥ ३ ॥ सम्यग्दर्शनसद्ज्ञान चारित्राण्यत्र यानिच । परमार्थेन तीर्थानि दुष्कर्ममलनाशनात् ॥४॥

वाले हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं, धर्म के तीर्थंकर हैं, समस्त ज्ञान और तीर्थों की प्रवृत्ति करने वाले हैं, मोक्ष के स्वामी हैं, गर्भादिक पंच कल्याणों को प्राप्त हुए हैं, संसार से भयभीत हुये मनुष्यों को शरण भूत हैं, अनंत गुणों के समुद्र हैं, समस्त मंत्रों की मूर्तिस्वरूप हैं, तथा समस्त जगत के सज्जनों को ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं। वे भगवान वंदनीय हैं, महान् हैं, पूज्य हैं, लोकोत्तम हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। वे भगवान सदा ही दिव्य विभूतियों से विभूपित रहते हैं, अपने शरीर से भी निस्पृह हैं, अनेक देवियों के मध्य मे विराजमान रहते हुये भी परम ब्रह्मचर्य व्रत से सुशोभित रहते हैं। वे भगवान आतम क्षमा आदि उत्तम गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, समस्त भव्य जीवों का हित करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष मार्ग में वे सदा सहायक रहते हैं। वे भगवान भक्त पुरुषों को भक्ति और मुक्ति दोनों के देने वाले हैं, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारो पुरुपार्थों को देने वाले हैं तथा समस्त विघ्नो और पापों को नाश करने वाले हैं। इस प्रकार वे भगवान अनेक गुणों के समूहों से परिपूर्ण हैं। उन भगवान की मैंने यह स्तुति की है तथा उनको नमस्कार किया है इसलिये वे भगवान मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें और समाधि की प्राप्ति करें ॥९७-२०३॥ वास्तव में देखा जाय तो अशुभ कर्मों का नाश रत्नत्रय से ही होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये ही वास्तव में तीर्थ हैं। इन रत्नत्रय स्वरूप तीर्थों की प्रवृत्ति वे तीर्थंकर ही करते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयरूप महा तीर्थों से सुशोभित रहते हैं अथवा

तेषां ये च प्रणेतारो महद्भिस्तैरलं कृता । तन्मया वा जगन्नाथास्तेऽत्रतीर्थाभवन्त्यहो ॥५॥ जितमोहारिसन्ताना.
सतामोह जयन्ति ये । ते जिनाःघातिहन्तार.उच्यन्ते तेनहेतुना ॥६॥ सर्वान् स्तुतिनमस्कारान् सत्काराद्रीन्–
नृनाकिनाम् । पचकल्याणकार्चां च गमनं मुक्तिधामनि ॥७॥ अन्यद्वा मानमन्मान येत्रार्हन्ति जिनेश्वरा ।
अर्हन्तस्तेऽत्र कथ्यन्ते ह्यमुनाहेतुनाखिला' ॥८॥ कथ्यन्ते त्रिजगन्नाथै कीर्तनीया न भूतले। वद्याश्चमुनिभि र्येःसन्मु–
क्तिमार्ग.प्रदर्शितः ॥९॥ लोकालोक समस्त ये जानन्तिकैवलेन च । प्रपश्यन्ति दृशा तस्मात्स्युस्तेकैवलिनोऽ–
खिला' ॥१०॥ मोहदृग्ज्ञानचारित्रावरणैर्घातिकमभि. । मुक्ता ये तीर्थकर्तार उत्तमास्ते जगत्रये ॥११॥ एव गुण–
विशिष्टाये तीर्थनाथाजगत्स्तुता' । तेमे दिशन्तु वोधिंचसमाधिं च स्वगुणान् परान् ॥१२॥ नश्यादेतन्निदानहि

वे तीर्थंकर रत्नत्रयमय ही हैं ऐसे तीनों लोकों के स्वामी वे तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं ॥४–५॥ उन भगवान ने मोहरूपी शत्रु की समस्त संतान जीत ली है अथवा वे भगवान सज्जन पुरुषों के मोह को भी जीत लेते हैं तथा वे भगवान घातिया कर्मों को नाश करने वाले हैं इसलिये उनको जिन कहते हैं ॥६॥ अथवा वे भगवान जिनेन्द्रदेव मनुष्य और इन्द्रों के द्वारा की जाने वालीं समस्त स्तुतियों के समस्त नमस्कारों के योग्य हैं, पंचकल्याणकों में होने वाली पूजा के योग्य हैं, मुक्ति स्थान में गमन करने योग्य हैं तथा और भी संसार मे जितना मान सन्मान है सबके वे योग्य हैं इन्हीं सब हेतुओं से वे भगवान अर्हन् कहलाते हैं ॥७–८॥ जिन तीर्थंकर परमदेव ने श्रेष्ठ मोक्ष का मार्ग दिखलाया है वे भगवान इस संसार में तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा ही प्रशंसनीय नहीं है किंतु मुनियों के द्वारा भी वंदनीय गिने जाते हैं ॥९॥ वे भगवान केवल ज्ञान के द्वारा समस्त लोक आलोक को जानते हैं इसलिये उनको केवली कहते हैं तथा केवल दर्शन के द्वारा वे समस्त लोक अलोक को देखते हैं इसलिये उनको केवल दर्शी वा सर्वदर्शी कहते हैं ॥१०॥ वे तीर्थंकर परमदेव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और चरित्रावरण (चारित्र मोहनीय वा अंतराय) इन घातिया कर्मों से रहित हैं इसलिये वे भगवान तीनों लोकों में सर्वोत्तम कहलाते हैं ॥११॥ इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित और तीनों लोकों के द्वारा स्तवन किये गये वे भगवान तीर्थंकर परमदेव मेरे लिये रत्नत्रय तथा समाधि को प्रदान करें

किन्त्वमत्यमृपाह्वयम् । एपाभापा जिनेन्द्रेण प्रणीता कार्यसिद्धये ॥१३॥ यतस्तैर्यच्चदातव्यं सर्वदृग्विदूव्रतादिकम् । हितं धर्मोपदेशादि तद्दत्तं तैर्जिनैःसताम् ॥ १४ ॥ अधुनावीतमोहास्तेकृतकृत्याजिनाधिपः । नकिंचिद्ददते लोके विश्वचितमातिगा नृणाम् ॥ १५ ॥ अथवा प्रार्थनात्रैपा भक्तिरागभरांकिता । सफला भक्तिकानां सद्धर्मा- र्जनाद्भविष्यति ॥ १६ ॥ यतोभक्त्यार्हतां पुंसां चीयन्तेक्लेशराशयः । सर्वे मनोरथासिद्धिमिहामुत्र व्रजन्ति च ॥ १७ ॥ अर्हत्सुवीतदोपेष्वाचार्योपाध्यायसाधुपु । धर्मं रत्नत्रयेनर्ध्ये जिनवाक्ये च धर्मिपु ॥ १८ ॥ यतो जायतेराग· स्वभावेनयो गुणोद्भवः । सप्रशस्तो मतःसद्भिर्दृष्टिज्ञानादिधर्मकृत् ॥ १९ ॥ मत्वेति श्रीजिनादीनां

तथा अपने अन्य गुणों को भी प्रदान करें ॥१२॥ भगवान की इस प्रकार की स्तुति करने को "रत्नत्रय समाधि प्रदान करें" इस प्रकार कहने को निदान नहीं समझना चाहिये किंतु भगवान जिनेन्द्रदेव ने कार्य सिद्धि के लिए ऐसी भापा को अनुभय भापा कहा है ॥१३॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेव को भव्य जीवों के लिये सम्यग्दर्शन, आत्मा की शुद्धता, व्रत, हित, धर्मोपदेश आदि जो कुछ देना था वह सव कुछ वे भगवान भव्य सज्जनों को दे चुके। इस समय तो वे भगवान वीतराग हैं कृतकृत्य हैं जिनेन्द्र हैं और समस्त चिंताओं से रहित हैं इसलिये वे अव इस संसार में मनुष्यों को कुछ नही देते ॥१४–१५॥ अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान की ऐसी स्तुति करना हमें रत्नत्रय देवें आदि कहना भक्ति और उनके गुणो के प्रति होने वाले अनुराग से भरी हुई प्रार्थना है और श्रेष्ठ धर्म को पालन करने से भक्त पुरुपों की वह प्रार्थना सफल ही होती है ॥१६॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से मनुष्यों के समस्त क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों के मनोरथ सव सिद्ध हो जाते हैं ॥१७॥ वीतराग भगवान अरहंतदेव में आचार्य उपाध्याय साधुओं में, रत्नत्रय रूप सर्वोत्कृष्ट धर्म मे, जिन वचनों मे और धर्मात्माओं में उनके गुणों से उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग है उसको सज्जन पुरुप प्रशस्त अनुराग कहते है वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म को उत्पन्न करने वाला है ॥१८–१९॥ यही समझ कर भक्त पुरुपों को समस्त अर्थों को सिद्धि करने वाली भगवान

भक्तिरागादयोखिला । विश्वार्थसाधका नित्य कर्तव्या भक्तिकैः परा ॥२०॥ स्तव कुर्वन्तु तद्दचतुर्विंशतिजिनेशा- नाम् । सर्वाभ्युदयससिध्यै नित्यप्रति मुनीश्वराः ॥२१॥ प्रतिलेख्य धरांगादीश्चित्तशुद्धि विधाय च । स्वकरौ संपटी कृत्य स्थित्वा कृत्वा स्थिरौ क्रमौ ॥२२॥ ऋजू चांतरितौ शक्त्या चतुर्भिरगुलैर्मुदा । मधुरेण स्वरेणैव शुद्धव्यक्ताक्षरव्रजैः ॥२३॥ यतोर्हद्गुणराशीना स्तवनेन वुधोत्तमै । लभ्यन्ते तत्समा सर्वगुणा स्वर्मोक्षदा- यिन ॥२४॥ कीर्तनेनाखिला कीर्तिस्त्रैलोक्येच भ्रमेत्सताम् । इन्द्रचक्रि जिनादीनां कीर्तनीयं पद भवेत् ॥२५॥ सम्पद्यतेऽर्हतां भक्त्या सौभाग्यभोगसम्पद. । पूजया त्रिजगल्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥२६॥ जिनानांध्यानयोगेन तीर्थंकरादिभूतय । जायन्ते मुक्तिनार्यामा का वार्ता परसम्पदाम् ॥२७॥ गुणग्रहणमात्रेण जिनेन्द्राणां चयं

जिनेन्द्रदेव की भक्ति और उनके गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिये ॥२०॥ इसलिये मुनिराजो को अपने समस्त कल्याणों की सिद्धि करने के लिये भगवान चौवीसों तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन सदा करनी चाहिये ॥२१॥ मुनियो को सबसे पहले अपना शरीर और पृथ्वी को शुद्ध कर लेना चाहिये, मन को शुद्ध कर लेना चाहिये फिर अपने हाथ जोड़ कर दोनों पैरों को स्थिर रख कर खड़े होना चाहिये । उस समय उनके दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर होना चाहिये और दोनो चाहिये और दोनो पैर सीधे रहने चाहिये । फिर प्रसन्न चित्त होकर मधुर स्वर से शुद्ध और व्यक्त अक्षरों का उच्चारण करते हुये अपनी शक्ति के अनुसार चौवीसों तीर्थंकरों की स्तुति करनी चाहिये ॥२२–२३॥ इसका कारण यह है कि भगवान अरहंतदेव के गुणों के समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान पुरुषों को उन गुणों के समान ही स्वर्ग मोक्ष देने वाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभ कीर्ति तीनो लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं ॥२५॥ भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से समस्त सौभाग्य और भोग संपदाएं प्राप्त होती हैं तथा अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्य पद प्राप्त होते हैं ॥२६॥ भगवान अरहंतदेव का ध्यान करने से मुक्ति स्त्री के साथ साथ तीर्थंकर की समस्त विभूतियाँ प्राप्त होती हैं फिर भला अन्य सम्प-

भागात्। यान्ति विघ्नाश्च रोगाश्च यत्नेन नमामि भो ॥२८॥ ज्ञात्वेति यतयो नित्यं तद्गुणाय जिनेशिनाम्। प्रयत्नेनार्हतां कुर्वन्त्वनुरागं भक्तिसंस्तवादिकान् ॥२९॥ जिनस्तवगुणहेतुं दोषघ्नं शर्म सकलगुणनिधानं ज्ञानविज्ञान-मूलम्। तद्विमलगुणोक्तिभिःतद्गुणग्रामसिद्ध्यै कुरुत बुधजनानित्यं स्तवं तीर्थभाजाम् ॥३०॥ विश्वेषां तीर्थकर्तृणां निःश्रेयसे स्तवं नतः। हितायस्थान्ययोर्वक्ष्ये वंदनां मुक्तिमातृकाम् ॥३१॥ एकतीर्थकृतःसिद्धाचार्यपाठकयो-गिनाम्। साधूनां च गुणानामग्रे ध्यानभक्त्यादिमिश्र यत् ॥३२॥ गुणग्रामैर्नमःस्तोत्रं कृतकर्मविधीयते। प्रत्यहं गुणिभिर्भक्त्या वंदनावश्यकंहि तत् ॥३३॥ नामाख्यस्थापना द्रव्यक्षेत्रं काल. शुभान्वित.। भावःषडतिनिक्षेपा

दाओं की तो बात ही क्या है ॥२७॥ जिस प्रकार सूर्य की प्रभा से अंधकार सब नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के गुणों को ग्रहण करने से क्षण भर में ही समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ॥२८॥ यही समझ कर मुनियों को भगवान अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिये बड़े प्रयत्न के साथ भगवान अरहंतदेव के गुणों में अनुराग, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति आदि करनी चाहिये ॥२९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव का स्तवन उनके गुणों की प्राप्ति का कारण है, समस्त दोष और अशुभ ध्यानों को नाश करने वाला है समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल कारण है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को तीर्थंकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मल गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिये ॥३०॥ इस प्रकार समस्त तीर्थंकरों की स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिए मोक्ष की जननी ऐसी वंदना का स्वरूप कहते हैं ॥३१॥ गुणी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी एक तीर्थंकर की सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करते हैं ध्यान और भक्ति के द्वारा तथा उनके गुण वर्णन कर के प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं उनकी स्तुति करते हैं और कृतिकर्म करते हैं उसको वंदना नाम का आवश्यक गुण कहते है ॥३२-३३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने उस वंदना के भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप निक्षेपों के द्वारा

धेतिविनयोमत' ॥ ५१ ॥ अभ्युत्थान नमस्कारासनदानादिभि परैः । भाषानुवृत्ति छन्दोनुवृत्तिसद्भोजनादिकैः ॥५२॥ लोकात्मीकरणार्थं यो विनय'क्रियते जनैः । लोकानुवृत्तिनामासविनयः कार्यसाधकः ॥ ५३ ॥ अर्थाय य. कृतोलोके विनय' सोऽर्थ संज्ञकः । काभाय कार्मिभिर्यश्चसकामविनयोऽशुभ' ॥ ५४ ॥ भयेनविनयोयोनुष्ठीयते स भयाह्वयः । मोक्षार्थंविनयो योऽत्र समोक्षविसयो महान् ॥ ५५ ॥ त्याज्या लोकानुवृत्याद्याश्चत्वारो विनयाः सदा । मोक्षाख्यः पंचम. कार्यं विनयोमुनिभि परः ॥५६॥ दृग्विद्वृत्ततपोभेदैरुपचारेण पंचधा । मोक्षाख्यो विनयो ज्ञेयोमुक्तिहेतु गुणप्रदः ॥५७॥ यथाविश्वे पदार्था येऽत्रोपदिष्टा जिनोत्तमै. । तेषां तथैव श्रद्धानं यद्दृष्टिविनयो-हि सः ॥५८॥ सम्यक्त्वविनयेनात्र सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम् । सोपानं प्रथममुक्तिश्रीसौधलभ्यते महत् ॥५९॥

निमित्तक, कामहेतुक भय और मोक्ष संज्ञक ॥५१॥ दूसरे को देख कर खड़ा होना, उसको नमस्कार करना, उसको आसन देना, उसके अनुकूल भाषण करना, उसके अनुकूल चलना, उनको भोजन देना आदि लोगों को अपना बनाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको लौकिक कार्य सिद्ध करने वाला लोकानुवृत्ति नाम का विनय कहते हैं ॥५२–५३॥ इस लोक में धन कमाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको अर्थ विनय कहते है कामी पुरुषों के द्वारा जो काम सेवन के लिये विनय किया जाता है उसको अशुभ काम विनय कहते हैं ॥५४॥ भय से जो विनय किया जाता है वह भय विनय है और मोक्ष के लिये जो विनय किया जाता है वह महान् मोक्ष विनय है ॥५५॥ मुनियों को लोका-नुवृत्ति आदि चारों प्रकार का विनय सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये और पाँचवाँ सर्वोत्कृष्ट मोक्ष नाम का विनय धारण करना चाहिये ॥५६॥ यह मोक्ष निनय मोक्ष का कारण है और अनेक गुणों को देने वाला है तथा दर्शन विनय ज्ञान विनय चारित्र विनय तप विनय और उपचार विनय ये पाँच उसके भेद हैं ॥५७॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने समस्त पदार्थों का स्वरूप जैसा बतलाया है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना दर्शन विनय कहलाती है ॥५८॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का विनय करने से चन्द्रमा के समान निर्मल और मुक्तिलक्ष्मी के राजभवन की पहिली सीढ़ी ऐसा महान् सम्यग्दर्शन प्राप्त होता

कलाद्यष्टविधाचारैः पठनं पाठनं च यत् । योगशुध्यासुशास्त्राणां स ज्ञानविनयोऽद्भुतः ॥६०॥ सद्ज्ञानविनयेनाहो जायते ज्ञानलोचनम् । त्रिजगद्दर्पणंसार्द्धं सर्वैर्विद्यादिभिः सताम् ॥६१॥ त्रयोदशविधेः वृत्तापालने वृत्तशालिभिः । उत्साहो योऽनुरागश्च चारित्रविनयोऽत्रसः ॥६२॥ चारित्रविनयेनात्र केवलज्ञान कारणम् । विश्वसौख्याकरं वृत्तं यथाख्यातं नृणां भवेन् ॥६३॥ द्विषद्भेदतपोयोगाचरणे च तपस्विषु । भक्तिरागोद्यमः शक्त्या यस्तपः विनयोऽत्र सः ॥६४॥ स्युस्तपोविनयेनाहो घोरवीर तपांसि च । घातिकर्मारिहंतृणि योगिनां विश्वसम्पदः ॥६५॥ यत्प्रत्यक्षपरोक्षेणाचार्याद्यखिलयोगिनाम् । आज्ञादिपालनं चौपचारिको विनयोऽत्र सः ॥६६॥ अनेन विनयोनाशु संपाद्यन्तेखिलागुणाः । ज्ञानविज्ञानविद्याद्यामोक्षदा यमिनां पराः ॥६७॥ मोक्षार्थं विनयं

है ॥५९॥ मन वचन काय को शुद्ध कर कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, शब्दार्थाचार, विनयाचार, उपाधना चार, मानाचार, अनिह्नवाचार इन आठों आचारों के साथ साथ श्रेष्ठ शास्त्रों का पठन पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञानविनय कहलाता है ॥६०॥ इस श्रेष्ठ ज्ञानविनय से सज्जन पुरुषों के समस्त विद्याओं के साथ साथ दर्पण के समान तीनों लोकों के स्वरूप को दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है ॥६१॥ चारित्र पालन करने वालों का तेरह प्रकार के चारित्र पालन करने में जो उत्साह वा अनुराग है उसको चारित्र विनय कहते हैं ॥६२॥ चारित्र विनय को धारण करने से केवलज्ञान का कारण और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाला ऐसा यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है ॥६३॥ वारह प्रकार के तपश्चरण को पालन करने में तथा तपस्वियों में शक्तिपूर्वक अनुराग धारण करना तपो विनय कहलाता है ॥६४॥ तपो विनय धारण करने से मुनियों के घातिया कर्मों को नाश करने वाले घोर वीर तपश्चरण प्रगट होते हैं और संसार की समस्त संपदाएं प्राप्त होती है ॥६५॥ आचार्य आदि समस्त योगियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से आज्ञा का पालन करना औपचारिक विनय है ॥६६॥ मुनियों के इस उपचार विनय से सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष देने वाले ज्ञान विज्ञान विद्या आदि समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥६७॥ जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन इस मोक्ष विनय को धारण करते हैं उनको संसार की समस्त विभूतियों के साथ साथ मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥६८॥

वंदनायाजिनैर्मता ॥ ३४ ॥ 'एकार्हतोच सिध्दानां सूरीणां पाठकात्मनाम्। साधूनांचमुदानामोच्चरणैर्नाम–सम्भवै ॥ ३५ ॥ गुणग्रामैःसदा स्तोत्रंक्रियते यच्छिवाप्तये । सा नामवंदनाज्ञेया नुतिपूर्वा जगद्धिता ॥३६॥ एकार्हाद्दिसर्वेषां भक्तिभावभरांकितैः । स्तूयन्ते प्रतिमा यत्रपुण्यादिफलभापणेः ॥ ३७ ॥ तद्भक्त्यार्चा प्रणामा–दीनांधर्मार्थादिसाधनम् । स्थापनाख्यं जिनैःप्रोक्तं वंदनावश्यकंहि तत् ॥ ३८ ॥ अमीषां यच्छरीराणां दिव्य–वर्णादिवर्णनैः । स्तवनं यद्बुधैर्भक्त्या साद्रव्यवदना शुभा ॥ ३९ ॥ क्षेत्राण्यधिष्ठितान्येव तैःसर्वे यत्रयोगिभिः । स्तूयन्ते पुण्यकर्तॄणि क्षेत्राख्या वदनाहिमा ॥४०॥ तैरेकजिनसिद्धाद्यै.कालोयोऽधिष्ठित शुभ. । स्तूयन्तेसद्गुणोच्चारैः सा कलवन्दनोर्जिता ॥४१॥ एकार्हन्शरीराचार्योपाध्यायमहात्मनाम् । साधूनां शुद्धभावेनभावग्रहणपूर्वकम् ॥४२॥

छह भेद बतलाये है ॥३४॥ किसी एक तीर्थंकर का, सिद्धों का आचार्यों का उपाध्यायों का और साधुओं का प्रसन्नता पूर्वक नाम उच्चारण करना उनके नाम में होने वाले गुणों का वर्णन करना वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनकी स्तुति करना नाम वंदना कहलाती है। यह नाम वंदना नमस्कार पूर्वक ही होती है और संसार भर का हित करने वाली है ॥३५–३६॥ अलग अलग तीर्थंकरों की अलग अलग प्रतिमाओं की अत्यंत भक्ति और अनुराग के साथ स्तुति करना इस प्रकार सब तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्तुति करना तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, उनको प्रणाम आदि करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका निरूपण करना स्थापनावंदना नाम का आवश्यक गुण है यह गुण धर्म अर्थ आदि समस्त पुरुषार्थों को सिद्धि करने वाला है। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥३७–३८॥ बुद्धिमान लोग भक्तिपूर्वक जो पाँचों परमेष्ठियों के शरीर का दिव्य वर्णन करते हैं तथा उस वर्णन के द्वारा जो लोग उनकी स्तुति करते हैं उसको शुभ द्रव्य वंदना कहते हैं ॥३९॥ उन पाँचों परमेष्ठियों के द्वारा जो क्षेत्र अधिष्ठित किया गया है रोका गया है उस पुण्य बढ़ाने वाले क्षेत्र की स्तुति करना उसको क्षेत्र वंदना कहते हैं ॥४०॥ एक तीर्थंकर, एक सिद्ध एक साधु आदि के द्वारा जो शुभ काल अधिष्ठित किया गया है उसके गुणों को उच्चारण कर उसकी स्तुति करना काल वंदना है ॥४१॥ किसी एक अरहंत एक सिद्ध एक आचार्य एक महात्मा उपाध्याय और एक साधु की शुद्ध भाव पूर्वक विचारवान

स्तवनं यद्विचारज्ञैः क्रियतेगुणभाषणैः । साभाववन्दना ज्ञेया शुभभावप्रवर्द्धिनी ॥४३॥ प्रथमं कृतिकर्मांथ चितिकर्म द्वितीयकम् । पूजाकर्म तृतीयं च विनयकर्मचतुर्थकम् ॥४४॥ कृत्यतेछिद्यतेयेनात्तरव्रजेन योगिभि' । सर्वमष्टविधं कर्मकृतिकर्मतदुच्यते ॥४५॥ पापारिनाशनोपायो येनसचीयतेतराम् । तीर्थकृत्वादिसत्पुण्यं चितिकर्म तदेवच ॥४६॥ पूज्यन्तेयेनसर्वेऽत्रार्हदाद्याःपरमेष्ठिनः । विश्वाभ्युदयकर्तारस्तत्पूजाकर्म कथ्यते ॥४७॥ विनीयन्तेऽ-ष्टकर्माणि येनान्तमुदयादिना । तत्स्याद्विनयकर्मात्र समस्तकार्यसाधकम् ॥ ४८ ॥ यस्माद्विनाशयत्याशु यःकर्मा-ष्टकमंजसा । तस्माद्विलीनसंसारास्तमाहुर्विनयं परम् ॥ ४९ ॥ पूर्वविश्वैर्जिनाधीशैः सर्वासु कर्मभूमिषु । सतां सुमुक्तिलाभाय विनयःप्रतिपादितः ॥ ५० ॥ लोकानुवृत्तिनामार्थनिमित्त. कामहेतुकः । भयाख्यो मोक्षसंज्ञ पंच–

पुरुषों के द्वारा स्तुति की जाती है उनके भाव ग्रहण कर उनके गुणों के वर्णन द्वारा जो स्तुति की जाती है उसको भाव वंदना कहते हैं। यह भाववंदना अनेक शुभ भावों को वढ़ाने वाली है ॥४२–४३॥ वंदना में पहला कृति कर्म दूसरा चिति कर्म तीसरा पूजा कर्म और चौथा विनय कर्म किया जाता है ॥४४॥ योगी लोग स्तुति के जिन अक्षरों से आठों प्रकार के कर्मों को छिन्न भिन्न कर डालते हैं काट डालते हैं उसको कृतिकर्म कहते हैं ॥४५॥ स्तुति के जिन अक्षरों से पापरूप शत्रु के नाश करने का उपाय किया जाता है, अथवा तीर्थंकर की विभूति को देने वाला पुण्य संचय किया जाता है उसको चितिकर्म कहते हैं ॥४६॥ जिन अक्षरों के समुदाय से समस्त कल्याणों को करने वाले समस्त विभूतियों को देने वाले अरहंत आदि पाँचों परमेष्ठियों की पूजा की जाती है उसको पूजा कर्म कहते है ॥४७॥ स्तुति के जिन अक्षरों से आठों कर्मों को उदय उदीर्णा में लाकर नष्ट कर दिया जाता है उसको समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला विनय कर्म कहते हैं ॥४८॥ इस विनय से आठों कर्म वहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं इसीलिये संसार को नाश करने वाले भगवान अरहंतदेन इसको विनय कहते हैं ॥४९॥ पहले जितने भी तीर्थंकर हुये हैं उन सवने समस्त कर्म भूमियों में सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्ष का कारण एक विनय ही वतलाया है ॥५०॥ इस विनय के पाँच भेद हैं लोकानुवृत्ति, अर्थ

मोक्षाभिधं येप्रकुर्वंतेऽन्वहम् । इमं तेषांजगल्लक्ष्म्यासमं मुक्तिप्रजायते ॥६८॥ मत्वेति विनयं दक्षा इमसर्वप्रयत्नतः । त्रिशुध्या प्रत्यह सार कुर्वन्तु शिवशर्मणे ॥ ६६ ॥ अत्रान्तरे सुमेधावी शिष्यः पृच्छति सादरः । प्रणम्य स्वगुरुंमूर्ध्नाकांश्चित्प्रश्नानशुभाप्तये ॥ ७० ॥ भगवन् कृतिकर्मात्र कीदृश वा कियद्विधम् । कैस्तेषां तद्विकर्तव्यं विधिना केनवाखिलम् ॥ ७१ ॥ अवस्थाविषये कस्मिन् कतिवारान्शुभप्रदान् । कृतिकर्मण एवास्य कियत्य-वनतानि वै ॥ ७२ ॥ कियन्ति च शिरांसि स्युरावर्तानिकियंति च । कति दोषैर्विमुक्तं वा कर्तव्यं कृतिकर्म-तत् ॥ ७३ ॥ इमां सत्प्रश्नमालां मेऽनुग्रहायसमादिश । ततःप्राह गुरुर्विश्व हितोद्युक्तं इदं वचः ॥ ७४ ॥ शृणु धीमन् विधाय त्व स्ववशे हृदयं निजम् । जिनागम वलाद्वचो कृतिकर्मविधीन्परान् ॥ ७५ ॥ नित्यनैमित्तिकाभ्यां तत्कृतिकर्म द्विधोच्यते । एकैक वहुभेदं च कर्मघ्न शिवकारणम् ॥ ७६ ॥ त्रिकालवंदना योग सत्प्रतिक्रमणा-

---

यही समझ कर चतुर पुरुषों को मन वचन काय को शुद्ध कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन यह सारभूत मोक्ष विनय धारण करना चाहिये ॥६९॥ इसी बीच में किसी चतुर शिष्य ने अपने गुरु के आगे मस्तक झुका कर आदर के साथ शुभ ज्ञान की प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछे ॥७०॥ वह पूछने लगा कि हे भगवन् यहाँ पर कृति कर्म से क्या अभिप्राय है, वह कितने तरह का होता है, उनका विधान किन किन के लिये है वा किनको करना चाहिये, किस विधि से करना चाहिये,, किस अवस्था में कितने बार यह शुभप्रद कृति कर्म करना चाहिये, कितने नमस्कार करने चाहिये कितनी शिरोनति करनी चाहिये कितने आवर्त करने चाहिये, और कितने दोषों से रहित यह कृति कर्म करना चाहिये ॥७१–७३॥ हे प्रभो मेरा अनुग्रह करने के लिये इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये। यह सुन कर सब जीवों का हित करने वाले गुरु नीचे लिखे अनुसार कहने लगे ॥७४॥ कि हे बुद्धिमान् तू अपने मन को वश में कर सुन। मैं जिनागम के अनुसार कृति कर्म की उत्कृष्ट विधियों को कहता हूँ ॥७५॥ उस कृति कर्म के दो भेद हैं एक प्रतिदिन होने वाला कृति कर्म और दूसरा किसी निमित्त से होने वाला कृति कर्म। इनमें भी एक एक कृति कर्म के अनेक भेद हैं जो कर्मों को नाश करने वाले हैं और मोक्ष के कारण हैं ॥७६॥ जो प्रतिदिन त्रिकाल वंदना की जाती है, योग

दिकम् । प्रत्यहं क्रियते यत्तन्नित्यकर्माघनाशकम् ॥७७॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षपर्वदिनादिषु । विधीयते क्रियाकर्म यत्तन्नैमित्तिकं परम् ॥७८॥ त्रिकालवंदनायां च विधेया भक्तिकै. सदा । चैत्यभक्तिस्ततः पंचगुरु-भक्तिर्विधानतः ॥७६॥ चतुर्दशीदिने सिद्धचैत्यश्रुताख्य भक्तयः । भक्तिः पंचगुरूणां श्रीशान्तिभक्तिस्ततोतिमा ॥८०॥ अष्टमीदिवसे सिद्धश्रुतचारित्र भक्तयः । चैत्यभक्ति स्तत. पंचगुरुशान्ति समाह्वये ॥८१॥ पाक्षिके दिवसे सिद्ध-चारित्रशान्तिभक्तयः । श्रीसिद्धप्रतिमायां श्रीसिद्धिभक्तिर्विधीयते ॥८२॥ अपूर्वचैत्यचैत्यालये सिद्धचैत्यसञ्जके । भक्ति चारित्रसत्पंचगुरुश्रीशांतिनामिका: ॥८३॥ नन्दीश्वरत्रये सिद्धचैत्यभक्ति स्वभक्तिः । बिधातव्ये ततःपंच गरुशान्त्यविधे परे ॥८४॥ जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च तीर्थेशजन्मनो वुधैः । सिद्ध चारित्रशान्त्याख्या दातव्या सक्तयो मुदा ॥ ८५ ॥ कर्तव्या अभिषेकस्य वंदनाया सुभक्तयः । सिद्धचैत्यमहापचगुरुशांतिजिनेशिनाम् ॥ ८६ ॥ जिनेन्द्र-

---

धारण किया जाता है वा श्रेष्ठ प्रतिक्रमण किया जाता है उसको नित्यकर्म कहते हैं। यह नित्यकर्म भी पापों को नाश करने वाला है ॥७७॥ अष्टमी के दिन चतुर्दशी के दिन पक्ष पूरा होने पर वा अन्य किसी पर्व के दिन जो क्रिया कर्म किया जाता है उसको नैमित्तिक कृतिकर्म कहते हैं ॥७८॥ त्रिकाल वंदना में भक्त पुरुषों को विधि पूर्वक सदा चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलनी चाहिये ॥७६॥ चतुर्दशी के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८०॥ अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८१॥ पाक्षिक वंदना में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा सिद्ध प्रतिमा के सामने सिद्ध भक्ति पढ़नी चाहिये ॥८२॥ अपूर्व चैत्य वा अपूर्व चैत्यालय में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, चारित्र-भक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८३॥ नंदीश्वर के तीनों पर्वों में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति नंदीश्वरभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के सामने तथा तीर्थंकर के जन्म कल्याणक के दिन बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८५॥ अभिषेक की वंदना में सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८६॥ भगवान जिनेन्द्रदेव की चल और अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा

प्रतिविम्वानां स्थिरानां वा चलात्मनाम् । प्रतिष्ठायां भवेत्सिद्धशान्ति भक्त्योर्द्वयः द्वयम् ॥ ८७ ॥ स्थिरार्हत्प्रतिमाया च चतुर्थस्नपनाहनि । सिद्धभक्तिश्च चारित्रभक्तिरालोचनायुता ॥ ८८ ॥ चैत्यभक्तिर्महा पचगुरुभक्तिः प्रयत्नतः । शान्तिभक्ति विधातव्या विधिना विधिहानये ॥ ८९ ॥ चलार्हत्प्रतिमायाश्च मुदाकार्याबुधोत्तमैः । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशान्तिसुभक्तयः ॥ ९० ॥ महत्ताप. पदारूढसामान्यर्षे प्रवदना । सिद्धभक्ति विधायोच्चैर्भक्त्या कार्यान्यसंयतैः ॥९१॥ सिद्धांतवेदिनां सिद्धश्रुतभक्तिद्वयं भवेत् । आचार्याणां हि सिद्धाचार्यभक्ति भवतो नुतौ ॥९२॥ सिद्धांतवेदि सूरीणा वदनायां सुशिष्यकैः । कर्तव्या विधिना सिद्धश्रुताचार्याख्यभक्तयः ॥९३॥ मुनेर्लघीयसोपि प्रतिमायोगस्थितस्य वै । महतस्तपसो भक्त्याप्रणामे परसंयतैः ॥९४॥ ध्यात्वा युक्तित. सिद्धयोगशांत्याख्यभक्तय' । तथा प्रदक्षिणा कार्या योगभक्त्यातिभाक्तिकै' ॥९५॥ जिननिष्क्रमणेसिद्धचारित्र

में सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति ये दो भक्ति पढनी चाहिये ॥८७॥ स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति आलोचना, चैत्यभक्ति, पंचमहा गुरुभक्ति और शांतिभक्ति विधिपूर्वक कर्मों को नाश करने के लिये प्रयत्नपूर्वक पढ़नी चाहिये ॥८८–८९॥ बुद्धिमान पुरुषों को चल अरहंत प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन प्रसन्नतापूर्वक सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचमहागुरुभक्ति शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥९०॥ जो सामान्य मुनि उग्र उग्र तपश्चरण करने वाले हैं उनकी वंदना करने के लिये अन्य मुनियों को भक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिये ॥९१॥ सिद्धांत के जानने वाले मुनियों की वंदना करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । तथा आचार्यों की वंदना करने के लिये सिद्धभक्ति आचार्यभक्ति पढ कर नमस्कार करना चाहिये ॥९२॥ यदि वे आचार्य सिद्धांत के जानकार हो तो उनके शिष्यों को विधि पूर्वक सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढनी चाहिये ॥९३॥ यदि कोई मुनि छोटे हों किंतु प्रतिमा योग धारण कर खड़े हों तो उनके लिये तथा बड़े मुनियों के लिये अन्य मुनियों को नमस्कार करते समय युक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये । तथा भक्त पुरुषों को योगभक्ति पढ़ कर उनकी प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥९४–९५॥ भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति

योगभक्तयः । योगशान्त्याह्वयेभक्ति योगभक्त्या प्रदक्षिणा ॥९६॥ जिन निर्वाण सत्क्षेत्रे भक्ति सिद्धश्रुताभिधे । चारित्रयोगनिर्वाण शान्तिभक्तिप्रदक्षिणा ॥९७॥ ज्ञानोत्पत्तौ महासिद्धश्रुतचारित्रभक्तयः । शान्तिभक्तिस्तथायोग भक्त्या कार्या प्रदक्षिणा ॥९८॥ श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिने कार्या क्रियाविधौ । सिद्धनिर्वाण सत्पंचगुरुशान्त्याख्य भक्तयः ॥९९॥ सामान्यर्षौ मृतेगस्य निषद्यास्थानकस्य वा । विधेयाः सिद्धयोगश्रीशांतिभक्तय एव हि ॥३००॥ सिद्धांतवेदिसाधूनां कर्तव्या मरणे बुधैः । श्रीसिद्धश्रुतयोगश्रीशांतिभक्तिसमाह्वय. ॥१॥ उत्तराख्यमहायोगधारिणां योगिनांमृतौ । सिद्धचारित्र सद्योगश्रीशांतिभक्तयोऽमलाः ॥२॥ तथोत्तरमहायोगधारिसिद्धांतवेदिनाम् । श्रीसिद्धश्रुतचारित्रयोगश्रीशांतिभक्तयः ॥३॥ आचार्येऽत्र मृतेगस्य निषद्यायाः किलाथवा ।

पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥९६॥ तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र में जाकर सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा प्रदक्षिणा भी देनी चाहिये। (प्रदक्षिणा योगभक्ति से दी जाती है) ॥९७॥ भगवान के ज्ञान कल्याणक के समय महा सिद्धिभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥९८॥ भगवान बर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के दिन कृतिकर्म की विधि करते समय सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९९॥ किसी सामान्य ऋषि के मरण हो जाने पर उनके शरीर के लिए तथा उनके निषद्या स्थान के लिये सिद्धभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३ ०॥ सिद्धांत के जानकार साधुओं के मरण होने पर बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३०१॥ उत्तरगुण धारण करने वाले महायोगी मुनियों के मरण होने पर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और निर्मल शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥२॥ यदि उत्तरगुणों को धारण करने वाले महामुनि सिद्धांत के जानकार हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३॥ आचार्य के मरण होने पर उनके शरीर के लिये और निषद्या के लिये सिद्धभक्ति

दातव्या:सिद्धयोगाचार्यश्रीशान्तिभक्तत्र ॥४॥ सिद्धांत वेदिसूरीणां विधेया शिष्यकैर्मुदा । श्रीसिद्धश्रुतयोगा-आचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥५॥ उत्तराभिधसद्योगिनासूरीणां मृतेसति । सिद्धचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥६॥ सिद्धान्तोत्तार सद्योगाद्यसूरेः सिद्धपूर्विका । श्रुतचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥७॥ इमाष्टौ च क्रिया:-कार्याः शिष्यैर्वापरसयतैः । शरीरस्य निषद्यास्थानस्य वा शुभकारणा ॥८॥ प्रथमं श्रुतपचम्यांभक्तिसिद्ध-श्रुताह्वये । श्रीश्रुताचार्यभक्तिः च कृत्वास्वाध्यायऊर्जित. ॥६॥ आद्यास्तत्त्वार्थसूत्राणि पठित्वानुवुधैश्च तम् । निष्ठाप्य श्रुतभक्त्यन्ते शान्तिभक्तिर्विधोयते ॥१०॥ सन्यासारभकाले भक्ति सिद्धश्रुतसज्ञिके । कृत्वा गृहीत-

योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥४॥ यदि सिद्धांत के जानकार आचार्य को मरण हो जाय तो उनके शरीर और निषद्या के लिये शिष्यों को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार उत्तरगुणों को धारण करने वाले आचार्यों के मरण होने पर सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥६॥ यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता भी हो और उत्तरगुणों को धारण करने वाले भी हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥७॥ ये आठ क्रियायें (आठ प्रकार के साधुओं के मरण होने पर पढ़ी जाने वाली भक्तियों का पढना) उनके शिष्यों को भी करनी चाहिये तथा अन्य मुनियों को भी करनी चाहिये। तथा ये शुभ क्रियाएं उनके शरीर की भी करनी चाहिये और उनके निषद्या[1] स्थान की भी करनी चाहिये ॥८॥ श्रुत पंचमी के दिन पहले तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये। फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़ कर उत्तम स्वाध्याय का प्रारंभ करना चाहिये फिर तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ कर बुद्धिमानों को श्रुतभक्ति पढ कर उस स्वाध्याय को पूर्ण करना चाहिये और फिर शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९-१०॥ समाधिमरण के प्रारंभ काल में सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये फिर मन में परम वैराग्य धारण करते हुए सन्यास ग्रहण करना चाहिये। फिर श्रुतभक्ति और

१—समाधिस्थान

संन्याससंवेगांकितमानस. ॥११॥ श्रुताचार्याभिधे भक्ति दत्वास्वाध्यायमद्भुतम् । गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयेन्मुनि ॥ १२ ॥ स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेया मंन्यासस्थ महामुने । महाश्रुतमहाचार्यमहा श्रुताख्य भक्तयः ॥१३॥ सत्प्रतिक्रमणे कार्या त्रिकालगोचरेन्वहम् । सिद्धभक्तिस्ततो भक्ति. प्रतिक्रमणसञ्ज्ञका ॥ १४ ॥ निष्ठितकरणाधंत वीरभक्तिश्चसंयतैः । चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिर्मलहानये ॥१५॥ पाक्षिकाख्ये च चातुर्मासिकसञ्ज्ञेऽघघातके । सत्प्रतिक्रमणेसारे सांवत्सरिकनामनि ॥१६॥ आदौ श्रीसिद्धचारित्रप्रतिक्रमण भक्तयः । श्रीनिष्ठितकरणादि वीरभक्ति-समाह्वयः ॥१७॥ चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिः शुभदायिनी । चारित्रालोचनाचार्यभक्तिश्चारित्रशुद्धिदा ॥१८॥ वृहदालोचनाचार्यभक्तिर्मलविनाशिनी । क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्ति शुद्धिकरांतिमा ॥१९॥ चारित्रालोचनाचार्य भक्तिर्भक्तिविधायिनी । वृहदालोचनाचार्य भक्तिर्दोपापहारिणी ॥२०॥ एतद्भक्तिद्वयमुक्त्वा शेषाः षड्भक्तयोपरा. ।

आचार्यभक्ति पढ़ कर उत्तम स्वाध्याय को ग्रहण करना चाहिये और अंत में श्रुतभक्ति पढ़ कर उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये ॥११–१२॥ सन्यास धारण करने वाले महामुनि को स्वाध्याय ग्रहण करते समय महा श्रुतभक्ति महा आचार्यभक्ति और महाश्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥१३॥ प्रतिदिन तीनों कालों में होने वाले प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति प्रतिक्रमण के अंत में वीरभक्ति और दोप दूर करने के लिए चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करनी चाहिए ॥ १४–१५ ॥ पापों को नाश करने वाले पाक्षिक प्रतिक्रमण में चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में और सारभूत वार्षिक प्रतिक्रमण में पहले सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति करनी चाहिये फिर प्रतिक्रमण भक्ति पढ़नी चाहिये प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वीर-भक्ति और शुभ देने वाली चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढ़नी चाहिए फिर चारित्र को शुद्ध करने वाली चारित्रालोचना आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । तदनंतर दोप दूर करने वाली वृहत आलोचना और आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये अंत में शुद्धि करने वाली लघु आलोचना और लघु आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥१६–१९॥ इन भक्तियों में से चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति भक्ति उत्पन्न करने वाली है तथा वृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति दोपों को दूर करने वाली हैं ॥२०॥ पाक्षिक चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण को छोड़कर वाकी के जितने प्रतिक्रमण हैं उन सब में दोप दूर करने के लिये

प्रतिक्रमणशेषेषुकर्तव्या दोषहानये ॥ २१ ॥ सदीक्षाग्रहणे लोचे सिद्धयोगतमाह्वये । भक्ति लोचावसाने च सिद्धभक्तिर्विरागदा ॥२२॥ श्री सिद्धयोग भक्तीकृत्वाप्रत्याख्यानमूर्जितम् । गृहीत्वाचार्यभक्तिश्चकर्तव्या पारणाहनि ॥२३॥ सिद्धभक्तिं विधायोच्चै. प्रत्याख्यान विमोचयेत् । मध्याह्ने सयमीदातृगेहेगस्थितये चिद्दे ॥२४॥ श्रीश्रुताचार्य भक्तिविधाय स्वाध्याय ऊर्जित । ग्राह्यो निष्ठापने तस्यश्रुतभक्तिर्भवेत्सताम् ॥ २५ ॥ कार्यामगलमध्याह्नक्रियायांमुनिसत्तमैः । सिद्धश्रीचैत्य सत्पंचगुरुश्रीशान्तिभक्तयः ॥ २६ ॥ प्रत्याख्याने शुभेमगलगोचरसमाह्वये । महासिद्धमहायोगभक्तीकृत्वा चतुर्विधम् ॥ २७ ॥ प्रत्याख्यान गृहीत्वैकोपवासादिकगोचरम् । आचार्य शान्तिभक्ती चान्तेरा कुर्वन्तु योगिनः ॥ २८ ॥ ग्रहणे रात्रियोगस्य मोचने सुयोगिन । योगभक्तिं प्रकुर्वन्तु पापास्रवनिरोधिनीम् ॥ २९ ॥ योगस्य ग्रहणे वर्षाकाले निष्ठापने तथा । श्रीसिद्धयोगभक्ति दत्त्वा ग्राह्यो

चारित्रालोचना और आचार्य भक्ति को छोड़कर बाकी की छहों भक्ति पढनी चाहिये ॥ २१ ॥ दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोंच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़नी चाहिये तथा केशलोंच करने के अनंतर वैराग्य उत्पन्न करने वाली सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये ॥२२॥ सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढकर उत्तम प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये और पारणा के दिन आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥ २३ ॥ फिर संयमियों को आत्म कल्याणार्थ शरीर की स्थिति के लिए दाता के घर मध्याह्न के समय सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान का त्याग करना चाहिए ॥ २४ ॥ सज्जन पुरुषों को श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर श्रेष्ठ स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करते समय श्रुतिभक्ति पढ़नी चाहिए ॥२५॥ मध्याह्न की मांगलिक क्रियाओं में मुनियों को सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥ २६ ॥ किसी मांगलिक शुभ प्रत्याख्यान में महा सिद्धभक्ति, और महा योगभक्ति पढ़कर एक वा दो वा अधिक उपवास के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और अन्त में उन मुनियों को अचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए ॥ २७–२८ ॥ रात्रि योग धारण करते समय और उसका त्याग करते समय मुनियों को पापास्राव को रोकने वाली योगभक्ति पढ़नी चाहिए ॥ २९ ॥ वर्षाकाल में योग धारण करते समय तथाअंत में उसका त्याग

योगऊर्जितः ॥३०॥ चतुर्दिक्षु चतस्रोनुचैत्य भक्तयः एवहि । ततो भक्तिद्वयं पंचगुरुशान्त्याह्वयं परम् ॥३१॥ सिद्धांतवाचनाया ग्रहणे सिद्धश्रुताभिधे । भक्तिं कृत्वा पुनर्दत्वा श्रुताचार्याह्वयेपरे ॥ ३२ ॥ स्वाध्यायं किल गृह्णातु तस्य निष्ठीपने यमी । श्रुतश्रीशान्ति भक्तिं च करोतु बहुभक्तय ॥ ३३ ॥ सिद्धांतार्थाधिकाराणां समाप्तौ मानहेतवे । एकैकं सत्तनूत्सर्गं मुदा कुर्वन्तु संयताः ॥ ३४ ॥ तेषमर्थाधिकाराणां बहुमान्यत्वतश्चिदे । आदौ सिद्धश्रुताचार्यभक्तिः कृत्वाविदाम्वरैः ॥ ३५ ॥ समाप्तावप्यनेनक्रमेण प्रवर्तते सति । भवन्ति ज्ञानकर्तार. कायोत्सर्गाः षडेव हि ॥ ३६ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो महाप्राज्ञो महातपाः । चिरप्रव्रजितो वाग्मी सिद्धांताम्वुधिपारगः ॥ ३७ ॥ दान्तोदियोति निर्लोभोधीरः स्वान्यमतादिवित् । गंभीरस्तत्त्वविद्दक्षो ह्यजह्योमृदुमा—

करते समय सिद्धभक्ति योगभक्ति पढ़कर योग धारण करना चाहिए वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में एक एक चैत्य भक्ति पढ़नी चाहिए और फिर पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए इसी प्रकार वर्षायोग धारण करना चाहिए और इसी प्रकार उसका विसर्जन करना चाहिए ॥ ३०–३१ ॥ सिद्धांत वाचना के ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए, फिर श्रुतिभक्ति आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय का ग्रहण करना चाहिए और उसको समाप्त करते समय मुनियों को अधिक भक्ति करने के लिए श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥३२–३३॥ सिद्धांत ग्रंथों के अधिकार समाप्त होने पर उनका सन्मान करने के लिये मुनियों को प्रसन्न चित्त होकर एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ३४ ॥ सिद्धान्त ग्रंथों के अर्थाधिकारों के प्रारम्भ में अधिक मान देने के लिये सब से पहले सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बुद्धिमानों को कर लेनी चाहिये ॥३५॥ इसी प्रकार सिद्धांत ग्रंथो के अर्थाधिकार समाप्त होने पर ये ही भक्तियां पढ़नी चाहिये तथा ज्ञान की वृद्धि करने वाले छह कायोत्सर्ग करने चाहिये ॥३६॥ जो शिष्य ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न है महा बुद्धिमान है, महा तपस्वी है, चिरकाल का दीक्षित है श्रेष्ठ वक्ता है, सिद्धांत महासागर का पारगामी है, इन्द्रियों को वश करने वाला है, अत्यंत निर्लोभ है, धीर वीर है, अपने और दूसरों के मन को अच्छी तरह जानता है, जो गंभीर है तत्वों का वेत्ता है चतुर है, जिसका मन कोमल है जो धर्म की प्रभावना करने

नस. ॥ ३८ ॥ धर्मप्रभावना शील' इत्यादिगुणसागरः । आचार्यपदवीयोग्यः शिष्योगुरोरनुज्ञया ॥३६॥ श्रीसिद्धाचार्य भक्ति विधायाचार्यपदंमहत् । गृहीत्वासघसानिध्ये शान्तिभक्तिं करोतु च ॥ ४० ॥ इमा उक्ताः क्रियाः कार्या. सकलायोगिभिर्मुदा । श्रावकैश्च यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमैः ॥ ४१ ॥ क्षमादिलक्षणैर्युक्ता-रत्नत्रयविभूपिता' । निर्ममानिरहकारा अनालस्या जितेन्द्रियाः ॥ ४२ ॥ दीक्षया लघवो दक्षा विरागा निर्जरार्थिनः । धर्मशीला' सुसंवेगा विचार चतुराभुवि ॥ ४३ ॥ इत्यादिगुणासम्पन्ना मुनयो ये शिवाप्तये ॥ आचार्यादि वरिष्टानां कुर्वन्तु कृतिकर्म ते ॥ ४४ ॥ पंचकल्याणपूजार्हा अर्हन्तस्त्रिगन्नुता. । सिद्धाः कर्मांग-मुक्ताश्च योग्या' सत्कृतिकर्मणाम् ॥ ४५ ॥ पचाचारपरा दक्षा पट्त्रिंशद्गुणभूपिताः । विश्वोपकारचातुर्या

में चतुर है और जिसका मन निश्चल है इस प्रकार जो अनेक गुणों का समुद्र है, ऐसा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचार्य पदवी के योग्य होता है ॥ ३७—३६ ॥ ऐसे शिष्य को सिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति पढकर आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण करना चाहिये और फिर संघ के समीप बैठकर शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४० ॥ ये सब ऊपर लिखी हुई क्रियाएं मुनियों को प्रसन्न चित होकर करनी चाहिये तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों को यथा योग्य रीति से ये क्रियाएं करनी चाहिये ॥ ४१ ॥ जो मुनि उत्तम क्षमा आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं, रत्नत्रय से विभूपित हैं, मोह रहित हैं अहंकार रहित हैं आलस्य रहित हैं जितेन्द्रिय हैं, दीक्षा की अपेक्षा लघु वा छोटे हैं, चतुर हैं वीतराग हैं, कर्मों की निर्जरा करने वाले हैं धर्मात्मा हैं, संसार से भयभीत हैं, और विचार करने में चतुर हैं। इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित जो मुनि हैं उनको मोक्ष प्राप्त करने के लिये आचार्य आदि अपने से श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृति कर्म करना चाहिये ॥ ४२—४४ ॥ जो पाँचों कल्याणकों की पूजा के योग्य हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसें भगवान अरहंत देव तथा समस्त कर्मों से रहित भगवान सिद्ध परमेष्ठी सत्कृति कर्म के योग्य हैं। भावार्थ—मुनियों को श्रेष्ठ मुनियों का कृतिकर्म करना चाहिये। और अरहंत सिद्धों का सत्कृति कर्म करना चाहिये ॥ ४५ ॥ जो पाँचों आचारों के पालन करने में अत्यंत चतुर हैं, जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हैं, जो समस्त जीवों का उपकार करने में चतुर

आचार्याः सर्ववदिताः ॥४६॥ रत्नत्रयमहाभूषा अंगपूर्वाब्धिपारगाः। उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठन-तत्पराः ॥४७॥ प्रवर्तकाः स्वसंघानां योगक्षेमविधायिनः। मर्यादेशका ये च स्थविराश्चिरदीक्षिता. ॥४८॥ चत्वारस्ते जगद्वंद्या योग्या भवन्ति भूतले। विनयस्य मुनीनां च सर्वेषां कृतिकर्मणाम् ॥४९॥ शैथल्याचारणा मंदसंवेगा द्रव्यलिंगिनः। द्विधासंगात्तसंसक्ता. शठाः पडितमानिन ॥५०॥ नरेन्द्रमातृपित्राद्यै दीक्षाविद्यादि-दायिनः। गुरवश्चक्रियाहीनाः सर्वे पाषंडिलिंगिनः ॥५१॥ रागिणो विरताविश्वे कुदेवा भववर्तिनः। एते सतामवंद्या यतोऽयोग्याः कृतिकर्मणाम् ॥५२॥ पार्श्वस्थाश्च कुशीला हि संसक्ता वेपधारिणः। तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्रनामकाः ॥५३॥ एते पंचैवपार्श्वस्था न वंद्याः संयतैः क्वचित्। अमीषां लक्षणं किंचन्निंद्याचारं ब्रुवेऽत्र

हैं और सब मुनि जिनको नमस्कार करते हैं उनको आचार्य कहते हैं। ॥ ४६ ॥ जो रत्नत्रय से अत्यंत सुशोभित हैं, जो अंग पूर्व रूपी महासागर के पारगामी हैं, और जो शास्त्रों के पठन पाठन में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं ॥ ४७ ॥ जो अपने संघ में योग क्षेम करने वाले हैं उनको प्रवर्तक कहते हैं तथा जो एक देश मर्यादा को पालन करने बतलाने वाले चिरकाल के दीक्षित हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥ ४८ ॥ ये जगतवंद्य चारों प्रकार के मुनि इस संसार में अन्य मुनियों की विनय के और समस्त मुनियों के कृति कर्म के योग्य होते हैं ॥ ४९ ॥ जिनका आचरण अत्यंत शिथिल है, जिनका संवेग मंद है, जो द्रव्य लिंगी है. वाह्याभ्यंतर परिग्रह धारण करने के कारण जो आर्तध्यान में लीन रहते है, जो मूर्ख हैं, अपने को पण्डित मानते हैं, जो राजा वा माता पिता के कहने से दीक्षा वा विद्या देते हैं, जो गुरु क्रियाहीन हैं, जो जो पाखण्डी हैं, रागी हैं, व्रतहीन हैं, जो जो संसार में परिभ्रमण करने वाले कुदेव हैं वे सब सज्जनों को वंदना करने के अयोग्य है तथा कृतिकर्म करने के अयोग्य हैं। उन्हें न वंदना करनी चाहिये और न उनके लिये कृतिकर्म करना चाहिये ॥ ५०—५२ ॥ जो मुनि पार्श्वस्थ हैं, कुशील हैं वेषधारी संसक्त हैं अपगत संज्ञक हैं और मृगचारित्री हैं वे सब पार्श्वस्थ कहलाते हैं मुनियों को ऐसे पार्श्वस्थों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये। आगे मैं संक्षेप से इन पार्श्वस्थों का थोड़ा सा लक्षण और निंद्य आचरण कहता हूँ ॥ ५३—५४ ॥ जो सदा वसतिका में

च ॥५४॥ वसनिप्रतिवद्धा ये चहुमोहा कुमार्गगा । सगोपकरणादीनाकारकाः शुद्धिदूरगा ॥५५॥ दूरस्था' सयतेभ्यो दुष्टाऽसयतादि सेविनः । अजिताक्षकपायाश्च द्रव्यलिगधरा भुवि ॥५६॥ गुणेभ्योदृग्विदादिभ्य. पार्श्वेतिष्ठन्तियोगिनाम् । ते पार्श्वस्था जिनै. प्रोक्ता स्तुतिनुत्यादि वर्जिताः ॥५७॥ शील च कुत्सितं येपां निंद्यमाचरणं सताम् । स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसाः ॥५८॥ व्रतशीलगुणैर्हीना अयश. करणे भुवि । कुशला साधुसगाना कुशीला वदिताः खलाः ॥५९॥ असक्ता दुर्धियोनिंद्या असयतगुणेपुये ये । सदा–हारादिगृध्या च वैद्यज्योतिपकारिणः ॥६०॥ राजादिसेवनो मूर्खा मंत्रतंत्रादितत्पराः । संसक्तास्ते वुधै. प्रोक्ता धृतवेपाश्चलंपटा ॥६१॥ विनष्टा प्रगताः सज्ञा. सम्यग्ज्ञानादिजा' पराः । येपां ते लिंगनोत्रापपगतसंज्ञा

निवास करते हैं, जो अत्यन्त मोही हैं कुमार्ग गामी है, परिग्रह और उपकरण आदि को उत्पन्न करने वाले हैं, जो शुद्धता से दूर रहते हैं, संयमियों से दूर रहते हैं, दुष्ट असंयमियों की सेवा करते हैं जो न तो इन्द्रियो को जीतते हैं और न कपायों को जीतते हैं जो संसार में केवल द्रव्य लिग को धारण करते हैं, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणो के लिये मुनियों के पास रहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं ऐसे मुनि स्तुति वा नमस्कार आदि सबसे रहित होते हैं ॥५५–५७॥ जिनका शील भी कुत्सित है, जिनके आचरण भी निंद्य हैं, जिनका स्वभाव भी निंद्य है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा हुआ है उनको कुशील कहते हैं ॥५८॥ ये कुशील मुनि व्रत शील और गुणों से रहित होते हैं साधु और संघ का अपयश करने में जो संसार भर में कुशल होते हैं तथा जो दुष्ट होते हैं ऐसे मुनियों को कुशील कहते हैं ॥५९॥ जो मुनि चारित्र पालन करने में असमर्थ हैं, विपरीत बुद्धि को धारण करने वाले हैं, असंयमियों मे भी निंद्य हैं, जो आहारादिक की लालसा से ही, वैद्यक वा ज्योतिप का व्यापार करते हैं, राजादिकों की जो सेवा करते हैं, जो मूर्ख हैं, मंत्र तंत्र करने में तत्पर हैं, और जो लंपटी हैं ऐसे भेप धारण करने वाले मुनियों को बुद्धिमान लोग संसक्त मुनि कहते हैं ॥६०–६१॥ जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक संज्ञा सब नष्ट हो गई है चली गई है ऐसे भेपधारी मुनियों

भवन्तिभो ॥६२॥ जिनवाक्यमजानाना भ्रष्टाः चारित्रवर्जिताः । सांसारिकसुखासक्ताः करणालसमानसाः ॥६३॥ मृगस्येव चारित्रं चाचरणं स्वेच्छया भुवि । येषां ते मृगचारित्रा भवेयुः पापकारिण. ॥६४॥ स्वच्छंदचारिणो जैनमार्गदूपणदायिनः । त्यक्त्वाचार्योपदेशांश्चैकाकिनो धृतिवर्जिताः ॥६५॥ दर्शनज्ञान चारित्र तपेभ्यो विनया-च्चुतात् । दूरीभूताश्च पार्श्वस्था एते पंचैव दुर्भगा. ॥६६॥ छिद्रादिप्रेक्षिणोज्ञेया गुणियोगिसतां सदा । अवंद्याः सर्वथानिंद्या अयोग्या कृतिकर्मणाम् ॥६७॥ एषां पूर्वोदितानां च जातु कार्या न वंदना । विनयाद्या न शास्त्रा-दिलाभाभीत्यादिभिर्बुधैः ॥६८॥ अमीषांभ्रष्टवृत्तानां ये कुर्वन्ति स्वकारणात् । विनयादि नुतिस्तेषांक वोधिर्निश्चयः कथम् ॥६९॥ यतः पलायते नूनं सम्यक्त्वं सद्गुणैः समम् । ढौकन्ते दोपामिथ्यात्वा नीचसंगनुतेः

को अपगत संज्ञक कहते हैं ॥६२॥ जो भगवान जिनेन्द्रदेव के वाक्यो को समझते ही नहीं जो भ्रष्ट है चारित्र से रहित हैं, संसार के विषयजन्य सुखों में लीन रहते हैं, जिनका मन चारित्र के पालन करने में आलसी रहता है जो इस संसार में हिरणों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र वा आचरणों को पालन करते है उन पापियों को मृगचारित्र नाम के मुनि कहते हैं ॥६३-६४॥ ये ऊपर लिखे पाँचों प्रकार के मुनि स्वच्छन्दचारी होते हैं, जैन धर्म में दोप लगाने वाले होते है, आचार्यों के उपदेश को छोड़ कर एकाकी रहते हैं, धैर्य से सदा रहित होते हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र सम्यक्तप विनय और श्रुतज्ञान से सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनों के दोप देखने में ही निपुण होते है छिद्रान्वेपी होते हैं। इसीलिये ये अवंदनीय होते हैं सर्वथा निंद्य होते हैं और कृतिकर्म के अयोग्य होते हैं ॥६५-६७॥ बुद्धिमान् पुरुपों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से वा किसी भय से भी ऊपर कहे हुये पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये और न इनकी विनय करनी चाहिये ॥६८॥ जो पुरुप अपने किसी भी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र को धारण करने वाले इन पार्श्वस्थों की विनय करता है वा इनको वंदना करता है उनके रत्नत्रय और श्रद्धा वा निश्चय कभी नहीं हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता ॥६९॥ इसका भी कारण यह है कि नीच लोगों के संसर्ग से वा उनको नमस्कार करने से सज्जनों का समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ

सताम् ॥७०॥ मत्वेति जातु कार्यो न तेषा सगोयकीर्तिंकृत् । व्रतमूलहरो निंद्य सद्भिः शास्त्रादि लोभतः ॥७१॥ पुष्पमालार्हतो यद्वत्सपर्काद्वंद्यता व्रजेत् । अस्पर्शता च लोकेहि मृतकस्य नसशय' ॥७२॥ तद्वन्महात्मनां सगात्पूज्यतां यांति सयता' । नीचात्मनामिहामुत्र निंद्यतां च पदेपदे ॥७३॥ यथापद्मादियोगेन सुगंध शीतल जलम् । भाजनानलसंपर्कात्सतप्तं जायतेतराम् ॥७४॥ तथात्रोत्तमसगेनोत्तमोगी तद्गुणै. समम् । भवेन्नीचप्रसगेन नीचश्चतद्गुणै. सह ॥७५॥ अचौरश्चौरससर्गाद्यथा चौरोत्र कथ्यते । साधुश्चासाधुससर्गादसाधुर्नान्यथा तथा ॥७६॥ असाधुः प्रोच्यते साधुर्यथात्र साधुसेवया । निर्गुणोपि तथा लोकेगुणी च गुणिसेवया ॥ ७७ ॥ किमत्र

सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोष सब उन सज्जनो में आ मिलते हैं ॥७०॥ यही समझ कर सज्जन पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से भी इन भ्रष्ट मुनियों का संसर्ग नहीं रखना चाहिये क्योंकि इनका संसर्ग अपकीर्ति करने वाला है, व्रतो को जड़ मूल से हरण करने वाला है और निंदनीय है ॥७१॥ देखो जिस प्रकार भगवान अरहंतदेव के संसर्ग से पुष्पमाला भी वंदनीय गिनी जाती है और मृत पुरुष के (मुर्दा के) संसर्ग से वही पुष्पमाला अस्पृश्य छूने अयोग्य मानी जाती है उसी प्रकार संयमी लोग भी महात्माओं के संसर्ग से पूज्यता को प्राप्त होते हैं और नीचों के संसर्ग से इस लोक और परलोक में पद–पद पर निंद्यनीय हो जाते हैं । इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥७२–७३॥ देखो कमल आदि के संयोग से जल सुगंधित और शीतल हो जाता है तथा बर्तन और अग्नि के संसर्ग से वही जल अत्यंत गर्म हो जाता है। उसी प्रकार यह पुरुष भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग से उनके उत्तम गुणों के साथ साथ उत्तम बन जाता है और नीच पुरुषो के संसर्ग से उनके नीच गुणों के साथ साथ नीच हो जाता है ॥७४–७५॥ जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है उसी प्रकार साधु पुरुष भी असाधुओं के संसर्ग असाधु ही कहलाता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥७६॥ इस संसार में जिस प्रकार असाधु पुरुष भी साधु की सेवा करने से साधु कहलाते हैं उसी प्रकार निर्गुणी पुरुष भी गुणी पुरुषों की सेवा करने से इस लोक में गुणी ही कहलाते हैं ॥७७॥ बहुत करने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये

वहुनोक्तेन गुणांश्चदोषांश्च देहिनाम् । संसर्गजनितान् मन्ये सर्वान् बुध्या न चान्यथा ॥७८॥ विज्ञायेत्यु- त्तमानां च संगमुक्त्वा गुणार्थिभिः । क्वचित्संगो न कर्तव्यो नीचानां कार्यकोटिषु ॥७६॥ महाव्रतसमित्याद्यैः कलितान् धर्मभूषितान् । वाह्यान्तर्ग्रंथनिर्मुक्तान् युक्तान् सद्गुणसम्पदा ॥८०॥ मुमुक्षून् श्रमणान्नित्यं ध्या- नाध्ययनतत्परान् । वंदस्व परया भक्त्या त्वं मेधाविन् शिवाप्तये ॥८१॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोविनय भूषणैः । भूषिता निर्ममानित्यंसर्वत्रांगादिवस्तुषु ॥८२॥ सतां गुणधराणां च ये दक्षागुणवादिनः । आत्मध्यानरतास्तेत्र वंदनीया नचापरे ॥८३॥ केनचिद्धेतुना व्याकुलचित्ता मुनयोप्यहो । प्रमत्ता निद्रिताः सुप्ता विकथादिरताशयाः ॥८४॥ आहारं यदि कुर्वाणा नीहारं वा परान्मुखा. । नार्हा सतां नमस्कारे ध्यानाध्ययनवर्जिता. ॥८५॥ पर्यंकाद्यासनस्था

कि जीवों के जितने गुण वा दोष हैं वे सब संसर्गजन्य ही माने जाते हैं । न तो वे गुण दोष बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और न किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होते हैं ॥७८॥ यही समझ कर गुण चाहने वाले पुरुषों को करोड़ो कार्य होने पर भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग को छोड़ कर कभी भी नीच पुरुषों का संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥७६॥ इसलिये हे बुद्धिमान् जो मुनि महाव्रत और समिति आदि से सुशोभित हैं, धर्म से विभूषित हैं, वाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों से रहित हैं, श्रेष्ठ गुणरूपी संपदा से सुशोभित हैं जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं ऐसे मुनियों की मोक्ष प्राप्त करने के लिये परम भक्ति पूर्वक वंदना कर ॥८०–८१॥ जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप विनय आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर आदि पदार्थों में भी मोह रहित हैं, जो गुणों को धारण करने वाले सज्जनों के गुण वर्णन करने में निपुण हैं और जो आत्मध्यान में लीन हैं ऐसे मुनि ही इस संसार में वंदनीय हैं अन्य नहीं ॥८२–८३॥ जिन मुनियों का चित्त किसी भी कारण से व्याकुल है, जो प्रमादी हैं निद्रित हैं सोए हुए हैं विकथा आदि करने में लीन हैं, जो आहार वा नीहार कर रहे हैं अथवा जो परान्मुख हैं और जो ध्यान अध्ययन से रहित हैं ऐसे मुनि सज्जन पुरुषों को कभी नमस्कार करने योग्य नहीं होते ॥८४–८५॥ जो मुनि

ये शुभध्यानपरायणा । गुर वः शान्तरूपा. शुद्धाचार्यादयोखिला. ॥८६॥ तेभ्यः स्वस्यान्तरे स्थित्वा हस्तमात्रो-मुमुक्षव । प्रतिलेख्य धरापादगुह्यादींश्च प्रवग्नाम् ॥ ८७॥ भवद्भ्यः कर्तुमिच्छाम इति विज्ञाय संयता. कुर्वन्तु वंदनां तेषां कृतिकर्माणिमुक्तये ॥ ८८॥ मायागर्वादिदूरस्थै. शुद्धभावैरनुद्धतै । जनयद्भिः सुसवेग कृति-कर्मविधायिनाम ॥ ८९ ॥ आचार्याद्यैर्जगद्वन्द्यैस्तैर्योग्यमधुरोक्तिभि. । वदनाभ्युपगतव्या स्वान्ययो शुभकारिणी ॥९०॥ प्रश्ने चालोचना काले स्वापराधे सुसयतै । गुरूणां वदना कार्यस्वाध्यायावश्यकादिषु ॥ ९१ ॥ एकैकस्मिन् तनूत्सर्गे मूर्ध्नाद्वेवनती पृथक् । आवर्ता द्वादश स्युश्चानुशिरोनतयो थवा ॥ ९२ ॥ चतुर्दिक्षु च चत्वार प्रणामा भ्रमणेशुभाः । एकैकस्मिन् बुधैर्ज्ञेया आवर्ता द्वादशैवहि ॥ ९३ ॥ इत्थंचसकलसार कृतिकर्मशुभावहम् । मनोवा-

पर्यंकासन वा अन्य किसी आनन से विराजमान हैं जो गुरु शुभध्यान में तत्पर हैं और अत्यंत शांत हैं ऐसे शुद्ध आचार्य उपाध्याय वा साधु हैं उनसे एक हाथ दूर बैठ कर तथा पृथ्वी पाद गुह्य इन्द्रिय आदि का प्रतिलेखन कर (पीछी से शुद्ध कर) "मैं आपके लिये वंदना करना चाहता हूं" इस प्रकार उनको सूचित कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उनकी वंदना करनी चाहिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनका कृतिकर्म करना चाहिये ॥८६–८७॥ जो आचार्यादिक माया अहंकार आदि से रहित हैं, शुद्ध भावों को धारण करने वाले हैं, उद्धतता से रहित हैं, संवेग को उत्पन्न करने वाले हैं और जगतवंद्य है ऐसे आचार्य उपाध्याय और श्रेष्ठ साधुओं को योग्य और मधुर वचन कह कर कृतिकर्म करने वालों की वह अपना और दूसरों का कल्याण करने वाली वंदना स्वीकार करनी चाहिये ॥८९–९०॥ किसी प्रश्न के पूछने पर, आलोचना करते समय, अपना कोई अपराध हो जाने पर और स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों के करते समय मुनियों को अपने गुरु की वंदना करनी चाहिये ॥९१॥ प्रत्येक कायोत्सर्ग में आदि अंत में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चारो दिशाओं में चार प्रणाम वा शिरोनति करनी चाहिये ॥९२॥ विद्वानों को एक एक प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में चार शुभ प्रणाम करने चाहिये और बारह आवर्त करना चाहिये ॥९३॥ इस प्रकार समस्त दोषों से रहित, शुभ भावनाओं को धारण करने वाला, सारभूत यह कृतिकर्म मुनियों को

कायसंशुद्धं ग्रंथार्थोभयभूषितम् ॥ ६४ ॥ द्विविधस्थानसंयुक्तं मदातीतं सुयोगिनः । दोषातिगं यथाजातं कुर्वन्तु-विनयादिभि ॥ ६५ ॥ दोषश्चानादृतः स्तब्धः प्रविष्ठः परिपीडितः । दोलायताख्यदोषोंकुशितः कच्छपरि-गितः ॥ ६६ ॥ मत्स्योद्वर्त्तो मनोदुष्टोवेदिकावधएवहि । भयाभिधोविभ्यदेष ऋद्धिगौरवगौरवौ ॥ ६७ ॥ स्तेनित प्रतिनीताख्यः प्रदुष्टस्तर्जिताभिधः । शब्दोहीलिनदोषस्त्रिवलितः कुंचिताह्वयः ॥ ६८ ॥ दृष्टोदृष्टाभिधः संघकर-मोचनसंज्ञकः । आलब्धाख्योप्यनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥ ६६ ॥ मूकाख्यो दर्दुरोदोष तथा च लुलुताख्यकः वंदनाया इमे दोषास्त्याज्याद्वात्रिंशदेवहि ॥ ४०० ॥ आदरेणविना यत्र शैथिल्येनप्रमादिभिः क्रियतेत्रक्रियाकर्म दोषः सोनादृताह्वयः ॥ १ ॥ श्रुतविद्यादिगर्वेण प्रोद्धताशयसंयतैः । विधीयते क्रियाकर्म यस्तत्धदोषएव सः ॥ २ ॥ अत्यासन्नोत्रभूत्वायः पंचानां परमेष्ठिनाम् । क्रियाकर्म विधत्तेसः प्रविष्टदोषमाप्नुयात् ॥ ३ ॥ करजानुप्रदेशैर्यं संस्पृश्य परिपीड्यवा । करोति वंदनां तस्य दोष स्या त्परिपीड़ितः ॥ ४ ॥ यः कृत्वा चलमात्मानं दोलामिवात्र-

मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक, शब्द अर्थ और शब्दार्थ से विभूषित होकर, तथा मद रहित होकर और दोनों प्रकार के स्थानों से सुशोभित होकर विनयादिक के साथ यथार्थ रीति से करना चाहिये ॥६४–६५॥ इस वंदना के बत्तीस दोष हैं और वे ये हैं—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परि-पीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगत, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्दोप, ऋद्धि-गौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, दुष्टदोष, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित कुंचित दृष्ट अदृष्ट संघकर मोचन लब्ध अनालब्ध हीन उत्तर चूलिक मूक दर्दुर और चुलुक्तित। वंदना के ये बत्तीस दोष हैं वंदना करते समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥६६–४००॥ आदर के विना शिथिलता पूर्वक प्रमोद के साथ क्रियाकर्म करना अनादृत नाम का दोष हैं ॥४०१॥ श्रुतज्ञान वा विद्या आदि के अहंकार से उद्धत हुए मुनियों के द्वारा जो क्रियाकर्म क्रिया जाता है उसको स्तब्ध दोष कहते हैं ॥२॥ जो पाँचों परमेष्ठियों के अत्यंत निकट होकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है उसके प्रविष्ट नाम का दोष प्राप्त होता है ॥३॥ जो अपने हाथ से जंघा को स्पर्श करता हुआ वा जंघा को दबाता हुआ वंदना करता है उसको परिपीड़ित नाम का दोष लगता है ॥४॥ जो मुनि झूला

वदनाम् । सशयित्वाथवा कुर्यात्सदोलायितदोपभाक् ॥ ५ ॥ कृत्वांकुशमिवात्मीये ललाटेंगुष्टमेवयः । भजते वदनां तस्य दोपोकुशित नामकः ॥ ६ ॥ विधाय कच्छपरयेंव कटीभागेनचेष्ठितम् । कुरुते वंदना य स. भजेत्कच्छपरिंगितम् ॥ ७ ॥ मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं स विधाय या वंदना वा द्विपार्श्वेन मत्स्योद्वर्तः स उच्यते ॥ ८ ॥ दुष्टो भूत्वा हृदाचार्यादीना क्लेशयुतेन वा विधत्तेयः क्रियाकर्म समनोदुष्टदोपभाक् ॥ ९ ॥ वेदिकाकारहस्ताभ्यां वध्वा जानुद्वयंस्वयम् । वदनाकरणं यत्सवेदिकावद्धसंज्ञकः ॥ १० ॥ मृत्वादिभयभीतो यः भयत्रस्तोभयेन वा । करोति वदनां तस्य भयदोपोत्रजायते ॥ ११ ॥ परमार्थातिगाज्ञस्य गुर्वादिभ्योत्रविभ्यत । वदनाकरण यत्सविभ्यदोपोऽशुभप्रदः ॥ १२ ॥ चातुर्वर्णसुसंघेभ्योभक्ति कीर्त्यादिहेतवे । वंदनां यो विधत्ते स ऋद्धिगौरवदोपवान् ॥ १३ ॥ आवि-

के समान आत्मा को चलायमान करता हुआ अथवा संशय में पड़ कर वंदना करता हैं उसको दोलायित नाम का दोप लगता है ॥५॥ जो मुनि अंकुश के समान अपने ललाट पर अंगूठे को रख कर वंदना करता है उसको अंकुशित नाम का दोप प्रगट होता है ॥६॥ जो अपनी कमर से कच्छप के समान चेष्टा करता हुआ वंदना करता है उसके कच्छपरिंगत नाम का दोप लगता है ॥७॥ जो मछली के समान अपनी कमर को ऊंची निकाल कर वंदना करता हैं अथवा जो दोनों बगलों से वंदना करता है उसको मत्स्योद्वर्त नाम का दोप लगता है ॥८॥ जो मुनि आचार्यों को क्लेश पहुंचा कर वा आचार्यों के प्रति अपने मन में कुछ दुष्टता धारण कर वंदना करता है उसको मनोदुष्ट नाम का दोप लगता है ॥९॥ जो वेदी के आकार के अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को बांध कर वंदना करता है उसको वेदिकावद्ध नाम का दोप लगता है ॥१०॥ जो मृत्यु आदि के भय से भयभीत होकर अथवा किसी भय से त्रस्त होकर वंदना करता है उसको भय नाम का दोप लगता है ॥११॥ जो अज्ञानी मुनि परमार्थ को न जानता हुआ गुरु से डर कर वंदना करता है उसके अशुभ उत्पन्न करने वाला विभ्य नाम का दोप लगता है ॥१२॥ जो मुनि चारों प्रकार के संघ से भक्ति वा कीर्ति चाहने के लिये वंदना करता हैं उसको ऋद्धि गौरव नाम का दोप लगता है ॥१३॥ जो मुनि किसी विशेप आसन

ष्कृत्य समाहात्म्यमासनाद्यैः सुखाय वा कुर्याद्यो वंदनां तस्यदोषो गौरवसंज्ञक. ॥ १४ ॥ चौरबुध्यास्वगुर्वादीनां करोति यः वंदनाम् । चौरयित्वास्वमन्येषां तस्याघ स्तेनिताभिध' ॥ १५ ॥ प्रतिकूलोत्रयो भूत्वा 'देवगुर्वादियोगिनाम । वंदनां कुरुते तस्य प्रतिनीताह्वयोमलः ॥ १६ ॥ विधाय कलहाद्यन्यैः सह चन्तव्यमांशु य. । अकृत्वा वन्दनां कुर्यात्सदुष्टदोषमाप्नुयात् ॥ १७ ॥ अन्यानन्यस्तर्जयन्नंगुल्या वा गुर्वादितर्जितः । श्रयते वन्दनां तस्यदोपस्तर्जितसज्ञकः ॥ १८ ॥ मौनं त्यक्त्वा ब्रुवाणो यः क्रियाकमनिजेच्छया । करोति तस्य जायेत शब्ददोषोघ कारकः ॥ १९ ॥ कृत्वापरिभवं वाक्येनाचार्यादिमहात्मनाम् । क्रियाकर्म विधत्ते यः स' स्याद्धीलितदोषभाक् ॥ २० ॥ कृत्वात्रिवलितं कट्यादौ ललाटेथवात्रयः । विदधाति क्रियां तस्यदोपस्त्रिवलिताह्वयः ॥ २१ ॥ हस्ताभ्यां स्वशिर' स्पर्शन् जानुमध्येविधाय वा यः करोतिक्रियाकर्म तस्य दोपोत्रकुंचितः ॥ २२ ॥ आचार्याद्यैश्चदृष्टोयः सम्यक्करोतिवंदनाम् ।

आदि के द्वारा अपना माहात्म्य प्रगट कर वंदना करता है अथवा जो अपने किसी सुख के लिये वंदना करता है उसको गौरव नाम का दोष लगता है ॥१४॥ जो मुनि चोर की बुद्धि रख कर अन्य मुनियों से छिपा कर गुरु आदि की वंदना करता है उसके स्तेनित नाम का दोष लगता है ॥१५॥ जो मुनि देव शास्त्र गुरु से प्रतिकूल होकर वंदना करता है उसके प्रतिनीत नाम का दोष लगता है ॥१६॥ जो मुनि किसी से कलह कर के विना उससे क्षमा कराये वंदना करता है उसके दुष्ट नाम का दोष लगता है ॥१७॥ जो मुनि दूसरों को तर्जना करता हुआ वंदना करता है अथवा गुरु के द्वारा तर्जना किया हुआ वंदना करता है उसको तर्जित नाम का दोष लगता है ॥१८॥ जो मुनि मौन को छोड़कर अपनी इच्छानुसार बोलता हुआ क्रियाकर्म (वंदना) करता है उसको पाप उत्पन्न करने वाला शब्द नाम का दोष लगता है ॥ १९ ॥ जो मुनि किसी वाक्य आदि के द्वारा आचार्य आदि महापुरुषों का तिरस्कार कर वंदना करता है उसको हीलित नाम का दोष लगता है ॥ २० ॥ जो मुनि अपनी कमर मे त्रिवली डालकर अथवा ललाट पर त्रिवली डालकर वंदना करता है उसके त्रिवलित नाम का दोष होता है ॥ २१ ॥ जो मुनि अपने हाथ से मस्तक को स्पर्श करता हुआ अथवा अपने मस्तक को जंघाओं के बीच में रखकर वंदना करता है उसको कुंचित नाम का दोष लगता है ॥ २२ ॥ आचार्यों

नान्यथा वा दिशः पश्यन् दृष्टदोपोत्र तस्य वै ॥ २३ ॥ त्यक्त्वा दृष्टिपथंयोत्राचार्यादीनां च वन्दनाम् । करोत्यप्रतिलेख्यांगभूमिं सो दृष्टिदोपभाक् ॥ २४ ॥ सघस्य करदानार्थं वासघभक्तिवांच्छया । क्रियते यतक्रियाकर्म तत्संघकरमोचनम् ॥ २५ ॥ लब्धोपकरणादि य सानंद सर्ववदनाम् । कुरुते नान्यथा तस्य लब्धदोपः प्रजायते ॥ २६ ॥ योद्योपकरण लप्स्येहमत्रेतधियामुनिः । विधत्ते वदना तस्यदोपोनालब्धसञ्ज्ञक. ॥ २७ ॥ ग्रथार्थकालहीनां सत्परिणामविवर्जिताम् । तनोति वदना तस्य हीनदोपो शुभोभवेत् ॥ २८ ॥ वदना स्तोक कालेन निर्वर्त्यकार्यसिद्धये । वदना चूलिकाभूतस्यालोचनात्मकस्य वै ॥ २९ ॥ कालेनमहता कृत्वा निर्वर्तनं करोति यः । वदनां स्याद्यतस्योत्तर चूलिकाह्वयोमल ॥ ३० ॥ मूकवन्मुखमध्येयो वदना वितनोति वा । कुर्वन् हस्ताद्यहंकारसञ्ज्ञां

वा अन्य किसी के देख लेने पर तो जो अच्छी तरह वंदना करता है और किसी के न देखने पर सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वंदना करता है उसके दृष्ट नाम का दोप लगता है ॥२३॥ जो आचार्यों की दृष्टी को बचा कर तथा शरीर भूमि आदि को विना प्रतिलेखन किये वंदना करता है उसको अदृष्ट नाम का दोप लगता है ॥२४॥ जो मुनि वंदना को संघका कर समझ कर क्रिया कर्म वा वंदना करता है अथवा संघ से भक्ति चाहने की इच्छा से वंदना करता है उसको संघकर मोचन नाम का दोप लगता है ॥२५॥ जो मुनि किसी उपकरण आदि को पाकर आनन्द के साथ पूर्ण वंदना करता है तथा उपकरण आदि को न पाने से वंदना नहीं करता उसको लब्ध नाम का दोप लगता है ॥२६॥ यहाँ पर आज मुझे कोई उपकरण अवश्य प्राप्त होगा इस प्रकार की बुद्धि रख कर जो मुनि वंदना करता है उसके अनालब्ध नाम का दोप लगता है ॥२७॥ जो मुनि शब्द अर्थ से रहित काल से रहित और शुभ परिणामों से रहित वंदना करता है उसके हीन नाम का अशुभ दोप लगता है ॥२८॥ जो मुनि अपने कार्य की सिद्धि के लिये वंदना को बहुत थोड़े समय में पूर्ण कर लेता है तथा वंदना की चूलिका भूत जो आलोचना है उसके करने में बहुत समय लगाता है उसको उत्तर चूलिका नाम का दोप लगता है ॥२९–३०॥ जो मुनि गूंगे के समान मुख के भीतर ही भीतर, वंदना करता है अथवा हाथ आदि के इशारे से अहंकार को सूचित करता हुआ वंदना करता है उसको

स मूक दोषवान् ॥ ३१ ॥ स्वशब्देनाभिभूयान्यशब्दान् बृहद्गलेन वा । वंदनां कुरुते तस्य दोषो दर्दुर नामकः ॥ ३२ ॥ स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वंदनांभजेत् । दोषश्चुलुलितस्तस्यपचमादिस्वरेण वा ॥ ३३ ॥ एते दोषः सदा त्याज्याः कृतिकर्म मलप्रदाः । द्वात्रिंशतसर्वयत्नेन पडावश्यकशुद्धये ॥ ३४ ॥ अमीषां केनचिद्दोषेण समं कृतिकर्म च । कुर्वन् सर्वंभवेन्निर्जराभागी जातुनोयतिः ॥ ३५ ॥ मत्त्वेतामूंश्च तद्दोषान् सम्यक्त्यक्त्वासुसंयताः । कुर्वन्तु कृतिकर्माणि सर्वाणि निर्जराप्तये ॥ ३६ ॥ नृसुरजिनयतीनां विश्वमम्पत्तिखानिं वरपदजननीं वा सद्गुणाराम वृष्टिम् । अतुलसुखनिधिसद्वंदना धर्ममान्यां प्रभजत शिवकामाः सर्वदोच्चैःपदाप्त्यै ॥ ३७ ॥ तीर्थेशान् धर्ममूलान् त्रिभुवनपतिभिः सेव्यमानाघ्रियक्षान् सिद्धानन्तातिगान् सद्वसुगुणकलितान् ज्ञानदेहानदेहान् । सूरीनाचारदक्षान्

मूक नाम का दोष लगता है ॥३१॥ जो मुनि अपने ऊंचे गले की आवाज से दूसरे मुनियों के शब्दों को दबाता हुआ तिरस्कार करता हुआ वंदना करता है उसके दुर्दुर नाम का दोष लगता है ॥३२॥ जो मुनि एक ही प्रदेश में बैठ कर सब मुनियों की वंदना कर लेता है अथवा जो पंचम स्वर से ऊंचे स्वर से वंदना करता है उसके चुलुलित नाम का दोष लगता है ॥३३॥ मुनियों को अपने छहों आवश्यक शुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इन बत्तीस दोषों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये दोष वंदना में मल उत्पन्न करने वाले हैं ॥३४॥ जो मुनि इन दोषों में से किसी भी दोष के साथ वंदना करता है वह पूर्ण निर्जरा का भागी कभी नहीं हो सकता ॥३५॥ यही समझ कर मुनियों को कर्म की निर्जरा करने के लिये इन समस्त दोषों का त्याग कर कृतिकर्म वा वंदना करनी चाहिये ॥३६॥ यह वंदना नाम का आवश्यक मनुष्य देव और जिनेन्द्रदेव की समस्त सम्पत्तियों की खानि है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदों को देने वाली है, श्रेष्ठ गुण रूपी बगीचे के लिये वर्षा के समान है अनुपम सुखों की निधि है और धर्मात्मा लोगों को सदा मान्य है इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालों को उच्च पद प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये ॥३७॥ जो तीर्थंकर परम देव धर्म के मूल हैं और तीनों लोकों के समस्त इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थंकरों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं। जो अनंत सिद्ध

स्वपरहितकरान् पाठकान् ज्ञानऋद्धान् साधून्सर्वांश्चमूलोत्तरगुणजलधीन्संस्तुवेतद्गुणाप्त्यै ॥ ४३८ ॥

इति मूलाचार प्रदीपाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचते मूलगुण
व्यावर्णन पंचेन्द्रियरोध सामायिकस्तववंदना वर्णनो नाम तृतीयोधिकारः ।

सम्यक्त्व आदि आठों श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वयं शरीर रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को भी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं। जो आचार्य पाँचों आचारों को पालन करने में चतुर हैं जो उपाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाले हैं जो साधु ज्ञान और ऋद्धियों से सुशोभित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुण के समुद्र हैं उन सबकी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥४३८॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप की भाषा टीका में मूलगुणों के वर्णन में पाँचों इन्द्रियो का निरोध तथा सामायिक स्तुति वंदना को निरूपण करने वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।



चतुर्थोधिकारः ।



पूर्णावश्यककर्तारो ये पंचपरमेष्ठिनः । गुणानामभ्धयस्तोषां वंदेघ्रीस्तद्गुणाप्तये ॥ १ ॥ अथ वक्ष्ये समासेन व्रतरत्नमलापहाम् । प्रतिक्रमण निर्युक्तिस्वान्येषां मुक्तिसिद्धये ॥ २ ॥ द्रव्यक्षेत्रादिकै र्भावैः कृतापराधशोधनम् । स्वनिंदागर्हणाभ्यां यत्क्रिया तत्रमुमुक्षुभिः ॥ ३ ॥ मनोवाक्काययोगैश्च कृतकारितमाननैः । तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम् ॥ ४ ॥ नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रंकालोनिजाश्रितः । भावोमीषड्वानिक्षेपा. स्युःप्रतिक्रमणे- शुभाः ॥ ५ ॥ शुभाशुभादि नामौघै र्जातातीचारशोधनम् । निंदाद्यैयत्सतां नामप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ६ ॥

चौथा अधिकार ।

जो पाँचों परमेष्ठी पूर्ण आवश्यकों के करने वाले है और गुणों के समुद्र हैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं उनके चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मैं अपने और दूसरों के मोक्ष की सिद्धि के लिए व्रत रूपी रत्नों के दोषों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण के स्वरूप को संक्षेप से कहता हूं ॥२॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले जो मुनि मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से द्रव्य क्षेत्र वा भावों से उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं अथवा अपनी गर्हा निंदा के द्वारा अपराधों को शुद्ध करते हैं उसको व्रतों के दोषों को दूर करने वाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥३-४॥ यह प्रतिक्रमण भी द्रव्य क्षेत्र काल नाम स्थापना और अपने आश्रित रहने वाले भावों के द्वारा छह प्रकार का माना जाता है ॥५॥ शुभ वा अशुभ नामों से उत्पन्न हुए अतीचारों को अपनी निंदा आदि के

मनोज्ञेतरमूर्तेभ्यो जातादोपाद्विवर्जनम् । योगैर्यत्स्थापनाख्यंतत्प्रतिक्रमणमूर्जितम् ॥ ७॥ सावद्यद्रव्यसेवाया उत्पन्नदोषवारणम् । त्रिशुध्यायत्सतां द्रव्यप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ८ ॥ सरागक्षेत्रवासोत्थातीचारपरिहायनम् । निंदा-धैर्यत्सदाक्षेत्रप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ९ ॥ रजनीदिनवर्षाब्दिकालजव्रतदोषतः । निवृत्तिर्या हृदाकालप्रतिक्रमणमेवतत् ॥१०॥ रागद्वेषाश्रिताद्भावाज्जातस्यातिक्रमस्य या । विरति क्रियते भावप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ११ ॥ एतै षड्विधनिक्षेपै सर्वेषास्वव्रतात्मनाम् । कृतानां कृत्स्नदोषाणा निराकरणमूर्जितम ॥ १२ ॥ हृदा च वपुषा वचा निंदनैर्गर्हणादिभि क्रियते मुनिभिर्यत्तत्प्रतिक्रमणमद्भुतम् ॥ १३ ॥ एकं दैवसिक रात्रिकमैर्यापथसंज्ञकम् । पाक्षिक नाम चातुर्मासिकं दोपक्षयंकरम् ॥ १४ ॥ सांवत्सरिकमेगोत्तमार्थं संन्याससंभवम् । सप्तधेति जिनैः प्रोक्तं प्रतिक्रमणमुत्तमम् ॥ १५ ॥

द्वारा शुद्ध करना नाम प्रतिक्रमण कहलाता है ॥६॥ मनोज्ञ वा अमनोज्ञ मूर्ति से उत्पन्न हुए दोषों को मन वचन काय से त्याग करना स्थापना नाम का श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है ॥७॥ पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक निवारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है ॥८॥ सरागरूप क्षेत्रों के निवास से उत्पन्न हुए अतीचारों को निंदादि के द्वारा दूर करना उसको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं ॥९॥ रात दिन वर्षा आदि काल जन्य व्रतों के दोषों को हृदय से निवारण करना काल प्रतिक्रमण कहलाता है ॥१०॥ राग द्वेष आदि के आश्रित रहने वाले भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना भावप्रतिक्रमण कहलाता है ॥११॥ व्रत करने वाले समस्त व्रतियों के इन छहों निक्षेपों के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं मुनि लोग जो मन वचन काय से होने वाली निंदा गर्हा के द्वारा उन समस्त दोषों को दूर करते हैं उसको उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं ॥१२–१३॥ इस प्रतिक्रमण के सात भेद हैं एक दैवसिक प्रतिक्रमण, दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण, तीसरा ईर्यापथ प्रतिक्रमण, चौथा पाक्षिक प्रतिक्रमण, पाँचवाँ दोषों को क्षय करने वाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, छठा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और सातवाँ उत्तम अर्थ को देने वाला सन्यास के समय होने वाला प्रतिक्रमण । इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद बतलाये हैं ॥१४–१५॥

प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमणमेवतत् । यत्प्रतिक्रमितव्यंतत्त्रयं सर्वंबुधेर्धुना ॥ १६ ॥ मुमुक्षुर्यत्नचारीयः पापभीतो महाव्रती । मनोवाक्कायसंशुद्धो निंदागर्हादितत्परः ॥ १७ ॥ द्रव्यैर्नानाविधैः क्षेत्रैः कालैर्भावैर्व्रतात्मनाम् । अतीचारागतस्याशु मन्निराकरणोद्यत. ॥ १८ ॥ निर्मायो निरहंकारो व्रतशुद्धिसमीहकः स प्रतिक्रामको ज्ञेयः उत्तमोमुनिपुंगवः ॥ १९ ॥ सर्वथा कृतदोषाणां यन्निराकरणं त्रिधा । पश्चात्तपाक्षरोच्चारैस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम् ॥ २० ॥ सचित्ताचित्तमिश्रं यत्त्रिधा द्रव्यमनेकधा । वा प्रतिक्रमितव्यंतत्सर्वं तद्दोषहायनैः ॥ २१ ॥ सौधादिरम्यक्षेत्रं कालो दिन निशादिकः । यः प्रतिक्रमितव्यः स तज्जातीचारशोधनैः ॥ २२ ॥ काले कालेथवा नित्यं योगिभिर्व्रतशुद्धये । भो प्रतिक्रमितव्यंसर्वदोष हान्य च मुक्तये ॥ २३ ॥ रागद्वेषाश्रितो भावो मिथ्यात्वा—

इस प्रतिक्रमण के करने में आत्मा प्रतिक्रमण होता है जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। अब आगे इन तीनों का स्वरूप कहते हैं ॥१६॥ जो उत्तम मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, यत्नाचार से अपनी प्रवृत्ति करता है, जो पापों से भयभीत है महाव्रती है, जिसका मन वचन काय अत्यंत शुद्ध है, जो निंदा गर्हा आदि करने में तत्पर है, जो अनेक प्रकार के द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि के द्वारा लगे हुए व्रतों के दोषों को निराकरण करने में सदा तत्पर रहता है, जो छल कपट से रहित है, अहंकार से रहित है और जो व्रतों को शुद्ध रखने की सदा इच्छा करता रहता है ऐसा मुनि प्रतिक्रमण करने वाला प्रतिक्रामक कहलाता है ॥१७–१९॥ पश्चात्ताप के द्वारा तथा अक्षरों का उच्चारण कर जो सर्वथा किए हुए दोषों का मन वचन काय से निराकरण करना है उसको शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥२०॥ सचित्त अचित्त और मिश्र के भेद से द्रव्य के तीन भेद हैं अथवा द्रव्य के अनेक भेद हैं वे सब द्रव्य दोष दूर करते समय प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥२१॥ राजभवन आदि मनोहर क्षेत्र तथा दिन रात आदि काल भी तज्जन्य (क्षेत्र वा काल से उत्पन्न होने वाले) अतिचारों को शुद्ध करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥२२॥ अथवा मुनियों को अपने दोष दूर करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिए तथा व्रतों को शुद्ध रखने के लिये प्रत्येक समय प्रतिक्रमण करते रहना चाहिये अतएव उनके लिये सदा काल प्रतिक्रमितव्य है ॥२३॥

संयमादिभाक् । कषायबहुलोयः प्रतिक्रमितव्य' एव म: ॥२४॥ मिथ्यात्वपचपापानां सर्वस्यासंयमस्य च । कषायाणां च सर्वेषां योगानामशुभात्मनाम् ॥ २५ ॥ प्रयत्नेन विधातव्यंप्रतिक्रमणमजसा । तज्जातिव्रतदोषादिनिराकरणशुद्धिभि' ॥२६॥ सिद्धभक्त्यादिक कृत्वा सन्मार्ज्यांगधरादिकान् । कृताजलिपुटः शुद्धो मायायानौ विहाय च ॥ २७ ॥ शिष्यो व्रत विशुध्यर्थं गुरुवेज्ञानशालिने । आलोचयेत्समस्तान् व्रतातिचारान् यथोद्भवान् ॥२८॥ आद्य दैवसिक रात्रिकमैर्यापथनामकम् । पाक्षिकाख्य तथा चातुर्मासिक च मलापहम् ॥ २९ ॥ सांवत्सरिकनामोत्तमार्थं चानशनोद्भवम् । सप्तभेदमिति प्रोक्त सतामालोचन जिनैः ॥ ३० ॥ यद्धि किंचित्कृतं कर्मकारितं चानुमोदितम् । वपुषा मनसा वाचा व्रतातिचारगोचरम ॥ ३१ ॥ प्रकटं संघलोकानां प्रच्छन्न वा प्रमादजम् ।

जो भाव राग द्वेष के आश्रित है अथवा मिथ्यात्व असंमय के आश्रित है अथवा जो भाव अधिक कषाय विशिष्ट है वह भी प्रतिक्रमितव्य है उसका भी प्रतिक्रमण वा त्याग करना चाहिये ॥२४॥ मुनियों को मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होने वाले दोषों को निराकरण करने और व्रतों को शुद्ध रखने के लिये मिथ्यात्व, पाँचों पाप, सब तरह का असंयम, समस्त कषाय और समस्त अशुभ योगों का प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥२५–२६॥ शिष्य मुनियों को पृथ्वी और अपने शरीर को पीछी से शुद्ध कर तथा सिद्धभक्ति आदि पढ़ कर दोनों हाथ जोड़ कर मान तथा माया का त्याग कर अंतःकरण से शुद्ध होकर अत्यंत ज्ञानवान् ऐसे अपने गुरु के सामने अपने व्रतों को अत्यंत शुद्ध करने के लिये जैसे जैसे उत्पन्न हुए हैं उसी तरह समस्त व्रतों के अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये ॥२७–२८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना के भी सात भेद बतलाये हैं पहली आलोचना दैवसिक, दूसरी रात्रिक, तीसरी ईर्यापथ, चौथी पाक्षिक, पाँचवीं चातुर्मासिक, छठी दोषों को दूर करने वाली सांवत्सरिक और सातवी उत्तम अर्थ को देने वाली औपवासिक (उपवास से उत्पन्न होने वाली) ॥२९–३०॥ जिन कर्मों से व्रतों में दोष वा अतिचार लग जाय ऐसे कर्म जो मुनिराज मन वचन काय से करते हैं वा कराते हैं वा अनुमोदना करते हैं, चाहे उन्होंने वह कार्य संघ वा लोगों के सामने किया हो चाहे छिपकर किया हो और चाहे प्रमाद से किया हो वह सब पाप उन

तत्सर्वं वालवत्पापं त्रिशुध्यालोचयेद्यति ॥ ३२ ॥ यस्मिन् क्षेत्रे च कालादौ द्रव्यभावाश्रयेण य. । जातो व्रतात्यतीचारो मायां त्यक्त्वातदेवसः ॥ ३३ ॥ निहितव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः । गुर्वादिसाक्षिकं दक्षैर्व्रतघ्नोऽरिरिवोत्थितः ॥ ३४ ॥ मनसा निंदनं स्वस्य गर्हणं गुरुसाक्षिकम् । पश्चात्तापजशोकेनयदश्रुपतनादि च ॥ ३५ ॥ क्रियते मुक्तिमार्गस्थैः सतिव्रतात्यतिक्रमे । प्रतिक्रमणंभावाख्यं तदन्त' शुद्धिकारणम् ॥ ३६ ॥ य प्रतिक्रमणं सर्वं द्रव्यभूतं करोति वा । शृणोति सूत्रमात्रेण निंदागर्हादि दूरग' ॥ ३७ ॥ परमार्थातिगस्तस्य शुद्धिर्न जायते मनाक् । व्रतानां नच दोषाणां हानि र्न निर्जराशिवम् । यत. सवेगवैराग्यशुद्धभावाश्रितोमुनि. । अनन्यमानसो धीमान्स्वनिंदा गर्हणादिभाक् ॥ ३६ ॥ प्रतिक्रमणसूत्रेणविधाय शुद्धिमुल्वणम् व्रतानां तत्फलेनाशुलभतेशाश्वतंपदम् ॥४०॥

मुनियों को मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक बालक के समान गुरु से कह देना चाहिये और फिर उनकी आलोचना करनी चाहिये ॥३१—३२॥ जिस क्षेत्र में जिस काल में जिन द्रव्यों से और जिन भावों से व्रतों में अतिचार उत्पन्न हुआ है वह सब चतुर मुनियों को छलकपट छोड़ कर निंदा गर्हा और शोक के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बडे प्रयत्न से दूर करना चाहिये तथा उस दोष को व्रतों को नाश करने वाले शत्रु के समान समझ कर उनका निराकरण करना चाहिये ॥३३—३४॥ मन से अपनी निंदा करना गर्हा है पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए शोक से आँसू गिरना आदि शोक कहलाता है। मोक्षमार्ग में रहने वाले मुनियों को व्रतों में दोष लगने पर गर्हा निंदा वा शोक के द्वारा प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। यह भाव प्रतिक्रमण कहलाता है और अंतःकरण की शुद्धि का कारण है ॥३५—३६॥ जो मुनि केवल द्रव्य प्रतिक्रमण तो सब तरह का कर लेता है तथा सूत्रमात्र से उसको सुन भी लेता है परंतु निंदा गर्हा से दूर रहता है और परमार्थ से भी दूर रहता है उसके व्रतों की शुद्धि किंचितमात्र भी नहीं होती है, न उसके दोष दूर होते हैं न उसकी निर्जरा होती है और न उसको मोक्ष प्राप्त होती है ॥३७—३८॥ इसका भी कारण यह है कि जो बुद्धिमान मुनि संवेग वैराग्य और शुद्ध भावो को धारण करते हैं जो संवेग वैराग्य के सिवाय अन्य किसी काम में अपना मन नहीं लगाते जो अपनी निंदा गर्हा करते रहते है और जो प्रतिक्रमण सूत्र के अनुसार अपने

मत्वेति धीमता नित्यंनिंदागर्हादिपूर्वके सत्प्रतिक्रमणालोचने कार्ये व्रतशुद्धये ॥ ४१ ॥ सत्प्रतिक्रमणो धर्मो महान् रत्नत्रयात्मक. । शिष्याणां मुक्ति कर्तासीन्नाभेय वीरनाथयो ॥ ४२ ॥ तयोर्मध्यजिनेशानाशिष्याणा च प्रमादत. । कश्चिद्यस्मिन्व्रते दोपो जायते तस्य शुद्धये ॥ ४३ ॥ तावन्मात्रं भवेत्स्तोक सत्प्रतिक्रमण शुभम । नच सर्व यत-स्तोस्युर्निप्रमादा महाधिय' । ॥ ४४ ॥ आदि तीर्थकृतः शिष्या स्वभावादृजुबुद्धय तस्मात्तेपांमतीचारा भवेयुर्वह्वो व्रते ॥ ४५ ॥ श्रीवर्द्धमानतीर्थेशशिष्यास्तुच्छधियस्तत । कालदोपेण तेपां स्यादतीचार व्रजो व्रते ॥४६॥ तस्मात्प्रतिक्रमस्ते दुःस्वप्नेऽप्यगोचरादिक । जात स्वल्पोमहान्चात्र तस्यशुध्यैस्वशक्तिता उच्चारयन्ति सर्वास्तान् प्रतिक्रमणदडकान् । त्रिकाल नियमेनैव व्रतशुद्धिविधायिन' ॥ ४८ ॥ विज्ञायेति व्रतादीना शुध्यर्थं कर्महानये ।

व्रतों की उत्तम शुद्धि करते हैं वे ही मुनि उस प्रतिक्रमण के फल से शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥३९-४०॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिए निंदा गर्हा पूर्वक श्रेष्ठ प्रतिक्रमण और आलोचना प्रति दिन करनी चाहिये ॥४१॥ यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमण रूप धर्म रत्नत्रयात्मक है और महान् है तथा भगवान वृपभदेव और भगवान वीरनाथ के शिष्यों को मोक्ष का देने वाला है ॥४२॥ भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों के शिष्यो को किसी भी प्रमाद से जिस व्रत में दोप लगा है उसी की शुद्धि के लिये उतना ही थोड़ा सा शुभ प्रतिक्रमण बतलाता है उनके लिये सब प्रतिक्रमण नहीं बतलाया। क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शिष्य बड़े बुद्धिमान् थे और स्वभाव से ही प्रमाद रहित थे ॥४३-४४॥ प्रथम तीर्थंकर भगवान वृपभदेव के शिष्य स्वभाव से ही सरल बुद्धि वाले थे इसलिये उनके व्रतों में भी बहुत से अतिचार लगते थे। तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान स्वामी के शिष्य तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं। अतएव कालदोप के कारण उनके व्रतो में भी बहुत से अतिचार लगते हैं ॥४५-४६॥ अतएव दुःस्वप्न ईर्यागमन आदि से होने वाले जितने भी छोटे वा बडे अतिचार हैं उनको शुद्ध करने के लिए व्रतों को शुद्ध करने वाले मुनि अच्छी तरह निःशंकित होकर नियम पूर्वक तीनो समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण करते हैं ॥४७-४८॥ यह समझ कर चतुर पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध करने के लिए

कर्तव्यं यत्ततो दुद्यैः प्रतिक्रमणमंजसा ॥ ४६ ॥ यतः कश्चिद्व्रतेदोपादिर्निराक्रियते बुधैः । सत्प्रतिक्रमणेनैव कश्चिदालोचनादिभिः ॥ ५० ॥ तस्मात्तद्वितयं नित्यं विधेयं विधिपूर्वकम् । सर्वदोपापहं यत्नाद् व्रतशुद्धिविधायिभिः ॥ ५१ ॥ यतः सर्वैर्गुणैः सार्द्धं समस्ता व्रतपंक्तयः । चन्द्रज्योत्स्ना इवात्यर्थं निर्मलाःस्युश्चतद्द्वयात् । चित्तशुद्धिश्चजायेत तयाध्यानं शिवप्रदम् । तेनकर्मविनाशश्चतन्नाशे निवृतिः सताम् ॥ ५३ ॥ प्रमादी योऽथवा गर्वीमत्वा निजं तपोमहत् । मूढधीः प्रत्यहं कुर्यान्नप्रतिक्रमणाह्निकम् ॥ ५४ ॥ दोषैर्मलीमसं तस्य व्यर्थं स्यात्तपोखिलम् । दीक्षा च निष्फला पापस्रावा जन्म निरर्थकम् ॥ ५५ ॥ मत्वेत्यालोचनायुक्तं सत्प्रतिक्रमणं विदः । कुर्वन्तु सर्वयत्नेन नित्यं युक्त्या शिवाप्तये ॥ ५६ ॥ सर्वेषांव्रतगुप्तियोगसमितीनां शुद्धिहेतुं परमन्तातीतगुणात्मनां च शिवदं

और कर्मों को नष्ट करने के लिये बहुत शीघ्र प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥४६॥ बुद्धिमान् लोग किसी दोप को तो प्रतिक्रमण से निराकरण करते हैं और किसी दोप को आलोचना आदि से निराकरण करते हैं अतएव यत्नपूर्वक व्रतों की शुद्धि करने वाले मुनियों को विधि पूर्वक समस्त दोपों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही सदा करने चाहिये ॥५०–५१॥ इसका भी कारण यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण और आलोचना करने से समस्त व्रतों के समूह समस्त गुणों के साथ साथ चन्द्रमा की चांदनी के समान अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥५२॥ इसके सिवाय प्रतिक्रमण और आलोचना करने से चित्त की शुद्धि होती है तथा चित्त की शुद्धि होने से मोक्ष देनेवाला ध्यान प्रगट होता है उस ध्यान से समस्त कार्मों का नाश होता है और समस्त कर्मों के नाश होने से सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥५३॥ जो मुनि अपने तपश्चरण को बहुत बड़ा समझकर प्रमादी तथा अहंकारी हो जाता है और इसीलिये जो मूर्ख प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि नहीं करता उसका समस्त तपश्चरण दोषों से मलिन रहता है और इसीलिये व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार पापों का आस्रव करने वाली उसकी दीक्षा भी निष्फल समझी जाती है और उसका जन्म भी निरर्थक माना जाता है ॥५४–५५॥ इसलिये चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ युक्ति पूर्वक प्रतिदिन आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥५६॥ यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक अनंत गुणों को धारण

दोपापहं निर्मलम् । पापघ्नं मुनय. कलंकहृतकं यत्नात्कुरुध्व सदा स्वान्तः शुद्धिकरं प्रतिक्रमण नामावश्यकं मुक्तये ॥५७॥ प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमिमामुक्त्वा समासतः । सत्प्रत्याख्यान निर्युक्तिं प्रवक्ष्यामि ततःशुभाम् ॥ ५८ ॥ अयोग्यानां स्वयोग्यानां वस्तूना तपसेथवा यन्निराकरणं यत्नात्क्रियते नियमेन च ॥५९॥ नामादि षड्विधानां वा कर्मसंवरहेतवे । आगतानामनागतनां तत्प्रत्याख्यान मतजिनैः ॥ ६० ॥ नामानुस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः । भावश्चेत्यत्र निक्षेपः प्रत्याख्यानेऽपि षड्विधः ॥ ६१ ॥ पापरागादिहेतूनि क्रूराशुभान्यनेकश. । नामानि बुधनिंद्यानि स्वान्येषां दोषदानि च ॥ ६२ ॥ जातुचियत्रनोच्यन्ते हास्याद्यैः स्वपरादिभिः । नियमेनैव तन्नामप्रत्याख्यानं स्मृत बुधै. ॥ ६३ ॥ मिथ्यादेवादिमूर्तीनां रचनीनां सकलैनसाम् । मिथ्यात्वहेतुभूतानां वीक्षणे

करने वाले समस्त व्रत गुप्ति योग और समितियों को शुद्ध करने वाला है, सर्वोत्कृष्ट है मोक्ष देने वाला है, दोषों को दूर करने वाला है, अत्यंत निर्मल है, पापो को नाश करने वाला है, कलंक को दूर करने वाला है और अंतःकरण को शुद्ध करने वाला है। इसीलिये मुनियों को ऐसा यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥५७॥ इस प्रकार हमने संक्षेप से प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा अब आगे शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं ॥५८॥ जो पदार्थ अपने योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं उन पदार्दों का नियम पूर्वक तपश्चरण के लिये त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। अथवा कर्मों का संवर करने लिये नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थों का त्याग करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है ॥५९–६०॥ इस प्रत्याख्यान मे भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव ये छह निक्षेप माने गये हैं, अर्थात् छहों निक्षेपों से यह प्रत्याख्यान भी छह प्रकार है ॥६१॥ इस संसार में अनेक नाम ऐसे हैं जो पाप और राग के कारण हैं, क्रूर हैं अशुभ हैं, विद्वानों के द्वारा निंदनीय हैं, और अपने तथा दूसरों के लिये दोष उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे नामों को हंसी आदि के कारण वा अपने पराये की किसी प्रेरणा से भी नियम पूर्वक उच्चारण नहीं करना विद्वानों के द्वारा नाम प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६२–६३॥ पाप से डरने मुनिलोग समस्त पापों की खानि, मिथ्यात्व बढ़ाने का कारण, क्रूर और सरागी मिथ्या देवों की मूर्तियों के देखने का

नियमो त्रयः ॥६४॥ कृताद्यै वासरागाणां क्रूराणां गृह्यते निशम् । पापभीतैश्च तत्स्थापनाप्रत्याख्यानमद्भुतम् ॥६५॥ कर्मबंध करा द्रव्या शुभा वा तपसेखिलाः । स्वेन जातु न भोक्तव्या भोजितव्या नचापरैः ॥ ६६ ॥ मनसा नानुमंतव्या एवं यो नियमो वरः । मुनीशै गृ॑ह्यते द्रव्यप्रत्याख्यानं तदूर्जितम् ॥ ६७ ॥ रागबाहुल्यकर्तॄणामसंयम-प्रवर्तिनाम् । सेवितानां विटस्त्र्याद्यै सर्वदोषविधायिनाम् ॥ ६८ ॥ क्षेत्राणां दुष्टमिथ्यादृग्भूतानां परिहापनम् । नियमाद्यत्सतां क्षेत्रप्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥ ६६ ॥ यच्चवृष्टिस्तुषारादि व्याप्तकालस्य वर्जनम् : असंयमादि हेतोः कालप्रत्याख्यानमेवतत् ॥ ७० ॥ मिथ्यात्वासंयमानां प्रमादानां चाशुभात्मनाम् कषायवेदहास्यादीनां सर्वेषां जितेन्द्रियैः ॥ ७१ ॥ सर्वथा शुद्धभावेन त्यजनं क्रियते बुधैः नियमाद्यैश्च यद्भावप्रत्याख्यानं तदुत्तमम् ॥ ७२ ॥ एतैश्च षड्विधोपायैर्निक्षेपैः षड्विधंशुभैः । प्रत्याख्यानं विधातव्यं प्रत्यहं संयमाप्तये ॥ ७३ ॥ प्रत्याख्यापक

कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देते हैं उनके न देखने का नियम कर लेते हैं उसको उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६४–६५॥ जो द्रव्य कर्मबंध को करने वाले हैं अथवा शुभ हैं ऐसे पदार्थों को तपश्चरण पालन करने के लिए कभी उपभोग नहीं करना और न दूसरों से कभी उपभोग कराना और मन से उनके उपभोग करने की अनुमोदना भी नहीं करना इस प्रकार मुनिराज जो नियम कर लेते हैं उसको उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६६–६७॥ जो क्षेत्र अत्यंत राग उत्पन्न करने वाले हैं, असंयम की प्रवृत्ति करने वाले हैं, जो व्यभिचारी वा कुट्टिनियों के रहने के स्थान हैं जो समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले है और दुष्ट वा मिथ्यादृष्टियों से भरे हुए हैं ऐसे क्षेत्रों का नियम पूर्वक त्याग कर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६८–६६॥ जिस समय वृष्टि पड़ रही हो वा तुषार पड़ रहा हो ऐसे काल का असंयमादि के डर से त्याग कर देना काल प्रत्याख्यान कहलाता है ॥७०॥ जितेन्द्रिय बुद्धिमान पुरुष अपने पूर्ण शुद्ध भावों से नियम पूर्वक मिथ्यात्व असंयम प्रमाद अशुभ कषाय वेद हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा आदि का त्याग कर देते हैं उसको उत्तम भाव प्रत्याख्यान कहते हैं ॥७१–७२॥ मुनियों को अपना संयम पालन करने के लिये ऊपर लिखे शुभ छहों प्रकार के निक्षेप रूप उपायों से छहों प्रकार का प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिये ॥७३॥ यहाँ पर प्रत्याख्यान

आत्मात्र यः प्रत्याख्यानमेवयत् । प्रत्याख्यातव्यमन्यद्यदेतेषां विस्तरं ब्रुवे ॥ ७४ ॥ श्रीगुरो जिंनदेवस्याज्ञया चरणपालकः । मूलोत्तर गुणान् सर्वान्निर्मली कर्तु मुद्यत. ॥ ७५ ॥ जिनसूत्रानुचारी यो दोषागमन भीतिकृत । तयोऽर्थीजितकामाद्यः स प्रत्याख्यापकोमहान ॥ ७६ ॥ अशनादिपरित्यागंप्रत्याख्यानमनेकधा । मूलोत्तर गुणादौ च दशधानागतादि वा ॥ ७७ ॥ अनागतमतिक्रान्तं कोटीसहितसंज्ञकम् । अखडितं च साकारमनाकारसमाह्वयम् ॥ ७८ ॥ परिणामगतं नामा परिशेषाभिधानकम् । तथाध्वगतसज्ञं च प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥ ७९ ॥ कर्तव्यमुपवासादि चतुर्दश्यांदिके च यत् । क्रियतेतत्त्रयोदश्यांभावनागतमेवतत् ॥ ८० ॥ विधेयमुपवासादि चतुर्दश्यादिके च यत् । तत. प्रतिपदादौ क्रियतेऽतिक्रांतमेवतत् ॥ ८१ ॥ प्रातः स्वाध्यायसपूर्णे यदि शक्ति र्भविष्यति।

करने वाला आत्मा प्रत्याख्यापक कहलाता है, त्याग करना प्रत्याख्यान है और जिसका त्याग किया जाता है उसको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप कहते है ॥७४॥ जो मुनि श्री गुरु की आज्ञा से वा भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से चारित्र का पालन करता है, समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों को निर्मल करने के जो सदा उद्यत रहता है, जो जिन शास्त्रों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, जो दोषों के आगमन से सदा भयभीत रहता है, जो निर्मल तपश्चरण करना चाहता है, जो इन्द्रिय और काम को जीतने वाला है और जो उत्कृष्ट है उसको प्रत्याख्यापक कहते हैं ॥७५–७६॥ भोजन पान का त्याग करना प्रत्याख्यान है वह अनेक प्रकार है, अथवा मूलगुण वा उत्तरगुणों में अनागत आदि जो दश प्रकार का त्याग हैं उसको भी प्रत्याख्यान कहते हैं ॥७७॥ अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, अखंडित, साकार, अनाकार, परिणामगत, परिशेप, अध्वगत और सहेतुक ये दश प्रकार के प्रत्याख्यान हैं ॥७८–७९॥ जो उपवास चतुर्थशी के दिन करता है उसका नियम त्रयोदशी के दिन ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८०॥ जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना है, उसका नियम प्रतिपदा के दिन ही कर लेना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है ॥८१॥ प्रातःकाल स्वाध्याय पूर्ण होने पर यदि शक्ति होगी तो मैं उपवास करूंगा इस प्रकार के नियम करने

उपवासं करिष्यामि तत्कोटिसहितंमतम् ॥ ८२ ॥ अवश्यं यद्विधातव्यं पक्षमासादिगोचरम् । उपवासादिकं तत्स्यात्प्रत्याख्यानमखंडितम् ॥ ८३ ॥ सर्वतोभद्रनक्षत्ररत्नावल्याद्यनेकधा । विधानकरणंयद्बहुधासाकारमत्रतत् ।८४॥ निजेच्छयोपवासादि करण यद्विधिं विना । प्रत्याख्यानमनाकारं कथ्यते तत्तपस्विनाम् ॥८५॥ यत्षष्ठाष्टमपक्षैकमासादि वर्षगोचरम् । करणं स्वोपवासादे परिणामगतं हि तत् ॥ ८६ ॥ चतुर्विधाखिलाहार वर्जनं यद्विधीयते । यावज्जीवं स्वसंन्यासे परिशेषं तदुच्यते ॥ ८७ ॥ मार्गाटव्याद्रिनद्यादिगमनानां प्रतिज्ञया क्रियतेऽत्रोपवासादि यत्तदध्वगतं स्मृतम् ॥ ८८ ॥ उपसर्गनिमित्तेऽत्रजातेसति विधीयते उपवासादिकं यत्तात्प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥ ८९ ॥ प्रत्याख्या–नविधेःसारान् दशभेदानिमान् सदा । ज्ञात्वा नाना तपोवृध्यैह्यु पचरन्तु तपोधनाः ॥ ९० ॥ अशनंपानकंखाद्यं स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् । आहारं विविधं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥ ९१ ॥ उपधिः श्रमणायोग्यः क्षेत्रं

को कोटि सहित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८२॥ किसी पक्ष वा किसी महीने में जो उपवास अवश्य किया जाता है उसको अखंडित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८३॥ सर्वतोभद्र नक्षत्रमाला रत्नावली आदि अनेक प्रकार के विधान वा व्रत करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८४॥ बिना किसी विधि के अपनी इच्छानुसार उपवास आदि करना तपस्वियों का अनाकर प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥८५॥ जो दो दिन का तीन दिन का एक पक्ष का एक महीने का वा एक वर्ष का उपवास किया जाता है उसको परिणाम गत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८६॥ अपने सन्यास मरण के समय जीवन पर्यंत तक जो चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसको परिशेष प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८७॥ किसी मार्ग में वन में पर्वत पर वा नदी आदि के गमन करने में जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको अध्वगत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८८॥ किसी उपसर्ग आदि के निमित्त मिलने पर जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको सहेतुक प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८९॥ ये ऊपर लिखे हुए प्रत्याख्यान विधि के सारभूत दश भेद हैं इन सबको समझ कर मुनियों को अपने अनेक प्रकार के तपश्चरणों की वृद्धि के लिए इन प्रत्याख्यानों का पालन करना चाहिये ॥९०॥ अन्न पान स्वाद्य खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है। इनके सिवाय सचित्त अचित्त मिश्र के भेद

कालादयोऽखिला' इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यातव्यमजसा ॥ ६२ ॥ द्रव्यमिश्रितपानेनोपवासो यातिखंडताम् । सचित्तं न जलं पातुं योग्यं तस्मात्त्यजेद्बुध ॥ ६३ ॥ रागोष्ण कालदाहाद्यैर्यदि त्यक्तुं न शक्यते । नीरं षष्ठाष्टमादौ तद्युष्णं ग्राह्यं कचिज्जनैः ॥ ६४ ॥ पारणाहनि जातासु रागक्लेशाङ्गिकादिषु । प्राणान्तेपि न चादेयं भोजनानन्तरेजलम् ॥ ६५ ॥ आद्यं विनयशुद्धाख्यमनुभाषासमाह्वयम् । प्रतिपालनशुद्धाख्यं भावशुध्याभिधानकम् ॥ ६६ ॥ शुद्धं चतुर्विधहीदं प्रत्याख्यानं भवापहम् । मुक्तये युक्तिमद्वाक्यैः पृथक् पृथक् ब्रुवेसताम् ॥६७॥ सिद्धयोगाभिधेभक्ति कृत्वानत्वागुरुक्रमौ । पंचधा विनयेनामा प्रत्याख्यान चतुर्विधम् ॥ ६८ ॥ गृह्यतेयत्तादन्तेचा–

से अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, मुनियों के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण हैं, अयोग्य चेत्र अयोग्य काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याख्यान पदार्थ हैं ॥६१–६२॥ किसी द्रव्य से मिला हुआ पानी पीने से उपवास खंडित हो जाता है तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है। इसलिये बुद्धिमानों को इन सब का त्याग कर देना चाहिये ॥६३॥ राग की अधिकता के कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि वेला तेला आदि में पानी का त्याग न हो सके तो लोगों को ऐसे समय में उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये ॥६४॥ पारणा के दिन यदि रोग क्लेश भी उत्पन्न हो जॉय और प्राणों के अंत होने का समय आ जाय तो भी उस दिन भोजन के बाद जल ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥६५॥ इस प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखना चाहिये पहली विनयशुद्ध, अनुभाषाशुद्ध, प्रतिपालनशुद्ध और और भावशुद्ध इस प्रकार चार प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही संसार को नाश करने वाला है। अब हम सज्जनों को मोच प्राप्त करने के लिये युक्ति पूर्वक वचनों के द्वारा अलग अलग इनका स्वरूप कहते हैं ॥६६–६७॥ प्रत्याख्यान लेते समय सिद्धभक्ति योगभक्ति पढ़नी चाहिये फिर गुरु के दोनों चरण कमलों को नमस्कार कर पाँच प्रकार की विनय के साथ चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तथा अंत में आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये। इस प्रकार शिष्यों के द्वारा मोच देने वाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनयशुद्ध

यंभक्तिः प्रदीयते । शिष्यैर्विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं शिवप्रदम् ॥ ९९ ॥ प्रत्याख्यानाक्षराः सर्वे गुरुणोच्चरितायथा । व्यंजनस्वरमात्रादिशुध्या ये तांस्तथैव च ॥ १०० ॥ शिष्योनुभापतेयत्रप्रत्याख्यानविधौशुभे । अनुभापणशुद्धाख्यं प्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥ १ ॥ महोपसर्गे दुर्व्याध्यश्रमक्लेशादिराशिषु । जातेषु सुखदुःखादिष्वटव्याद्रिवनादिषु ॥२॥ दुर्भिक्षादिषुसर्वत्राखडंयत्प्रतिपाल्यते । अनुपालनशुद्धाख्यं तत्प्रत्याख्यानमूर्जितम् ॥ ३ ॥ रागद्वेपमदोन्मादैः कषायारि व्रजैः क्वचित् । कामाद्रेकाख्यधूर्तैश्च परिणामेन योगिनाम् ॥ ४ ॥ न मनाग्दूपितं शुद्धं प्रत्याख्यानं यदुत्तमम् । भावशुद्धाभिधं ज्ञेयं प्रत्याख्यानं तदेव हि ॥ ५ ॥ प्रत्याख्यानमिदं सर्वं कृत्वा कायस्थितिं द्रुतम् । ग्राह्यं चतुर्विधं मुक्त्यै गुरोऽन्तेमुदाबुधैः ॥ ६ ॥ क्वचिद्धानिर्न कर्तव्या प्रत्याख्यानस्यसंयतैः । प्राणान्तेपि

प्रत्याख्यान कहते हैं ॥९८–९९॥ प्रत्याख्यान के समस्त अक्षर जो गुरु ने उच्चारण किये हैं व्यंजन स्वर और मात्राएं जिस प्रकार शुद्ध उच्चारण की हैं उसी प्रकार शिष्य को भी शुभ प्रत्याख्यान लेते समय उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार के प्रत्याख्यान को अनुभापण शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहते हैं ॥१००–१०१॥ किसी महा उपसर्ग के आजाने पर किसी महा व्याधि के हो जाने पर, किसी दुःख वा क्लेश के हो जाने पर अथवा किसी जंगल वन पर्वत आदि में किसी सुख दुःख के उत्पन्न हो जाने पर अथवा दुर्भिक्ष के उत्पन्न हो जाने पर सर्वत्र अपने प्रत्याख्यान का पालन करना अनुपालन–शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहलाता है ॥२–३॥ राग, द्वेप, मद, उन्माद आदि के द्वारा वा कषाय रूप शत्रुओं के द्वारा अथवा काम के उद्रेकरूपी धूर्तों के द्वारा मुनियों के परिणामों में किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं आती है। उनका उत्तम प्रत्याख्यान शुद्ध बना रहता है उसको भावशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ॥४–५॥ बुद्धिमान मुनियों को यह सब प्रत्याख्यान कर के उसका नियम पूर्ण होने पर शरीर स्थिति के लिये आहार ग्रहण करना चाहिये और फिर गुरु के समीप जाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये फिर चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥६॥ मुनियों को अपने कंठगत प्राण होने पर भी तीव्र परिषह आदि के द्वारा जगत भर में निंदा उत्पन्न करने वाली प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं

जगन्निंद्या तीव्रं परीपहादिभिः ॥७॥ प्रत्याख्यानस्य भंगेन भगंयान्तियतोखिलाः । गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद्भंगाच्छ्वभ्रकारणम् । ॥८॥ महापाप प्रजायेत तेनदुःख वचोतिगम् । भ्रमणशिथिलानाच श्वभ्रादिदुर्गतौचिरम् ॥९॥ मत्वेति विश्वयत्नेनपालयन्तु तपोधनाः । प्रत्याख्यानं जगत्सारंसत्सूपद्रवकोटिपु ॥१०॥ सर्वानर्थहरमनोक्षजयिन कर्मारिविध्वंसकं स्वर्मोक्षैकनिबंधनंशुभनिधिं तीर्थेश्वरैः सेवितम् । अन्तातीतगुणाम्बुधिं सुमुनय. संपालयेताखिलं प्रत्याख्यानवरं सदासुविधिनासर्वार्थसंसिद्धये ॥११॥ प्रत्याख्यानस्य निर्युक्तिं निरूप्येमासमासत. । कायोत्सर्गस्य निर्युक्तिमितऊर्ध्वं दिशाम्यहम् ॥१२॥ त्यक्त्वांगादिममत्वं यद्द्विधासर्गंविधीयते लवमानभुजास्थानं गुणचिंतनपूर्वकम् ॥१३॥ परमेष्ठिपदादीनामहोरात्रादिगोचर. । कायोत्सर्गः स मन्तव्योनंतवीर्यादि कारकः ॥१४॥

करनी चाहिये ॥७॥ इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यान के भंग होने से मूलगुण उत्तरगुण आदि सबका भंग हो जाता है तथा मूलगुण उत्तरगुण के भंग होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से वचनातीत दुःख होता है। तथा इस प्रकार शिथिलाचार को धारण करने वाले मुनि नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं ॥८–९॥ यही समझ कर मुनियों को करोड़ों उपद्रव आने पर भी जगत में सारभूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिये ॥१०॥ यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थों को हरण करने वाला है, मन और इन्द्रियों को जीतने वाला है, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाला है, स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, शुभ का निधि है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं और अनंत गुणो का समुद्र है। इसलिये श्रेष्ठ मुनियों को संपूर्ण पुरुषार्थ सिद्धि करने के लिये विधि पूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिये ॥११॥ इस प्रकार संक्षेप से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा अब आगे कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं ॥१२॥ रात्रि में वा अन्य किसी समय में अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर खड़े होकर दोनों भुजाएं लंबी लटका कर पॉचों परमेष्ठियों के गुणों का चिंतवन करना कायोत्सर्ग कहलाता है। यह कायोत्सर्ग अनंत वीर्य को उत्पन्न करने वाला है ॥१३–१४॥

नामाख्यस्थापना द्रव्यंक्षेत्रं कालोशुभाश्रित. । भावएषोस्यनिक्षेपः कायोत्सर्गस्यषड्विधः ॥१५॥ सरागक्रूरनिंदादिना— मोत्थदोषशुद्धये । कायोत्सर्गोत्र यो नाम कायोत्सर्गाह्वयोहि सः ॥ १६ ॥ कुत्सितस्थापनाद्वारागतातीचारशान्तये । कायोत्सर्गः कृतोयः स स्थापनासंज्ञएवहि ॥ १७ ॥ सावद्यद्रव्यसेवाभिर्जातदोषस्यहानये । क्रियते यस्तनूत्सर्गो द्रव्यव्युत्सर्गएव सः ॥ १८ ॥ सरागक्रूरमिथ्यात्वाद्यक्षेत्रजंमलात्मनाम् । विशुध्यै यस्तनूत्सर्गः क्षेत्रव्युत्सर्ग एव सः ॥ १९ ॥ ऋत्वहोरात्रवर्षादि व्याप्तकालोद्भवस्य यः । दोपस्यहानये कायोत्सर्गः स कालसंज्ञकः ॥ २० ॥ मिथ्यासंयमकोपादियुक्तदुर्भावजस्य यः । दोपस्यशुद्धये कायोत्सर्गः सभावनामकः ॥ २१ ॥ अमीभिःषड्विधैःसारैर्निक्षेपैर्मुनिसत्तमैः कायोत्सर्गः सदाकार्यो जातदोषविशुद्धये ॥ २२ ॥ कायोत्सर्गश्च कायोत्सर्गीकायोत्सर्गकारणम् । अमीषां त्रितयानांहि प्रत्येकं लक्षण ब्रुवे ॥ २३ ॥ वाह्यान्त. सकलैः संगैः सम कायस्य धीधनैः । क्रियते यः

नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और शुभ भाव के भेद से छहों निक्षेपों से यह कायोत्सर्ग भी छह प्रकार है ॥१५॥ किसी सारगी, क्रूर और निंद्य आदि नाम से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१६॥ किसी कुत्सित स्थापना के आए हुए अतीचारों को शांत करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१७॥ पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१८॥ सारगी क्रूर और मिथ्यात्व से दूषित क्षेत्र से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१९॥ ऋतु दिन रात और वर्षाऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोषों को नाश करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं ॥२०॥ मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादिक दुर्भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भाव कायोत्सर्ग कहलाता है ॥२१॥ उत्तम मुनियों को उत्पन्न हुए दोषों को विशुद्ध करने के लिये सारभूत इन छहों निक्षेपों से होने वाला कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥२२॥ अब आगे कायोत्सर्ग कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारणों का अलग अलग लक्षण कहते हैं ॥२३॥ जहाँ पर बुद्धिमानों के द्वारा बाह्य और

प्रालवितभुज' पादांतश्चतु'रवागुलाश्रितः । सर्वांग चलनातीतः कथ्यतेत्र
परित्याग. कायोत्सर्गः समुक्तये ॥ २४ ॥ ~~~ ॥ २६ ॥
चतुर्विध' ॥ २५ ॥ उत्थितोत्थितनामोत्थितोपविष्टसमाह्वय' । उपविष्टोत्थिताख्यकिलासीनासीनसञ्ज्ञक' ॥ २६ ॥ धर्मशुक्लाभिधद्वे धा
एतै' शुभाशुभैर्भेदैः कायोत्सर्गश्चतुर्विधः । द्विधा त्याजोद्विधा ग्राह्यस्तेषां मध्येसयोगिभिः ॥ २७ ॥ आर्तरौद्राख्यदुर्ध्याने कायोत्सर्गेण
ध्यानं यत्क्रियते वुधैः । कायोत्सर्गेण मुक्त्यैस. व्युत्सर्ग उत्थितोत्थित' ॥ २८ ॥ धर्मशुक्लशुभध्यानालिविष्टो भजतेत्रयः । हृदा तस्य
यः स्थितः ध्यायेत्तस्य तनूत्सर्गः उत्थितासीनसञ्ज्ञक. ॥ २९ ॥ धर्मशुक्लशुभध्यानालिविष्टो भजतेत्रयः । हृदा तस्य
तनूत्सर्गो निविष्टोत्थितनामकः ॥ ३० ॥ ध्यायत्यत्र निविष्टो यः आर्तरौद्राणि चेतसा । ध्यानानि तस्य चासी-
नासीनव्युत्सर्गं एवहि ॥ ३१ ॥ उत्थितासीनएकोन्य आसीनासीनसञ्ज्ञक' । द्वाविमौ सर्वथा त्याज्यौ शेषौ

परिग्रह और शरीर
आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के साथ साथ शरीर का भी त्याग कर दिया जाता है
के ममत्व सर्वथा त्याग कर दिया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं। ऐसा कायोत्सर्ग मोक्ष देने
वाला होता है ॥२४॥ उस कायोत्सर्ग में भुजाएं लंबायमान होतीं हैं दोनों पैरों में चार अंगुल का
अंतर रहता है और समस्त शरीर का हलन चलन बंद कर दिया जाता है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चार
प्रकार का होता है ॥२५॥ पहला उत्थितोत्थित, दूसरा उत्थितोपविष्ट, तीसरा उपविष्ठोत्थित और
चौथा उपविष्टोपविष्ट अथवा आसीनासीन ये चार कायोत्सर्ग के भेद हैं ॥२६॥ इन चारों प्रकार के
कायोत्सर्ग में दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं। मुनियों को दोनों अशुभ कायोत्सर्गों का त्याग कर देना
चाहिये और दोनों शुभ कायोत्सर्ग ग्रहण कर लेना चाहिये ॥२७॥ जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने
के लिए खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतवन करते हैं उसको
उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥२८॥ जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्तध्यान और
रौद्रध्यान का चितवन करता है उसको उत्थितासीन कात्योत्सर्ग कहते हैं ॥२९॥ जो मुनि बैठ कर
कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का चिंतवन करता है उसके निवि-
ष्टोत्थित नाम का कायोत्सर्ग कहलाता है ॥३०॥ जो मुनि बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और उसमें
हृदय से आर्तध्यान वा रौद्रध्यान का चिंतवन करता है उसके असीनासीन नाम का कायोत्सर्ग होता
है ॥३१॥ इनमें से एक उत्थितासीन और दूसरा आसीनासीन इन दोनों कायोत्सर्गों का सदा के

कार्यों प्रयत्नतः ॥ ३२ ॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रश्रुताभ्यासयमादिषु । महाव्रतेषु सर्वेषु संयमाचरणेषु च ॥ ३३ ॥ दशलक्षणधर्मेषु तपःसमितिगुप्तिषु । प्रत्याख्याने कषायानाशुभध्यानादिरोधने ॥ ३४ ॥ आत्मतत्त्वेऽन्यतत्त्वेषु ध्यानेषु परमेष्ठिनाम् । कर्मास्रवनिरोधे च संवरे निर्जरा शिवे ॥ ३५ ॥ इति शुद्धसुसंकल्पः क्रियते यो गुणाप्तये । महान् व्युत्सर्गमापन्नैस्तद्ध्यानमुत्तमंमतम् ॥ ३६ ॥ परिवारमहासम्पत्पूजासत्कारहेतवे । अन्नपानादिमिष्टाद्यैर्ख्याति-कीर्तिप्रसिद्धये ॥ ३७ ॥ स्वमाहात्म्यप्रकाशाय स्वेष्टवस्त्वाप्तयेऽन्वहम् । स्वर्गराज्यपराङ्गनाप्राप्तयेऽमुत्र वा इति ॥३८॥ इत्याद्यन्यतमाप्त्यै यः संकल्पः क्रियतेऽशुभः । कायोत्सर्गमापन्नैस्तद्ध्यानमशुभंस्मृतम् ॥ ३९ ॥ अप्रशस्तं प्रशस्तं च ध्यानं ज्ञात्वाबुधा इदम् । त्यक्त्वाशुभं शुभध्यानं कायोत्सर्गे भजन्तुभोः ॥ ४० ॥ मोक्षार्थी जितनिद्रोयस्तत्त्व-

---

त्याग कर देना और बाकी के दोनों कायोत्सर्ग प्रयत्नपूर्वक धारण करने चाहिये ॥३२॥ कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनि गुण प्राप्त करने की इच्छा से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शास्त्रों का अभ्यास, यम, नियम, समस्त महाव्रत, समस्त संयमाचरण, दश लक्षण धर्म, तप, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, कषायों का निरोध, इन्द्रियों का निरोध, अशुभ ध्यान का निरोध, आत्म तत्व, अन्य तत्त्व, परमेष्ठियों का ध्यान, कर्मों के आस्रव का निरोध, संवर निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो हृदय में शुद्ध संकल्प करते हैं महा संकल्प करते हैं उसको उत्तम ध्यान कहते हैं ॥३३—३६॥ इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वाले जो मुनि अपने परिवार को महा संपति प्राप्त करने के लिये, वा पूजा सत्कार कराने के लिये, वा मीठे मीठे अन्न पान प्राप्त करने के लिये वा अपनी कीर्ति फैलाने वा प्रसिद्ध होने के लिये, वा अपना महात्म्य प्रगट करने के लिये, वा प्रतिदिन अपनी इच्छानुसार इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिये वा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति राज्य की प्राप्ति वा सेना की प्राप्ति के लिये वा इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में अशुभ संकल्प करते हैं उसको अशुभध्यान कहते हैं ॥३७—३९॥ इस प्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान को समझ कर बुद्धिमानों को कायोत्सर्ग में अशुभध्यान का त्याग कर देना चाहिए और अशुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥४०॥ जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, निद्रा को जीतने वाला है, तत्त्व और

शास्त्रविशारद. । मनोवाक्कायसंशुद्धो वलवीर्याल कृत ॥ ४१ ॥ महातपासहाकायोमहाधैर्योजितेन्द्रिय परीपहो-पसर्गादि जयशीलो चलाकृतिः ॥ ४२ ॥ महाव्रती परात्मज्ञ. इत्याद्यन्यगुणाकर.। कायोत्सर्गी भवेन्नूनमुत्तमो मुक्तिसाधक. ॥ ४३ ॥ व्रताना समितीनां च गुप्तीनां सयमात्मनाम् । क्षमादिलक्षणानां च मूलान्यगुणदृक् चिदाम् ॥ ४४ ॥ कषायै र्नोकषायैश्चमदोन्माद भयादिभिः । यातायातै. प्रमादैश्च मनोक्षवाग्वपुश्चलै. ॥ ४५ ॥ जाता येऽतिक्रमास्तेषा दक्षैः शुध्यर्थमत्र यः । विधीयते तनूत्सर्गः तद्ज्ञेयं तस्य कारणम् ॥ ४६ ॥ दुर्द्धरा उपसर्गा ये नृदेवादि कृता भुवि सर्वे परीपहा घोरामहन्तस्तपसादयः ॥ ४७ ॥ कायोत्सर्गेण तानचिश्वान्सहेह मुक्तिहेतवे । इत्यादि कारणैर्नित्यं कुर्वन्तु मुनयोऽत्र तम् ॥ ४८ ॥ कायोत्सर्गे कृते यद्वदंगोपांगादिसंधयः । भिद्यन्ते सुधियां

शास्त्रों के जानने में अत्यंत चतुर है, जिसके मन वचन काय शुद्ध हैं, जो वल और वीर्य से (शक्ति से) सुशोभित है, जो महा तपस्वी है हृष्ट पुष्ट पूर्ण शरीर को धारण करने वाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय है, परिषह और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है परमात्मा को जानने वाला है और मोक्ष को सिद्ध करने वाला है तथा और भी ऐसे ही ऐसे गुणों की खानि है। ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्गी (कायोत्सर्ग करने वाला) कहा जाता है ॥४१–४३॥ व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा मार्दव आदि धर्म मूलगुण उत्तरगुण सम्यग्दर्शन और आत्मा की शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन इन्द्रियाँ वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। इसीलिये व्रतादिकों मे दोष लगना कायोत्सर्ग का कारण समझना चाहिये ॥४४–४६॥ इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किए हुए जितने भी दुर्धर उपसर्ग हैं, जितनी घोर परिषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूंगा यही समझ कर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये ॥४७–४८॥ कायोत्सर्ग के करने में जिस प्रकार अंग उपांग की संधियाँ भिन्न भिन्न होती हैं उसी प्रकार बुद्धिमानों

तद्दुष्कर्माणि क्षणेक्षणे ॥ ४९ ॥ कायोत्सर्गप्रभावेन जायन्तेहिमहर्षयः । समस्ता अचिरेणैवयोगिनां नात्रसंशयः॥५०॥ धर्मशुक्लशुभाध्यानाः शुभाःलेश्याः प्रयान्त्यहो । कायात्सर्गेण धर्मात्मनां सर्वोत्कृष्ठतामिह ॥ ५१ ॥ प्रकंपन्ते सुरेशानामासनादि क्षणान्तरे । महाध्यानप्रभावेन कायोत्सर्गस्थयोगिनाम् ॥ ५२ ॥ व्याघ्रसिंहादय क्रूरा शाम्यन्ति नतमस्तकाः कायोत्सर्गस्थधीराणां महायोगप्रभावतः ॥ ५३ ॥ उपसर्ग व्रजाः सर्वे विघ्नादिजालकोटय. । कायोत्सर्गस्थमाहात्म्याद्विघटन्ते च तत्क्षणम् ॥ ५४ ॥ कायोत्सर्गेण दक्षाणां केवलज्ञानमाशुभोः । जायतेप्रकटं लोकेऽत्रान्यस्यज्ञानस्यकाकथा ॥ ५५ ॥ व्युत्सर्गं कुरुतेधीरो योधर्मशुक्लपूर्वकम् । अत्यासक्त्या स्वयं हेत्यमुक्तिरामावृणोति तम् ॥ ५६ ॥ कायोत्सर्गेणसादृश्यं नापरं परमं तपः । उपायस्ततसमो नान्यः कर्मारातिनिकदने ॥ ५७ ॥ यतो

के कर्म भी क्षण क्षण में नष्ट होते रहते हैं ॥४९॥ इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से मुनियों को बहुत ही शीघ्र समस्त महा ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥५०॥ इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से धर्मात्मा पुरुषों के धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएं सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं ॥५१॥ कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से क्षणभर में ही इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं ॥५२॥ इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए महा धीर वीर मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और उनके चरणों में आकर अपना मस्तक झुका देते हैं ॥५३॥ इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महात्म्य से क्षण भर में ही समस्त उपसर्गों के समूह नष्ट हो जाते हैं और करोड़ो विघ्नों के जाल क्षण भर में कट जाते हैं ॥५४॥ चतुर पुरुषों को इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से इसी लोक में शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भला अन्य ज्ञानों की तो बात ही क्या है ॥५५॥ जो धीर वीर पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग धारण करता है उस पर मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त हो जाती है और स्वयं आकर उसको वर लेती है ॥५६॥ इस कायोत्सर्ग के समान न तो अन्य कोई परमोत्कृष्ट तप है और न कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिये अन्य कोई उपाय है ॥५७॥ इसका भी कारण

व्युत्सर्गकर्तॄणां कर्मजालानि कोटिशः । नश्यति क्षणमात्रेण तमांसि भानुना यथा ॥ ५८ ॥ इत्यादि प्रवर चास्य फलंमत्वा शिवार्थिनः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य सिद्ध्यै कुर्वन्तु तसदा ॥ ५९ ॥ कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्ठेन वर्षेकं प्रमाणकम् । अन्तमुहूर्तमात्रं स्याज्जघन्यं कालसंख्यया ॥ ६० ॥ मध्यमेन तयोर्मध्येप्रमाणं वहुधाभवेत् । अहोरात्रादिपक्षैकमासद्विव्यादिगोचरम् ॥ ६१ ॥ सत्प्रतिक्रमणे वीरभक्तौदैवसिकाभिधे । कायोत्सर्गे स्यादुच्छ्वासा अष्टोत्तर शतप्रभाः ॥ ६२ ॥ उछ्वासारात्रिके कार्याश्चतुः पचाशएव च । परमेष्ठिपदोच्चारैः शतानित्रीणि पाक्षिके ॥ ६३ ॥ उच्छ्वासानां च चातुर्मासिके चतुःशतानि वै । शतानि पच सावत्सरके स्युःर्नियमात्सताम् ॥६४॥ वीरभक्तिं विना शेपसिद्धभक्त्यादिषुस्फुटम् । सर्वेषुस्युरन्तनूत्सर्गे उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥ ६५ ॥ प्राणिहिंसानृ स्तेया

यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अधकार क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के करोड़ों कर्म जाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥५८॥ इस प्रकार इस कायोत्सर्ग का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति प्रगट कर वह कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥५९॥ इस कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है तथा मध्य का जो एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक महीना दो महीना तीन महीना छह महीना आदि काल है वह सब कायोत्सर्ग का मध्यम काल गिना जाता है ॥६०–६१॥ श्रेष्ठ प्रतिक्रमण करते समय, वीरभक्ति करते समय, और दैवसिक कायोत्सर्ग में एकसौ आठ उच्छ्वासों से छत्तीसवार नमस्कारमंत्र पढ़ना चाहिये। रात्रि के कायोत्सर्ग में चौवन श्वासोच्छ्वासों से अठारह बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये। पाक्षिक कायोत्सर्ग में तीनसौ उच्छ्वासों से परमेष्ठी वाचक पदों का उच्चारण करना चाहिये अर्थात् सौवार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये ॥६२–६३॥ चातुर्मास कायोत्सर्ग में चारसौ श्वासोच्छ्वासों से नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये और वार्षिक कायोत्सर्ग में पाँचसौ उच्छ्वासों से पंचनमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये ॥६४॥ वीरभक्ति के बिना शेष सिद्धभक्ति आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से करना चाहिये ॥६५॥ हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के निमित्त से जो पाँचों महाव्रतों में अतिचार

प्यथोयधिप्रसंगतः । सन्महाव्रतपंचानां जातातिचारशुद्धये ॥ ६६ ॥ पृथक्पृथग्विधातव्यः कायोत्सर्गो व्रतार्थिभिः । अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः प्रमाणोविधिनाकचिन् ॥ ६७ ॥ ग्रंथारम्भे समाप्ते च स्वाध्याये वंदनादिषु । कायोत्सर्गेण कर्तव्या उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥ कायोत्सर्गेषु सर्वेषु हीत्युच्छ्वासान् विधाय च । परमेष्ठिपदानां जपनेनाघविशुद्धये ॥ ६९ ॥ प्रशस्तं धर्मशुक्लाख्यं द्विधाध्यानंशिवप्रदम् । स्वशक्त्या स्वैकचित्तेनचिरंध्यायन्तु धीधनाः ॥ ७० ॥ यतोव्युत्सर्गे एकोत्र धर्मशुक्लशुभान्वित । द्वात्रिंशद्दोपनिष्क्रान्तः कृत आशुसुयोगिनाम् ॥ ७१ ॥ महती सकला ऋद्धी व्योमगत्यादिकारिणी । ज्ञानं च केवलं विश्वप्रदीप जनयत्यहो ॥ ७२ ॥ घोटकोऽथलताख्य-स्तंभकुड्यौमालसंज्ञः । दोषः स वरवध्वाख्यस्ततो निगलनामक ॥ ७३ ॥ लम्बोत्तराभिधोदोपस्तनदृष्टिश्चवायस ।

लगे हों तो उनको शुद्ध करने के लिये व्रतियों को अलग अलग व्रत के अलग अलग अतिचार एकसौ आठ उच्छ्वास के द्वारा विधि पूर्वक कायोत्सर्ग धारण कर अलग ही शुद्ध करना चाहिये। भावार्थ— एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा अहिंसा व्रत के दोष शुद्ध करने चाहिये फिर एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा सत्यव्रत के दोष दूर करने चाहिये इस प्रकार सबके लिये अलग अलग कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥६६–६७॥ ग्रंथ के प्रारंभ में वा ग्रंथ की समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना करने में वा और भी ऐसे कार्यों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥६८॥ ऊपर कहे हुए समस्त कायोत्सर्गों में ऊपर कहे हुए उच्छ्वासों के द्वारा पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पदों को जपना चाहिये। ऐसे ही जप से पापों की शुद्धि होती है ॥६९॥ धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान ही प्रशस्त हैं और ये ही दो ध्यान मोक्ष देने वाले हैं इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार एकचित्त होकर चिरकाल तक ये दोनों ध्यान धारण करने चाहिये ॥७०॥ क्योंकि यह कायोत्सर्ग यदि बत्तीस दोषों से रहित तथा शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक किया जाय तो इस एक ही से मुनियों को आकाश गामिनी आदि बड़ी बड़ी समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा लोक अलोक सबको दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥७१–७२॥ कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम कहते हैं। घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य, माल, वरवधू, निगल, लंबोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस खलीन, युग, कपित्थ, शिर

खलिनो युगकपित्थौ शिरः प्रकंपिताख्यक ॥ ७४ ॥ मूकितोंगुलिदोपोथभ्रूविकारसमाह्वयः । दोपश्चवारुणीपायी दिग्दशालोकनादिश ॥ ७५ ॥ ग्रीवोन्नमनदोषोथ दोप प्रणमनाख्यकः । निष्ठीवनोंगमर्शाख्योऽथाभीषां लक्षणं ब्रुवे ॥ ७६ ॥ य स्वैकं पादमुत्क्षिप्यविन्यस्य वात्र तिष्ठिति । अश्ववद्वित नूत्सर्गे सः स्याद्घोटकदोपभाक् ॥७७॥ लतेवात्रनिजांगानि चालयन् यः प्रतिष्टते । कायोत्सर्गेण तस्य स्याल्लतादोपश्चलात्मनः ॥ ७८ ॥ स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठेत् कायोत्सर्गेण संयत । वा शून्यहृदयस्तस्य स्तंभदोपोत्र जायते ॥ ७६ ॥ कुड्यमाश्रित्य तिष्ठेद्यो व्युत्सर्गेणाथवापरम् । कुड्यदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गमलप्रदः ॥ ८० ॥ पीठिकादिकमारुह्य वोर्ध्वभागंस्वमस्तकात् । आश्रित्य यस्तनूत्सर्गं कुर्यात्स मालदोपवान् ॥ ८१ ॥ जघाभ्यांजघनपीड्य सवराद्विवधूरिव । यस्तं धत्तेऽत्र स स्यात्सवरवध्वाद्व्यदोषभाक् ॥ ८२ ॥ कृत्वा वह्वन्तराल यः पादयोर्निगलस्थवत् । कायोत्सर्गं विधत्ते स निगला–

प्रकंपित, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिग्दशालोकन ग्रीवोन्नमन प्रणमन, निष्ठीवन अंग–मर्श ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोप हैं आगे अनुक्रम से इनका लक्षण कहते हैं ॥७३–७६॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर को उठा कर अथवा एक पैर को रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके घोटक नाम का दोप लगता है ॥७७॥ जो मुनि लता के समान अपने शरीर को वा अंग उपांगों को हिलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के लता नाम का नाम का दोप लगता है ॥७८॥ जो मुनि किसी खंभे के आश्रय खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है अथवा खंभे के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करता है उसके स्तंभ नाम का दोप लगता है ॥७६॥ जो मुनि किसी दीवाल के सहारे खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके कायोत्सर्ग को दूपित करने वाला कुड्य नाम का दोप लगता है ॥८०॥ जो मुनि किसी पीठिका पर (वेदी आदि पर) चढ़ कर और उसके ऊपर के भाग पर मस्तक का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके माल नाम का दोप प्रगट होता है ॥८१॥ जो मुनि वर वधू के समान दोनों जंघाओं से जंघा को दवाकर कायोत्सर्ग करता है उसके वरवधू नाम का दोप लगता है ॥८२॥ जिसके पैर साँकल से बंधे हैं पैरों के बीच में बेड़ी वा लोहे के डंडे पड़े हैं उसके समान जो अपने पैरों को बहुत दूर दूर रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके निगल

स्वयंमलंश्रयेत् ॥ ८३ ॥ व्युत्सर्गंस्थयस्यात्रोन्नमनंचभवेन्मुने: वह्णोनमनं तस्य दोषोलम्बोत्तराह्वयः ॥ ८४ ॥ व्युत्सर्गस्थोत्र यः पश्येत्स्वस्तनौ चंचलोदृशा । तस्य दोषः प्रजायेत स्तनदृष्टिसमाह्वयः ॥ ८५ ॥ कायोत्सर्गस्थ एवोप्यपार्श्वेपश्यति यो दृशा । काकवत्तस्य जायेतदोषो वायससंज्ञकः ॥ ८६ ॥ कायोत्सर्गं विधत्ते चाश्ववत्खलिन-पीडितः । यो दन्तकटकंमस्तकं तस्यखलिनोमलः ॥ ८७ ॥ ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठेद्युगपीडितवृषादिवत् । कायोत्सर्गेण तस्यास्ति युगदोषोविरूपकः ॥ ८८ ॥ कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वातिष्ठति यो मुनिः । व्युत्सर्गेण भवेत्तस्य कपित्थ-दोषएवहि ॥ ८९ ॥ कायोत्सर्गान्वितो यः शिरः प्रकंपयतिस्फुटम् । शिरः प्रकंपितं दोषं लभते समलप्रदम् ॥ ९० ॥ करोति चंचलत्वेन कायोत्सर्गस्थसंयतः । मुखनासाविकारं यस्तस्यदोषोहिमूकितः ॥ ९१ ॥ कायोत्सर्ग युतो योऽत्र

नाम का दोष लगता है ॥८३॥ कायोत्सर्ग करते समय जो मुनि ऊंचे को अधिक तन जाय अथवा नीचे को नव जाय उसके लंबोत्तर नाम का दोष लगता है ॥८४॥ जो चंचल मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों से अपने स्तनों को देखता है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष लगता है ॥८५॥ कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि कौए के समान इधर उधर दोनों बगलों की ओर देखता है उसके वायस नाम का दोष लगता है ॥८६॥ लगाम से दुःखी हुए घोड़े के समान जो मुनि मस्तक को हिलाता हुआ और दाँतों को कट कटाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन नाम का दोष होता है ॥८७॥ जिस प्रकार जुआ से दुःखी हुआ बैल अपनी गर्दन को लंबी कर देता है उसी प्रकार जो मुनि अपनी गर्दन को लंबी कर कायोत्सर्ग करता है उसके युग नाम का अशुभ दोष होता है ॥८८॥ जो मुनि कैथ के समान अपनी मुट्ठियों को बाँध कर कायोत्सर्ग करता है उसके कपित्थ नाम का दोष लगता है ॥८९॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ शिर को हिलाता जाता है उसके शिरःप्रकंपित नाम का मल उत्पन्न करने वाला दोष लगता है ॥९०॥ जो मुनि अपनी चंचलता से कायोत्सर्ग करता हुआ भी मुख वा नासिका में विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूकित नाम का दोष लगता है ॥९१॥ कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि हाथ पैर वा अंगुली से विकार उत्पन्न करता रहता है उसके अंगुलि नाम का दोष लगता

विकार कुरुतेयतिः । हस्तपादंगुलोनामंगुलिदोषं लभेत सः ॥ ९२ ॥ व्युत्सर्गस्थोयमी नेत्रे भ्रूविकारं तनोति यः । नर्तनं वांगुलीनां पादयोः सभ्रूविकारभाक् ॥ ९३ ॥ सुरापायीव यो घूर्णमानास्तिष्ठतिसयमी । व्युत्सर्गे वारुणीपायी दोषस्तस्य चलात्मनः ॥ ९४ ॥ व्युत्सर्गस्थः प्रपश्येद्यो नेत्राभ्यां हि दिशोदश । लभते दश दोषान् स दिगालोकन-सञ्ज्ञकान् ॥ ९५ ॥ कायोत्सर्गेणसयुक्त. स्वग्रीवोन्नमनंहि यः । करोति तस्य दोषः स्याद्ग्रीवोन्नमन नामकः ॥९६॥ कायोत्सर्गाकितो यः प्रणमनं कुरुतेयति । तस्यप्रणमनाख्योस्ति दोषो दोषकरोऽशुभः ॥ ९७ ॥ व्युत्सर्गालंकृतोयत्र निष्ठीवन करोति च. तथा षड्वारण तस्यदोषो निष्ठीवनाह्वयः ॥ ९८ ॥ कायोत्सर्गयुत. कुर्याच्चपलत्वेन योमुनिः । स्वशरीरपरामर्श सोंगामर्शाख्यदोषवान् ॥ ९९ ॥ एते दोषाःप्रयत्नेन द्वात्रिंशत्सख्यकाः सदा । योगशुध्या परि-त्याज्याः कायोत्सर्गस्थसंयतैः ॥ २०० ॥ यतोमीभिर्विनिर्मुक्तं दोष. सर्वं प्रकुर्वते । व्युत्सर्गं प्रकटीकृत्य ये सामार्थ्यं

है ॥९२॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों में वा भौंहों में विकार उत्पन्न करता है अथवा अपने पैर की अंगुलियों को नचाता है उसको भ्रूविकार नाम का दोष लगता है ॥९३॥ जो मुनि मद्य पीने वाले मनुष्य के समान लहरें लेता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के वारुणीपायी नाम का दोष लगता है ॥९४॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपने नेत्रों से दशों दिशाओं की ओर देखता है उसके दश दिगालोकन नाम के दश दोष लगते हैं। भावार्थ—एक एक दिशा को देखना एक एक दोष है। इस प्रकार दशों दिशाओं को देखना दश दोष हैं ॥९५॥ जो मुनि अपनी गर्दन को ऊंची कर कायोत्सर्ग करता है उसके ग्रीवोन्नमन नाम का दोष लगता है ॥९६॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी नीचे की ओर झुक जाता है उसके अनेक दोष उत्पन्न करने वाला प्रणमन नाम का अशुभ दोष होता है ॥९७॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है अथवा खकारता रहता है उसके निष्ठीवन नाम का दोष होता है ॥९८॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी चंचल होने के कारण अपने शरीर को स्पर्श करता रहता है उसके अंगमर्श नाम का दोष लगता है ॥९९॥ कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनियों को अपने मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक प्रयत्नपूर्वक इन बत्तीस दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥२००॥ क्योंकि जो मुनि अपने पराक्रम वा सामर्थ्य को

पराक्रमम् ॥ १ ॥ तेषां नश्यन्ति चत्वारि घातिकर्माणि जायते । केवलावगमं मर्वैर्गुणैः सहाचिरेण भोः ॥२॥ विज्ञायेति फलं चास्य शक्ता वा मदशक्तयः । कुर्वन्तु प्रत्यहं कायोत्सर्गं सर्वार्थसिद्धये ॥ ३ ॥ यतोत्र निजशक्त्या स क्रियमाणोजगत्सताम् । भवत्येव न सदेहो महाफलनिवधनः । ॥ ४ ॥ समर्था वलिनो यत्र प्रमादेन न कुर्वते । कायोत्सर्गं भवेत्तेषां व्यर्थं जंघावलादिकम् ॥ ५ ॥ मत्वेति कर्मनाशाय कायोत्सर्गो भवापहः । कर्तव्यः प्रत्यहं धीरैः प्रमादेन विनाखिलः ॥ ६ ॥ विश्वाग्र्यं धर्ममूलं सकलविधिहर तीर्थनाथैर्निषेव्यं मुक्तिश्रीदानदत्तं गुणमणिजलधिं धीरवीरैकगम्यम् । दुःखघ्नं शर्मखानिं कुरुत सुविधिना ध्यानमालव्य दक्षाः कायोत्सर्गं शिवाप्त्यैवपुषि जगतिवा-निर्ममत्वं विधाय ॥ ७ ॥ अवश्यकरणादेते प्रोक्ता आवश्यका जिनैः । सर्वे सार्थक नामनो योगिनां योगकारिणः ॥८॥

प्रगट कर इन समस्त दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही अनंत चतुष्टय आदि गुणों के साथ साथ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥१—२॥ इस कायोत्सर्ग का ऐसा फल समझ कर समर्थ मुनियों को व कमसमर्थ मुनियों को भी अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥३॥ क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार किया हुआ कायोत्सर्ग जगत के सज्जन पुरुषों को महा फल का कारण होता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥४॥ जो मुनि समर्थ और वलवान होकर भी प्रमाद के कारण कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनकी जंघा का वल व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥५॥ यही समझ कर धीर वीर पुरुषों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये प्रमाद को छोड़ कर संसार को नाश करने वाला यह कायोत्सर्ग प्रतिदिन करना चाहिये ॥६॥ यह कायोत्सर्ग संसारभर में मुख्य है, धर्म का मूल है, समस्त कर्मों को नाश करने वाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव भी इसको धारण करते हैं, यह मोक्षरूपी लक्ष्मी के देने में अत्यंत चतुर है गुणरूपी मणियों को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसको धारण कर सकते हैं, यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला है और कल्याण की खानि है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने शरीर से तथा संसार से ममत्व छोड़ कर और शुभ ध्यान को आलंबन कर विधि पूर्वक अवश्य करना चाहिये ॥७॥ इस प्रकार जो छह आव-श्यक कहे हैं वे मुनियों को अवश्य करने चाहिये इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव इनको आवश्यक कहते हैं।

अथवामुक्तिरामावश्यवशीकरणा बुधैः । आवश्यका महान्त. पडुक्ताः सर्वार्थसाधकाः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वेति परिपूर्णानि दक्षैरावश्यकानि षट् । काले काले विधेयानिमहाफलकराण्यपि ॥ १० ॥ यथा धान्यानि सर्वाणि काले काले कृतानि च । महाफलप्रदानि स्यु सामग्र्यात्र कुटविनाम् ॥ ११ ॥ तथावश्यक कृत्स्नानियोग्यकालेकृतान्यपि । इन्द्राहमिंद्रतीर्थेशादिश्रीप्रदानि योगिनाम ॥ १२ ॥ अकाले कृतसस्यानि यथा नाभीष्टसिद्धये । कृतान्यावश्यका-न्यत्रसामग्र्यादिविनातथा ॥ १३ ॥ विज्ञायेति विचारज्ञा पडावश्यकमजसा । कालेकालेप्रकुर्वन्तु त्रिशुध्या शिवभूतये ॥ १४ ॥ सर्वसिद्धांतसारार्थमादाय श्रीगणाधिपै । रचितानि मुनीना च विशुध्यै धर्मसिद्धये ॥ १५ ॥ यान्यावश्यकसाराणि तानि योगतर्धार्यति । हीनानि कुरुते मूढ शास्त्रपाठादिलोभत ॥ १६ ॥ तस्मात्पलायते

ये सब आवश्यक सार्थक नाम को धारण करते हैं और योगियों को ध्यान उत्पन्न करने वाले हैं ॥८॥ अथवा इनके द्वारा मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य ही वश में हो जाती है इसलिये बुद्धिमान लोग इनको आवश्यक कहते हैं। ये छहों आवश्यक महान् हैं और समस्त अर्थों को सिद्ध करने वाले हैं ॥९॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को अपने अपने समय पर महाफल देने वाले ये छहों आवश्यक पूर्ण रूप से पालन करने चाहिये ॥१०॥ जिस प्रकार समय समय पर उत्पन्न किए हुए धान्य कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सामग्री के साथ महा फल देने वाले होते हैं-उसी प्रकार योग्य समय पर किए हुए समस्त आवश्यक भी मुनियों को इन्द्र अहमिंद्र और तीर्थंकर आदि के समस्त पद और उनकी लक्ष्मी को देने वाले होते हैं ॥११-१२॥ जिस प्रकार असमय पर उत्पन्न किये हुये धान्यों से अपनी इष्ट सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार सामग्री आदि के विना किए हुए आवश्यकों से भी मुनियों को इष्ट सिद्ध नहीं होती ॥१३॥ यह समझ कर विचारवान् पुरुषों को मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मन वचन काय को शुद्ध कर समयानुसार छहों आवश्यक करने चाहिये ॥१४॥ गणधर देवों ने धर्म की सिद्धि के लिए और मुनियों के चारित्र को शुद्ध रखने के लिये समस्त सिद्धांत के सारभूत अर्थ को लेकर ये आवश्यक बतलाये हैं ॥१५॥ जो बुद्धि रहित मूर्ख मुनि शास्त्रों के पठन पाठन के लोभ से, सारभूत समस्त, आवश्यकों को पूर्णरूप से नहीं करता है कम करता है उसकी बुद्धि दूर भाग जाती है मूर्खता उस पर सवार हो जाती है

बुद्धिर्जडत्व तस्यढौकते । इहामुत्रसुखंनश्येद् व्रतादिसद्गुणैः समम् ॥ १७ ॥ मत्वेति योगिनः पूर्वं कृत्वावश्यक-मजसा । ततः पठन्तु शास्त्रादीन् यैः स्युः सर्वार्थसिद्धयः ॥ १८ ॥ विनात्रावश्यकैर्यो धीरावासमीहतेशिवे । कायक्लेशेन गंतुं स मेर्वग्रं चरणादृते ॥ १९ ॥ दंतभग्नो यथा हस्तीदंष्ट्राहीनोमृगाधिपः । त्यक्तधर्मोजनो जातु न क्षमः कार्यसाधने ॥ २० ॥ तथावश्यकहीनश्च यतिः क्वचिन्नजायते । कुशली वा समर्थोत्रस्वर्गमोक्षादिसाधने ॥२१॥ राज्यागरहितो यद्वन्नारीन्हतुं क्षमो नृपः । कर्मारातीन् मुनिस्तद्वदावश्यक बलातिगः ॥ २२ ॥ मत्वेति सर्वयत्नेन रत्नत्रयविशुद्धये । सम्पूर्णाने सदा दक्षाः कुर्वन्त्वावश्यकानिषट् ॥२३॥ विश्वाच्यान् विश्ववंद्यान् शिवसुखजनकान्

और व्रत आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ इस लोक और परलोक दोनों लोकों के उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं ॥१६–१७॥ यही समझ कर योगी पुरुषों को सबसे पहले आवश्यक करने चाहिये और फिर शास्त्रादिक का पठन पाठन करना चाहिये। ऐसा करने से ही समस्त पदार्थों की सिद्ध होती है ॥१८॥ जो धीर वीर रहित मुनि विना आवश्यकों के केवल काय क्लेश के द्वारा मोक्ष चाहते हैं। वे विना पैरों के मेरु पर्वत पर चढना चाहते हैं ॥१९॥ जिस प्रकार टूटे दाँत वाला हाथी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता बिना डाढ़ों के सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्य भी कभी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ॥२०॥ इसी प्रकार आवश्यक रहित मुनि भी स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने में कभी कुशल वा समर्थ नहीं हो सकते ॥२१॥ जिस प्रकार राज्य के अंगों से रहित राजा अपने शत्रुओं को नष्ट नहीं कर सकता उसी प्रकार आवश्यक रूपी बल से रहित मुनि भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नाश नहीं कर सकता ॥२२॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को अपना रत्नत्रय विशुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त छहों आवश्यक पालन करने चाहिये ॥२३॥ ये छहों आवश्यक तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वंदनीय हैं, मोक्ष सुख को देने वाले हैं, समस्त दोषरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव वा गणधर देव आदि संसार के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं, इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्म के स्वरूप को कहने वाले हैं, पापरहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं और श्रुतज्ञान के समस्त महा अर्थों से भरे हुए

सर्वदोषारिहन्तॄन् सेव्यान् लाकोत्तमार्यैर्गणधरजिनपैः धर्मवार्द्धीननघ्नन् पूतान्सारान् गुणांकान्श्रुतसकलमहार्थैर्वि-वर्द्धांस्त्रिशुध्या पूर्णान्नित्यंप्रयत्नात्कुरुतसुमुनयः षड्विधावश्यकान् भोः ॥ २४ ॥ त्रयोदशक्रियाणां हि मध्ये येत्रोदिते जिनैः । निषिद्धिकासिके सारे धुनातेत्र दिशाम्यहम् ॥ २५ ॥ भवेद्योत्र निषिद्धात्मा महायोगीजितेन्द्रियः । कषायांगममत्वादौ मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २६ ॥ प्रोक्ता महामुनेस्तस्यसार्थापूज्यानिषिद्धिका । तीर्थभूता जगद्वंद्या धर्मखानिर्गणाधिपैः ॥ २७ ॥ अपरस्यानिषिद्धस्य योगिनश्चंचलात्मनः । निषिद्धिकाभिधः शब्दो भवत्येवात्र केवलम् ॥ २८ ॥ इहामुत्राक्षभोगादौख्यातिपूजादि कीर्तिषु । सर्वाशाभ्योविनिर्युक्तो मुक्तिकांक्षी मुनीश्वरः ॥ २९ ॥ योत्र तस्ययतीन्द्रस्यासिको संज्ञा जिनोदिता । आकांक्षिणोऽपरस्यासिका शब्दः केवलंभवेत् ॥ ३० ॥ यथायोग्य-मिमेयुक्त्यैं निषिद्धिकासिकेशुभे । त्रयोदशक्रियासिध्यै क्रियते वचसा बुधैः ॥ ३१ ॥ इत्यावश्यकमाख्यायतीनां

हैं । इसलिये हे मुनिराजो मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न से इन छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से सदा पालन करो ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने तेरह क्रियाओं में निषिद्धिका और आसिका ये सारभूत दो क्रियाएं बतलाई हैं आगे इन्हीं दोनों का स्वरूप कहते हैं ॥२५॥ जो जितेन्द्रिय महायोगी कषाय और शरीर के ममत्व आदि में मन वचन काय के तीनों योगों से निषिद्ध स्वरूप रहते हैं कषाय और शरीर ममत्व नहीं करते उन महा मुनियों के पूज्य और सार्थक निषिद्धका कही जाती है। यह निषिद्धिका तीर्थभूत है जगतवंद्य है और धर्म की खानि है ऐसा गणधरदेवों ने कहा है ॥२६—२७॥ जिन मुनियों के मन वचन काय चंचल हैं और जिनके कषाय और ममत्व घटे नहीं हैं उनके लिये निषिद्धिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥२८॥ जो मुनिराज इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी इन्द्रिय भोगों में तथा ख्याति पूजा और कीर्ति में समस्त आशाओं से रहित हैं और जो केवल मोक्ष की इच्छा रखते हैं उन मुनिराजों की आसिका संज्ञा भगवान जिनेन्द्रदेव ने बतलाई है। तथा जो मुनि भोगादिकों की इच्छा करते हैं अथवा ख्याति पूजा वा कीर्ति की इच्छा करते हैं उनके लिये आसिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥२९—३०॥ बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तेरह क्रियाओं को सिद्ध करने के लिये यथायोग्य रीति से वचन पूर्वक निषि-द्धिका और आसिका ये दोनों क्रियाएं करनी चाहिये ॥३१॥ इस प्रकार यतियों का हित करने के

हितसिद्धये । शेषमूलगुणान् वक्ष्ये लोचादिप्रमुखानहम् ॥ ३२ ॥ हस्तेनमस्तके कूंचश्मश्रूणां यद्विधीयते । उत्पाटनं विना क्लेशं सद्भिः लोचः स उच्यते ॥ ३३ ॥ क्रियते यो द्विमासाभ्यां लोचःउत्कृष्ट एव सः । त्रिमासैर्मध्यमस्तु— र्यमासैर्जघन्य एव च ॥ ३४ ॥ तुर्य्यमासान्तरे लोचः कर्तव्यो मुनिभिः सदा । रागक्लेशादिकोटीभिः पंचमेमासि जातु न ॥ ३५ ॥ लोचेन प्रकट वीर्यं जिनलिंगं च योगिनाम् । अहिंसाव्रत मत्यर्थं कायक्लेशं तपो भवेत् ॥३६॥ तथास्य करणेनैव वैराग्यं वर्द्धतेतराम् । हीयते रागशत्रुश्चांगाद्यैर्निर्ममता परा ॥ ३७ ॥ इत्यादिगुण वृध्यर्थं योगिभिर्लोचएव हि । उपवासदिने कार्यो न जातुमुंडनादिकं ॥ ३८ ॥ यतो न काकनीमात्रः संग्रहोस्तिमहात्मनाम् । येनात्र कार्यते चौरं तस्माल्लोचः कृतोमहान् ॥ ३९ ॥ हिंसाहेतुभयाद्यस्मास्त्रमात्रं न चाश्रितम् । मुनिभिःपापभीतैर्यैं

लिये आवश्यकों का स्वरूप कहा अब आगे केशलोंच आदि अन्य मूल गुणों को कहते हैं ॥३२॥ मुनिराज जो बिना किसी क्लेश के अपने हाथ से ही मस्तक के तथा डाड़ी मूछों के बाल उखाड़ डालते हैं उसको सज्जन पुरुष लोच कहते हैं ॥३३॥ जो लोच दो महीने में किया जाता है वह उत्कृष्ट कहलाता है, जो तीन महीने में किया जाता है वह मध्यम कहलाता है और जो चार महीने में किया जाता है वह जघन्य कहलाता है ॥३४॥ मुनियों को चौथे महीने के भीतर ही लोच कर लेना चाहिये। करोड़ों रोग वा क्लेश होने पर भी पाँचवें महीने में लोच नहीं करना चाहिये ॥३५॥ केश लोच करने से मुनियों की सामर्थ्य प्रगट होती है जिनलिंग प्रगट होता है अहिंसा व्रत की वृद्धि होती है और कायक्लेश नाम का तपश्चरण होता है ॥३६॥ इसके सिवाय इस केश लोच के करने से वैराग्य की वृद्धि होती है, राग रूप शत्रु नष्ट होता है और शरीर से होने वाले निर्ममत्व की अत्यंत वृद्धि होती है ॥३७॥ इस प्रकार अनेक गुणों की वृद्धि करने के लिये मुनियों को उपवास के दिन लोच ही करना चाहिये उन्हें मुंडन आदि कभी नहीं करना चाहिये ॥३८॥ इसका भी कारण यह है कि महात्मा मुनियों के पास सलाई मात्र भी परिग्रह नहीं होता जिससे वह चौर कर ले इसीलिये मुनियों को लोच करना ही सर्वोत्कृष्ट माना है ॥३९॥ कोई भी अस्त्र रखना हिंसा का कारण है अतएव पापों से डरने वाले मुनि हिंसा के हेतु के भय से कोई अस्त्र नहीं रखते। इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए

तेषां लोचोजिनैर्मतः ॥ ४० ॥ इतिगुणमणिखानिं सर्वतीर्थेशसेव्यं मुनिवरगतिहेतुं सत्तपो धर्मबीजम् । सुरशिव–गतिमार्गं मुक्तिकामाः कुरुध्वं दुरिततिमिर भानुं लोचमात्मादिशुध्यै ॥ ४१ ॥ वस्त्रेणाजिनवल्काभ्यां रोमपत्रतृणादिभिः पट्टकूलेन वान्यैश्च सर्वैरावरणैः परैः । ॥ ४२ ॥ संस्कारैर्वर्जित जातरूप यद्धार्यते भुवि । सर्वदामुक्तिकामैस्तदचे–लकत्वमुच्यते ॥ ४३ ॥ इदमेव जगत्पूज्य मोक्षमार्गप्रदीपकम् । गृहीतं श्रीजिनेन्द्राद्यैर्वंद्य देवनराधिपैः ॥ ४४ ॥ यतः पुरुषसिंहा ये जिनचक्रिवलाद्यः । एतल्लिंगं गृहीतं तैर्धीरैर्विश्वार्थसिद्धये ॥ ४५ ॥ कातरा ये निराकर्तुमक्षमा हि कुलिंगिनः । कामादिकविकारांस्तैर्गृहीतं चीवरादिकम् ॥ ४६ ॥ जायन्ते जैननिर्ग्रंथरूपेण त्रिजगच्छ्रियः ।

लोच ही बतलाया है ॥४०॥ यह केश लोच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियों की खानि है, समस्त तीर्थंकर इसकी सेवा करते हैं अर्थात् लोच करते हैं, यह मुनियों को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है, मोक्ष वा स्वर्गगति का मार्ग है, और पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है। ऐसा यह लोच मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये अवश्य करना चाहिये ॥४१॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि न तो वस्त्र धारण करते हैं न चमड़े से शरीर ढकते हैं न वृक्षों की छाल पहनते हैं, न ऊनी वस्त्र पहनते हैं न पत्ते तृण आदि से शरीर ढकते हैं न रेशमी वस्त्र धारण करते हैं तथा और भी किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करते। समस्त संस्कारों से रहित उत्पन्न होने के समय जैसा इसका नग्न रूप धारण करते हैं इसको अचेलकत्व मूल गुण कहते हैं ॥४२–४३॥ यह नग्न रूप धारण करना ही जगत में पूज्य है मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, भगवान जिनेन्द्रदेव भी इसको धारण करते हैं और इसीलिये यह देवेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा भी वंदनीय है ॥४४॥ क्योंकि तीर्थंकर चक्रवर्ती वलभद्र आदि जितने उत्तम पुरुष हुए हैं उन समस्त धीर वीर पुरुषों ने अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये यह जिनलिंग धारण किया है ॥४५॥ जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं शूरवीर नहीं ॥४६॥ इस जिनलिंग वा निर्ग्रंथ अवस्था से सज्जन पुरुषों को तीनों लोकों

शक्रचक्रिजिनेशादिपदान्यचिरतः सताम् ॥ ४७ ॥ तथा नैर्ग्रंथ्यवेषेण रत्नत्रितयभागिनाम् । किंकरा इवसेवन्ते पादपद्मान् सुरेश्वराः ॥ ४८ ॥ अहो मुक्तिवधूरेत्य दत्तेत्रालिंगनं मुदा । दिगलंकार भाजां का कथादेवादियोषिताम् ॥ ४९ ॥ ब्रह्मचर्यं परं मन्ये तेषां ब्रह्ममयात्मनाम् । सर्वमाचरणं त्यक्तं यै र्नागांवृतदहिनाम् ॥ ५० ॥ नग्ना अपि न तेनग्ना ये ब्रह्मांशुक भूषिताः । वस्त्रावृताश्च ते नग्ना ये ब्रह्मव्रतदूरगाः ॥ ५१ ॥ नग्नत्वे ये गुणा व्यक्ता ब्रह्मचर्यप्रदीपकाः। वस्त्रावृते च ते सर्वे दोषाः स्युर्ब्रह्मघातकाः ॥ ५२ ॥ तथा कौपीनमात्रेपि सतिभोगे भवन्त्यपि । योगिनां वहवो दोषाश्चिन्तादुर्ध्यानहेतवः ॥ ५३ ॥ कौपीनेपि क्वचिन्नष्टे चित्त व्याकुलता भवेत् । तयो दुर्ध्यान-मन्यस्य प्रार्थना विश्वनिंदिता ॥ ५४ ॥ इत्यादि चेलसंगस्य ज्ञात्वा दोषान् वहून्विदः । अचेलस्य गुणान् सारान्

की लक्ष्मी प्राप्त होती है और इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं ॥४७॥ इसके सिवाय इस निर्ग्रंथ अवस्था को धारण करने से रत्नत्रय धारण करने वाले मुनियों के के चरण कमलों को इन्द्र भी आकर किंकर के समान सेवा करते हैं ॥४८॥ आश्चर्य तो यह है कि दिशा रूपी वस्त्र अलंकार धारण करने वाले मुनियों को मोक्ष रूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिंगन करती है फिर देवियों की तो वात ही क्या है ॥४९॥ जिन्होंने अपने वस्त्र लंगोटी आदि समस्त आवरणों का त्याग कर दिया है जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण नहीं हैं परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं उन्हीं का ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिये ॥५०॥ जो मुनि ब्रह्मचर्य रूपी वस्त्रों से सुशोभित हैं वे नग्न होते हुये भी नग्न नहीं कहलाते । तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर रहते हैं और वस्त्रावरण धारण करते हैं वे नग्न न होने पर नग्न वा नंगे कहलाते हैं ॥५१॥ नग्न अवस्था धारण करने से ब्रह्मचर्य को दिखलाने वाले दीपक के समान जो जो गुण हैं वे सव वस्त्र पहन लेने पर ब्रह्मचर्य को घात करने वाले दोष कहलाते हैं ॥५२॥ यदि कोपीन मात्र का भी उपयोग किया जाय तो भी योगियों को उससे चिंता और अशुभध्यान के कारण ऐसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं ॥५३॥ यदि कहीं वह कोपीन नष्ट हो जाय तो चित्त में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है और आर्तध्यान होने लगता है तथा संसार में अत्यंत निंदनीय ऐसी उसके लिये प्रार्थना दूसरों से करनी पड़ती है ॥५४॥ इस प्रकार इस वस्त्र धारण करने

धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥ ५५ ॥ दुर्ध्यानहानये नित्य कुर्वन्ति श्रीजिनादय॰ । निर्दोष स्वाखिलांगे हो दिगष्टावरणं परम् ॥ ५६ ॥ यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च । तावन्न लभते मोक्षं काकथापरयोगिनाम् ॥ ५७ ॥ मत्वेति मुक्ति कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमंजसा । कलंकमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥ ५८ ॥ असमगुण निधानंमुक्तिधामाग्रमार्गं, जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्यादिखानिम् । त्रिभुवनपतिवंद्य धीधना॰ स्वीकुरुध्वं शुभशिव–गतयेत्रा चेलकत्वं त्रिशुध्या ॥ ५९ ॥ स्नानोद्वर्तनसेकादीन मुखप्रक्षालनादिकान् । संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद जल्लमलादिभि॰ ॥ ६० ॥ लिप्तांगं धार्यते यच्च स्वान्तः शुध्यै विशुद्धये । तदस्नान व्रतं प्रोक्तं जिनैरंतर्मलाप–

के अनेक दोष समझ कर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझ कर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानों को दूर करने के लिए अपने समस्त शरीर पर सब दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥५५–५६॥ इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है॥५७॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये ॥५८॥ यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधर देव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये ॥५९॥ जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिए और आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उबटन, शरीर का सिंचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करने वाला अस्नान नाम का व्रत कहते हैं ॥६०–६१॥ इस अस्नान नाम के उत्तम व्रत

हम् ॥ ६१ ॥ अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः । जायन्तेयमिनां नूनं शुद्धयोघमलान्तकाः ॥ ६२ ॥ रागद्वेषा-
दिमोहानां हानयश्च व्रतादयः । अहिंसादिक सम्पूर्ण वैराग्यादिविवृद्धयः ॥ ६३ ॥ यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां
परिक्षयः । तेन पापं परंरागो महान् ब्रह्मादिघातकः ॥ ६४ ॥ ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम् ।
रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण नाशिनः ॥ ६५ ॥ अस्नान व्रतभूपानामन्तःशुद्धिः पराभवेत् । रागादि
त्यजनैः कर्म नाशजामुक्तिमातृका ॥ ६६ ॥ मद्यकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यादृशः
स्नानैरन्तःपापमलीमसाः ॥ ६७ ॥ घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्त. शुद्धिमापन्ना योगिनो
निर्मलाः सदा ॥ ६८ ॥ यदि स्नानेन शुद्धिश्चेत्तर्हिवंद्या विशुद्धये । मूढैर्मत्स्यादयो व्याधा नान्तःशुद्धाश्चसज्जनाः ॥६९॥

से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं। इस अस्नान व्रत से राग द्वेष मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥६२–६३॥ इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवों का घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करने वाला महा राग प्रगट होता है ॥६४॥ अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों को नाश करने वाले पापकर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ॥६५॥ जो मुनि अस्नान व्रत से सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करने वाली और मोक्ष को देने वाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की शुद्धि प्रगट होती है ॥६६॥ जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जल से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापों से महा मलिन मिथ्या दृष्टी भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥६७॥ जिस प्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी विना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यंत शुद्धता को धारण करने वाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ॥६८॥ यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषों को अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की या धीवरो की वंदना करनी चाहिये अंतरंग में शुद्धता धारण करने वाले सज्जनों

अत्यंत मलिन' कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्व' जलाद्दते ॥ ७० ॥ तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम् । दक्षैस्त्यक्त' महामूढैः स्वीकृतं धर्मदूरगै. ॥ ७१ ॥ सप्तधातुमयेदेहे सर्वाशुचि कुटीरके । मन्यन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा न च ॥ ७२ ॥ इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वादोपान् स्नानभवान् वहून् । अयध्वं धीधनाः शुध्यै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ॥ ७३ ॥ रहितनिखिलदोपरागनिर्नाशहेतु मसमगुणसमुद्र लोक नाथैकपूज्यम् जगतिपरपवित्र शुद्धिद पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ॥ ७४ ॥ संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री क्लीवादि-विवर्जिते । अल्पससरितेप्रासुकभूम्यादिक गोचरे ॥ ७५ ॥ एकपार्श्वधनुर्दंडादिशय्याभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमो-

की वंदना कभी नही करनी चाहिये ॥६९॥ देखो यह शरीर अत्यंत मलिन है इसलिये वह जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता । इसी प्रकार यह अपनी आत्मा विना जल के स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ॥७०॥ इसलिये मुनियों के लिए जल से स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है। इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ॥७१॥ यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थों का घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किंतु उन्हें पशु समझना चाहिये ॥७२॥ इस प्रकार अस्नान व्रत के अनेक गुणों को समझ कर और स्नान से उत्पन्न होने वाले बहुत से दोषों को समझ कर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रत को ही स्वीकार करना चाहिये ॥७३॥ यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणों का समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भर में पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करने वाला है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नानव्रत को नित्य ही पालन करना चाहिये ॥७४॥ मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यंच स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी विछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक कर्वट से अथवा धनुष के समान पैर समेट कर वा डंडे के समान

त्थित्यै धराशयनमेवतत् ॥ ७६ ॥ व्रतेनानेन जायन्ते दृढं तुर्यंमहाव्रतम् । निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेगऊर्जितः ॥७७॥ मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तथा ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युते नृणाम् ॥ ७८ ॥ एषः सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः । विश्वपापकरीभूतोऽनेका नर्थादिसागरः ॥ ७६ ॥ मत्वेत्यल्पान्नपानाद्यैः काठिन्यैः शयनासनैः । निद्रा जयं प्रकुर्वीध्वं मुनींद्राः ध्यानसिद्धये ॥ ८० ॥ यतो निद्रापिशाचीं येऽधमा जेतुमिहाक्षमाः । ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः । विज्ञायेति न कर्तव्या निंद्रापापखनी कचिन् । दिवसे सति रोगादौ ध्यानिभि- ध्यान नाशिनी ॥८२॥ किन्तु मध्यविभागे च निशानां योगिनायकाः । आन्तमुहूर्तिकीं निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥८३ कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमश्रान्त्यादि हानये । न पूर्वे पश्चिमे यामे सति प्राणात्ययेपि भोः ॥ ८४ ॥ बुधजन परिसेव्यं

शयन करते हैं उसको भूमिशयन नाम का मूलगुण कहते हैं ॥७५-७६॥ इस भूमिशयन व्रत से ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यंत दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है ॥७७॥ कोमल शय्या पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ॥७८॥ समस्त प्रमादों में यह निद्रा नाम का प्रमाद ही प्रबल है। यह निद्रा नाम का प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥७६॥ यही समझ कर मुनियों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अन्न पान की मात्रा अत्यंत कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्या पर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि जो नीच इस निद्रा रूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और विना ध्यान की शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥८१॥ यही समझ कर ध्यान करने वाले मुनियों को रोगादिक के होने पर भी पाप की खानि और ध्यान को नाश करने वाली ऐसी निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिये ॥८२॥ इसलिये हे योगिराजो ! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिये शिला भूमि वा तखते पर रात्रि के मध्य भाग में अंतमुहूर्त तक निद्रा लो । रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत प्राण होने पर भी निद्रा

धर्मशुक्लादि मूलं, श्रमहरमपदोषं योगबीज गुणाब्धिम् । निहतमदनसर्पं निष्प्रमादत्वहेतुं, चितिशयनमतंद्रामुक्तये स्वीकुरुध्वम् ॥ ८५ ॥ स्वनखांगुलिपाषाणलेखिनीखर्परादिभि. । तृणत्वजादिकैर्यश्चदतानां मलसंचयः ॥ ८६ ॥ न निराक्रियते जातु वैराग्याय मुनीश्वरैः । अदंतवनमेवात्र तद्रागादिनिवारकम् ॥ ८७ ॥ अनेन वीतरागत्वाद्यो व्यक्तागुणा सताम् । जायन्ते च प्रणश्यन्ति दोपा रागोदयोखिलाः ॥ ८८ ॥ मुखादिधोवनं दतघर्पणं ये वितन्वते अगसंस्कारमत्यर्थं तेषां रागोत्कटो भवेत् ॥ ८९ ॥ रागात्कामश्च कामेन व्रतभगोखिलोद्भ तः । तेन पापं महत्पापा न्मज्जन नरकाम्बुधौ ॥९०॥ मत्वेति यतयो नित्यं त्यजन्तु दूरतोखिलम् । मुखप्रक्षालनांगादिसंस्कारदन्तपावनम् ॥९१॥ शम यमदमसौधं वीतरागत्वमूल वरयतिगुण वार्द्धिं दुर्विकारादि दूरम् । सुरशिवगतिमार्गं त्यक्तसंगा अदतवन–

मत लो ॥८३–८४॥ इस भूमिशयन नाम के मूलगुण को विद्वान लोग धारण करते हैं, यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कारण है, परिश्रम को हरण करने वाला है, समस्त दोषों से रहित है, योगसाधन का कारण है, गुणों का समुद्र है, कामरूपी सर्प को नाश करने वाला है और प्रमाद को दूर करने का कारण है। इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तंद्रा दूर करने के लिये इस भूमिशयन व्रत को अवश्य धारण करना चाहिये ॥८५॥ मुनिराज अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए अपने नखों से, उंगली से, पत्थर से, कलम से, खप्पर से, तृण से वा छाल से दाँतों में इकट्ठे हुए मल को कभी दूर नहीं करते हैं उसको रागादिक को दूर करने वाला अदंतधावन नाम को मूलगुण कहते हैं ॥८६–८७॥ इस अदंतधावन व्रत से सज्जनों के वीतरागादिक गुण प्रगट हो जाते हैं तथा रागादिक समस्त दोप नष्ट हो जाते हैं ॥८८॥ जो पुरुप अपना मुख धोते हैं दंतधावन करते हैं और शरीर का खूब संस्कार करते हैं उनके उत्कट राग उत्पन्न होता है ॥८९॥ उस उत्कट राग से काम के विकार उत्पन्न होते हैं काम के विकारों से व्रतों का भंग होता है, समस्त व्रत भंग होने से महा पाप उत्पन्न होता है और उस महा पाप से इस जीव को नरकरूपी महासागर में डूबना पड़ता है ॥९०॥ यही समझ कर मुनियों को मुखप्रक्षालन करना, शरीर का संस्कार करना दंतधावन करना आदि सबका त्याग दूर से ही सदा के लिए कर देना चाहिये ॥९१॥ यह अदंतधावन नाम का गुण समतापरिणाम, यम नियम

मपगतदोषं शुद्धये हो भजन्तु ॥ ६२ ॥ स्वपादस्थापनो स्थानपात्रस्थजनाश्रिते । धरात्रिके विशुद्धेऽत्रीस्थापयित्वा-समौ बुधैः ॥६३॥ पाणिपात्रेण कुड्यादीननाश्रित्यान्यधामनि । अशनं भुज्यते शुद्धं यत्तत्स्यात्स्थिति भोजनम् ॥६४॥ स्थितिभोजनसारेण व्यक्तं वीर्यं प्रजायते । आहारगृद्धिहानिश्च जिह्वायाति वशं सताम् ॥ ६५ ॥ निविष्ट भोजने नैवाहारसंज्ञा च वर्द्धते । लांपट्यं रसनाचाणामिह वैषयिके सुखे ॥ ६६ ॥ कातरत्वं यतोमीषां प्रतिज्ञेमा परा सताम् । पाण्यो संयोजनं यावत्स्थिरौ पादौ ममस्थितौ ॥ ६७ ॥ तावद्गृह्णामि चाहारमन्यथानशनं परम् । इत्याद्िगुणसंसिध्यै स्थितिभोजनमूर्जितम् ॥ ६८ ॥ ज्ञात्वेति मुनिभिः सर्वै र्व्याधिक्लेशादि कोटिषु । प्राणनाशेपि

और इन्द्रिय दमन के रहने के लिये राजभवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियों के गुणों का समुद्र है, अशुभविकारों से सर्वथा रहित है स्वर्गमोच का कारण है और समस्त दोषों से रहित है। इसलिए परिग्रह रहित मुनियों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए यह अदंतधावन नाम का गुण अवश्य धारण करना चाहिये ॥६२॥ अपने पैरों के रखने के बाद बची हुई भूमि में दाता वा वर्तन आदि आहार सामग्री के रखने की जगह हो ऐसी तीन प्रकार की विशुद्ध पृथ्वी पर अपने दोनों पैरों को समान स्थापन कर बुद्धिमान मुनियों को दूसरे के घर में जाकर दीवाल आदि के सहारे के विना खड़े होकर करपात्र में शुद्ध भोजन लेना चाहिए इसको स्थिति भोजन नाम का मूलगुण कहते हैं ॥६३–६४॥ इस सारभूत स्थिति भोजन से सज्जन पुरुषों की सामर्थ्य प्रगट होती है, आहार की लंपटता नष्ट होती है और जिह्वा इन्द्रिय वश में हो जाती है ॥६५॥ वैठ कर भोजन करने से आहार संज्ञा वढ़ती है और रसना इन्द्रिय से उत्पन्न हुए वैषयिक सुखों में अत्यंत लंपटता वढ़ जाती है ॥६६॥ इसके सिवाय वैठ कर भोजन करने में कातरता सिद्ध होती है। इसलिये सज्जन मुनियों की यह प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं और मेरे दोनों पैर खड़े होने के लिए स्थिर रह सकते हैं तभी तक मैं आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा उपवास धारण करूंगा। इस प्रकार के अनेक गुण प्रगट होने के लिए स्थिति भोजन नाम का उत्कृष्ट गुण वतलाया है ॥६७–६८॥ यही समझ कर मुनियों को करोड़ों व्याधि और क्लेश होने पर भी तथा प्राणों का नाश होने पर भी वैठ कर

न ग्राह्यमुपविष्टेन भोजनम् ॥ ६६ ॥ तिर्यक स्थितेन सुप्तेन वांगाधोनमनेन च । सुखाय वा प्रमादेनसंत्यज्य स्थितभोजनम् ॥ ३०० ॥ यतो मूलगुणस्यास्य भगेन पापमुल्वणम् । पापेन दुर्गतौ पुंसां भ्रमणं चायशश्चि-रम् ॥ ३०१ ॥ इति दोषं परिज्ञाय निविष्टै. सयतैः कचित् । जलपानं च पूगादि भक्षण न विधीयते ॥ २ ॥ यतः श्रीजिनदेवाद्याः षण्मासाब्दादिपारणे । कायस्थित्यैहि गृह्णन्ति स्थित्याहारं च नान्यथा ॥ ३ ॥ ज्ञात्वेतियमिनः कृत्वात्रान्तर निजपादयोः । चतुरगुलसख्यान कुर्वन्तु स्थितिभोजनम् ॥ ४ ॥ परमगुणसमुद्र व्यक्त वीर्यादिकारं जिनमुनिगणसेव्य धीरयोगीन्द्रगम्यम् । रहितनिखिल दोप स्वाक्षजिह्वार्चिवारिदमिह कुरुत दक्षाभोजनं स्वोर्द्ध का-यम ॥ ५ ॥ नाडीत्रिकविहायात्रोदयास्तमनकालयो. । एकद्वित्रमुहूर्तानां मध्येयद्भोजनं भुवि ॥ ६ ॥ क्रियतेमुनिभि-

---

भोजन कभी नहीं करना चाहिये ॥६६॥ जो मुनि टेढ़ी रीति से खड़े होकर आहार लेता है वा खड़े ही खड़े सोता हुआ आहार लेता है वा अपने शरीर को नीचा नवा कर आहार लेता है अथवा सुख के लिये वा प्रमाद के कारण खड़े होकर आहार नहीं करता तो उसका यह मूलगुण भंग हो जाता है। मूलगुण भंग होने से महा पाप उत्पन्न होता है तथा महा पाप उत्पन्न होने से इस मनुष्य को दुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, तथा चिरकाल तक उसका अपयश बना रहता है। इस प्रकार दोषों को समझ कर मुनियों को बैठ कर कभी भी जलपान वा सुपारी आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥३००–३०२॥ देखो तीर्थंकर परमदेव छह महीने वा एक वर्ष का उपवास कर के भी शरीर को स्थिर रखने के लिए खड़े होकर ही आहार लेते हैं वे बैठ कर कभी आहार नहीं लेते ॥३०३॥ यही समझ कर मुनियों को चार अंगुल का अंतर रख कर अपने दोनों पैरों से खड़े होना चाहिये और इस प्रकार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिये ॥४॥ यह स्थिति भोजन परम गुणों का समुद्र है, अपनी शक्ति को प्रगट करने वाला है, तीर्थंकर मुनिराज और गणधरदेव भी इसकी सेवा करते हैं, धीर वीर मुनि ही इस गुण को पालन कर सकते हैं, यह समस्त दोषों से रहित है और जिह्वा इन्द्रिय रूपी अग्नि को दमन करने के लिये मेघ के समान है। इसलिये चतुर पुरुषों को खड़े होकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये ॥५॥ मुनिराज सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी

योग्यकाले श्रावक सद्मनि । एकस्यांनिजवेलायामेक भुक्तं तदुच्यते ॥७॥ एकभक्तेन चान्नादेर्दुराशानाशमिच्छति । संतोषस्तपसासार्द्धं वर्द्धते योगिनां महान् ॥ ८ ॥ एकभक्तस्यभंगेन प्रणश्यन्त्यखिलाः गुणाः । तन्नाशतः परं पापं पापाद्दुःखंमहन्नृणाम् ॥ ९ ॥ मत्वेति संयतैरेक वेलां गोचरगोचराम् । मुक्त्वा पानादि न ग्राह्यं तीव्रदाह ज्वरादिषु ॥ १० ॥ विषयसफर जालं सत्तपोवृद्धिहेतु सुरगति शिवमार्गं चान्नसंज्ञादिदूरम् । श्रुतवनमहाध्याना-गयोगादि कर्तृ भजत विगत कामा एकभक्तं शिवाय ॥ ११ ॥ एते मूलगुणाः सारा अष्टाविंशतिरूर्जिताः । तपो विश्वमहायोगाधारभूता जिनोदिताः ॥ १२ ॥ सर्वोत्तर गुणाप्त्यै गुणानां मूलहेतवः । प्राणान्तेपि न

पहले तक योग्य काल में श्रावक के घर जाकर एक ही बार एक मुहूर्त दो मुहूर्त वा तीन मुहूर्त के भीतर भीतर तक आहार लेते हैं उसको एक भुक्त नाम का मूलगुण कहते हैं ॥६–७॥ एकबार आहार करने से अन्नादिक की दुराशा नष्ट हो जाती है और योगियों का महान् संतोष तपश्चरण के साथ साथ वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ इस एक भक्त व्रत का भंग करने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं गुणों के नाश होने से पाप उत्पन्न होता है और उस पाप से मनुष्यों को महा दुःख भोगने पड़ते हैं ॥९॥ यही समझ कर मुनियों को तीव्र दाह वा ज्वर आदि के होने पर भी आहार के योग्य ऐसे एक समय को छोड़ कर दूसरी बार कभी जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१०॥ यह एक भुक्त व्रत विषयरूपी मछलियों के लिये जाल है, श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धि का कारण है स्वर्ग मोक्ष का मार्ग है आहार संज्ञा से दूर है और श्रुतज्ञान तथा महाध्यान के अंगभूत योग को उत्पन्न करने वाला है। इसलिए इच्छाओं का त्याग करने वाले तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस एक भुक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ॥११॥ ये अट्ठाईस मूलगुण सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि समस्त महा योगों के आधारभूत बतलाये हैं ॥१२॥ समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिये ये गुण मूलरूप हैं मूल कारण हैं और समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं इसलिए बुद्धिमानों को कंठगत प्राण होने पर भी इनका

मोक्तव्या बुधैः सर्वार्थसिद्धिदाः ॥ १३ ॥ कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीनाः मूलगुणैःसताम् । परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाङ्घ्रिपा. ॥ १४ ॥ येत्रोत्तरगुणावाप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान् । ते करांगुलिकोट्यर्थं छिदन्ति स्वशिरः शठाः ॥ १५ ॥ इमान्मूलगुणान्सर्वान् त्रिजगच्छ्रीसुखप्रदान् । साक्षी कृत्य गृहीत्वा जितसंघश्रुतसद्गुरून् ॥ १६ ॥ त्यजन्ति ते लभन्तेत्र दुःख वाचामगोचरम् । अमुत्र श्वभ्रगत्यादौ व्रतभंगोत्थपापतः ॥ १७ ॥ इहैव चोत्तमाचार त्यक्तानां दुर्धियां बुधैः । विधीयतेपमानं च सर्वत्राहो शुनामिव ॥ १८ ॥ मत्वेति यमिनो नित्यं सर्वयत्नेन सर्वथा । सर्वत्र पालयन्त्वत्र विश्वान्मूलगुणान्परान् ॥ १९ ॥ शशाङ्कनिर्मलान्सारान् स्वप्नेपि मा त्यजतु च । घोरोपसर्ग–रोगाद्यैः पक्षमासादिपारणे ॥ २० ॥ तथामूलगुणानां च न कर्तव्यो ह्यतिक्रमः । व्यति क्रमोप्यतीचारो नाचारः

त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥१३॥ जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कोई किसी प्रकार का फल नहीं लगता उसी प्रकार सज्जनों के मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देने वाले नहीं हो सकते ॥१४॥ जो मूर्ख उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे लोग अपने हाथ की करोड़ों उंगलियाँ बढ़ाने के लिए अपने मस्तक को काट डालते हैं ॥१५॥ ये मूलगुण तीनों जगत की लक्ष्मी और समस्त सुख देने वाले हैं ऐसे इन मूलगुणों को भगवान अरहंतदेव, संघ, श्रुत और सद्गुरुओं की साक्षी पूर्वक ग्रहण कर के जो छोड़ देते हैं वे व्रत भंग होने के कारण उत्पन्न हुए पापों से वाणी के अगोचर ऐसे महा दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादिक दुर्गतियों में महा दुःख भोगते हैं ॥१६–१७॥ जो मूर्ख लोग उत्तम आचरणों का त्याग कर देते हैं उनके कुत्ते के समान अपमान सर्वत्र बुद्धिमान लोग करते हैं ॥१८॥ यही समझ कर मुनियों को सर्वोत्कृष्ट ये समस्त मूलगुण पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र सर्वथा सदा पालन करते रहना चाहिये ॥१९॥ ये मूलगुण चन्द्रमा के समान निर्मल हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। इसलिये घोर उपसर्ग के आने पर वा रोगादिक के हो जाने पर अथवा पक्षोपवास मासोपवास की पारणा होने पर भी स्वप्न में भी इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥२०॥ इसी प्रकार इन मूलगुणों में न तो अतिक्रम लगाना चाहिये न व्यतिक्रम लगाना चाहिये न अतिचार लगाना चाहिये और न अनाचार लगाना चाहिये ॥२१॥

संयते क्वचित् ॥ २१ ॥ अहिंसादि व्रतानां च षडावश्यक कर्मणाम् । पालने या मनः शुद्धेर्हानि. सोति क्रमोयतः ॥ २२ ॥ षडावश्यक कर्त्तॄणां महाव्रत धरात्मनाम् । विषयेष्वभिलाषो यो जायते स व्यतिक्रम. ॥ २३ ॥ महाव्रतसमित्यावश्यादि परिपालने । आलस्यं क्रियते यत्सोतीचारो व्रतदूषकः ॥ २४ ॥ व्रतावश्यकशीलानां भंगो योत्र.दुरात्मभिः । विधीयते सधर्मघ्नोऽनाचारः श्वभ्रसाधकः. ॥ २५ ॥ एते दोषा हि चत्वारः सर्वमूलगुणात्मनाम् । सर्वथा यतिभिस्त्याज्यायत्नेन मल कारिणः ॥ २६ ॥ यतोमीभिश्चतुर्दोषैर्विश्वेमूलगुणा नृणाम् । दूषिता न फलंत्यत्र स्वर्मोक्षादौ महत्फलम् ॥ २७ ॥ असमगुणनिधानान् स्वर्गमोक्षादिहेतून् गणपतिमुनिसेव्यांस्तीर्थनाथैः प्रणीतान् । दुरिततिमिरसूर्यान् धर्मवार्द्धीन् महान्तो भजत निखिलयत्नात् मूलसंज्ञान् गुणौधान् ॥ २८ ॥

अहिंसादिक महाव्रतों के पालन करने में तथा छहों आवश्यकों के पालन करने में जो मन की शुद्धता की हानि है उसको अतिक्रम कहते हैं ॥२२॥ महाव्रत पालन करने वालों को तथा छहों आवश्यक पालन करने वालों की जो विषयों में अभिलाषा होना है उसको व्यतिक्रम कहते हैं ॥२३॥ महाव्रत समिति आवश्यक आदि के पालन करने में जो आलस करना है उसको व्रतों में दोष लगाने वाला अतिचार कहते हैं ॥२४॥ दुरात्मा वा पापियों के द्वारा व्रत आवश्यक वा शीलों का जो भंग करना है वह धर्म को नाश करने वाला और नरक में पहुँचाने वाला अतिचार कहलाता है ॥२५॥ ये चारों दोष समस्त मूलगुणों में मल उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये मुनियों को पूर्ण प्रयत्न कर के इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥२६॥ क्योंकि इन चारों दोषों से समस्त मूलगुण दूषित हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को स्वर्ग मोक्षादिक के महाफल उन मूलगुणों से कभी प्राप्त नहीं हो सकते ॥२७॥ ये समस्त मूलगुण अनुपम गुणों के निधि हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधर देव और मुनिराज इनको पालन करते हैं, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये ये सूर्य के समान हैं, धर्म के समुद्र हैं और सबमें उत्तम हैं। इसलिये महापुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ इनका पालन करना चाहिये ॥२८॥

येऽमून्मूलगुणान् प्रमादरहिताः संपालयन्त्वन्वहं तैलोकत्रयसंभवांश्चपरमान् सौख्योत्तमान् सद्गुणान् । संप्राप्यानु– जिनेन्द्रचक्रि पदवीं देवार्चनां केवलं ज्ञानं कर्मरिपून् निहत्य तपसा मोक्षं लभन्तेऽचिरान् ॥ २६ ॥ विज्ञायेतिफलं महद्बुधजनाः मोहारिमाहत्य च निर्वेदासिवरेण सार्द्धमखिलैर्लक्ष्मी कुटवादिभिः । दीक्षां मुक्तिसखीं परार्थजननीं ह्यादायमोक्षाप्तये सर्वान् मूलगुणान्मलादिरहितान् भो· पालयन्त्वन्वहम् ॥ ३० ॥ ये सर्वपरमेष्ठिनोऽत्रपरमान् मूलोत्तराख्यान् गुणान् नित्यं यत्नपराभजन्ति यमिनामाचारयंत्यूर्जितान् व्याख्यान्त्येवगिरा जगत्त्रयसतां

जो मुनि प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन इन समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले परम और उत्तम सुखों को तथा उत्तम सद्गुणों को प्राप्त होते हैं फिर देवों के द्वारा पूज्य ऐसे चक्रवर्ती और तीर्थंकर के पद प्राप्त करते हैं तदनंतर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२६॥ इस प्रकार विद्वान लोगो को इन मूलगुणों को महा फल देने वाले समझ कर वैराग्य रूपी तलवार से मोहरूपी शत्रु को मार कर तथा लक्ष्मी कुटुम्ब आदि सबका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्षस्त्री की सखी और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली ऐसी जिन दीक्षा धारण करनी चाहिये और फिर उनको प्रतिदिन समस्त दोषों से रहित ऐसे ये समस्त मूलगुण पालन करने चाहिये ॥३०॥ इस संसार में जो जो अरहंत आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी प्रयत्नपूर्वक सर्वोत्कृष्ट मूलगुणों को वा उत्तरगुणों को प्रतिदिन पालन करते हैं वा इन्हीं सर्वोत्तम मूलोत्तर गुणों को मुनियों से पालन कराते हैं अथवा तीनों जगत के सज्जन पुरुषों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये अपनी वाणी से इन्हीं मूलोत्तर गुणों का व्याख्यान करते हैं उन समस्त परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ। वे समस्त परमेष्ठी मेरे लिये अपने समस्त उत्कृष्ट मूलगुणों को प्रदान

सर्वार्थसंसिद्धये ते ये मूलगुणान् प्रदद्यु रखिलान् सारान्स्वकीयान् स्तुताः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमूलाचार प्रदीपाख्ये भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते मूलगुणव्यावर्णने प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग लोचा चेलक्त्वास्नान क्षितिशयनादंतवन स्थितिभोजनैकभक्त वर्णनोनाम चतुर्थोधिकारः ।

करें ॥३१॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित-मूलाचार प्रदीप में मूलगुणों के वर्णन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एक भक्त को वर्णन करने वाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।



पंचमोधिकारः ।



पंचाचारप्रभावेन ये प्राप्तास्तीर्थ कृच्छ्रियः । अनंतमहिमोपेता वदे तेषां पदाम्बुजान् ॥१॥ त्रिजगन्नाथसंप्रार्च्या गता. सिद्धगतिं हि ये । पंचाचारेण तान् सिद्धान्नमाम्यन्तातिगान्परान् ॥ २ ॥ येत्राचरन्तियत्लेनपंचाचारान् शिवाप्तये । आचारयन्ति शिष्याणां तानाचार्यान्स्तुवेनिशम् ॥ ३ ॥ ये व्याख्यान्तिसतां सिध्यै ह्यंगैः पूर्वैः प्रकीर्णकैः । पचाचारानुपाध्यायान् तान्नमामिश्रुताप्तये ॥ ४ ॥ त्रिकालयोगयुक्ता येद्रिकंदरगुहादिषु । साधयंत्य–

पांचवां अधिकार ।

पंचाचार के प्रभाव से ही जिन्होंने तीर्थंकर की परम लक्ष्मी प्राप्त की है, और जो अनंत महिमा से विभूषित हैं ऐसे अरहंत भगवान के चरण कमलों को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी जिनकी स्तुति करते हैं और जो इन पंचाचारों के प्रभाव से ही सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो आचार्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न पूर्वक पंचाचारों का पालन करते हैं तथा शिष्यों से प्रतिदिन पालन कराते हैं उन आचार्यों की भी मैं स्तुति करता हूं ॥३॥ जो उपाध्याय मोक्ष प्राप्त करने के लिये अंग पूर्व और प्रकीर्णकों के द्वारा पंचाचारों का व्याख्यान करते हैं उन उपाध्यायों को मैं श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥४॥ त्रिकाल योग धारण करने वाले जो मुनि पर्वत कंदरा वा गुफा में

खिलाचारांस्तान्साधून् नौमिशक्तये ॥ ५ ॥ इत्यमून् शिरसा नत्वा पंच सत्परमेष्ठिनः । धृत्वा च स्वगुरूंश्चित्ते श्रीजिनास्यज भारतीम् ॥ ६ ॥ पंचाचारान् प्रवक्ष्यामि विश्वाचारप्रसिद्धये । मुनीनां स्वस्य वा नूनं समासेन शिवाय च ॥ ७ ॥ दर्शनाचार एवाद्यो ज्ञानाचारस्ततोद्भुतः । चारित्राचार नामान्यस्तप आचार ऊर्जितः ॥८॥ वीर्याचार इमे पंचाचाराः सर्वार्थसाधकाः । प्रोक्ताविश्वैर्जिनाधीशैर्मुनीनां मुक्तिसिद्धये ॥ ९ ॥ तेषामादौ प्रसिद्धं यत्सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम् । तद्वक्ष्येहं समासेन निर्दोषं गुणभूषितम् ॥ १० ॥ तन्निसर्गाभिधं दृष्ट्यधिगमाख्यं ततोपरम् । इति द्वेधाजिनैः प्रोक्तंसम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥ ११ ॥ भव्य. पंचेन्द्रियःसंज्ञी यो भवाब्धितटाश्रितः । तस्यात्रकाललब्ध्वा यो जायतेनिश्चयोमहान् ॥ १२ ॥ जिनेन्द्रतत्त्वगुर्वादौ मुक्तिमार्गे स्वयं द्रुतम् । विनागुरूपदेशादे

बैठ कर समस्त पंचाचारों को सिद्ध करते हैं उन साधुओं को मैं शक्ति प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूं ॥५॥ इस प्रकार पाँचों श्रेष्ठ परमेष्ठियों को मस्तक झुका कर नमस्कार कर के तथा अपने गुरु और भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई सरस्वती देवी को अपने हृदय में विराजमान कर के तीनों लोकों में पंचाचारों की प्रसिद्धि करने के लिए तथा स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए वा मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होने के लिये मैं संक्षेप से पंचाचारों का निरूपण करता हूँ ॥६—७॥ दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार ये पाँच पंचाचार कहलाते हैं ये पंचाचार समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं और समस्त तीर्थंकर परमदेवों ने मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति के लिये निरूपण किये हैं ॥८—९॥ इनमें भी सबसे प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन है जो शुद्धि का कारण है, गुणों से सुशोभित है और दोषों से रहित है। ऐसे सम्यग्दर्शन को ही मैं सबसे पहले कहता हूँ ॥१०॥ भव्य जीवों के होने वाला यह सम्यग्दर्शन भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का बतलाया है एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज ॥११॥ जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसार रूपी समुद्र के किनारे आ लगा है उसके काल लब्धि मिलने पर जो देव शास्त्र गुरु में तत्त्वों में और मोक्ष मार्ग में विना गुरु के उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महा निश्चय हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते

निसर्गं तद्धिदर्शनम् ॥१३॥ तत्त्वदेवागमादीनां श्रवणेनात्र या रुचिः । प्रादुर्भवतिसन्मार्गे सतामधिगमं हि तत् ॥१४॥ तथौपशमिक क्षायिकंमुक्तिस्त्रीवशीकरम् । क्षायोपशमिकं चेति त्रिविधं दर्शनं मतम् ॥ १५ ॥ आद्याश्चतु कषाया अनन्तानुवधंसंज्ञका. । तिस्रोमिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रप्रकृतयोऽशुभा ॥ १६ ॥ आसां सप्तविधानां प्रकृतीनां अतरे सताम् । समस्तोपशमेनौपशमिकाख्य च दर्शनम् ॥ १७ ॥ निःशेष क्षययोगेन क्षायिकं जायते परम् । साक्षान्मुक्तिवरं ह्यासन्नभव्यानां च शाश्वतम् ॥ १८ ॥ षण्णां हि प्रकृतीनामुदयाभावे नृणां सति । सति सम्यक्त्वस्योदयोऽन्यद्धि-क्षायोपशामिकाह्वयम् ॥ १९ ॥ एतत्त्रिविधसम्यक्त्व भव्यानामिह केवलम् । प्रणीतं तीर्थनाथेन न दूराभव्यदेहि-नाम् ॥ २० ॥ जैनतत्त्वपदार्थेभ्यः सर्वज्ञोक्तेभ्य एव हि । तत्त्वेभ्यो नापरे तत्त्वपदार्थाः सूनृताः क्वचित् ॥ २१ ॥

हैं ॥१२–१३॥ तत्त्व और देव शास्त्र गुरु के स्वरूप को सुन कर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१४॥ अथवा औपशमिक, मुक्तिस्त्री को वश में करने वाला क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से इस सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं ॥१५॥ इस सम्यग्दर्शन को घात करने वाली मोहनीय कर्म की सात प्रकृति हैं मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन तो दर्शन मोहनीय की अशुभ प्रकृति हैं तथा अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृति हैं इन सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूप से उपशम होता है तब भव्य जीवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥१६–१७॥ तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है तब आसन्न भव्य जीवों को क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्ष देने वाला है और प्रगट होने के बाद सदा बना रहता है ॥१८॥ इसी प्रकार सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व को छोड़ कर बाकी की छहों प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होने पर तथा सत्तावस्थित इन्हीं छहों प्रकृतियों के उपशम होने पर और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर मनुष्यों के क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥१९॥ यह तीनों प्रकार का सम्यग्दर्शन केवल भव्य जीवों के ही होता है अभव्यों के नही। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। दूरभव्यों के भी यह सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥२०॥ भगवान वीतराग सर्वज्ञ देव ने जो तत्त्व और पदार्थ बतलाये हैं

अर्हद्भ्योघातिनिहंतृभ्योनिर्दोषेभ्यो जगत्सताम् । भुक्तिमुक्त्यादिदातारो नान्यदेवाः शुभप्रदाः ॥ २२ ॥ कैवल्यभापिताद्धर्माद्यतिश्रावकगोचरात् । नापरोत्रोर्जितो धर्मो धर्मार्थ काममोक्षदः ॥ २३ ॥ विश्वसत्वहितेभ्योत्रनिर्ग्रंथेभ्योऽपरे परा । भवाब्धिं तरितुं तारयितुं न गुरवःक्षमाः ॥ २४ ॥ रत्नत्रयात्मकान्मार्गाज्जिनोक्तात्परमार्थतः । नापरो विद्यते जातु मोक्षमार्गोति निस्तुषः ॥ २५ ॥ जैनशासनतो नान्यत् शासनं शरणं सताम् । सुपात्रदानतो नान्यद् दानं स्वान्यहितकरम् ॥ २६ ॥ द्विषड्भेदतपोभ्योऽन्यन्न तप. कर्मघातकम् । जिनसिद्धांतसूत्रेभ्यो नान्यच्छास्त्रं

वे ही यथार्थ हैं उनसे भिन्न अन्य पदार्थ कभी यथार्थ नहीं हो सकते ॥२१॥ घातिया कर्मों को नाश करने वाले तथा अठारह दोषों से रहित भगवान अरहंतदेव ही देव हैं और वे ही जगत के समस्त सज्जन पुरुषों को भुक्ति और मुक्ति दे सकते हैं। उनके सिवाय अन्य कोई भी देव देव नहीं हो सकता और न वह भुक्ति मुक्ति दे सकता है। तथा भगवान अरहंतदेव के सिवाय अन्य कोई देव शुभप्रद नहीं हो सकता ॥२२॥ भगवान अरहंतदेव ने जो मुनि और श्रावकों का धर्म निरूपण किया है वही धर्म अर्थ काम मोक्ष इन पुरुषार्थों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म है इसके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता और न अन्य कोई धर्म पुरुषार्थों को दे सकता है ॥२३॥ समस्त जीवों का हित करने वाले दिगम्बर गुरु हीं उत्कृष्ट गुरु है और वे ही इस संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं। दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है वा न अन्य किसी को पार कर सकता है ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय स्वरूप वतलाया है परमार्थ से वही मोक्ष का मार्ग है और वही निर्दोष है उसके सिवाय अन्य कोई भी निर्दोष और यथार्थ मोक्ष का मार्ग नहीं है ॥२५॥ यह जैन शासन ही सज्जनों को शरण लेने योग्य उत्तम शासन है। इसके सिवाय अन्य कोई शासन शरण लेने योग्य नहीं है। अपना और दूसरों का हित करने वाला सुपात्र दान ही दान है इसके सिवाय अन्य कोई दान हित करने वाला नहीं है ॥२६॥ वारह प्रकार का तपश्चरण ही कर्मों को नाश करने वाला तपश्चरण है। इसके सिवाय अन्य कोई तपश्चरण कर्मों को नाश करने वाला

च सूनृतम् ॥ २७ ॥ इत्याद्यपर धर्माणा जिनोक्तानां महीतले । प्रामाण्यपुरुपाग्रच्च श्रद्धानं वुधसत्तमैः ॥ २८ ॥ क्रियतें या रुचिश्चित्ते निश्चयो योथवामहान् । तत्सर्वं दृष्टि कल्प द्रुमस्य स्यान्मूलकारणम् ॥ २६ ॥ अथ तेषा तत्त्वानां श्रद्धानेनात्र लभ्यते । निर्मल दर्शनं तानि तत्त्वान्येव दिशाम्यहम् ॥ ३० ॥ जीवाजीवास्रवा वधः सवरो निर्जरा परा । मोक्षोमूनि सुतत्त्वानि भाषितानि जिनाधिपैः ॥ ३१ ॥ मुक्त संसारिभेदाभ्यांद्विधाजीवा जिनैर्मताः । मुक्ता भेदविनिष्क्रान्ताः पड्विधाभववर्तिनः ॥ ३२ ॥ अष्टकर्मवपुर्मुक्ता दिव्याष्टगुणभूपिताः । लोकाग्रशिखरावासाः सिद्धाः स्युरन्तवर्जिताः ॥ ३३ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुकाया वनस्पत्यंगिनस्त्रसा । एते ससारिणो ज्ञेया पड्विधा जीवजातयः ॥ ३४ ॥ पृथिवी वालुकाताम्रमयास्त्रिपुपसीसकौ । सूप्यं सुवर्णमेवाथ हरिताल मनः

नहीं है। जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थ शास्त्र है। इनके सिवाय अन्य कोई शास्त्र यथार्थ नहीं है ॥२७॥ इस संसार में पुरुष के प्रमाण होने से उसके वचन प्रमाण माने जाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। इसलिये उत्तम पुरुष उन्हीं के कहे हुए धर्म का श्रद्धान करते हैं उसी में रुचि करते हैं और अपने हृदय में उसी का महान् निश्चय करते हैं। इसके सिवाय अन्य धर्म को वे कभी श्रद्धान नहीं करते। इस प्रकार के श्रद्धान में सम्यग्दर्शन रूपी कल्पवृक्ष ही मूल कारण समझना चाहिये। अर्थात् ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्दर्शन के होने से ही ऐसा श्रद्धान होता है ॥२८—२६॥ इस संसार में तत्त्वों का श्रद्धान करने से ही निर्मल सम्यग्दर्शन होता है इसलिये अब हम उन तत्त्वों का ही स्वरूप निरूपण करते हैं ॥३०॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व वतलाये हैं ॥३१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुक्त और संसारी के भेद से जीवों के दो भेद वतलाये हैं। इनमें भी मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं है सब समान हैं। तथा संसारी जीवों के छह भेद हैं ॥३२॥ जो ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से रहित हैं सम्यक्त्व आदि आठों दिव्य-गुणों से सुशोभित हैं और लोक शिखर पर विराजमान हैं उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध अनंतानंत हैं ॥३३॥ पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रस के भेद से संसारी जीवों के छह भेद समझना चाहिये ॥३४॥ पृथिवी, वालू, तांवा, लोहा, रांगा, सीसा, चाँदी, सोना, हरताल, मनशिल, हिंगुल, सस्यक, सुरमा, अभरक,

शिलाः ॥ ३५ ॥ हिंगुलं सस्यकं वांजनमभ्रकोभ्रवालुकाः । लवणं चेति भेदाः स्युर्मृदुपृथ्व्याः हि षोडशः ॥ ३६ ॥ शर्करा, उपलं वज्रं शिला प्रवालकायिकाः । कर्केतन मणिश्चांकोरुजकः स्फटिकोमणिः ॥ ३७ ॥ पद्मरागोथवैडूर्य्यश्चन्द्रप्रभश्च चन्दन. । जलकान्तो वकः सूर्यकान्तोमरकतोमणिः ॥ ३८ ॥ मोचोमसणपाषाणो रुचिराख्योमणिः स्फुटम् । अमीभेदाः बुधैर्ज्ञेयाखरपृथ्व्या हि विंशतिः ॥ ३९ ॥ षट्त्रिंशत्स्युरिमे भेदाः स्थूलपृथ्व्यंगिना भुवि । सूक्ष्मा पृथ्व्यंगिनो ज्ञेयाः खे सर्वत्र जिनागमात् ॥ ४० ॥ पृथ्व्यष्ट पंच मेर्वाद्या पर्वतः सकला भुवि । द्वीप वेदी विमाना हि प्रतोली तोरणाश्च ये ॥ ४१ ॥ जम्बूशाल्मलि चैत्यद्रुमास्तूपभवनादयः । कल्पवृक्षाः खरा विश्वेह्य तेष्वन्तर्भवन्ति ते ॥ ४२ ॥ ज्ञात्वेति पृथिवीकायान्खननाद्यैः शिवार्थिभिः । तेषां जातु न कर्तव्या स्वेनान्येन विराधना ॥ ४३ ॥ अवश्यायजलं पश्चिमरात्रिपतितं हिमम् । महिकाख्यजलं धूमाकारं हरज्जलं

अभ्रवालुका, लवण ये सोलह कोमल पृथ्वी के भेद हैं ॥३५–३६॥ कठिन बालू, पत्थर के गोल टुकड़े, वज्र (हीरा) बड़ी शिला, प्रवाल वा मूंगा, गोमेदमणि, पुलक मणि (प्रवाल के समान) रुजक (राजवर्त मणि) स्फटिक मणि, पद्मरागमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रप्रभमणि, चन्दनमणि, जलकांतमणि, पुष्परागमणि, सूर्यकांतमणि, मरकतमणि, नीलमणि, विद्रुममणि और रुचिरमणि । बुद्धिमानों को ये बीस भेद कठिन पृथ्वी के समझने चाहिये ॥३७–३९॥ ये छत्तीस भेद पृथ्वीकायिक स्थूल जीवों के समझने चाहिये । तथा पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव आकाश में सब जगह फैले हुये हैं ऐसा जैन शास्त्रों मे कहा है ॥४०॥ आठों पृथिवी पाँचों मेरु पर्वत द्वीप वेदी विमान प्रतोली (गली) तोरण, जम्बू शाल्मलि, चैत्यवृक्ष, भवन कल्पवृक्ष आदि कठिन प्रकार की पृथ्वी सब इसी में अंतर्भूत समझनी चाहिये ॥४१–४२॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को खोद पीट कर पृथिवीकायिक जीवों की विराधना न तो स्वयं करनी चाहिये और न किसी दूसरे से करानी चाहिये ॥४३॥ बरफ का पानी, पिछली रात में पड़ी हुई ओस, तुषार, भाफ का पानी, हरज्जल, बड़ी बूंदें, छोटी बूंदें, शुद्ध पानी, चन्द्रकांत मणि से उत्पन्न होने वाला पानी जमाई हुई बरफ का पानी घनोदक, घनाकार,

तत ॥ ४४ ॥ स्थूलविन्दुयुत वाग्यु जल शुद्धोदकं तथा । चन्द्रकान्तभवं नीरं सामान्यं नीहारादिजम् ॥ ४५ ॥ घनोदक घनाकार ह्रदाब्धिघनवातजम् । वा मेघोद्भवमि त्याद्या ज्ञेया अपकायिकांगिनः ॥४६॥ सरित्सागरमेघोत्था: कूपनिर्झर भूस्थिता । चन्द्रकान्तादिजा अत्रैवान्तर्भवाजलांगिन. ॥ ४७ ॥ इति ज्ञात्वा सदामीषां रक्षा कार्या प्रयत्नत । पादादिक्षालनैर्जातु न हिंस्या' सर्वथा बुधैः ॥ ४८ ॥ ज्वालांगारमथार्चिर्मु र्मु र. शुध्याग्निसंज्ञकः । सूर्यकान्तादिजोग्नि. सामान्य इत्यग्निकायिक· ॥ ४६ ॥ नन्दीश्वरादि चैत्यालय धूमकु डिकानला । मुकटाग्न्यादयो त्रैवान्तर्भवन्त्यग्निकायिका ॥ ५० ॥ इत्यग्निकायिकान् ज्ञात्वा मीषांरोगादिशान्तये । हिंसा क्वचिन्न कार्या ज्वालनविध्यापनादिभि: ॥ ५१ ॥ वात.सामान्यरूपश्चोभ्द्रम: ऊर्द्ध्व व्रजन् मरुत् । उत्कलिर्मंडलिर्वायुः पृथ्वीलग्नो

सरोवर समुद्र आदि का पानी घतवात का पानी, वादल से बरसा हुआ पानी आदि सब तरह का पानी अपकायिक जीवमय ही समझना चाहिये ॥४४–४६॥ नदी समुद्र का पानी, मेघों का बरसा पानी, कुए वा निर्झरने का पानी, पृथ्वी के भीतर रहने वाला पानी, चन्द्रकांत मणि से निकला हुआ पानी इनके जलकायिक जीव सब इन्हीं में अंतर्भूत समझना चाहिये ॥४७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषो को प्रयत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये और पदप्रक्षालन आदि के द्वारा इन जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये ॥४८॥ ज्वाला, अंगार, ज्वाल का प्रकाश, बारीक कोयलों के फुलिंगे, शुद्ध अग्नि, सूर्यकांत से उत्पन्न हुई अग्नि इत्यादि सामान्य अग्नि अग्निकायिक जीव विशिष्ट है ॥४६॥ नंदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों में रक्खे हुये धूप कुंड की अग्नि अग्निकुमार देवों के मुकुट की अग्नि में रहने वाले अग्निकायिक जीव सब इसी में अंतर्भूत समझने चाहिये ॥५०॥ इस प्रकार अग्नि–कायिक जीवों को समझ कर किसी रोग को शांत करने के लिये भी अग्नि को जला कर वा बुझा कर अग्निकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥५१॥ सामान्य वायु को वात कहते हैं, ऊपर को जाने वाली वायु को उभ्द्रम कहते हैं, गोलाकार घूमते हुये वायु को उत्कलि वायु कहते हैं पृथ्वी से लग कर चलने वाले वायु को गुंजावात कहते हैं वृक्षादिकों को तोड़ देने वाला महावात कहलाता

भ्रमन् व्रजेत् ॥ ५२ ॥ गुंजामरुन्महावातो वृत्तादि भंगकारकः। घनवातश्च तन्वाख्यो व्यजनादि कृतोथवा ॥५३॥ उदरस्थाब्धिभूस्थानविमानाधार वायवः। अत्रैवान्तर्भवा ज्ञेयाः भवनस्थादिकाखिला ॥ ५४ ॥ इमान् वातांगिनो मत्वा जात्वमीषां विराधना। न विधेया महादाहे वातादिकरणैर्बुधैः ॥ ५५ ॥ मूलाग्रपौरवीजाः कंदस्कंधवीज– सञ्ज्ञकाः। वीज वीजरुहा एते कदाद्यारोहसंभवा ॥५६॥ जीवाः सन्मूर्छिमा मूलाद्यभावेपिसमुद्भवाः। प्रत्येककायिका जीवा अनंतकायदेहिनः ॥ ५७ ॥ कंदमूलांगिनस्त्वक्स्कंध पत्रं कुसुमंफलम्। प्रवालं गुच्छकायश्च गुल्मं वल्लीतृ– णान्यथ ॥ ५८ ॥ पर्वकाया इमे ज्ञेयाः पृथ्वीतोयादिसंभवाः। विना वीजेन नाना भेदा वनस्पतिकायिकाः ॥५६॥ सैवोलं पणकं भूमिगतसैवालमेव हि। कवगं नाम भृंगालं वकच्छत्रं हरिप्रभम् ॥ ६० ॥ कुहणाख्यंस्थिताहारकं जिह्वादिस्थपुष्पिका। एतेत्र वादरा ज्ञेया अनन्तकायिका वुधैः ॥ ६१ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुज्जीवाः सूक्ष्माद्दष्ट्याद्य–

है। घनवात तनुवात पंखा आदि से उत्पन्न किया हुआ वायु, पेट में भरा हुआ वायु, पृथ्वी समुद्र विमान आदि को आश्रय देने वाला वायु तथा भवनों में रहने वाला वायु सब सामान्य वायु मे अंतर्भूत है ॥५२–५४॥ यह सब वायु वातकायिक जीवमय है। यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को महा दाह होने पर भी वायु को उत्पन्न कर वातकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिये ॥५५॥ मूलवीज, अग्रवीज, पर्ववीज, कंदवीज स्कंध वीज वीजरूह ये सब कंदादिक से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके सिवाय सम्मूर्च्छन जीव हैं जो मूलादिक का अभाव होने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से कोई प्रत्येक कायिक हैं और कोई अनंतकाय हैं ॥५६–५७॥ कंद मूल त्वक् (छाल) स्कंध पत्र कुसुम फल नया कोंपल, गुच्छ गुल्म वेल तृण आदि सब अनंतकायिक हैं। तथा विना वीज के पृथ्वी जल आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पर्व कायिक हैं जो अनंतकाय कहलाते हैं ॥५८–५६॥ सेवाल, पणक, भूमिगत, सैवाल कवग भृंगाल वकछत्र हरिप्रभ कुहण स्थिताहारक जिह्वादि पुष्पिका ये सब वादर अनंतकाय हैं ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिये ॥६०–६१॥ पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक सूक्ष्म जीव दृष्टि के अगोचर होते हैं और

गोचरा । अंगुलस्याप्यसंख्यातभागप्रमवपुर्युताः ॥ ६२ ॥ सर्वत्र द्विविधा ज्ञेया जलस्थलनभोखिले । सर्ववनस्पतिप्राणिनः प्रत्येकेतरात्मकाः ॥ ६३ ॥ येषां गूढसिरासंधिपर्वाणि स्युरहीरकम् । समभंगं तथा छेदरुह च विद्यते भुवि ॥ ६४ ॥ साधारणशरीरास्तेत्रानन्त जीवसंकुलाः । एतेभ्यो विपरीता ये ते प्रत्येकांगिनोमताः ॥ ६५ ॥ यत्रैको म्रियते तत्र म्रियन्तेनन्तदेहिनः । यत्रैको जायते तत्र जायन्तेनन्तकायिकाः ॥ ६६ ॥ अतोऽत्रैते जिनैः प्रोक्ता जीवा अनन्तकायिका । भुवि सार्थक नामानोऽनन्तप्राणिमयाः स्फुटम् ॥ ६७ ॥ अनन्तैः प्राणिभि र्यैश्च महामिथ्याघपूरितै । त्रसत्व जातु न प्राप्त नित्यास्तेनन्तकायिकाः ॥ ६८ ॥ जम्बूद्वीपे यथाक्षेत्रं भरत भरते भवेत् । कौशलः कौशलेऽयोध्यायोध्यायां गृहपङ्क्तय ॥ ६९ ॥ तथा स्कंधा असंख्याता लोकमात्रा भवन्ति वै । एकैकस्मिन् पृथक् स्कंधे प्रोदिता अंडरा जिनैः ॥ ७० ॥ असंख्यलोकमात्राश्चैके कस्मिन्नडरे तथा । आवासा स्युरसंख्यात–

उनका शरीर अंगुल के असंख्यात में भाग प्रमाण होता है ॥६२॥ वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जीव जल स्थल और आकाश आदि सब स्थानों मे भरे हुये हैं। इनमें से कुछ प्रत्येक वनस्पति हैं और कुछ साधारण हैं ॥६३॥ जिनकी सिरा संधि पर्व आदि गूढ़ हैं दिखाई नहीं देते तोड़ने से जिनका भंग समान होता है और जो काटने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। उनको साधारण शरीर कहते हैं ऐसे साधारण शरीर अनंत जीवों से भरे हुए होते हैं। इनसे जो विपरीत हैं अर्थात् जिनका सिरा संधि प्रगट हो गया है और तोड़ने से जिनका समभंग नहीं होता उनको प्रत्येक कहते हैं ॥६४–६५॥ एक जीव के मरने पर जहाँ अनंत जीव मर जाँय और एक जीव के उत्पन्न होने पर जहाँ पर अनंत जीव उत्पन्न हो जाँय ऐसे जीवों को भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनंतकाय बतलाया है। उनमें का एक एक शरीर अनंत जीव स्वरूप होता है इसलिये वे अनंतकाय इस सार्थक नाम को धारण करते हैं ॥६६–६७॥ महा मिथ्यात्व के पाप से परिपूर्ण हुए जिन अनंत जीवों ने आज तक त्रस पर्याय नहीं पाई है उनको नित्य अनंतकायिक कहते हैं ॥६८॥ जिस प्रकार जम्बू द्वीप में भरत क्षेत्रादिक क्षेत्र हैं भरत क्षेत्र में कोशल आदि देश हैं, कोशलदेश में अयोध्या आदि नगर हैं और अयोध्या आदि नगरों में घरों की पंक्तियाँ हैं उसी प्रकार इस संसार में असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध हैं। एक एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं। एक एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं एक एक आवास

लोकतुल्या न संशयः ॥ ७१ ॥ एकैकस्मिन् किलावासे मता पुलवयो बुधैः । असंख्यलोकमाना येकैकस्मिन् पुलवौ भुवि ॥ ७२ ॥ शरीराणि ह्यसख्येय लोकमानानि संति च । एकैकस्मिन्निकोतस्य शरीरे जंतवः स्फुटम् ॥७३॥ अतीत कालसिद्धेभ्यः सर्वानन्तेभ्य एव हि । प्रोक्ता स्तीर्थंकरै रागमेत्रानन्तगुणापरे ॥ ७४ ॥ इत्यादीन् स्थावरान् पंचविधान् विज्ञाययोगिभिः । प्रयत्नेन दया कार्या मीषां वाक्कायमानसैः ॥ ७५ ॥ सकला विकलाश्चेति द्विधा जीवास्त्रसामताः । विकला द्वित्रितुर्याद्या. शेषा हि सकलेन्द्रियाः ॥ ७६ ॥ क्रमयः शुक्तिकाः शंखा कपर्दकाश्च वालकाः । जलूकोद्या श्रुते ज्ञेया द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियान्विताः ॥ ७७ ॥ कुंथवोवृश्चिका यूकामत्कुणाश्चपिपीलिकाः । उद्देहिकाद्या गोपानिकास्त्रीन्द्रियशरीरिण. ॥ ७८ ॥ भ्रमरामशका दंशाः पतंगामधुमक्षिका । कीटका मित्तकाद्याश्च चतुरिन्द्रियजातयः ॥ ७९ ॥ जलस्थलनभोगामिनस्तिर्यंचोनराः सुराः । नारकाः सकलाः प्रोक्ता जीवा पचेन्द्रियाः

में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी हैं। एक एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं तथा उस एक एक निगोत शरीर में अतीत काल के समस्त अनंतानंत सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने आगम में बतलाया है ॥६९–७४॥ मुनियों को इस प्रकार स्थावरो के पाँचों भेद समझ कर मन वचन काय से प्रयत्नपूर्वक उन सब जीवों की दया करनी चाहिये ॥७५॥ दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवो को त्रस कहते हैं। उनके दो भेद हैं एक विकलेन्द्रिय और दूसरा सकलेन्द्रिय। दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं ॥७६॥ लट, सीप, शंख, जोंक, लीक आदि जीवों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ हैं इसलिये इन जीवों को दो इन्द्रिय कहते हैं ॥७७॥ कुंथु, बीछू, जूं, खटमल, चींटी, उद्देहिका, गोपानिका आदि जीवो के स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं इसलिये इनको तेइन्द्रिय कहते हैं ॥७८॥ भौंरा, मच्छर, डांस, पतंगा, मधुमक्खी, मक्खी, दीपक पर पड़ने वाले जीवों के स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु इन्द्रियाँ हैं इसलिये इनको चौइन्द्रिय कहते हैं ॥७९॥ मगर मच्छ आदि जलचर, कबूतर आदि नभचर और गाय भैंस आदि स्थलचर जीव पंचेन्द्रिय हैं मनुष्य देव और समस्त

श्रुते ॥ ८० ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कांया लक्षाणां सप्तसप्त च । नित्येत्तरनिकोताः किलवनस्पतयोदश ॥ ८१ ॥ द्विद्विलक्षप्रमा द्वित्रि चतुरक्षा.पृथक्सुराः । तिर्यंचो नारकालक्षाणां चत्वारः पृथक्पृथक् ॥ ८२ ॥ द्विसप्तलक्षसख्यनां आर्यम्लेच्छाखिला नराः । इति सर्वांग लक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ ८३ ॥ इत्थविश्वांगि जातीं सम्यग्निरूप्य जिनागमात् । ततः सतां दयासिध्यै वक्ष्ये कुलानिदेहिनाम् ॥ ८४ ॥ पृथ्वीनांकुलकोटी लक्षाणां द्वाविंशति स्फुटम् । अप्कायिकांगिना सप्तत्रयश्चानलदेहिनाम् ॥ ८५ ॥ मरुतां कुल कोटीलक्षाणि सप्तकुलानि वै । कोटीलक्षाणि चाष्टाविंशतिर्हरितजन्मिनाम् ॥ ८६ ॥ द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां तुर्येन्द्रियात्मनाम् । कोटीशतसहस्राणि–सप्तचाष्ठौ नवक्रमात् ॥ ८७ ॥ अप्चराणां नभोगामिना किलार्द्ध त्रयोदश । द्वादशैवक्रमात्सन्ति लक्षाणि

नारकी जीव भी पंचेन्द्रिय हैं ऐसा शास्त्रों मे कहा है ॥८०॥ इनमें से पृथ्वीकायिक जलकायिक वायु–कायिक और अग्निकायिक जीवों की सात सात लाख योनियाँ हैं। नित्यनिगोत और इतरनिगोत की भी सात सात लाख योनियाँ हैं वनस्पतिकायिक की दश लाख योनियाँ हैं दोइन्द्रिय की दो लाख तेइन्द्रिय की दो लाख और चौइन्द्रिय की दो लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, तिर्यंचों की चार लाख, और नारकियों की चार लाख योनियाँ हैं तथा आर्य और म्लेच्छ के भेद से दोनों प्रकार के मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार समस्त जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं ॥८१–८३॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त जीवों की जातियों का स्वरूप वतलाया अब आगे सज्जनों को दया पालन करने के लिये जीवों के कुल वतलाये हैं ॥८४॥ पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं। दोइन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़, तेइन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं ॥८५–८७॥ जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, नभचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं ॥८८॥ चतुष्पदों के दश लाख करोड़ कुल हैं नारकियों के पच्चीस लाख करोड़

कुलकोटयः ॥ ८८ ॥ दशैव कोटि लक्षाणि चतुष्पदांकुलानि च । पंचविंशतिकोटीलक्षाणिनारकदेहिनाम् ॥ ८६ ॥ स्युः षड्विंशतिकोटीलक्षाणि देव कुलानि च । नवैव कोटि लक्षाण्युरः सर्पात्मनां भुवि: ॥ ६० ॥ कुलान्यत्र-मनुष्याणामार्यम्लेच्छखगात्मनाम् । द्विसप्तकोटिलक्षाणि सर्वेषामितिजन्मिनाम् ॥ ६१ ॥ एकैव कोटि कोटीसार्द्धानवति नैवाधिका । कोटीशतसहस्त्राणि कुलसंख्याजिनोदिता ॥ ६२ ॥ इति जाति कुलान्यत्रगुणस्थानानिमार्गणाः । सम्यग्विज्ञाय जीवानांश्रुते कार्या दया न्वहम् ॥ ६३ ॥ जीवतत्त्वनिंरूप्येद प्रसिद्धागमभाषया । सतां ब्रुवे समासेनाधुनाध्यात्मसुभाषया ॥ ६४ ॥ द्रव्यभावात्मकैःप्राणैर्जीविताः प्राग्यतोंगिनः । जीवन्ति च तथा जीविष्यन्ति जीवास्ततोमताः ॥ ६५ ॥ केवलज्ञानदृग्नेत्राः कर्तृ भोक्तृत्ववर्जिता. । उत्पत्तिमरणातीताः वधमोक्षातिगा भुवि ॥६६॥ असख्यातप्रदेशा सर्वेऽमूर्ता. सिद्धसन्निभाः । साद्दश्यागुणयोगेननिश्चयेनांगिनः स्मृतो. ॥ ६७ ॥ युक्त्या मत्यादिभि

कुल हैं देवों के छव्वीस लाख करोड़ कुल हैं और सरीसर्पों के नौ लाख करोड़ कुल हैं ॥८६–६०॥ आर्य म्लेच्छ और विद्याधरों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं ॥६१॥ इस प्रकार समस्त जीवों के कुलों की संख्या एकसौ साड़ेनिन्यानवे लाख करोड़ होती है। इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनके कुल बतलाये हैं ॥६२॥ इस प्रकार जीवों की जाति कुल गुणस्थान और मार्गणाओं को शास्त्रों के अनुसार अच्छी तरह जान कर प्रतिदिन जीवों की दया करनी चाहिये ॥६३॥ इस प्रकार आगम की प्रसिद्ध भाषा के अनुसार जीव तत्त्व का स्वरूप कहा अब आगे सज्जनों के लिए अध्यात्म भाषा के द्वारा संक्षेप से जीव का स्वरूप कहते हैं ॥६४॥ जो प्राणी द्रव्य प्राण और भाव प्राणों के द्वारा पहले जीवित थे, अब जीवित हैं और आगे जीवित रहेंगे उनको जीव कहते हैं ॥६५॥ निश्चय नय से देखा जाय तो समस्त जीव केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित हैं जन्म मरण से रहित हैं बंध मोक्ष से रहित हैं असंख्यात प्रदेशी हैं और सिद्ध के समान सब अमूर्त हैं तथा आत्म गुणों के समान होने से सब समान हैं। इस प्रकार निश्चय नय जीवों का स्वरूप है ॥६६–६७॥ इसी प्रकार गणधरादिक देवों ने व्यवहार नय से जीवों का स्वरूप मतिज्ञान श्रुतज्ञान

ज्ञानैश्चसुराद्यैश्चदर्शनैः । कर्मणां कर्तृभोक्तारो बंधमोक्षविधायिनः ॥ ९८ ॥ चतुर्गतिमतामूर्ता. सुखदुःखादिभोगिन. । व्यवहारनयेनात्र प्रोक्ता जीवा गणाधिपैः ॥ ९९ ॥ रूप्यरूपिप्रकाराभ्यामजीवाद्विविधामता. । चतुर्द्धा पुद्गुला–रूपिणश्चस्कंधादिभेदतः ॥ १०० ॥ स्कधाणवः स्कंधदेशाश्च स्कधप्रदेशपुद्गला' । अणवः पुद्गला अत्रेत्युक्ता–जिनैश्चतुर्विधा. ॥ १०१ ॥ सर्व स्कंधः सभेदश्चवह्वणूद्भवर्जित. । स्कधस्यार्द्धं बुधैरुक्त. स्कधदेशोजिनागमे ॥२॥ तस्यार्द्धार्द्धेन सजातोद्वणुपर्यन्तभेदभाक् । स्कंधप्रदेशएवाविभागी स्यादणु' पुद्गलः ॥ ३ ॥ जीवितं मरणं दु खं सुख देहाद्विवर्जनम् । जीवाना पुद्गला' कुर्यु कर्मबंधाद्युपग्रहम् ॥ ४ ॥ धर्मोऽधर्मो नभः काल इमेरूपाद्विवर्जिताः । जीवपुद्गलयो र्लोके निष्क्रिया सहकारिणः ॥ ५ ॥ सहकारीगतौधर्मो जीवपुद्गलयोर्मत. । असख्यातप्रदेशोत्र

आदि ज्ञानों को धारण करने वाला चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन आदि दर्शनों को धारण करने वाला, कर्मों का कर्ता भोक्ता, बंध वा मोक्ष को करने वाला, चतुर्गति में परिभ्रमण करने वाला मूर्त और सुख दुःख भोगने वाला बतलाया हैं ॥९८–९९॥ आगे अजीव को बतलाते हैं अजीव के दो भेद है रूपी और अरूपी । उनमें से उद्गल रूपी हैं और स्कंधादिक के भेद से चार उसके भेद हैं ॥१००॥ स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने पुद्गल के चार भेद बतलाये हैं ॥१०१॥ जो बहुत से परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कंध को स्कंध कहते हैं। स्कंध का जो आधा भाग है उसको विद्वानों ने जैन शास्त्रों में स्कंधदेश बतलाया है। उस स्कंधदेश के आधे भाग को तथा उसके भी आधे भाग को इस प्रकार दो अणु के स्कंध तक के भागों को स्कंधप्रदेश कहते हैं तथा अविभागी पुद्गल के परमाणु को अणु कहते हैं ॥१०२–३॥ जीवन मरण सुख दुःख तथा शरीर के त्याग के द्वारा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार करते हैं। ये पुद्गल कर्मबंध के द्वारा भी जीव का उपकार करते हैं ॥४॥ धर्म अधर्म आकाश और काल ये अरूपी अजीव द्रव्य हैं, ये चारों ही द्रव्य क्रिया रहित हैं और जीव पुद्गल के उपकारक हैं ॥५॥ जिस प्रकार जल की राशि मछलियों को चलने में सहायक हैं उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव उद्गलों के चलने में सहकारी होता है यह धर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है ॥६॥ जिस

मत्स्यानां जलराशिवत् ॥ ६॥ छायावत्पथिकानामधर्मः सोह्यकारः स्थितौ । जीवपुद्गलयोः प्रोक्तः संख्यानीत–प्रदेशवानु ॥ ७॥ लोकालोक द्विभेदाभ्यांद्विधाकाशः स्मृतो जिनैः । अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां खंडवर्जितः ॥ ८॥ धर्मोऽधर्मोंगिनः काल पुद्गलाः खेत्र यावति । एते तिष्ठन्ति तावन्मानः लोकाकाशएवहि ॥ ६॥ तस्मात्स्या–त्परतोनंतप्रदेशएककोमहान । सर्वद्रव्यातिगोंनित्योऽलोकाकाशोजिनोदितः ॥ १०॥ नवजीर्णादिमिः कालः परिवर्तनहेतुकृत् । जीवपुद्गलयोर्लोके व्यवहारोदिनादिकः ॥ ११॥ लोकाकाशप्रदेशे यः पृथग्भूतोणसंचयः । स निश्चयाभिधः कालोरत्नराशिरिवोर्जितः ॥ १२॥ एतेत्र सह जीवेन षड्द्रव्याउदिताजिनै. । कालद्रव्यं विनापचा–स्तिकायाश्रीजिनागमे ॥ १३॥ रागद्वेषादियुक्तो य. परिणामो हि रागिणाम् । कर्मास्रवनिमित्तोनेकधाभावास्रवो

प्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी होता है। तथा यह द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है ॥७॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने आकाश के दो भेद वतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। यह आकाश समस्त पदार्थों को जगह देता है। तथा यह आकाश अखंड द्रव्य है ॥८॥ जितने आकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल रहता है उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं ॥६॥ उस लोकाकाश के बाहर सब ओर जो एक महान् और अनंत प्रदेशी आकाश है जिसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है और जो नित्य है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने अलोकाकाश वतलाया है ॥१०॥ काल द्रव्य नवीन पदार्थों को भी पुराना वना देता है और जिस प्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थों में परिवर्तन करता रहता है। तथा लोक में दिन रात घड़ी घंटा आदि के भेद से जो काल माना जाता है वह सब व्यवहार काल है ॥११॥ जिस प्रकार रत्नों की राशि पास पास जड़ी रहती है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो अलग अलग काल के परमाणु विद्यमान हैं उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं ॥१२॥ इस प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पॉच अजीव के भेद वतलाये हैं उनमें जीव द्रव्य को मिला देने से भगवान जिनेन्द्रदेव ने छह नाम वतलाये हैं तथा काल द्रव्य को छोड़ कर बाकी के पॉच जैन शास्त्रों में अस्तिकाय वतलाये हैं ॥१३॥ रागद्वेष को धारण करने वाले जीवों के कर्मों के आस्रव का कारण ऐसा जो रागद्वेष सहित परिणाम है उसको भावास्रव कहते हैं उस भावास्रव के अनेक

त्रसः ॥ १४ ॥ भावास्रवेन जंतूनां यदागमनमन्वहम् । कर्मरूपेण भोपुद्गलानां द्रव्यास्रवोत्रस ॥ १५ ॥ मिथ्यात्वं पचधा द्वादशधाविरतयोऽशुभाः । दशपचप्रमादाश्च कषायाः पचविंशतिः ॥ १६ ॥ योगाः पचदशात्रैतेदुस्त्याज्याः प्रत्ययानृणाम् । विश्वानर्थाकरीभूता भावास्रवस्यहेतवः ॥ १७ ॥ येनप्रत्ययरोधेनरुद्धं कर्मास्रवोखिल । सर्वंसमीहितं सिद्धं तस्यैवमुक्ति कारणम् ॥ १८ ॥ कर्मास्रवनिरोधयोऽक्षम कर्तुं निजात्मनः । ध्यानाध्ययनयोगाद्यैर्वृथा तस्य तपोयमः ॥ १९ ॥ कर्मास्रव निराकर्तुं येऽसमर्थायमादिभिः । चचलास्ते कथं घ्नन्ति क्रूरान् कर्मारिदुर्जयान् ॥२०॥ ज्ञात्वेतिकर्मवद्दक्षाः स्वनिरुध्याखिलाश्रयात् । वाह्यात्सर्वप्रयत्नेनरुंधीध्व सकलास्रवम् ॥ २१ ॥ रागद्वेषमयेनात्र परिणामेन येन च । वध्यन्ते कृत्स्नकर्माणि भाववध स उच्यते ॥ २२ ॥ भाववधनिमित्तेनसार्द्धं यः कर्मपुद्गलैः ।

भेद है ॥१४॥ संसारी जीवों के उस भावास्रव के द्वारा कर्म रूप बन कर जो पुद्गलों का आगमन होता है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं ॥१५॥ पाँच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार का अविरत, पंद्रह प्रकार के अशुभ प्रमाद, पच्चीस कषाय और पद्रह योग ये सब भावास्रव के कारण हैं समस्त अनर्थों के करने वाले हैं और मनुष्यों से बड़ी कठिनता से छूटते हैं ॥१६–१७॥ जो मनुष्य भावास्रव के कारणों को रोक कर समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेता है उसके मोक्ष के कारण ऐसे समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥१८॥ जो मुनि अपनी आत्मा के ध्यान अध्ययन और योग आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ है अर्थात् जो धनादिक के द्वारा आस्रव रोक नहीं सकता उसका यम नियम और तपश्चरण सब व्यर्थ है ॥१९॥ जो मुनि यम नियम आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को भी रोकने मे असमर्थ हैं वे चंचल पुरुष अत्यंत क्रूर ऐसे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ?॥२०॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को बाहर के समस्त आश्रयों से कर्मविशिष्ट आत्मा को रोकना चाहिये और पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त आस्रवों को रोकना चाहिये ॥२१॥ जिन रागद्वेषमय परिणामों से समस्त कर्म बंधते हैं उन परिणामों को भावबंध कहते हैं ॥२२॥ उस भावबंध के निमित्त से कर्मपुद्गलों के साथ साथ जो आत्मा के प्रदेशों का संबंध हो जाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं ॥२३॥

संक्लेषोगिप्रदेशानां द्रव्यवंधः स कथ्यते ॥ २३ ॥ प्रकृतिस्थितिश्चोनुभागः प्रदेशपंचकः । इति चतुर्विधो द्रव्यबंधो-बंधकरोंगिनाम् ॥ २४ ॥ प्रकृत्यामा प्रदेशस्य वचौवाकायमानसैः कषायै र्भवतो वंधौपुंसां स्थित्यनुभागयोः ॥२५॥ यथारजांसि तैलादिस्निग्धगात्रे णदेहिनाम् । लगन्ति च तथा कर्माणत्रोरागादिभिः मदा ॥ २६ ॥ यथा बंधन वद्धोत्र भुंक्ते दुःखमनारतम् । पराधीनस्तथाप्राणी चतुर्गतिपुमाधिकम् ॥ २७ ॥ अक्षम कर्मबधं यः छेत्तुं ध्यानायुधादिभिः । कथं मुक्तो भवेत्सोत्रकुर्वन्नपि तपोमहत् ॥ २८ ॥ यावच्छिनत्तिवंधं न कर्मणां सत्तपोसिना । तावत्सुखी क जायेतमुनिर्भ्रमन् भवाटवीम् ॥ २९ ॥ विज्ञायेतिप्रयत्नेन मुक्तिकामाः स्वमुक्तये । रत्नत्रयायुधेनैव-छिन्दन्तु कर्मशात्रवम् ॥३०॥ चैतन्यपरिणामो यः कर्मास्रवनिरोधकः । स्वात्मध्यानरतः शुद्धो भावसंवर एव सः ॥३१॥

प्राणियों को वंध करने वाला यह द्रव्यवंध, प्रकृतिवंध, स्थितिवंध, अनुभागवंध और प्रदेशवंध के भेद से चार प्रकार का बतलाया है ॥२४॥ इन चारों प्रकार के वंधों में से प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध मन वचन काय के योगों से होते हैं और स्थितिवंध तथा अनुभागवंध कषाय से होते हैं ॥२५॥ जिस प्रकार तेल आदि के द्वारा चिकने हुए मनुष्यों के शरीर पर धूल जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष आदि कारण आत्मा के प्रदेशों में कर्मों के परमाणु आकर मिल जाते हैं ॥२६॥ जिस प्रकार वंधन में बधा हुआ मनुष्य पराधीन होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है उसी प्रकार कर्मवंध से वंधा हुआ यह प्राणी पराधीन होकर चारों गतियों में बहुत से दुःख भोगता है ॥२७॥ जो मुनि महा तपश्चरण करता हुआ भी ध्यान रूपी शस्त्र से कर्मवंध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त कभी नहीं हो सकता ॥२८॥ यह मुनि जब तक श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी तलवार से जब तक कर्मों के वंधन को छिन्न भिन्न नहीं कर सकता तब तक वह संसार रूपी वन मे ही घूमता रहता है और तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता ॥२९॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालना चाहिये ॥३०॥ कर्मों के आस्रव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है अथवा ध्यान में लीन हुआ जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको भाव संवर कहते हैं ॥३१॥ तेरह प्रकार का चारित्र, दश प्रकार का सर्वोत्कृष्ट धर्म,

त्रयोदशविधं वृत्तं धर्मो दशविधोमहान् । अनुप्रेक्षाद्विषडभेदा परीषहजयोखिल ॥ ३२ ॥ चारित्रं पचधा योगा ध्यानाध्ययनदक्षता । तपो यमादिका एते भावसवरकारिण ॥ ३३ ॥ संवर कर्मणा यस्यमुनेर्योगादिनिग्रहै । तस्यैव सफल जन्मसार्थादीक्षा शुभशिवम् ॥ ३४ ॥ अक्षम. सवर कर्तुं यो यतियोगचंचलै । तस्य जातु न मोक्षोत्रागक्लेशस्तुषखडनम् ॥ ३५ ॥ सन्नद्ध सगरेयद्वद्भटोहन्ति रिपून वहून् । तद्वत् सवरितो योगी कर्मारातींस्त-पोवलात् ॥ ३६ ॥ सवरेणविनापुंसां वृथा दीक्षा तपोखिलम् । यत. कर्मास्रवेणैव वर्द्धते ससृतिस्तराम् ॥ ३७ ॥ मत्वेति धीधनै कार्यः सवरो मुक्तिकारक । सर्वै व्रतादिभियोगैःप्रयत्नेनशिवाप्तये ॥ ३८ ॥ कर्तव्योमुनिभिः पूर्वं सवरोत्राघकर्मणाम । स्वात्मध्यान तत. प्राप्यसिध्यै च शुभकर्मणाम ॥ ३६ ॥ सविपाकाविपाकाभ्या कर्मणां

बारह अनुप्रेक्षाएं, समस्त परिषहो का जीतना, पाँच प्रकार का चारित्र, योग ध्यान और अध्ययन की चतुरता, तप यम नियम आदि सब भावसंवर के कारण हैं ॥३२—३३॥ जो मुनि अपने मन वचन काय के योगों का निग्रह कर कर्मों का संवर करता है उसी का जन्म सफल समझना चाहिये उसी का दीक्षा सार्थक समझनी चाहिये और उसी को शुभ मोक्ष की प्राप्ति समझनी चाहिये ॥३४॥ जो मुनि अपने योगों की चंचलता के कारण कर्मों का संवर करने में असमर्थ है उसको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी अवस्था मे उसका तप करना चावलो की भूसी को कूटने के समान केवल शरीर को क्लेश पहुँचाना है ॥३५॥ जिस प्रकार युद्ध के लिये तैयार हुआ योद्धा युद्ध मे बहुत से शत्रुओं को मार डालता है उसी प्रकार संवर को धारण करने वाला मुनि अपने तपश्चरण के बल से बहुत से कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालता है ॥३६॥ विना संवर के मनुष्यों की जिनदीक्षा वा तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है क्योंकि कर्मों का आस्रव होने से संसार की परंपरा बराबर बढ़ती जाती है ॥३७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त चारित्र तपश्चरण आदि धारण कर प्रयत्न पूर्वक मोक्ष देने वाला कर्मों का संवर सदा करते रहना चाहिये ॥३८॥ मुनियों को सबसे पहले पापरूप अशुभ कर्मों का संवर करना चाहिये और फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने आत्मध्यान में लीन होकर शुभ कर्मों का भी संवर करना चाहिये ॥३९॥ कर्मों के एक देश क्षय होने

निर्जरा द्विधा । सविपाकात्र सर्वेषां सदा कर्मविपाकतः ॥ ४० ॥ अविपाका मुनीनां मा केवलं जायतेतराम् । तपोभिर्दुष्करैर्विश्वैर्यमाद्यै मुक्तिमातृका ॥ ४१ ॥ यद्वदाम्रफलान्यत्रपचन्तेहो वह्न्यूष्मणा । तद्वच्च कृत्स्नकर्माणितप-स्तापैर्मुनीश्वरैः ॥ ४२ ॥ यथाजीर्णयुतोरोगीमलनिर्झरणाद्भवेत् । महासुखीमुनिस्तद्वत्कर्मनिर्जरणाद्भुवि ॥ ४३ ॥ यथायथात्र जायेत कर्मणां निर्जरामताम् । तथातथासमायातिनिकटंमुक्तिनायका ॥ ४४ ॥ यदैव निर्जरा सर्वा तपसाखिलकर्मणाम् । तदैव जायते मोक्षोऽनन्तसौख्याकरः मताम् ॥ ४५ ॥ ज्ञात्वेति मुक्तिकामैः सा विधेयामुक्ति-कारिणी । खनीमसमस्तसौख्यानां तपोरत्नत्रयादिभिः ॥ ४६ ॥ सर्वेषां कर्मणां योत्रक्षयहेतुर्जितात्मनः । विशुद्धः परिणामः सः तावन्मोक्षोऽशुभान्तकः ॥ ४७ ॥ केवलज्ञानिनो योत्रविश्लेष' कर्मजीवयोः । सर्वथा द्रव्यमोक्षः

को निर्जरा कहते हैं उसके सविपाक· निर्जरा और अविपाक निर्जरा के भेद से, दो भेद हैं। उनमें से सविपाक निर्जरा समस्त संसारी जीवों के सदा होती रहती हैं क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का विपाक प्रति समय सबके होता रहता है ॥४०॥ तथा अविपाक निर्जरा मोक्ष की माता है और वह घोर तपश्चरण तथा समस्त यमों को धारण करने से केवल मुनियों के ही होती है ॥४१॥ जिस प्रकार आम के फल अधिक गर्मी से जल्दी पक जाते हैं उसी प्रकार मुनिराज भी अपने तीव्र तपश्चरण की गर्मी से समस्त कर्मों को पका डालते हैं ॥४२॥ जिस प्रकार अजीर्ण रोग का रोगी मल निकल जाने से (दस्त हो जाने से) अधिक सुखी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी कर्मों की निर्जरा हो जाने से अधिक सुखी हो जाते हैं ॥४३॥ मुनियों की जैसे जैसे कर्मों की अधिक निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे मुक्ति रूपी नायका उनके निकट आती जाती है ॥४४॥ जब तपश्चरण के द्वारा सज्जनों के समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय उनको अनंत सुख देने वाली मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥४५॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को तपश्चरण और रत्नत्रय आदि के द्वारा समस्त सुखों की खानि और मोक्ष को देने वाली यह कर्मों की निर्जरा अवश्य करनी चाहिये ॥४६॥ अपने आत्मा को वश करने वाले मुनियों के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण ऐसा जो अत्यंत शुद्ध परिणाम होता है उसको समस्त पापों का नाश करने वाला भाव मोक्ष कहते हैं ॥४७॥ केवली भगवान के जो कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसको अनन्त सुख देने वाला महान्

सोऽनन्तशर्माकरोमहान् ॥४८॥ यथापादशिरोन्तं हि वद्धस्य दृढबन्धनैः । मोचनाच्च परशर्म तथा कृत्स्नविधि–
त्तयात् ॥४६॥ तत ऊर्ध्वस्वभावेनव्रजेदात्माशिवालयम् । कृत्स्नकर्मवपुर्नाशाद्गुणाष्टकमयोमहान् ॥५०॥
तत्रभुं क्तेनिरावाधंसुखं वाचामगोचरम् । अनन्त शाश्वतं सिद्धः स्वात्मजविषयातिगम् ॥५१॥ यत्सुख सकलोत्कृष्टं
कालत्रितयगोचरम् । विश्वदेवमनुष्याणांतिरश्चांभोगभागिनाम् ॥५२॥ तस्मादन्तातिगसौख्यं निरौपम्यसुखोद्भवम् ।
एकस्मिन समयेभुं क्ते सिद्धोऽमूर्तोखिलार्थवित् ॥५३॥ विज्ञायेति वुधा शीघ्रं मोत्त नित्यगुणाम्बुधिम् । साधयन्तु
प्रयत्नेन तपोभिर्दीत्तयायमैः ॥५४॥ इमानि सप्ततत्त्वानि भाषितानिजिनागमे । जनैर्दृक्शुद्धये नित्य श्रद्धेयानि–

द्रव्य मोत्त कहते हैं ॥४८॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य अत्यंत दृढ़ बन्धनों से सिर से पैर तक बंधा हो और फिर उसको छोड़ दिया जाय तो छूटने से वह सुखी होता है उसी प्रकार कर्मों से बंधा हुआ आत्मा समस्त कर्मों के नाश हो जाने से अनन्त सुखी हो जाता है ॥४६॥ तदनन्तर ऊर्ध्वस्वभाव होने के कारण यह आत्मा मोत्त में जा विराजमान होता है। इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और शरीर भी नष्ट हो जाता है इसलिये भी यह मोत्त में पहुँच जाता है। उस समय यह सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हो जाता है और सर्वोत्कृष्ट हो जाता है ॥५०॥ वहाँ पर सिद्ध भगवान जिस सुख का अनुभव करते हैं वह सुख निरावाध है वाणी के अगोचर है, अनंत है, नित्य है केवल स्वात्मा से प्रगट होता है और विषयों से सर्वथा रहित है ॥५१॥ समस्त देव समस्त मनुष्य, समस्त तिर्यंच और समस्त भोग भूमियों का भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों में होने वाला जो सर्वोत्कृष्ट सुख है उससे अनंतगुना अनुपम सुख समस्त पदार्थों को जानने वाले अमूर्त सिद्ध भगवान एक समय में अनुभव करते हैं ॥५२–५३॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को तपश्चरण दीत्ता और यम आदि धारण कर प्रयत्नपूर्वक सदा रहने वाले अनुपम गुणों का समुद्र ऐसा यह मोत्त अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥५४॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में ये सात तत्त्व निरूपण किए हैं। सम्यग्दृष्टी पुरुषों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध रखने के लिये सदा इनका श्रद्धान बनाये रखना

दृगन्वितैः ॥ ५५ ॥ शुभैर्योगक्रियाद्यैश्च पुण्यमुत्पद्यते नृणाम् । अशुभैःपापमत्यर्थं प्रत्यहं दुःखकारणम् ॥ ५६ ॥ सद्वेद्यं सुरतिर्यग्नरायुर्नामशुभानि च । उच्चैर्गोत्रमिमाज्ञेयाद्विचत्वारिंशदेव हि ॥ ५७ ॥ पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादि-सुखखानयः । पापप्रकृतयः शेषाविश्वदुःखनिबंधनाः ॥ ५८ ॥ प्रागुक्तसप्ततत्त्वानिपुण्यपापयुतानि च । पदार्था नव कथ्यन्तेसम्यग्दृग्ज्ञानगोचराः ॥ ५९ ॥ तेषुतत्त्वपदार्थेषु परां श्रद्धां विधाय च । दृष्टेरंगान्यपीमान्यादेयान्यष्टौ-विशुद्धये ॥ ६० ॥ निःशंकितं च निःकांक्षितांगंनिर्विचिकित्सितम् । अमूढदृष्टिनामागंह्युपगूहनमंज्ञकम् ॥ ६१ ॥ सुस्थितीकरणं वात्सल्यंप्रभावननामकम् । एतान्यष्टौमहांगानि दृष्टेर्धार्याणिदृग्युतैः ॥ ६२ ॥ उक्ततत्त्वपदार्थेषु तीर्थेशेसकलागमे । निर्ग्रंथे च गुरौधर्मेदयापूर्णे जिनोदिते ॥ ६३ ॥ रत्नत्रयमये मोक्षमार्गे शंकाबुधोत्तमैः । त्यज्यते

चाहिये ॥५५॥ मनुष्यों को मन वचन काय कीं शुभ क्रियाओं से पुण्य उत्पन्न होता है और अशुभ क्रिआओ से प्रतिदिन दुःख देने वाला अत्यंत पाप उत्पन्न होता है। साता वेदनीय, देवायु, चिर्यचायु, मनुष्यायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँचों शरीर, तीनों आंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण रस गंध स्पर्श, मनुष्यगति प्रयोग्यानुपूर्वी देवगतिप्रयोग्यानुपूर्वी अगुरुलघु परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति निर्माण, तीर्थंकर ऊंच गोत्र ये कर्मों की ब्यालीस प्रकृतियाँ शुभ कहलाती हैं तथा इन्हीं को पुण्य कहते हैं ये पुण्य प्रकृतियाँ तीर्थंकरादिक पदों के सुख देने वाली हैं। इनके सिवाय जो कर्म प्रकृतियाँ है ये सब पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं और समस्त दुःखों को देने वाली हैं ॥५६–५८॥ पहले कहे हुए सातों तत्त्व पुण्य पाप के मिलाने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गोचर हैं ॥५९॥ इन तत्त्व और पदार्थों में परम श्रद्धा धारण कर इस सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिये आगे कहे हुए सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का पालन करना चाहिये॥ ६०॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के महा अंग हैं। सम्यग्दृष्टियों को इनका पालन अवश्य करना चाहिये ॥६१–६२॥ ऊपर कहे हुए समस्त तत्त्वों में, पदार्थों मे, तीर्थंकर परमदेव में, उनके कहे हुये आगम में, निर्ग्रंथ गुरु में भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये दयामय धर्म मे और रत्नत्रय

या सदासस्यान्निःशकितांग आदि भ. ॥ ६४ ॥ कुलाद्रिमेरुभूभागंकचिद्दैवाच्चलेदहो । न जातुदेशकालेपि वाक्यं श्रीजिनभापितम ॥ ६५ ॥ इति मत्वात्रसर्वज्ञं निर्दोपगुणसागरम् । प्रमाणीकृत्यतीर्थेशं तद्वाक्येनिश्चयं कुरु ॥ ६६ ॥ इहलोकभयंनाम परलोकभवभुवि । अत्राणगुप्तिमृत्याख्यवेदनाकस्मिकाह्वया' ॥ ६७ ॥ इमे सप्तभयास्त्याज्या भयकर्मभवाबुधै' । दृग्विशुध्यै विदित्वानुल्लङ्घ्यं भाविशुभाशुभम् ॥ ६८ ॥ इह पुत्रकलत्रश्रीराज्यभोगादिशर्मसु । अमुत्रस्वर्ग चक्री न्द्राहमिन्द्रादिपदेषु च ॥ ६६ ॥ कुदेवश्रुतगुर्वादौ कुधर्मेवारिनिर्जये । धर्मायमूढभावेनतपोधर्मफलादिभि' ॥ १७० ॥ या निराक्रियतेनित्यंदुराकांक्षाविरागिभि । तन्नि काक्षाह्वयं सारं ह्यंगं स्वमुक्तिभूतिदम् ॥७१॥

स्वरूप मोक्षमोग में विद्वान् पुरुषों को सब तरह की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिये । इसको सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग कहते हैं ॥६३–६४॥ इसका भी कारण यह है कि कदाचित् दैवयोग से कुलपर्वत वा मेरुपर्वत का भूभाग चलायमान हो सकता है परन्तु किसी भी देश वा किसी भी काल में भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वचन चलायमान वा अन्यथा नही हो सकता ॥६५॥ यही समझ कर और सर्वज्ञ निर्दोप तथा गुणों के समुद्र ऐसे तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके वचनों का निश्चय करना चाहिये ॥६६॥ इस संसार में सात भय हैं इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी अरक्षा का भय, मृत्यु का भय, वेदना वा रोग का भय, आकस्मिक भय और परकोटा आदि के न होने से सुरक्षित न रहने का भय ये सातों भय भय नाम के कर्म से उत्पन्न होते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये बुद्धिमानों को इन सातों भयों का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि जो होनहार शुभ तथा अशुभ है उसको कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता ॥६७–६८॥ वीत–रागी पुरुष धर्म के लिये किये हुये तपश्चरण आदि धर्म के फल से अज्ञान रूप परिणामों से भी पुत्र स्त्री लक्ष्मी राज्य भोग आदि कल्याण करने वाले इस लोक संबंधी पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते, तथा परलोक में होने वाले स्वर्ग के सुख वा इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि के पदों की आकांक्षा भी नहीं करते। इसी प्रकार कुदेव कुशास्त्र कुगुरु और कुधर्म की भी इच्छा कभी नहीं करते और न शत्रुओ के जीतने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करना है उसको स्वर्ग मोक्ष की विभूति

भंगुरंत्रिजगत्सर्वं भोगांगंश्वभ्रकारणम् । कारागारं वपुर्मत्वा कांक्षा हेया सुखादिषु ॥ ७२ ॥ द्रव्यभावद्विभेदाभ्यां विचिकित्सा द्विधामता । आद्यामुनिवपुर्जाताद्वितीयात्रक्षुधादिजा ॥ ७३ ॥ मुनीनां मलमूत्रादीन् वातकष्टादिरुग्व्रजान् । पश्यतां याघृणा द्रव्यविचिकित्सात्र सा शुभा ॥ ७४ ॥ जैनेत्रशासनं घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । यदि सन्ति न चेदन्यत्समीचीन किलाखिलम् ॥ ७५ ॥ इत्यादि चिन्तनं यच्च कातरैः क्रियते हृदि । भावाख्याविचिकित्सा सा स्मृतामिथ्यात्वकारिणी ॥ ७६ ॥ एषात्रत्रिविधा चिरो हन्यते या विवेकिभिः । तत्स्यान्निर्विचिकित्साख्यमंगं विश्वसुखप्रदम् ॥ ७७ ॥ मुनीन्द्रसद्गुणान्सारान् जगद्भव्यहितंकरान् । विश्वासाधारणान् ज्ञात्वा तद्गात्रेत्यज भोघृणाम् ॥ ७८ ॥ वौद्धादिसमयेसर्ववेदस्मृत्यादिदुःश्रुते । हरहर्यादिदेवे च सग्रंथेकुगुरौखले ॥ ७९ ॥

देने वाला सारभूत निःकांक्षित अंग कहते है ॥६९–७१॥ ये समस्त तीनों लोक क्षणभंगुर हैं भोगोपभोग के साधन सब नरक के कारण हैं और शरीर कारागार के समान है यही समझ कर सुखादिक की आकांक्षा सर्वथा दूर कर देनी चाहिये ॥७२॥ द्रव्य और भाव के भेद से विचिकित्सा के दो भेद हैं। पहली मुनियों के शरीर से उत्पन्न हुई द्रव्यविचिकित्सा है और दूसरी भूख, प्यास से उत्पन्न होने वाली भावविचिकित्सा है ॥७३॥ मुनियों के मलमूत्र को देख कर अथवा वायु के रोग को वा उनके अन्य रोगों को देख कर जो घृणा करता है वह अशुभ द्रव्यचिकित्सा कहलाती है ॥७४॥ यदि जैन शासन में भूख प्यास की घोर परिषह न हों तो बाकी का समस्त जैन शासन अत्यंत समीचीन है इस प्रकार का चिंतवन कातर लोग ही करते हैं और इसी को मिथ्यात्व बढ़ाने वाली भावचिकित्सा कहते हैं ॥७५–७६॥ विवेकी पुरुष इन दोनों प्रकार की विचिकित्साओं का जो त्याग कर देते हैं उसको समस्त संसार को सुख देने वाला निर्विचिकित्सा अंग कहते है ॥७७॥ मुनिराज मे समस्त संसार में न न होने वाले अनेक असाधारण सद्गुण है वे सब गुण सारभूत हैं और जगत के समस्त भव्य जीवों का हित करने वाले हैं। यही समझ कर मुनिराज के शरीर को देख कर कभी घृणा नहीं करनी चाहिये ॥७८॥ चतुर पुरुष अपने आत्मा का कल्याण करने के लिये बौद्ध आदि अन्य समस्त मतो में, वेद स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रो में, हरि हर आदि अन्य देवो मे और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओं में

श्रेयोर्थं दृक्भावेन भक्तिरागाद्युपासनम् । यन्निराक्रियतेस्वान्यैरमूढत्वं तदूर्जितम् ॥ ८० ॥ विवेकलोचनेनात्रपरीक्ष्य-निखिलान्मतान् । सारासाराश्च धर्मादीन् मूढत्व जहि सर्वथा ॥ ८१ ॥ निर्दोषस्य निसर्गेण जिनेन्द्रशासनस्य च । चतु.सघमुनीशानां वालाशक्त जनाश्रयै. ॥ ८२ ॥ आगतस्यात्रदोपस्याच्छादनं यद्विधीयते । दक्षैर्नानाविधोपायैरुप-गूहनमेवतत् ॥ ८३ ॥ निष्कलकशरण्यं च महच्छ्रीजिनशासनम् । विदित्वागततद्दोप छादयन्तु बुधा द्रुतम् ॥८४॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रेभ्योघोरतपसोभुवि । परीपहोपसर्गाद्यैश्चलतां गृहियोगिनाम् ॥ ८५ ॥ सुस्थितिकरण यच्च क्रियते स्वक्रियादिपु । हितैर्धर्मकरैर्वाग्यै. सुस्थितीकरणंहि तत् ॥ ८६ ॥ परिज्ञाय जगत्सारांस्तपोधर्मव्रतादिकान् स्वर्मुक्तिसाधकास्तेपुस्थितीकरणमाचरे. ॥ ८७ ॥ चतुर्विधेपुसर्वेपु नाकनिर्वाणगामिषु । धर्मप्रवर्तकेष्वत्रसद्य प्रसूत-

---

न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते उसको श्रेष्ठ अमूढदृष्टि अंग कहते हैं ॥७९–८०॥ चतुर पुरुषो को विवेक रूपी नेत्रों से समस्त मतों की परीक्षा कर लेनी चाहिये उन सबका सार असार समझ लेना चाहिये धर्म का स्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर अपनी मूढता का त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ यह जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिये उसमें तथा चारो प्रकार के मुनियों के संघ में यदि किसी बालक वा असमर्थ मनुष्य के आश्रय से कोई दोप आ जाय तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादान ही कर देना चाहिये। इसको उपगूहन अंग कहते हैं ॥८२–८३॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेव का महा जिन शासन निष्कलंक है और शरणभूत है यही समझ कर चतुर पुरुषो को शीघ्र ही उसमें आये हुये दोषों को आच्छादान करते रहना चाहिये ॥८४॥ यदि कोई श्रावक वा मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्मरूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥८५–८६॥ ये तप धम और व्रतादिक सब जगत में सारभूत हैं और स्वर्गमोक्ष के साधन हैं यही समझ कर उनमें स्थिति करण अवश्य करना चाहिये ॥८७॥ धर्मात्मा पुरुष अपने धर्म की सिद्धि क लिये स्वर्गमोक्ष में जाने वाले चारों प्रकार के

धेनुवत् ॥ ८८ ॥ स्नेहंभक्त्यादिकं यच्च धर्मबुध्या विधीयते । धार्मिकैर्धर्मसिध्यर्थं तद्वात्सल्यं जगद्धितम् ॥ ८६ ॥ चतुर्विधंमहासंघं विश्वलोकोत्तमंपरम् । गुणैरनन्तातिगै र्ज्ञात्वा तद्वात्सल्यंभजान्वहम् ॥ ६० ॥ मूलोत्तरगुणैर्योगै-र्वृक्षमूलादिपूर्वकैः । तपोभिर्दुष्करै र्ज्ञानविज्ञानभानुरश्मिभिः ॥ ६१ ॥ उच्छिद्यान्यमतध्वान्तंविद्भिर्लोके प्रकाशकम् । धर्मार्हच्छासनादीनां यत्साप्रभावना मता ॥ ६२ ॥ सत्यभूतं जगत्पूज्य भव्याप्तं जिनशासनम् । भवघ्नं मोक्षदं वीक्ष्य व्यक्तीकुर्वन्तु धीधनाः ॥ ६३ ॥ इमान्यष्टांगसाराणि दर्शनस्यविशुद्धये । विशुद्धिदानि यत्नेनरक्षणीयानि धीधनैः ॥ ६४ ॥ यथोराज्यांगहीनोत्राक्षमोहन्तुं रिपून् नृपः । तथास्यांगैर्विना सम्यग्दृष्टिः कर्मरिपून्क्वचित् ॥ ६५ ॥

संघ में तथा धर्म की प्रवृत्ति करने वालों में धर्म बुद्धि से जो अपने बच्चे में हाल की प्रसूता गाय के समान स्नेह करते हैं और भक्ति करते हैं उसको जगत का हित करने वाला वात्सल्य अंग कहते हैं ॥८८–८६॥ यह चारों प्रकार का संघ समस्त लोक में उत्तम है और अनंत गुणों से सुशोभित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है। यही समझ कर प्रतिदिन इस वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिये ॥६०॥ जिस प्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाएं डालियाँ आदि होती हैं उसी प्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं। इन मूलगुणों को धारण कर के तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान विज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अन्य मत रूपी अंधकार को नाश कर विद्वान लोग इस लोक में जो धर्मस्वरूप भगवान अरहंतदेव के शासन को प्रकाशित करते हैं उसको प्रभावना अंग कहते हैं ॥६१–६२॥ यह जिनशासन यथार्थ है, जगतपूज्य है, भव्य जीवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है संसार को नाश करने वाला है और मोक्ष को देने वाला है। यही समझ कर बुद्धिमान लोगों को इसका महात्म्य प्रगट करना चाहिये ॥६३॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंग हैं। ये अंग सारभूत हैं और सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए यत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये ॥६४॥ जिस प्रकार राज्य के अंगों से रहित हुआ राजा अपने शत्रुओं को नहीं जीत सकता उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दृष्टी पुरुष भी कर्मरूपी

इतिमत्वामुदागयाष्टांगानि दर्शनस्य च । पंचविंशतिस्त्रेमेदोषास्त्याज्या मलप्रदा. ॥ ६६ ॥ त्रिधामौढ्यं मदाअष्टौ षडनायतनानि च । दोषाः शकादयोत्रैतेद्दग्दोषाः पंचविंशति. ॥ ६७ ॥ चंडिका क्षत्रपालेषु ब्रह्मकृष्णेश्वरादिषु । उपासन कुदेवेषुयद्दैवमौढ्यमेवतत् ॥ ६८ ॥ मिथ्यामतानुसारेणलोकाचारोघकरकः । आचर्यते शठैर्लोकै लोंकमूढत्व-मेवतत् ॥ ६६ ॥ वौद्धमीमांसकादीनांसमयेष्वन्यवर्त्मसु । मूढभावेन यो रागस्तन्मौढ्यं समयाभिधम् ॥ २०० ॥ एतन्मूढत्रयंनिंद्यं मूढलोकप्रतारकम् । धर्मध्वंसकरं त्याज्यश्वभ्रदंदूरतो वुधैः ॥ २०१ ॥ महाजातिकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपो वलाः । शिल्पित्वं दुर्मदाण्तेष्टौहतव्यागुणान्वितै. ॥ २ ॥ भिन्नभिन्नादिजातीनां स्त्रीणांचतिर्यग्योनिषु । अभद्भिर्यत्पयः पीतमब्ध्यंवोरधिक हि तत् ॥ ३ ॥ तिर्यग्मनुष्यनारीणां तुग्वियोगजशोकतः । अनन्तानांयदश्रुंवु तत्समुद्राभ

शत्रुओं को कभी नही जीत सकता ॥६५॥ यही समझ कर सम्यग्दर्शन के इन आठों अंगों को प्रसन्नता पूर्वक धारण करना चाहिये तथा मलिनता उत्पन्न करने वाले पच्चीसों दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥६६॥ तीन मूढ़ताएं आठ मद छह अनायतन और आठ शंकादिक दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहे जाते हैं ॥६७॥ चंडी क्षेत्रपाल वा ब्रह्मा विष्णु महेश आदि कुदेवों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है ॥६८॥ मिथ्यामत के अनुसार जो लोकाचार है वह पाप उत्पन्न करने वाला है उसको जो अज्ञानी लोक आचरण करते हैं उसको लोकमूढ़ता कहते हैं ॥६६॥ अपनी अज्ञानता से बौद्ध मीमांसिक आदि के शास्त्रों में वा अन्य मत में जो राग करना है उसको समय मूढ़ता कहते हैं ॥२००॥ ये तीनों प्रकार की मूढ़ताएं अत्यंत निंद्य हैं अज्ञानी लोगों को ठगने वाली हैं धर्म को नाश करने वाली हैं और नरकादिक के दुःख देने वाली हैं। इसलिये बुद्धिमानों को दूर से ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥२०१॥ उत्तम जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप ज्ञान तप वल और शिल्पित्व इन आठों का मद करना दुर्मद है गुणी पुरुषों को इनका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥२॥ तिर्यंच योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण भी समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है ॥३॥ तिर्यंच और मनुष्यों की स्त्रियों की अनंत पर्यायों में अपने पुत्र के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आँसू निकले हैं उनका प्रमाण भी समुद्रों के

शोधिकम् ॥ ४ ॥ इतिस्वमातृपितृंश्च नीचोच्चांतातिगान्भवे । ज्ञात्वादद्यौमदस्त्याज्यः सज्जातिकुलयोस्त्रिधा ॥ ५ ॥ क्षणविध्वंसि विज्ञायैश्वर्यंचक्र्यादिभूभृताम् । अरिचोरादिभिः सार्द्धंहेयोत्रैश्वर्यजोमदः ॥ ६ ॥ रोगक्लेशविषास्त्राद्यैः स्वरूपं क्षणभंगुरम् । मत्वा न तत्कृतो गर्वो जातु कार्यो विचक्षणैः ॥ ७ ॥ अंगपूर्वाम्बुधेः संख्यां विदित्वाश्रीजिनागमे । किंचिच्छ्रुतंपरिज्ञाय नादेयस्तन्मदः क्वचित् ॥ ८ ॥ उग्रोग्रादिमहाघोरतपोविधीन्सुयोगिनाम् । भाक्तनानां मुदा ज्ञात्वा हंतव्यस्तत्कृतो मदः ॥ ९ ॥ जिनचक्रिमहर्षीणामप्रमाणं महाबलम् । विदित्वा स्वबलस्यात्र न कार्यो बलिभिर्मदः ॥ १० ॥ शिल्पित्वंविविधं ज्ञात्वा विज्ञान लेखनादिजम् । जातुशिल्पमदोनात्रविधेयोज्ञानशालिभिः ॥११॥ एतेत्राष्ठौमदा निंद्या निंद्यकर्मकराभुवि । दृग्धर्मध्वंसकाहेयाःशत्रवोत्रैव पंडितैः ॥ १२ ॥ मदाष्टकमिदं योत्र विधत्ते

जल से बहुत अधिक है ॥४॥ इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपने माता पिता के कुल को ऊंच नीच से रहित समझ कर मन वचन काय से उत्तम जाति और उत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिये ॥५॥ इस संसार में चक्रवर्ती आदि महाराजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर है इसके सिवाय इस धन को चोर चुरा ले जाते हैं शत्रु ले जाते हैं। यही समझ कर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥६॥ यह सुन्दर रूप रोग क्लेश विष और शास्त्रादिक के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाता है। यही समझ कर बुद्धिमानों को कभी भी अपने रूप का मद नहीं करना चाहिये ॥७॥ जैन शास्त्रों से ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों की संख्या समझ कर थोडे से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥८॥ पहले के मुनि उग्र उग्र तप महा घोर तपश्चरण का मद भी प्रसन्नता पूर्वक छोड़ देना चाहिये ॥९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी बहुत है और महर्षियों का बल भी बहुत है यही समझ कर बलवान् पुरुषों को अपने अधिक बल का मद कभी नहीं करना चाहिये ॥१०॥ इस संसार में विज्ञान और लेखन आदि की कलाएं भी अनेक प्रकार की हैं उन सबको जान कर ज्ञानी पुरुषों को उन कलाओं का मद भी कभी नहीं करना चाहिये ॥११॥ ये आठों मद अत्यंत निंद्य हैं निंद्यकर्म करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन रूपी धर्म को नाश करने वाले शत्रु हैं। इसलिए विद्वान् लोगों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१२॥ जो अज्ञानी पुरुष इन आठों

मूढधीर्यतिः । तेनहत्वाद्दगादीन् सः नीचयोनीश्चिरंभ्रमेत् ॥ १३ ॥ विज्ञायेति न कर्तव्योमदो जातु गुणान्वितैः । सज्जात्यादिपुसर्वेपुसत्सुप्राणात्ययेप्यहो ॥ १४ ॥ मिथ्यासम्यक्त्वकुज्ञानकुचारित्राणिदुर्धियः । तद्वन्तस्त्रय एतानि निंद्यानायतनानिषट् ॥ १५ ॥ श्वभ्रसवलहेतूनिविश्वपापाकराणि च । त्याज्यानिदृष्टिघाती नीमान्यनायतनानि-षट् ॥ १६ ॥ दृष्टेःप्रागुक्तनि शंकादिभ्य. शकादयोऽशुभाः । विपरीता बुधैर्ज्ञेया अष्टौदोषा मलप्रदाः ॥ १७ ॥ एतेदोषा त्रिशुध्यापरिहर्तव्याद्दगन्तका । पचविंशतिरात्मज्ञैर्दृग्विशुध्यै कुमार्गदाः ॥ १८ ॥ मलिने दर्पणे यद्वत्प्रति-विम्ब न दृश्यते । सदोपेदर्शनेतद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्बुजम् ॥ १९ ॥ मत्वेति दर्शनं जातुस्वप्नेपि मलसन्निधिम् । निर्मलंमुक्तिसोपानं न नेतव्यं शिवार्थिभिः ॥ २० ॥ धन्यास्तएवसंसारे बुधैः पूज्याः सुरैः स्तुता । दृष्टिरत्नं न यैः

मदों को धारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को नष्ट कर चिरकाल तक नीचे योनियों मे परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१३॥ यही समझ कर गुणी पुरुषों को कंठगत प्राण होने पर भी जाति आदि का मद कभी नहीं करना चाहिये ॥१४॥ मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र और इन तीनों को धारण करने वाले अज्ञानी ये छह निंद्य अनायतन गिने जाते हैं। ये छहों अनायतन नरक के कारण हैं समस्त पापों को करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन का घात करने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१५–१६॥ पहले सम्यग्दर्शन के जो निःशंकित आदि आठ अंग बतलाये हैं उनसे विपरीत शंका कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं ये दोष भी सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१७॥ ये पच्चीसों दोष सम्यग्दर्शन को नाश करने वाले हैं और कुमार्ग को देने वाले हैं इसलिये आत्मा के स्वरूप को जानने वाले विद्वानों को अपना सम्यग्दर्शन विशुद्ध रखने के लिए मन वचन काय से इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१८॥ जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना प्रतिविंब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलिन वा सदोष सम्यग्दर्शन में मुक्तिस्त्री का मुखकमल दिखाई नहीं देता ॥१९॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को मोक्ष का कारणभूत अपना निर्मल सम्यग्दर्शन स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥२०॥ जिन लोगों ने अपना सम्यग्दर्शन रूपी रत्न कभी भी मलिन

नीतं कदाचिन्मलसन्निधौ ॥ २१ ॥ तस्यैव सफलं जन्म मन्येहं कृतिनोभुवि । शशांकनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥ २२ ॥ यतश्चारित्रतो भ्रष्टा. केचित्सम्यक्त्वशालिनः । सिध्यन्ति तपसा लोके स्वीकृत्य चरणं पुनः ॥२३॥ ये भ्रष्टा दर्शनात्ते च भ्रष्टा एव जगत्त्रये । चारित्रेसत्यपि ज्ञानेमोक्षस्तेषां न जातुचित् ॥ २४ ॥ यस्माच्च ज्ञानचारित्रे मिथ्यात्वविपदूषिते । भवतो न कचित्काले परमेपि शिवाप्तये ॥ २५ ॥ अतो विनात्रसम्यक्त्वं ज्ञानमज्ञानमेव भोः । दुश्चारित्रं च चारित्रं कुतपः सकलं तपः ॥ २६ ॥ अन्यद्वादुष्करं कायक्लेशमातपनादिकम् । कथ्यते निष्फलपुंसा तुषखंडन वज्जिनैः ॥ २७ ॥ यथा वीजादृते जातु क्षेत्रे न प्रवरफलम् । दर्शनेन विना तद्वन्न चारित्रे शिवादि च ॥ २८ ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमातंगमपि भूतले । भाविमुक्तिवधूकान्तं देवा देवं

नहीं किया है वे ही मनुष्य इस संसार में धन्य हैं विद्वान लोग उनकी ही पूजा करते हैं और देव लोग उन्हीं की स्तुति करते हैं ॥२२१॥ जिस पुरुष ने चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यग्दर्शन स्वीकार कर लिया है उसी महा पुण्यवान् का जन्म मै सफल मानता हूं ॥२२॥ इसका भी कारण यह है कि कितने ही सम्यग्दृष्टी ऐसे हैं जो चारित्र से भ्रष्ट हो जाते है परन्तु वे फिर भी चारित्र को धारण कर तपश्चरण के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाते है वे चारित्र के होने पर भी तथा ज्ञान के होने पर भी तीनों लोकों में कहीं भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥२३–२४॥ इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान को और चारित्र कितने ही उत्कृष्ट क्यो न हों फिर भी उनसे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥२५॥ इसलिये कहना चाहिये कि विना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है चारित्र मिथ्या चारित्र है और समस्त तप कुतप है। इनके सिवाय जो अत्यंत कठिन आतपनादिक योग है वे भी सब विना सम्यग्दर्शन के केवल शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले हैं और चावल की भूसी को कूटने के समान सब निष्फल है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२६–२७॥ जिस प्रकार विना बीज के किसी भी खेत में कभी भी उत्तम फल उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शन के केवल चारित्र से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२८॥ यदि चांडाल भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो तो गणधरादिक देव उसको होनहार मुक्ति रूपी स्त्री का स्वामी और

पदन्त्यहो ॥ २६ ॥ सम्यग्दृग्रत्नकंठस्थो निर्धनोपि जगत्त्रये । उच्यते पुण्यवान् सद्भिः स्तुत्य. पूज्योमहाधनी ॥३०॥ यतोत्रैकभवेसौख्यं दु ख वा कुरुतेधनम । इहामुत्र च सम्यक्त्व केवलसुखगूर्जितम् ॥ ३१ ॥ सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेपिवरंसताम् । सम्यक्त्वेन विनानैवनिवासोराजतेदिवि ॥ ३२ ॥ यतः श्वभ्राद्विनिर्गत्यक्षिपित्वाप्राक्तनाशुभम् । सम्यग्दर्शनमहात्म्यात्तीर्थनाथो भवेत्सुधीः ॥ ३३ ॥ सम्यक्त्वेन विनादेवा आर्तध्यान विधाय भोः । दिवश्च्युत्वा प्रजायन्तेस्थावरेष्वत्रतत्फलात ॥ ३४ ॥ सम्यग्दृष्टिर्गृहस्थोपि कुर्वन्नारभमंजसा । पूजनीयो भवेल्लोकेनृनाकिपतिभि स्तुत. ॥ ३५ ॥ दृष्टिहीनोभवेत्साधु' कुर्वन्नपि तपोमहत् । दृष्टिशुद्धैःसुरैर्मर्त्यैर्नि दनीय' पदेपदे ॥ ३६ ॥ इन्द्राह-मिन्द्रतीर्थेशलौकान्तिकमहात्मनाम् । वलादीनांपदान्यत्रमहान्ति च सुरालये ॥ ३७ ॥ यानि तानि न लभ्यन्ते

इसीलिये देव कहते हैं ॥२६॥ जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी रत्न शोभायमान है वह यदि निर्धन हो तो भी सज्जन पुरुष उसको तीनों लोकों में पुण्यवान कहते हैं उसको पूज्य समझते हैं उसकी स्तुति करते हैं और उसको महाधनी समझते हैं ॥३०॥ इसका भी कारण यह है कि धन इसी एक भव में सुख वा दुःख देता है परंतु सम्यग्दर्शन इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट सुख देता है ॥३१॥ सज्जन पुरुषों को इस सम्यग्दर्शन के साथ साथ नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के विना स्वर्ग में निवास करना भी सुशोभित नहीं होता ॥३२॥ इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष नरक में से निकल कर तथा उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से पहले के समस्त अशुभ कर्मों को नाश कर महा बुद्धिमान तीर्थंकर हो सकता है ॥३३॥ परंतु विना सम्यग्दर्शन देव आर्तध्यान धारण कर लेते हैं और फिर मिथ्यात्व के महात्म्य से स्वर्ग से आकर स्थावरो में उत्पन्न होता है ॥३४॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष गृहस्थ होकर भी तथा आरंभ करता हुआ भी इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूजनीय होता है और सब उसकी स्तुति करते हैं । परन्तु साधु होने पर भी जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह घोर तपश्चरण करता हुआ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले देव और मनुष्यों से पद पद पर निंदनीय माना जाता है ॥३५–३६॥ इन्द्र अहमिंद्र तीर्थंकर लौकांतिक वलभद्र आदि के जो जो सर्वोत्कृष्ट पद हैं वे विना सम्यग्दर्शन के परम तपश्चरण करते हुये

मू० प्र० ॥२०६॥

र्वद्धिः परमं तपः । मुनिभिश्चविनादृष्टिं संयमाद्यखिलैः परैः ॥ ३८ ॥ नारकत्वं च तिर्यक्त्वंकुगतिंनिंदितंकुलम् । स्त्रीत्वं च विकलांगत्वंक्लीवत्वं च कुजन्मताम् ॥ ३९ ॥ अल्पायुस्त्वंदरिद्रत्वंकातरत्वममान्यताम् । धर्मार्थकामदूरत्वं शुभभावादिविच्युतिम् ॥ ४० ॥ रोगित्व वहुपापित्वंदु:खित्वंमूर्खतादिकान् । अव्रतिनोपिदृष्ट्याढ्या न लभन्तेत्र जातुचित् ॥ ४१ ॥ ज्योतिर्भावनभौमेषुदिवि किल्विषिकेषु च । प्रकीर्णकाभियोग्येषु हीनेषुवाहनेषु च ॥ ४२ ॥ अन्येषुनिंद्यभोगेषुकुभूम्यादौदृगन्विताः । उत्पद्यन्ते कदाचिन्न व्रतादिरहिता अपि ॥ ४३ ॥ किन्तुस्वर्गेप्रजायन्ते-दृगाढ्याद्दकशुभोदयात् । इन्द्राः पूज्याः प्रतीन्द्राश्च लोकपालामहर्द्धिकाः ॥ ४४ ॥ लौकांतिकाश्चदेवार्च्याः

भी तथा समस्त संयमादिकों को धारण करने पर भी मुनियों को भी कभी प्राप्त नहीं होते ॥३७–३८॥ जो पुरुष सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे अव्रती ही क्यों न हों तथापि वे नरक गति में, तिर्यंचगति में, कुगति में निंदित कुल में स्त्री पर्याय में नपुंसक पर्याय में उत्पन्न नहीं होते। वे विकल वा अंगभंग शरीर को भी धारण नहीं करते, उनका कुजन्म भी नहीं होता, वे अल्पायु भी नहीं पाते, दरिद्री भी नहीं होते, कातर भी नहीं होते, अमाननीय भी नहीं होते, धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ से दूर भी नहीं रहते, शुभभावों से रहित भी नहीं होते, वे रोगी भी नहीं होते, अधिक पापी भी नहीं होते, दुःखी भी नहीं होते और मूर्ख भी नहीं होते। सम्यग्दृष्टी पुरुष इन अशुभ संयोगों को कभी प्राप्त नहीं होते ॥३९–४१॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष व्रत रहित होने पर भी ज्योतिषी देवों में, भवन वासी देवों में, व्यंतर देवों में, वैमानिक देवों के किल्विषिक देवों में, प्रकीर्णक देवों में आभियोग्य देवों में वाहनादिक वनने वाले हीन देवों मे उत्पन्न नहीं होते, जहाँ पर निंदनीय भोगोपभोग की सामिग्री मिलती है वहाँ कहीं भी उत्पन्न नहीं होते तथा कुभोग भूमि में भी उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टी इन स्थानों में कभी उत्पन्न नहीं होते ॥४२–४३॥ किंतु सम्यग्दृष्टी पुरुष सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्गों में पूज्य इन्द्र होते हैं अहमिंद्र होते हैं प्रतीन्द्र होते हैं बड़ी ऋद्धि को धारण करने वाले लोकपाल होते हैं, देवों के द्वारा पूज्य ऐसे लौकांतिक देव होते हैं अथवा समस्त भोगोगभोगों की सामग्री से सुशोभित

सामानिकादयोमरा: । विश्वभोगोपभोगाढ्या जिनधर्मप्रभावका. ॥ ४५ ॥ मनुजत्वेपि तीर्थेशावला चक्रेश्वरादय: । कामदेवा गणेशाश्च पूजिता नृसुरासुरे ॥ ४६ ॥ ओजस्तेज प्रतापाढ्या महाविद्यायशोकिता । जिनभक्ताश्च जायन्ते चतुर्नरार्थसाधका: ॥ ४७ ॥ किमत्र बहुनोक्तेनमम्यग्दृष्टिसताकचित् । सुदेवनृगती मुक्त्वान्यागतिविद्यते न भो. ॥ ४८ ॥ इत्यादि प्रवर ज्ञात्वा तन्माहात्म्य सुखार्थिन: । सर्वयत्नेन कुर्वीध्वदृग्विशुद्धि जगत्सु ताम् ॥४६॥ निखिलगुणनिधानंमुक्तिसोपानमाद्य दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम् । कुगतिगृहकपाट धर्ममूल सुखाब्धि भजतपरम यत्नाद्दर्शनंपुण्यभाज ॥ ५० ॥ विश्वाभ्यर्चमनन्तशर्मजनकंस्वर्मोक्षमार्गपर विश्वानर्थहरपरार्थशिवदपापारिनाश–

और जैन धर्म की प्रभावना करने वाले सामानिक जाति के देव होते हैं ॥४४–४५॥ यदि वे मनुष्य होते हैं तो तीर्थंकर वलभद्र चक्रवर्ती, कामदेव और गणधर होते हैं जो मनुष्य देव और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य होते हैं ॥४६॥ सम्यग्दृष्टी पुरुप बड़े ओजस्वी तेजस्वी और प्रतापी होते हैं अनेक महा विद्याएं तथा महा यश से सुशोभित होते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव के भक्त होते हैं और चारों पुरुपार्थों को सिद्ध करने वाले होते हैं ॥४७॥ बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से मे इतना समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टी सज्जन पुरुपों को श्रेष्ठ देवगति और श्रेष्ठ मनुष्यगति को छोड़ कर अन्य कोई गति नहीं होती ॥४८॥ इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य समझ कर सुख चाहने वाले पुरुपों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य ऐसी इस सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को धारण करना चाहिये ॥४६॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है मोक्ष की प्रथम सीढी है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, पुण्य बढाने के लिये तीर्थ है, सब में प्रधान है कुगति रूपी घर को बन्द करने के लिए कपाट के समान है धर्म का मूल है और सुख का समुद्र है। इसलिये पुण्यवान पुरुपों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धता पूर्वक धारण करना चाहिये ॥५०॥ यह सम्यग्दर्शन तीनो लोकों में पूज्य है, अनंत सुख देने वाला है, स्वर्ग मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करने वाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, सद्धर्मरूपी अमृत का समुद्र है, और

...रन्तातीतगुणौघास्त्रिभुवनमहिताभूपताः सस्तुताश्च । सिद्धाविश्वाग्रभूस्था हतभववपुषो ज्ञानदेहा अमूर्ता. सर्वंश्रीसाधवोमेत्रिपदगुणयुताद्दग्विशुद्धिं प्रदद्युः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचते पंचाचार व्यावर्णने दर्शनाचारवर्णनो नामपंचमोधिकार. ।

समस्त उपमाओं से रहित है। ऐसा यह ऊपर कहा हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन मेरे हृदय में विराजमान रहो ॥५१॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव संसार भर में तीर्थभूत हैं जिनवरों में भी श्रेष्ठ हैं, तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों को धारण करने के कारण तीनों लोकों में पूज्य हैं तीनों लोकों में सुशोभित हैं और तीनों लोक उनकी स्तुति करता है। इसी प्रकार भगवान सिद्ध परमेष्ठी समस्त लोक के ऊपर विराजमान हैं संसार तथा शरीर से रहित है ज्ञान ही उनका शरीर हैं और वे अमूर्त हैं। तथा आचार्य उपाध्याय साधुपरमेष्ठी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं। इस प्रकार के ये पाँचों परमेष्ठी मुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रदान करें ॥२५२॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ मे पंचाचार के वर्णन मे दर्शनाचार को वर्णन करने वाला यह पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।



॥२१२॥

षष्ठोधिकारः ।



ज्ञानाचारफलप्राप्तानर्हत्सिद्धत्रियोगिन. । नत्वावक्ष्येष्टधा ज्ञानाचारं विश्वाग्रदीपकम् ॥ १॥ये नात्मावुध्यते तत्व मनो येन निरुध्यते । पापाद्विमुच्यतेयेनतज्ज्ञान ज्ञानिनोविदु. ॥ २ ॥ येनरागादयो दोपा प्रणश्यन्तित्रृतसताम् । सवेगाद्या.प्रवर्द्धन्तेगुणा ज्ञानतदूर्जितम् ॥ ३ ॥ येनात्तविपयेभ्योत्र विरज्यशिववर्त्मनि । ज्ञानीप्रवर्ततेनित्य तज्ज्ञान जिनशासने ॥ ४ ॥ कालाख्यो विनयाचार. उपधानसमाह्वय. । वहुमानाभिगेनिह्नवाचारो व्यजनाह्वय. ॥ ५ ॥

छठा अधिकार ।

अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी ज्ञानाचार के फल को प्राप्त हुए है इसलिये इनको नमस्कार कर समस्त लोक अलोक को दिखलाने वाले आठ प्रकार के ज्ञानाचार का स्वरूप अब मै कहता हूँ ॥१॥ जिस ज्ञान से आत्मा का स्वरूप जान जाय, जिस ज्ञान से मन वश में हो जाय और जिस ज्ञान से समस्त पाप छूट जाँय उसी को ज्ञानी पुरुप ज्ञान कहते हैं ॥२॥ जिस ज्ञान से सज्जनो के रागादिक दोप सव नष्ट हो जाँय और संवेगादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाँय उसको उत्तम ज्ञान कहते हैं ॥३॥ जिस ज्ञान से ज्ञानी पुरुप इन्द्रियों से विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाता है जिनशासन में उसी को ज्ञान कहते हैं ॥४॥ इस ज्ञानाचार के आठ भेद हैं कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, वहुमानाचार, अनिन्हवाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार । इस प्रकार

अर्थाचाराभिधानश्च ततस्तदुभयाभिधः । ज्ञानाचारस्यविज्ञेया अष्टौभेदा इमे बुधैः ॥ ६ ॥ पूर्वाह्णस्यापराह्णस्य–पूर्वपश्चिमयामयो. । रजन्यामध्यवेलाया: पूर्वपश्चिमभागयोः ॥ ७ ॥ तथामध्याह्नकालस्य कालंद्विघटिकाप्रमम् । प्रत्येकंविद्धि सिद्धांतपाठाययोग्यमेव च ॥८॥ एतान् सदोष कालांश्च त्यक्त्वास्वाध्यायऊर्जितः । ग्राह्य आगमपाठाद्याः कार्याः कालेशुभेपरे ॥ ९ ॥ पूर्वाह्णेत्र यदासप्तपादच्छाया भवेत्तग । स्वाध्यायो हि गृहीतव्योनिर्विकल्पेनचे–तसा ॥ १० ॥ आषाढे द्विपदच्छायापुष्यमासे चतुष्पदा । यदावतिष्ठते शेषा निष्ठापनीयएव स. ॥ ११ ॥ तयोर्मासद्वयोर्मध्ये कालः स्वाध्यायमोचने । प्रत्येकं शेषमासानां वृद्धिहानियुत. स्फुटम् ॥ १२ ॥ पादयोः षष्ठभागोत्र भवेत् ज्ञात्वेति योगिभिः । कर्तव्यो मुक्तये काले स्वाध्यायस्तत्वपूरितः ॥ १३ ॥ अपराह्णेत्रमध्याह्नाद्विमुच्यघटिका

विद्वान् लोग ज्ञानाचार के आठ भेद बतलाते हैं ॥५–६॥ प्रातःकाल के एक पहर पहले, सायंकाल के एक पहर बाद, आधी रात के एक पहर पहले तथा एक पहर बाद और मध्याह्न काल की दो घड़ी ये सब काल सिद्धांत शास्त्र के पढ़ने के अयोग्य हैं ॥७–८॥ इन सदोप कालों को छोड़ कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिये । तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिये ॥९॥ पूर्वाह्न के समय जब सात पैर छाया हो जाय तब मुनियों को अपने सब विकल्प छोड़ कर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये ॥१०॥ आसाढ महीने में जब छाया दो पद रह जाय तथा पौष मास में जब छाया चार पैर रह जाय तब मुनियों को स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये ॥११॥ यह आषाढ़ और पौष महीने में स्वाध्याय समाप्त करने का काल बतलाया । बाकी के महीने महीनों में छाया की हानि वृद्धि के अनुसार स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिये ॥१२॥ प्रत्येक महीने में दो पैर का छठवाँ भाग घटाना बढ़ाना चाहिये अर्थात् श्रावण में दो पैर और एक पैर का तीसरा भाग, भादों में दो पैर और एक पैर का दो भाग, आश्विन में तीन पैर, कार्तिक में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, मगसिर में तीन पैर एक पैर का दो भाग, तथा पौष में चार पैर छाया रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये । मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस प्रकार योग्य समय में तत्त्वों से भरा हुआ स्वाध्याय करना चाहिये ॥१३॥ (माघ में तीन पैर एक पैर का दो भाग, फाल्गुन में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, चैत मे

द्वयम् । स्वाध्यायोह्यपराह्णाख्योग्राह्योदक्षै.प्रयत्नतः ॥ १४ ॥ दिनस्य पश्चिमे भागे सप्तपादप्रमाणका । यदावतिष्ठते छाया तदा मोक्तव्य एव सः ॥१५॥ पूर्वरात्रे: परित्यज्य किलाद्यं घटिकाद्वयम् । गृह्णन्तु यतपः पूर्वरात्रिस्वाध्याय-मजसा ॥ १६ ॥ त्यक्त्वामध्याह्नरात्रेश्च काले द्विघटिकामितम् । स्वाध्यायोत्रविधेयः पश्चिमरात्रिसमाह्वय. ॥ १७ ॥ आद्यमध्यावसानानां प्रत्येकं दिनरात्रयोः । त्यक्त्वाद्विघटिकांकालस्वाध्यायोयोग्यमंजसा ॥ १८ ॥ पूर्वपश्चिमभागोत्थं शेषकालेषुसर्वदा । बुधा गृह्णन्तु मुंचन्तुसिध्यै स्वाध्यायमूर्जितम् ॥ १६ ॥ अग्निवर्णे हि दिग्दाहउल्कापातो नभो-गणान् । विद्यु दिन्द्रधनुःसंध्यापीतलोहितवर्णभा ॥ २० ॥ दुर्दिनोभ्रमसयुक्तो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययो' । कलहादिर्धराकपो धूमाकारात्तमंवरम् ॥ २१ ॥ मेघगर्जनमित्याद्यादोषाविघ्नादिहेतव' । त्याज्याः सिद्धातसूत्रे स्वाध्यायस्यपाठका-

---

तीन पैर, वैसाख में दो पैर और एक पैर का दो तिहाई भाग, जेठ में दो पैर एक पैर का तीसरा भाग और अपाढ़ मे दो पैर छाया रहने पर स्वाध्याय की समाप्ति का काल समझना चाहिये ।) मध्याह्न काल की दो घड़ी छोड़ चतुर पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक अपराह्न समय का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये ॥१४॥ दिन के पश्चिम भाग में जब छाया सात पैर बाकी रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये ॥१५॥ पूर्व रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर मुनियों को पूर्व रात्रि का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये । तथा मध्य रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर पिछली रात्रि का स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये ॥१६–१७॥ दिन के आदि मध्य अंत में तथा रात्रि के आदि मध्य अंत में दो दो घड़ी छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिये । दिनरात का पूर्व भाग और अंतिम भाग स्वाध्याय के अयोग्य काल है उसको छोड़ कर बाकी के समय में बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय का प्रारम्भ तथा समाप्ति करनी चाहिये ॥१८–१६॥ जिस समय अग्निवर्ण का दिशाओं का दाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल पीले वर्ण की संध्या हो, अभ्रपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य वा चन्द्रमा का ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धूएं के आकार का कुहरा फैला हो वा बादल गरज रहा हो ये सब दोष सिद्धांत सूत्रों के पढने में विघ्न के कारण हैं । इसलिए पाठकों को इन समयों में स्वाध्याय नही करना चाहिये ॥२०–२२॥

'दिभिः ॥ २२ ॥ कालशुद्धिंविधायेमां ये पठन्तिजिनागमम् । निर्जरा विपुला तेषां कर्मणामास्रवोन्यथा ॥ २३ ॥ रुधिरं च वृणादीन मांसपूयविडादयः । इत्याद्यन्याशुचिद्रव्यादेहे स्वस्यपरस्य वा । २४ । व्रर्जनीया प्रयत्नेनपाठकै द्रव्यशुद्धये । स्वाध्यायस्यसमारभेद्रव्यशुद्धिरियं मता ॥ २५ ॥ चतुर्दिंचु शुभक्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम् । रक्तास्थिरहितं पूत सशोध्यक्रियते बुधैः ॥ २६ ॥ स्वाध्यायो योगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये । कर्मणा निर्जरायैवा क्षेत्रशुद्धिर्मतात्र सा ॥ २७ ॥ क्रोधमानादिकान्सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोकदुर्मदान् । हास्यारति भयादींश्च त्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ॥२८॥ कृत्वायोगृह्यतेदक्षै स्वाध्यायोजिनसूत्रजः । त्रिशुध्यासास्यविज्ञेयाभावशुद्धिर्विशुद्धिदा ॥ २९ ॥ इतिरुक्तकालसद्द्रव्य–क्षेत्रभावाश्रितांपराम् । कृत्वा चतुर्विधां शुद्धिंस्वाध्याये ये पठन्त्यहो ॥ ३० ॥ वा पाठयन्ति सिद्धांन्ततेषामावि–

जो मुनि इस काल शुद्धि को ध्यान मे रखते हुये जिनागम का पठन पाठन करते है उनके कर्मों की बहुत सी निर्जरा होती हैं। यदि वे अकाल में ही स्वाध्याय करते हैं तो उनके कर्मों का आस्रव ही होता है ॥२३॥ स्वाध्याय करने वालों को अपनी द्रव्य शुद्धि बनाये रखने के लिए अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मॉस पीव विष्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हो तो उनका प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये तब स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये। इसको द्रव्य शुद्धि कहते हैं ॥२४–२५॥ बुद्धिमान पुरुषों को अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये अज्ञान को दूर करने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए अंग पूर्वों का स्वाध्याय करना चाहिये और उस समय चारों ओर का सौ सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिये। सौ सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त मॉस हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिये। इसको क्षेत्रशुद्धि कहते हैं ॥२६–२७॥ चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद हास्य रति अरति भय आदि सबका त्याग कर तथा मन को प्रसन्न कर मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक जिनसूत्रों का स्वाध्याय करते हैं। इसको विशुद्धता उत्पन्न करने वाली भाव शुद्धि कहते हैं ॥२८–२९॥ जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि श्रेष्ठ द्रव्यशुद्धि श्रेष्ठ क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर अर्थात् चारों प्रकार की शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय मे सिद्धांतशास्त्रों का पठन पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ समस्त

भंवेत्स्वयम् । ऋध्यादिभिर्गुणैः सर्वैः सहाखिलं श्रुतपरम् ॥ ३१ ॥ अंगपूर्वाणिवस्तूनिप्राभृतादीनि यानि च । भाषितानि गणाधीशै प्रत्येकबुद्धियोगिभिः ॥ ३२ ॥ श्रुतकेवलिभिर्विद्भिः दशपूर्वधरैर्मुधि । अप्रस्खलितसवेगैस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥ ३३ ॥ उक्तस्वाध्यायवेलाया युज्यन्ते चार्यिकात्मनाम् । पठितुं चोपदेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥ ३४ ॥ चतुराराधनाग्रथा मृत्युसाधनसूचका । पचसंग्रहग्रंथाश्चप्रत्याख्यानस्तवोद्भवाः ॥ ३५ ॥ षडावश्यकसद्ग्रंधा महाधर्म कथान्विता । शलाकापुरुषाणांचानुप्रेक्षाग्निगुणैर्भृताः ॥ ३६ ॥ इत्याद्या ये परे ग्रंथाश्चरित्राद्य एव ते । सर्वदापठितुं योग्या सत्स्वाध्यायंविनासताम् ॥ ३७ ॥ अगानां सर्वपूर्वाणा वस्तूनां प्राभृतात्मनाम् । प्रारभेत्रसमाप्तौचैकशोह्यनुज्ञया गुरोः ॥ ३८ ॥ उपवासो विधातव्यो व्युत्सर्गा. पच वा बुधैः । अकालादिजदोषस्यविशुध्यर्थंशिवाप्तये ॥ ३९ ॥ सुपर्यंकार्द्ध पर्यंकवीरासनादिकान् वहून । विधायहृदयेधृत्वाप्रतिलेख्य

श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥३०–३१॥ अंग, पूर्व, वस्तु तथा जो प्राभृत गणधरों के कहे हुए हैं प्रत्येक बुद्ध योगियों के कहे हुए हैं, श्रुत केवलियों के कहे हुए हैं, दशपूर्वधारी विद्वानों के कहे हुए हैं अथवा जिनका संवेग कभी प्रस्खलित नही हुआ ऐसे योगियों के द्वारा कहे हुए हैं वे सब मुनियो को ऊपर लिखे हुए स्वाध्याय के समय में ही पढ़ने चाहिये तथा अन्य आर्य मुनियों को उनका उपदेश देना चाहिये। स्वाध्याय के विना उनको अन्य किसी प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिये ॥३२–३४॥ मृत्यु के साधनों को सूचित करने वाले चारों आराधनाओं के ग्रंथ, पंचसंग्रह (गोमट्टसार आदि) प्रत्याख्यान स्तुति के ग्रंथ, छहों आवश्यकों को कहने वाले ग्रंथ महाधर्म की कथाओं को कहने वाले ग्रंथ, शलाका पुरुषों के ग्रंथ, अनुप्रेक्षादिक गुणों से परिपूर्ण ग्रंथ तथा चरित्र आदि जितने अन्य ग्रंथ हैं उनको सज्जन पुरुष स्वाध्याय के विना अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं ॥३५–३७॥ ग्यारह अंग चौदह पूर्व वस्तु और प्राभृत शास्त्रों का स्वाध्याय प्रारम्भ करने के समय तथा समाप्ति के समय गुरु की आज्ञा से एक एक उपवास करना चाहिये अथवा बुद्धिमानों को पॉच कायोत्सर्ग करना चाहिये। ये उपवास वा कायोत्सर्ग अकाल से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये करने चाहिये ॥३८–३९॥ मुनि लोग जो पर्यंकासन अर्द्धपर्यंकासन वीरासन आदि में से कोई एक आसन

करद्वयम् ॥ ४० ॥ नत्वा सिद्धांतसूत्राणि पठ्यन्ते यत्र योगिभिः । सूत्रार्थयोगशुध्या स ज्ञानस्यविनयोमतः ॥४१॥ आचाम्लनिर्विकृताद्यैः पक्वान्नादिरसोज्झनैः । विधायनियमं ग्रंथसमाप्त्यन्तं श्रुतोत्सकैः ॥ ४२ ॥ सिद्धान्तं पठ्यते यत्राग्रहेण स्वार्थसिद्धये । आचार उपधानाख्यः स ज्ञानस्यस्मृतोमहान् ॥ ४३ ॥ अंगपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम् । तथैवाचोच्चरन् वाण्या यो न्येषांप्रतिपादयेत् ॥ ४४ ॥ कर्मक्षयाय कुर्यान्नसूरिश्रुतादियोगिनाम् । कचित्परिभवं गर्वाद्बहुमानं लभेत सः ॥ ४५ ॥ सामान्याद्धि यतिभ्योपि पठित्वा श्रुतमूर्जितम् । महर्षिभ्योमयाधीतं मानिभिर्यन्निगद्यते ॥ ४६ ॥ अधीत्य प्रवरं शास्त्रं पार्श्वेनिर्ग्रंथयोगिनाम् । कुलिंगिनिकटेऽधीतमुच्यते य ज्जडात्मभि. ॥ ४७ ॥ नाधीतं न श्रुतं वेद्मि नेत्यादि ब्रूयते च यत् । पठितस्यापिशास्त्रस्य सर्वं निह्नवनं हि

लगा कर, हाथों को शुद्ध कर, सिद्धांत सूत्रों को ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान मनवचनकाय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र वा सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञान का विनय वा विनयाचार कहते हैं ॥४०–४१॥ शास्त्रज्ञान की उत्कट इच्छा रखने वाले मुनि ग्रंथ की समाप्ति तक केवल भात भिला माड़ खाने का निर्विकृति (विकार रहित पौष्टिक रहित) आहार ग्रहण करने का वो पकान्न रस को त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये आग्रह पूर्वक जो सिद्धांतों का पठन पाठन करते हैं उसको ज्ञान का उपधान नाम का आचार कहते हैं ॥४२–४३॥ अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों का सूत्र अर्थ जैसा है उसी प्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं उसी प्रकार दूसरों के लिये प्रतिपादन करते हैं। यह सब पठन पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिये करते हैं तथा अभिमान से आचार्य शास्त्र वा किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमान नाम का ज्ञानाचार कहते हैं ॥४४–४५॥ कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़ कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महा ऋषि से पढ़ा है। अथवा किसी उत्तम शास्त्र को किसी निग्रन्थ मुनि के समीप पढ़ कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से कुलिंगी से पढ़ा है। अथवा पढ़े हुये शास्त्र के लिये भी यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता इस प्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको

तत ॥ ४८ ॥ इमं निह्नवदोष च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम् । गुरुपाठकशास्त्राणांश्रुतस्य पठितस्य वा ॥ ४९ ॥ गुणप्रकाशन लोकेख्यातिश्चव्रूयतेतराम् । मुमुक्षुभि. स सर्वोप्यनिह्नवाचार उच्यते ॥ ५० ॥ अक्षरस्वरमात्रार्थैर्य-न्छुद्धं पठ्यतेश्रुतम् । दक्षैगुरूपदेशेन व्यजनाचार एव स ॥ ५१ ॥ अर्थेनात्रविशुद्धयत्सदर्थालंकृतश्रुतम् । पठ्यते पाठ्यतेऽन्येषांसोर्थाचारः श्रुतस्य वै ॥ ५२ ॥ अर्थाक्षरविशुद्धंयदधीयतेजिनागमम् । विद्भिस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यतेमहान् ॥ ५३ ॥ एभिरष्टविधाचारैरधीतं यज्जिनागमम् । तन्हैवाखिलं ज्ञानं जनयेद्वाशु केवलम् ॥ ५४ ॥ विनयाद्यैरधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतंश्रुतम् । तथामुत्र च तद्ज्ञान सूते च केवलोदयम् ॥ ५५ ॥ ज्ञानमष्टविधाचारैः पठितयमिनांस्फुटम । अनन्तकर्महान्यैस्यात् कर्मवधाय चान्यथा ॥ ५६ ॥ विज्ञायेति विदो

निह्नव कहते हैं। इस निह्नव दोप का त्याग कर आचार्य आदि योगियों की गुरु की उपाध्याय की शास्त्रों की और सुनने वा पढ़ने की प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य गुरु उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों के अनिह्नवाचार कहलाता है ॥४९–५०॥ चतुर पुरुष गुरु के उपदेश के अनुसार जो अक्षर स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं ॥५१॥ अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है ॥५२॥ जो जिनागम को शब्द अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञान का महान् उभयाचार कहते हैं ॥५३॥ इस प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोक में पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥५४॥ जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोक में उसको केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥५५॥ इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियों के अनंत कर्मों को नाश कर देता है यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है ॥५६॥ यही समझ कर विद्वान् पुरुषों को योग्य काल में

ज्ञानं कालेत्रविनयादिभिः । पठन्तु योगशुध्या वा पाठयन्तुसतांचिदे ॥५७॥ ज्ञानेन निर्मला कीर्ति भ्रमत्येव जगत्त्रये । ज्ञानेन त्रिजगन्मान्यं ज्ञानेनातिविवेकता ॥ ५८ ॥ ज्ञानेन केवलज्ञानं ज्ञानेनपूज्यतापदम् । ज्ञानेन त्रिजगल्लक्ष्मी जिनशक्रादिसत्पदम् ॥ ५६ ॥ ज्ञानेनैवप्रभुत्वं च ज्ञानेन सकला कला । जायते ज्ञानिनां नूनं विज्ञानादिगुणोत्करः ॥ ६० ॥ ज्ञानेन ज्ञानिनां सर्वेशमाद्याः परमाः गुणाः । आश्रयन्तित्त यंयान्ति दोषाः क्रोधमदादयः ॥ ६१ ॥ सज्ञानशृंखलावद्धो मनोदन्ती भ्रमन् सदा । दुर्धरोविषयारण्ये वशमायाति योगिनाम् ॥ ६२ ॥ ज्ञानपाशेन वद्धाः स्युः पंचेन्द्रियकुतस्कराः । क्षमा न विक्रियां कर्तुं धर्मरत्नापहारिणः ॥६३॥ मदनाग्निमहाज्वाला जगद्दाहविधायनी ।

विनयादिक के साथ मन वचन काय को शुद्ध कर ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसी प्रकार दूसरों को पढ़ाना चाहिये ॥५७॥ इस ज्ञान से मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है इस ज्ञान से ही तीनों लोकों में मान्यता बढ़ जाती है और ज्ञान से ही उत्कृष्ट विवेक शीलता आ जाती है ॥५८॥ ज्ञान से ही केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, ज्ञान से ही पूज्यता के पद प्राप्त होते हैं, ज्ञान से ही तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और ज्ञान से ही तीर्थंकर और इन्द्र आदि के श्रेष्ठ पद प्राप्त होते हैं ॥५६॥ ज्ञान से ही प्रभुत्व प्राप्त होता है, ज्ञान से ही समस्त कलाएं प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के ही विज्ञान आदि गुणों के समूह प्रगट होते हैं ॥६०॥ इस ज्ञान से ही ज्ञानी पुरुषों को उपशम आदि समस्त परम गुण अपने आप आ जाते हैं तथा ज्ञान से ही क्रोध मद आदिक दोष सब नष्ट हो जाते हैं ॥६१॥ अत्यंत दुर्धर ऐसा यह मन रूपी हाथी विषयरूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करता है यदि उसको ज्ञानरूपी साँकल से बाँध लिया जाय तो फिर वह उन योगियों के वश में अवश्य हो जाता है ॥६२॥ धर्मरूपी रत्न को अपहरण करने वाले ये पंचेन्द्रियरूपी दुष्ट चोर जब ज्ञान के पाश में (जाल मे) बंध जाते हैं तब फिर वे किसी प्रकार का विकार करने मे समथ नहीं हो सकते हैं ॥६३॥ यह कामदेव रूपी महा ज्वाला संसार भर में दाह उत्पन्न करने वाली है यदि इसको ज्ञानरूपी जल से बुझा दी जाय तो फिर वह

सिक्ता ज्ञानाम्बुना नून पुंसांशाम्यतितत्त्क्षणम् ॥ ६४ ॥ ज्ञानेन ज्ञायते विश्वं हस्तरेखेव निस्तुपम् । लोकालोकं सुतत्त्व च परतत्त्वं किलाखिलम् ॥ ६५ ॥ हेयोपादेयसर्वाणिहिताहिताश्च वोधतः । कृत्स्नधर्मविचारादीन् ज्ञानीवेत्ति नचापरः ॥ ६६ । विश्वज्ञोत्रसमर्थः स्यात्तरितुं च भवाम्बुधिम् । परांस्तारयितुं ज्ञानी ज्ञानोपेतेन नापर ॥६७॥ वीतरागस्त्रिगुप्तात्मान्तर्मुहूर्तेन कर्मयत् । क्षिपेद्ज्ञानी न त च्चाज्ञस्तपसा भवकोटिभि ॥ ६८ ॥ यतोज्ञो दुष्करं घोरं तपः कुर्वन्नपि कचित् । आस्रवाद्यपरिज्ञानान्मुच्यते कर्मणा नहि ॥ ६९ ॥ हेयादेयं विचार च तत्त्वातत्त्वंशुभा-शुभम् । सारासारास्रवादीनि ह्यज्ञानी जातुवेत्ति न ॥ ७० ॥ मत्वेति कृत्स्नयत्नेनप्रत्यहं श्रीजिनागमम् । अधीध्व मुक्तयेदक्षाविश्वविज्ञानहेतवे ॥ ७१ ॥ ज्ञानाभ्यास विनाजातु न नेतव्या हितार्थिभिः । एका कालकलालोके

मनुष्यों की मदनज्वाला उसी समय शांत हो जाती है ॥६४॥ इस ज्ञान के ही द्वारा यह तीनो लोक हाथ की रेखा के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है तथा ज्ञान से ही लोक, अलोक अपने तत्त्व और समस्त दूसरों के तत्त्व जाने जाते हैं ॥६५॥ हेयोपादेय रूप समस्त तत्त्वों को, हित अहित को, और समस्त धर्म के विचारों को ज्ञानी पुरुष ही अपने ज्ञान से जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता ॥६६॥ समस्त तत्त्वों को जानने वाला सर्वज्ञ ही संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए समर्थ हो सकता है तथा ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानरूपी जहाज के द्वारा अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार कर सकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय अन्य कोई भी संसार से पार नहीं कर सकता ॥६७॥ तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला वीतराग ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों को नाश कर सकता है उतने कर्मों को अज्ञानी पुरुष करोड़ों भव के तपश्चरण से भी नहीं कर सकता ॥६८॥ इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी पुरुष घोर दुष्कर तपश्चरण करता हुआ भी आस्रवादि के स्वरूप को न जानने के कारण कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता ॥६९॥ अज्ञानी पुरुष हेय उपादेय को, विचार अविचार को, तत्त्व अतत्व को, शुभ अशुभ को सार असार को और आस्रवादि को कभी नहीं जान सकता ॥७०॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आगम का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥७१॥ अपने

प्रमादेनशिवाप्तये ॥ ७२ ॥ अखिलगुणसमुद्रं चित्तमातंगसिंहं विषयसफर जालं मुक्तिमार्गैकदीपम् । सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलं श्रुतनिखिलमदोषं धीधनाः सपठन्तु ॥ ७३ ॥ ज्ञानाचारमिमं सम्यगाख्याय ज्ञानशालिनाम् । त्रयोदशविधं वक्ष्ये चारित्राचारमूर्जितम् ॥ ७४ ॥ महाव्रतानि पचैव तथा समितयः शुभाः । पचत्रिगुप्तयोभेदाश्चारित्रस्यत्रयोदश ॥७५॥ सर्वस्मात्प्राणिघाताच्चमृषावादाच्चसर्वथा । अदत्तादानतो नित्यं मैथुनाद्धिपरिग्रहात् ॥७६॥ सामस्त्येन निवृतिर्या त्रिशुध्यात्रकृतादिभिः । महान्ति तानि कथ्यन्ते महाव्रतानि पंच वै ॥ ७७ ॥ अमीषां लक्षण पूर्वं प्रोक्त मूलगुणोऽधुना । सप्रपंचं न वक्ष्यामि ग्रथविस्तारभीतितः ॥ ७८ ॥ महाव्रतविशुध्यर्थं त्याज्यं रात्रौ च

आत्मा का हित करने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार में ज्ञान के अभ्यास के बिना प्रमाद से भी कभी समय की एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥७२॥ यह श्रुतज्ञान समस्त गुणों का समुद्र है मनरूपी हाथी को वश करने के लिए सिंह के समान है, विषयरूपी मछलियों के लिए जाल है, मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल है बसलिये बुद्धिमानों को ऐसे इस समस्त श्रुतज्ञान का पठन पाठन निर्दोष रीति से करते रहना चाहिये ॥७३॥ इस प्रकार ज्ञानियों के ज्ञानाचार का निरूपण अच्छी तरह किया। अब आगे तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्राचार का वर्णन करते हैं ॥७४॥ पाँच महाव्रत पाँच शुभ समिति और तीन गुप्ति ये तेरह चारित्र के भेद हैं ॥७५॥ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक कृत कारित अनुमोदना से पूर्ण रूप से समस्त हिंसा का त्याग कर देना सर्वथा असत्य भाषण का त्याग कर देना, सर्वथा चोरी का त्याग कर देना सदा के लिये अब्रह्म का मैथुन सेवन का त्याग कर देना और समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। ये पाँचों व्रत सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं ॥७६–७७॥ इन सब का लक्षण विस्तार के साथ पहले मूलगुणों के वर्णन में कह चुके हैं अतएव ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं ॥७८॥ इन महाव्रतों की विशुद्धि के लिए रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये तथा मुनियों को आठ प्रवचन मातृका का पालन करना चाहिये।

भोजनम् । सेव्याः प्रवचनाख्याष्टमातरो यतिभिः सदा ॥ ७६ ॥ रात्रिचर्याटनेनैव सर्वव्रतपरिक्षयः । शीलभंगोपवादश्च जायते यमिनां द्रुतम् ॥ ८० ॥ रात्रिभिक्षाप्रविष्टानां चौरैश्चारक्षकादिभिः । नाशः स्यान्महतीशंकासर्वत्र च व्रतादिषु ॥ ८१ ॥ विदित्वेति गते योग्यकाले जातु न भोजनम् । चिन्तनीयं हृदादक्षै षष्ठाणुव्रतसिद्धये ॥८२॥ ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपणसमाह्वया । उत्सर्गाख्यात्रपञ्चेमाः शुभा. समितयोमताः ॥ ८३ ॥ आसांसम्यक्पुराख्यातं लक्षणं विस्तरेण च । इतो ब्रुवं न शिष्याणांग्रंथगौरवजोद्भयात् ॥ ८४ ॥ मनोगुप्तिश्च वाग्गुप्तिः कायगुप्तिरिमाः पराः । तिस्त्रोत्रगुप्तयोज्ञेयाः सर्वास्रवनिरोधिकाः ॥ ८५ ॥ पचाक्षविपयार्थेभ्यः समस्तवाह्यवस्तुषु । संकल्पेभ्यो विकल्पेभ्यः कषायादिभ्य एव च ॥ ८६ ॥ गच्छन्मनोनिरुध्याशु ध्यानाध्ययनकर्मसु । यत्स्थिरं क्रियते लीनं सा मनोगुप्तिरद्भुता ॥ ८७ ॥ मनोगुप्तौप्रयत्नेन प्रणिधान कुकर्मदम् । अप्रशस्तं द्रुतं त्याज्यं ग्राह्यं प्रशस्तमंजसा ॥८८॥

(तीन गुप्ति और पांच समितियो का पालन करना अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती है) ॥७६॥ मुनियों को रात्रि में चर्या करने से समस्त व्रतों का नाश हो जाता है, शील का भंग हो जाता है, और सर्वत्र अपवाद या निंदा फैल जाती है ॥८०॥ भिक्षा के लिये रात्रि में जाने से चोर डाकू आदि के द्वारा नाश होने का डर रहता है तथा व्रतादिकों में सर्वत्र महा शंका बनी रहती है ॥८१॥ यही समझ कर चतुर मुनियों को छठे रात्रिभोजन त्याग व्रत की रक्षा करने के लिए हृदय से भी कभी अयोग्य काल में आहार की वांच्छा नहीं करनी चाहिये ॥८२॥ ईर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति आदान निक्षेपण समिति, और उत्सर्ग समिति ये पॉच शुभ समिति कहलाती हैं ॥८३॥ शिष्यों के लिए विस्तार के साथ इनका वर्णन पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। इसलिये अब ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं ॥८४॥ मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं ये तीनों गुप्तियाँ समस्त आस्रवों को रोकने वाली हैं ॥८५॥ यह मन पॉचों इन्द्रियों के विषयों में गमन करता है, समस्त वाह्य पदार्थों के संकल विकल्पों में गमन करता है और समस्त कषायों में गमन करता है। अतएव इस मन को इन सब से रोक कर शीघ्र ही ध्यान अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है ॥८६–८७॥ इस मनोगुप्ति को पालन करने के लिये पाप कर्मों को उत्पन्न करने वाले समस्त अशुभ ध्यानों का त्याग कर देना चाहिये और

इन्द्रियप्रणिधानं च पंचाक्षविषयोद्भवम् । नोइन्द्रियाभिधं चान्यद्प्रशस्तमितिद्विधा ॥ ८६ ॥ शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे सारे मनोहरे । मनोज्ञे वामनोज्ञे च सुखदुःखविधायिनि ॥ ६० ॥ रागद्वेषाक्तमोहाद्यैर्गमनचिन्तनादि यत् । इन्द्रियप्रणिधानंतदप्रशस्तं च पंचधा ॥६१॥ क्रोधेमानेखिलेमायालोभेनर्थाकरेऽशुभे । रागद्वेषादिभावैश्चमनोव्यापार एव य ॥ ६२ ॥ क्रूरोरक्तोथवा निंद्योविश्वासातनिवन्धन' । प्रणिधानाप्रशस्तन्नोइन्द्रियाभिधंमतम् ॥ ६३ ॥ प्रणिधानाप्रशस्तस्यैते भेदा वहवो परे । परद्रव्यममत्वादिजास्त्याज्यागुप्तिधारिभिः ॥ ६४ ॥ व्रतगुप्तिसमित्यादि-शीलानां रक्षणादिषु । दशलक्षणिके धर्मे ध्याने च परमेष्ठिनाम् ॥ ६५ ॥' स्वात्मनः श्रुतपाठार्थे यन्मनःप्रापणं

शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥८८॥ पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाला ध्यान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है और नोइन्द्रिय वा मन से उत्पन्न होने वाला अशुभध्यान नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। इस प्रकार प्रणिधान के दो भेद हैं ॥८६॥ स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय है ये पाँचों विपय मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं तथा सुख देने वाले भी हैं और दुःख देने वाले भी हैं। इन मनोहर और सारभूत दिखने वाले विषयों में राग द्वेष इन्द्रियों की लंपटता और मोहादिक के कारण इन्द्रियों का प्राप्त होना वा इन विषयों में गमन करने के लिये इन्द्रियों की लंपटता होना अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है ॥६०–६१॥ अनेक प्रकार के अनर्थ करने वाले और अशुभ क्रोध मान माया लोभ में रागद्वेषमय परिणामो से मन का व्यापार होना नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। यह नोइन्द्रिय प्रणिधान भी अप्रशस्त है, क्रूर है, निंद्य है, समस्त दुःखों का कारण है और त्याज्य है ॥६२–६३॥ इस अप्रशस्त प्रणिधान के अनेक भेद हैं और वे परद्रव्यों में ममत्व करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुप्ति पालन करने वालों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥६४॥ व्रत गुप्ति और समितियों की रक्षा करने में, शीलों की रक्षा करने में, दशलाक्षणिक धर्म में, परमेष्ठियों के ध्यान में, अपने आत्मा के शुद्ध ध्यान में और शास्त्रों के पठन पाठन में जो मन को लगाता है उसको प्रशस्त मनःप्रणिधान कहते हैं। मन को वश में करने वाले मुनियों को यत्नपूर्वक

सदा । प्रणिधानं प्रशस्तं तत्कार्यं यत्नात्मनोऽन्तकै. ॥ ९६ ॥ निर्विविकल्पं मन. कृत्वानिवेश्यते यथा यथा । परमात्माभिधे तत्त्वे चिदानन्दमये थवा ॥ ९७ ॥ सिद्धार्हद्योगिनां ध्याने पागमामृतसागरे । तत्वरत्नाकरे पूर्णा मनोगुप्तिस्तथा तथा ॥ ९८ ॥ सम्पूर्णा सन्मनोगुप्तिर्यस्यासीद्विमलात्मनः । व्रतगुप्तिसमित्याद्यास्तस्य पूर्णा भवन्त्यहो ॥ ९९ ॥ यतो येन मनोरुद्धं सवेगादिगुणोत्करैः । तेन कर्मास्रवः कृत्स्नोरुद्धः कृतश्चसवर ॥ १०० ॥ तस्मात्कर्मास्रवाभावाज्जायन्तेनिर्मलागुणाः । सर्वव्रतसमित्याद्या. सम्पूर्णाश्च क्षमादयः ॥ १ ॥ विज्ञायेति मनोगुप्तिस्तात्पर्येणसुखाकरा । विधेया सर्वदा दक्षैः समस्तव्रतसिद्धये ॥ २ ॥ वाह्यार्थतोनिरोध्दुंयोऽसमर्थश्चंचल मन । कुतस्तस्यापरे गप्ती कथ शुद्धाव्रतादय. ॥ ३ ॥ यतः कर्मप्रसूतेत्र वचः काय द्वय क्वचित् । सर्वदा चंचलं चित्तं

प्रशस्त मनःप्रणिधान धारण करना चाहिये ॥९५–९६॥ मुनिराज अपने मन के समस्त विकल्पों को हटा कर चिदानंदमय परमात्म तत्त्व में अथवा अरहंत सिद्ध वा आचार्यों के ध्यान में अथवा रत्नों से परिपूर्ण ऐसे आगमरूपी अमृत के समुद्र में अपने मन को जैसे जैसे लगाते हैं वैसे ही वैसे उनकी मनोगुप्ति पूर्णता को प्राप्त होती जाती है ॥९७–९८॥ निर्मल आत्मा को धारण करने वाले जिस मुनि की मनोगुप्ति पूर्ण हो जाती है उन्हीं के महाव्रत गुप्ति समिति आदि सब पूर्ण हुए समझना चाहिये ॥९९॥ जो मुनि संवेग आदि गुणों के समूह से अपने मन को रोक लेते हैं वे अपने समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेते हैं तथा पूर्ण संवर को धारण करते हैं ॥१००॥ आस्रव के रुकने और संवर के होने से व्रत समिति आदि समस्त निर्मल गुण प्रगट हो जाते हैं तथा उत्तम क्षमादिक भी समस्त गण प्रगट हो जाते हैं ॥१०१॥ अतएव चतुर पुरुषों को अपने समस्त व्रतों का पालन करने के लिये पूर्णरूप से सुख देने वाली इस मनोगुप्ति का पालन सर्वदा करते रहना चाहिये ॥२॥ जो मुनि अपने चंचल मन को वाह्य पदार्थों से नहीं रोक सकता उसके अन्यगुप्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं तथा व्रत भी शुद्ध कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं । क्योंकि वचन और काय से तो कभी कभी कर्म आते हैं परन्तु मनुष्यों के चंचल मन से नरक देने वाले घोर कर्म सदा ही आते रहते हैं ॥३–४॥

घोरं श्वभ्रपदं नृणाम् ॥ ४ ॥ अतःकार्यामनोगुप्तिः सर्वसंवरदायनी । निर्जराकारिणी मुक्तिजननीसद्गुणाकरा ॥५॥ मनोगुप्त्याक्षवाक्कायकषायाद्यखिलद्विषाम् । निरोधो जायते तस्मात्प्रशस्तं ध्यानमंजसा ॥ ६ ॥ तेन स्यातां च सम्पूर्णे परेसंवरनिर्जरे । ताभ्यां घातिविधेर्नाशस्ततः प्रादुर्भवेत्सताम् ॥ ७ ॥ केवलज्ञानमात्मोत्थं दिव्यैः सर्वैः गुणैःसमम् । ततो मुक्तिवधूसंगो ह्यनन्तसुखकारक. ॥ ८ ॥ इत्यादि परमं ज्ञात्वातत्फल मोक्षकांक्षिभि । एकात्रैव मनोगुप्तिः कार्या सर्वार्थसिद्धये ॥ ९ ॥ अतुलसुखनिधाना स्वर्गमोक्षैकमाता जिनगणधरसेव्या कृत्स्नकर्मारिहंत्री । व्रतसकलसुवीथी चित्तगुप्तिः सदा तां श्रयतपरमयत्नाद्योगिनोयोगसिध्यै ॥ १० ॥ वार्तालापोत्तरादिभ्योऽशुभेभ्यो

अतएव मुनियों को मनोगुप्ति का पालन सदा करते रहना चाहिये। यह मनोगुप्ति पूर्ण संवर को उत्पन्न करने वाली है निर्जरा की करने वाली है मोक्ष की माता है और श्रेष्ठ गुणों की खानि है ॥५॥ इस मनोगुप्ति से ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन हो जाता है, और कषायादिक समस्त शत्रुओं का निरोध हो जाता है, तथा इन सबका निरोध होने से प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति हो जाती है, प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति होने से पूर्ण संवर और निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से समस्त दिव्य गुणों के साथ साथ सज्जनों को आत्मा से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। तदनंतर केवलज्ञान प्रगट होने से अनंत सुख देने वाला मोक्ष रूप वधू का समागम प्राप्त हो जाता है ॥६—८॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इस प्रकार इस मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझ कर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझ कर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिये ॥९॥ यह मनोगुप्ति अनुपम सुखों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष की माता है, तीर्थंकर और गणधरादिक देव भी इसका पालन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करने वाली है और समस्त व्रतों के आने का मार्ग है अतएव मुनियों को ध्यान की सिद्धि के लिये प्रयत्न पूर्वक इस मनोगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१०॥ मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वचन योग को अशुभ बातचीत

यन्निवर्तनम् । वाचो विधाय सिध्यर्थं स्थापनं क्रियतेन्वहम ॥ ११ ॥ सर्वार्थसाधकेमौनेसिद्धान्ताध्ययनेऽथवा । सा वाग्गुप्तिर्मतासर्वा वचोव्यापारदूरगा ॥ १२ ॥ यथा यथा वचोगुप्तिर्वर्द्धते धीमतां तराम् । तथा तथाखिलाविद्या विकथादिविवर्जनात् ॥ १३ ॥ परिज्ञायेतिवाग्गुप्ति विद्यार्थिभिः श्रुताप्तये । विधेयालंबनं कृत्वा सिद्धान्ताध्ययने न्वहम् ॥ १४ ॥ ज्ञातविश्वागमैर्नित्य कर्तव्यं मौनमजसा । पाठन वा स्वशिष्याणामागमस्यप्रयत्नतः ॥१५॥ कचिद्वात्रविधातव्यं मतां धर्मोपदेशनम् । अनुग्रहाय कारुण्यान्मोक्षमार्गप्रवृत्तये ॥ १६ ॥ एहि गच्छ मुदा तिष्ठ कुरु कार्यमिद द्रुतम् । इत्यादि न वचो वाच्यं प्राणत्यागेपि संयतैः ॥ १७ ॥ अतोत्रा संयतावां ये प्रेषणांकारयन्ति वा । यातायात कुतस्तेषां व्रताद्या. प्राणिघातनात् ॥ १८ ॥ यथा यथात्रवाह्यार्थे ब्रूयते वाक् तथा तथा ।

से तथा अशुभ उत्तर से हटा कर समस्त अर्थ को सिद्ध करने वाले मौन में, अथवा सिद्धांतों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं ॥११–१२॥ बुद्धिमानों की वचनगुप्ति जैसी जैसी बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे विकथाओं का त्याग होता जाता है और समस्त विद्याएं बढ़ती जाती हैं ॥१३॥ यही समझ कर विद्या की इच्छा करने वाले मुनियों को श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने वचनों को प्रतिदिन सिद्धांत के अध्ययन में लगा कर इस वाग्गुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१४॥ समस्त आगम को जानने वाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिये अथवा प्रयत्न पूर्वक अपने शिष्यों को आगम का पाठ पढ़ाना चाहिये । अथवा मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए करुणा बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी कभी धर्मोपदेश देना चाहिये ॥१५–१६॥ मुनियों को प्राणों के त्याग करने का समय आने पर भी "आओ, जाओ, प्रसन्न होकर बैठो, इस काम को शीघ्र करो" इस प्रकार के वचन कभी नहीं बोलने चाहिये । क्योंकि जो मुनि अन्य असंयमी लोगों को बाहर भेजते हैं अथवा उनसे आने जाने का काम लेते हैं उनके कारितजन्य प्राणियों का घात होने से व्रतादिक निर्मल कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥१७–१८॥ "ये लौकिक प्राणी जैसे जैसे वाह्य पदार्थों के लिये बातचीत करते हैं वैसे ही वैसे उनके कर्म बंधते जाते हैं" यह जो लोकोक्ति है

बध्यते कर्म लोकोक्तिरियं सत्या न चान्यथा ॥ १९ ॥ वाचोऽप्यत्रनिरोधं यो विधातुमक्षमोधमः । स मनोऽक्षकषायाणां निग्रहं कुरुते कथम् ॥ २० ॥ विदित्वेति सदाकार्यं मौनं सद्ध्यानदीपकम् । निहत्यसिद्धये निंद्यं वाह्यं वाग्जालमंजसा ॥ २१ ॥ यतोमौनेनदक्षाणांस्वप्नेपि कलहोस्ति न । मौनेनाशु म्रियन्तेहो रागद्वेषादयोरयः ॥ २२ ॥ मौनेनगुणराशिश्च लभ्यते सकलागमम् । मौनेन केवलज्ञानं मौनेनश्रुतमुत्तमम् ॥ २३ ॥ मौनेन ज्ञानिनां नूनं सर्वेषां निर्जयो महान् । परीषहोपसर्गाणां गुणाः सर्वेतिनिर्मलाः ॥ २४ ॥ मौनेन मुक्तिकान्ता स्यासक्तशावृणोति मौनिनम् । स्वभार्येवाचिरादेत्य का कथाहोसुयोषिताम् ॥ २५ ॥ इमान् मौनगुणान् ज्ञात्वा मख्यातीतान् विवेकिभिः । शश्वद्विश्वार्थनिष्पत्त्यै तत्कार्यं च सुखाकरम् ॥ २६ ॥ तथा मौनव्रतायोच्चैर्विधातव्या–

वह सत्य है इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता ॥१९॥ जो नीच मनुष्य वचनों को रोकने में भी असमर्थ हैं वह भला मन इन्द्रियाँ और कषायों का निग्रह कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता ॥२०॥ यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत निंद्य ऐसे अपने वाह्य वाग्जाल को रोक कर श्रेष्ठ ध्यान को प्रगट करने के लिये दीपक के समान ऐसे इस मौनव्रत को सदा धारण करते रहना चाहिये ॥२१॥ इसका भी कारण यह है कि इस मौन को धारण करने से चतुर पुरुषों को स्वप्न में भी कभी कलह नहीं होता तथा इसी मौन व्रत से रागद्वेषादिक शत्रु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥ इसी मौन से समस्त गुणों की राशि प्राप्त होती है, इसी मौन से समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है, इसी मौन से केवलज्ञान प्रगट होता है इसी मौन से उत्तम श्रुतज्ञान प्राप्त होता है ॥२३॥ इसी मौन व्रत से ज्ञानी पुरुष समस्त परीषह और समस्त उपसर्गों का महान् विजय प्राप्त करते हैं और इसी मौनव्रत से समस्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं ॥२४॥ इसी मौन व्रत से मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान बहुत शीघ्र मौनव्रती को स्वीकार करती है फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है ॥२५॥ विवेकी पुरुषों को इस प्रकार मौनव्रत के असंख्यात गुण समझ कर समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए सुख की खानि ऐसा यह मौनव्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥२६॥ इस मौनव्रत को पालन करने के लिये समस्त पापों को नाश करने वाली वाग्गुप्ति

घनाशिनी । वाग्गुप्ति सर्वदा जातु न त्याज्या कार्यकोटिभिः ॥ २७ ॥ शुभगुणमणिखानिं स्वर्गमोक्षादिधात्री दुरिततिमिरहंत्रीमर्गलां पापगेहे । वृषसुखजननीं वाग्गुप्तिमात्मार्थसिध्यै कुरुतनिखिलयत्नान्मौनमाधायनित्यम् ॥२८॥ हस्ताद्यवयवानीश्च स्वेच्छयावृत्तितोबलात् । आहत्य निखिलं देहं विक्रियानिगमूर्जितम् ॥ २६ ॥ कृत्वा यत्स्थाप्यते धीरै व्युत्सर्गे वा दृढासने । निष्पंद्र काष्ठवन्मुक्त्यै सा कायगुप्तिरुत्तमा ॥ ३० ॥ कायगुप्त्यात्र धीराणां सर्वप्राणिदया भवेत् । निष्प्रकंपं परं ध्यान सवरो निर्जरा शिवम् ॥ ३१ ॥ काय चंचलयोगेन म्रियन्तेजन्तुराशयः । तन्मृते व्रतभंगः स्यात्ततो नर्थपरंपरा ॥ ३२ ॥ मत्वेति विक्रियां सर्वां त्यक्त्वा नेत्रमुखादिजाम् । निंद्यांचपलतांरुध्वा शाम्यंचित्रोपम वपु ॥ ३३ ॥ कृत्वामोक्षाय संस्थाप्य कायोत्सर्गासनादिषु । कायगुप्तिर्विधातव्या प्रत्यह ध्यानमा–

का पालन करना चाहिये तथा करोड़ों कार्य होने पर भी इस वाग्गुप्ति का त्याग नहीं करना चाहिये ॥२७॥ यह वचनगुप्ति शुभ गुणरूपी मणियों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष को देने वाली है, पाप रूपी अंधकार को नाश करने वाली है पापरूपी घर को बंद करने के लिए अर्गल वा वेंडा के समान है तथा धर्म और सुख की माता है। अतएव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिये समस्त यत्नों से सदा मौन धारण कर इस वचनगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥२८॥ जो मुनि अपने हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिलाते, और अपने शरीर में कोई विकार उत्पन्न नही होने देते, वे धीर वीर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर को कायोत्सर्ग में वा किसी दृढ़ आसन पर काठ के समान निश्चल स्थापन करते हैं उसको उत्कृष्ट कायगुप्ति कहते हैं ॥२९–३०॥ इस कायगुप्ति को धारण करने से धीर वीर मुनियों के समस्त प्राणियों की दया पल जाती है निश्चल ध्यान की प्राप्ति हो जाती है तथा संवर निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ॥३१॥ शरीरकी चंचलता के निमित्त से बहुत से जीवों की राशि मर जाती है, उनके मरने से व्रतका भंग हो जाता है और व्रत भंग होने से अनेक अनर्थों की परम्परा प्रगट हो जाती है ॥३२॥ यही समझ कर नेत्र वा मुख से होने वाले समस्त विकारों का त्याग कर देना चाहिये, निंद्य चपलता को रोकना चाहिये और चित्र के समान शरीर को अत्यंत शांत और निश्चल रख कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग में वा किसी आसन पर दृढ़ रखना चाहिये। इस प्रकार ध्यान की माता के समान इस कायगुप्ति को प्रतिदिन

तृका ॥ ३४ ॥ सुरशिवगतिवीथी दीपिकां ध्यानसौधे व्रतसकलवराम्बां कर्मवृक्षैकुठारीम् । जिनमुनिगणसेव्यां कायगुप्तिं पवित्रां श्रयतजितकषाया यत्नतोमुक्तिसिध्यै ॥ ३५ ॥ त्रिस्रः सद्गुप्तयोत्रैताविधेयाविधिनासदा । विधिज्ञाः शिवशर्माम्बाः कृत्स्नकर्मान्तकारिकाः ॥ ३६ ॥ बलवद्भिर्यथाविश्वैः शत्रुभिः स्वाश्रमान्नृपः । न नेतुं शक्यतेगुप्तः प्राकारखातिकाभटैः ॥ ३७ ॥ तथामुनि रोगुप्तो मनोवाक्कायगुप्तिभिः । न जातु विक्रियां नेतुं शक्य कर्मारि-संचयैः ॥ ३८ ॥ वर्मितः संगरे यद्वद्भटो वाणैर्न भिद्यते । तथा योगी त्रिगुप्तात्मा रांगाद्यसंयमेषुभिः ॥ ३९ ॥ सार्थंसमितिभिः पंचभिरिमाः गुप्तयः पराः । प्रोक्ता प्रवचनाख्याष्टमातरो हितकारिकाः ॥ ४० ॥ रक्षन्ति मातरो

पालन करना चाहिये ॥३३–३४॥ यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है, ध्यानरूपी राजभवन को दिखलाने के लिये दीपक से समान है, समस्त व्रतों की श्रेष्ठ माता है, कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी है, भगवान जिनेन्द्रदेव और मुनियों के समूह सब इसको पालन करते हैं तथा यह अत्यंत पवित्र है। अतएव कषायों को जीतने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इस कायगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥३५॥ ये तीनों गुप्तियाँ कर्मों को नाश करने वाली हैं मोक्ष के सुख की माता हैं, और समस्त कर्मों को नाश करने वाली हैं अतएव मुनियों को विधि पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥३६॥ जो राजा कोट खाई और योद्धाओं से अत्यंत सुरक्षित है उसको अत्यंत बलवान समस्त शत्रु भी उसके घर से बाहर नहीं ले जा सकते उसी प्रकार जो मुनि मन वचन काय की गुप्तियों से अत्यंत सुरक्षित हैं उनकी आत्मा में कर्मरूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ॥३७–३८॥ जिस प्रकार युद्ध मे कवच पहनने वाला योद्धा वाणों से घायल नही होता उसी प्रकार मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति को धारण करने वाला योगी असयमादिक वाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता ॥३९॥ ये तीनों गुप्तियाँ तथा पाँचों समितियाँ मिल कर आठों प्रवचनमातृका कहलाती हैं। ये आठों ही माता के समान हित करने वाली हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं ॥४०॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को धूलि मिट्टी से बचाती हैं उसी प्रकार ये अष्ट

यद्वन्मलाग्निस्पर्शनात्सुतान् । तथेमामुनिपुत्रांश्चदुष्कर्मास्रवपांशुतः ॥ ४१ ॥ विपत्तेः प्रतिपाल्यास्वाः पोषयन्ति यथात्मजान् । तथैतांश्च यतीन् सर्वैर्हितैः स्वमुक्तिशर्मभि. ॥ ४२ ॥ यथांगजान् जनन्यो न दद्युर्गन्तुं कुविक्रियाम् । तथायमिसुताश्चैताः पालयन्त्य' स्वशत्रुभि' ॥ ४३ ॥ शिव कुर्वन्ति सूनोश्चयद्वदम्वा' निवार्य भोः । दु.खक्लेशाग्नि-कांस्तद्वदेताः साधो' प्रपालिता' ॥ ४४ ॥ इत्यंवागुणसंयोगात्सार्थाख्या वरमातर' । उच्यन्ते श्रीजिनाधीशैः मातृतुल्यामहात्मनाम् ।।४५॥ एपव्रतादिसम्पूर्णश्चारित्राचार ऊर्जितः । त्रयोदशविधोऽद्वौर्विधातव्योतितिनिर्मल. ॥४६॥ सर्वातिचारनिर्मुक्तं चारित्रं शशिनिर्मलम् । ये चरन्ति प्रयत्नेन तेपामोक्षो न्स्यदेहिनाम् ॥ ४७ ॥ अन्ये ये मुन-

---

प्रवचनमातृकाएं मुनियों को कर्मास्रव रूपी धूलि से बचाती हैं ॥४१॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को विपत्ती से बचा कर पालन पोपण करती हैं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को सब तरह का हित कर तथा स्वर्ग मोक्ष के सुख देकर मुनियों का पालन पोपण करतीं हैं ॥४२॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को किसी भी आपत्ति में जाने नहीं देतीं उसी प्रकार, ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं भी अपने मुनिपुत्रों की रागद्वेपादिक समस्त शत्रुओ से रक्षा करती हैं ॥४३॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों के समस्त दुःख और क्लेशों को दूर कर उनका कल्याण करती हैं उसी प्रकार ये गुप्तिसमिति रूप माताएं भी साधुओं की रक्षा करती है दुःख देने वाले रागद्वेप वा कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देतीं ॥४४॥ इस प्रकार इन गुप्ति समितियों में माता के समस्त गुण विद्यमान हैं इसीलिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने अष्ट प्रवचनमातृकाएं ऐसा इनका सार्थक नाम बतलाया है। वास्तव में महात्माओं के लिये ये माता के ही समान हैं॥४५॥ इस प्रकार पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्तियों से परिपूर्ण हूआ चारित्राचार तेरह प्रकार का है इसीलिये चतुर मुनियों को अत्यंत निर्मल और अत्यंत उत्कृष्ट ऐसा यह चारित्राचार अवश्य धारण करना चाहिये ॥४६॥ जो पुरुप समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्र को प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरमशरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥४७॥ और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों

योद्गाश्चारित्राचार भूषिता: । त्रिजगच्छर्म भुक्त्वा ते क्रमाद्यान्तिशिवालयम् ॥ ४८ ॥ जीवितंप्रवरंमन्येदिनैकं व्रतभूषितम् । तद्विना विफलं पुंसां पूर्वं कोट्यादिगोचरम् ॥ ४९ ॥ नमन्ति त्रिजगन्नाथांश्चारित्रालंकृतात्मनाम् । पादपद्मान् मुदामूर्ध्ना प्रत्यहं किंकरा इव ॥ ५० ॥ महाचारित्र भूपाणां प्रतापेन सुरेशिनाम् । आसनानि प्रकम्पन्ते शाम्यन्ति क्रूरजन्तव: ॥ ५१ ॥ धन्य· सएव लोकेस्मिन् सफलं तस्य जीवितम् । कदाचिच्चरणं येन न नीतं मलसन्निधौ ॥ ५२ ॥ चारित्रेण विना येनोत्कृष्टेपि ज्ञानदर्शने । समर्थे न शिवं कर्तुं तत्कथश्लाघ्यते न भो: ॥ ५३ ॥ महाज्ञानदृगाढ्योपि चारित्रशिथिलोयति: । सन्मार्गगमनाशक्तः पङ्गुवद्भाति जातु न ॥ ५४ ॥ वरप्राणपरित्याग: सयतानां शुभप्रदः । शैथिल्य चरणे कर्तुं मनागयोग्यं ननिन्दितम् ॥५५॥ यथात्रैवसुचारित्री

लोकों के सुखों को भोग कर अनुक्रम से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥४८॥ व्रतों से सुशोभित होकर एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु व्रतों के बिना मनुष्यों का करोड़ पूर्व तक जीवित रहना भी निष्फल है ॥४९॥ जिनका आत्मा इस चारित्र से सुशोभित है उन मुनियों के चरण कमलों को तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नता पूर्वक मस्तक नवा कर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं ॥५०॥ जो मुनि इस महा चारित्र से सुशोभित हैं उनके प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा उन्हीं मुनियों के प्रताप से सिंहादिक क्रूर घातक जन्तु भी शांत हो जाते हैं ॥५१॥ जिन मुनियों ने अपने चारित्र को कभी भी मलिन नहीं किया है संसार में वे ही मुनि धन्य हैं और उन्हीं का जीवन सफल है ॥५२॥ इस चारित्र के बिना अत्यंत उत्क्रष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते फिर भला इस ऐसे चारित्र की प्रशंसा क्यों नहीं करनी चाहिये अवश्य करनी चाहिये ॥५३॥ महा ज्ञान और महा सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से शिथिल हो जाय तो वह लंगड़े के समान मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता तथा वह न कभी सुशोभित हो सकता है ॥५४॥ मुनियों को कल्याणकारी प्राण त्याग कर देना अच्छा परन्तु चारित्र में शिथिलता धारण करना किंचित् भी योग्य नहीं है। क्योंकि चारित्र में शिथिलता धारण करना निंदनीय है ॥५५॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ चारित्र को धारण करने वाला योगी इस लोक

वंद्यः पूज्य स्तुतोभवेत् । मान्योविश्वजनैर्योगी तथामुत्रजगत्त्रये ॥ ५६ ॥ चारित्रशिथिलोयद्वन्निंद्योत्रैव पदेपदे । विश्वापमाननीय. स्यात्तथामुत्र च दुर्गतौ ॥ ५७ ॥ मत्वेति धीधनैर्जातु चारित्रं निर्मलं महत् । मलपार्श्वे ननेतव्यं प्राणान्तेपि विमुक्तये ॥ ५८ ॥ एषोनन्तगुणाकरोशुभहरः स्वर्मोक्षशर्माकरः श्रीतीर्थेश्वरभाषितोमुनिगणै. ससेवित. प्रत्यहम् । ससाराम्बुधितारकोतिविमलोविश्वाग्रिमः सर्वं चारित्राचार इहोर्जित प्रतिदिनमेमानसे तिष्ठतु ॥ ५९ ॥ चारित्राचार एषोत्र वर्णितो हि महात्मनाम् । इतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तप आचारमद्भुतम ॥ ६० ॥ स्वेच्छाया अक्षशर्मादौ निरोधो यो विधीयते । तपोर्थिभिस्तपः सिध्यै तदेव प्रवरं तपः ॥ ६१ ॥ वाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां द्विधासत्तपउच्यते । तद्वाह्यं षड्विध सोढाभ्यन्तर च भवान्तकम् ॥ ६२ ॥ यत्तपः प्रकट लोकेऽन्येषां वात्र

में भी समस्त लोगों के द्वारा वंदनीय पूज्य स्तुति करने योग्य और मान्य माना जाता है उसी प्रकार वह परलोक में भी तीनों लोकों में मान्य पूज्य वंदनीय माना जाता है ॥५६॥ जिस प्रकार शिथिल चारित्र को धारण करने वाला मुनि इस लोक में भी पद पद पर निंदनीय माना जाता है तथा सबके द्वारा अपमानित होता है उसी प्रकार परलोक में दुर्गतियों में पड़ कर निंदनीय और अपमानित होता है ॥५७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्राणों के त्याग का समय आने पर भी अपने निर्मल और सर्वोत्कृष्ट चारित्र को कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥५८॥ यह चारित्राचार अनंतगुणों की खानि है, पापों को हरण करने वाला है, स्वर्गमोक्ष के सुख देने वाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है अनेक मुनिगण प्रतिदिन इसका सेवन करते हैं, यह संसाररूपी समुद्र से पार करने वाला है अत्यंत निर्मल है सब में मुख्य है और सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा यह पूर्ण चारित्राचार मेरे मन में विराजमान रहो ॥५९॥ इस प्रकार महात्माओं के इस चारित्राचार का वर्णन किया। अब आगे सर्वोत्कृष्ट तप आचार को कहता हूं ॥६०॥ तपश्चरण करने वाले मुनि अपने तपश्चरण की सिद्धि के लिये जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं ॥६१॥ इस तप के वाह्य आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं उसमें भी वाह्य तप के छह भेद है और संसार को नाश करने वाले अभ्यंतर तप के भी छह भेद है ॥६२॥ जो तप संसार में प्रगट दिखाई

कुदृष्टिभिः । कर्तुं च शक्यते बाह्यं तत्तपः सार्थकं भवेत् ॥ ६३ ॥ आद्यं चानशनं सारमवमौदर्यसंज्ञकः । द्वितीयं सत्तपोवृत्तिपरिसंख्यानमूर्जितम् ॥ ६४ ॥ ततोरसपरित्यागो विविक्तशयनासनम् । कायक्लेशोत्रषोढेति तपो बाह्यं सुखाकरम् ॥६५॥ तत्साकांक्षनिराकांक्ष भेदाभ्यां श्रीजिनाधिपैः । द्विधानशनमाम्नातंसाकांक्षं बहुधाभवेत् ॥६६॥ अन्नपानकसत्स्वाद्यस्वाद्यभेदैश्चतुर्विधः । आहारस्त्यज्यतेमुक्त्यै यत्तापोनशनं हि तत् ॥ ६७ ॥ क्रियते चोपवासस्य धारणेपारणे बुधैः । यदैकभक्तमाप्तैः सः चतुर्थः कथ्यते बुधैः ॥ ६८ ॥ चतुर्भोजनसंत्यागाच्चतुर्थः सार्थकोमहान् । षड्वेलाशनसत्यागात् षष्ठो द्विप्रोपधात्मकः ॥६९॥ अष्टवेलाशनत्यागादष्टमस्त्रिचतुर्थजः । दशभोजनसंत्यागाद्दशमः कर्मनाशकः ॥७०॥ द्विषड्वेलाशनत्यागात्प्रोक्तो द्वादशमो जिनैः । इत्याद्या प्रोषधाज्ञेया साकांक्षानशनस्य च ॥७१॥

देता है अथवा अन्य मिथ्यादृष्टी भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नाम को धारण करने वाला बाह्य तप कहलाता है ॥६३॥ अनशन अवमोदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान रसपरित्याग विविक्त शय्यासन और काय क्लेश इस प्रकार सुख देने वाला बाह्य तप छह प्रकार है ॥६४–६५॥ उसमें भी भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनशन तप के दो भेद बतलाये हैं एक साकांक्ष और दूसरा निराकांक्ष । इनमें से साकांक्ष तप के भी अनेक भेद बतलाये हैं ॥६६॥ मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो अन्न पान स्वाद्य खाद्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं ॥६७॥ जिस उपवास में धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाता है उसको भगवान सर्वज्ञदेव चतुर्थ नाम से कहते हैं ॥६८॥ इस उपवास में चार समय के भोजन का त्याग किया जाता है इसलिये यह चतुर्थ नाम का महा उपवास सार्थक नाम को धारण करने वाला है। यदि छह समय के आहार का त्याग कर धारणा पारणा के दिन एकाशन कर मध्य में जो उपवास किये जाँय तो उसको षष्ठ नाम का उपवास कहते हैं ॥६९॥ जिसमें आठ समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में तीन उपवास किये जाँय उसको अष्टम उपवास कहते हैं। तथा जिस उपवास में दश समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य मे चार उपवास किए जाँय उसको कर्मों का नाश करने वाला दशम उपवास कहते हैं ॥७०॥ जिस उपवास मे बारह समय के

पक्षमासोपवासादि षण्मासान्तं तपोऽनघम् । क्रियते यन्महाधीरैः सर्वं साकांक्षमेवतत् ॥ ७२ ॥ कनकैकावली सिंहनि.ष्क्रीडितादयोखिला. । भद्र त्रैलोक्यसाराद्याः साकांक्षेन्तर्भवामता: ॥ ७३ ॥ मरण भक्तप्रत्याख्यानमिंगिनी– समाह्वयम् । प्रायोपगमनंहीत्याद्यान्यानि मरणानि च ॥ ७४ ॥ यानि तानि समस्तानि यावज्जीवाश्रितान्यपि । निराकांक्षोपवासस्य वहुभेदानि विद्धि भो ॥७५॥ उपवासाग्निनापुंसां कायः सतप्यतेतराम् । दह्यन्ते सकलाक्षाणि कर्मेन्धनान्यनन्तशः ॥ ७६ ॥ ढौकते त्रिजगल्लक्ष्मीर्नाक श्रीश्चसुशर्मदा । मुक्तिस्त्री सन्मुख पश्येदुपवासफलात्स– ताम् ॥ ७७ ॥ इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं शक्त्या शिवाप्तये । वहूपवासभेदांश्च प्रकुर्वन्तु तपोधना ॥ ७८ ॥ सहस्र

आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य मे पाँच उपवास किये जाँय तथा धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाय उसको द्वादशम उपवास कहते हैं। इस प्रकार के जो प्रोषधोपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशन के भेद हैं॥७१॥ इसी प्रकार महाधीर वीर पुरुष जो एक पक्ष का वा एक मास का उपवास करते हैं वा छह महीने तक का उपवास करते हैं तथा इस प्रकार जो पाप रहित तपश्चरण करते हैं उस सबको आकांक्ष अनशन कहते हैं ॥७२॥ इसी प्रकार कनकावली एकावली सिंह निष्क्रीडित आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वा भद्र त्रैलोक्यसार आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशन में ही अंतर्भूत होते हैं ॥७३॥ भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनसंन्यास मरण इस प्रकार के जितने सन्यासमरण हैं उनमें जो जीवन पर्यंत आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं। उस निराकांक्ष उपवास के भी इस प्रकार के मरण के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं ॥७४–७५॥ इस उपवास रूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यंत संतप्त हो जाता है और फिर उससे समस्त इन्द्रियाँ और अनंत कर्मरूपी ईंधन सब जल जाता है ॥७६॥ इस उपवास के फल से सज्जनों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, और श्रेष्ठ कल्याण करने वाली मुक्तिस्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है ॥७७॥ इस प्रकार इस उपवास का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक भेद रूप उपवासों को सदा करते रहना चाहिये ॥७८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मनुष्यों के लिए

तंदुलैरेकः कवलोत्रोदितो नृणाम् । द्वात्रिंशत्कवलैः पूर्ण आहारश्चागमेजिनैः ॥ ७६ ॥ एकेन कवलेनैवोनाहारो येत्रभुज्यते । तपोर्थं हि जघन्यं तदवमौदर्यसत्तप' ॥८०॥ अत्रैकग्रासमात्रो य आहारोगृह्यते चिदे । तपस्विभिस्तपोर्थं तदवमौदर्यमुत्तमम् ॥८१॥ जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येत्रातृप्ति भोजनं हि यत् । बहुधातपसे तच्चावमौदर्यसुमध्यमम् ॥८२॥ अनेन तपसा नृणां निद्राजयः स्थिराशनम् । ग्लानिहानि. श्रुतं ध्यानं स्याच्चाभुक्तिश्रमात्ययः ॥ ८३ ॥ इत्यादींस्तद्गुणान् ज्ञात्वावमौदर्यं तपोनघम् । ग्रासादिहापनैर्दक्षाः कुर्वन्तु ध्यान सिद्धये ॥ ८४ ॥ चतुःपथाध्ववीथ्येकगृहाद्रिपाटकैः परै. । नानावग्रहसंकल्पैर्दातृभोजन भाजनैः ॥८५॥ दुष्प्राप्याहारसंप्राप्त्यै या प्रतिज्ञात्रगृह्यते ।

एक हजार चावलों का एक ग्रास बतलाया है, तथा जिनागम में बत्तीस ग्रासों का पूर्ण आहार बतलाया है । जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिये एक ग्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमोदर्य नाम का श्रेष्ठ तप कहते हैं ॥७६–८०॥ जो तपस्वी अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए वा आत्मा को शुद्ध करने के लिए केवल एक ही आहार का ग्रास लेते हैं वह उत्तम अवमोदर्य तप कहलाता है ॥८१॥ एक ग्रास से अधिक और इकत्तीस ग्रास से कम ग्रासों का आहार लेना मध्यम अवमोदर्य है । यह अवमोदर्य तपश्चरण के ही लिये किया है और इसमें उतना ही आहार लिया जाता है जिसमें पूरी तृप्ति न हो ॥८२॥ इस तपश्चरण से मनुष्यों का निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है ध्यान की वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता ॥८३॥ इस प्रकार इस तपश्चरण के गुणों को जानकर चतुर पुरुषों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिये अपने ग्रासों की संख्या घटा कर अवमोदर्य नाम के निर्दोप तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये ॥८४॥ मैं चौराये पर आहार मिलेगा तो लूंगा इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो आहार लूंगा एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूंगा अथवा दाता ऐसा होगा उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं । इस प्रकार कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पडगाहन

तर्द्वृत्तिपरिसंख्यानं वहुभेदं तपोमहत् ॥ ८६ ॥ तपसानेन जायेत धीरत्वंयोगिनां परम् । आशान्तरायकर्माणिप्रण श्यन्ति च लौल्यता. ॥ ८७ ॥ इत्याद्यस्य फलं मत्वादुर्लभाहारसिद्धये । चतुःपथादिभिर्धीराः प्रतिज्ञामाचरन्तु भो' ॥ ८८ ॥ दधिदुग्धगुडानां च रसानां तैलसर्पिषो. । लवणस्य कषायाम्लमधुराणांजितेन्द्रियैः ॥ ८६ । तिक्तस्य कटुकस्यापि त्यागो यः क्रियतेजिनैः । उक्तंरसपरित्यागं तत्तापोत्तमदान्तवम् ॥ ६० ॥ मद्यमांसमधुन्येवनवनीतमिमाः सदा । निंद्या विकृतयस्त्याज्याश्चतस्र. पापखानय. ॥ ६१ ॥ सउष्णेकाजिके शुद्धमाप्लाव्यभुज्यतेशनम् । जितेन्द्रियैस्तपोर्थं यदाचाम्लउच्यतेत्रसः ॥ ६२ ॥ आहारो भुज्यते दुग्धादिकपचरसातिग । दमनायाक्षशत्रूणां य सा निर्विकृतिर्मता ॥ ६३ ॥ आचाम्लनिर्विकृत्याख्ये तपसे तेनघे न्वहम । पचाक्षारातिघाताय कर्तव्येविधिव-

होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है यह तप सर्वोत्कृष्ट है और इसके अनेक भेद हैं ॥८५—८६॥ इस तपश्चरण से योगियों में धीरवीरता उत्पन्न होती है, आशा और अंतराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती है ॥८७॥ इस प्रकार इस तप के फल को समझ कर धीर वीर पुरुषों को कठिनता से आहार प्राप्त करने के लिये ऊपर कहे अनुसार चौराये आदि पर आहार लेने की प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिये ॥८८॥ इन्द्रियों को जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तेल, घी, लवण, कषायला, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको इन्द्रिय और मद को नाश करने वाला रसपरित्याग नाम का तप भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥८६—६०॥ मद्य मॉस मधु और नवनीत ये चारों ही पदार्थ निंद्य हैं विकार उत्पन्न करने वाले हैं और पाप की खानि हैं। इसलिये इन चारों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥६१॥ जितेन्द्रिय पुरुष अपना तपश्चरण बढ़ाने वाले जो गर्म कांजी में (भात के मॉड़ में) शुद्ध आहार मिला कर आहार लेते हैं उसको आचाम्ल कहते हैं ॥६२॥ मुनिराज अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को दमन करने के लिये दूध दही आदि पाँचों रसों से रहित नीरस आहार लेते हैं उसको निर्विकृत कहते हैं ॥६३॥ बुद्धिमान मुनियों को अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए और पाँचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए विधि पूर्वक पापरहित ऐसे आचाम्ल और निर्विकृत नाम का

द्धुधैः ॥ ६४ ॥ रसत्यागतपोभिश्चद्धुर्गन्तेर्न्द्रियनिर्जयः । रसर्ध्यादिमहर्द्धीयँ जायते च शिवं सताम् ॥ ६५ ॥ विदित्वेति फलं चास्य महत्कुर्वन्तु संयताः । एक ह्यादिरम त्यागैरसत्यागतप सदा ॥ ६६ ॥ नारीदेवीपशुक्लीवगृहस्थादि-विवर्जिते । शून्यागारेश्मशानेवा प्रदेशे निर्जनेवने ॥ ६७ ॥ विधीयतेगुहादौ वा यत्सदाशयनासनम् । ध्यानाध्ययनसिध्यैतद्विविक्तशयनासनम् ॥ ६८ ॥ ध्यानाध्ययननिर्विघ्नारागद्वेपादिहानयः । लभ्यन्तेतपसानेनसाम्यताद्या महागुणा ॥ ६६॥ मत्वेतीदं तपः कार्यं ध्यानादिसिद्धये न्वहम् । सरागस्थानकांस्त्यक्त्वा स्थित्वाशून्यगृहादिषु ॥२००॥ कायोत्सर्गैकपार्श्वादिशय्यावज्रासनादिभिः । आतपनादियोगैश्च त्रिकालगोचरैः परैः ॥ १ ॥ तपोवुध्या मनः शुध्या

आहार प्रतिदित लेना चाहिये ॥६४॥ इस रसपरित्याग नाम के तप से प्रवल इन्द्रियों का विजय होता है रस ऋद्धि आदि महा शक्तियाँ प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६५॥ इस प्रकार इस तप का फल समझ कर मुनियों को एक दो आदि रसों का त्याग कर इस रसपरित्याग तप को सदा धारण करते करना चाहिये ॥६६॥ मुनिराज अपने ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिए स्त्री देवी पशु नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहाँ निवास न करते हो ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसको विविक्तशय्यासन नाम का तप कहते हैं ॥६७–६८॥ इस तपश्चरण से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा रागद्वेप आदि कपायों का सर्वथा नाश हो जाता है। इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महा गुण प्रगट हो जाते हैं ॥६६॥ यही समझ कर ध्यान अध्ययन आदि की सिद्धि के लिये मुनियों को राग उत्पन्न करने वाले स्थानों का त्याग कर और निर्जन एकांत स्थान में निवास कर प्रतिदिन इस तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये ॥२००॥ मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिये तपश्चरण बढ़ाने के लिये मन की शुद्धता के साथ साथ कायोत्सर्ग धारण कर, एक कर्वट से सोकर वज्रासन आदि कठिन आसन लगा कर, वा वर्षा ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होने वाले उत्कृष्ट अतापनादिक कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट

कायक्लेशोविधीयते । यः कायशर्महान्यै तत्कायक्लेशतपोमहत् ॥ २ ॥ वलर्ध्यांद्यामहर्द्धीश्च सुख त्रैलोक्यसम्भवम् । कामेन्द्रियजयादीनिलभन्तेस्यफलाद्विद. ॥ ३ ॥ विज्ञायेति सदा कार्यः कायक्लेशोगुणाकरः । निजशक्त्यनुसारेण विद्वद्भिः शिवशर्मणे ॥ ४ ॥ येन नोत्पद्यते पुंसा सक्लेशो मनसोशुभ. । वर्तते तपसाश्रद्धादुर्ध्यानादिपरिक्षय. ॥ ५ ॥ न हीयन्ते महायोगा वर्द्धन्ते प्रवरागुणा । अभ्यन्तरतपास्यत्रतद्वाह्यं परम तपः ॥ ६ ॥ अभ्यन्तरतपोवृध्यर्थं वाह्यं निखिल तपः । कीर्तितंवीतरागेणध्यानाध्ययनकारणम् ॥ ७ ॥ मत्वेत्यन्तस्तपो वृध्यैतपोवाह्यं तपोधनाः । सर्वशक्त्याप्रकुर्वन्तु कर्महान्यै शिवाय च ॥ ८ ॥ इतिवाह्यं तपः सम्यग्व्याख्याय श्रीजिनागमात् । इत ऊर्ध्वं सतां सिध्यै वक्ष्याम्यभ्यन्तरं तप ॥ ९ ॥ व्यक्तं यन्नापरेषां वा तपः कर्तुं न शक्यते । मिथ्यादृग्भिः

कायक्लेश नाम का तप कहते हैं ॥१–२॥ इस तपश्चरण के फल से विद्वानों को वल ऋद्धि आदि अनेक महा ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला सुख प्राप्त होता है और कामेन्द्रिय का विजय होता है ॥३॥ यही समझ कर विद्वानों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक गुणों की खानि ऐसा यह कायक्लेश नाम का तप अवश्य धारण करना चाहिये ॥४॥ जिस तपश्चरण से मनुष्यों के मन में अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरण में श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्मशुक्ल ध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो श्रेष्ठ गुण वढ़ते जाँय और अभ्यंतर तपश्चरण भी जिससे बढ़ते जाँय उसको वाह्य परम तपश्चरण कहते हैं ॥५–६॥ भगवान सर्वज्ञदेव ने अभ्यंतर तप को बढ़ाने के लिए ही ध्यान और अध्ययन का कारण ऐसा यह अनेक प्रकार का वाह्य तपश्चरण बतलाया है ॥७॥ यही समझ कर तपस्वी लोगों को अपने अंतरंग तप की वृद्धि के लिये, कर्मों को नाश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा कर इस वाह्य तपश्चरण को पालन करना चाहिये ॥८॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार वाह्यतप का निरूपण अच्छी तरह से किया । अब आगे सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अभ्यंतर तप का निरूपण करते हैं ॥९॥ जो तप दूसरों के द्वारा प्रगट दिखाई न दे, तथा मिथ्यादृष्टी

शठैस्तच्चाभ्यन्तरं प्रवरं तपः ॥ १० ॥ प्रायश्चित्तं च दोषघ्नं विनयं सद्गुणाकरम् । वयावृत्यं तपः सारं स्वाध्यायो धर्मसागरः ॥११॥ कायोत्सर्गं शुभध्यानमित्यन्तः शुद्धिकारणम् । अभ्यन्तरं तपः षोढास्यादन्तः शत्रुघातकम् ॥१२॥ कृतदोषो मुनिर्येनविशुध्यतितरां व्रतैः । सम्पूर्णं दशभेदंतत्प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ॥ १३ ॥ आलोचनं च दोषघ्नं प्रतिक्रमणमूर्जितम् । ततस्तदुभयं सारं विवेको गुणसागरः ॥ १४ ॥ कायोत्सर्गस्तपश्छेदो मूलं दोषक्षयंकरम् । परिहारश्चश्रद्धानं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ॥ १५ ॥ प्रायश्चित्तादिसिद्धान्तविदः सूरेः रहस्यपि । पंचाचाररतस्यान्ते त्यक्त्वामायां निवेदनम् ॥ १६ ॥ यद्विशुध्यै व्रतादीनांयोगैः कृतादिकर्मभिः । कृतातीचारकृत्स्नानां तदालोचन-मुच्यते ॥ १७ ॥ आकपिताख्यो दोषोऽनुमानितोदृष्टसंज्ञक । वादरः सूक्ष्मदोषश्चच्छन्नः शब्दाकुलिताह्वयः ॥ १८ ॥

अज्ञानी जिस तप को धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यंतर तप कहते हैं ॥१०॥ समस्त दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त, श्रेष्ठ गुणों की खानि ऐसा विनय, तपश्चरण का सारभूततप वैयावृत्ति, धर्म का सागर स्वाध्याय, तथा कायोत्सर्ग और अंतरंग को शुद्ध करने वाला शुभध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तप है यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अंतरंग शत्रुओं को नाश करने वाला है ॥११–१२॥ जिस ध्यान से मुनियों के व्रतों में लगे हुये दोष शुद्ध हो जाँय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं इस प्रायश्चित्त के दश भेद हैं और यह समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाला है ॥१३॥ दोषों को नाश करने वाली आलोचना, १ उत्कृष्ट प्रतिक्रमण २ सारभूत तदुभय ३ गुणों का सागर ऐसा विवेक ४ कायोत्सर्ग ५ तप ६ छेद ७ दोषों को क्षय करने वाला मूल ८ परिहार ६ और श्रद्धान १० यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त कहलाता है ॥१४–१५॥ जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धांतशास्त्रों के जानकार हैं और जो पंचाचार पालन करने में लीन हैं उनके समीप एकांत में बैठ कर अपने व्रत तप आदि की शुद्धि के लिये बिना किसी छलकपट के मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से किए हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचन कहलाता है ॥१६–१७॥ इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, वहुजन अव्यक्त, तत्सेवित, ये दश दोष हैं। मुनियों

दोषो बहुजनो व्यक्तस्तत्सेवितसमाह्वय । दशदोषा अमीत्याज्या आलोचनस्य संयतैः ॥ १९ ॥ रम्योपकरणे दत्ते ज्ञानादौसति चापरे । तुष्ट सूरिर्ममप्रायश्चित्तंस्तोकं हि दास्यति ॥ २० ॥ मत्वेतिप्राक्प्रदायोच्चै ज्ञानोपकरणादिकम् । सूरेरालोचनं यत्सदोप आकपिताह्वयः ॥ २१ ॥ पित्ताधिक. प्रकृत्याहं दुर्बलोग्लान एव च । नालं कर्तुं समर्थोऽस्म्युपवासादिकमुल्बणम् ॥ २२ ॥ यदि मे दीयतेस्वल्पप्रायश्चित्तं ततः स्फुटम् । करिष्येस्वस्यदोषाणां सर्वेषां च निवेदनम् ॥ २३ ॥ नान्यथेतिवचोत्रोक्त्वा क्रियते सूरिसन्निधौ । शिष्यैरालोचन्न यत्स दोषोनुमानिताभिध ॥२४॥ अन्यैरदृष्ट दोषाणां कृत्वोपगूहनं च यत् । कथन दृष्टदोषाणां दृष्टदोषः स उच्यते ॥२५॥ आलस्यवप्रमादाद्वाह्य ज्ञानाद्वालसंयतैः । अल्पापराधराशीनां निवेदनादृते भुवि ॥२६॥ आचार्यनिकटेयच्चस्थूलदोषनिवेदनम् । विधीयते स दोपश्चतुर्थो वादरसञ्ज्ञकः ॥ २७ ॥ अयशो दुष्करप्रायश्चित्तादिभयतोथवा । अयं सूक्ष्मातिचाराणां परिहारक

को इन दश दोषों से रहित आलोचना करनी चाहिये ॥१८—१९॥ यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाय तो आचार्य संतुष्ट हो जाँयगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे। यही समझ कर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादिक देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नाम का दोष कहते हैं ॥२०—२१॥ मेरे शरीर मे पित्त प्राकृतिका अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूं, अथवा मैं रोगी हूँ इसलिये मैं अधिक वा तीव्र उपवासादिक नहीं कर सकता। यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं अपने समस्त दोषो का निवेदन प्रगट रीति से कर दूंगा अन्यथा नहीं इस प्रकार कह कर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं ॥२२—२४॥ जो शिष्य दूसरों के द्वारा विना देखे हुये दोषों को तो छिपा लेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर देता है उसके आलोचना का दृष्ट नाम का दोप लगता है ॥२५॥ जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस प्रमाद वा अज्ञान से छोटे छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किंतु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को निवेदन करता है उसको चौथा वादर नाम का दोप कहते हैं ॥२६—२७॥ जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डर से, अथवा "देखो इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म

ऊर्जितः ॥ २८ ॥ अहोमतेतियन्मूढैः स्वगुणस्थापनेच्छया । स्थूलदोषशतादीनां कृत्वासंवरणंमहत् ॥ २९ ॥ सूरेर्महाव्रतादीनां स्वल्पदोषनिवेदनम् । मायया क्रियते यस्स दोषः सूक्ष्माभिधानकः ॥ ३० ॥ ईदृशेसत्यतीचारे प्रायश्चित्तं हि कीदृशम् । इत्युपायेनपृष्ट्वा स्वगुरुं सुश्रूषया ततः ॥ ३१ ॥ स्वदोषहानयेशिष्यैः प्रायश्चित्तंविधीयते । यदकीर्तिभयाल्लोके छन्नदोषः स दोषदः ॥ ३२ ॥ पाक्षिके दिवसे चातुर्मासिके शुभकर्मणि । वा सांवत्सरिके तीव्र समवाये महात्मनाम् ॥ ३३ ॥ स्वस्वालोचन संजाते बहुशब्दाकुलेमति । यद्दोष कथनं दोषः शब्दाकुलित एव स ॥ ३४ ॥ गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तिमिदं नवा । प्रायश्चित्तादिसद्ग्रंथे हीतिशंका विधाय यत् ॥ ३५ ॥ निकटे परसूरीणां प्रश्नो विधीयते बुधैः । दत्तदण्डस्य निगः स दोषो बहुजनाख्यकः ॥ ३६ ॥ स्वसमानयतेरन्ते

दोषों को भी अच्छी तरह प्रगट कर देता है" इस प्रकार के अपने गुणों के प्रगट होने की इच्छा से सैकड़ों बड़े बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्य के सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषों को निवेदन कर देता है उसको पाँचवाँ सूक्ष्म नाम का दोष कहते हैं ॥२८—३०॥ जो शिष्य लोक में फैलने वाली अपनी अपकीर्ति के भय से अपने दोषों को दूर करने के लिए सुश्रूषा कर के गुरु से पूछता है कि हे स्वामिन् "इस प्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिये" इस प्रकार किसी भी उपाय से पूछ कर वह जो प्रायश्चित्त लेता है वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छन्न नाम का दोष कहलाता है ॥३१—३२॥ जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा दैवसिक वा चातुर्मासिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ काम के लिये महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिल कर अपनी अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊंचे स्वर से निकल रहे हों उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं ॥३३—३४॥ आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रन्थों के अनुसार ठीक है वा नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेने वाले के बहुजन नाम का दोष लगता है ॥३५—३६॥ जो

यद्दोपालोचनं महत् । जिनागमानभिज्ञस्य दोषोऽस्याव्यक्तसञ्ज्ञकः ॥ ३७ ॥ समानोस्यापराधेन मेति चारो व्रतस्य वै । अस्मै यद्गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तदेव हि ॥ ३८ ॥ ममाप्याचरितुं युक्तं मत्वेत्यालोचनां विना । तपोभिः शोधनं यत्स दोषस्तत्सेविताभिधः ॥ ३९ ॥ अमीषां केनचिद्दोषेणान्वितालोचनं कृतम् । मायाविनां सशल्यानां मनाक्शुद्धिकरं न हि ॥ ४० ॥ दशदोषानिमांस्त्यक्त्वा बालकैरिवसंयतैः । स्वदोपकथनं यत्क्रियते शुद्धिकरं हि तत् ॥ ४१ ॥ महत्तपोव्रतंसर्वं ह्यनालोचनपूर्वकम् । न स्वकार्यकरं जातु मलिनादर्शवद्भुवि ॥ ४२ ॥ विदित्वेतिचिरं चित्ते व्यवस्थाप्यस्वदूषणम् । प्रकाशनीयमत्यर्थं गुरोरन्तेशुभाशयैः ॥ ४३ ॥ सूरेरेकाकिनः पार्श्वे स्वदोषाणां

मुनि जिनागम को न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े बड़े दोषों की आलोचना करता है आचार्य से आलोचना नहीं करता उसके अव्यक्त नाम का दोष लगता है ॥३७॥ जो मुनि यह समझ कर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतों में अतिचार लगा है इसलिये आचार्य महाराज ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे लेलेना चाहिये । यही समझ कर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतों को शुद्ध करता है उसके तत्सेवित नाम का दोष लगता है ॥३८—३९॥ जो मायाचारी शल्यसहित मुनि इन दश दोषों में से किसी भी दोष के साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ीसी भी नहीं होती ॥४०॥ जो मुनि इन दश दोषों को छोड़ कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महा तपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते, अर्थात् उनसे कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती ॥४२॥ यही समझ कर अपने हृदय में अपने दोषों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और फिर अपने शुद्ध हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रगट कर देना चाहिये ॥४३॥ जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हो

प्रकाशनम् । अद्वितीयस्यशिष्यस्यैकान्तेप्युक्तं न,,,चान्यथा ॥ ४४ ॥ प्रकाशे दिवसेसूरेरन्ते स्वालोचनादिकम् । आर्यिकायाः सतामिष्टं तृतीये सज्जनेसति ॥ ४५ ॥ कृतालोचनदोषो यो न तद्दोषापहं तपः । कुर्यात्तस्य न जायेत मनाक्शुद्धिः प्रमादिनः ॥ ४६ ॥ विज्ञायेति द्रुतं कार्यं-प्रायश्चित्तं मलापहम् । न चास्याचरणेकिंचिद्विधेयं काल-लंघनम् ॥ ४७ ॥ दिनादिजव्रतातीचाराणां निंदनगर्हणैः । विशोधनत्रिशुध्या यत्प्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ४८ ॥ कश्चिद्दोषोव्रतादीनां नश्यत्यालोचनाद्द्रुतम् । दुःस्वप्नादिजकर्मा यः सत्प्रक्रमणेन च ॥ ४९ ॥ मत्वेत्यालोचनापूर्वं प्रतिक्रमणमंजसा । पाक्षिकादौगिरा यत्क्रियते तदुभयं हि तत् ॥ ५० ॥ द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषतः । निर्वर्तनं हृद्यात् सविवेको य 'नेकधाथवा ॥ ५१ ॥ प्रत्याख्यानस्य वस्तोर्ग्रहणेविस्मरणात्मति । स्मृत्वा पुनश्च तत्त्यागो यो विवेकः स कथ्यते ॥ ५२ ॥ दुश्चिन्तनार्त्त दुःस्वप्नदुर्ध्यानाद्यैर्मल प्रदै. । मार्गव्रजननद्याद्यु त्त-

उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपन दोप कहने चाहिये किसी के सामने अपने दोप नहीं कहने चाहिये ॥४४॥ अर्जिकाएं दिन में ही प्रकाश में ही किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोपों की आलोचना करती हैं ऐसा सज्जन लोग कहते हैं ॥४५॥ जो मुनि दोपों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोप को दूर करने वाले तपश्चरण को नहीं करता उस प्रमादी के दोपों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती ॥४६॥ यही समझ कर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोपों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त लेना चाहिये। प्रायश्चित्त के लेने में थोड़ीसी भी देर नहीं करनी चाहिये ॥४७॥ दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक निंदा गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४८॥ व्रतादिकों के कितने ही दोप आलोचना से नष्ट होते हैं और दुःस्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोप प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझ कर पाक्षिक चातुर्मासिक वार्षिक दोपों को दूर करने के लिये वचनपूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं ॥४९–५०॥ द्रव्य क्षेत्र अन्न पान उपकरण आदि के दोपों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है। यह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा भूल से त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मरण हो आने पर फिर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं ॥५१–५२॥ अशुभ चिंतवन, आर्तध्यान, दुःस्वप्न, दुर्ध्यान

रणैरपरेहशैः ॥५३॥ जातातीचारशुध्यर्थमालंव्यध्यानमुत्तमम् । कायस्य त्यजनं युक्त्यायत्स व्युत्सर्ग ऊर्जितः ॥५४॥ व्रतातीचारनाशायोपवासाचाम्लयोर्मुदा । तथा निर्विकृतेरेकस्थानादेः करणं तपः ॥ ५५ ॥ भयोन्मादप्रमादानव-बोधाशक्तिकारणैः । अन्यैर्विस्मरणाद्यैश्च जातातीचारहानये ॥ ५६ ॥ व्रतादीनां प्रदातव्यं पूर्वोक्तं षड्विधं यते । प्रायश्चित्तंयथायोग्यंशक्तस्येहे तरस्य च ॥ ५७ ॥ चिर प्रव्रजितस्यैव शूरस्य गर्वितस्य वा । कृतदोषस्य मासादि-विभागेन च योगिनः ॥ ५८ ॥ छित्वा प्रव्रजन तद्दीक्षया लघुमहात्मनाम् । अधोभागे किलावस्थापनं यच्छेद एव सः ॥ ५९ ॥ पार्श्वस्थादिकपंचानां महादोषकृतां पुनः । अब्रह्मसेविनां दीक्षादानं मूलमिहोच्यते ॥ ६० ॥

आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्र करने के लिए अथवा मार्ग में चलना नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम ध्यान को धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५३–५४॥ व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिये उपवास करना आचाम्ल करना निर्विकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि तप कहलाता है ॥५५॥ यदि किसी भयसे, उन्मादसे, प्रमादसे, अज्ञानतासे वा असमर्थतासे, अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतों में अतिचार लगे हों तो उनको दूर करने के लिये समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिये ॥५६–५७॥ यदि कोई मुनि चिरकाल का दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने व्रतों में दोष लगावे तो उसको एक महीना दो महीना एक वर्ष दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी (उसके बाद दीक्षित हुए मुनियों से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त कहलाता है ॥५८–५९॥ जो महा दोष उत्पन्न करने वाले पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि हैं अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है ॥६०॥ परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक अनुपस्थान और दूसरा

परिहारोनुस्थापनपारंचिक प्रभेदतः । द्विविधः प्रोदितो आदि त्रिक संहननस्य वै ॥ ६१ ॥ स्वस्यापरस्थभेदाभ्यां गणस्य श्रीगणाधिपैः । अनुपस्थापनं द्वेधा कीर्तितं श्रीजिनागमे ॥६२॥ अन्यसंयतसम्बन्धिनं यतिं चार्यिकांशुभम् । छात्रं बाल गृहस्थं वा परस्त्री चेतनेतरम् ॥ ६३ ॥ द्रव्यंपार्षंडिनां वा योऽपहरे च्चौर्य कर्मणा । मुनीन्हन्ति तथेत्यादि विरुद्धाचरणं चरेत् ॥ ६४ ॥ नवानां वा दशानां वा पूर्वाणां धारकोमहान् । चिरप्रव्रजितः शूरोजिता-शेषपरीषहः ॥ ६५ ॥ दृढधर्मी च तस्यैव प्रायश्चित्तं जिनैर्मतम् । अनुपस्थापनं स्वस्यगणाख्यं नापरस्य वै ॥ ६६ ॥ तेन शिष्याश्रमाद्द्वात्रिंशद्दण्डान्तरभूतलम् । विहरेत वदन्ते नित्यं दीक्षया लघुसयतान् ॥ ६७ ॥ लभते नहि तेभ्यः प्रतिवन्दनांसहाखिलम् । गुरूणां लोचनं कुर्यान्मौनं सार्द्धं च योगिभिः ॥ ६८ ॥ धृत्वापरान्मुखांपिच्छिकां चरेत्पारणं

पारंचिक । यही परिहार नाम का प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है ॥६१॥ भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम में अनुस्थापन के भी दो भेद कहे हैं एक तो अपने ही संघ में अपने ही आचार्य से परिहार नाम का प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना ॥६२॥ जो मुनि चोरी कर के अन्य मुनि के साथ रहने वाले किसी मुनि को, अच्छी अर्जिका को, विद्यार्थी को बालक को गृहस्थ को वा परस्त्री को अ।वा द्रव्य पाखंडियों के अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण करले अथवा किसी मुनि को मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा दश पूर्वका धारी हो उत्कृष्ट हो चिरकाल का दीक्षित हो, शूर हो समस्त परीषहों को जीतने वाला हो और दृढ धर्मी हो ऐसे मुनि को भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने ही गण का अनुस्थापन प्रायश्चित्त बतलाया है उसके लिये परगण संबंधी अनुस्थापन अनु-पस्थान प्रायश्चित्त नहीं बतलाया ॥६३–६६॥ इस स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को धारण करने वाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दंड दूर रहता है, जो अन्य मुनि दीक्षा से छोटे हैं उनको भी वंदना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रतिवंदना नहीं करते । वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियों के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों की आलोचना करता

सदा । पंचपंचोपवासैर्जघन्येनोत्कृष्टतो मुदा ॥ ६६ ॥ षण्मासैर्मध्यमैः शक्त्या बहुभेदैर्महाबलः । प्रायश्चित्तं करोत्येव द्विषड्वर्षान्तमद्भुतम् ॥ ७० ॥ स एव दर्पतो दोषान्प्रागुक्तान् नाचरेद्यदि । अथेत्परगणोपस्थापनं दोष क्षयंकरम् ॥ ७१ ॥ सापराधं प्रहेतव्य. सूरिणा गणितप्रति । सोऽप्याचार्यो गिराकर्ण्य तस्यालोचनमञ्जसा ॥ ७२ ॥ प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तरप्रापयेच्च तम् । इत्येव स प्रहेतव्योयावत्सूरिश्चसप्तम ॥ ७३ ॥ प्रेषितः पश्चिमेनैष पूर्वाचार्यंप्रतिस्फुटम् । प्रायश्चित्त चरेत्सर्वंप्रागुक्तं स बलान्वित. ॥ ७४ ॥ परिहारस्य भेदोयं द्विधाप्रोक्तो जिनागमात् । पारंचिकमितो वक्ष्ये प्रायश्चित्त सु दुष्करम् ॥ ७५ ॥ तीर्थकृद्गणभृत्संघजिनसूत्रादिधर्मिणाम् ।

है और अपनी पीछी को उलटी रखता है। क्रम से क्रम पाँच पाँच उपवास करके पारणा करता है तथा अधिक से अधिक छह महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन पन्द्रह दिन एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है। इस प्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इस प्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्त को वह बारह वर्ष तक करता है ॥६७–७०॥ यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगावे तो उसके लिये आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करने वाला परगणोपस्थान नाम का परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है ॥७१॥ उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघ के आचार्य के पास भेजते हैं। वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही हुई सब आलोचना को सुनते हैं तथा विना प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। वे भी आलोचना सुन कर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस प्रकार वह सात आचार्यों के पास भेजा जाता है। सातवें आचार्य आलोचना सुन कर उसको उसके ही गुरु के पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते हैं। तदनन्तर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नाम का प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित्त को धारण करता है ॥७२–७४॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार परिहार प्रायश्चित्त के दोनों भेद बतलाये। अब आगे अत्यन्त कठिन ऐसे पारंचिक नाम के प्रायश्चित्त को कहते हैं ॥७५॥ जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्र की निंदा करता है धर्मात्माओं

करोत्यासादनं राजाननुमत्या ददाति यः ॥ ७६ ॥ जिनमुद्राममात्यादीनां भजेद्राजयोषितः । इत्याद्यन्यै दुराचारैः कुर्याद्धर्मस्य दूषणम् ॥ ७७ ॥ तस्य पारंचिकप्रायश्चित्तं भवति निश्चितम् । चातुर्वर्णस्वसंघस्थाः संभूयश्रमणा भुवि ॥ ७८ ॥ एषोऽवंद्योमहापापी वाह्यः श्रीजिनशासनात् । घोषयित्वेतिदत्त्वानुपस्थापनं सुदुष्करम् ॥ ७९ ॥ प्रायश्चित्तं स्वदेशात्त निर्घाटयन्तिदोषिणाम् । स्वधर्मरहिते क्षेत्रे सोपिगत्वा महावलः ॥ ८० ॥ दृढसंहननो धीरः प्रागुक्त क्रमतश्चरेत् । प्रदत्तं गुरुणा सर्वं प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ॥ ८१ ॥ मिथ्यादृष्ट्युपदेशाद्यैर्मिथ्यात्वं च गतस्य यां । दृग्विशुद्ध्यै रुचिस्तत्त्वादौश्रद्धानं तदद्भुतम् ॥ ८२ ॥ एतद्दशविधंप्रायश्चित्तं तद्व्रतशुद्धये । युक्त्या कालानुसारेण कर्तव्यं मुनिभिः सदा ॥ ८३ ॥ यो महत्स्वतपो मत्वा प्रायश्चित्तं करोति न व्रतादिदोषशुद्ध्यर्थं

की निंदा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिन दीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्म को दूषित करता है उसके लिये आचार्यों ने पारंचिक नाम का प्रायश्चित्त निश्चित किया है। उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघ के चारो प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिल कर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है इसलिये अवंदनीय है और श्री जिनशासन से बाहर है। तदनंतर वे आचार्य उसको अत्यंत कठिन अनुपस्थापन नाम का प्रायश्चित देते हैं। तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं। मजबूत संहनन को धारण करने वाला धीर वीर महाबलवान् वह मुनि भी जिस देश में जिनधर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिए हुए समस्त दोषों को शुद्ध करने वाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है। इसको पारंचिक अनुपस्थान प्रायश्चित्त कहते हैं ॥७६—८१॥ मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए तत्त्वों में वा देव शास्त्र गुरु मे श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं ॥८२॥ श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिए यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने अपने समय के अनुसार युक्ति पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥८३॥ जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझ कर व्रतादिक के

शठात्मा गर्विताशय' ॥८४॥ तस्यसर्वतपोवृत्तं तद्दोषो नाशयेद्द्रुतम् । सहाखिलैर्गुणौघैः कुथितताम्बूलपत्रवत् ॥८५॥ प्रायश्चित्तेननि.शल्यंमनोभवति निर्मला: । दृग्ज्ञानाद्यागुणौघा. स्युश्चारित्रं शशिनिर्मलम् ॥ ८६ ॥ संघमान्यमभीतिः स्यान्नि. शल्यंमरणोत्तमम् । इत्याद्या वहवोन्येत्र जायन्ते सद्गुणा. सताम् ॥ ८७ ॥ विज्ञायेति यदा कश्चिद्दोषः उत्पद्यते व्रते । प्रायश्चित्तं तदैवात्र कर्तव्य तद्विशुद्धये ॥ ८८ ॥ कपायेन्द्रिय चौराणां शक्त्या विजयं वलात् । विनयो वा सतांनीचैर्वृत्तिरत्नत्रयस्य य' ॥ ८६ ॥ तद्वतांसज्जनैः प्रोक्तोविनयोऽनिष्टघात क· । विश्वविद्याकरीभूतः पंचधागुणसागर' ॥ ६० ॥ दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयोमहान् । उपचाराभिधश्चेति विनय पंचधा मतः ॥६१॥

दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है। उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत तप गुण नष्ट हो जाते हैं ॥८४–८५॥ इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रगट हो जाते हैं ॥८६–८७॥ यही समझ कर मुनियों को अपने व्रतों में जब कभी दोष लग जाय उसी समय में अपने व्रतों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥८८॥ कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों को अपनी शक्ति के अनुसार बल पूर्वक जीतना विनय है। अथवा सज्जनों के प्रति नम्रता धारण करना वा रत्नत्रय की विनय करना रत्नत्रय को धारण करने वालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है। यह विनय समस्त अनिष्टों को दूर करने वाला है समस्त विद्याओं की खानि है और गुणों का समुद्र है। ऐसा यह विनय तप पाँच प्रकार का है ॥८९–९०॥ दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और सर्वोत्कृष्ट उपचारविनय इस

येपदार्थाः जिनैः प्रोक्तास्तथ्या तएव नान्यथा । वीतरागाश्चसर्वज्ञा यतो नासत्यवादिनः ॥ ६२ ॥ इतियुक्तिविचा- राद्यैस्तत्त्वादौ निश्चयोऽचलः । क्रियते यो खिले जैनागमेऽर्द्धर्मयोगिषु ॥६३॥ निःशंकितादिसर्वेषामंगानां यद्धारणम् । शंकादि त्यजनं कृत्स्नं सूक्ष्मतत्त्वविचारणे ॥ ६४ ॥ भक्तिर्दृढतरार्यैकोश्रुतार्हन्मुनिधर्मिषु । सम्यग्दृष्टजनादौ च रुचिसु शिवपथेवृषे ॥६५॥ इत्यादि यच्छुभाचारमपरं वा विधीयते । विनयो दर्शनाख्यः स सर्वोगुणाकरोघहृत् ॥६६॥ कालार्थ रष्टधाचारैर्विनयेनार्चनादिभिः । कृत्स्नानामंग.पूर्वाणा मानायाज्ञानहानये ॥ ६७ ॥ त्रिशुध्या पठन शुद्धं पाठनं यच्चयोगिनाम् । चिन्तनं हृदयेत्यर्थं परिवर्तनमंजसा ॥ ६८ ॥ ख्यापनं कीर्तनं लोके प्रकाशनमनारतम् । ज्ञानिनां भक्तिसन्मानं ज्ञानादिगुणभाषणम् ॥ ६६ ॥ इत्याद्यन्यन्छु तज्ञानगुणग्रहणमूर्जितम । क्रियते स समस्तोपि

प्रकार विनय के पाँच भेद हैं ॥६१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने जो तथ्य बतलाये हैं तथा जिस प्रकार बतलाये हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं। क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते। इस प्रकार युक्ति और विचार पूर्वक तत्त्वादिकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना, देव धर्म गुरु में अचल श्रद्धान करना, निःशंकित आदि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वों का विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना, देवशास्त्र गुरु और धर्म में अत्यंत दृढ़ भक्ति धारण करना, सम्यग्दृष्टी पुरुषों में मोक्ष के मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाचार धारण करना है उसको दर्शनविनय कहते हैं। यह दर्शन- विनय समस्त गुणों की खानि है और समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥६२–६६॥ अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिये और अज्ञान को दूर करने के लिए विनय के साथ तथा कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक अंग पूर्वों को शुद्ध पढना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिंतवन करना, हृदय में बार बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरंतर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और उनका सन्मान करना ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी

ज्ञानाख्योविनयोद्भुतः ॥ ३०० ॥ कषायेन्द्रियचौराणां प्रमादानां च वर्जनम् । व्रतगुप्तिसमित्याद्याचरणे यत्नमन्वहम् ॥ ३०१ ॥ महातपोधनानां च श्रुत्वाचरणमद्भुतम् । अजली करणं भक्त्या प्रणाम वृत्तशालिनाम् । २ ॥ इत्याद्यन्यत्सुचारित्रमाहात्म्यस्य प्रकाशनम् । लोके विधीयते यत्त चारित्रविनयोखिल' ॥ ३ ॥ आतापनादि सद्योगे सुरराख्ये गुणेद्भुते । दुष्करे च द्विषड्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥ ४ ॥ श्रद्धोत्साहानुरोगाकांक्षादीनां करणं महत् । तपोधिकयतीनां च प्रणामस्तवनादिकम् ॥ ५ ॥ षडावश्यकसम्पूर्णश्चित्तक्लेशादिवर्जनम । तपसा करणे वीर्यादानं पंचाक्षनिर्जयः ॥ ६ ॥ इत्याद्यन्यत्तपोऽनर्घ्यगुणानां यत्प्रकीर्तनम् । सत्तापोजमहर्द्धीनां स तपोविनयोखिलः ॥ ७ ॥ सत्कायवाग्मनोभेदैरुपचारो जिनागमे । विनयस्त्रिविध. प्रोक्त' काययाकृचित्ताशुद्धिद. ॥ ८ ॥ स प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां

श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञानविनय कहलाता है। यह समस्त ज्ञानविनय बहुत ही अद्भुत है ॥९७–३००॥ कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, व्रत समिति गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्त्रियों के अद्भुत आचरणो को सुनकर उनके लिये भक्ति पूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र पालन करने वालों को भक्ति पूर्वक प्रणाम करना, तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के माहात्म्य को प्रगट करना चारित्रविनय कहलाता है ॥१–३॥ आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर और कठिन तपश्चरण में श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना छहों आवश्यकों को पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिये अपनी शक्ति को प्रगट करना, पाँचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय कहलाती है ॥४–७॥ जैन शास्त्रों में मन वचन काय को शुद्ध करने वाला उपचार विनय तीन प्रकार का बतलाया है कायसे होने वाला विनय वचन से होने वाला विनय और मन से होने वाला विनय ॥८॥ यह मन वचन काय से होने वाला

प्रत्येकं द्विविधः स्मृतः । इत्येतेषट्प्रकारा उपचार विनये मताः ॥ ६ ॥ अभ्युत्थानं क्रियाकर्म मुदाभक्तित्रयांकितम् । प्रणामः शिरसा भाले स्वांजलीकरणं सदा ॥ १० ॥ गुरोरागच्छतश्चाभिमुखयानां प्रगच्छतः । अनुव्रजनमत्यर्थं भक्तिरागप्रकाशनम् ॥ ११ ॥ नीचं स्थानं क्रियन्नीचं गमनं शयनासनम् । आसनज्ञानशौचोपकरणादिसमर्पणम् ॥१२॥ शून्यागारगुहादीनामन्विष्य च निवेदनम् । गुरुकायक्रमादीनां स्पर्शनं मर्दनं करैः ॥ १३ ॥ आदेशकरणं संस्तरादिप्रस्तारणं निशि । ज्ञानोपकरणादीनां प्रतिलेखनमन्वहम् ॥ १५ ॥ इत्याद्यन्योयथायोग्यउपकारो विधीयते । कायेन सद्गुरो यः स विनयः कायिकोखिलः ॥ १५ ॥ आचार्यभगवत्पूज्यपाद भट्टारकादिभिः । नामभिःप्रवरं पूज्य वचनं मधुरं वचः ॥ १६ ॥ हिततथ्यमितादीनां वचसां भाषणं गिरा । जिनसूत्रानुसारेण भाषणं पापदूरगम् ॥ १७ ॥

तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो प्रकार है। इस प्रकार उपचारविनय छह प्रकार का हो जाता है ॥६॥ गुरु को देख कर उठ कर खड़े होना, प्रसन्नता पूर्वक श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियों को पढ़ कर क्रियाकर्म वा वंदना करना, उनको प्रणाम करना, दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखना. गुरु के आने पर उनके सामने जाना, गुरु के गमन करने पर उनके पीछे चलना, उनके प्रति अत्यंत भक्ति और अनुराग प्रगट करना, नीचा स्थान हो तो कितना नीचा है यह बताना, गमन शयन आसन आदि का ज्ञान कराना, आसन देना, ज्ञान और शौच के उपकरण समर्पण करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूंढ़ कर बतलाना, गुरु के शरीर को वा उनके चरणों को स्पर्श करना वा हाथों से दबाना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके लिये संतर बिछाना, रात के समय प्रतिदिन ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना (पीछी से झाड़ कर शुद्ध करना,) तथा अपने शरीर से इसी प्रकार के गुरु वा आचार्य के अन्य उपकार करना यथायोग्य रीति से उपकार करना शारीरिक विनय कहलाती है ॥१०—१५॥ गुरु के समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान् पूज्यपाद भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को संबोधन करना, वचन से सदा हित मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदाजैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा

उपशान्त वचोवाच्यमगृहस्थवचः शुभम् । अकर्कशं वच.सारं सुखस्पृष्टमनिष्ठुरम् ॥ १८ ॥ इत्यादिनिखद्यं यद्ब्रूयते वचनवरम् । गुरोरन्ते स सर्वोपि वाचिको विनयो महान् ॥ १९ ॥ दुष्कर्मागमनद्वारसन्मुखं स्वसुखावृतम् । दुर्ध्यानद्वेषरागादिलीनंचिन्ताशताकुलम् ॥ २० ॥ त्यक्त्वा स्वपरिणामसुतत्त्ववैराग्यवासितम् । सदर्थधर्मसद्भावा-गमचिन्तादितत्परम् ॥ २१ ॥ स्वान्येषांहितकृच्छुद्धं धार्यते यन्निजं मनः । गुरोः पार्श्वे स विश्वोमानसिकोविनयो वरः ॥ २२ ॥ प्रत्यक्षे सद्गुरूणां यो विनयः क्रियते बुधैः । त्रिशुध्या त्रिविधः सोत्र प्रत्यक्ष विनयो मतः ॥ २३ ॥ परोक्षे सद्गुरूणां यत् प्रणामकरणादिकम् । कायेनवचसा नित्यंस्तवादिगुण कीर्तनम् ॥ २४ ॥ हृदाज्ञापालनं सम्यक् सद्गुणग्रामचिन्तनम् । इत्यादिक्रियतेऽन्यत्सपरोक्षविनयोऽखिलः ॥ २५ ॥ अथवा सप्तधाप्रोक्त:

ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों सारभूत हों स्पष्ट हो कठिन न हों उत्तम और अनिंद्य हों । इस प्रकार गुरु के समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है ॥१६–१९॥ जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुख को चाहने वाले हों, अशुभध्यान वा रागद्वेष में लीन हों और सैकड़ों चिंताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़ कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मन में श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चिंतवन में ही अपने मन को सदा लगाये रखना, अपने मन को सदा अपने और दूसरे के हित में लगाना, तथा अपने मन को अत्यंत शुद्ध रखना इस प्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता रखना उत्तम मानसिक विनय है ॥२०–२२॥ विद्वान् लोग मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक मन वचन काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं ॥२३॥ इसी प्रकार गुरुओं के परोक्ष में शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनको प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूह को अच्छी तरह चिंतवन करना तथा और भी उनकी परोक्ष में उनकी विनय करना परोक्ष विनय कहलाती है ॥२४–२५॥ अथवा भगवान जिनेन्द्रदेव ने शरीर से होने वाली विनय के सात भेद बतलाये हैं

कायिको विनयो जिनैः । चतुर्धावाचिकः सारो द्विधामानसिकोमहत् ॥ २६ ॥ अभ्युत्थानंप्रणामोह्यासनदानं महागुरोः । पुस्तकादिप्रदानं च क्रियाकर्मत्रिभक्तिजम् ॥ २७ ॥ स्वोच्चासनपरित्यागः पृष्ठेनुव्रजनं क्रियन् । विनयाः कायिका एते सप्तभेदा वपुर्भवाः ॥ २८ ॥ हितभाषणमेकं च द्वितीयंमितभाषणम् । वचः परिमितं सूत्रानुवीची-भाषणं स्फुटम् ॥ २९ ॥ वाचिका विनया एते चतुर्भेदा वचोभवाः । निरवद्याविधातारः स्वान्येषां धर्ममूर्जितम् ॥३०॥ पापादानमनोरोधो धर्मध्यानप्रवर्तनम् । इत्येति विनयो ज्ञेयो द्विधामानसिकोऽमलः ॥ ३१ ॥ दीक्षाधिककलतीनां च तपोधिकमहात्मनाम् । श्रुताधिकमुनीनां च सद्गुणाधिकयोगिनाम् ॥ ३२ ॥ दीक्षाशिक्षाश्रुतज्ञानगुरूणां यत्नतोऽनिशम् । कार्यः सर्वः प्रणामाद्यैः विनयोत्रैपसंयतैः ॥ ३३ ॥ दीक्षालघुतपोहीनस्वल्पश्रुताल्पयोगिनाम । यथायोग्य मदा

वाचनिक विनय चार प्रकार की बतलाई है और मानसिक विनय दो प्रकार बतलाई है ॥२६॥ महा गुरुओं के आने पर उठ कर खड़े हो जाना, उनको प्रणाम करना, उनको आसन देना, पुस्तक देना, श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियाँ पढ़ कर उनकी वंदना करना उनके सामने अपने आसन को छोड़ देना, और उनके जाते समय थोड़ी दूर तक उनके पीछे जाना यह शरीर से होने वाली सात प्रकार की कायिक विनय है ॥२७–२८॥ हित रूपभाषण अर्थात् धर्मरूप वचन कहना, मित भाषण अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत सा अर्थ हो ऐसे वचन कहना, परिमित भाषण अर्थात् कारण सहित वचन कहना और सूत्रानुवीची भाषण अर्थात् आगम के अविरुद्ध वचन कहना यह चार प्रकार की वाचनिक विनय है। जो मुनि इन चारों प्रकार की विनयों को निरवद्य (पापरहित) रीति से पालन करता है वह अपने और दूसरों के श्रेष्ठ धर्म को बढ़ाता है ॥२९–३०॥ जिस मन से पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे मन को रोकना और अपने मन को धर्मध्यान में लगाना दो प्रकार की मानसिक विनय है। यह मानसिक विनय अत्यंत निर्मल है ॥३१॥ जो मुनि अपने से अधिक काल के दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु हैं शिक्षा के गुरु हैं, वा श्रुतज्ञान के गुरु हैं उनके लिये प्रणाम आदि कर के मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करनी चाहिये ॥३२–३३॥ जो मुनि दीक्षा से

कार्यो विनयो मुनिपुंगवैः ॥ ३४ ॥ आर्यिकाश्राविकादीनां ज्ञान धर्मोद्देशनैः । जिनमार्गानुरागेण यथार्हः कार्य एव स ॥ ३५ ॥ सर्वथा विनयो दक्षैः कर्तव्य कार्यसाधक । चातुर्वर्णस्वसघानांयथायोग्यो हितंकरः ॥३६॥ यतो विनय हीनानां शिक्षानिरर्थिकाखिला । श्रुतादिपठनं व्यर्थमकार्तिर्वर्द्धतेतराम् ॥ ३७ ॥ महाविनयपोतेनगम्भीर-मागमार्णवम् । भवाम्बुधिं च दुस्तीर तरन्तियमिनोऽचिरात् ॥३८॥ विद्याविवेक कौशल्यशमाद्याः प्रवरा गुणाः । विनायासेन जायन्ते विश्वे विनयशालिनाम ॥ ३६ ॥ विनयोत्था महाकीर्ति प्रसर्पात जगत्त्रयम् । उत्पद्यते परावुद्धिः सतां विश्वार्थदीपिका ॥ ४० ॥ स्वसघे मान्यतां पूजां ख्यातिं च स्तवनादिकान् । तपोरत्नत्रयं शुद्धं लभन्ते

छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञान को धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना चाहिये ॥३४॥ इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिनमार्ग में अनुराग कर अर्जिका और श्रावकों का विनय भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिये ॥३५॥ चतुर पुरुषों को चारों प्रकार के संघ का विनय यथायोग्य रीति से सर्वथा करते रहना चाहिये । क्योंकि यह विनय समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला है और सबका हित करने वाला है ॥३६॥ इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिये तथा उनका शास्त्रादिक का पढ़ना भी व्यर्थ समझना चाहिये । इसके सिवाय अविनयी पुरुषों की अपकीर्ति सदा बढती रहती है ॥३७॥ मुनिलोग इस महा विनय रूपी जहाज पर बैठ कर अत्यंत गम्भीर ऐसे आगमरूपी महासागर को बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं तथा अत्यंत कठिन ऐसे संसाररूपी समुद्र को भी बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं ॥३८॥ विनय धारण करने वाले पुरुषों के विद्या विवेक, कुशलता और उपशम आदि अनेक उत्तम गुण विना ही परिश्रम के अपने आप आ जाते हैं ॥३६॥ इस विनय से उत्पन्न होने वाली महा कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है तथा इसी विनय से सज्जनों के समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ॥४०॥ विनय धारण करने वाले मुनियों को अपने संघ में भी मान वा आदर सत्कार मिलता है, बड़प्पन मिलता है कीर्ति मिलती है, सब लोक उनकी स्तुति करते हैं तथा विनय से मुनियों को

विनयांकिताः ॥४१॥ चतुराराधनांमैत्री क्षान्त्यार्जवादिलक्षणान् । मनोवाक्कायसंशुद्धीः श्रयन्ति विनयाद्बुधाः ॥४२॥ विनयाचारिणां नूनं शत्रुर्गच्छेत्सुमित्रताम् । उपसर्गाविलीयन्तेढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥ ४३ ॥ अहोसद्विनयाकृष्टा मुक्तिस्त्री योगिनांस्वयम् । एत्याश्रालिंगनंदत्ते का कथामरयोषिताम् ॥ ४४ ॥ इत्यादिप्रवरं ज्ञात्वा विनयस्य फलं विदः । कुर्वन्तुसर्वसंघानां मुक्तये विनयं सदा ॥४५॥ आचार्यपाठकेषुस्थविरप्रवर्तकेषु च । शक्त्या गणधरेष्वत्रगच्छे वालेतराकुले ॥ ४६ ॥ कायपिण्डादिदुर्ध्यानहान्यै सध्यानवृद्धये । सुश्रूषाक्रियतेयोन्यैर्वैयावृत्यं तदुच्यते ॥ ४७ ॥ षट्त्रिंशद्गुणपंचाचारान्विताः सूरयोऽद्भुताः । पाठकाः सर्वपूर्वांगपारगाः पाठनोद्यताः ॥ ४८ ॥ सर्वतोभद्रघोरा–दितपसश्चतपस्विनः । सिद्धान्तशिक्षणोद्युक्ताः शिष्यकाः मुक्तिमार्गगाः ॥ ४९ ॥ रुजादिव्याप्तसर्वांगा ग्लाना

शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ॥४१॥ विद्वान् पुरुषों को इस विनय से ही चारों आराधनाओं की प्राप्ति होती है मैत्री प्रमोद आदि गुण प्रगट होते हैं क्षमा मार्दव आर्जव आदि गुण प्रगट होते हैं और मन वचन काय की शुद्धता प्राप्त होती है ॥४२॥ विनय करने वालों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, उपसर्ग सब उनके नष्ट हो जाते हैं और उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर प्राप्त हो जाती है ॥४३॥ सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इस श्रेष्ठ विनय से अपने आप खिची हुई मुक्ति रूपी स्त्री स्वयं आकर मुनियों को आलिंगन देती है। फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है ॥४४॥ इस प्रकार इस विनय का अत्यंत श्रेष्ठ फल जानकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त संघ की सदा विनय करते रहना चाहिये ॥४५॥ जो मुनि अशुभ ध्यान को नाश करने के लिये और श्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि के लिये आचार्य उपाध्याय वृद्ध मुनि प्रवर्तक आचार्य और गणधर आदि महा मुनियों को तथा वाल मुनि वा वृद्ध मुनियों के कारण व्याकुल रहने वाले गच्छ वा संघ को आहार औषधि आदि देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है ॥४६–४७॥ जो आचार्यों के छत्तीस गुण और पंचाचारों का पालन करते हैं उनको उत्कृष्ट आचार्य कहते हैं, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी है तथा शिष्यों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं। जो सिद्धांतशास्त्रों के पढ़ने

व्रतगुणच्युताः । समवायोगणोभ्यर्च्यो बालवृद्धादियोगिनाम् ॥५०॥ आचार्यस्य च शिष्यस्यस्वाम्नाय' कुलमुत्तमम् । ऋष्यादिश्रमणानां निवहः संघश्चतुर्विधः ॥ ५१ ॥ त्रिकालयोगधातारः साधवोमुक्तिसाधकाः । आचार्यसाधुसघानां प्रियोमनोज्ञ ऊर्जितः ॥५२॥ अमीषां दशभेदानां रोगक्लेशादिकारणे । सजाते सति कर्तव्यं वैयावृत्यं दशात्मकम् ॥५३॥ पादादिमर्दनैर्दक्षै. सुश्रूषाकरणादिभि' । धर्मोपदेशनैश्चान्यैर्विण्मूत्राद्यपकर्षणै' ॥ ५४ ॥ दमार्गश्रमखिन्नानां चौरभूपारिदुर्जनैः । सिंहादिजोपसर्गैश्चपीडितानां सुयोगिनाम् ॥ ५५ ॥ संग्रहानुग्रहैर्दानैरक्षणै पालनादिभिः । वैयावृत्यं विधातव्यं-धर्मबुध्यासमाधये ॥ ५६ ॥ तपोदृग्ज्ञान चारित्र ध्यानाध्ययनकर्मसु । पुस्तकादिसुदानैश्चव्याख्याधर्मो-

में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुये हैं उनको शैक्ष्य कहते हैं। जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रत रूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते है। बाल और वृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं। आचार्य के शिष्यों की परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं। ऋषि मुनि यति और अनगार इन चारों प्रकार के मुनियों के समुदाय को संघ कहते हैं। जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्ष की सिद्धि में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं। जो आचार्य साधु और संघ को प्रिय हों उनको उत्तम मनोज्ञ कहते हैं। ये दश प्रकार के मुनि होते हैं। इनके लिये रोग क्लेश आदि का कारण आजाने पर उन सबका वैयावृत्य करना सेवा सुश्रूषा करना दश प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है ॥४८—५३॥ जो मुनि कंकरीले वा ऊंचेनीचे मार्ग में चलने के कारण खेद खिन्न हो रहे हैं अथवा जो किसी चोर वा राजा वा शत्रु वा दुष्ट अथवा सिंह आदि के उपसर्ग से अत्यंत दुःखी हो रहे हैं ऐसे मुनियों के पाँव दाबना सेवा सुश्रूषा करना उनको धर्मोपदेश देना उनका विष्ठा मूत्र कफ आदि हटाना उनको अपने पास रखना उनका अनुग्रह करना उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर देना आदि अनेक प्रकार का वैयावृत्य चतुर पुरुषों को ध्यान की प्राप्ति के लिये केवल धर्म बुद्धि से सदा करते रहना चाहिये ॥५४—५६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप ध्यान अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य लिये पुस्तक आदि उपकरणों को देना शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्ति पूर्वक और भी साधर्मियों

पदेशनैः ॥ ५७ ॥ यत्साहाय्यकरणंयुक्त्यै साधर्मिणां विधीयते । निराकांक्षतया सर्वं वैयावृत्यं तदुच्यते ॥ ५८ ॥ वैयावृत्यविधातॄणां विचिकित्सापरिक्षयः । तीर्थंकरादिसत्पुण्यंयशःस्वसंघमान्यता ॥ ५६ ॥ रत्नत्रयविशुद्धिःप्रवचनस्य च जायते । वत्सलत्वं तपोवृद्धिः परोपकार ऊर्जितः ॥ ६० ॥ आचार्यपाठकादीनां वैयावृत्येन संभवेत् । धर्मध्यानं मनः स्वस्थं-पीडादुर्ध्याननाशनम् ॥ ६१ ॥ इत्यत्र स्वान्ययोर्मत्वा वैयावृत्यं हितं महत् । सबलाः सर्वशक्तास्वेनान्यैः कुर्वन्तुशुद्धये ॥ ६२ ॥ स्वस्य वा परभव्यानां हितोध्यायो विधीयते । ज्ञानिभिर्योघघाताय स स्वाध्यायोगुणाकरः ॥ ६३ ॥ वाचनापृच्छनाख्योऽनुप्रेक्षाथाम्नायऊर्जितः । धर्मोपदेशएवेति स्वाध्यायः पंचधा मतः ॥ ६४ ॥ अंगपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये । व्याख्यानंक्रियतेयस्ययत्सतां वाचनात्र सा ॥ ६५ ॥

की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है ॥५७–५८॥ वैयावृत्य करने वालों के विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् निर्वि-चिकित्सा अंगका पूर्ण पालन होता है, तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है समस्त संसार में यश फैलता है, अपने संघ में मान्यता बढ़ती है, रत्नत्रय की विशुद्धि होती है, साधर्मी जनों के साथ अत्यंत प्रेम बढ़ता है, तपश्चरण की वृद्धि होती है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है ॥५६–६०॥ आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है ॥६१॥ इस प्रकार वैयावृत्य के करने से अपना भी महा हित होता है और अन्य जीवों का भी महा हित होता है। यही समझ कर बलवान और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए स्वयं वैयावृत्य करना चाहिये और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिये ॥६२॥ जो ज्ञानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिये अपने आत्मा का हित करने के लिए तथा अन्य भव्य जीवों का हित करने के लिये सिद्धांत आदि ग्रंथों का पठन पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं ॥६३॥ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं ॥६४॥ जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नाम का स्वाध्याय कहते

सन्देह हानयेन्येपां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते । सिद्धातार्थमहागूढं श्रूयते पृच्छनात्र मा ॥ ६६ ॥ तप्ताय. पिंडसादृश्ये-नैकाग्रार्पित चेतसा । अभ्यासोधीतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्रसोत्तमा ॥६७॥ द्रुतलंवितमात्रादिच्युतदोपातिग च यत् । परिवर्तनमभ्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ॥ ६८ ॥ ख्यातिपूजादिलाभादीन् विना तीर्थकृतांसताम् । सत्कथाख्यापन यच्च धर्मोपदेश एव स. ॥ ६६ ॥ इत्येवं पचधा दक्षैः स्वाध्यायोविश्वदीपक' । कर्तव्य प्रत्यहं सिध्यै स्वान्येपां हितकारक' ॥७०॥ समस्ततपसां मध्ये स्वाध्यायेन समं तप' । परनास्ति न भूत न भविष्यति विदांकचित् ॥७१॥ यतः स्वाध्यायमत्यर्थं कुर्वतां निग्रहो भवेत् । पंचाक्षाणांत्रिगुप्तश्चसंवरो निर्जरा शिवम् ॥ ७२ ॥ स्वाध्यायेनात्र जायेत योगशुद्धिश्चयोगिनाम् । तथा शुक्लं महाध्यान ध्यानाद्घातिविधक्षय ॥ ७३ ॥ तद्घातात्केवलज्ञानं

हैं ॥६५॥ अपना सन्देह दूर करने के लिये किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धांतशास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है ॥६६॥ तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्र चित्त से पढ़े हुए शास्त्रों का वार वार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥६७॥ पढ़े हुए शास्त्रों का वार वार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न तो धीरे धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहते हैं ॥६८॥ अपनी कीर्ति बड़प्पन वा लाभ आदि की इच्छा के बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषों की कथा का कहना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥६६॥ इस प्रकार यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाला है और समस्त तत्त्वों के स्वरूप को दिखलाने के लिये दीपक के समान है। इसलिए चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ॥७०॥ समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा ॥७१॥ इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७२॥ इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है, तथा महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है, शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता

लोकालोकार्थदीपकम् । शक्रादिपूजनं तस्माद्गमनं मुक्ति धामनि ॥ ७४ ॥ इत्यादि परमं ज्ञात्वाफलमस्य विदोन्वहम् । निष्प्रमादेन कुर्वन्तु स्वाध्यायं शिवशर्मणे ॥ ७५ ॥ बाह्याभ्यन्तरसंगाश्च त्यक्त्वांमा वपुषासताम् । ध्यानपूर्वास्थितिर्यात्र कायोत्सर्गः स उत्तमः । ७६ ॥ आवश्यकाधिकारेप्राक् तस्य लक्षणमंजसा । गुणदोषादिकं प्रोक्तं व्यासेन न ब्रुवेधुना ॥ ७७ ॥ एकाग्रचेतसायोत्र चिन्त्यते द्रव्यसंग्रह. । बहिश्चिन्ताविनिष्क्रान्तस्तध्यानमुच्यते बुधैः ॥ ७८ ॥ अप्रशस्तप्रशस्ताभ्यां द्विधाध्यानं तदिष्यते । आर्तरौद्रद्विभेदाभ्यामप्रशस्तं द्विधामतम् ॥ ७६ ॥ धर्मशुक्लप्रकाराभ्यां प्रशस्तमपि धर्मिणाम् । ध्यानं जिनैर्द्विधाम्नातं नानाभेदयुतं च तत् ॥ ८० ॥ बाह्याध्यात्मिक भेदाभ्यामार्तध्यानंद्विधाभवेत् । शोचनाक्रन्दनम्लानमुखादिबाह्यमुच्यते ॥ ८१ ॥ अन्तस्तीव्राधिकालुष्यकरमाध्या-

---

है घातिया कर्मों के नाश होने से लोक अलोक सबको प्रगट करने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अंतमें मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७३–७४॥ इस प्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिये प्रमाद छोड़ कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ॥७५॥ बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़ कर सज्जन पुरुष जो ध्यान पूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं ॥७६॥ आवश्यकों के अधिकार में पहले विस्तार के साथ इसका लक्षण तथा इसके गुण दोष आदि सब कह चुके हैं। इसलिये अब यहाँ पर नहीं कहते हैं ॥७७॥ बुद्धिमान् पुरुष जो अन्य समस्त चिंतवनों को रोक कर एकाग्र चित्त से द्रव्यों के समूह का चिंतवन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं ॥७८॥ उस ध्यान के दो भेद हैं एक अप्रशस्त वा अशुभ ध्यान और दूसरा प्रशस्त वा शुभ ध्यान। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भेद से दो भेद कहे जाते हैं ॥७९॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने धर्मात्माओं के लिये शुभध्यान के भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो भेद बतलाये हैं। तथा इनके भी फिर अनेक भेद होते हैं ॥८०॥ इनमें से आर्तध्यान के भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद होते हैं। शोक करना, रोना, मुख को मलिन करना आदि बाह्य आर्तध्यान कहलाता है ॥८१॥ जो अंतरंग में अधिक तीव्र कलुषता करने वाला है उसको अभ्यंतर

त्मिकं च तत् । आद्यमनिष्टसयोगसञ्ज्ञमिष्टवियोगजम ॥ ८२ ॥ पीडाचिन्तननामाथनिदानकरणाभिधम् । इत्यार्त्तध्यानमार्तैश्चचतुर्भेदमुदाहृतम् ॥ ८३ ॥ सर्पसिंहारि चौरादिकटकाग्निदुरात्मनाम् । अन्येषां चामनोज्ञानांसयोगेसतिभूतले ॥ ८४ ॥ तद्वियोगायसंक्लेशमनसाचिन्तनंमुहु । क्रियते क्लेशिभिर्यत्तदार्तमाद्यमघाकरम् ॥ ८५ ॥ इष्टपुत्रकलत्रादिराजबन्धुजनात्मनाम् । मनोज्ञानांवियोगेत्रसति क्लेशात्तमानसैः ॥ ८६ ॥ तत्सयोगाय यच्चाध्यवसानं हि विधीयते । लोभिभिप्रत्यहं तत्स्यादार्त्तमिष्टवियोगजम् ॥ ८७ ॥ वातपित्तज्वरादीनां कुष्ठशूलरुजांसति । प्रादुर्भावे प्रतीकारशतै क्लेशात्त चेतसा ॥ ८८ ॥ दुःखिभिस्तद्विनाशंयदन्वहंचिन्त्यतेभुवि । आरोग्य च तदार्त्तः स्यात्पीडाचिन्तनसञ्ज्ञकम् ॥ ८९ ॥ तपश्चारित्रदानार्चाधर्मध्यानादिकान् बहून् । कृत्वा तेषां फलेनात्रपुत्रनार्यादिसम्पदाम् ॥९०॥

आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्टसंयोग से होने वाला इष्टवियोग से होने वाला रोग वा दुःख के चिंतवन से होने वाला और निदान करना इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने आर्तध्यान के चार भेद बतलाये हैं ॥८२–८३॥ सर्प, सिंह, शत्रु, चोर, कॉटा, अग्नि, दुष्ट तथा और अच्छे न लगने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर मन में संक्लेश परिणाम धारण कर उसको दूर करने के लिए बार बार चिंतवन करना अनिष्ट संयोगज नाम का पहला आर्तध्यान है। यह दुःखी लोगों के होता है और पाप उत्पन्न करने वाला है ॥८४–८५॥ इष्ट पुत्र स्त्री राज्य भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर लोभी पुरुष जो मन में क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग के प्रतिदिन बार बार चिंतवन करते है उसको इष्ट वियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान कहते हैं ॥८६–८७॥ पित्तज्वर, वातज्वर, कोढ़, शूल, आदि रोगों के उत्पन्न होने पर दुःखी पुरुष अपने चित्त में क्लेश उत्पन्न कर संकड़ों उपायों के द्वारा प्रतिदिन जो उन रोगों के नाश होने का चिंतवन करते हैं अथवा नीरोग होने का चितवन करते हैं उसको पीड़ा चिंतवन नाम का आर्तध्यान कहते हैं ॥८८–८९॥ जो रागी पुरुष तप, चारित्र, दान, पूजा, आर्तध्यान आदि बहुत सा धर्म सेवन कर उसके फल से इस लोक में पुत्र स्त्री धन आदि संपदाओं की इच्छा करते हैं तथा में स्वर्ग राज्य आदि के भोगों की आकांक्षा करते हैं उसको निदान नाम का आर्तध्यान

अमुत्रस्वर्गराज्यादिभोगानांस्वस्रागिभिः । आकांक्षाकरणं यत्तदार्त्तं निदाननामकम् ॥ ६१ ॥ ध्यानंध्येयं तथा ध्याता फलमस्यभवेद्भुवि । अप्रशस्तमनोवृत्ति ध्यानंनिंद्यं चतुर्विधम् ॥ ६२ ॥ अप्रशस्त जगद्वस्तु ध्येयमस्याशुभाकरम् । कषायकलुषीभूतोध्याताक्लेशशताकुलः ॥ ६३ ॥ विश्वसंक्लेशसंपूर्णं तिर्यग्गतिकरं फलम् । मिथ्यादृशामति क्लेशात्सद्दृष्टीनां च तद्व्ययात् ॥ ६४ ॥ त्रिदुर्लेश्यावलाधानमन्तर्मुहूर्तकालजम् । अयत्नजनितं चैतन्नृणां दुःखादिकारणम् ॥ ६५ ॥ क्षायोपशमिको भावो दुष्प्रमादावलम्बनम् । दुर्ध्यानानाममीषां स्याद्भवभ्रमणकारिणाम् ॥ ६६ ॥ उत्कृष्टं ध्यानमेतद्गुणस्थाने प्रथमे भवेत् । प्रमत्ताख्ये जघन्यं च तयोर्मध्येषुमध्यमम् ॥ ६७ ॥ निसर्गजनितं निंद्यं पूर्वसंस्कारयोगतः । विश्वदुःखाकरीभूत कृत्स्नपापनिबंधनम् ॥ ६८ ॥ समाधि धर्मशुक्लादिहंतृ

कहते हैं ॥६०–६१॥ यह ध्यान ध्यान ध्याता ध्येय और फल के भेद से चार प्रकार का होता है। इस चारों प्रकार के आर्तध्यान में मन की प्रवृत्ति अत्यंत अशुभ होती है इसलिये यह ध्यान निंद्य कहलाता है। अशुभ करने वाली संसार की अशुभ वस्तु ही इसका ध्येय है, सैकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कषायों से कलुषित हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है और समस्त क्लेशों से भरा हुआ तिर्यंचगति का प्राप्त होना ही इसका फल है। मिथ्यादृष्टियों के अत्यंत क्लेश से यह ध्यान होता है। तथा सम्यग्दृष्टियों के विना क्लेश के होता है। यह आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के वल से उत्पन्न होता है, अंतर्मुहूर्त इसका समय है, मनुष्यों के विना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दुःखादिक का होना ही इसका कारण है ॥६२–६५॥ संसार में परिभ्रमण कराने वाले इन सब दुर्ध्यानों में क्षायोपशमिक भाव होता है और अशुभ प्रमाद ही इनका अवलंबन होता है ॥६६॥ यह आर्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है प्रमत्त नाम के छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और बाकी के गुणस्थानों में मध्यम होता है ॥६७॥ यह आर्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निंद्य है समस्त दुःखों की खानि है और समस्त पापों का कारण है ॥६८॥ यह आर्तध्यान अशुभध्यान है और समाधि, धर्मध्यान शुक्लध्यान को नाश करने

दुर्ध्यानमजसा । त्यजन्तु दुस्त्यजं दक्षा धर्मध्यानवलोत्सदा ॥ ६६ ॥ रौद्रध्यानमपिद्वेधा वाह्याध्यात्मिकभेदतः । रक्ताक्षनिष्ठुराक्रोशनिर्भर्त्सनादिलक्षणम् ॥ ४०० ॥ वधवन्धान्यपीडादिकरं वाह्यमनेकधा । अन्तर्मथनशील स्वसवेद्याध्यात्मिकमतम् ॥४०१॥ हिंसानन्दंमृपानन्दंस्तेयानन्दंसमाह्वयम् । विषयाद्यंतसरक्षणानन्दतच्चतुर्विधम् ॥२॥ हिंसायां परपीडायां सरम्भाद्यैः कदर्थनैः । संकल्पकरणयद्वा वाधितेष्वांगिराशिषु ॥ ३ ॥ कलौहर्षश्चसग्रामे जयाजयादिचिन्तनम् । तद्धियां समस्तं च हिंसानन्दं प्ररूपितम ॥ ४ ॥ दुर्बुद्धिकल्पनायुक्त्यापरवंचनहेतवे । ब्रूयतेयन्मृषावादंपरवंचनपंडितैः ॥ ५ ॥ मृषावादेऽथवा प्रोक्ते केनचित्कटुकाक्षरैः । हृदानुमननंयत्तन्मृषानन्दंकिला- खिलम् ॥ ६ ॥ परश्रीः स्त्रीसुवस्त्वादिहरणे लोभिभिभृशम् । सकल्पः क्रियते चित्ते योऽशुभोवात्रतस्करैः ॥ ७ ॥

वाला है अतएव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के वल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्तध्यान को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये ॥६६॥ आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी वाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं लाल नेत्र होना, कठिन वचन कहना किसी की निंदा करना किसी का तिरस्कार करना किसी को मारना वा बाँधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना वाह्य रौद्रध्यान है और वह अनेक प्रकार का है। जो अंतरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको अभ्यंतर रौद्रध्यान कहते हैं ॥४००-४०१॥ हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंद और विषय संरक्षणानंद के भेद से इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं ॥२॥ हिंसा में आनंद मानना, दूसरे की पीड़ा में आनंद मानना, जीवों के छिन्न भिन्न करने का संकल्प करना, अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता हो, अथवा जीवों की राशि के घात होने पर आनंद मानना, कलह में आनंद मानना, युद्ध में जीत हार का चिंतवन करना आदि रूप से जो दुर्बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिंसानंद नाम का ध्यान कहते हैं ॥३-४॥ दूसरों को ठगने में अत्यंत चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिये अपनी दुर्बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्या वचन कहते हैं उसमें जो हृदय से अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥५-६॥ जो लोभी वा चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री, वा अच्छी वस्तुओं के हरण करने के लिए

नीतेसतिपरद्रव्ये धनेवृथानुमोदनम् । रौद्रध्यानं च तत्सर्वस्तेयानन्दमघप्रदम् ॥ ८ ॥ मदीया वस्तुमद्राज्यरामासेना-दिसम्पदः । यो हरेत्तं दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ॥ ६ । इतिस्ववस्तुरक्षायांसंकल्पकरणंहृदि । दुर्धियां तत्समस्तं विषयसंरक्षणाभिधम् ॥ १० ॥ ध्यानं ध्येयंभवेद्ध्याताफलमस्यशठात्मनाम् । ध्यानमध्यवसानं च रौद्रं वाक्चित्तकायजम् ॥ ११ ॥ ध्येयंलोकत्रयोद्भूतं रौद्रवस्तुकदम्बकम् । रौद्रस्तीव्रकषायीस्याद्ध्यातास्याद्रक्तलोचनः ॥१२॥ अनन्तदुःखसन्तापपूरितं नरकप्रदम् । बहुसागरपर्यन्तंफलमस्यदुरात्मनाम् ॥ १३ ॥ उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रयावला-धानमस्य च । भाव औदयिकोनिंद्यः क्षायोपशमिकोथवा ॥ १४ ॥ दशपंचप्रमादाधिष्ठानं कषायजृम्भणम् । अन्तर्मुहूर्तकालश्च चतुर्विधस्य नान्यथा ॥१५॥ आदिमे च गुणस्थानेत्रैतदुत्कृष्टमंजसा । जघन्यं पंचमेस्याद्द्वित्र-

---

अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई बहुतसा द्रव्य मार लाया हो उसकी अनुमोदना करते हैं उस सबको पाप उत्पन्न करने वाला स्तेयानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥७—८॥ "ये पदार्थ यह राज्य यह सैना यह स्त्री और यह सम्पत्ति सब मेरी है जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूंगा" इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिये अपने हृदय में संकल्प करते हैं वह सब विषयसंरक्षणानंद नाम का रौद्रध्यान कहलाता है ॥६—१०॥ इस रौद्रध्यान के भी ध्यान ध्येय ध्याता और फल के भेद से चार भेद होते हैं। मूर्ख लोगों के रुद्ररूप मन वचन काय से जो चिंतवन होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं ॥११॥ तीनों लोकों में उत्पन्न हुये रौद्रपदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं तथा तीव्र कषाय और लाल नेत्रों को धारण करने वाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है ॥१२॥ उन दुष्टों को अत्यंत दुःख और संताप से भरे हुये नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है ॥१३॥ इस ध्यान में उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएं होती हैं। इसका समय अंतर्मुहूर्त है, भाव निंद्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पंद्रह प्रमाद ही इनका आधार है कषायों से यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन चारों प्रकार के रौद्रध्यान की सामिग्री है ॥१४—१५॥ यह रौद्रध्यान पहले गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे तीसरे चौथे में मध्यम होता है ॥१६॥ यह

चतुर्थे च मध्यमम् ॥ १६ ॥ रौद्रकर्मभवं रौद्रकर्मभावनिवन्धनम् । रौद्रदुःखकर रौद्रगतिदंरौद्रयोगजम् ॥ १७ ॥ रौद्रपापारिसन्तानं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् । त्याज्यं सर्वत्र यत्नेन धर्मध्यानेनधर्मिभिः ॥ १८ ॥ वाह्याध्यात्मिकभेदेन धर्मध्यानमपि द्विधा । दृढव्रतसदाचारतत्त्वचिन्तादिलक्षणम् ॥ १६ ॥ मनोवाक्कायनिःस्पन्दं वाह्यं व्यक्तं सतांभुवि । आध्यात्मिकस्वसंवेद्यमन्तःशुद्धिकरंपरम् ॥ २० ॥ अपायविचयं ध्यानमुपायविचयं ततः । जीवादिविचयंध्यानम–जीवविचयाह्वयम् ॥२१॥ विपाकविचयं ध्यान विरागविचयंमहत् । भावादिविचयं ध्यानं सस्थानविचयाभिधम् ॥२२॥ तथाज्ञाविचयंहेतुविचयाख्यमितिस्फुटम् । धर्मध्यानंमहाधर्माकरं दशविधंमहत् ॥ २३ ॥ दुःखार्णवे भवेनादौयथेष्ट चारिणो मम् । अन्यस्य वा वपुर्वाक्यमनोर्जितकुकर्मणाम् ॥ २४ ॥ विनाशः स्यात्कथंशीघ्रं ध्यानेन तपसाथवा ।

चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है रौद्र वा भयानक दुःख उत्पन्न करने वाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न कराने वाला है, रौद्ररूप मन वचन काय से उत्पन्न होता है और रौद्ररूप पाप शत्रुओं को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर वड़े प्रयत्न से सर्वत्र छोड़ देना चाहिये। सव जगह इसका त्याग कर देना चाहिये ॥१७–१८॥ व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतवन करना धर्मध्यान का लक्षण है। इस धर्मध्यान के भी वाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं ॥१६॥ ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन वचन काय की क्रियाओं का जो वंद हो जाना है उसको वाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और अंतःकरण को शुद्ध करने वाला है उसको अंतरंग धर्मध्यान कहते हैं ॥२०॥ अपायविचय, उपायविचय, जीव–विचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय इस प्रकार इस धर्मध्यान के महा धर्म उत्पन्न करने वाले दश भेद हैं ॥२१–२३॥ अनेक दुःखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसार में मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते चले आ रहे हैं। इसलिये ध्यान से अथवा तपश्चरण से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन वचन काय से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कव नष्ट होंगे इस प्रकार का चितवन करते रहना अपायविचय

इतिचिन्ताप्रबंधो योऽत्रापायविचयं हि तत् ॥ २५ ॥ मनोवाक्काययोगादि प्रशस्तं मे भवेत्कथम् । कर्मास्रवविनिष्क्रान्तंध्यानेनाध्ययनेन वा ॥ २६ ॥ इत्युपायोऽत्र तच्छुध्यै चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः । नानोपायैः श्रुताभ्यासैरुपायविचयं हि तत् ॥ २७ ॥ उपयोगमयोजीवोमूर्तोमूर्तोगुणीमहान् । शुभाशुभविधेर्भोक्तामोक्षगामी च तत्क्षयात् ॥ २८ ॥ सूक्ष्मोसंख्यप्रदेशोऽत्रपराधीनोऽनिशंभ्रमेत् । इत्याद्यंगिस्वभावानां चिन्तनं तृतीयं हि तत् ॥ २९ ॥ धर्माधर्मनभःकालपुद्गलानां जिनागमे । अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ॥ ३० ॥ अनेकगुणपर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हृदि । ध्रौव्योत्पादव्ययैर्यत्तादजीवविचयं परम् ॥ ३१ ॥ सत्पुण्यप्रकृतीनां गुडखंडशर्करामृतैः । समोगप्रकृतीनां च

नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२४–२५॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष अपने मन वचन काय को शुद्ध करने के लिये यह चिंतवन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन वचन काय शुभ हो जाँयगे अथवा मेरे मन वचन काय से कर्मों का आस्रव कब रुक जायगा इस प्रकार के चिंतवन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपायविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२६–२७॥ यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्म के संबंध से मूर्त है, गुणी है समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मों के नाश होने से उसी समय में मोक्ष में जा विराजमान होता है। यह जीव अत्यंत सूक्ष्म है असंख्यात प्रदेशी है, और कर्मों के आधीन होकर इस जन्म मरण रूप संसार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार जीवों के स्वरूप का चिंतवन करना जीवविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२८–२९॥ योगी लोग अपने धर्मध्यान की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल रूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण पर्यायों के द्वारा चिंतवन करते अथवा उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिंतवन करते हैं उसको अजीवविचय नाम का उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं ॥३०–३१॥ श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों का विपाक गुड़, खाँड़, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर शुभ होता है तथा पाप प्रकृतियों का विपाक नीम विष हलाहल आदि के समान

निम्वादिसदृशोशुभः ॥ ३२ ॥ विपाको वहुधात्कर्मैश्चिन्त्यते यत्रमानसे । तद्विपाकजयायोच्चैर्विपाकविचयं हि तत् ॥ ३३ ॥ सप्तधातुमयान्निंद्यात्- कायादमेध्यमन्दिरात् । अतृप्तजनकाच्छ्वभ्रकारणाद्भोगसंचयात् ॥ ३४ ॥ अनन्तदुःखसम्पूर्णात्संसाराच्चसुखच्युतात् । विरक्ति या सतां चित्ते विरागविचय हि तत् ॥ ३५ ॥ अनन्तदुःख-सकीर्णे भवेनादौसुखातिगे । सचित्ताचित्तमिश्रादिनानायोनिपुकर्मभिः ॥ ३६ ॥ भ्रमन्ति प्राणिनोश्रान्तंकर्मपाशावृता इति । भवभ्रमणदुःखानुचिन्तनध्यानमप्तमम् ॥ ३७ ॥ अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मदाः । वैराग्यमातरो रागनाशिन्योमुक्तिमातृकाः ॥ ३८ ॥ चिन्त्यते रागनाशाय यत्रवैराग्यवृद्धये । योगिभिर्योगससिध्यै संस्थानविचयंहि तत् ॥ ३९ ॥ प्रमाणीकृत्य तीर्थेशान् सर्वज्ञान्दोषदूरगान् । तत्प्रणीतेषु सूक्ष्मेषुविश्वदृग्गोचरेषु च ॥ ४० ॥

अत्यंत अशुभ होता है। इस प्रकार चतुर पुरुष कर्मों के विपाक को जीतने के लिये बार बार चिंतवन करते हैं उसको विपाकविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥३२–३३॥ यह शरीर सप्त धातुओ से भरा हुआ है, अत्यंत निंद्य है और भिष्ठा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नही होती और यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है इस प्रकार चिंतवन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विरागविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥३४–३५॥ यह संसार अनादि है सुख से सर्वथा रहित है और अनंत दुःखों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जाल में फंसे हुए ये प्राणी अपने अपने कर्मों के उदय से सचित्त अचित्त मिश्र आदि अनेक प्रकार की योनियों में निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार संसार के परिभ्रमण के दुःखों का बार बार चिंतवन करना भववीचार नाम का धर्मध्यान है ॥३६–३७॥ योगी पुरुष अपने योग की सिद्धि के लिये, वैराग्य की वृद्धि के लिए और रागद्वेष को नष्ट करने के लिये मोक्ष की देने वाली, रागद्वेष को नाश करने वाली वैराग्य को उत्पन्न करने वाली और अनंत सुख को देने वाली ऐसी अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतवन करते हैं उसको संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥३८–३९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ हैं और समस्त दोषों से रहित हैं इसलिये भगवान तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके कहे हुए

लोकालोकादितत्त्वेषु धर्मेपुमुक्तिवर्त्मसु । रुचिः श्रद्धाप्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयंसताम् ॥ ४१ ॥ स्याद्वादनयमालंव्य-हेतुदृष्टांतयुक्तिभिः । पूर्वापराविरोधेनतर्कानुसारि धीधनैः ॥ ४२ ॥ सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थाप्यन्ते यत्रभूतले । यथातथ्येनचित्तेवा तद्धेतुविचयाभिधम् ॥ ४३ ॥ एतद्दशविधं धर्मध्यानं शुक्लनिवन्धनम् । ध्यातव्यं ध्यानिभिर्नित्यं विश्वश्रेयस्करंपरम् ॥ ४४ ॥ ध्यानं ध्येयंवुधैर्ध्याता फलमस्यनिगद्यते । ध्यानप्रशस्तसंकल्पंपरमानन्दकारकम् ॥ ४५ ॥ विश्वद्रव्यपदार्थादिश्रीजिनागममूर्जितम् । परमेष्ठिस्वरूपं च ध्येयमस्याखिलंमतम् ॥ ४६ ॥ व्रतशीलगुणैःपूर्णोविरागो विश्वतत्त्ववित् । एकान्तवाससंतुष्टोधीमान्ध्यातास्यकथ्यते ॥ ४७ ॥ सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् सर्वाभीष्टार्थसाधकम् ।

केवलज्ञान वा केवलदर्शन के गोचर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों में लोक अलोक आदि तत्त्वों में, उनके कहे हुए धर्म में वा मोक्षमार्ग में जो रुचि श्रद्धा वा प्रतीति करना है वह सज्जनों के लिए आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान कहा जाता है ॥४०–४१॥ स्याद्वाद नयको आलंवनकर हेतु दृष्टांत और युक्तियों से अथवा तर्क वा अनुमान से बुद्धिमान लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसारभर में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतुविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥४२–४३॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का धर्मध्यान मोक्ष का कारण है, समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है और परम उत्कृष्ट है। इसलिये ध्यान करने वालों को सदा इसका ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ ध्यान ध्येय ध्याता और फल के भेद से इसके भी चार भेद हैं। जो परमानंद उत्पन्न करने वाला शुभ संकल्प है उसको बुद्धिमान लोग ध्यान कहते हैं ॥४५॥ श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीवाजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यान का ध्येय समझना चाहिये ॥४६॥ जो व्रत शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है समस्त तत्त्वों को जानने वाला है बुद्धिमान है और एकांतवास में सदा सन्तुष्ट रहता है वह इस ध्यान का ध्याता कहलाता है ॥४७॥ तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्राकृतियों को उत्पन्न करने वाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करने वाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यंत

अत्यंत मलिनः कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्वं जलादृते ॥७०॥ तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम् । दक्षैस्त्यक्तं महामूढै स्वीकृतं धर्मदूरगैः ॥७१॥ सप्तधातुमयेदेहे सर्वाशुचि कुटीरके । मन्यन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा न च ॥७२॥ इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वादोषान् स्नानभवान् वहून् । श्रयध्वं धीधनाः शुध्यै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ॥७३॥ रहितनिखिलदोषरागनिर्नाशहेतुं मसमगुणसमुद्रं लोक नाथैकपूज्यम् जगतिपरपवित्रं शुद्धिदं पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ॥७४॥ संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री क्लीवादि-विवर्जिते । अल्पससरितेप्रासुकभूम्यादिक गोचरे ॥७५॥ एकपार्श्वधनुर्दंडादिशय्याभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमो-

---

की वंदना कभी नही करनी चाहिये ॥६९॥ देखो यह शरीर अत्यंत मलिन है इसलिये वह जल से कभी शुद्ध नही हो सकता। इसी प्रकार यह अपनी आत्मा विना जल के स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ॥७०॥ इसलिये मुनियों के लिए जल से स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है। इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ॥७१॥ यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थों का घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किंतु उन्हें पशु समझना चाहिये ॥७२॥ इस प्रकार अस्नान व्रत के अनेक गुणों को समझ कर और स्नान से उत्पन्न होने वाले बहुत से दोषों को समझ कर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रत को ही स्वीकार करना चाहिये ॥७३॥ यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणों का समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भर में पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करने वाला है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नानव्रत को नित्य ही पालन करना चाहिये ॥७४॥ मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यंच स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक करवट से अथवा धनुष के समान पैर समेट कर वा डंडे के समान

त्यक्त्वै धराशयनमेवतत् ॥७६॥ अनेनाजायते दृढं तु ब्रह्मव्रतम् । निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेगवर्द्धनः ॥७७॥ मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तथा ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युतेर्नृणाम् ॥७८॥ एषः सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः । विश्वपापकरीभूतोऽनेकानर्थादिसागरः ॥७९॥ मत्वेत्यन्नपानादौ काठिन्यैः शयनासने । निद्रा जयं प्रकुर्वीध्वं मुनीन्द्राः ध्यानसिद्धये ॥८०॥ यतो निद्राविजयार्थ येऽक्षमा जेतुं निद्राशत्रवः । ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः । विज्ञायेति न कर्त्तव्या निद्रापापखनी क्वचित् । दिवसे सति रोगादौ ग्लानिभि-ध्यान नाशिनी ॥८२॥ किन्तु मध्यविभागे च निशायां योगिनायकाः । आन्तर्मुहूर्तिकीं निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥८३ कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमशान्त्यादि हानये । न पूर्वे पश्चिमे यामे सति प्राणात्ययेपि भोः ॥८४॥ [illegible]

शयन करते हैं उसको भूमिशयन नाम का मूलगुण कहते हैं ॥७५–७६॥ इस भूमिशयन व्रत से ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यंत दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है ॥७७॥ कोमल शय्या पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ॥७८॥ समस्त प्रमादों में यह निद्रा नाम का प्रमाद ही प्रबल है। यह निद्रा नाम का प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥७९॥ यही समझ कर मुनियों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अन्न पान की मात्रा अत्यंत कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्या पर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि जो लोग इस निद्रा रूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना ध्यान की शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥८१॥ यही समझ कर ध्यान करने वाले मुनियों को रोगादिक के होने पर भी पाप की ग्लानि और ध्यान का नाश करने वाली ऐसी निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिये ॥८२॥ इसलिये हे योगिराजो ! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिये शिला भूमि वा तख्ते पर रात्रि के मध्य भाग में अंतमुहूर्त तक निद्रा लो। रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत प्राण होने पर भी निद्रा

धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥ ५५ ॥ दुर्ध्यानहानये नित्यं कुर्वन्ति श्रीजिनादयः । निर्दोपं स्वाखिलांगे हो दिगष्टावरण परम् ॥ ५६ ॥ यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च । तावन्न लभते मोक्षं काकथापरयोगिनाम् ॥ ५७ ॥ मत्वेति मुक्ति कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमजसा । कलंकमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥ ५८ ॥ असमगुण निधानमुक्तिधामाग्रमार्गं, जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्याद्रिखानिम् । त्रिभुवनपतिवंद्यं धीधनाः स्वीकुरुध्वं शुभशिव–गतयेत्रा चेलकत्व त्रिशुध्या ॥ ५६ ॥ स्नानोद्वर्तनसेकादीन मुखप्रक्षालनादिकान् । संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद जल्लमलादिभि. ॥ ६० ॥ लिप्तांगं धार्यते यच्च स्वान्तः शुध्यै विंशुद्धये । तदस्नान व्रत प्रोक्तं जिनैरंतर्मलाप–

के अनेक दोप समझ कर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझ कर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानों को दूर करने के लिए अपने समस्त शरीर पर सब दोपों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥५५–५६॥ इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तव तक उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो वात ही क्या है॥५७॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये ॥५८॥ यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधर देव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये ॥५६॥ जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिए और आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उवटन, शरीर का सिचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करने वाला अस्नान नाम का व्रत कहते हैं ॥६०–६१॥ इस अस्नान नाम के उत्तम व्रत

हम् ॥ ६१ ॥ अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः । जायन्तेयमिनां नूनं शुद्धयोघमलान्तकाः ॥ ६२ ॥ रागद्वेषा-दिमोहानां हानयश्च व्रतादयः । अहिंसादिक सम्पूर्ण वैराग्यादिविवृद्धयः ॥ ६३ ॥ यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां परिक्षयः । तेन पापं परंरागो महान् ब्रह्मादिघातकः ॥ ६४ ॥ ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम् । रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण नाशिनः ॥ ६५ ॥ अस्नान व्रतभूपानामन्तःशुद्धिः पराभवेत् । रागादि त्यजनैः कर्म नाशजामुक्तिमातृका ॥ ६६ ॥ मद्यकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यादृशः स्नानैरन्तःपापमलीमसाः ॥ ६७ ॥ घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्तः शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ॥ ६८ ॥ यदि स्नानेन शुद्धिश्चेत्तर्हिवद्या विशुद्धये । मूढैर्मत्स्याद्यो व्याधा नान्तःशुद्धाश्चसज्जनाः ॥६९॥

से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं। इस अस्नान व्रत से राग द्वेष मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥६२—६३॥ इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवों का घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करने वाला महा राग प्रगट होता है ॥६४॥ अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों को नाश करने वाले पापकर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ॥६५॥ जो मुनि अस्नान व्रत से सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करने वाली और मोक्ष को देने वाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की शुद्धि प्रगट होती है ॥६६॥ जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जल से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापों से महा मलिन मिथ्या दृष्टी भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥६७॥ जिस प्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी बिना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यंत शुद्धता को धारण करने वाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ॥६८॥ यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषों को अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की वा धीवरों की वंदना करनी चाहिये अंतरंग में शुद्धता धारण करने वाले सज्जनों

हानये बुधैः ॥७७॥ एतद्द्वादशधा प्रोक्तं समासेन मया तप. । सर्वयत्नेन मुक्त्यर्थमाचरन्तु तपोधना. ॥ ७८॥ यथाग्निविधिनातप्तं द्रुतं शुध्यति कांचनम् । तथा कर्मकलंकी च स्वात्मा तपोग्निना भृशम् ॥ ७६॥ वस्त्राद्याः समलाद्रव्या यद्वद्धौताश्चवारिणा । भवन्ति निर्मला स्तद्वद्योगी तपोच्छवारिणा ॥ ८०॥ तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरारुज. । पचाक्षारातिभिःसार्द्धं विलीयन्तेघराशयः ॥ ८१ ॥ चतुर्ज्ञानधरोमुक्तिगामीशक्रगणार्चितः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य करोत्येव पर तप. ॥ ८२ ॥ आदिदेवोऽपि वर्षान्तेपारणं कृतवान् भुवि । अन्यैरपि जिनाधीशै. सर्वैः कृत तपो महत् ॥ ८३ ॥ धीरोबाहुबलिः कृत्वा वर्षैकप्रोपधान्परान् । व्युत्सर्गस्थ. सुयोगेन केवलज्ञानमापभो. ॥८४॥ इत्याध्या' प्रवराः सर्वे पुराणपुरुषा अहो । बलाद्यन्ये तप कृत्वा घोरं मुक्तिपदंययु' ॥ ८५॥ गता यांति च

इस प्रकार बारह प्रकार का यह तपश्चरण हमने अत्यंत संक्षेप से कहा है। तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर इन तपश्चरणों को पालन करना चाहिये ॥७८॥ जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ सोना शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह कर्ममल से कलंकित हुआ आत्मा तपश्चरण रूपी अग्नि से बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है ॥७६॥ जिस प्रकार मलिन वस्त्र पानी से धोने पर निर्मल हो जाते हैं उसी प्रकार योगी पुरुष भी तपश्चरण रूपी स्वच्छ जल से अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥८०॥ इस तपश्चरण रूपी औषधि से जन्म मरण बुढ़ापा आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं पंचेन्द्रिय रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापों की राशि नष्ट हो जाती है ॥८१॥ जो मोक्ष-गामी पुरुष चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं और समस्त इन्द्र जिनकी पूजा करते है ऐसे योगी पुरुष अपनी शक्ति को प्रगट कर सदा उत्कृष्ट तपश्चरण करते हैं ॥८२॥ देखो भगवान वृषभदेव ने एक वर्ष के बाद पारणा किया था। तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण किया था ॥८३॥ अत्यंत धीरवीर बाहुबलि ने भी एक वर्ष का उत्कृष्ट उपवास किया था तथा श्रेष्ठ योग धारण कर कायोत्सर्ग से विराजमान होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था ॥८४॥ इस प्रकार समस्त श्रेष्ठ महापुरुष अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपश्चरण कर के ही मोक्ष पद में जा विराजमान हुए हैं ॥८५॥ मोक्ष

पास्यन्ति मुक्तिं येत्र मुमुक्षवः । कर्मारीन् केवलं हत्वातपोभिस्ते न चान्यथा ॥ ८६ ॥ मुक्तिमार्गप्रवृत्तानांत्रिरत्नश्रीयुतात्मनाम् । विघटन्तेक्षचौराद्यास्तपःसुभटताडिताः ॥ ८७ ॥ सहायीकृत्य यो धीमान् तपःसुभटमूर्जितम् । व्रजेन्मुक्तिपथेक्षार्थं विघ्नं तस्य न जातुचित् ॥ ८८ ॥ तपोलंकारिणो नूनमत्यासक्ता शिवात्मजा । वृणोत्यत्र न संदेह का वार्ता शक्रयोषिताम् ॥ ८९ ॥ अहमिन्द्रपदं पूज्यं देवराजपदंमहन् । चक्रनाथपदं चान्यद्बलदेवादिसत्पदम् ॥ ९० ॥ लौकान्तिकपदंसारं गणेशादिपदपरम् । तपः फलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुतम् ॥ ९१ ॥ अनन्तमहिमोपेतास्तीर्थनाथविभूतयः । तपसा धीमतांसर्वा जायन्ते मुक्तिमातृकाः ॥ ९२ ॥ त्रिजगन्नाथसंसेव्यान् भोगान् पंचाक्षपोषकान् । तपोधना लभन्ते च सौख्यं वाचामगोचरम् ॥ ९३ ॥ तपोमंत्रवराकृष्टासम्पल्लोकत्रयोद्भवा ।

की इच्छा करने वाले जो पुरुष आज तक मोक्ष गये हैं अब जा रहे हैं वा आगे जॉयगे वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर मोक्ष गये हैं वा जाँयगे। बिना तप के न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है ॥८६॥ जो पुरुष मोक्षमार्ग में लग रहे हैं और रत्नत्रय की लक्ष्मी सुशोभित हैं उनके इन्द्रियरूपी चोर तपश्चरण रूपी सुभट से ताड़ित होकर अपने आप भाग जाते हैं ॥८७॥ जो बुद्धिमान इस तपश्चरण रूपी उत्कृष्ट योद्धा को साथ लेकर मोक्षमार्ग में गमन करता है उसके लिए इन्द्रियाँ आदि कभी भी विघ्न नहीं कर सकतीं ॥८८॥ जो पुरुष तपश्चरणरूपी अलंकार से सुशोभित हैं उनको मोक्षरूपी कन्या अत्यंत आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है इसमें कोई सन्देह नहीं है फिर भला इन्द्र की इन्द्राणियों की तो बात ही क्या है ॥८९॥ तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही फल से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसा पूज्य अहमिन्द्रपद उत्कृष्ट इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद श्रेष्ठ बलभद्र का पद सारभूत लौकान्तिक का पद और उत्कृष्ट गणधर का पद प्राप्त होता है ॥९०–९१॥ इस तपश्चरण से ही बुद्धिमानों को अनंत चतुष्टय की महिमा से सुशोभित सबको सुख देने वाली और मोक्ष की जननी ऐसी तीर्थंकर की उत्कृष्ट विभूति प्राप्त होती है ॥९२॥ तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवन करने योग्य और पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले ऐसे भोग प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर ऐसे सुख प्राप्त होते हैं ॥९३॥ तपस्वी पुरुषों को

तपोमहात्म्यतो गुर्वी सपद्यते तपस्विनाम् ॥ ६४ ॥ तपश्चिन्तामणिर्दिव्यस्तपः कल्पद्रुमोमहान् । तपो नित्यं निधानं तपः कामधेनुरूर्जिता ॥ ६५ ॥ यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम् । अनर्घ्यं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसा-चिरात् ॥ ६६ ॥ ये तपः कुर्वते नाहो सत्वहीना खलपटाः । भवेद्रोग व्रजस्तेषामत्र लघनराशिदः ॥ ६७ ॥ ततस्तीव्रमहादुःखक्लेशादिशतसंकुलम् । अक्षोत्थपापपाकेन जन्मश्वभ्रादिदुर्गतौ ॥ ६८ ॥ इति मत्वा बुधानित्यं-जित्वापंचाक्षतस्करान् । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्यचरन्त्वत्र तपोनघम् ॥ ६९ ॥ वलं वीर्यं निज सर्वं प्रकटीकृत्य योगिनाम् । सयमाचरण यत्सवीर्याचारोजिनैर्मतः ॥ ५०० ॥ रसाहारौपधाद्यैश्चजनित वलमुच्यते । वीर्यं वीर्यान्तरायस्यक्षयोपशमसम्भवम ॥ १ ॥ अनयोः प्राप्यसामर्थ्यं तपोयोगादिसयमान् । व्युत्सर्गादींश्च कुर्वन्त्वनिगू-

इस तपश्चरण के ही माहात्म्य से तपश्चरणरूपी श्रेष्ठ मंत्र से आकृष्ट हुईं तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट संपत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥९४॥ यह तपश्चरण ही चिंतामणि रत्न है, तपश्चरण ही महान् कल्पद्रुम है तप ही सदा रहने वाला निधान वा खजाना है और तप ही उत्कृष्ट कामधेनु है ॥९५॥ तीनों लोकों में रहने वाले जो बहुमूल्य पदार्थ अत्यंत दूर हैं और जो कठिनता से प्राप्त हो सकते है वे सब पदार्थ इस तपश्चरण से बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं ॥९६॥ इन्द्रियों में लंपटी और शक्ति हीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते हैं उन्हें अनेक लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त हो जाते हैं ॥९७॥ उन इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महा पाप के फल से उन लंपटियों का जन्म नरकादिक दुर्गतियों में होता है जहाँ कि तीव्र महा दुःख और सैकड़ों महा क्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं ॥९८॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों को जीत कर और अपनी शक्ति को प्रगट कर निरंतर पापों से सर्वथा रहित ऐसा तपश्चरण करते रहना चाहिये ॥९९॥ योगी लोग जो अपना बल वीर्य आदि सब प्रगट कर के संयमाचरण का पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव वीर्याचार कहते हैं ॥५००॥ सरस आहार और औषधि आदि से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं तथा वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वीर्य कहते हैं ॥१॥ इन दोनों की सामर्थ्य प्राप्त कर तथा अपनी शक्ति को न छिपा कर मुनियों को तप, योग, संयम और

हितपराक्रमा ॥ २ ॥ प्राणीन्द्रियद्विभेदाभ्यां संयमो द्विविधो मतः । तत्राणिसंयमः सप्तदशप्रकार एव हि ॥ ३ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कायानां वनस्पतिदेहिनाम् । यत्नेनरक्षणं यत्पंचधा कायसंयमः ॥ ४ ॥ द्वित्रितुर्यपंचेन्द्रियाणां यत्प्रतिपालनम् । त्रसभेदेन सम्प्रोक्तश्चतुर्धा संयमः मताम ॥ ५ ॥ अजीवानां तृणादीनामच्छेदनं नखादिभिः । यत्ससंयमिनां प्रोक्तः संयमोऽजीवसंज्ञकः ॥ ६ ॥ ज्ञानोपकरणादीनां यन्नामत्प्रतिलेखनम् । नेत्रेणादर्शनं तस्यगत्वा-त्संयमनं महत् ॥ ७ ॥ मृदुपिच्छिकया वारं वारं यत्प्रतिलेखनम् । दर्शनं नयनाभ्यां सः प्रतिलेखनसंयमः ॥ ८ ॥ जीवमर्दनबाधादिकरदुष्प्रतिलेखनम् । तत्संयमनमर्वप्रमादमन्तरेणयत् ॥ ९ ॥ सूक्ष्मप्राणिदयाहेतु प्रमार्जनंमुहुर्मुहुः । उक्तः स जिननाथैर्दुष्प्रतिलेखनसंयमः ॥ १० ॥ उपेक्षणमुपेक्षा च धर्मोपकरणादिषु । व्यवस्थाप्यातिकालेना-

---

कायोत्सर्ग आदि धारण करना चाहिये ॥२॥ यह संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं ॥३॥ पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पाँच प्रकार का काय संयम है ॥४॥ दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सज्जन लोगों के लिए चार प्रकार का त्रस संयम कहलाता है ॥५॥ संयमी लोग जो तृण आदि अजीव पदार्थों को भी नाखून आदि से भी कभी नहीं छेदते उसको अजीवसंयम कहते हैं ॥६॥ ज्ञानादिक के उपकरणों का ठीक ठीक अच्छी तरह प्रतिलेखन न हुआ हो वा वे उपकरण नेत्रों से अच्छी तरह न देखे गये हों ऐसे पदार्थों को कोमल पीछी से प्रतिलेखन करना वार वार प्रतिलेखन करना और वार वार नेत्रों से देखना इस प्रकार प्राणियों की रक्षा करना प्रतिलेखन संयम कहलाता है ॥७–८॥ जीवों को मर्दन करने वाला वा जीवों को बाधा देने वाला जो किसी ने प्रतिलेखन किया है उसके लिये संयम पालन करना, सब तरह के प्रमाद छोड कर सूक्ष्म प्राणियों की दया पालन करने के लिये उन पदार्थों को वार वार प्रमार्जन करना पीछी से शोधना भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा दुःप्रतिलेखन नाम का संयम कहा जाता है ॥९–१०॥ संयम में मन न लगाना उपेक्षा है। धर्मोपकरणों को रख कर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्छन जीवों को देख कर उपेक्षा का संयमन वा निग्रह करना

दर्शनं तत्रजन्मिनाम् ॥११॥ सम्मूर्च्छनं विलोक्योपेक्षायाः संयमनं मुहुः । प्रत्यहं दर्शनंयत्किलोपेक्षासंयमोऽत्र सः ॥१२॥ अथापहरणं पिच्छिकयैकाक्षादिदेहिनाम् । अन्यत्रक्षेपणं तस्मात्तस्य संयमनं परम् ॥ १३ ॥ अनिराकरणं यत्नात्तत्रैव परिरक्षणम् । यत्सोपहरणाख्योत्रसंयमो यमिनां स्मृतः ॥ १४ ॥ मनो वचनकायानांनिसर्ग चंचलात्मनाम् । ध्यानाद्यैर्निग्रहो यः सः त्रिविधो योगसंयम ॥ १५ ॥ एतेऽत्रयोगिनां सप्तदशभेदाः प्ररूपिताः । संयमस्यगणाधीशै-रागमे व्रतशुद्धिदाः ॥ १६ ॥ पंचाक्षव्रजतास्वस्वविषयेषु विरागिभिः । व्रताद्यैर्दमनं यत्स पंचधेन्द्रियसंयमः । १७ ॥ स्वेच्छयागच्छतो लोके मनसो यन्निरोधनम् । ध्यानाध्ययनकर्माद्यैर्मनः संयमएव सः ॥ १८ ॥ चतुर्दशविधा जीवसमासा यत्र यत्नतः । रक्ष्यन्ते योगिभिर्मुक्त्यै स प्राणिसंयमोद्धृतः ॥ १९ ॥ इत्येते संयमाः सर्वे प्राणी-न्द्रियाभिधाबुधैः । विधेया बलवीर्याभ्यां संवराय-शिवाय च ॥ २० ॥ अनुगूहितवीर्याणां स्युर्विश्वेसंयमाः पराः ।

प्रतिदिन बार बार उसे देखना उपेक्षासंयम कहलाता है ॥११-१२॥ एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदि जीवों को पीछी से हटा कर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों को न तो अन्यत्र स्थापन करना न जाने से रोकना प्रयत्न पूर्वक वहीं पर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नाम का संयम कहलाता है ॥१३-१४॥ मन वचन काय ये तीनों स्वभाव से ही चंचल हैं उनको ध्यानादिक द्वारा निग्रह करना तीन प्रकार योगसंयम कहलाता है ॥१५॥ भगवान गणधरदेव ने अपने आगम में योगियों के लिये व्रतों को शुद्ध करने वाले ये संयम के सत्रह भेद बतलाये हैं ॥१६॥ पाँचों इन्द्रियाँ जो अपने अपने विषयों में गमन करती हैं उनको रागरहित व्रती पुरुष जो दमन करते हैं उसको पाँच प्रकार का इन्द्रियसंयम कहते हैं ॥१७॥ इस प्रकार यह मन भी तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करता है उसको ध्यान अध्ययन आदि कार्यों से निग्रह करना मनसंयम कहलाता है ॥१८॥ योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो जीव समासों के भेद से चौदह प्रकार के जीवों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं उसको भी उत्कृष्ट प्राणिसंयम कहते हैं ॥१९॥ बुद्धिमान् पुरुषों को कर्मों का संवर करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपना बल और वीर्य प्रगट कर ऊपर लिखे हुए प्राणी और इन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के संयमों का सदा पालन करते रहना चाहिये ॥२०॥ जो संयमी

सत्तपांसि च सर्वाणिगुणा ज्येष्ठाः शिवादयः ॥ २१ ॥ मत्वेतिसंयमाचारे तपसां करणे खिले । योगाद्यन्यत्र वा कार्यं न वीर्याच्छादनंमनाक् ॥ २२ ॥ एवपचविधान्जिनेन्द्रगदितानाचारभेदात्परान् । मुक्त्यै ये निपुणा भजन्ति परया भक्त्यात्रिशुद्ध्याखिलान् । हत्वाघातिरिपून्समाप्यपरमं ज्ञानं सुरैः पूजन, तेऽन्त्यांगाश्रनिहत्यकर्मवपुसोयान्त्येव-मुक्त्यालयम् ॥ २३ ॥ येन्येश्रीमुनिनायकाः सुरनताः शक्त्या चरन्त्युर्जितान्, एतान्पंचविधानविमुक्तिजनकाम् आचारसारान्सदा । ते भुक्त्वात्रिजगद्भवं वरसुखंसर्वार्थसिध्यादिजं राज्यं चानुसमाप्यसंयममतोगच्छन्तिमोक्ष-क्रमात् ॥ २४ ॥ इति विदिततदर्थाः पचधाचारसारान् । शिवसुखगतिहेतून् कर्ममातंगसिहान् । कुगतिगृहकपाटान्

अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हैं उन्हीं के समस्त उत्कृष्ट संयम होते हैं उत्कृष्ट समस्त तपश्चरण होते हैं उत्तम गुण प्रगट होते हैं और उन्हीं को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥२१॥ यही समझ कर संयमों के पालन करने में समस्त तपश्चरणों के करने में वा आतापनादि योग धारण करने में अथवा और ऐसे ही कार्यों में अपनी शक्ति को कभी नहीं छिपाना चाहिये। अपने वीर्य को कभी ढकना नहीं चाहिये ॥२२॥ ये पाँचों प्रकार के आचार भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये जो चरम शरीरी चतुर पुरुष मन वचन काय को शुद्ध कर परमभक्ति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन पाँचों आचारों का पालन करते हैं वे महा पुरुष घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर परम केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय वे देवों के द्वारा पूजे जाते है और अंतमें समस्त कर्म और शरीर को नाश कर परम मोक्षस्थान में जा विराजमान होते हैं ॥२३॥ अनेक देव जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे और भी अनेक मुनिराज जो अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष देने वाले सर्वोत्कृष्ट इन सारभूत पाँचों आचारों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले सर्वार्थ सिद्धि आदि के श्रेष्ठ सुख भोगते हैं श्रेष्ठ राज्य का अनुभव करते हैं और अंतमें संयम पालन कर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२४॥ ये पाँचों आचार सारभूत हैं, स्वर्ग मोक्ष के कारण है. कर्मरूपी हाथियों के लिये सिंह के समान हैं, कुगति रूपी घर को बंद करने के लिए कपाट के समान हैं और तीर्थंकर परमदेव भी इनका पालन करते हैं। अतएव इन पंचाचारों के अर्थ को समझने वाले पुरुषों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये

तीर्थनाथैःनिपेव्यान् , भजत शिवसुखाप्त्यैमोहशत्रुं निहत्य ॥ २५ ॥ नाभेयाद्यैर्जिनेशैस्त्रिभुवनमहितै र्यैःप्रणीताधरित्र्या–माचारामुक्तिसिध्यै गणधरसहितैस्तत्फलेनात्र लब्धः । मोक्षो यैः सिद्धनाथैस्त्रिविधमुनिगणैराहता येऽत्र यत्नात् ते सर्वेधर्मनाथास्त्रिजगतिगुरुवो मेप्रदद्युः स्वभूतीः ॥ २६ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार व्यावर्णने ज्ञानचारित्रतपो वीर्याचार वर्णनो नाम षष्ठोधिकारः ।

मोहरूपी शत्रु को नाश कर इन पाँचों आचारों का पालन करना चाहिये ॥२५॥ तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे जिन वृषभदेव आदि तीर्थंकरों ने वा जिन गणधर देवों ने मोक्ष की सिद्धि के लिये इन पाँचों आचारों का इस लोक में निरूपण किया है तथा जिन सिद्ध भगवान ने इन पंचाचारों के फल से मोक्ष की प्राप्ति की है और जिन आचार्य उपाध्याय साधुओं ने प्रयत्नपूर्वक इन आचारों का पालन किया है वे सब धर्म के स्वामी और तीनों लोकों के गुरु भगवान पंच परमेष्ठी मेरे लिये अपनी अपनी विभूति प्रदान करें ॥५२६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ में पंचाचार के वर्णन में ज्ञान चारित्र तप वीर्याचार को निरूपण करने वाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ ।



सप्तमोधिकारः ।



श्रीमतस्तीर्थनाथांश्चसमाचारप्ररूपकान् । सिद्धान्साधून्जगत्पूज्यान्गुणाब्धीन्नौमिसिद्धये ॥ १ ॥ अथ यः सम्यगाचारः समानः सर्वयोगिनाम् । समजातोथवा वक्ष्येसमाचाराख्यमेव तम् ॥ २ ॥ एकः औधिकः संगोद्वितीय पदविभागिकः । इत्यत्र स समाचारोद्विधोक्तः श्रीजिनागमे ॥ ३ ॥ औधिकोऽपिसमाचारो दशभेदोजिनाधिपैः । मतोऽनेकविधोमूलाचारेपदविभागिकः ॥ ४ ॥ इच्छाकारो हि मिथ्याकारस्तथाकार आसिका । निषेधिका किला–

सातवां अधिकार ।

मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिये अंतरंग वहिरंग विभूति से सुशोभित और समाचार नीति को प्ररूपण करने वाले तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करता हूं जगतपूज्य सिद्धों को नमस्कार करता हूं और गुणों के समुद्र ऐसे साधुओं को नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो समस्त मुनियों को समान रीति से पालन करने पड़े ऐसे श्रेष्ठ आचरणों को समाचार कहते हैं। ऐसे समाचारों को अब आगे इस अध्याय में निरूपण करते हैं ॥२॥ यह समाचार भगवान जिनेन्द्रदेव के आगम में दो प्रकार का बतलाया है। एक औधिक और दूसरा पदविभागिक ॥३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने औधिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं और मूलाचार ग्रन्थों में पदविभागिक के अनेक भेद बतलाये हैं ॥४॥ इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सन्निमंत्रण और उपसंपत्

पृच्छाप्रतिपृच्छा च छन्दनम् ॥ ५ ॥ सन्निमंत्रण एव वाथोपसंपद्योगिनामिमे । दशभेदाःसमाख्याता औघिकस्य समासतः ॥ ६ ॥ इष्टेरत्नत्रयादौवेच्छाकारः शुभकर्मणि । अपराधेऽखिलेमिथ्याकारोव्रताद्यतिक्रमे ॥ ७ ॥ प्रतिश्रवणयोगेसिद्धान्तार्थानां तथैव हि । गुहाशून्यगृहादेर्निर्गमनेत्रासिकास्मृता ॥ ८ ॥ देवगेहगुहाद्यंत.प्रवेशे च निषेधिका । स्वकार्यारम्भनेकार्या पृच्छागुर्वादियोगिनाम् ॥ ९ ॥ गुरुसाधर्मिकाद्यन्यैः पूर्वं निःसृष्टवस्तुनि । पुनस्तद्ग्रहणे युक्त्या प्रतिपृच्छा शुभप्रदो ॥ १० ॥ सूरिसाधर्मिकादीनांगृहीते पुस्तकादिके । सेवनं तदभिप्रायेण यच्छदनमेव तत् ॥ ११ ॥ गुरूपाध्यायसाधूनां धर्मोपकरणे शुभे । अगृहीते तदर्थं या यांचा सा सन्निमत्रणा ॥ १२ ॥ युष्माकमहमेवेतिनिजेगुरुकुलेशुभे । निसर्ग.स्वात्मनस्त्याग उपसम्यतसुवाक्व्रजा ॥१३॥ एप उक्तः समाचारोदशधौघिक आगमे ।

ये औघिक समाचार के संक्षेप से दश भेद कहलाते हैं ॥५–६॥ रत्नत्रयादिक इष्ट पदार्थों में वा शुभ कामों में इच्छाकार किया जाता है। व्रतों के अतिचारों में वा अपराध हो जाने पर मिथ्याकार किया जाता है ॥७॥ सिद्धांतशास्त्र के अर्थ सुनने पर वा ग्रहण करने पर तथाकार किया जाता है। किसी गुफा वा सूने मकान में से जाते समय आसिका की जाती है ॥८॥ किसी देव के मंदिर में वा गुफादिक में प्रवेश करते समय निषेधिका की जाती है। अपने किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय गुरु आदि योगियों से आपृच्छा की जाती है ॥९॥ किसी गुरु वा साधर्मी मुनि के पास पहले कोई वस्तु रखदी हो और फिर उसके लेने की इच्छा हो तो शुभ देने वाली प्रतिपृच्छा युक्तिपूर्वक की जाती है ॥१०॥ किसी आचार्य वा अन्य साधर्मी मुनि की पुस्तक आदि वस्तु उनकी इच्छानुसार अपने काम के लिए लेनी हो तो छंदन नाम का समाचार किया जाता है ॥११॥ आचार्य उपाध्याय वा साधु के शुभ धर्मोपकरण अपने काम के लिये लेने हों तो उसके लिये जो याचना करना है उस समय सन्निमंत्रण नाम का समाचार किया जाता है ॥१२॥ मैं आपका हूँ इस प्रकार कह कर अपने शुभ गुरुकुल में स्वभाव से अपने आत्मा को समर्पण कर देना। श्रेष्ठ वचनों को कहलाने वाला उपसंपत् नाम का समाचार कहलाता है ॥१३॥ इस प्रकार जिनागम में संक्षेप से औघिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं। अब

समासेन ततश्चोर्ध्वं वक्ष्ये पदविभागनम् ॥ १४ ॥ सूर्यस्योद्गममारभ्य कृत्स्नेऽहोरात्रमंडले । यन्नियमादिकं सर्वमाचरन्ति निरन्तरम् ॥१५॥ आचारांगभवंयत्नाच्छ्रमणाभवहानये । समाचारो जिनैः सोऽत्र प्रोक्तः पदविभागकः ॥१६॥ पुनर्येप्रोदिताःपूर्वमिच्छाकारादयो दश । संक्षेपाद्विस्तरेणात्र वक्ष्ये तेषांसुलक्षण ॥ १७ ॥ संयमज्ञानधर्मोपकरणादिकयाचने । आतापनादियोगनांमहणेतपसां सताम् ॥ १८ ॥ करणेपठनेंगानां सर्वत्रशुभकर्मणि । इच्छाकारश्च कर्तव्यः परिणामोमुमुक्षुभिः ॥ १९ ॥ अतीचारे व्रतादीनां जातेगवाक्यमानसैः । अशुभैश्चप्रमादाद्यैरेतन्मेदुष्कृतंकृतम् ॥ २० ॥ मिथ्यास्तुनिष्फलंसर्वंकरिष्येजातुनेदृशम् । त्रिशुध्येत्यपराधस्यमिथ्याकारः सतांमतः ॥ २१ ॥ सिद्धांतादिमहार्थानां श्रवणेचोपदेशने । गुरुणाक्रियमाणेत्रवितथेयन्निरूपितम् ॥ २२ ॥ भवद्भिः सकलार्थं तदेवमेव न चान्यथा । इत्युक्त्वा

अब आगे पदविभागी नाम के समाचार को कहते हैं ॥१४॥ मुनिलोग अपने संसार को नाश करने के लिये सूर्योदय से लेकर समस्त दिन और रात में आचारांग सूत्र के अनुसार जो यत्नपूर्वक समस्त नियमों का पालन करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव पदविभागिक नाम का समाचार कहते हैं ॥१५–१६॥ ऊपर औघिक समाचार के जो संक्षेप से दश भेद बतलाये हैं अब आगे विस्तार के साथ उन्हीं का लक्षण कहते हैं ॥१७॥ संयमोपकरण ज्ञानोपकरण वा धर्मोपकरण की याचना करते समय आतापन आदि योगों को ग्रहण करते समय, किसी तपश्चरण को ग्रहण करते समय, अंगों का पठन पाठन करते समय वा अन्य समस्त शुभ कार्यों में मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने इच्छाकार रूप परिणाम रखने चाहिये ॥१८–१९॥ अशुभ मन वचन काय से, प्रमाद से वा इन्द्रियों से व्रतादिकों में अतिचार लग जाय तो यह मैंने बुरा किया वा पाप किया यह सब मिथ्या हो निष्फल हो अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूंगा। इस प्रकार मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक अपराध का पश्चात्ताप करना सज्जनों के द्वारा मिथ्याकार कहलाता है ॥२०–२१॥ सिद्धांत आदि महा शास्त्रों के अर्थ सुनने पर अथवा गुरु के यथार्थ उपदेश देने पर यह कहना कि "आपने जो कहा है सो सब यथार्थ कहा है वह अन्यथा नहीं" इस प्रकार कह कर उन शास्त्रों का सुनना तथाकार कहलाता

श्रवणंतेषांयत्तथाकार एव सः ॥ २३ ॥ गिरिकन्दरजीर्णोद्यानगुहापुलिनादिषु । प्रवेशसमये कार्यांग्यवधायनिषे- धिका ॥ २४ ॥ तेभ्योद्ग्रादिप्रवेशेऽभ्योन्येभ्योनिर्गमनेसदा । विधातव्यासिका व्यंतरादिप्रीत्यैविचक्षणैः ॥ २५ ॥ आतापनादियोगानाग्रहणे तपसां भुवि । करणे कायसंस्थित्यैचर्यादिव्रजनेपरे ॥ २६ ॥ ग्रामादिगमने चान्याखिले कार्येशुभेनिजे । सूर्यादीन् विनयेनैत्याप्रृच्छा कार्यासुशैद्यकै ॥ २७ ॥ यत्किंचिन्महत्कार्यं दुष्करं धर्मसम्भवम् । करणीयंप्रणम्यात्मगुर्वाचार्यादिकाखिलान् ॥ २८ ॥ पृष्ट्वापुनर्मुदासाधून्साधुपृच्छतिसिद्धये । निजकार्यस्य तांविद्धि प्रतिपृच्छां शुभप्रदाम् ॥ २९ ॥ पुस्तकादिगृहीतेषु विनये वन्दनादिके । जैनागमपदार्थानांप्रश्नेऽन्येधर्मकर्मणि ॥ ३० ॥

है ॥२२–२३॥ किसी पहाड़ की गुफा में, पुराने वन में, कंदरा में किसी नदी के किनारे पर प्रवेश करना हो तो उस समय जीवों का बध न हो इसलिये मुनियों को निषेधिका करनी चाहिये । णिसही णिसही ऐसा उच्चारण करना चाहिये ॥२४॥ चतुर मुनियों को व्यंतरादिक देवों को प्रसन्न करने के लिये पर्वत की गुफा सूने मकान आदि से बाहर जाते समय असही असही ऐसा कह कर आसिका करनी चाहिये ॥२५॥ शिष्य मुनियों को आतापन आदि योग के धारण करते समय, तपश्चरण धारण करते समय, शरीर को स्थिर रखने के लिये चर्या करने को जाते समय, दूसरे गाँव को जाते समय तथा और भी अपने शुभ समस्त कार्यों के करने पर विनयपूर्वक आचार्यों से पूछना चाहिये इसी को आपृच्छा नाम का समाचार कहते हैं ॥२६–२७॥ यदि किसी साधु को धर्म सम्बन्धी कोई अत्यंत कठिन और बहुत बड़ा कार्य करना हो तो वह पहले अपने गुरु आचार्य वा वृद्ध मुनि आदि सबको पूछ लेता है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिये फिर भी वह साधु अन्य साधुओं को भी पूछता है इस कल्याण करने वाले समाचार को प्रतिपृच्छा कहते हैं ॥२८–२९॥ चतुर मुनि किसी आचार्य आदि से पुस्तकादि के ग्रहण करते समय, विनय करते समय, वंदना आदि करते समय, अथवा जैन शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों के स्वरूप को पूछते समय अथवा और भी किसी शुभ कार्यों के करते समय समस्त भव्य जीवों का हित करने वाले वृषभसेन आदि गणधरों की वा आचार्य आदि की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति करना अथवा

गणेशवृषभादीनांविश्वभव्यहितात्मनाम् । दद्यौरिच्छानुवृत्तिर्याचयंतेछन्दनं च तत् ॥ ३१ ॥ गुरुसाधर्मिकान्येषांपुस्तकादिपरिग्रहम् । धर्मोपकरणंवान्यदिच्छन्गृहीतुमात्मवान् ॥ ३२ ॥ तदानांविनयेनैत्य तेषां नत्वा पदाम्बुजान् । कुर्यान्निमत्रणांयोगीयाचनां कार्यसिद्धये ॥ ३३ ॥ उपसम्पज्जिनैः प्रोक्ता पंचधा विनयेसताम् । चेत्रेमार्गे तथासौख्येदुःखेसूत्रेमहात्मनाम् ॥ ३४ ॥ आघूर्णकयतीनांविनयोपचार ऊर्जितः । अंगांघ्रिमर्दनै.संस्तरासनादिनिवेदनम् ॥ ३५ ॥ आवासभूमिसंपृच्छापुस्तकादिसमर्पणम् । इत्यादिकरणर्याद्विनयोपसम्पदेव सा ॥ ३६ ॥ दृग्ज्ञानसंयमाद्याश्चसत्तपोनियमाद्यः । यमशीलव्रताचाराः चमादिगुणराशयः ॥ ३७ ॥ यस्मिन्साम्येशुभेचेत्रेवर्द्धन्तेधीमतां सताम् । तस्मिन्चेत्रेनिवासो यः चेत्रोपसम्पदेव सा ॥ ३८ ॥ पादोष्णागतपास्तव्यमुनीनां योगधारिणाम् । तपः संयम–

उस उपकरण के स्वामी की इच्छानुसार उस उपकरण को लेना छंदन नाम का समाचार कहलाता है ॥३०–३१॥ यदि किसी साधु को अपने गुरु से वा अन्य साधर्मी मुनियों से कोई पुस्तक वा कोई धर्मोपकरण लेने की इच्छा हो तो लेते समय उस साधु को उन गुरु वा अन्य साधर्मी साधुओं के समीप विनयपूर्वक जाना चाहिये उनके चरण कमलों को नमस्कार करना चाहिये और फिर अपने कार्य की सिद्धि के लिए उनसे याचना करनी चाहियेइसको निमंत्रण नाम का समाचार कहते हैं ॥३२–३३ भगवान जिनेन्द्रदेव ने सज्जन पुरुषों के लिए उपसंपत् नाम का समाचार पाँच प्रकार का बतलाया है। विनय, चेत्र, मार्ग, सुखदुःख, और सूत्र के विषय में महात्माओं के लिए अपनी सेवा का निवेदन करना पाँच प्रकार की उपसंपत् है ॥३४॥ जो मुनि बाहर से आये हैं और अपने स्थान में आकर ठहरे हैं उनका उनका उत्कृष्ट विनय और उपचार करना उनके शरीर को दाबना, पैरों को दाबना, उनके लिए सोने तथा बैठने का आसन देना, उनके स्थान को वा उनके गुरु के स्थान को पूछना तथा उनके मार्ग को पूछना (कहाँ से आये कहाँ जॉयगे आदि पूछना) उनके लिये पुस्तक उपकरण आदि देना आदि कार्यों के करने को विनयोपसंपत् कहते हैं ॥३५–३६॥ जिस शुभ और समानशीतोष्ण चेत्र में बुद्धिमान सज्जनों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, श्रेष्ठतप, यम, नियम, शील व्रत आचार चमा आदि अनेक गुण बढ़ते जॉय ऐसे चेत्र मे निवास करना चेत्रसंपत् कहलाती है ॥३७–३८॥ जो मुनि तप और संयम को धारण करने वाले हैं और योग

युक्तानां गमनागमनादिकैः ।। ३९ ।। परस्परं सुखप्रश्ने व्रतदृग्ज्ञानवृद्धये । यो जिनैर्गदिता शास्त्रे मार्गोपसम्पदेव सा ।। ४० ।। उपचारोमुनीन्द्राणांनिमित्तेसुखदुःखयोः । मठपुस्तकधर्मोपदेशदानादिभिः परैः ।। ४१ ।। युष्माकमहमत्राशुकरिष्येनिखिल वच. । इत्यादिकथनशर्मदु.खोपसम्पदेव च ।। ४२ ।। सूत्रोपसम्पदेकान्यार्थोपसम्पत्समाह्वया । तदा तदुभयात्रेधासूत्रोपसम्पदित्यपि ।। ४३ ।। य. सूत्रपठनेयत्न'सूत्रोपसम्पदत्र मा । अर्थादानेत्र यो यत्नः सार्थोपसम्पदूर्जिता ।। ४४ ।। यत्नस्तदुभयेयोत्रसोपसम्पद्‌द्वयात्मिका । अधुनालक्षणंकिंचिद्ब्रुवेपदविभागिनः ।। ४५ ।। अथकश्चिद्‌महाप्राज्ञः समर्थ' सकलैर्गुणैः । वीर्यधैर्यतपोयोगोत्सहाद्यै.सयताग्रणी· ।। ४६ ।। स्वगुर्वादिगतंसर्वं श्रुतंज्ञात्वापरागमम् । ज्ञातुमिच्छन्प्रणम्योच्चैःपृच्छतीतिनिजगुरुम् ।। ४७ ।। युष्मत्पादप्रसादेन १ भवन्सूरिमूर्जितम् ।

को धारण करने वाले हैं तथा बाहर से आकर अपने स्थान में ठहरे हैं अथवा अपने ही संघ के मुनि बाहर जाकर आए हैं उनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और व्रतों की वृद्धि के लिए आने जाने के समय की कुशल वार्ता पूछना परस्पर सुख का प्रश्न करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने शास्त्रों में मार्गोपसंपत् बतलाई है ।।३९–४०।। यदि किसी मुनि पर कोई सुख वा दुःख आपड़े तो उस समय मठ पुस्तक धर्मोपदेश वा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थों को (आहार औषधि आदि को) देकर उनका उपचार वा उपकार करना अथवा हम सब आपके हैं हम लोग आपके कहे हुए सब वचनों का पालन करेंगे इस प्रकार उनसे कहना सुखदुःखोपसंपत् कहलाती है ।।४१–४२।। सूत्रसंपत् के तीन भेद हैं सूत्रसंपत् अर्थसंपत् और उभयसंपत् । सूत्रों के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रसंपत् है । अर्थ के पढ़ने में प्रयत्न करना श्रेष्ठ अर्थसंपत् है । सूत्र और अर्थ दोनों के पढ़ने में प्रयत्न करना तदुभयसंपत् है । अब आगे पदविभागी समाचार का थोड़ा सा लक्षण कहते हैं ।।४३–४५।। जो कोई उत्तम मुनि अत्यंत बुद्धिमान् हो, समस्त गुणों से, वीर्य धैर्य तप योग और उत्साह आदि समस्त गुणों से सुशोभित हो और उसने अपने गुरु से उनके जाने हुए समस्त शास्त्र पढ़ लिये हों तथा फिर अन्य शास्त्रों के पढ़ने की उसकी इच्छा हो तो वह अपने गुरु को प्रणाम कर पूछता है कि हे प्रभो ! अब मैं आपके चरणों की आज्ञानुसार किसी ऐसे उत्तम और पूज्य आचार्य के पास जाना चाहता हूँ जो समस्त आगम के ज्ञान मे कुशल हों तथा

१ विख्यातं

सर्वांगमपरिज्ञान कुशलं चापरं प्रति ॥ ४८ ॥ गन्तुमिच्छामिशक्त्यान्यागमाध्ययनहेतवे । इतितिस्रोथवा पंच षट्वापृच्छा करोति सः ॥ ४६ ॥ एवमापृच्छ्यंयोगीन्द्रंप्रेषितोगुरुणा यतिः । आत्मचतुर्थएवात्मतृतीयो वा जितेन्द्रिय ॥५०॥ अथवात्मद्वितीयोसौनत्वाचार्यादिपाठकान् । निर्गच्छति ततः संघादेकाकी नतुजातुचित् ॥५१॥ यत. एकोगृहीतार्थोविहारोखिलसद्गुणैः । समर्थानां द्वितीयोन्योगृहीतार्थेनसंश्रितः ॥ ५२ ॥ सामान्ययोगिनां–युक्त्यात्रैताभ्यां नापरः कश्चित् । विहारस्तृतीयःसर्वैरनुज्ञातोजिनेश्वरैः ॥५३॥ सर्वोत्कृष्टतयाद्वादशांगपूर्वाखिलार्थवित् । सद्वीर्यधृतिसत्त्वाद्यस्त्र्यादिसंहननोवली ॥ ५४ ॥ एकत्वभावनापन्नः शुद्धभावोजितेन्द्रियः । चिरप्रव्रजितो धीमान्

वहाँ जाकर अपनी शक्ति के अनुसार अन्य आगमों का अध्ययन करना चाहता हूँ। इस प्रकार वह शिष्य तीन बार पाँच बार वा छह बार पूछता है ॥४६–४९॥ इस प्रकार वह अपने गुरु से पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो वह मुनि अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक अन्य मुनि को अपने साथ लेकर अत्यंत जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य और उपाध्यायों को नमस्कार कर तथा वृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है। किसी भी मुनि को अकेले कभी नहीं निकलना चाहिये ॥५०–५१॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का ही विहार बतलाया है एक गृहीतार्थ विहार और दूसरा गृहीतार्थ के आश्रय होने वाला विहार। जो समर्थ मुनि हैं समस्त तत्त्वों के जानकार हैं अपने मार्ग का चरणानुष्ठान अच्छी तरह कर सकते हैं ऐसे मुनियों का समस्त गुणों से सुशोभित होने वाला विहार गृहीतार्थ विहार कहलाता है। यदि ऐसी सामर्थ्य न हो फिर समस्त मार्गानुष्ठान को जानने वाले किसी मुनि के साथ विहार करना चाहिये। इसको गृहीतार्थाश्रित विहार कहते हैं। यह विहार सामान्य मुनियों के लिए निरूपण किया गया है। इन दो विहारों के सिवाय तीसरा कोई भी विहार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने नहीं बतलाया है ॥५२–५३॥ जो मुनि अत्यंत उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठ वीर्य श्रेष्ठ धैर्य और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते हैं जो पहले के तीन संहननों में से किसी एक संहनन को धारण करने वाले हैं, बलवान् हैं, जो सदा एकत्व

जिताशेषपरीषहः ॥ ५५ ॥ इत्याद्यन्यगुणग्रामोमुनिः समतो जिनैः । श्रुतेत्रैकविहारीहि नान्यस्तद्गुणवर्जितः ॥५६॥ भिक्षोत्सर्गादिकालेषुगमनागमनदिकम् । अकालेशयनंनिंद्यमुपवेशनमात्मनः ॥ ५७ ॥ विकथाकरणं यस्यस्वेच्छया जल्पनंसच । माभूदीदृशएकाकी मे शत्रुरपि भूतले ॥ ५८ । गुरोः परिभवः शास्त्रव्युच्छेदो जडताभुवि । मलिनत्वं च तीर्थस्यविह्वलत्वंकुशीलता ॥ ५९ ॥ पार्श्वस्थताप्यनाचारइत्याद्यन्योगुणव्रजः । स्वेच्छयास्वगुणं त्यक्त्वाजायतै-कविहारिणः ॥ ६० ॥ कंटकप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पभूरिभि' । म्लेच्छाद्यैर्दुर्जनैर्दुष्टैर्विसूचिकाविषादिकैः ॥ ६१ ॥ अन्यैरुपद्रवैर्घोरैरेकाकीविहरन् भुविः । प्राप्नोत्यात्मविपत्तिं च दृगादिसद्गुणैःसमा ॥ ६२ ॥ कश्चिद्गौरवकोमन्दो-

भावना में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो जितेन्द्रिय हैं चिरकाल के दीक्षित हैं बुद्धिमान् हैं समस्त परीषहों को जीतने वाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित है ऐसे मुनियों को शास्त्रों में एकविहारी (अकेले विहार करने वाले) होने की आज्ञा है। जो इन गुणों से रहित है उनको भगवान जिनेन्द्रदेव ने एकविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है ॥५४–५६॥ जो मुनि भिक्षा के समय में वा मल मूत्रादिक के समय में गमन आगमन करते हैं असमय में सोते हैं वा निंदनीय आसन लगा कर बैठते हैं, जो विकथायें कहते हैं और अपनी इच्छानुसार बहुत बोलते हैं ऐसे मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये फिर भला मुनियों की तो बात ही क्या है ॥५७–५८॥ अकेले विहार करने से गुरु का तिरस्कार वा उनकी निंदा होती है, श्रुतज्ञान का विच्छेद होता है, मूर्खता वा अज्ञानता बढ़ती है, जिनशासन मलिन होता है, विह्वलता तथा कुशीलता बढ़ती है, पार्श्वस्थ आदि मुनियों में रहने वाले अवगुण आजाते हैं और अनाचार बढ़ जाते हैं। इस प्रकार अकेले विहार करनेसे गुण सब चले जाते हैं और अवगुणों का समूह सब आ जाता है ॥५९–६०॥ इसके सिवाय अकेले विहार करने से आप-त्तियाँ भी बहुत आती हैं काँटे, शत्रु कुत्ते पशु सर्प, विच्छू, म्लेच्छ आदि दुर्जन दुष्ट आदि अनेक जीवों के द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगों के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी अनेक घोर उपद्रवों के द्वारा अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं। तथा सम्यग्दर्शनादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं ॥६१–६२॥ जो मुनि गौरव सहित हैं अर्थात् किसी ऋद्धि आदि का

गृद्धिक कुटिलाशयः । दृक्च्युतोविषयासक्तोमायावीशिथिलोधमः ॥ ६३ ॥ आलस्यप्रमितोलुब्धोनिर्धर्मः पापधीः शठः । स्वेच्छाचारणशीलोत्र संवेगादिगुणातिगः ॥ ६४ ॥ कुशील. कुत्सिताचारोजिनाज्ञादूरगोनिजे । संवसन्नपि गच्छे नेच्छति - संघाटकंपरम् ॥ ६५ ॥ जिनाज्ञोल्लंघनंचैकमनवस्थास्वशासने । मिथ्यात्वाराधनंस्वात्मनाश सार्द्ध-दृगादिभिः ॥ ६६ ॥ समस्तसंयमस्यात्रविराधनाशमूनि भोः । निकाचितानिपंचद्युःस्थानान्येकविहारिणः । न तत्र कल्पते वासः सतां गुरुकुले भुवि । यत्रैतेगुणवृध्यै न पचाधारामवन्त्यहो ॥ ६८ ॥ महान्सूरिरुपाध्यायः प्रवर्तको गुणाकरः । स्थविरश्चगणाधीशः पंचाधारापराइमे ॥ ६६ ॥ पंचाचाररत.शिष्यानुग्रहे कुशलोमहान् । दीक्षाशि-

जिसको अभिमान है जो मंदबुद्धि है लोभी है, हृदय का कुटिल है, सम्यग्दर्शन से रहित है, विषयासक्त है, मायाचारी है, शिथिल है, नीच है, आलसी है, लंपटी है, धर्महीन है, पापी है, मूर्ख है, जो इच्छा-नुसार अपने आचरण करता है, संवेग आदि गुणों से रहित है, कुशील है कुत्सित आचरणों को पालन करने वाला है, और भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से दूर रहता है, ऐसा कोई मुनि अपने गच्छमें[१] रह जाय वा निवास करता हो तो वह अन्य किसी की भी सहायता नहीं चाहता। क्योंकि वह स्वयं शिथिल है ॥६३–६५॥ अकेले विहार करने वाले मुनि के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। एक तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, दूसरे जिन शासन में अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं, तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ साथ अपने आत्मा का ज्ञान चारित्र आदि सब गुणों का नाश हो जाता है और पाँचवें समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार एक विहारी के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं ॥६६–६७॥ जिस गुरुकुल में गुणों की वृद्धि के लिये महान् आचार्य उपाध्याय, गुणों के समुद्र प्रवर्तक स्थविर और गणाधीश ये पाँच उत्कृष्ट आधार न हों उस गुरुकुल सज्जन मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥६८–६९॥ जो पंचाचार पालन करने में तत्पर हों,

१—तीन मुनियों का गण और सात मुनियों का गच्छ कहलाता है।

त्तादिसंस्कारैराचार्य. स्याद्गुणार्णव' ॥ ७० ॥ धर्मोपदेशकोधीमान् धीमतांपाठनोद्यत. । अंगपूर्वप्रकीर्णानांयोत्रतं– विद्धिपाठकम् ॥ ७१ ॥ चतु श्रमणसघानांचर्यादिमार्गदेशने । प्रवृत्याद्युपकारान् य करोति स प्रवर्तक' ॥ ७२ ॥ वालवृध्यादिशिष्याणांसन्मार्गस्योपदेशक' । यः सर्वज्ञाज्ञयायुक्त्यास्थविर सोन्यमानित: ॥ ७३ ॥ गणस्य सर्वसंघस्य पालक' परिरत्तकः । यो नानोपायशित्ताद्यैर्ज्ञेयोगणधरोत्रस' ॥ ७४ ॥ अमीषां निकटेन्नवसतांगुणराशयः । वर्द्धन्तेसाहचर्येणयथाब्धौवायुनोर्मय. ॥ ७५ ॥ स्वेच्छावामविहारादिकृतामेकाविनांभुवि । हीयन्तेसद्गुणानित्यं वर्द्धन्ते दोषकोटयः ॥७६॥ अथाहोपंचमेकालेमिथ्यादृग्दुष्टपूरिते । हीनसहननाना च मुनीनां चंचलात्मनाम् ॥७७॥ द्वित्रितुर्यादिसंख्येनसमुदायेन त्तेमकृत् । प्रोक्तोवासोविहारश्चव्युत्सर्गकरणादिक. ॥ ७८ ॥ सर्वोयतिशुभाचारो

जो शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों जो दीत्ता शित्ता आदि संस्कारों से सर्वोत्कृष्ट हों और जो गुणों के समुद्र हों उनको आचार्य कहते हैं ॥७०॥ जो सदा धर्म का उपदेश देते हों अत्यंत बुद्धिमान हों और बुद्धिमान शिष्यों के लिये जो अंग पूर्व वा प्रकीर्णक शास्त्रों के पढ़ाने मे सदा तत्पर रहते हो उनको पाठक वा उपाध्याय कहते हैं ॥७१॥ जो श्रेष्ठ मुनि चारों प्रकार के मुनियों को चर्या आदि के मार्ग को दिखलाने में वा प्रवृत्ति कराने में उपकार करते हों उनको प्रवर्तक साधु कहते हैं ॥७२॥ जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यों को श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देते हैं तथा जिन्हे सब मानते हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥७३॥ जो शित्ता आदि अनेक उपायों से समस्त संघ की रत्ता करते हो सबका पालन करते हों उनको गणधर कहते हैं ॥७४॥ जिस प्रकार वायु से समुद्र की लहरें बढती हैं उसी प्रकार इन आचार्य आदि के समीप निवास करने से उनके सहवास से अनेक गुणों के समूह बढ़ते हैं ॥७५॥ जो मुनि अकेलें ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहॉ निवास करते हैं चाहे जहॉ विहार करते हों उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोप प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं ॥७६॥ यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टी और दुष्टों से ही भरा हुआ है। तथा इस काल में जो मुनि होते हैं वे हीन संहनन को धारण करने वाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचम काल में दो तीन चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना समुदाय से ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहा है ॥७७-७८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव

यत्याचारो जिनेश्वरैः । आचारगुणविद्वृध्यै नान्यथाकार्यकोटिभिः ॥ ७६ ॥ यतोत्रविषमेकालेशरीरेचान्नकीटके । निसर्गचंचले चित्तेसत्वहीनेखिले जने ॥ ८० ॥ जायतैकाकिनां नैवनिर्विघ्नेनव्रतादिकः । स्वप्नेपि न मनः शुद्धिः निष्कलंकनदीक्षणम् ॥ ८१ ॥ विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः संघाटकेन संयतैः । विहारस्थितियोगाद्यास्तभिर्विघ्नाय-शुद्धये ॥ ८२ ॥ इमां तीर्थकृतामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमार्गगाः । स्वेच्छावासविहारादीन्कुर्वतेदृष्टिदूरगाः ॥ ८३ ॥ तेषामिहैव नूनंस्याद्दृग्ज्ञानचरणक्षयः । कलंकता च दुस्त्याज्या अपमानः पदेपदे ॥ ८४ ॥ परलोकेसर्वज्ञाज्ञोल्लंघना-यतिपापत. । श्वभ्रादिदुर्गतौघोरं भ्रमणं च चिरमहत् ॥ ८५ ॥ इत्यपायं विदित्वात्रामुत्रचैकविहारिणाम् ।

ने यत्याचार ग्रन्थों में यतियों के समस्त शुभ आचार आचार गुण और आत्मा की शुद्धता की । शुद्धि के लिये कहे हैं इसलिये करोड़ों कार्यों के होने पर भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥७६॥ क्योंकि यह पंचम काल विषय काल है, इसमें मनुष्यों के शरीर अन्न के कीड़े होते हैं, तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सब ही मनुष्य शक्ति हीन होते हैं। अतएव एकाकी विहार करने वालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न नहीं पल सकते। तथा उनके मन की शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है। इन सब बातों को समझ कर मुनियों को अपने विहार निवास वा योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिए संघ के साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये, अकेले नहीं ॥८०–८२॥ जो कुमार्गगामी इस तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार विहार वा निवास आदि करते हैं उनको सम्यग्दर्शन से ही रहित समझना चाहिये। ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं, इसी लोक में वे कलंकित हो जाते हैं संघ के बाहर करने योग्य हो जाते हैं और पद पद पर उनका अपमान होता है। भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करने रूप महापाप से वे लोग परलोक में भी नरकादिक दुर्गतियां में चिरकाल तक महा घोर परिभ्रमण किया करते हैं ॥८३–८५॥ इस प्रकार अकेले विहार करने वाले मुनियों का इस लोक में नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है यही समझ कर अपने मन में भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को ही प्रमाण मानना चाहिये और उसको प्रमाण मान कर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥८६॥

अनुल्लंध्यांजिनेन्द्राज्ञांप्रमाणीकृतमानसे ॥ ८६ ॥ स्थितिस्थानविहारादीन्समुदायेनसंयताः । कुर्वन्तुस्वगुणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ॥८७॥ गच्छतातेनयल्लब्धकिंचिद्विद्यार्थिनायदि । सचिनाचित्तमिश्र च द्रव्यं सत्पुस्तकादिकम् ॥८८॥ अन्तरालेत्र तस्यार्हः एषसूरिर्नचापरः । एवं गुणविशिष्ट.स्यात्सोपि विश्वहितकरः ॥ ८६ ॥ संग्रहानुग्रहाभ्यां च कुशलोधर्मप्रभावकः । सतांविख्यातकीर्तिर्जिनसूत्रार्थविशारद. ॥ ६० ॥ सत्क्रियाचरणाधारः षट्त्रिंशद्गुणभूषितः गम्भीरोब्धिरिवाक्षोभ्यःक्षमयाक्ष्मासमोमहान् ॥ ६१ ॥ सौम्येन चन्द्रसादृश्य.स्वच्छाम्बुवत्प्रशान्तवान् । पंचाक्षारि जयेशूरोमिथ्यात्वशत्रु घातकः ॥ ६२ ॥ इत्याद्यन्यगुणाधारोयोत्राचार्योजगद्धित. । अजय्यःप्राप्तवान्शिष्यः स विद्याप्त्यैक्रमेणतम् ॥ ६३ ॥ आगच्छन्तनिजास्थानंप्राघूर्णक सुसयतम् । तं वीक्ष्यसहसासर्वेसमुत्तिष्ठन्तिसंयताः ॥६४॥

मुनियो को अपने गुणों की वृद्धि करने के लिये तथा विघ्नों को शांत करने के लिये अपना निवास वा विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिये अकेले न रहना चाहिये न विहार करना चाहिये ॥८७॥ मार्ग में चलते हुए उस विद्यार्थी मुनि को पुस्तक आदि अचित्त वा विद्यार्थी आदि सचित्त अथवा मिले हुये पदार्थ मिले तो उसको ग्रहण करने के अधिकारी आचार्य ही होते हैं। तथा वे आचार्य भी ऐसे होने चाहिये जो समस्त जीवों का हित करने वाले हों, संग्रह (दीक्षा देकर अपना बनाना वा संघ बढ़ाना) और अनुग्रह (संस्कारों से दीक्षितों के गुण बढ़ाना) करने में कुशल हों धर्म की प्रभावना करने वाले हों, सज्जनों में जिनकी कीर्ति प्रसद्धि हो, जो जिनसूत्रों के अर्थ कहने में निपुण हों, श्रेष्ठ क्रिया और आचरणों के आधार हों, छत्तीस गुणों से विभूषित हों, समुद्र के समान गम्भीर हों परन्तु जो कभी भी क्षुब्ध न होते हों, क्षमा गुण के कारण जो पृथ्वी के समान सर्वोत्कृष्ट हों, सौम्यता गुण से जो चन्द्रमा के समान हों, निर्मल जल के समान अत्यन्त शांत वा शीतल हों, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने में जो अत्यन्त शूर वीर हों, मिथ्यात्व रूपी शत्रुओं को घात करने वाले हों, तथा और भी अनेक गुणों के आधार हों, तीनों लोकों का हित करने वाले हों और जो किसी से भी नहीं जीते जा सकते हों उनको आचार्य कहते हैं। वह शिष्य अपनी विद्या की प्राप्ति के लिये अनुक्रम से चलता हुआ ऐसे आचार्य के समीप पहुँचता है ॥८८—६३॥ उस शिष्य के वहाँ पहुँचने पर उस संघ के सब मुनि अपने स्थान में आए हुए उन अभ्यागत मुनि को देख कर अपना वात्सल्य दिख—

वात्सल्यहेतवेदत्ताजिनाज्ञापालनाय च। परस्परंप्रणामाय ह्यात्मीयकरणाय वा ॥ ६५ ॥ ततः सप्तपदान्गत्वा भक्त्या तत्सन्मुखं च ते। प्रकुर्वन्तियथायोग्यं वंदनांप्रतिवंदनाम् ॥ ६६ ॥ यस्यागतस्य यत्कृत्यंकृत्वांघ्रिमर्दनादितत्। रत्नत्रयपरिप्रश्नंप्रीत्यैकुर्युस्तपोधनाः ॥ ६७ ॥ आयातस्त्रिरात्रमत्परीक्षाकरणाय च। संघाटकः प्रदातव्योनियमाद्वेन सूरिणा ॥ ६८ ॥ आगन्तुकाश्च वास्तव्याः परीक्षन्ते परस्परम्। अवबोधायवृत्तानांयत्नेनाचरणाय च ॥ ६६ ॥ आवश्यकतनूत्सर्गस्वाध्यायकरणादिषु। भिक्षाकाले मलोत्सर्गेसमित्यादिप्रपालने ॥ १०० ॥ विश्रान्तस्तद्दिनं स्थित्वा परीक्ष्याचार्यमुत्तमम्। स्वात्स्यागमनकार्यं स विनयेन निवेदयेत् ॥ १ ॥ ततस्तस्यकुलनामगुरुदीक्षादिनानि च।

लाने के लिये, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने के लिए उनके साथ परस्पर नमस्कार करने के लिए और उनको अपना बनाने के लिये एक साथ उठ कर खड़े हो जाते हैं ॥६४–६५॥ तदनंतर वे सब मुनि भक्ति पूर्वक सात पेंड तक उनके सन्मुख जाते हैं तथा अपनी अपनी योग्यता के अनुसार वंदना अथवा प्रतिवंदना करते हैं ॥६६॥ फिर संघ के वे सब मुनि उन आये हुए मुनि के पादमर्दन (पैर दाबना) आदि करने योग्य कार्य करते हैं और फिर अपना प्रेम दिखलाने के लिए रत्नत्रय की विशुद्धि पूछते हैं ॥६७॥ तदनंतर उस संघ के आचार्य आये हुये, उन मुनि की परीक्षा करने के लिए तीन रात तक नियम से उनकी सहायता करते हैं। रहने, चर्या करने साथ रहने आदि में सहायता करते हैं ॥६८॥ उन आये हुए मुनियों को अपने यहाँ निवास कराना चाहिये और उनके चारित्र का ज्ञान तथा परस्पर का ज्ञान करने के लिये प्रयत्नपूर्वक आचरण कराने के लिये आवश्यक करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, स्वाध्याय करते समय, भिक्षा करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय और समितियों के पालन करते समय उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥६६–१००॥ वे आये हुए मुनि उस दिन ठहर कर विश्राम लेते हैं अथवा दो तीन दिन तक विश्राम करते हैं और फिर उत्तम आचार्य की परीक्षा कर बड़ी विनय के साथ उनसे अपने आने का प्रयोजन निवेदन करते हैं ॥१०१॥ तदनंतर वे आचार्य आदर के साथ उनसे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है तुम किस गुरु के शिष्य हो, दीक्षा

श्रुतागमनकष्टाटीन्गणीपृच्छतिचादरात् ॥ २ ॥ इतिप्रश्नपरीक्षाद्यैर्यद्यसौशुद्धमानसः । विनीतउद्यमीधीमान् व्रतशीलापरिच्युतः ॥ ३ ॥ तदास्यसूरिणा तेन निजशक्त्यासमीहितम् । श्रुतादिपाठनंसर्वंविधेयंविधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥ यद्यशुद्धो व्रताचारैरागन्तुकस्ततोस्य च । दातव्यंगणिना छेदोपस्थापनादिक तपः ॥ ५ ॥ यदीच्छति न शिष्योसौ तत्प्रायश्चित्तमंजसा । वर्जनीयस्ततस्तेनस्वसघाच्छिथिलोव्रतम् ॥ ६ ॥ व्यामोहेनाथवाचार्योऽशुद्धं गृह्णातिताद्दशम् । ततः सोपि गणी नूनंछेदार्हःस्यान्नचान्यथा ॥ ७ । एवमुक्तक्रमेणैपप्राघूर्णकउपस्थितः । गृहीतोविधिनानेनकुर्यादिवं ततश्चिदे ॥ ८ ॥ सम्यग्द्रव्यधरांगाद्यान् प्रतिलेख्यप्रयत्नतः । क्षेत्रकालविशुद्धिं च भावशुद्धिंश्रुताम्बिकाम् ॥ ६ ॥

किससे ली है, दीक्षा लिये कितने दिन हो गये तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और किस दिशा से कहाँ से आये हो। ये सब बातें आचार्य उनसे पूछते हैं ॥२॥ इस प्रकार के प्रश्नों से तथा परीक्षा आदि से यदि वे मुनि शुद्ध हृदय वाले सिद्ध हो जाते हैं तथा वे मुनि विनयवान् उद्यमी बुद्धिमान् हैं व्रतशील से परिपूर्ण हैं तो वे आचार्य उनसे कह देते हैं कि तुम जो अपनी इच्छानुसार श्रुतादिका पठन पाठन करना चाहते तो वह अपनी शक्ति के अनुसार विधि पूर्वक करो ॥३–४॥ यदि उस परीक्षा में आचार्य यह समझते हैं कि इनके व्रत आचरण आदि शुद्ध नहीं है तो वे आचार्य उनको व्रतों की शुद्धि के लिये छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण करने के लिये कहते हैं ॥५॥ यदि वे आए हुये शिष्य मुनि उन आचार्यों के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो वे आचार्य ऐसे शिथिलाचारियों को शीघ्र ही छोड़ देते हैं अपने संघ में नहीं रखते ॥६॥ यदि वे आचार्य किसी मोह वा अज्ञानता के कारण उस अशुद्ध आचरण वाले शिथिलाचारी को अपने संघ में रख लेते हैं तो फिर वे आचार्य भी छेद नाम के प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं। फिर विना छेद प्रायश्चित्त के वे आचार्य भी शुद्ध नहीं हो सकते ॥७॥ यदि आचार्य ने विधि पूर्वक उन आए हुए मुनियों को ग्रहण कर लिया हो तो फिर उन आये हुये शिष्यों को अपनी आत्मशुद्धि के लिये नीचे लिखे अनुसार कार्य करने चाहिये ॥८॥ सबसे पहले उपकरण आदि द्रव्यों को पृथ्वी को अपने शरीर आदि को प्रतिलेखन करना चाहिये, फिर क्षेत्र शुद्धि काल

विधायसूरिमानम्योपचारविनयादिभिः । शिष्येणात्रत्रिशुध्यासदाध्येतव्यंजिनागमम् ॥ १० ॥ सुसूत्रार्थात्मसंस्कारशिक्षालोभादिभिर्न सः । कुर्यात्परिभवंशास्त्राणांद्रव्यादिव्यतिक्रमैः ॥ ११ ॥ यतःपरिभवान्नूनंज्ञानस्याचार्यशिष्ययोः । अप्रीतिबुद्धिनाशश्च ज्ञानावरणकर्म च ॥ १२ ॥ असमाधिजिनेन्द्राज्ञोल्लंघनंदृग्विनाशनम् । कलहः श्रुतहानिश्च रुग्वियोगादिकं भवेत् ॥ १३ ॥ विज्ञायेत्याखिलैर्दक्षैः कालादिशुद्धमंजसा । कृत्वाजिनागमनित्यमध्येतव्यंविशुद्धये ॥१४॥ संस्तरावासकादीनामुभयोः कालयोः सदा । प्रकाशे वसता तत्र कर्तव्यंप्रतिलेखनम् ॥ १५ ॥ ग्रामादिगमनेभिक्षा–

शुद्धि और भावशुद्धि धारण कर आचार्य और जिनवाणी माता को नमस्कार करना चाहिये। और उस शिष्य को उपचारादिक विनय के साथ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक जिनागम का सदा अभ्यास करते रहना चाहिये ॥९–१०॥ उस शिष्य को सूत्र और अर्थ के ज्ञान के लोभ से द्रव्य क्षेत्र आदि के अविनय से शास्त्रों का अविनय वा तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये ॥११॥ क्योंकि ज्ञान का अविनय करने से आचार्य और शिष्यों में प्रेम नहीं रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है, समाधि का नाश होता है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है, परस्पर गुरु शिष्यों में कलह हो जाती है, श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है अनेक रोगादिक हो जाते हैं और इष्ट वियोग हो जाता है ॥१२–१३॥ यही समझ कर समस्त चतुर पुरुषों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए काल शुद्धि आदि को धारण कर प्रतिदिन जिनागम का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥१४॥ वहाँ पर रहते हुए उस शिष्य को प्रातःकाल और संध्याकाल दोनों समय अपने संस्तर और रहने के अवकाश को प्रकाश में ही प्रतिलेखन कर लेना चाहिये। पीछी से शोध लेना और नेत्रों से देख लेना चाहिये ॥१५॥ किसी गाँव को जाते समय भिक्षार्थ चर्या के लिए जाते समय वा और भी समस्त शुभ कार्यों के करते समय उस आये हुए शिष्य को पहले के समान आचार्य से वा अन्य साधुओं से पूछना चाहिये। जिस प्रकार अपने गण में रह

दानेकार्येशुभेखिले । उत्तरादिसुयोगेचापृच्छाकार्यात्रपूर्ववत् ॥ १६ ॥ वसतान्यगणेतेनात्र चर्यादि तपोभृताम् । वैयावृत्यंयथायोग्यं कर्तव्यं दशधादरात् ॥ १७ ॥ अहोरात्रभवा. पंचचतुर्मासाब्दगोचराः । सर्वाक्रियाविधातव्यास्तेन तैर्योगिभिःसमम् ॥१८॥ यस्मिन् गच्छेतिचारोत्र जातोवाक्कायमानसैः । मिथ्याकारादिभिस्तत्रकार्यंतस्यविशोधनम् ॥१६॥ आर्यिकाद्यखिलस्त्रीणांकालेचागमने क्वचित् । स्थातव्यं विजने नैव मुनिनैकाकिना भुवि ॥ २० ॥ ताभिरार्यादियोषिद्भिः सहालापोतिदोषकृत् । अकार्येण न कर्तव्योमुनिभिर्निर्मलाशयैः ॥ २१ ॥ एकाकिन्यार्यिकायाश्च कृतं प्रश्नं सुसूत्रजम् । मुनिनैकाकिना जातु कथनीयं न शुद्धये ॥ २२ ॥ गणिनीमग्रतः कृत्वा यदि प्रश्नं करोतिसा । तदास्याः कथयेन्नूनं तदर्थंसंयमीस्फुटम् ॥ २३ ॥ तरुणोयदिसद्योगीतरुण्यार्यिकयासमम् । कथालापादिकं कुर्यात्तस्येदं

कर आचार्य आदि से पूछ कर कार्य करता था उसी प्रकार परगण में रहते हुए भी आचार्य आदि से पूछ कर ही सब काम करना चाहिये ॥१६॥ दूसरे के गण में रहते हुए भी उस शिष्य मुनि को आचार्य तपस्वी आदि दश प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य यथायोग्य रीति से आदर के साथ करते रहना चाहिये ॥१७॥ उस समय आए हुए शिष्य को उस संघ के मुनियों के साथ ही दैवसिक रात्रिक पाक्षिक चातुर्मासिक वा वार्षिक प्रतिक्रमण आलोचना आदि समस्त क्रियाएं करनी चाहिये ॥१८॥ जिस गण वा गच्छ में अतिचार लगा हो उसको मन वचन काय से होने वाले मिथ्याकारादिक के द्वारा उसी गण वा गच्छ में शुद्ध करना चाहिये ॥१६॥ अर्जिका आदि समस्त स्त्रियाँ यदि आने के समय भी आवें तो भी निर्जन स्थान में अकेले मुनि को कभी नहीं ठहरना चाहिये ॥२०॥ उन अर्जिका आदि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है। अतएव निर्मल हृदय को धारण करने वाले मुनियों को बिना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये ॥२१॥ यदि कोई अकेली अर्जिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिए कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिये ॥२२॥ यदि वह अर्जिका अपनी गणिनी को (गुराणी को) आगे कर कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्र का अर्थ समझा देना चाहिये वा प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये ॥२३॥ यदि कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी

दोषपंचकः ॥२४॥ आज्ञाभंगोजिनेन्द्रस्यानवस्थाजिनशासने । मिथ्यात्वाराधनासार्द्धमात्मनाशोगुणव्रतैः ॥ २५ ॥ समस्तसंयमस्यैवविराधनानिकाचिताः । इमे पंच महादोषाः कृतास्तेनवृथात्मनः ॥ २६ ॥ मुनीनामार्यकास्थानेस्थातु जातुनयुज्यते । स्वाध्यायव्युतनूत्सर्गोगृहीतु शयनासनम् ॥ २७ ॥ विधातु नोचितंकतु प्रतिक्रमणसत्क्रिया । अन्यद्वा श्रुतपाठादिरोगक्लेशादिकारणैः ॥ २८ ॥ एताः सर्वाः क्रिया चान्ये पादप्रक्षालनादयः । जातुकतु न युज्यन्तेत्रार्याणांसंयताश्रमे ॥ २९ ॥ यतःस्थविरमात्मानचिरप्रवृजितंगुरुम् । वहुश्रुतागमज्ञ चाचार्यपूज्यंतपस्विनम् ॥ ३० ॥

अर्जिका के साथ कथा वा बातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पाँचों दोष लगते हैं ॥२४॥ पहले तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग होता है। दूसरे जिनशासन में अव्यवस्था हो जाती है सब लोग ऐसा ही करने लग जाते हैं। तीसरे मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है। चौथे गुण और व्रतों के साथ साथ उसके आत्मा का नाश हो जाता है और पाँचवें उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती हैं। इस प्रकार महापापों के स्थान ऐसे पाँचों दोष उस मुनि को व्यर्थ ही लग जाते हैं ॥२५-२६॥ मुनियों को अर्जिकाओं के स्थान में कभी नहीं ठहरना चाहिये, न वहाँ स्वाध्याय करना चाहिये न कायोत्सर्ग करना चाहिये न शयन वा आसन ग्रहण करना चाहिये, प्रतिक्रमण आदि श्रेष्ठ क्रियाएं भी वहाँ नहीं करनी चाहिये अथवा शास्त्रों का पठन पाठन भी वहाँ पर नहीं करना चाहिये। किसी रोग वा क्लेश हो जाने के कारण भी ये सब क्रियायें अर्जिकाओं के आश्रम में मुनियों को नहीं करनी चाहिये। तथा इनके सिवाय पादप्रक्षालन आदि क्रियाएं भी मुनियों को अर्जिकाओं के आश्रममें नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार अर्जिकाओं को भी मुनियों के आश्रम में ये सब क्रियाएं नहीं करनी चाहिये ॥२७-२९॥ इसका भी कारण यह है कि जिसका हृदय काम के विकार के दुःख से मलिन हो रहा है ऐसा मुनि न तो किसी वृद्ध मुनि को समझता है, न अपने आत्मा को समझता है, न चिरकाल के दीक्षित मुनि को गिनता हैं न गुरु को गिनता है, महा श्रुतज्ञान और आगम को जानने वाले उपाध्याय को गिनता है, न आचार्य को गिनता है न किसी पूज्य को समझता है न घोर तपस्वी को गिनता है, न महा गुण और

महागुणपदारूढंवंद्य न गणयेद्यमी । कामार्तःमलिन. शीघ्रं कुलं चापि विनाशयेत् ॥ ३१ ॥ कन्यकां विधवां वृद्धांस्वैरिणींयौवनात्मिकाम् । राज्ञीं विलासिनींदासींलिंगिनीं वा तपस्विनीम् ॥ ३२ ॥ वार्तादिजल्पनैरेपोलीयमानो चिरादपि । अपवादमवाप्नोतिसंयमी विश्वनिन्दितम् ॥ ३३॥ दृढधर्मोतिसविग्नोऽवद्यभीरुमहातपाः । धीरःस्थिरमनाः शुद्धोविक्रियाकौतुकातिगः ॥ ३४ ॥ संग्रहानुग्रहादौ च कुशल. सघयोगिनाम् । गम्भीरोमितवादी च ज्येष्ठो दीक्षा–श्रुतादिभिः ॥ ३५ ॥ इत्याद्यन्यगुणैःपूर्णोयोजय्यःसूरिरुत्तमः । सः स्याद्गणधरोत्रार्याणांप्रतिक्रमणादिषु ॥ ३६ ॥ एवंसूरिगुणैःसारैर्व्यतिरिक्त. करोतियः । मुधागणधरत्वसंयतीनांसत्क्रियादिषु ॥ ३७ ॥ गणपोषणमेवात्मसस्कारका–

महा पदों पर आरूढ़ हुए महा मुनियों को गिनता है और न किसी वंदनीय मुनि को गिनता है। वह काम सेवन की इच्छा करने वाला मुनि शीघ्र ही अपने कुल तक को नाश कर देता है। भावार्थ—वह मुनि सबका तिरस्कार करता है और अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ॥३०–३१॥ जो संयमी किसी कन्या, विधवा, वृद्धा, इच्छानुसार घूमने वाली, यौवनवती, रानी, वैश्या, दासी, तपस्विनी, स्वमत वा अन्य मत की दीक्षिता आदि किसी भी प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत कर उनके साथ संलग्न होता है वह मुनि बहुत ही शीघ्र संसारभर में अत्यन्त निंदनीय अपवाद को प्राप्त होता है अर्थात् तीनों लोकों में उसकी निंदा फैल जाती है ॥३२–३३॥ अतएव जो अपने धर्म में दृढ हैं, जो धर्म और धर्म के फल में हर्ष मनाने वाले हैं, जो पापों से भयभीत हैं, महातपस्वी हैं, धीर वीर हैं, जिनका मन अत्यंत स्थिर है जो अत्यंत शुद्ध हैं, जो विकार और कौतुक से सर्वथा दूर रहते हैं जो संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं गम्भीर हैं आवश्यकता के अनुसार उतना ही भाषण करते हैं, जो दीक्षा और श्रुतज्ञान से सबसे बड़े हैं जो अजेय हैं तथा जो ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनको गणधर कहते हैं। समस्त संघ के मुनि और अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कार्यों को ऐसे गणधर ही कराते हैं ॥३४–३६॥ इस प्रकार उत्तम आचार्यों के सारभूत गुणों से रहित जो आचार्य अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में गणधर बन कर बैठता है वह आचार्य

लऊर्जितः । सल्लेखनातथैवोत्तमार्थकालइमेपराः ॥ ३८ ॥ चत्वारःउत्तमाःकालाःपरमार्थविधायिनः । विराधिता निजास्तेनगुणरिक्तेनसूरिणा ॥ ३९ ॥ वहुनोक्तेन किं साध्यंयेच्छाचार्यस्यसाखिला । कर्तव्या वमतातत्रतेन पुण्याकरोचिता ॥ ४० ॥ सुश्रूषावंदनाभक्त्यनुकूलाचरणादिभिः । एषएवविधिः कार्यस्तच्छिष्यापरयोगिभिः ॥ ४१ ॥ अयमेवसमाचारो यथाख्यातस्तपस्विनाम् । तथैवसंयतीनां च यथायोग्यंविचत्तणैः ॥ ४२ ॥ अहोरात्रेखिलो मुक्त्यै-विज्ञयोहितकारकः । वृत्तमूलादिसयोगरहितोजिनभाषितः ॥ ४३ ॥ परस्परानुकूला सदान्योन्यरक्षणोद्यताः । लज्जामर्यादसंयुक्तामायारागादिदूरगाः ॥ ४४ ॥ आचारादिसुशास्त्राणां पठनेपरिवर्तने । तदर्थकथनेविश्वानुप्रेक्षा गुणचिन्तने ॥४५॥ सारार्थश्रवणेशुद्धध्यानेसंयमपालने । तपोविनयसद्योगेमदाकृतमहोद्यमाः ॥४६॥ मलजल्लविलप्तांगा

गणपोषण काल, उत्तम आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल, और उत्तमार्थ काल इन परमार्थ को सिद्ध करने वाले चारों उत्तम कालों की विराधना करता है। गुणरहित आचार्य इन सबका नाश कर देता है ॥३७—३९॥ बहुत कहने से क्या लाभ थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि वहाँ रहते हुए उस शिष्य को पुण्य को बढ़ाने वाली और उचित ऐसी आचार्य की जो जो इच्छाएं हैं वे सब करनी चाहिये ॥४०॥ उन बाहर से आए हुए शिष्यों को तथा अन्य योगियों को अपनी अपनी भक्ति के अनुसार आचरणादि कर के आचार्य की सुश्रूषा और वंदना करनी चाहिये ॥४१॥ यह जो समाचार मुनियों के लिए कहा है उसी प्रकार चतुर पुरुषों ने अर्जिकाओं के लिये भी यथायोग्य रीति से यही समाचार बतलाया है ॥४२॥ अर्जिकाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिये हित करने वाला यही समाचार दिन रात करना चाहिये। वृक्ष के नीचे योग धारण करना आदि कठिन योग अर्जिकाओं को नहीं करने चाहिये ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥४३॥ अर्जिकाओं को परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहना चाहिये, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिये, लज्जा और मर्यादा के साथ रहना चाहिये, मायाचारी लोभ राग आदि से अलग रहना चाहिये, आचारादिक शास्त्रों के पढ़ने में, पाठ करने में, उसके अर्थ कहने में, समस्त अनुप्रेक्षाओं के तथा गुणो के चिंतवन करने में उन शास्त्रों के श्रेष्ठ अर्थ सुनने में, शुद्ध ध्यान में, संयम के पालन करने में, तप और विनय के करने मे और योग

वपुसंस्कारवर्जिताः । विक्रियातिगवस्त्रैर्वृताः शान्ताचलासनाः ॥ ४७ ॥ संवेगतत्पराढ्त्वाःधर्मध्यानपरायणा. । कुलकीर्तिजिनेन्द्राज्ञारचणोद्यतमानसा ॥ ४८ ॥ दुर्बलीकृतसर्वांगास्तपसासकलार्यिका. । द्वि त्र्यादिगणनायुक्ता निवसन्तिशुभाशयाः ॥ ४९ ॥ असयतजनातीतेगृहस्थपशुवर्जिते । एकान्तस्थेगृहेगूढेमलोत्सर्गार्हे भूयुते ॥ ५० ॥ स्वकार्यमन्तरेणैव जातु गच्छन्ति नार्यिकाः । गृहस्थनिलव वा कुलिंग्यन्तसयताश्रमम् ॥ ५१ ॥ अवश्यंगमनेकार्ये सतिभिक्षादिगोचरे । सिद्धान्तार्थादिपृच्छादौप्रायश्चितादियाचने ॥ ५२ ॥ आपृच्छ्य गणिनीं नत्वा सघाठकेनतद्गृहे ।

धारण करने में सदा महा उद्यम करते रहना चाहिये ॥४४–४६॥ यदि उनके शरीर पर पसीना आ गया हो वा उस पसीना पर धूल जम गई हो वा अन्य किसी अंग का नाक कान आदि का मल लगा हो तो कोई हानि नहीं परन्तु उन अर्जिकाओं को अपने शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये, जिनसे विकार उत्पन्न न हों ऐसे वस्त्रों से अपना शरीर ढकना चाहिये शांत और अचल आसन से बैठना चाहिये, संसार से भयभीत रहनेरूप संवेग में सदा तत्पर रहना चाहिये, चतुरता से रहना चाहिये, धर्मध्यान में लीन रहना चाहिये, अपने मन में कुल, कीर्ति, और भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना चाहिए, उनको इतना तपश्चरण करना चाहिये जिससे उनका शरीर भी दुर्बल हो जाय। उन अर्जिकाओं को दो तीन वा अधिक दश बीस आदि अर्जिकाओं के साथ रहना चाहिये अर्थात् तीन से कम नहीं रहना चाहिये। इस प्रकार अपने हृदय को शुद्ध कर उन अर्जिकाओं को निवास करना चाहिये ॥४७–४९॥ उन अर्जिकाओं को ऐसे एकांत और गूढ़ वा छिपे हुए घर में रहना चाहिये जो असंयमी लोगों से दूर हो गृहस्थ और पशुओं के स्थान से दूर हो और मलमूत्र के लिये योग्य स्थान की जहाँ व्यवस्था हो ॥५०॥ आर्जिकाओं को बिना अपने काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिये न किसी कुलिंगिनी के घर जाना चाहिये और न मुनियों के आश्रम में कभी जाना चाहिये ॥५१॥ भिक्षा लेने के लिये किसी शास्त्र के अर्थ आदि को पूछने के लिये वा प्रायश्चित्त लेने के लिए जाना आवश्यक हो तो अपनी आचार्याणी को पूछ कर उनको नमस्कार कर दो चार अर्जिकाओं के साथ ही जाना चाहिये, सो भी धर्म कार्य के लिये ही जाना चाहिये, अन्य

गन्तव्यमार्यिकाभिश्चधर्मकार्यायनान्यथा ॥ ५३ ॥ या ह्यो निरंकुशा नार्यो भ्रमन्तिस्वेच्छयाभुवि । गृहियत्याश्रमादौ क तासांशीलंशुभाक्रिया ॥ ५४ ॥ यतोयथात्रसिद्धान्नंभोक्तु सुखेनशक्यते । तथाचास्वामिकांनारींस्वाभमेस्वय-मागताम् ॥ ५५ ॥ अतो जातु न विशेतकचित्काले निजेच्छया । एकाकिन्यार्यिकायाश्चविहारोगमनादिकः ॥५६॥ संयता वा गृहस्थानामार्यिकाणां च मन्दिरम् । कलंकशंकया जातुविनाकार्यं न यान्तिमोः ॥५७॥ यतो रंडासमा ये त्र वानवस्थवृषोपमाः । स्त्रीवृन्दसंकुलंरागादिगेहंगेहमटन्ति च ॥ ५८ ॥ निर्विकारंस्थिरंचितंकस्त्रीश्रृंगारदर्शनात् । ब्रह्मचर्यं न नश्येत्किंतेपांकुटिलचेतसाम् ॥ ५९ ॥ स्नपनंरोदनंश्रेष्ठाआदिपाकनिवर्तनम् । सत्सूत्रकरणंगीतगानंवादित्र-

किसी काम के लिए कभी नहीं जाना चाहिये ॥५२–५३॥ जो निरंकुश स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार गृहस्थों के घर वा मुनियों के आश्रम में घूमती फिरती हैं उनका शील और उनकी शुभ क्रियाएं कभी नहीं फल सकतीं ॥५४॥ जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में वा घर में आजाय तो वह आसानी से भोगी जा सकती है ॥५५॥ इसलिये अकेली अर्जिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिये ॥५६॥ इसी प्रकार संयमी मुनियों को भी कलंक के डर से बिना काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिये और न अर्जिकाओं के आश्रम में ही कभी जाना चाहिये ॥५७॥ क्योंकि जो साधु रागपूर्वक स्त्रियों के समूह से भरे हुए घरों में घूमते रहते हैं उन्हें जंगली बैलों के समान समझना चाहिये। इसी प्रकार घर घर घूमने वाली अर्जिकाओं को भी रंडाओं के समान समझना चाहिये ॥५८॥ जो साधु बिना काम के घर घर फिरते हैं उनका चित्त स्त्रियों के शृंगार देखने से विकार रहित और स्थिर कभी नहीं रह सकता तथा कुटिल हृदय को धारण करने वाले उन साधुओं का ब्रह्मचर्य भी अवश्य नष्ट हो जाता है ॥५९॥ श्रेष्ठ अर्जिकाओं को दूसरे के घर जाकर स्नान नहीं करना चाहिये, रोना नहीं चाहिये, श्रेष्ठ अन्न पान के बनाने का काम वा पकाने का काम नहीं करना चाहिये, सूत नहीं कातना चाहिये, गीत नहीं गाना चाहिये बाजे नहीं बजाना चाहिये, असि मसि आदि छहों प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिये, किसी के स्नेह वा लोभादिक के कारण भी

वादनम् ॥ ६० ॥ षड्विधारम्भकर्माणि पदप्रक्षालनादिकान् । संयतानां च बालानां स्नेहलोभादिकारणैः ॥ ६१ ॥ दुर्गोष्ठीविकथादीनिहीत्याद्याश्चपराक्रियाः । परगेहं गता जातु न कुर्युरार्यिकाःशुभाः ॥ ६२ ॥ तिस्र.पंचाथवा सप्तस्थविरान्तरिताभुवि । अन्योन्यरक्षणोद्युक्ता शुद्धाहारगवेषिकाः ॥ ६३ ॥ पर्यटन्तिप्रयत्नेनभिक्षार्थैगृहपक्तिपु । वा व्रजन्तिमुनीन्द्राणां वंदनार्थैव क्षान्तिकाः ॥ ६४ ॥ पंचषट्सप्तहस्तान्तमन्तरालेमहीतलम् । सूरिपाठकसाधूनां भक्तिपूर्वकमर्जिकाः ॥ ६५ ॥ मूर्ध्नागवासनेनैवप्रणामंकुर्वतेन्वहम् । विनयेयोग्यकाले वा श्रुतार्थश्रवणादिके ॥६६॥ एवयुक्तःसमाचारः समासेन तपस्विनाम् । बहुभेदोबुधैर्ज्ञेयोविस्तरेणजिनागमात् ॥ ६७ ॥ विश्वंसर्वगुणाकरंशिवकरं चेममया वर्णितं, ह्याचारं च चरन्तियेत्रनिपुणाः सद्योगिनोचार्यिकाः । तेतादिव्यसुखजगत्त्रयभुवं,भुक्त्वापुन.सयम,

किसी संयमी वा बालक के पादप्रक्षालन (पैर धोना) आदि कार्य नहीं करने चाहिये, शृंगारादिक की कथाएं वा विकथाएं वा और भी ऐसी ही ऐसी हीन क्रियाएं कभी नहीं करनी चाहिये ॥६०–६२॥ वे अर्जिकाएं शुद्ध आहार ढूंढ़ने के लिये जब भिक्षा के लिए जाती हैं तब तीन पाँच या सात वृद्ध अर्जिकाओं के बीच में चलती हैं अर्थात् कुछ अर्जिकाएं आगे पीछे कुछ अंतर से रहती हैं उस समय में भी वे सब एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं। इस प्रकार वे अर्जिकाएं प्रयत्न पूर्वक पंक्तिबद्ध घरों में भिक्षा के लिए जाती हैं। अथवा मुनियों की वंदना के लिए भी वे इसी प्रकार जाती हैं ॥६३–६४॥ वे अर्जिकाएं प्रतिदिन वंदना करने के लिये वा शास्त्रों के अर्थ को सुनने आदि के लिए योग्य समय पर जब मुनियों के पास जाती हैं तब वे आचार्य से पाँच हाथ दूर उपाध्याय से छः हाथ दूर और साधुओं से सात हाथ दूर गवासन से बैठ कर मस्तक झुका कर उनको भक्ति पूर्वक नमस्कार करती हैं ॥६५–६६॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से मुनियों का समाचार बतलाया बुद्धिमानों को इसके विस्तार पूर्वक बहुत से भेद जिनागम से जान लेना चाहिये ॥६७॥ यह समाचार जो मैंने बतलाया है वह सब समस्त गुणों की खानि है और मोक्ष प्राप्त कराने वाला है। जो चतुर और उद्योगी मुनि वा अर्जिकाएं इन समाचारों का पालन करते हैं वे मुनि वा अर्जिकाएं पहले तो तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले दिव्य सुखों का अनुभव करते हैं और फिर संयम धारण कर अनुक्रम से केवल श्रेष्ठ तपश्चरण से

मासाद्यानु च केवलंसुतपसा यान्त्येवमोक्षंक्रमात् ॥ ६८ ॥ असमगुणनिधानं नाकनिर्वाणहेतुं, जिनवरमुखजातं धारितं सर्वशक्त्या । गणधरमुनिवृन्दैर्मुक्तिकामाः प्रयत्नात्, चरतशिवसुखाप्त्यै कृत्स्नमाचारमारम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेसमाचारवर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः ।

ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥१६८॥ ये समस्त समाचार अनुपम गुणों के निधान हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुए हैं, और गणधर देव वा मुनियों के समूह ही अपनी शक्ति के अनुसार इनको धारण करते हैं। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को वा अर्जिकाओं को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक इन समस्त सारभूत समाचारों का पालन करना चाहिये ॥१६९॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रंथ में समाचारों को वर्णन करने वाला यह सातवां अधिकार समाप्त हुआ ।



अष्टमोधिकारः ।



त्रैलोक्यतिलकान्सर्वान् जगन्मंगलकारिणः । लोकोत्तमान्शरण्यांश्चार्हतःसिद्धान्नमाम्यहम् ॥ १ ॥ दशधाशुद्धिमापन्नास्त्रिजगच्छुद्धिदायिनः । सूरश्चिपाठकान्साधून्मंगलादिकरान्स्तुवे ॥ २ ॥ श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नांवाग्देवीभुवनाम्बिकाम् । विश्वशुद्धिकरांचित्तेस्थापयास्यर्थसिद्धये ॥ ३ ॥ इत्यर्हत्सिद्धगुर्वादीन्नत्वामांगल्यहेतवे । अनगारमहर्षीणा

आठवां अधिकार ।

जो अरहंत वा सिद्ध भगवान् तीनों लोकों के तिलक हैं तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं तीनों लोकों में उत्तम हैं और तीनों लोकों में शरण भूत हैं ऐसे समस्त अरहंत और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो आचार्य उपाध्याय साधु दश प्रकार की शुद्धि को प्राप्त हुए हैं तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले है और तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं ऐसे समस्त आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ॥२॥ जो सरस्वती देवी भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई हैं जो तीनों लोकों की माता है, और समस्त भव्य जीवों को शुद्ध करने वाली है ऐसी सरस्वती देवी को मैं अपने अर्थ की सिद्धि के लिये अपने हृदय में स्थापन करता हूँ ॥३॥ इस प्रकार मैं अपनी मंगल कामना के लिए अरहंत सिद्ध और गुरुओं को नमस्कार करता हूं और फिर इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्ती

मिन्द्रनागेन्द्रचक्रिभिः ॥४॥ भव्यैर्वंद्यार्च्यसंसेव्यपादाब्जानांहिताप्तये । वक्ष्याम्यहमनागारभावनाग्रंथमुत्तमम् ॥ ५ ॥ श्रुतेनयेनभव्यौघामहापापकलंकिताः । अग्निनाकनकानीवशुध्यन्तिश्रद्धयाभृशम् ॥६॥ यदाचरणयोगेनहत्वाकर्मकदम्बकम् । यान्तिधीराहिनिर्वाणंतस्य कावर्णनापरा ॥ ७ ॥ लिंगसद्व्रतशुद्धीवसतिकाशुद्धिरूर्जिता । विहारशुद्धिसंज्ञाथभिक्षाज्ञानसमाह्वये ॥ ८ ॥ शुद्धिरुज्झननाम्नी वाक्तपः ध्यानाख्यशुद्धयः । इमा दशविधाः प्रोक्ताः शुद्धयोत्र महात्मनाम् ॥ ९ ॥ विद्युत्स्फुरणसादृश्यं जीवितं धनयौवनम् । स्वजनादिकमन्यद्वा ज्ञात्वाहत्वाजगद्रिपम् ॥ १० ॥ तद्गतंमोहमात्मज्ञैर्धीरैर्यद्धार्यतेमुदा । विशुद्धंजिनलिंगं सा लिंगशुद्धिःसुयोगिनाम् ॥ ११ ॥ प्रस्वेदलग्नसर्वांगमलाः कर्ममलातिगा । तीव्रशीतोष्णतापादिदग्धवृक्षोपमाविदः ॥ १२ ॥ निर्विण्णाः कामभोगादौ वपुःसंस्कारदूरगाः ।

और समस्त भव्य जिनके चरण कमलों की पूजा करते हैं वंदना करते हैं और सेवा करते हैं ऐसे महा ऋषि महा मुनियों का हित करने के लिए मुनियों की भावनाओं को निरूपण करने वाला उत्तम ग्रन्थ (अध्याय) निरूपण करता हूँ ॥४–५॥ जिस प्रकार अग्नि से सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार श्रद्धा पूर्वक इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से महा पाप से कलंकित हुए समस्त भव्य जीव शुद्ध हो जाते हैं ॥६॥ जिन भावनाओं के आचरण करने से धीर वीर मुनि अपने समस्त कर्मों के समूह को नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन भावनाओं की प्रशंसा भला क्या करनी चाहिये ॥७॥ लिंगशुद्धि, श्रेष्ठ व्रतशुद्धि, वसतिकाशुद्धि, उत्तमविहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वचनशुद्धि, तपशुद्धि, और ध्यानशुद्धि । इस प्रकार मुनियों के लिये ये दश शुद्धियाँ कही गई हैं ॥८–९॥ यह धन, जीवन, यौवन, कुटम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है यही समझ कर और इस जगतरूपी शत्रु को मार कर जो आत्मा को जानने वाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जिनलिंग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिगशुद्धि कहलाती है ॥१०–११॥ जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का वा पसीने में मिली हुई धूलि का मल लगा हुआ है, परन्तु जो कर्म मल से सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं अत्यन्त तीव्र शीत वा उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग

दिगम्बरधरा धीराः कृत्स्नसंगपरान्मुखाः ॥ १३ ॥ जन्ममृत्युजरोद्विग्नाभवाब्धिपातभीरव । निर्विकारमनोनेत्रमुखाः सत्पिच्छिकांकिताः ॥ १४ ॥ लिंगशुद्धिविधायोच्चैः प्रवर्तन्तेमहर्षयः । निर्ममा निरहंकाराधर्मशुक्लपरायणाः ॥१५॥ अंगपूर्वामृतैःपूर्णस्वान्त कर्ममलापहम् । जगच्छुद्धिकरं धर्मतीर्थं तीर्थकृतांपरम् ॥ १६ ॥ भावयन्ति त्रिशुध्याते भवाग्निदाहशान्तये । अस्मात्रान्यद्धितं श्रेष्ठं मत्वेतित्रिजगत्यपि ॥ १७ ॥ द्विषड्भेदमहाघोरे तपस्युत्साहकारिणः । पंचाक्षशर्मजेच्छायाः सर्वदानिग्रहोद्यताः ॥ १८ ॥ क्षमादिलक्षणैःसाध्यं दशभिर्धर्ममुत्तमैः । चारित्राचरणैः शुद्धैर्निष्प्रमादाश्चरन्ति च ॥ १९ ॥ इत्याद्यैर्निर्मलैर्वान्यैः शुद्धाचारान् भजन्ति ये । लिंगशुद्धिर्मतातेषांधृतार्हल्लिंग-

से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का संस्कार कभी नहीं करते, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर रक्खी है जो धीर वीर हैं समस्त परिग्रह से रहित हैं, जन्म मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुःखी हैं, जो संसाररूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं, जिनके नेत्र मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता जो श्रेष्ठ पीछी धारण करते हैं, जो महा ऋषि हैं जो लिंगशुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित हैं, अहंकार रहित हैं, जो धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसाररूपी अग्नि के दाह को शांत करने के लिए मन वचन काम की शुद्धता पूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूपी अमृत से भरे हुए, अपने अंतःकरण के कर्ममल को दूर करने वाले तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चिंतवन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़ कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करने वाला नहीं है यही समझ कर जो बारह प्रकार के महा घोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पंचेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमाद रहित होकर शुद्ध चारित्राचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं। ऐसे भगवान अरहंतदेव के लिंग को (निर्ग्रंथ अवस्था को) धारण करने वाले महा मुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पालन करते हैं उनके ही लिंगशुद्धि

योगिनाम् ॥ २० ॥ अष्टप्रवचनाख्याभिर्मातृभिर्यतिमातृभिः । त्रिशुध्या सार्द्धमादायमहाव्रतानि पंच च ॥ २१ ॥ यत्नेन प्रतिपाल्यन्ते यत्ररागातिगैर्बुधैः । अप्रमत्तैः सदामुक्त्यैव्रतशुद्धिः स्मृतात्रसा ॥ २२ ॥ समस्तग्रंथनिर्मुक्ता-स्त्रिरत्नग्रंथभूषिताः त्यक्तदेहप्रतीकाराःसर्वारम्भविवर्जिताः ॥ २३ ॥ मौनव्रतधराःसत्यधर्मसूचनतत्पराः । अदत्तं तृणमात्रं न गृह्णन्ति शीलमंडिताः ॥ २४ ॥ वालाग्रकोटिमात्रं श्रामण्यायोग्यंपरिग्रहम् । स्वप्नेपि जातुनेच्छन्ति सन्तोषिणोदिगम्बराः ॥ २५ ॥ काये वा तत्प्रतीकारे ममतां जातु कुर्वते । न निस्पृहा य यथाजातरूपालंकृत-विग्रहाः ॥ २६ ॥ यत्रारण्येश्मशाने वा रविरस्तं प्रयातिभोः । तत्रैवाप्रतिवद्धास्ते वसन्तिव्रतशुद्धये ॥ २७ ॥

मानी गई है ॥१२–२०॥ रागद्वेष रहित प्रमाद रहित जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक मुनियों की माता के समान अष्ट प्रवचन मातृकाओं के साथ साथ (पाँच समिति और तीन गुप्तियों के साथ साथ) पंच महा व्रतों को धारण करते हैं और फिर प्रयत्न पूर्वक उनका पालन करते हैं उनके ही व्रतशुद्धि आचार्यों ने बतलाई है ॥२१–२२॥ जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित हैं, कितु रत्नत्रय रूपी परिग्रह से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते, जो समस्त आरम्भों से रहित हैं, सदा मौनव्रत धारण करते हैं, जो सत्यधर्म का उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं जो बिना दिया हुआ तृणमात्र भी कभी ग्रहण नहीं करते और जो शीलों से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नही करते, जो अत्यन्त संतोषी हैं दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं जो अपना निस्पृहत्व गुण धारण करने के लिए शरीर में वा शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी भी मोह वा ममता नही करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिये जिस वन में वा जिस श्मशान में सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं। इस प्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतों को निर्मल रीति से पालन करते है उनके ही जैन शास्त्रों में

इत्याद्यैर्निर्मलाचारैर्निर्मलानिव्रतानि ये । चरन्ति सर्वथा तेषां व्रतशुद्धिर्मतागमे ॥ २८ ॥ अरण्येनिर्जनेस्थाने शून्यगेहे गुहादिषु । निरवद्ये प्रदेशे वा श्मशानेतिभयंकरे ॥ २६ ॥ वासो यः क्रियतेधीरैर्निःसंगैर्निर्मलाशयैः । एकान्ते ध्यानसिध्यैसा शुद्धिर्वसतिकाह्वया ॥ ३० ॥ ग्रामेत्रैकमहोरात्रं नगरेदिनपंचकम् । वसन्ति प्रासुकावासाविविक्तैकान्तवासिन ॥ ३१ ॥ अन्वेषयन्तएकान्तं शुक्लध्यानार्पिताशया. । लभन्ते त्रैवगन्धेभाध्यानानन्दसुखंमहत् ॥ ३२ ॥ अहीनमानसाधीराएकाकिनो ह्यविह्वला: । वपुरादौ न कुर्वन्तोममत्वं वनवासिनः ॥ ३३ ॥ सर्वत्राप्रतिवद्धाश्च भीमाद्रिकन्दरादिषु । तिष्ठन्तिरममाणास्तेश्रीवीरवचनेन्वहम् ॥ ३४ ॥ सिंहव्याघ्रादिचौराद्यैः श्मशानकन्दरादिषु । भीतिदेपुप्रदेशेषु नृणां कापुरुषात्मनाम् ॥ ३५ ॥ सदा वसतिकां वीरमहापुरुषसेविताम् । महापुरुषसिंहाश्च सेवन्ते

व्रतशुद्धि बतलाई है ॥२३–२८॥ जो समस्त परिग्रहों से रहित शुद्ध हृदय को धारण करने वाले धीर वीर मुनि अपने ध्यान की सिद्धि के लिये किसी वन में, निर्जन स्थान में, सूने घर में किसी गुफा में, वा अन्य किसी एकांत स्थान में, वा अत्यंत भयंकर श्मशान में निवास करते हैं उसको वसतिका शुद्धि कहते हैं ॥२६–३०॥ प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकांत स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गाँव में एक दिन रहते हैं और नगर में पाँच दिन रहते हैं। सर्वथा एकांत स्थान को ढूंढ़ने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गंध गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महा सुख प्राप्त करते हैं ॥३१–३२॥ जिन मुनियों का हृदय विशाल है, जो धीर वीर हैं, एकविहारी हैं, अत्यन्त निर्भय हैं, जो वन में ही निवास करते हैं अपने शरीर आदि से कभी ममत्व नहीं करते और जो सर्वत्र विहार करते हैं कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान महावीर स्वामी के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओं में वा कंदराओं में ही निवास करते हैं ॥३३–३४॥ वे महा पुरुषरूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यान की सिद्धि के लिये सिंह बाघ सर्प और चोर आदि के द्वारा कापुरुष वा भयभीत मनुष्यों को अत्यंत भय उत्पन्न करने वाले श्मशान कंदरा आदि प्रदेशों में धीर वीर महा पुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका

ध्यानसिद्धये ॥ ३६ ॥ एकान्तेद्रिगुहादौ ते वसन्तोनिशिभीषणम् । शृण्वन्तः शव्दसंघातमत्यासन्नंभयानकम् ॥३७॥ सिंहव्याघ्रादिदुष्टानां नरसिंहाश्चनिर्भयाः । चलन्ति न मनाग्ध्यानादचलाइवसंस्थिताः ॥ ३८ ॥ अनुद्विग्नाशया दृत्ता महोपद्रवकोटिभिः । श्रद्धानाजिनेन्द्राज्ञां वसन्त्यद्रिगुहादिषु ॥३९॥ ध्यानाध्ययनसयुक्ताजागरूका अहर्निशम् । अप्रमादाजिताद्वास्ते यान्ति निद्रावशं न च ॥ ४० ॥ पर्यंकेणार्द्ध पर्यंकेणसद्वीरासनेन च । उत्कटेन तथा हस्तिशौंडेन च निषद्यया ॥ ४१ ॥ आसनैर्मकरास्याद्यैःकायोत्सर्गेण चापरैः । रात्रिं नयन्ति ते दुग्रादावेकपार्श्वादिशय्यया ॥४२॥ उपसर्गाग्निसंयाते महापरीषहा कुले । रौद्रसत्त्वभृतेभीमे वनादौसुष्टु दुष्करे ॥ ४३ ॥ वसन्तिमोक्षमार्गस्था वज्रसंहनना अहो । शुद्धिं वसतिकाख्यां चापन्नाः सध्यानसिद्धये ॥ ४४ ॥ इत्याद्यामसमांशुद्धां वसतिं ये श्रयन्तिभोः । तेषां

को ही सदा सेवन करते हैं अर्थात् सदा ऐसी ही वसतिका में ठहरते हैं ॥३५-३६॥ अत्यंत निर्भय और नरसिंह वृत्ति को धारण करने वाले वे महा मुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफा आदि अत्यंत एकांत स्थान में रहते हुए तथा सिंह बाघ आदि अत्यंत दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यंत समीप ही सुनते हुए भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं पर्वत के समान वे निश्चल ही बने रहते हैं ॥३७-३८॥ करोड़ों महा उपद्रव होने पर भी जो अपने मन मे कभी चंचलता धारण नहीं करते ऐसे चतुर मुनिराज भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओ में ही निवास करते हैं ॥३९॥ सदा ध्यान और अध्ययन में लगे रहने वाले तथा रातदिन जगने वाले और प्रमाद रहित जितेन्द्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में कभी नहीं होते ॥४०॥ वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन वा उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूंड़ के समान आसन लगा कर, अथवा मगर के मुखकासा आसन लगा कर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से बैठ कर अथवा एक कर्वट से लेट कर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि विता देते हैं ॥४१-४२॥ वसतिका शुद्धि को धारण करने वाले, वज्रवृषभनाराच संहनन को धारण करने वाले और मोक्षमार्ग में निवास करने वाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यान की सिद्धि के लिए सैकड़ों उपसर्ग आजाने पर, अग्नि लग जाने पर तथा महा परीषहों के समूह आजाने पर भी

वसतिकाशुद्धिर्भवेद्विरागयोगिनाम् ॥४५॥ उदयेसतिसूर्यस्यप्रासुकेपथ्यनस्तमे । धर्मप्रवृतयेलोकेगमनंयद्विधीयते ॥४६॥ महीतलेमुनीन्द्रौघैः सत्स्वच्छंदविहारिभिः । युगान्तरेत्तणाभ्यां सा विहारेशुद्धिरुत्तमा ॥ ४७ ॥ जीवयोनिसमासादीन् सूत्त्मवादरकायिकान् । ज्ञानेनसुष्टुविज्ञायविश्वजन्तु कृपापराः ॥ ४८ ॥ ज्ञाननेत्रा मरुत्तुल्या सावद्यं त्रिविधेन च । यत्नात्परिहरन्तस्ते कस्यचित्कारणादिभिः ॥ ४६ ॥ एकेन्द्रियादिजन्तूनां वाधां वात्रविराधनम् । विहरन्तोपिभूभागे न कुर्युः कारयन्ति न = ५० ॥ तृणपत्रप्रवालादिहरितांकुरजन्मिनाम् । कंदवीजफलादीनांवनस्पत्त्यखिलांगिनाम् ॥५१॥ पादाद्यैर्मर्दनं नून छेदनं वातिपीडनम । स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न संयताः ॥ ५२ ॥ पृथिव्याःखननाद्यै-

भयानक जीवों से भरे हुए भयंकर और अत्यंत घोर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं ॥४३—४४॥ इस प्रकार जो वीतराग मुनि अत्यंत शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसतिका का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्ध होती है ॥४५॥ स्वतंत्र विहार करने वाले एकविहारी मुनिराज सूर्य उदय होने के बाद तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्ग में केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिए गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं। उन मुनियों के ऐसे शुद्ध गमन करने को उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं ॥४६—४७॥ जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय वादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञान से जान कर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायु के समान परिग्रह रहित हैं ऐसे मुनि मन वचन काय से प्रयत्नपूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं। वे मुनि समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रियादिक जीवों की वाधा वा विराधना न तो कभी स्वयं करते हैं और न कभी किसी से कराते हैं। वे मुनिराज तृण पत्र प्रवाल (कोमल पत्ते) हरे अंकूरे, कंद बीज फल आदि समस्त वनस्पतिकायिक जीवों को पैर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदते हैं न छिदवाते हैं, न स्पर्श करते हैं न स्पर्श कराते हैं और न उनको पीड़ा पहुँचाते हैं वा पहुँचवाते हैं ॥४८—५२॥ वे चतुर मुनि न तो खोद पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते है, न

जलानांप्रक्षालनादिभिः । अग्नेविध्यापनाद्यैश्च वातक्षेपादिभिः क्वचित् ॥ ५३ ॥ वायोस्त्रसात्मनांस्थाननिशय्यागमनादिभिः । पीडांविराधनां दक्षाः कृताद्यैर्नच कुर्वते ॥ ५४ ॥ दण्डादिसर्वहिंसोपकरणातीतसत्कराः । निर्ममाभवभीमाब्धेः पतनाच्छंकिताशयाः ॥ ५५ ॥ तीक्ष्णैःपाषाणखण्डैश्चकंटकाद्यैः क्रमादिषु । पीड्यमाना अपि प्राज्ञा मनःक्लेशादिदूरगाः ॥ ५६ ॥ चर्याशरीषहारातेर्विजये कृतसूद्यमाः । चतुर्गतिषुरौद्रासुरौद्रश्वभ्रादियोनिषु ॥ ५७ ॥ भ्रमणं सुचिरंनिंद्यं कृत्स्नदुःखभराकरम् । पराधीनंविधेः स्वेषांचिन्तयन्तोनिरन्तरम् ॥ ५८ ॥ संवेगं त्रिविधंचित्ते भावयन्तोखिलागमम् । ज्ञानध्यानसुधापानं कुर्वन्तोतिनिराकुलाः ॥ ५९ ॥ पुरपत्तनखेटाद्रिग्रामाटवीवनादिषु ।

प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न बुझाकर वा जलाकर अग्निकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न पंखादिक से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं और न गमन करने बैठने वा सोने में त्रस जीवों को बाधा पहुँचाते हैं। वे चतुर मुनि मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा वा विराधना नहीं पहुँचाते ॥५३–५४॥ उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में दंडा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता, वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसाररूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं ॥५५॥ यदि उनके पैर में काँटा लग जाय वा तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार छिद जाय और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान मुनि अपने मन में कभी क्लेश नहीं करते हैं। क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं ॥५६॥ वे मुनिराज चर्यापरीषह रूपी शत्रुओं को जीतने के लिए सदा उद्योग करते रहते हैं, तथा मेरा यह आत्मा भयानक रूप चारों गतियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहा है, यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यंत निंद्य है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के आधीन है। इस प्रकार वे मुनिराज अपने आत्मा के परिभ्रमण को निरंतर चिंतवन करते रहते हैं ॥५७–५८॥ अत्यंत निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में संसार शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं समस्त आगम का चिंतवन करते रहते हैं, और ज्ञान तथा ध्यानरूपी अमृत का पान सदा करते रहते है ॥५९॥ वे मुनिराज अपनी इच्छानुसार

रम्यारम्येषु सर्वत्र विहरन्तोनिजेच्छया ॥ ६० ॥ पश्यन्तोपिपथ चान्धा रामारूपादिवीक्षणे । व्रजन्तोपि सुतीर्थादौ कुतीर्थेपंगवोविद. ॥ ६१ ॥ सुकथाः कथयन्तोपिमूकादुर्विकथादिषु । उपसर्गजयेशूराः कातरा.कर्मवन्धने ॥ ६२ ॥ निस्पृहा निजदेहादौसस्पृहामुक्तिसाधने । सर्वत्राप्रतिवद्धाः प्रतिवद्धा जिनशासने ॥ ६३ ॥ निर्ममत्वाय दुष्कर्मपरीषह-जयाय च । विहरन्तिमही वह्वीमतन्द्रामुनिनायकाः ॥ ६४ ॥ सिंहसादृश्यवृत्तीनां निष्पापमार्गचारिणाम् । विहार-शुद्धिरेवात्रामीषां नायत्नचारिणाम् ॥ ६५ ॥ कृताद्यैः सकलैर्दोषैस्त्यक्त. शुद्धोमलातिग' । भुज्यते भिक्षयाहारोयोग्यगेहे जितेन्द्रियै' ॥ ६६ ॥ तपोयोगवपु स्थित्यैषष्ठाष्ठमपारणे । पक्षमासोपवासादौ वा भिक्षाशुद्धिरेव सा ॥ ६७ ॥

नगर पत्तन, खेट, पर्वत, गॉव, जंगल वन आदि सुन्दर असुन्दर समस्त स्थानों मे विहार करते रहते हैं उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में वे अंधे ही बने रहते हैं। यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना के लिए विहार करते हैं चलते हैं तथापि कुतीर्थों के लिये वे लंगड़े ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिये वे गूंगे बन जाते हैं। यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिये वे शूर वीर हैं तथापि कर्म बंधन करने के लिये वे कायर बन जाते है। यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यंत निस्पृह हैं तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिये वे तीव्र लालसा रखते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र अप्रतिवद्ध हैं किसी के बंधे हुए वा किसी के आधीन नही हैं तथापि वे जिनशासन के सदा आधीन रहते हैं। ऐसे वे प्रमाद रहित मुनिराज मोह का ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिये तथा अशुभ कर्म और परीषहों को जीतने के लिये बहुतसी पृथ्वी पर विहार करते हैं॥६०—६४॥ इस प्रकार सिंह के समान अपनी निर्भय वृत्ति रखने वाले और पाप रहित मार्ग में चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है। जो मुनि यत्नाचार पूर्वक नही चलते उनके विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती॥६५॥ जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण योग और शरीर की स्थिति के लिये वेला, तेला के बाद के पारणा के दिन, एक पक्ष के उपवास के बाद के पारणा के दिन अथवा महीना दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घर में जाकर कृत कारित अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित वा अपना समस्त दोषो से रहित अत्यंत शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको

नवकोटिविशुद्धं द्व्यैकविशुद्दोषवर्जितम् । सयोजनाप्रमाणाख्यधूमांगारमलोज्झितम् ॥ ६८ ॥ अशनं विधिनादत्तं योग्य कालेसुगेहिभि । पाणिपात्रेस्थितिं कृत्वा ते भजन्तिशिवाप्तये ॥ ६६ ॥ उद्देशकं तथा ज्ञातं कृतमन्नं स्वशंकितम् । दूरागतंसदोषं ते वर्जयन्तिविपान्नवत् ॥ ७० ॥ विज्ञातानुमतातीतं नोचोच्चगृहपंक्तिपु । मौनेनैवमजन्तोत्रभिक्षां गृह्णन्तिनिस्पृहाः ॥ ७१ ॥ उष्णं वा शीतलंशुष्कंरूक्षंशुद्धं रसान्वितम् । क्षारं वा लवणातीतंसुस्वादंस्वाददूरगम् ॥७२॥ अयाचितंयथालब्धमाहारंपारणादिपु । स्वादं त्यक्त्वा च भुजन्तिजिह्वाहिकीलनोद्यताः ॥ ७३ ॥ अक्षम्रक्षणमात्रान्नं प्राणस्थित्यैभजन्ति ते । प्राणान् रक्षन्तिधर्मार्थं धर्मंचरन्तिमुक्तये ॥ ७४ ॥ इत्यादिलाभसंसिध्यै तत्परंपरयाविदः ।

भिक्षाशुद्धि कहते हैं ॥६६–६७॥ वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये सागृहस्थों के द्वारा योग्य काल में विधि पूर्वक पाणिपात्र में दिया हुआ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना की शुद्धता पूर्वक ब्यालीस दोषों से रहित, संयोजना प्रमाण धूम अंगार नाम के दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं ॥६८–६९॥ वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं, दूर से आए हुए आहार को छोड़ देते हैं जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हो गई हो उसको भी छोड़ देते हैं, उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्न को भी छोड़ देते हैं ॥७०॥ वे निस्पृह मुनि जाने हुए और अनुमोदना किए हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं ॥७१॥ जिह्वा आदि समस्त इन्द्रियों को कीलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहने वाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना याचना किया हुआ ठंडा, गर्म, सूखा, रूखा, सरस, लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट, स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं ॥७२–७३॥ जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए पहिया ओंगते हैं उसमें तेल देते हैं उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिए वे मुनिराज थोड़ासा आहार लेते हैं। वे मुनिराज धर्म के लिये प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिए धर्म का साधन करते हैं ॥७४॥ वे मुनिराज परम्परा से चले आए इस प्रकार के लाभ

श्रयंत्यशनमात्मार्थंनचस्वादादिहेतवे ॥ ७५ ॥ आहारेशोभनेलब्धेसंतुष्टास्ते भवन्ति न । अलाभेवाशुभान्नाप्तेदुर्मनस्का न जातुचित् ॥७६॥ देहीति दीनवाक्यं ते प्राणान्तेपि वदन्ति न । स्तुवत्यन्यं न दानायसन्मौनव्रतधारिणा. ॥७७॥ अनशनीयमाहारं कंदबीजफलादिकम् । अपक्वमग्निनाकिंचिद्धीरानेच्छन्तिदोषदम् ॥ ७८ ॥ रात्रौस्थितयदन्नादिसुस्वा–दचलित तथा । तद्दिनोत्थं न गृह्णन्तितत्सर्वं मुनयः क्वचित् ॥ ७६ ॥ निर्दोषाशनमप्यत्र भुक्त्वा तद्दोषशंकिताः । प्रतिक्रमणमात्मज्ञाः कुर्वन्ति व्रतशुद्धये ॥ ८० ॥ इत्यादि यत्नजांभिक्षामेषणाशुद्धिपूर्विकाम् । ये श्रयन्ति सदातेषां भिक्षाशुद्धिर्न चान्यथा ॥ ८१ ॥ कालक्षेत्रादिशुध्याविनयेनैकाग्रचेतसा । अंगपूर्वादिसूत्राणां पठनं परिवर्तनम् ॥८२॥ पाठन व सतां मुक्त्यै क्रियते यन्मुनीश्वरैः । ज्ञाननेत्रैर्मदातीतैर्ज्ञानशुद्धिःस्मृतात्रसा ॥ ८३ ॥ महातपोभराक्रान्ता

की सिद्धि के लिये तथा आत्मा शुद्ध करने के लिए आहार लेते हैं स्वाद के लिए आहार नहीं लेते ॥७५॥ यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाय तो वे सन्तुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले वा मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं ॥७६॥ 'मुझे दो' इस प्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होने पर भी कभी नहीं करते हैं तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करने वाले वे मुनिराज दान के लिये कभी किसी की स्तुति भी नहीं करते ॥७७॥ जो आहार ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसे अग्नि में बिना पके हुये और इसीलिये अत्यंत दोष उत्पन्न करने वाले कंद बीज फल आदि को ग्रहण करने की कभी इच्छा भी नहीं करते हैं ॥७८॥ वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रक्खे हुए अन्न को कभी ग्रहण नहीं करते, तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुए अन्न को भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं ॥७६॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के लिए आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण कर के भी प्रतिक्रमण करते है ॥८०॥ इस प्रकार जो मुनिराज एषणाशुद्धि पूर्वक यत्नाचार पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षा शुद्धि होती है, अन्य किसी के नहीं ॥८१॥ ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले और ज्ञान के अभिमान से सर्वथा रहित ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये कालशुद्धि क्षेत्रशुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ साथ विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से अंगपूर्व वा सूत्रों का जो पठन पाठन करते हैं वा पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञानशुद्धि कहते हैं ॥८२–८३॥ जो मुनिराज महातपश्चरण

दृढचारित्रधारिणः । शुष्कचर्मास्थिसर्वांगा विश्वासख्यातिवर्जिताः ॥ ८४ ॥ महाष्टांगनिमित्तज्ञाः सर्वांगमाब्धिपारगाः । द्वादशांगार्थवेत्तारः परार्थैर्निर्वेगर ॥ ८५ ॥ धारणग्रहणे शक्ता अंगार्थानां मतेर्बलात् । पादानुसारिणो बीजबुद्धयः कोष्ठबुद्धयः ॥ ८६ ॥ संभिन्नबुद्धयो दक्षाः सप्तर्द्धिभूषिता विदः । श्रुतामृतारसत्कर्णा महाबुद्धिविशारदाः ॥ ८७ ॥ मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययमंडिताः । ज्ञातविश्वार्थसाराश्च सध्यानलीनमानसाः ॥ ८८ ॥ त्रिशुध्या निखिलांगानां पठनैः पाठनैः सताम् । तदर्थचिन्तनैर्लोके वर्तन्ते ज्ञानिनोन्वहम् ॥ ८९ ॥ विज्ञोपि सकलांगानां तद्गतं न मनागमदम् । कुर्वन्ति न समीहन्ते ख्यातिपूजादिकं क्वचित् ॥ ९० ॥ जिनवाक्यसुधापानं जन्ममृत्युविषापहम् ।

के बोझ से दबे हुये हैं, दृढ़ चारित्र को धारण करने वाले हैं, जिनका चमड़ा हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है, जो अपने मन में विश्वास और प्रसिद्ध आदि को कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्तशास्त्रों के जानकार हैं, समस्त आगम रूपी समुद्र के पारगामी हैं, द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं, अपने मन को सदा दूसरे के उपकार में ही लगाते रहते हैं, जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ हैं, जो अत्यंत चतुर हैं, पादानुसारी बीजबुद्धि कोष्ठबुद्धि, संभिन्नबुद्धि आदि सातों प्रकार की ऋद्धियों से सुशोभित हैं जो महाज्ञानी हैं, शास्त्ररूपी हैं अमृत के पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यंत श्रेष्ठ बना लिया है, जो महा बुद्धिमान और महा चतुर हैं, मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं जो समस्त पदार्थों के सार को जानते हैं और जो अपने मन को सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन-वचन काय की शुद्धता पूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों को चिंतवन करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है ॥८४–८९॥ वे मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित् भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्ध वा बड़प्पन पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते ॥९०॥ यह जिनवाणी रूपी अमृत का पान करना जन्ममृत्युरूपी विष को नाश करने वाला है,

विश्वक्लेशहरं पचेन्द्रियतृष्णाग्नि वारिदम् ॥ ६१ ॥ विज्ञायजन्मदाहार्त्तिशान्तये शिवशर्मणे । कुर्वन्ति कारयन्त्य-न्यान् विस्तारयन्ति ते भुवि ॥ ६२ ॥ अत्यभीक्ष्णमहाज्ञानोपयोगवशवर्तिनाम् । ज्ञान शुद्धिर्मतासद्भिर्नान्येषां च प्रमोदिनाम् ॥ ६३ ॥ आत्मीये य. शरीरेपि संस्कार. क्षालनादिभिः । वध्वादिविषयेस्नेहो मोहारि जनकोऽशुभः ॥६४॥ सगेममत्वभावो वा निर्ग्रंथैः क्रियतेनच । कचित्कालेमतादक्षै शुद्धि. सात्रोज्झनाभिधा ॥ ६५ ॥ धावनंमुखदन्ता-नामुद्वर्तनं च मर्दनम् । पादप्रक्षालनं नेत्रांजन च कायधूपनम् ॥ ६६ ॥ मज्जनं मंडनं जातु वमनं च विरेचनं । इत्याद्यापरसंस्कारं निर्ममास्ते न कुर्वते ॥ ६७ ॥ कुष्ठज्वरमरुत्पित्ताद्यसाध्यरुक्शतादिषु । दुस्सहेष्वत्र जातेषु

समस्त क्लेशों को दूर करने वाला है, और पंचेन्द्रियों की तृष्णा रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान है। यही समझ कर वे मुनिराज जन्ममरणरूपी दाह को शांत करने के लिये और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए स्वयं जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और इस लोक में उस जिनवाणी रूपी अमृत का विस्तार करते रहते हैं ॥६१–६२॥ जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञानमय अपने उपयोग के वशीभूत हैं अर्थात् जो निरंतर ज्ञान में ही अपना उपयोग लगाये रहते हैं उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञानशुद्धि कही जाती है अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञानशुद्धि कभी नहीं हो सकती ॥६३॥ अपने शरीर मे प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है और अत्यंत अशुभ है, इसलिये चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्व भाव धारण नहीं करते इसको आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं ॥६४–६५॥ मोहरहित वे मुनिराज मुख और दाँतों को न कभी धोते हैं न कुल्ला करते हैं न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अंजन लगाते हैं, न शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, न वमन विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे ही ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते ॥६६–६७॥ अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्म के उदय से अत्यंत असह्य और असाध्य ऐसे

पूर्वासातोदयेन भोः ॥ ९८ ॥ स्वकर्मपाकवेत्तारः औपधाद्यैर्न जातुचिन् । तच्छान्तयेप्रतीकारमिच्छन्तिपाप-हानये ॥९९॥ दुर्व्याधिवेदनाव्याप्तसर्वांगा अपि निस्पृहाः । भवन्ति दुर्मनस्का न स्वस्था प्राग्वन्नचान्यथा ॥१००॥ तपोरत्नत्रयं जन्ममृत्युकृत्स्नरुजान्तकम् । विश्वक्लेशहरं चैकं सेवन्ते ते नचापरम् ॥ १ ॥ रोगोरगबिलंनिंद्यं कृतान्तमुखमध्यगम् । शुक्रशोणितबीजोत्थंसप्तधातुकुलालयम् ॥ २ ॥ क्रमिकोटिशताकीर्णं बीभत्सं च घृणास्पदम् । विष्ठादिनिचितासारं मलमूत्रादिभाजनम् ॥ ३ ॥ पंचाक्षतस्करावासं विश्वदुःखनिबन्धनम् । कृत्स्नाशुच्याकरीभूतं शुचिद्रव्याशुचिप्रदम् ॥ ४ ॥ क्षुत्तृपाकामकोपाग्निदीपितं भववर्द्धकम् । रागादिपूरितं पूतिगंधदुष्कर्मकारणम् ॥ ५ ॥

कोढ़, ज्वर वायु का विकार वा पित्त का विकार आदि सैकड़ों रोग उत्पन्न हो जाँय तो वे मुनि अपने पापों को नाश करने के लिए उस दुःख को सहते रहते हैं उन रोगों को दूर करने के लिये औपधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते, तथा न कभी प्रतीकार करने की इच्छा ही करते है ॥९८–९९॥ निस्पृह वृत्ति को धारण करने वाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा हो तो भी वे अपने मन में खेद खिन्न नहीं होते वे पहले के ही समान स्वस्थ बने रहते हैं उन रोगों से उनके मन में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता है ॥१००॥ वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करने वाले और जन्ममरणरूपी समस्त रोगों को नाश करने वाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं रत्नत्रय और तप के सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते ॥१॥ यह शरीर रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यंत निंद्य है, यमराज के मुख में ही उसका सदा निवास है, यह शुक्र रुधिर रूपी बीज से उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं से भरा हुआ है, करोड़ों अरबों कीड़ों से भरा हुआ है, अत्यंत भयानक है अत्यंत घृणित है, मल मूत्र आदि असार पदार्थों से भरा हुआ है, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है, पाँचों इन्द्रिय रूपी चोर इसमें निवास करते हैं, समस्त दुःखों का यह कारण है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है, पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करने वाला है, भूख प्यास, काम क्रोधरूपी अग्नि से सदा जलता रहता है, जन्ममरणरूप संसार को बढ़ाने वाला है। रागद्वेप से भरा हुआ है, दुर्गंध और अशुभ कर्मों का कारण है, तथा और भी अनेक महा दोपों का मूल कारण

इत्याद्यन्यमहादोषमूलं कायकलेवरम् । पश्यन्तश्चिन्तयन्तस्तेभावयन्तोनिरन्तरम् ॥ ६ ॥ तस्मात्सदापृथग्भूतंस्वात्मानं सद्गुणार्णवम् । कथं कुर्वन्तिरागादीन्निर्विरणा कायशर्मणि ॥ ७ ॥ स्वान्यांगजनितान्भोगांश्चतुर्गतिनिवन्धनान् । जगद्दुःखाकरीभूतान् महापापकरान् वुधैः ॥ ८ ॥ निंद्यान् दाहार्तरुग्हेतून् पशुम्लेच्छादिसेवितान् । निंद्यकर्मभवान् शत्रूनिवेहन्ते न ते कचित् ॥ ९ ॥ मोहशात्रवसन्तानेवधुवर्गेतिदुस्त्यजे । धर्मघ्ने पापवीजे ते स्नेहं जातु न कुर्वते ॥ १० ॥ इत्यादिनिर्मलाचारः स्वतो विश्वान्यवस्तुषु । त्यक्तरागाश्च ये तेषांस्याच्छुद्धिरुज्झनाह्वया ॥ ११ ॥ जिनसूत्राविरुद्धं यदनेकान्तमताश्रितम् । एकांतदूरगं तथ्यं विश्वजन्तुहितावहम् ॥ १२ ॥ मितं च ब्रूयतेसारं वचनं धर्मसिद्धये । उन्मार्गहानये दक्षैः सा वाक्यशुद्धिरुत्तमा ॥ १३ ॥ वाक्यं च विनयातीतं धर्महीनमकारणम् ।

ऐसे शरीर को देखते हुए वे मुनिराज निरंतर उसी रूप से चिंतवन करते हैं तथा अनन्त गुणों का समुद्र ऐसे अपने आत्मा को उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं । इस प्रकार शरीर के सुख से विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं ॥२–७॥ अपने शरीर से वा अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए ये भोग चारों गति के कारण हैं, संसार के समस्त दुःखों की खानि हैं, महापाप उत्पन्न करने वाले हैं, विद्वान् लोग सदा इनकी निंदा करते रहते हैं, दाह दुःख और अनेक रोगों के ये कारण हैं पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं और निंद्य कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं ॥८–९॥ ये बंधुवर्ग भी मोहरूपी शत्रु की संतान हैं पाप के कारण हैं धर्म को नाश करने वाले हैं और अत्यंत कठिनता से छोड़े जा सकते हैं ऐसे बंधुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते ॥१०॥ जो मुनिराज इस प्रकार स्वयं निर्मल आचरणों को पालन करते हैं और अन्य समस्त पदार्थों में कभी राग नही करते ऐसे मुनियों के उज्झन नाम की शुद्धि होती है ॥११॥ चतुर मुनि कुमार्ग को नाश करने के लिये और धर्म की सिद्धि के लिये सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिनशास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकांत मत के आश्रय हों, एकांत मत से सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करने वाले हों, परिमित हों और सारभूत हों । ऐसे वचनों का कहना उत्तम वाक्यशुद्धि कहलाती है ॥१२–१३॥ जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं

॥३१७॥

विरुद्धं ते परैः पृष्टा अपृष्टा वा वदन्ति न ॥ १४ ॥ पश्यन्तोविविधानर्थान्नेत्रैः शृण्वन्तऊर्जितान् । कर्णैश्च ते हि जानन्तश्चित्तेसारेतरान् भुवि ॥ १५ ॥ मूकीभूता इवात्यर्थं लोके तिष्ठन्ति साधवः । कुर्वन्त्यन्यस्य निन्दां न न वार्तां स्तुत्यकारणम् ॥१६॥ स्त्रीकथार्थकथाभक्तराजचौरमृषाकथाः । खेटकर्वटदेशाद्रिपुराकरादिजाः कथाः ॥१७॥ नटानां सुभटानां च मल्लानामिन्द्रजालिनाम् । द्यूतकारकुशीलानां दुष्टम्लेच्छादिपापिनाम् ॥ १८ ॥ वैरिणां पिशुनानां च मिथ्यादृशां कुलिंगिनाम् । रागिणां द्वेपिणांमोहार्तादीनांविकथाः वृथा ॥ १९ ॥ इत्याद्या अपरा वह्वीः कथा. पापखनींर्विदः । कथयन्ति न मौनाढ्याः जातुशृण्वन्तिनाशुभाः ॥ २० ॥ विकथाचारिणां स्वान्य–वृथाजन्मविधायनाम् । दुर्धियां क्षणमात्रं न संगमिच्छन्ति धीधना. ॥ २१ ॥ कौत्कुच्यमथकन्दर्पं मोखर्यं

और जिनके कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा विना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं ॥१४॥ यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं कानों से बडे बडे अनर्थ सुनते हैं, और अपने हृदय में सार असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोक में गूंगे के समान सदा बने रहते हैं, वे कभी किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की स्तुति करने वाली बात कहते हैं ॥१५–१६॥ मौन धारण करने वाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वा मिथ्या कथाएं कभी नहीं कहते हैं। इसी प्रकार खेट कर्वट देश पर्वत, नगर, खानि आदि की कथाएं भी कभी नहीं कहते हैं। तथा वे मुनिराज नट, सुभट, मल्ल इन्द्रजालिया, जूआ खेलने वाले, कुशील सेवन करने वाले, दुष्ट, म्लेच्छ, पापी, शत्रु, चुगलखोर, मिथ्यादृष्टी, कुलिंगी, रागी द्वेपी, मोही और दुःखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं ॥१७–२०॥ जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों का जन्म व्यर्थ ही खोते हैं ऐसे मूर्ख लोगों की संगति वे बुद्धिमान मुनिराज एक क्षण भर भी नहीं चाहते ॥२१॥ वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहते, कामवासना को बढ़ाने वाले वचन कभी नहीं कहते साधुओं के द्वारा निंदनीय ऐसी बकवाद कभी नहीं करते और हंसी

साधुनिन्दितम् । हास्यादिप्रेरकं जातु दुर्वचो न ब्रुवन्ति ते ॥ २२ ॥ निर्विकाराविचारज्ञाः शिवश्रीसाधनोद्यताः । शिवाय धीमतां नित्यं दिशन्तिधर्मदेशनाम् ॥ २३ ॥ श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नामहापुरुषसम्भवाः । संवेगजननीःसारास्त-त्त्वगर्भाः शिवंकराः ॥ २४ ॥ रागारिनाशिनीश्चित्तपंचेन्द्रियनिरोधिनीः । सत्कथा धर्मसंवद्धाः कथयन्तिसतां विदः ॥ २५ ॥ सत्त्वाधिका अनगारभावनारतमानसाः । स्वात्मध्यानपरास्तेस्युस्तत्त्वचिन्तावलम्बिनः ॥ २६ ॥ इत्याद्यन्यगुणग्रामा. ये मौनव्रतधारिणः । मूका इवात्र तिष्ठन्ति ते वाक्यशुद्धिधारका ॥ २७ ॥ द्विषड्भेदं तपः सार सर्वशक्त्याजिनोदितम् । दुष्कर्मारातिसन्तानोन्मूलनंशिवकारणम् ॥ २८ ॥ अप्रमत्तैर्महायोगव्रतगुप्त्यादिमडितैः । क्रियते ज्ञानपूर्वं यत्सा तपः शुद्धिरुद्भुता ॥२९॥ तपोग्निशुष्ककर्मणाप्रादुर्भूतास्थिसचयाः । सात्विका निष्कपायास्ते

को उत्पन्न करने वाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं ॥२२॥ विकार रहित, विचारशील और मोक्ष लक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं ॥२३॥ जो धर्म संबंधिनी श्रेष्ठ कथा भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है, जो संवेग को उत्पन्न करने वाली है, सारभूत है, तत्त्वों के स्वरूप को कहने वाली है, मोक्ष देने वाली है रागद्वेष रूपी शत्रु को नाश करने वाली है, तथा मन और पंचेन्द्रियों को रोकने वाली है ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिये कहते हैं ॥२४–२५॥ जो मुनिराज समर्थशाली हैं, अपने मन को सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते हैं जो अपने आत्मध्यान में सदा तत्पर रहते हैं और तत्त्वों के चिंतवन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है ! इस प्रकार के और भी अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूंगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती है ॥२६–२७॥ महायोग व्रत और गुप्ति समिति आदि से सुशोभित रहने वाले और प्रमाद रहित जो मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अशुभ कर्मरूप शत्रुओं की संतान को भी जड़मूल से उखाड़ देने वाले तथा मोक्ष के कारण, भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं उसको उत्तम तप शुद्धि कहते हैं ॥२८–२९॥ तपरूपी अग्नि से जिनके कर्म

क्षीणगात्राधृतेर्बलात् ॥ ३० ॥ बहून् षष्ठाष्टमादींश्च पक्षमासादिगोचरान् । उपवासांश्चरन्त्यत्रनि शक्ता अपि मुक्तये ॥ ३१ ॥ पक्षमासोपवासादि पारणाहनि निस्पृहाः । ग्रासमात्राधिकाहारं भुजन्ति शिवशर्मणे ॥ ३२ ॥ कृत्वामासोपवासादीन्पारणे चत्वरादिभिः । गृह्णन्त्यवग्रहं धीराभिक्षालाभाय दुर्घटम ॥ ३३ ॥ त्यक्त्वापंचरसान् षड्वा धौतान्नमुष्णवारिणा । पंचाक्षसुखहान्यै ते भजन्ति पारणे मुदा ॥ ३४ ॥ भीमारण्ये श्मशाने वा मांसाशिक्रूरसंकुले । स्त्र्यादिदूरे भयातीताः श्रयन्तिशयनासनम ॥ ३५ ॥ हेमन्ते चत्वरे घोरे शीतदग्धद्रुमे निशि । ध्यानोष्मणाष्टदिग्वस्त्राः शीतबाधां जयन्ति ते ॥ ३६ ॥ ग्रीष्मेसूर्यांशु संतप्ते तुंगाद्रिस्थशिलातले । तापक्लेशा-

---

सब सूख गये हैं, जिनके शरीर में हड्डीमात्र रह गई है जो कषाय रहित हैं तथापि जो शक्तिशाली हैं ऐसे शरीर से आशक्त मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने धैर्य के बल से वेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास एक महीने का उपवास दो महीने का उपवास इस प्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं ॥३०–३१॥ वे निस्पृह मुनिराज मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये पंद्रह दिन का वा एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास कर के पारणा के दिन एक ग्रास वा दो ग्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं ॥३२॥ वे धीर वीर मुनि मासोपवास आदि कर के भी पारणा के भिक्षा लेने के लिये "आज चौराये पर आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" अथवा "पहले घर में आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" इस प्रकार पडगाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं ॥३३॥ अथवा वे मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के सुख नष्ट करने के लिये पारणा के दिन छहों रसों का त्याग कर अथवा पाँचों रसों का त्याग कर आहार लेते हैं अथवा गर्म जल से धोये हुये अन्न को ही वे ग्रहण करते हैं ॥३४॥ वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यंत दूर तथा हड्डी माँस वा क्रूर जीवों से भरे हुये श्मशान में वा भयानक वन में अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन वा आसन ग्रहण करते हैं ॥३५॥ वे मुनिराज जिसकी ठंड से वृक्ष भी जल जाते हैं ऐसे जाड़े के दिनों में रात के समय आठों दिशारूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यानरूपी गर्मी से तपते हुए घोर चौराये पर खड़े होकर शीतबाधा को जीतते हैं ॥३६॥ गर्मी के क्लेश को सहन करने में अत्यंत धीर वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में

सहाधीरास्तिष्ठन्तिभानुसन्मुखाः ॥ ३७ ॥ स्रवद्बिन्दूत्करेवृक्षमूलेमर्पादिवेष्टिते । प्रावृटकालेस्थिता शक्त्याश्रयन्त्यु–पद्रवान् बहून् ॥ ३८ ॥ एवं त्रिकालयोगस्था ऋतुजोपद्रवान्परान् । क्षुत्तृट्शीतोष्णदंशाहि वृश्चिकादिपरीषहान् ॥३९॥ देवतिर्यग्नराचेतनोत्थोपसर्गदुर्जयान । सहन्ते सर्वशक्त्या च मनाक् क्लेशंव्रजन्ति न ॥ ४० ॥ इति वाह्यंतपो–घोरमाचरन्तस्तपोधनाः । प्रायश्चित्तादि सर्वेषां षडन्तस्तपसां क्रमात् ॥ ४१ ॥ आरोहन्ति परा कोटिं निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः । द्विधारत्नत्रयाशक्तो' वाह्यान्त' संगदूरगाः ॥ ४२ ॥ मिथ्यादृग्दुर्जनादीनांदुर्वाक्यादन्तकोपमात् । ताडनात्तर्जनाद्घातायान्ति क्षोभं न ते क्वचित् ॥ ४३ ॥ पचात्तविषयाकांक्षाविश्वानर्थखनी नृणाम् । या तां

सूर्य की किरणों से तप्तायमान ऐसे ऊंचे पर्वतों की शिला पर सूर्य के सामने खड़े होते हैं ॥३७॥ वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहाँ पर बहुत देर तक पानी की बूंदें झरती रहती हैं और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे हुए हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहाँ पर अपनी शक्ति के अनुसार अनेक उपद्रवों को सहन करते रहते हैं ॥३८॥ इस प्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करने वाले वे मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं, क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण की परीषह सहन करते हैं साँप बिच्छुओं के काटने की परीषह सहन करते हैं देव मनुष्य तिर्यंच और अचेतनों से उत्पन्न हुए घोर दुर्जय उपसर्गों को सहन करते हैं। वे मुनिराज अपनी पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं अपने मन में रंचमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते ॥३९–४०॥ व्यवहार निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने में लीन रहने वाले, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह से सर्वथा दूर तथा जितेन्द्रिय और प्रमाद रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार वाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुये भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अंतरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूप से धारण करते है ॥४१–४२॥ वे मुनिराज यमराज के समान मिथ्यादृष्टी और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से, तर्जना से, वा उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार किसी जाल से हिरण को बाँध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों

वैराग्यपाशेनतेबध्नन्तिमृगीमिव ॥ ४४ ॥ इत्याद्यन्यमहाघोरोग्रतपश्चरितात्मनाम् । जितात्ताणां तपः शुद्धि केवलं विद्यतेनघा ॥ ४५ ॥ निर्विकल्पं मनः कृत्वा त्यक्त्वार्त्तरौद्रमंजसा । स्थित्वागिरिगुहादौसध्यानमेकाग्रचेतसा ॥ ४६ ॥ धर्मशुक्लाभिधं दक्षैः सिद्धये यद्विधीयंते । कर्मारण्ये ज्वलज्ज्वालाध्यानशुद्धिरिहास्ति सा ॥ ४७ ॥ भ्रमतिविषयारण्ये दुर्द्धरं स्वमनोगजम् । ध्यानांकुशेनचाहृत्यानयन्ति स्ववशं बुधाः ॥ ४८ ॥ चंचलान् कुर्वतः क्रीडां पंचेन्द्रियजलोद्भवान् । रत्यब्धौ ध्यानजालेनबध्नन्तिध्यानिनोद्रुतम् ॥ ४९ ॥ कषायतस्करानीकं मनोभूपेन्द्रपालितम् । विश्वसन्तापिनं घ्नन्तिध्यानखड्गेनयोगिनः ॥ ५० ॥ ध्यानेन निखिलान्योगान्मूलोत्तरगुणान्परान् । शमेन्द्रियदमादींश्च नयन्ति पूर्णतां विदः ॥ ५१ ॥ सद्ध्यानवज्रघातेन द्रुतं दुष्कर्मपर्वतान् । सार्द्ध मोहादिवृक्षैः आपयन्तिशतचूर्ण-

की खानि ऐसी मनुष्यों की पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्य रूपी जाल से बहुत शीघ्र बाँध लेते हैं ॥४४॥ जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महा घोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इन्द्रियों को जीतते हैं उन्हीं मुनियों के पापरहित निर्दोष तपःशुद्धि होती है ॥४५॥ जो चतुर मुनि अपने मन के समस्त संकल्प विकल्पों को दूर कर तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठ कर एकाग्रचित्त से धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिये धारण करते हैं उनके कर्मरूपी वन को जलाने के लिये की ज्वाला के समान ध्यानशुद्धि कही जाती है॥४६–४७॥ यह अपना मनरूपी दुर्धर हाथी विषयरूपी वन में घूमता रहता है। इसको ध्यानरूपी अंकुश से पकड़ कर बुद्धिमान लोग ही अपने वश में कर लेते हैं ॥४८॥ पंचेन्द्रियरूपी जल से उत्पन्न हुईं और रति रूप समुद्र में क्रीड़ा करती हुईं चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष ही ध्यानरूपी जाल में शीघ्र बाँध लेते हैं ॥४९॥ मनरूपी उत्कृष्ट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुःख देने वाली ऐसी इस कषायरूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यानरूपी तलवार से मारते हैं ॥५०॥ चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को, उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तरगुणों को उपशम परिणामों को और इन्द्रियों के दमन को कर्मरूप से धारण कर लेते हैं ॥५१॥ वे मुनिराज श्रेष्ठध्यानरूपी वज्र की चोट से मोहादिक

ताम् ॥ ५२ ॥ गच्छन्तो वा सुखासीना वह्वीः सुखदुःखादिकाः । अवस्था मुनयः प्राप्ताः कचिद्ध्यानं त्यजन्ति न ॥ ५३ ॥ आर्तरौद्रकुलेश्यानां धर्मशुक्लार्पिताशयाः । स्वप्नेपि न वशं यान्ति शुक्ललेश्यामहोदयाः ॥ ५४ ॥ परीषहमहासेन्यैरुपसर्गव्रजै कचित् । चलन्ति न मनाग्ध्यानादद्रीन्द्रइवनिश्चलाः ॥ ५५ ॥ रागद्वेषहयौ दुष्टौ नयन्तावुत्पथं बलात् । सद्ध्यानरथमात्मध्यानरज्वा स्थापयन्ति ते ॥ ५६ ॥ पिबन्तः परमात्मोत्थं ध्यानानन्दामृतं सदा । मुख्यवृत्या न जानन्ति क्षुत्तृषादिपरीषहान् ॥ ५७ ॥ जिनशासनभूमिस्थं चारित्रशीलवेष्ठितम् । विवेकगोपुराकीर्णंजिनज्ञाखातिका वृतम् ॥ ५८ ॥ गुप्तिवज्रकपाटंसत्ताप. सुभटपूरितम् । क्षमादिमंत्रिवर्गाढ्यं सद्ज्ञानतलरक्षकम् ॥ ५९ ॥ संयमारामसीमान्तं ह्यगम्यं भंगवर्जितम् । कषायमदनारातिव्रजैः पंचाक्षतस्करैः ॥ ६० ॥ साधुलोक

वृक्षों के साथ साथ अशुभकर्मरूपी पर्वतों के सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं ॥५२॥ वे मुनि चाहे चल रहे हों चाहे आराम से बैठे हों वा सुख दुःख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हों तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५३॥ शुक्ललेश्या को धारण करने वाले और अपने मन में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को चिंतवन करने वाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वश में नहीं होते हैं ॥५४॥ मेरु पर्वत के समान निश्चल रहने वाले वे मुनिराज परीषहों की महासेना तथा उपसर्गों के समूह आजाने पर भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं ॥५५॥ ये राग द्वेष रूपी घोड़े बड़े ही दुष्ट हैं ये मनुष्यों को जबर्दस्ती कुमार्ग में ले जाते हैं ऐसे इन घोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ में जोत देते हैं ॥५६॥ वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यानरूपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं, इसलिये वे क्षुधातृषा आदि की परीषहों को मुख्यवृत्ति से कभी नहीं जानते ॥५७॥ देखो यह श्रेष्ठध्यान एक उत्कृष्ट नगर है, यह नगर जिनशासन की भूमि पर बसा हुआ है, चारित्ररूपी परकोट से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञारूपी खाई से वेष्ठित है, इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड़ हैं श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी योद्धाओं से यह भर रहा है, उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है, सम्यग्ज्ञानरूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं इसकी सीमा के अंतमें संयमरूपी बगीचे

भृतंरम्यंसद्ध्यानननगरंपरम् । अधिष्ठितामहाशीलसन्नाहाखिलवर्मिताः ॥६१॥ समतुंगगजारूढा धैर्यचापकरांकिताः । रत्नत्रयशरोपेताःमुनीन्द्रसुभटोत्तमाः ॥ ६२ ॥ निःशंकगुणमाकृष्यदृगादिशरवर्षणैः । मोक्षराज्याय निघ्नन्तिससैन्यं मोहविद्विषम् ॥ ६३ ॥ ततोहतमहामोहानिर्धूतकर्मशात्रवाः । व्रजन्ति मुक्तिसाम्राज्यं शाश्वत्त ते सुरार्चिताः ॥६४॥ श्रमयन्ति तपोभिर्ये स्वात्मानं श्रमणा हि ते । शमयन्तिकषायान् वा खानि ये तेत्रसयता. ॥ ६५ ॥ अर्पयन्ति स्वकर्माणि गमयन्ति किलर्षयः । मन्यन्ते स्वपरार्थानां सिद्धि ये मुनयोत्रते । मत्याद्यैः पचसद्ज्ञानैर्युता वा मुनयोद्धृताः ॥ ६७ ॥ साधयन्तिदृगादीनि त्रीणि ये तेत्रसाधव. । येषां न विद्यतेंगारमनगारास्तएव हि ॥ ६८ ॥

लग रहे हैं, कषाय और कामरूपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रियरूपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते, न इस नगर का भंग कभी हो सकता है, वह ध्यानरूपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते हैं जो महाशीलरूपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं जो समतारूपी ऊंचे हाथी पर चढ़े रहते हैं, जिनके हाथ मे धैर्यरूपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रयरूपी वाणों को धारण करते रहते हैं ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठध्यानरूपी नगर के राजा होते हैं ॥५८—६२॥ वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकितरूपी डोरी को खींच कर रत्नत्रयरूपी वाणों की वर्षा करते हैं और मोक्षरूपी राज्य को प्राप्त करने के लिये समस्त सेना के साथ मोहरूपी शत्रु को मार डालते हैं ॥६३॥ तदनंतर मोहरूपी महाशत्रु के मर जाने पर उन मुनियों के कर्मरूपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य वे मुनिराज सदा काल रहने वाले मोक्षरूपी साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं ॥६४॥ वे मुनिराज तपश्चरण कर के अपने आत्मा को श्रम वा परिश्रम पहुँचाते हैं इसलिये वे श्रमण कहलाते हैं। वे कषाय तथा इन्द्रियों को शांत करते हैं इसलिये संयत कहलाते हैं। वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं भगा देते हैं वा नष्ट कर देते हैं इसलिये ऋषि कहे जाते हैं। वे सप्त ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं इसलिये महर्षि कहे जाते हैं। वे मुनिराज अपने आत्मा का अथवा अन्य पदार्थों का मनन करते हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों से वे सुशोभित रहते है इसलिये भी वे मुनि कहलाते हैं। वे मुनिराज

थेषां वीतोविनष्ठो हि रागोदोषाखिलैः समम् । वीतरागास्तएवात्र त्रिजगन्नाथपूजिताः ॥ ६६ ॥ इतिसार्थाकना-माप्तवीतरागतपस्विनाम । ध्यानिनां परमाध्यानशुद्धि नं रागियोगिनाम् ॥ ७० ॥ इतिजिनमुखजाता ये त्र शुद्धिर्दशैव ह्यशुभसकलहंत्रोस्वर्गमोक्षादिकर्त्री । परम चरणयत्नैपालयन्त्यात्मशुध्यै रहितत्रिधिमलांगास्तेऽचिरात्स्युर्महान्तः ॥७१॥ एता मुक्तिवधूसखीश्चपरमानागारसद्भावना ये शृण्वन्ति च भावयन्तिनिपुणाः शक्त्याचरन्त्युद्यता । ते तद्धर्म-वशाज्जगत्त्रयवरंसर्वार्थसिध्यादिजं भुक्त्वासौख्यमनारतंसुतपसामुक्तिप्रयान्तिक्रमान् ॥ ७२ ॥ ये सर्वेजिननायिकाश्च परयाशुध्याबभूवु पुरा सिद्धाअन्तविवर्जितानिरुपमा. आप्ता शिवस्त्रीपराम । येनागारसुभावनारतमहायोगा-

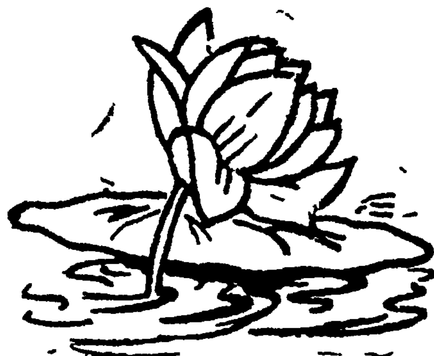
सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध करते हैं इसलिये साधु कहे जाते हैं। उनके रहने का कोई नियत स्थान नहीं रहता इसलिये वे अनगार कहलाते हैं। उनके राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं और तीनो लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं ॥६५—६६॥ इस प्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करने वाले वीतराग ध्यानी तपस्वियों के परम ध्यान की शुद्धि होती है रागी मुनियों के ध्यान की सिद्धि कभी नहीं हो सकती ॥७०॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई ये दश शुद्धियाँ समस्त अशुभों को नाश करने वाली हैं और स्वर्गमोक्ष की देने वाली हैं। जो महापुरुष अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक धारण किये हुये परम चारित्र के द्वारा इन दशों शुद्धियों को पालन करते हैं वे बहुत ही शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं ॥७१॥ ये मुनियों की श्रेष्ठ भावनाएं सर्वोत्कृष्ट हैं और मोक्षरूपी स्त्री की सखी हैं। जो चतुर मुनि इनको सुनते हैं इनका चिंतवन करते हैं और उद्योगी बन कर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते हैं वे उस धर्म के निमित्त से तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि आदि के सुखों को निरंतर भोगते रहते हैं और फिर अंतमें श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥७२॥ पहले समय में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब इन परम शुद्धियों से ही हुए हैं तथा उपमा रहित अनंत सिद्ध हुए हैं और उन्होंने जो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष स्त्री प्राप्त की है वह भी सब इन परम शुद्धियों का

स्त्रिधामाधवः ते स्तुत्याममभावनारश्वतकज्ञाः शुद्धीः प्रदद्यु र्निजाः ॥ १७३ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
अनगारभावना वर्णनो नामाष्टमोधिकारः

ही फल समझना चाहिये। इसी प्रकार आचार्य उपाध्याय साधु भी जो महा योगीश्वर कहलाते हैं वे भी मुनियों इन भावनाओं में लीन होने से ही महा योगीश्वर कहलाये हैं। इसलिये मैं इन अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओं की स्तुति करता हूं ये पाँचों परमेष्ठी अपनी सब भावनाएं मुझे प्रदान करें तथा अपनी समस्त आत्मशुद्धि प्रदान करें ॥१७३॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रंथ में
मुनियों की भावनाओं को निरूपण करनेवाला यह
आठवां अधिकार समाप्त हुआ।



नवमोधिकारः ।



सिद्धान्तसमयादीनांप्रणेतॄन्परमेष्ठिनः । त्रिजगन्नाथपूज्यांघ्रीन्वंदेतद्गुणसिद्धये ॥ १ ॥ अथाखिलागमस्यात्रदर्शनज्ञानयोः परः । चारित्रतपसो सारभूत. श्रीजिनभाषित. ॥ २ ॥ महान् यो ग्रंथसार' समयसाराभिधः सताम् । सर्वार्थसिद्धिदोवक्ष्येसमासेनतमूर्जितम् ॥ ३ ॥ द्रव्यशुद्धिपरां क्षेत्रकालशुद्धी च निर्मले । भावशुद्धिं समाश्रित्य

नौवां अधिकार ।

जो पाँचों परमेष्ठी सिद्धांत और समय आदि को निरूपण करने वाले हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह समयसार नाम का महा ग्रंथ (अध्याय) सब ग्रंथों का सारभूत है समस्त आगम का सार है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सार है, चारित्र और तपश्चरण का सार है सबका सारभूत है भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, सर्वोत्कृष्ट है और सज्जनों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाला है इसलिये अब मैं उसको संक्षेप से कहता हूं ॥२—३॥ जो वीतराग तपस्वी निर्मल, द्रव्यशुद्धि क्षेत्रशुद्धि कालशुद्धि और भावशुद्धि का आश्रय लेकर तथा उत्कृष्ट दृढ संहननों का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र के धारण करने में सदा प्रयत्न करता रहता है

दृढंसंहननंपरम् ॥ ४ ॥ चारित्रेयततेनित्यंदर्शनज्ञानपूर्वके । य स्तपस्वी विरागी स निर्वाणंलभतेचिरात् ॥ ५ ॥ धीरोवैराग्यसम्पन्नः शिक्षित्वास्तोकमागमम् । चारित्राचरणात्सम्यग्दृष्टिः शुध्यति नापरः ॥ ६ ॥ वैराग्यवर्जितो ज्ञानी पठित्वा सकलागमम् । चारित्रविकलो जातु न शुध्यति विधेर्वशात् ॥ ७ ॥ भिक्षां चर वसारण्ये स्तोकं स्वादातिगंजिम् । माविधेहि वृथासारं बहुजल्पनमात्मवान् ॥ ८ ॥ सहस्वसकल दुःखं जयनिद्रां च भावय । मैत्रीं च सुष्ठुवैराग्यं कुरुकृत्यंवृषाप्तये ॥ ९ ॥ एकाकीध्यानसंलीनोनिष्कषायोऽपरिग्रहः । निष्प्रमादो निरालम्बो जिताक्षा भवसन्मुने ॥ १० ॥ निरसगस्तत्वविल्लोकव्यवहारातिगोयते । भवैकाग्रस्थचित्तस्त्वं वृथा सत्कल्पनैश्चकिम् ॥ ११ ॥ यो योगीदृढचारित्रःपठित्वाल्पजिनागमम् । दशपूर्वधरं सोन्यं जयेन्मुक्त्यादिसाधनात् ॥ १२ ॥ चारित्ररहितो योत्र

वह मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥४—५॥ जो धीर वीर और वैराग्य को धारण करने वाला सम्यग्दृष्टी थोड़ा सा आगम भी पढ़ कर चारित्र का पालन करता है वह पुरुष उस चारित्र को पालन करने से ही शुद्ध होता है विना चारित्र के कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता ॥६॥ जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य से रहित है वह समस्त आगम को पढ़ कर भी यदि चारित्र धारण न करे तो वह कर्म के बंधन से कभी शुद्ध नहीं हो सकता ॥७॥ अतएव हे मुने ! तू भिक्षावृत्ति धारण कर, वन में निवास कर, स्वादरहित थोड़ा भोजन कर तथा व्यर्थ और असारभूत बहुत सी बकवाद मत कर। हे आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तू सब दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना को चिंतवन कर, उत्कृष्ट वैराग्य धारण कर, जो कुछ कर वह धर्म की प्राप्ति के लिये कर, एकाकी होकर ध्यान में लीन हो, कषायरहित हो, परिग्रह रहित हो, प्रमाद रहित हो, आलंबन वा किसी के आश्रय से रहित हो, और जितेन्द्रिय बन ॥८—१०॥ हे मुने ! तू समस्त परिग्रहों से रहित हो, तत्वों का जानकार बन. लोकव्यवहार से दूर रह, और चित्त की एकाग्रता धारण कर। क्योंकि व्यर्थ की अनेक कल्पनाएं करने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥११॥ जो योगी दृढ़ चारित्र को धारण करता है वह थोड़े से आगम को भी पढ कर जानकार ऐसे अन्य मुनि को स्वर्गमोक्ष को सिद्ध करने के कारण दश पूर्व के जानकार को भी जीत लेता है ॥१२॥ जो पुरुष चारित्र रहित है वह यदि बहुत से श्रुतज्ञान को पढ़ले

श्रुतेन बहुनापिकिम् । साध्यं तस्य यतो नूनं मज्जनं भववारिधौ ॥ १३ ॥ ज्ञाननिर्जीविकेनात्रध्यानवातेन धीधनाः । चारित्रपोतमारूढास्तरन्त्याशुभवार्णवम् ॥ १४ ॥ ज्ञानं प्रकाशक विश्व तत्त्वातत्त्वादिकर्मणाम् । दुष्कर्मनाशकंध्यानं संयमः संवरप्रदः ॥१५॥ संयोगेसत्यमीषा च त्रयाणां स्यान्महामुने । जिनेन्द्रशासने मोक्षो नान्यथाभवकोटिभिः ॥१६॥ चारित्रवर्जितम् ज्ञानं लिंगग्रहणमूर्जितम् । द्विधासंयमहीनं च तपोदर्शनदूरगम् ॥ १७ ॥ योज्ञः करोति कुर्यात् स केवलं हि निरर्थकम् । यतो न निर्जरा मोक्षो नास्य कर्मास्रवात्कचित् ॥ १८ ॥ सल्लेश्याध्यानचारित्रविशेषैस्तपसा सताम् । सद्गतिः स्याच्चतेभ्योऽपिध्यानं कार्यंबुधैःपरम ॥ १९ ॥ सम्यक्त्वाज्जायते ज्ञान ज्ञानात्मर्वार्थदर्शिनी ।

तो भी उससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि बिना चारित्र के वह संसाररूपी समुद्र में ही डूबता है ॥१३॥ जो बुद्धिमान् पुरुष चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जात हैं वे ज्ञानरूपी पतवार से, और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं ॥१४॥ ज्ञान समस्त तत्त्वों को अतत्त्वों को और कर्मों को प्रकाशित करता है तथा ध्यान अशुभ कर्मों का नाश करता है और संयम आते हुए कर्मों को रोकता है ॥१५॥ यदि किसी महा मुनि के ज्ञान ध्यान और संयम इन तीनों का एक साथ संयोग हो जाय तो भगवान जिनेन्द्रदेव के शासन में उसी मुनि को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है बिना इन तीनों के मिले करोड़ों भवों में भी कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१६॥ जो अज्ञानी चारित्र हीन ज्ञान को धारण करता है और दोनों प्रकार के संयम से रहित तथा तप और सम्यग्दर्शन से रहित उत्कृष्ट जिन लिंग धारण करता है वह निरर्थक ही जिन लिंग धारण करता है क्योंकि बिना चारित्र के निरंतर कर्मों का आस्रव होता रहता है इसलिये उनके न तो कर्मों की निर्जरा हो सकती है और न मोक्ष हो सकती है ॥१७–१८॥ उत्तम शुभ लेश्या ध्यान और चारित्र की विशेषता से तथा तपश्चरण से सज्जनों को श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा उनमें भी बुद्धिमानों को उत्कृष्ट ध्यान ही करना चाहिये ॥१९॥ देखो सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली स्वकीय और परकीय समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है। जिसको समस्त पदार्थों की

उपलब्धिः पदार्थानांसर्वेषांस्वपरात्मनाम् ॥ २० ॥ उपलब्धपदार्थोगीश्रेयोश्रेयश्च वेत्तिवै । श्रेयोश्रेयोर्थवेत्तोद्धू तद्ुःशील: सुशीलवान् ॥ २१ ॥ शीलेनाभ्युदयः सर्वस्ततोमोक्षंलभेत स' । अतोज्ञानव्रतादीनां सम्यक्त्वमूलमुच्यते ॥ २२ ॥ कृत्स्नं चा. श्रुतज्ञानं पठितं सुष्ठुसंश्रितम् । गुणितं भ्रष्ट चारित्रं ज्ञानवन्तंयतिं क्वचित् ॥ २३ ॥ सद्गतिंनेतुमत्यर्थं न समर्थं भवेद्भवान् । अतो ज्ञानात्प्रधानत्वं चारित्रं विद्धिमोक्षदम् ॥ २४ ॥ यदिप्रदीपहस्तो यः पतेत्कूपेप्रमादवान् तस्यदीपफलंकिंस्यान्नकिंचिदपिभूतले । ॥ २५ ॥ शिक्षित्वायोखिलं ज्ञानं यदि चारित्रमंजसा । पालयेन्नात्र किं तस्य श्रुतज्ञानफलंभुवि ॥ २६ ॥ पिण्ड वसतिकां ज्ञानसयमोपधिमात्मवात् । उद्गमोत्पादनादिभ्योदोषेभ्यःप्रत्यहं सुधी. ॥ २७ ॥ शोधयेद्योतिनिर्दोषचारित्रशुद्धयेमुनिः । विशुद्धं तस्य चारित्रं जायते शिवकारणम् ॥ २८ ॥

उपलब्धि प्राप्त हो जाती है वह मनुष्य अपने कल्याण अकल्याण को जान लेता है। तथा कल्याण अकल्याण को जान लेने से शील रहित मनुष्य भी शीलवान बन जाता है। शील पालन करने से सब तरह के अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं तथा अभ्युदय प्राप्त होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतएव कहना चाहिये कि सम्यग्ज्ञान और व्रतादिकों के लिए सम्यग्दर्शन ही मूल कारण है ॥२०–२२॥ जिस किसी यति ने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़ लिया है तथा अच्छी तरह उसको धारण कर लिया है मनन कर लिया है तो भी चारित्र से भ्रष्ट उस ज्ञानी पुरुष को श्रेष्ठ गति में पहुँचाने के लिए आप कभी समर्थ नहीं हो सकते अतएव हे मुने! ज्ञान की अपेक्षा तू सम्यक्चारित्र को ही प्रधान समझ। क्योंकि यह निश्चित है कि मोक्ष सम्यक्चारित्र से ही प्राप्त होती है ॥२३–२४॥ जो कोई प्रमादी मनुष्य हाथ में दीपक लेकर भी कूए में पड़ जाय तो फिर उसने उस दीपक का फल ही क्या पाया अर्थात् इस लोक में उसे दीपक का फल कुछ नहीं मिला। इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त ज्ञान को पढ कर भी यदि चारित्र को पालन नहीं करता है तो समझना चाहिये कि उसे इस संसार में श्रुतज्ञान का फल कुछ नही मिला ॥२५–२६॥ जो आत्मा के स्वरूप को जानने वाला बुद्धिमान् अपने निर्दोप चारित्र को सिद्ध करने के लिये आहार वसतिका ज्ञानोपकरण और संयमोपकरणों को उद्गम उत्पादन आदि दोपों से प्रतिदिन शुद्ध करता है आहार भी निर्दोप ग्रहण करता है तथा उपकरणों के ग्रहण में भी कोई दोप नहीं लगाता उसी मुनि के मोक्ष का

पूर्णमचेलकत्वं च लोचोवैराग्यवर्द्धकः । सर्वसंस्कारहीनापराव्युत्सृष्टशरीरता ॥ २६ ॥ प्रतिलेखनमित्येपलिंगकल्पश्चतुर्विधः । जिनेन्द्रलिंगिनां व्यक्तो लोकेसंवेगसूचकः ॥ ३० ॥ रजःप्रस्वेदयोऽसुग्रहणंमृदुतापरा । सौकुमार्यं लघुत्वं च यत्रपंचगुणाइमे ॥ ३१ ॥ सन्ति मयूरपिच्छेत्रप्रतिलेखनमूर्जितम् । तं प्रशंसन्तितीर्थेशादयायै योगिनां परम् ॥३२॥ प्रक्षिप्तं चक्षुषोर्यन्मनाक्पीडा करोति न । निर्ग्रंथैर्निर्भयंरम्यं तद्ग्राह्यं प्रतिलेखनम् ॥ ३३ ॥ उत्थायशयनाद्रात्रौ विनात्रप्रतिलेखननात । कृत्वाप्रस्रवणादींश्चपुनः स्वपन्व्रजन्भुवि ॥ ३४ ॥ उद्वर्तनपरावर्तनानि कुर्वन्नगोचरे । नेत्राणां वा यतिः सुप्तो जीवघातं कथं त्यजेत ॥ ३५ ॥ मत्वेति कार्तिकेमासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम् । स्वयंपतितपिच्छाना

कारण ऐसा अत्यंत शुद्ध चारित्र होता है ॥२७–२८॥ पूर्णरूप से नग्नता धारण करना, वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलोच करना, सब तरह के संस्कारों से रहित शरीर से भी निर्ममता धारण करना और प्रतिलेखन के लिए पीछी धारण करना ये चार लिंगकल्प कहे जाते हैं ये चारों ही भगवान जिनेन्द्रदेव के लिंग को प्रगट करते हैं और लोक में वैराग्य के चिन्ह हैं ॥२९–३०॥ जिस पर न तो धूल लग सके, न पसीना लग सके, जो अत्यंत कोमल हो, सुकुमार हो, और छोटी हो ये पाँच गुण जिसमें हों वही प्रतिलेखन उत्तम गिना जाता है। ये पाँचों गुण मयूरपिच्छ में हैं इसलिए भगवान जिनेन्द्रदेव जीवों की दया पालन करने के लिये मुनियों को मयूरपिच्छ की पीछी की ही प्रशंसा करते हैं ॥३१–३२॥ जिसको आँख में डाल देने पर भी रंचमात्र पीड़ा न हो वही निर्भय और मनोहर प्रतिलेखन निर्ग्रंथ मुनियों को ग्रहण करना चाहिये। (जिसके रखने में कोई भय न हो मूठ में सोना चाँदी न लगा हो उसको निर्भय कहते हैं) ॥३३॥ यदि मुनि के पास प्रतिलेखन वा पीछी न हो तो जब कभी रात्रि में वह अपनी शय्या से उठेगा मूत्र की बाधा दूर करने जायगा फिर आकर सोवेगा, चलेगा, किसी पुस्तक कमंडलु आदि को उठावेगा रक्खेगा उठेगा कर्वट बदलेगा अथवा ये सब क्रियाएं न भी करे तो भी नेत्र से न दिखने वाले स्थान में सोवेगा, इन सब क्रियाओं में वह यति बिना पीछी के जीवों के घात को कैसे बचा सकेगा। अर्थात् मुनि के पास पीछी हर सयम होनी चाहिये बिना पीछी के जीवों की हिंसा का त्याग हो ही नहीं सकता ॥३४–३५॥ अतएव मुनियों को कार्तिक महीने में

लिंगचिह्नं च योगिभिः ॥ ३६ ॥ असने शयनेस्थाने व्युत्सर्गगमनादिके । ग्रहणे स्थापने ज्ञानशौचोपकरणात्मनाम् ॥ ३७ ॥ उद्वर्तनपरावर्त्तनांगकंडूयनादिषु । कृपयायत्नतः कार्यं दृष्टिपूर्वंप्रमार्जनम् ॥ ३८ ॥ यो विशोध्यमुनिर्भुक्तेपिण्डापध्याश्रयादिकान् । मूलस्थानं सप्राप्तो यतित्वगुणादूरगः ॥ ३९ ॥ पिण्डोपध्यादिशुद्धियोऽकृत्वातिमूढमानसः । कायक्लेशं तपः कुर्याच्चिरप्रवृजितोपिसन् ॥ ४० ॥ तस्यसंयमहीनं तत्तपो व्यर्थंयमादि च । न चारित्रं क्रियाश्रेष्ठा नस्यात्पापास्रवाद्वृथा ॥ ४१ ॥ छित्वामूलगुणानाद्यान्ख्यातिपूजादिहेतुना । वृक्षमूलादियोगान् यो

स्वयं गिरे हुये पंखों की पीछी बनानी चाहिये क्योंकि यह मुनियों का खास चिह्न है ॥३६॥ मुनियों को सोते समय बैठते समय खड़े होते समय कायोत्सर्ग करते समय, गमनागमन करते समय ज्ञानोपकरण वा शौचोपकरण के उठाते रखते समय उठते समय करवट बदलते समय और खुजाते समय कृपापूर्वक प्रयत्नपूर्वक, आँख से देख कर पीछी से प्रमार्जन करना चाहिये ॥३७–३८॥ जो मुनि आहार के आश्रित रहने वाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है वह मुनि मुनिपने के गुणों से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है, (उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिये) ॥३९॥ जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का दीक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामिग्री को बिना शुद्ध किये कायक्लेश तपश्चरण को करता है उसका वह तपश्चरण संयम रहित कहलाता है और इसीलिये वह व्यर्थ है । इसी प्रकार उस मुनि के किये हुये यम नियम चारित्र भी सब व्यर्थ समझने चाहिये । उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती । क्योंकि संयम हीन मुनि के सदा पापकर्मों का आस्रव होता रहता है और इसीलिये उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती हैं ॥४०–४१॥ जो मुनि अपनी कीर्ति के लिये अथवा अपना बड़प्पन वा पूज्यपना दिखलाने के लिये महाव्रतरूप मूलगुणों का तो भंग कर देता है और वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योगधारण करना आदि अत्यंत कठिन बाह्य तपश्चरणों को धारण करता है उसके मूलगुण रहित उत्तरगुण ऐसे ही समझने चाहिये जैसे बिना जड़ के वृक्ष होता है । जिस प्रकार बिना जड़ का वृक्ष न ठहर सकता है न बढ़ सकता

वाह्यान गृह्वातिदुर्द्धरान् ॥ ४२ ॥ तस्योत्तरगुणाःसर्वेमूलहीना द्रुमा इव । समीहितफलं किं ते करिष्यन्ति जगत्त्रये ॥ ४३ ॥ हत्वाप्राणान् वहून् कुर्यादात्मनो यो महाबलम् । अप्रासुक सुखाकांक्षी मोक्षाकांक्षी न स कश्चित् ॥ ४४ ॥ एकद्वित्रिमृगादींश्च सिंहव्याघ्रादिकोत्र यः । निहत्य खादयेत्पापी नीच स कथ्यते यदि ॥ ४५ ॥ यो मुनिः प्रत्यहं हत्वा बहूँश्चस्थावरत्रसान् । भक्षयेत्स कथंपापी नीचो वा नाधमोभवेत् ॥४६॥ आरंभाज्जीवराशीनां वधोवधादघंमहत् । अघाद्बंधोभवेत्स्वस्यदुर्गतौतीव्रदुःखद ॥ ४७ ॥ तस्मादात्मा न हंतव्य स्वयं स्वेनवधादिना । तेनप्राणिवधोनित्यंमोक्तव्योयत्नतोवुधैः ॥ ४८ ॥ ये स्थानमौनवीरासनाद्या हि दुष्कराः कृताः । आतापनादियोगाश्चसद्ध्यानाध्ययनादय ॥ ४६ ॥ षष्ठाष्टमादिमासान्ताउपवासाआयासवात् । सर्वेनिरर्थकानूनमधःकर्मान्नसे-

---

है और न फल सकता है उसी प्रकार मूलगुण रहित उत्तरगुण तीनों लोकों में कभी इच्छानुसार फल नहीं दे सकते ॥४२—४३॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य अनेक प्राणियों को मार कर अपने को महाबली प्रगट करता है उसी प्रकार अप्रासुक पदार्थों को ग्रहण करने वाला मुनि सुख को चाहने वाला कहा जाता है वह मोक्ष को चाहने वाला कभी नहीं कहा जा सकता ॥४४॥ देखो सिंह बाघ आदि जीव एक दो तीन चार आदि हिरण वा अन्य पशुओं को मारकर खा जाता है इसलिए वह पापी और नीच कहलाते हैं । इसी प्रकार जो मुनि विना शुद्ध किया हुआ आहार ग्रहण करता है अर्थात् अनेक त्रस स्थावर जीवों की हिंसा कर आहार ग्रहण करता है वह क्यों नहीं पापी नीच और अधम कहलावेगा अर्थात् अवश्य कहलावेगा ॥४५—४६॥ और देखो आरंभ करने से जीवराशियों की हिंसा होती है हिंसा होने से महा पाप उत्पन्न होता है, और उस महापाप से अपने ही आत्मा को नरकादिक दुर्गतियों में तीव्र दुःख देने वाला कर्मबंध होता है ॥४७॥ इसलिये बुद्धिमानों को जीवों की हिंसा करके अपने आत्मा की हिंसा नहीं करनी चाहिये और इसके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा के लिये प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ जो मुनि अधः कर्म नाम के दोष से दूषित आहार को ग्रहण करते हैं वे चाहे कयोत्सर्ग धारण करें, चाहे मौन धारण करें चाहे वीरासन धारण करें चाहे आतापन आदि कठिन कठिन योग धारण करे चाहे श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन आदि शुभ कार्यों में लगे रहें और चाहे

विलाम् ॥ ५० ॥ यथोत्सृजति रौद्राहिः कंचुकं न विषं तथा । कश्चिन्माधुस्त्यजेद्ग्रन्थं पंचसूना न मंदधीः ॥ ५१ ॥ उदूखलस्तथा चुल्हीप्रेषणी च प्रमार्जिनी । उदकुम्भः इमाःपंचसूनाः सत्त्वसंकराः ॥ ५२ ॥ आसुप्रवर्ततेयोऽधी. कृतकारितमोदनैः । मुखादाभायनस्थाहो धृयादीन्मादुरात्मनः । ५३ ॥ योधःकर्मानिनिष्पन्नं भुंक्तेन्नंरमनाधी. । जडोविराधनां कृत्वा षड्जीवानां च घातनम् ॥ ५४ ॥ श्रावकः सोधमोज्ञानः पापारम्भप्रवर्तनात् । उभयभ्रष्टता-माप्तोदानपूजादिवर्जनात् ॥५५॥ पचनेपाचनेन्नानांमद्नानुमनने शठः । यतंतवाङ्मनःकायैस्तस्मागोत्रविभेति न ॥५६॥ मिथ्यादृष्टिः स मन्तव्योविरुद्धाचरणाद्धिः । न तस्यचेह लोकोस्तिकुकीर्तिवर्तनात् कचित् ॥ ५७ ॥ परलोको न

वेला तेला करें पंद्रह दिन वा महीने भरका उपवास करें परंतु उनके सदा पापकर्मों का ही आस्रव होता रहता है इसलिये उनका सब तपश्चरण निरर्थक ही समझना चाहिये ॥४९–५०॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्प काँचली को छोड़ देता परंतु विष को नहीं छोड़ता उसी प्रकार कोई कोई साधु वस्त्रों का त्याग तो कर देते हैं परंतु वे मूर्ख पंचपापों का त्याग नहीं करते ॥५१॥ चक्की, उखली, चूली, बुहारी और पानी रखने का परंडा ये पाँच अनेक जीवों की हिंसा करने वाले पंच पाप कहलाते हैं ॥५२॥ जो मूर्ख मुनि अपने स्वादिष्ट अन्न के लिये कृत कारित अनुमोदना से इन पंचपापों में अपनी प्रवृत्ति करते हैं उन दुष्टों की दीक्षा लेना भी व्यर्थ समझना चाहिये ॥५३॥ जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता के कारण अंधा हुआ जो मूर्ख श्रावक छहों प्रकार के जीवों की विराधना कर के वा छहों प्रकार के जीवों का घात कर के अधः कर्म से उत्पन्न हुए अन्न को भक्षण करता है वह पापारंभ में प्रवृत्ति करने के कारण अधम कहलाता है और उस द्रव्य से वह दान पूजा करने का भी अधिकारी नहीं रहता इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों से भ्रष्ट गिना जाता है ॥५४–५५॥ जो मूर्ख मन वचन काय से अन्न के पकाने पकवाने वा अनुमोदना करने में प्रवर्त होते हैं इन ऊपर लिखे पंच पापों से नहीं डरते उनको मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिये । क्योंकि वे विरुद्ध आचरणों को ही धारण करते हैं और इसीलिये इस लोक में भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड़ जाता है तथा संयमरूप आचरण

जायेत संयमाचरणाद्विना । किन्तु स्याद्दुर्गतौ नूनं गमनं व्रतभंगतः ॥ ५८ ॥ प्रायश्चित्तं विधायोच्चैर्योभुनक्तिपुनः शठः । अध कर्मकृताहारं तस्य तन्निष्फलं भवेत् ॥ ५९ ॥ यः साधुर्यत्र देशादौ शुद्धेऽशुद्धेथवोभयोः । आहारोपधिवासादि यथालब्धं निजेच्छया ॥ ६० ॥ शुद्धं वा शुद्धमादत्तेधवत्परीक्षया विना । मुक्तोयतिगुणैःसोऽपि प्रोक्तः संसार-वर्द्धकः ॥ ६१ ॥ योऽत्राधःकर्मजाहारैर्नित्यं परिणतः कश्चित् । प्राप्तेपिप्रासुकेहारे बधकः स हृदो भवेत् ॥ ६२ ॥ शुद्धं मृगयमाणो योऽन्नादिं कृतादिदूरगम् । अध कर्मकृतान्नाप्तेक्वचिच्छुद्धोहृदोत्र सः ॥ ६३ ॥ मूलोत्तरगुणेष्वत्र भिक्षाचर्योदिताजिनैः । प्रवरा तां विना विश्वे ते कृताःस्युर्निरर्थकाः ॥ ६४ ॥ प्रत्यहं वरमाहारो भुक्तो दोषातिगः

धारण न करने के कारण उनका परलोक भी बिगड़ जाता है । इस प्रकार उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और व्रतभंग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गतियों मे अवश्य पहुँचते हैं ॥५६–५८॥ जो मूर्ख अधःकर्म दोष से दूषित आहार ग्रहण करने के कारण प्रायश्चित्त ले लेते हैं और प्रायश्चित्त लेकर फिर भी अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं उनका भी वह सब तपश्चरण निष्फल समझना चाहिये ॥५९॥ जो मुनि शुद्ध वा अशुद्ध देश में अथवा शुद्ध अशुद्ध मिले हुए देश मे आहार उपकरण वसतिका आदि अपनी इच्छानुसार जैसा प्राप्त हो जाय चाहे वह शुद्ध हो वा अशुद्ध हो उसको अंधे के समान बिना परीक्षा किए हुये ग्रहण कर लेता है उसको भी मुनियों के गुणों से रहित ही समझ लेना चाहिये । उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने संसार को बढ़ाने वाला ही बतलाया है ॥६०–६१॥ जो मूर्ख प्रतिदिन अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करता है उसे यदि किसी दिन प्रासुक आहार भी मिल जाय तो भी हृदय से वह कर्मों का बंध करने वाला ही समझा जाता है ॥६२॥ इसी प्रकार यदि कोई मुनि कृत कारित अनुमोदना से रहित शुद्ध आहार को ढूंढ़ता है और दैवयोग से उसे अधःकर्म जन्य आहार मिल जाता है तो भी उसे हृदय से शुद्ध ही समझना चाहिये ॥६३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों में भिक्षा के लिये चर्या करना ही उत्तमगुण माना जाता है उस शुद्ध भिक्षाचर्या के बिना बाकी के समस्त गुण निरर्थक ही बतलाये हैं ॥६४॥ सज्जनों को दोषरहित प्रतिदिन आहार कर

सताम् । पञ्चमासोपवासादिपारणेदोषजो न च ॥ ६५ ॥ मृत्यादिभयभीतानां सर्वथाखिलदेहिनाम् । ददात्यभयदानं यस्तस्यैवसकला गुणाः ॥ ६६ ॥ आचार्यो ज्ञानवान्वैद्यः शिष्यो रोगीविरक्तवान् । चर्यौषधं च निष्पापं क्षेत्रं सावद्यवर्जितम् ॥६७॥ वैयावृत्यकराः साह्यकर्त्तारः परयानया । सामग्र्याकर्मरुक्कृत्यक कुर्यात्सूरिमुनिं द्रुतम् ॥६८॥ भिक्षाशुद्धिं सुचर्यायै धूमांगारमलोज्झिताम् । प्रागुक्त सर्वदोषातीतां कुर्वन्तु मुमुक्षवः ॥ ६९ ॥ जुगुप्सा लौकिकी वाह्या व्रतभंगादिजापरा । लोकोत्तरा जुगुप्सातस्त्रिरत्नशुद्धिहानिजा ॥ ७० ॥ व्रतातिचारसंशुद्धिः प्रायश्चित्तादिनिन्दनैः । कर्तव्यास्वोत्तमाचारैर्लोकनिन्दादिहानये ॥ ७१ ॥ शंकादीन्दूरतस्त्यक्त्वा शुद्धिं रत्नत्रये पराम । कृत्वा लोकोत्तरानिन्दाहेयासंसारवर्द्धिनी ॥ ७२ ॥ यत्रोत्पत्तिः कषायाणांयान्तिस्वंखानिविक्रियाम् । दुर्जनाभक्तिहीनाश्च–

लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा एक महीने के उपवास के बाद पारणा के दिन सदोष आहार लेना अच्छा नहीं ॥६५॥ जो मुनि मृत्यु के भय से भयभीत हुए समस्त प्राणियों को अभय दान देता है उसी के समस्त गुण अपने आप आ जाते हैं ॥६६॥ संघ में आचार्य तो महाज्ञानी वैद्य हैं, संसार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है. पापरहित चर्या ही औषधि है पापरहित स्थान ही उसके लिए योग्य क्षेत्र है और वैयावृत्य करने वाले उसके सहायक हैं। वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनि को कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही नीरोग सिद्ध बना देते हैं ॥६७–६८॥ अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपनी चर्या के लिए पहले कहे हुये समस्त दोषों से रहित तथा धूप अंगार आदि दोषों से रहित भिक्षाशुद्धि धारण करनी चाहिये ॥६९॥ इस संसार में लौकिक घृणा तो बाह्य जुगुप्सा है व्रतों के भंग होने से उत्पन्न होने वाली घृणा अंतरंग जुगुप्सा है और रत्नत्रय की शुद्धि की हानि होना लोकोत्तर जुगुप्सा है। मुनियों को लोक निंदा दूर करने के लिये प्रायश्चित्त धारण कर आत्मनिंदा कर तथा उत्तम आचरण पालन कर अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिये ॥७०–७१॥ मुनियों को शंकादिक दोषों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और रत्नत्रय की परम विशुद्धि धारण कर संसार को बढ़ाने वाली लोकोत्तर निंदा का भी सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥७२॥ जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, अपनी इन्द्रियाँ प्रबल हो जाँय वा विकृत हो जाँय जहाँ पर दुष्ट और

सन्त्युपद्रवराशयः ॥ ७३ ॥ जायन्तेद्वेषरागाद्याः विघ्नाध्यानादिकर्मणाम् । व्रतभंगश्चलं चित्तं तत्क्षेत्रं वर्जयेद्यतिः ॥७४॥ एकान्तेनिर्जनेस्थानेवैराग्यगुणवृद्धिदे । श्मशानाद्रिगुहादौ च शून्यगेहे वनादिषु ॥ ७५ ॥ पशुस्त्रीक्लीवदुष्टादिहीनेशाम्ये शमप्रदे । क्षेत्रे वासं प्रकुर्वन्तिमुनयोध्यानसिद्धये ॥ ७६ ॥ नृपहीनं च यत्क्षेत्रंयत्र दुष्टो नृपो भवेत् । यत्र स्त्रीवालराजा च तत्र वासो न युज्यते ॥ ७७ ॥ दीक्षाग्रहणशीलाश्च यत्रसन्ति न धार्मिकाः । हानयः सयमादीनां स्थातव्यं तत्र नोर्जितैः ॥ ७८ ॥ स्त्रीक्षान्तिकाश्रमेस्थातुं क्षणमात्रं न कल्पते । यतीनां आसनस्थानस्वाध्यायग्रह-णादिभिः ॥ ७९ ॥ संसर्गेणार्यिकास्त्रीणांव्यवहाराभिधा भुवि । जुगुप्सापरमार्थान्या जायते यमिनां द्रुतम् ॥ ८० ॥ जलकुम्भेयथा पद्मसम्पर्केण च वर्द्धते । सुशीतत्व सुगंधित्वं हीयतेऽनलसंगमात् ॥ ८१ ॥ तथोत्तमाश्रयेणात्र सद्बोधि-

भक्ति हीन मनुष्य रहते हों, जहाँ पर अनेक उपद्रव होते रहते हों, जहाँ पर रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते रहते हों, जहाँ पर ध्यान अध्ययन आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित होते हो जहाँ पर व्रतों का भंग होता हो और जहाँ पर चित्त चंचल हो जाता हो ऐसा क्षेत्र मुनियों को छोड़ देना चाहिये ॥७३–७४॥ मुनि लोग अपने ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत और निर्जन स्थान में वैराग्य गुण को बढ़ाने वाले, श्मशान पर्वत की गुफाएं सूने मकान और वन मे अत्यंत शांत और परिणामों को शांत करने वाले तथा पशु स्त्री नपुंसक तथा दुष्ट जीवों से रहित क्षेत्र में निवास करते हैं ॥७५–७६॥ जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो, जहाँ का राजा दुष्ट हो, और जहाँ पर स्त्री राज्य करती हो अथवा बालक राजा राज्य करता हो वहाँ पर मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥७७॥ जहाँ पर दीक्षा ग्रहण करने वाले लोग न हों जहाँ पर धर्मात्मा लोग निवास न करते हों, और जहाँ पर संयम की हानि होती हो ऐसे स्थान में उत्कृष्ट मुनियों को कभी नहीं रहना चाहिये ॥७८॥ मुनियों को बैठने कायोत्सर्ग करने अथवा स्वाध्याय ग्रहण करने के लिए भी स्त्रियों के अथवा अर्जिकाओं के आश्रम में क्षण मात्र भी नहीं ठहरना चाहिये । क्योंकि अर्जिका वा स्त्रियों के संसर्ग से मुनियों को व्यवहार जुगुप्सा भी प्रगट होती है और लोकोत्तर जुगुप्सा भी प्रगट होती है ॥७९–८०॥ जिस प्रकार जल के घड़े में कमल के संसर्ग से उसका शीतलपना और सुगंधितपना गुण बढ़ता है तथा अग्नि के संयोग से वे दोनों गुण

वर्द्धतेतराम् । क्षीयन्ते नीचसंगेनगुणादोषाश्चयोगिनाम् ॥ ८२ ॥ प्रचण्डश्चपलोमन्दः पृष्टमांसादिभक्षकः । गुर्वादि-
बहुलोमूर्खोदुराशयः सतां यतिः॥ ८३ ॥ यस्मान्वितमदोषाणां दोषोद्भवनतत्परम् । मारणत्रासनोच्चाटनवशीकरणा-
शयम् ॥ ८४ ॥ वैद्यज्योतिष्कसावद्यारम्भादिपरिवर्तकम् । पिशुनं कुत्सिताचारंमिथ्यात्वोपगतंशठम् ॥ ८५ ॥
लोकलोकोत्तराचाराजानन्तं स्वेच्छयायुतम् । चिरप्रवृजितंचापीत्याद्यन्यदोषभाजनम् ॥ ८६ ॥ संयतंवर्जयेद्दूरंसदाचारी
महामुनिः । पापापवादभीतात्मा तत्संगं नाश्रयेत्कचित् ॥ ८७ ॥ सूरेर्मुक्त्वा कुल योत्रैकाकीभ्रमेन्निजेच्छया ।
उपदेशं न गृह्णाति पापश्रमण एव सः ॥ ८८ ॥ यः शिष्यत्वमकृत्वात्र पूर्वंस्वस्यशठाशय । त्वरितः कर्तु माचार्यत्वं
हिंडति निजेच्छया ॥ ८९ ॥ घोंघाचार्यः स एवोक्तो मदादन्तीव पापधीः । निरंकुशो गुणैर्हीनः स्वान्यदुर्गति-

---

नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उत्तम पुरुषों के आश्रय से मुनियों का रत्नत्रय अत्यंत बढ़ता है और नीच पुरुषों के आश्रय से रत्नत्रय गुण घटता है वा मलिन होता है ॥८१–८२॥ जो मुनि नीच लोगों की संगति करता है वह क्रोधी, चंचल, मंद, पीठका मांस भक्षण करने वाला अर्थात् पीठ पीछे निंदा करने वाला और मूर्ख होता है तथा वह अनेक गुरुओं का शिष्य होता है ॥८३॥ जो मुनि पाखंडी है, निर्दोषों को भी दोषी कहने के लिये तत्पर रहता है, जो मारण, त्रासन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करने की इच्छा रखता है, जो वैद्य ज्योतिष्क और पापरूप आरम्भों में प्रवृत्ति करता है, जो चुगलखोर है, जिसके आचरण निंदनीय हैं, जो मिथ्यादृष्टी है, मूर्ख है, जो लौकिक और लोकोत्तर आचरणों को नहीं जानता, जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है और चिरकाल का दीक्षित होने पर भी अन्य अनेक दोषों का भाजन है ऐसे मुनि का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये। जो सदाचारी महामुनि हैं और पाप तथा अपवाद से सदा भयभीत रहते हैं वे महामुनि ऊपर कहे हुये पाखंडी मुनियों की संगति कभी नहीं करते हैं ॥८४–८७॥ जो मुनि आचार्य के कुल को छोड़ कर अपनी इच्छानुसार अकेला परिभ्रमण करता है तथा किसी का उपदेश नहीं मानता उसको पापी मुनि कहना चाहिये ॥८८॥ जो मूर्ख पहले किसी आचार्य का शिष्य तो बनता नहीं और शीघ्र ही आचार्य पद धारण करने के लिए अपनी इच्छानुसार घूमता है उसको घोंघाचार्य वा दंभाचार्य समझना चाहिए। वह पापी है और मदोन्मत्त हाथी के समान गुणों से रहित होकर निरंकुश होता हुआ

कारकः ॥ ९० ॥ आचार्यत्वं नयतेत्स्याजानन् मः जिनागमम् । स कुत्सितोपदेशैश्चात्मानं परं विनाशयेत् । ९१ ॥ वर्षादिगणनैश्चाहं सर्व ज्येष्ठोत्र दीक्षया । मत्तोन्ये लघवोहीतिगर्वः कार्यो न सयतैः ॥ ९२ ॥ यतो वर्षाणिगण्यन्ते न मुक्तिसाधनेसताम् । केचिदन्तमुहूर्तेन गता मोक्षं दृढव्रताः ॥ ९३ ॥ रागद्वेषात्मोहादीनिष्टोयोगोतिदुर्द्धरः । करोति कर्मणां बन्धं कषायैःसहदेहिनाम् ॥ ९४ ॥ जीवस्यपरिणामेनाणवः परिणमन्ति नुः । कर्मत्वेन स्वतोनांगी तन्मयत्वंप्रपद्यते ॥ ९५ ॥ ज्ञानचारित्रसम्पन्नः सद्ध्यानाध्ययने रतः । निष्कषायः स्थिरात्मात्रकर्मबन्धंकरोति न ॥९६॥ किन्तुसवरपोतेन तपसाखिलकर्मणाम् । विधायनिर्गरां ध्यानी तरत्याशुभवाम्बुधिम् ॥ ९७ ॥ कुर्वन्स्वाध्यायमात्मज्ञ

घूमता है। ऐसा मुनि स्वयं भी दुर्गति में जाता है और अन्य जीवों को भी दुर्गति में पहुँचाता है ॥८९–९०॥ जो मुनि श्री जिनागम को तो जानता नहीं और आचार्य बन बैठता है वह मुनि अपने निंद्य उपदेश से अपने आत्मा को भी नष्ट करता है और अन्य जीवों को भी नष्ट करता है ॥९१॥ "मैं अपने वर्ष का दीक्षित हूँ अतएव मैं इन सब मुनियों में बड़ा हूं ये सब मुनि दीक्षा में मुझ से छोटे हैं" इस प्रकार का अभिमान मुनियों को कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष को सिद्ध करने के लिए सज्जन पुरुष वर्षों की गिनती नहीं करते। अपने व्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करने वाले बहुत से मुनि ऐसे हो गये हैं जो अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष चले गये हैं ॥९२–९३॥ राग द्वेष इन्द्रियाँ और मोहादिक में लगे हुए दुर्धर मन वचन काय के योग कषायों का संबंध पाकर जीवों के कर्मों का बंध करते हैं। तीनों लोकों में भरे हुये कर्म परमाणु जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर जीवों के कर्मरूप परिणित हो जाते हैं। यह आत्मा बिना योग और बिना कषायों के स्वयं कर्मरूप परिणित नहीं होता ॥९४–९५॥ जो आत्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित है श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन में लीन है, कषायरहित है और स्थिर है अर्थात् मन वचन काय के योगों से रहित है वह आत्मा कभी कर्मों का बंध नहीं कर सकता ॥९६॥ किंतु ऐसा कषायरहित स्थिर ध्यानी आत्मा संवररूपी जहाज पर चढ़ कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से पार हो जाता है ॥९७॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि विनय के साथ स्वाध्याय

पंचाखसंवृतोभवेत् । त्रिगुप्तश्चैकचित्तोत्रविनयेननिरास्रवः ॥ ९८ ॥ द्विषड्भेदतपोभ्योपिस्वाध्यायेन समं तपः । न भूतं परमं नास्ति न भविष्यतिमोक्षदम् ॥ ९९ ॥ ससूत्रा च यथा सूचि र्न नश्यतिप्रमादतः । तथा ससूत्रएवात्मा ज्ञानीरत्नत्रयांकितः ॥ १०० ॥ यत्नेन जयनिद्रां त्व यतो निद्रा ह्यचेतनम् । कृत्वात्रराक्षसीवाशुगिलेज्जनंगतक्रियम् ॥१॥ तथानिद्रावशःप्राणीखादत्यखाद्यमंजसा । अगम्यगमनं कुर्याद्विश्वपापेषु वर्तते ॥ २ ॥ इषुकारे यथा धत्ते ऋजुं चेषुं स्वचक्षुषा । तथैकाग्रत्वमापन्नंध्यानेध्यानीनिजंमनः ॥ ३ ॥ द्रव्यात्क्षेत्राथमीकालाद्भवाद्भावाद्भवेन्वहम् । विश्वदुःखाकरे कश्चिन्तयेत्परिवर्तनम् ॥ ४ ॥ महामोहाग्निनानित्यंदह्यमानेजगत्त्रये । विरक्ताः स्वसुखाद्धीराः

करता है वह पाँचों इन्द्रियों को वश में करता है, तीनों गुप्तियों को पालन करता है और एकाग्र चित्त होने के कारण कर्मों के आस्रव से रहित हो जाता है ॥९८॥ बारह प्रकार के तपश्चरण में भी स्वाध्याय के समान अन्य कोई तपश्चरण उत्कृष्ट और मोक्ष देने वाला न आज तक हुआ है न है और न आगे कभी हो सकता है ॥९९॥ जिस प्रकार सूत्रसहित (डोरा सहित) सुई प्रमाद के कारण नष्ट नहीं होती, खोती नहीं उसी प्रकार सूत्रसहित सूत्रों का वा सिद्धांतशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी आत्मा रत्नत्रय से सुशोभित होता है ॥१००॥ हे मुने तू प्रयत्नपूर्वक निद्रा को जीत क्योंकि यह निद्रा राक्षसी के समान है। राक्षसी जिस प्रकार मनुष्यों को मार कर खा जाती है उसी प्रकार यह निद्रा भी मनुष्य को अचेतन के समान क्रियारहित बना कर निगल जाती है ॥१०१॥ इसके सिवाय इस निद्रा के वशीभूत हुए प्राणी अभक्ष्य भक्षण करते हैं अगम्य गमन करते हैं और समस्त पापों में प्रवृत्ति करते हैं ॥१०२॥ जिस प्रकार बाण चलाने वाला आँख से देख कर अपना बाण सीधा रखता है उसी प्रकार ध्यान करने वाला मुनि अपने ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त हुए अपने मन को सरल ही रखता है ॥३॥ यह समस्त संसार द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव से प्रतिदिन दुःखों की खानि बना रहता है फिर भला ध्यान करने वाला किस को बदल कर चिंतवन करे ॥४॥ ये तीनों लोक महा मोहरूपी अग्नि से जल रहे हैं इसलिये जो धीर वीर मुनि अपने सुख से विरक्त हैं वे ही मुनि ध्यान से उत्पन्न हुए अमृत का

पिबन्तिध्यानजामृतम् ॥५॥ यथा नेत्रसमुद्राद्यासहन्तेन्तर्गतं न च । तृणादीनि तथा दक्षाः कषायाक्षसुखादिकान् ॥६॥ कैवल्यदर्शनज्ञानमयंस्वात्मानमूर्जितम् । अनादिनिधनं कर्मातिग निश्चयवेदिनः ॥ ७ ॥ पृथक्कृत्वाशरीरादिपर्यायेभ्यो-मुमुक्षवः । ध्यायन्ति स्वेकचित्तेननिर्विकल्पपदाश्रिताः ॥ ८ ॥ अकषायं तु चारित्रं कषायवश आत्मवान् । भवेदसंयतो नूनं मिथ्यादृष्टिः कुमार्गगः ॥ ९ ॥ यदोपिशमितोविश्वकषायेभ्योतिशान्तधीः । तदेवसंयतः पूज्योभवेद् ज्ञानीशिवाध्वगः ॥ १० ॥ अन्तकाले यतेः स्वस्य गणप्रवेशतो वरम् । प्रवेशनं विवाहेत्र रागोत्पत्तिर्विवाहतः ॥११॥ भवेत्पुनर्गणः सर्वदोषोत्पत्त्यादिहेतुकः । शिष्यादिमोहसंयोगात्तस्मान्मृत्योगण त्यज ॥ १२ ॥ यथापृथ्वीजलादीनाम-

---

पान करते रहते हैं ॥५॥ जिस प्रकार नेत्र और समुद्र आदि पदार्थ अपने भीतर आए हुए तृणादिकों को सहन नहीं कर सकते हैं बाहर निकाल कर फेंक देते हैं उसी प्रकार चतुर पुरुष भी कषाय और इन्द्रियों के सुखों को सहन नहीं करते बाहर निकाल कर फेंक देते हैं ॥६॥ जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं निश्चयनय से आत्मा के स्वरूप को जानते हैं और जिन्होंने निर्विकल्पक पद का आश्रय ले लिया है वे मुनि केवलदर्शनमय, केवलज्ञानमय, अनादि अनिधन कर्मों से रहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसे अपने आत्मा को शरीरादिक पर्यायों से सर्वथा अलग समझते हैं और एकाग्रचित्त से उस आत्मा का ध्यान करते हैं ॥७-८॥ चारित्र उसी को कहते हैं जो कषायरहित होता है इसीलिये जो आत्मा कषाय के वशीभूत है वह अवश्य ही असंयमी है तथा कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है ॥९॥ अत्यंत शांत बुद्धि को धारण करने वाला मुनि जब अपने कषायों को अत्यंत शांत कर लेता है तभी वह संयमी, पूज्य, ज्ञानी और मोक्षमार्ग में चलने वाला कहलाता है ॥१०॥ मुनियों को अंतिम समय में (समाधि मरण के समय) अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिये। उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है ॥११॥ अपने गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है इसीलिये अपने गण में सब तरह के दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव हे मुने समाधिमरण के समय तू अपने गण का त्याग कर ॥१२॥ जिस प्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा

माबे जायतेऽत्र न । अंकुरोखिलबीजानां वृद्धिहेतुः फलप्रदः ॥ १३ ॥ तथाशिष्यादिसंगोत्थरागद्वेषाद्यभावतः । कर्मणां च कषायाणांतोत्पत्तिर्यमिनांभवेत् ॥ १४ ॥ कषायैर्हेतुभूतैश्चविश्वेपरिग्रहादयः । जायन्तेमानसे नृणामनर्थशतकारिणः ॥ १५ ॥ तेषांसर्वकषायाणामनुत्पत्त्यैमुनीश्वरैः । विधेयंपरमंयत्नंक्षमातोषादिभिः सदा ॥ १६ ॥ अर्थार्थं जीवितार्थं च जिह्वाकामार्थमंजसा । म्रियतेनन्तवारान् भो मारयेच्चापरान् जनः ॥ १७ ॥ जिह्वोपस्थनिमित्तं च जीवोनादिभवार्णवे । प्राप्तोघोरतरं दुःखंमज्जनोत्थमनन्तशः ॥ १८ ॥ चतुरंगुलमानात्रजिह्वाही विश्वभक्षिका । चतुरंगुलमात्रोपस्थोनन्तभववर्द्धकः ॥ १९ ॥ एतैरष्टांगुलोत्पन्नैर्दोषैर्दोषनिबन्धनैः । अनन्तदुःखसन्तानंप्राप्नुवन्ति खलम्पटाः ॥ २० ज्ञात्वेतिरमनोपस्थसर्पौ त्रैलोक्यभीतिदौ । दृढवैराग्यमन्त्रेण कीलयन्तु तपोधनाः ॥ २१ ॥ काष्ठा–

बिना अंकूर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग सकते हैं उसी प्रकार शिष्य आदि के संगति से उत्पन्न हुए राग द्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥१३–१४॥ इन मनुष्यों के हृदयों में सैकड़ों अनर्थ करने वाले समस्त परिग्रह इन कषायों के ही कारणों से होते हैं इसलिये मुनियों को क्षमा और संतोष आदि आत्मगुण धारण कर समस्त कषायों को उत्पन्न न होने देने के लिये परम प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥१५–१६॥ देखो ये मनुष्य धन के लिए, जीवन के लिये, जिह्वा इन्द्रिय के लिये और कामेन्द्रिय के लिये अनंतवार स्वयं मरता है और अनंतवार ही दूसरों को मारता है ॥१७॥ इस जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के कारण यह जीव अनादि काल से इस संसाररूपी समुद्र में अनंतवार डूबा है और इसने अनंतवार ही अत्यंत महा घोर दुःख पाये हैं ॥१८॥ यह जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी यद्यपि चार अंगुलप्रमाण है तथापि समस्त संसार को खा जाने वाली है। इसी प्रकार यह कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनंत संसार को बढ़ाने वाली है ॥१९॥ इस प्रकार इन आठ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रिय से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले होते हैं और उन्हीं से यह इन्द्रियलंपटी जीव अनंत दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं ॥२०॥ यही समझ कर तीनों लोकों को भय उत्पन्न करने वाले ये जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रियरूपी सर्प वैराग्यरूपी मंत्र के द्वारा तपस्वियों को कील देने चाहिये

दिर्जांगनारूपाद्भेतव्यं संयतैः सदा । यतस्तद्दर्शनान्नूनंचित्तक्षोभोभवेन्नृणाम् ॥ २२ ॥ सर्पिर्भृतघटाभोंगीस्त्रीज्वल-ज्ज्वोलसन्निभा । तयोः सम्पर्कतः किं किमनर्थो जायते न नुः ॥ २३ ॥ स्त्रीसमीपं गतायेत्रहास्यवार्तादिलोकनैः । नष्टास्ते भ्रष्टचारित्राइतरे च शिवंगताः ॥ २४ ॥ मातृभग्नीसुतामूकावृद्धास्त्रीरूपतोनिशम् । भेतव्यंमुनिभिर्यस्मात्क्षोभ स्यान्नेत्रचित्तयो. ॥२५॥ हस्तपादपरिछिन्नां कर्णनासाविवर्जिताम् । शतवर्षप्रमां नारी दूरतोवर्जयेद्व्रती ॥२६॥ भावेनविरतोयोगीविरक्तोविश्ववस्तुषु । भवेत्स्वमुक्तिगामी च द्रव्येण भववर्द्धकः ॥ २७॥ विपुलाहारसेवार्था वपुसुखादिशोधनम् । गधमाल्यादिकादानगीतवाद्यादिसंश्रुतिः ॥ २८ ॥ सरागोचित्रशालादौकोमलेशयनासनम् ।

मुनियों को काठ की बनी हुई स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिये । क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ॥२२॥ यह मनुष्य घी से भरे हुये घड़े के समान है और यह स्त्री जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान है । इन दोनों के संबंध से मनुष्यों को भला क्या क्या अनर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् सब कुछ तरह के अनर्थ हो सकते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य हंसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिये स्त्रियों के पास जाते हैं वे चारित्र से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते है । तथा जो ऐसा नहीं करते स्त्रियों से अलग रहते हैं वे अवश्य मोक्ष जाते हैं ॥२४॥ मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूंगी और वृद्धा आदि स्त्रियों के रूप से भी सदा डरते रहना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के रूप से भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ॥२५॥ जिस स्त्री के हाथ पैर कटे हुए हों और जिसके नाक कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की हो तो भी व्रतियों को ऐसी स्त्री का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ॥२६॥ जो मुनि अपने भावों से विरक्त है उसे सब वस्तुओं से विरक्त समझना चाहिए तथा उसे ही स्वर्गमोक्ष जाने वाला समझना चाहिए । जो मुनि ऊपर से विरक्त है भावों से विरक्त नहीं है उसे संसार को बढ़ाने वाला ही समझना चाहिये ॥२७॥ बहुत सा आहार खाना. अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, गंध लगाना वा माला पहनना, गीत बाजे सुनना, राग को उत्पन्न करने वाली और स्त्री पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल

स्त्रीसंसर्गोऽर्थवस्त्रादिग्रहणंभोगसिद्धये ॥ २६ ॥ पूर्वसेवितभोगानुस्मरणंस्वस्यमानसे । इन्द्रियार्थरतौ चेहा सर्वेष्ठरस सेवनम् ॥ ३० ॥ इमानब्रह्महेतून् यो दशदोषांस्त्यजेत्सदा । दृढव्रतो यति सोऽत्र भवत्येवनचापरः ॥ ३१ ॥ मोहादिक-कषायाद्यैर्गृह्यात्यंगीपरिग्रहान् । अस्माद्बाह्यान्तराः संगाः सर्वेत्याज्याः शिवार्थिभिः ॥ ३२ ॥ निस्संगोऽत्रनिरारम्भो भिक्षाचर्याशुभाशयः । सद्ध्यानरतएकाकीगुणाढ्यः श्रमणो भवेत् ॥ ३३ ॥ नाम्नास्थापनया द्रव्यभावाभ्यां श्रमणस्य च । चतुर्विधोऽत्रनिक्षेपोगुणिभिर्गुणसम्भवः ॥ ३४ ॥ भावश्रमणएकोऽत्र शुद्धरत्नत्रयांकितः । विश्वाभ्युदयसौख्यादीन् भुक्त्वास्यान्मुक्तिवल्लभः ॥ ३५ । नामाद्या श्रमणा शेषाः गुणहीनाविधेर्वशात् । भ्रमन्ति सस्तृतौनैवलभन्तेस्वेष्ट-सम्पदः ॥ ३६ ॥ मत्वेतिभावलिंगा त्व भवरत्नत्रयान्वितः । त्यक्त्वायोगिन्द्विधासंगंयदीच्छसिशिवश्रियम् ॥ ३७ ॥

शय्या पर सोना वा बैठना, स्त्रियों की संगति करना, भोग भोगने के लिए धन और वस्त्रादिक का ग्रहण करना, पहले भोगे हुए भोगों का अपने मन में स्मरण करना, इन्द्रियों के विषयों में रत होने की लालसा रखना और समस्त रसों का सेवन करना ये दश ब्रह्मचर्य को घात करने के कारण हैं। जो मुनि इन दशों दोषों का त्याग कर देता है वही दृढव्रती कहलाता है, अन्य नहीं ॥२८—३१॥ यह जीव मोह कषाय और इन्द्रिय आदि के द्वारा परिग्रहों को ग्रहण करता है इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को बाह्य और अभ्यंतर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥३२॥ जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, समस्त आरंभों से रहित है, भिक्षार्थ चर्या करने के लिए जिसके हृदय में शुद्धता है, जो श्रेष्ठ ध्यान में लीन रहता है, एकाकी है। आत्मा को सबसे भिन्न समझता है और अनेक गुणों से सुशोभित है उसी को श्रमण कहते हैं ॥३३॥ गुणी पुरुष नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से अपने अपने गुणों के अनुसार इन श्रमणों के चार भेद बतलाते हैं ॥३४॥ इनमें से एक भावश्रमण ही शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित है वही मुनि समस्त अभ्युदयों के सुखों को भोग कर मोक्ष का स्वामी बनता है ॥३५॥ बाकी के नामश्रमण स्थापनाश्रमण वा द्रव्यश्रमण गुणों से रहित हैं और अपने अपने कर्मों के निमित्त से संसार में परिभ्रमण ही करने वाले हैं। इसलिये वे अपनी मोक्षरूप इष्ट सामग्री को कभी नहीं पा सकते ॥३६॥ इसलिये हे मुने! यदि तू मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो

व्रतशीलगुणाः सर्वेस्युर्भिक्षाचर्यया पराः । भिक्षाचर्यां विशोध्यातो विहरन्तुशिवार्थिनः ॥ ३८ ॥ भिक्षांवाक्यंमनो–यत्नाथोविशोध्यचरेत्सदा । चारित्रं स जिनैः प्रोक्तो मुनिर्विश्वगुणाकरः ॥ ३९ ॥ द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं भावं शक्तिं विबुध्य च । ध्यानाध्ययनमत्यर्थं वृत्तं चरन्तुपण्डिताः ॥ ४० ॥ कलत्रसंगभेदाभ्यां द्विधात्यागो भवेद्विदः । कृत्वातदुभयत्यागंलभन्तेमुक्तिकामिनीम् ॥ ४१ ॥ पृथ्व्यादिकायिकाजीवा ये पृथ्व्यादिवपुः श्रिताः । सतिपृथ्व्यादि–कारम्भे ध्रुवं तेषां विराधना ॥ ४२ ॥ तस्मात्पृथ्व्यादिकारम्भोद्विविधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं न कल्पेत जिन–

ऊपर कही हुईं सब बातों को समझ कर और बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह छोड़ कर भावलिंगी बन और शुद्ध रत्नत्रय को धारण कर ॥३७॥ भिक्षा के लिए होने वाली चर्या की शुद्धि से व्रत शील आदि समस्त उत्कृष्ट गुण प्रगट होते हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को भिक्षा के लिए होने वाली चर्या को विशुद्धतापूर्वक धारण करते हुए विहार करना चाहिये ॥३८॥ जो मुनि भिक्षा वचन मन और चारित्र को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध कर अपनी प्रवृत्ति करता है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त गुणों की खानि कहते हैं ॥३९॥ अतएव विद्वान् मुनियों को द्रव्य क्षेत्र काल भाव और अपनी शक्ति को समझ कर ध्यान अध्ययन और चारित्र को अच्छी तरह पालन करना चाहिये ॥४०॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का त्याग और परिग्रहों का त्याग इस प्रकार दो तरह का त्याग बतलाया है अतएव विद्वान पुरुष इन दोनों का त्याग कर मुक्तिस्त्री को प्राप्त करते हैं ॥४१॥ यदि पृथ्वी के खोदने आदिका आरंभ किया जायगा तो पृथिवीकायिक जीवों का तथा पृथिवीकाय के आश्रित रहने वाले जीवों का अवश्य ही नाश होगा उनकी विराधना अवश्य होगी। अतएव जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को मन वचन काय से जीवन पर्यंत दोनों प्रकार का (पृथिवीकायिक और पृथिवी कायाश्रित) पृथिवी आदि का आरम्भ सदा के लिये छोड़ देना चाहिये तथा इसी प्रकार जलकायिक जलकायाश्रित वायुकायिक वायुकायाश्रित अग्निकायिक अग्निकायाश्रित वनस्पतिकायिक और वन–

मार्गानुचारिणाम् ॥ ४३ ॥ पृथ्व्यादिकायिकान्सत्त्वानेतान्श्रीजिनभाषितान् । नचश्रद्दधाति यः स्याद्भ्रष्टो रत्नत्रयात्कुधीः ॥४४॥ विश्वसत्त्वाकुले लोके कथं चरेद्वसंयमी । कथं तिष्ठेत् कथं कुर्याच्छयनं चोपवेशनम् ॥४५॥ कथं भुंक्ते कथंब्रूयाद्विहारं कथमाचरेत । कथं धत्ते क्रियाकर्मकथंवध्नातिनाशुभम् ॥ ४६ ॥ चरेत्सर्वत्रयत्नेनतिष्ठे- द्यत्नेन भूतले । यत्नेन प्रासुकेदध्याच्छयनं च दृढासनम् ॥ ४७ ॥ भिक्षाशुध्या च भुंजीत वाक्समित्या यत्नतो भजेत् ॥ ४८ ॥ प्रयत्नेन क्रियाकर्म करोति सकलं सदा । इति पापं न वध्नातिक्षपयेत्प्राक्तनाशुभम् ॥ ४९ ॥ इति कथितमदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या परमसमयसार ग्रंथमाप्तैः प्रणीतम् । त्रिभुवनपति भूति सुष्ठुविज्ञायमुक्त्वा

स्पतिकायाश्रित जीवों की विराधना का भी त्याग कर देना चाहिये ॥४२-४३॥ जो मुनि भगवान जिनेन्द्र-देव के द्वारा कहे हुये इन पृथिवीकायिक पृथ्वीकायाश्रित जलकायिक जलकायाश्रित अग्निकायिक अग्निका-याश्रित वायुकायिक वायुकायाश्रित और वनस्पतिकायिक वनस्पतिकायाश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उस दुर्बुद्धि को रत्नत्रय से भ्रष्ट ही समझना चाहिये ॥४४॥ कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इस लोक में सब जगह जीवराशि भरी हुई है फिर भला मुनियों को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये किस प्रकार खड़े होना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे आहार लेना चाहिये, कैसे बोलना चाहिये, कैसे विहार करना चाहिये, किस प्रकार आचरण पालन करना चाहिये, किस प्रकार वंदना प्रतिक्रमण आदि क्रिया कर्म करना चाहिये और किस प्रकार अशुभ कर्मों से दूर रहना चाहिये ॥४५-४६॥ तो इसका उत्तर यह है कि मुनियों को यत्नाचार पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, यत्नाचार पूर्वक पृथिवी पर बैठना चाहिये, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक स्थान पर सोना चाहिये और प्रासुक स्थान पर ही दृढ़ आसन से बैठना चाहिये। इसी प्रकार उनको भिक्षा भी शुद्धता पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये, भाषासमिति पूर्वक वचन बोलने चाहिये और विहार इर्या समिति पूर्वक दिन में ही यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये। इसी प्रकार मुनियों को यत्नाचार पूर्वक ही वंदना प्रतिक्रमण आदि सब क्रियाकर्म सदा करते रहना चाहिये। इस प्रकार करने से वह मुनि पापों से लिप्त कभी नहीं होता किंतु पहले के अशुभ कर्मों को नाश ही करता है ॥४७-४९॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इस परम समयसार को जो

सकलचरणयोगात्युश्च ते मुक्तिनाथाः ॥ ५० ॥ सर्वासातहरंविशुद्धजनकं पापारिनाशंकरं स्वर्मोक्षैकनिबंधनंसुविमलं-संसारतापापहम् । श्रीतीर्थेश्वरभाषितंमुनिवरैः सेव्यं सदा यत्नतः सेवध्वनिपुणाःपरंसमयसाराख्यंशिवाप्त्यैस्फुटम् ।५१। नाभेयाद्याजिनेन्द्रास्त्रिभुवनयजिताः धर्मचक्राधिपा ये सिद्धालोकाग्रभूताहतबिधिवपुषोत्रान्तहीनाः प्रसिद्धाः । आचार्याःपाटका ये गुणगणसदनाः साधवोमुक्तिकामाः आचारांगागमज्ञाममनिजसुगुणान्संस्तुतास्तेप्रदधुः ॥१५२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथेभट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते

समयसार वर्णनो नाम नवयोधिकारः ।

मुनि अपनी शक्ति के अनुसार निर्दोष रीति से पालन करते हैं वे पूर्ण चारित्र को धारण करने के कारण भगवान जिनेन्द्रदेव की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंत में मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होते हैं ॥५०॥ यह ऊपर कहा हुआ परमसमयसार समस्त दुःखों को दूर करने वाला है, विशुद्धियों को उत्पन्न करने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, स्वर्ग मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अत्यंत निर्मल है, संसार के संताप को नाश करने वाला है, भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सदा सेवन धारण करने योग्य है। अतएव चतुर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न-पूर्वक इस परमसमयसार को अच्छी तरह पालन करते रहना चाहिये ॥५१॥ इस संसार में जो धर्मचक्र के स्वामी और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं तथा लोक शिखर पर बिराजमान, समस्त कर्म और शरीर से रहित संसार के परिभ्रमण से रहित और सर्वत्र प्रसिद्ध ऐसे अनंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं और आचारांग आदि समस्त आगम के जानकार मोक्ष की इच्छा करने वाले और अनेक गुणों के समूह के स्थान ऐसे आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु विद्यमान हैं इस प्रकार के पाँचों परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूं इसके बदले में वे पाँचों परमेष्ठी मुझे अपने अपने श्रेष्ठ गुण प्रदान करें ॥१५२॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके

महाग्रथ में समयसार को वर्णन करन वाला

यह नौवा अधिकार समाप्त हुआ।

दशमोऽधिकारः ।



अर्हतः सिद्धनाथांश्चसमाधिबोधिपारगान् । जन्ममृत्युजराहंतृन् नौमि बोधिसमाधये ।१। संक्षेपेणाथ वक्ष्यामि सद्यतीनां समाधये । अधिकारं परं प्रत्याख्यानसंस्तरसंज्ञकम् ॥ २ ॥ उपसर्गेतिदुर्भिक्षेवृद्धत्वेव्याधिसंचये । असाध्येनिष्प्रतीकारेमन्दाक्षे सति कारणे ॥ ३ ॥ व्रतभंगादिकेन्यस्मिन वा सन्यासं तपस्विनाम् । विधातुं युज्यते नूनं प्रयत्नेनहिताप्तये ॥ ४ ॥ आसन्न मरणं स्वस्य कश्चिद्विज्ञायसन्मुनि. । निमित्ताद्यैः समाध्यर्थं कुर्यादुद्यम–

दशवां अधिकार ।

अब मैं रत्नत्रय और समाधि की प्राप्ति के लिये जन्म मरण तथा बुढ़ापे को नाश करने वाले और रत्नत्रय तथा समाधि पारगामी ऐसे भगवान् अरहंतदेव को तथा सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूं ॥१॥ अब मैं श्रेष्ठ मुनियों को समाधि प्राप्त करने के लिये संक्षेप से प्रत्याख्यानसंस्तर नाम के श्रेष्ठ अधिकार का निरूपण करता हूं ॥२॥ किसी उपसर्ग के आजाने पर, घोर दुर्भिक्ष पड़ जाने पर अत्यंत वृद्धावस्था आजाने पर, अनेक असाध्य और उपायरहित व्याधियो के आजाने पर नेत्रों की ज्योति मंद हो जाने पर, वा व्रतभंग के कारण मिल जाने पर वा और भी ऐसे ही ऐसे कारण आजाने पर तपस्वियों को अपना आत्महित करने के लिये प्रयत्नपूर्वक सन्यास धारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥३–४॥ श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जान

मंजसा ॥ ५ ॥ आपृच्छ्यस्वसुगुर्वादीन्त्तमयित्वाखिलान्परान् । त्रिशुध्यायुक्तिमद्वाक्यै स्वयंक्षांत्वास्वमानसे ॥६॥ द्वित्र्यादियोगिभि. सार्द्धं परित्यज्य निजगणम् । मोहादिहानयेसोस्मान्निर्गच्छतिसमाधये ॥ ७ ॥ क्रमात्परगणस्थं स विख्यातसूरिपुंगवम् । आसाद्य सपरीक्ष्योच्चैर्नत्वा कार्यंनिवेदयेत् ॥ ८ ॥ विश्वभव्यहितोद्युक्तः पचाचारपरो-महान् । आगमे कुशली धीमान्क्षोऽभ्य'परमार्थवित् ॥ ६ ॥ आलोचितरहस्यापरिस्रावीसूरिसत्तमः । यः स निर्यापकः कार्य. उत्तमः स्वसमाधये ॥ १० ॥ यथापत्तनमासन्नाः कर्णधारैर्विनांबुधौ । रत्नहेमभृता नावः प्रमज्जन्ति प्रमादतः ॥ ११ ॥ तथाक्षपनावोऽत्र मुक्तिद्वीपसमीपगाः । दृग्ज्ञानचरणानर्घ्यरत्नपूर्णा भवाम्बुधौ ॥ १२ ॥ निमज्जन्ति

कर समाधि के लिये बहुत शीघ्र उद्यम करना चाहिये ॥५॥ इसके लिये सबसे पहले उन मुनियों को अपने श्रेष्ठ गुरु से पूछना चाहिये और फिर मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक युक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से क्षमा माँगनी चाहिये तथा अपने मन में सबको क्षमा कर देना चाहिये ॥६॥ तदनंतर अपना मोह नाश करने के लिए दो तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गण का त्याग कर समाधि धारण करने के लिए वहाँ से चल देना चाहिये ॥७॥ फिर अनुक्रम से चल कर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुँचना चाहिये और उन आचार्य की अच्छी तरह परीक्षा कर तथा उनको नमस्कार कर उनसे अपना कार्य निवेदन करना चाहिये ॥८॥ जो समस्त भव्य जीवों के हित करने मे तत्पर हों, पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों बुद्धिमान हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ को जानने वाले हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किये हुए दोषों को कभी प्रगट न करते हों और जो सर्वोत्तम हों ऐसे उत्तम आचार्य को अपनी समाधि के लिये निर्यापकाचार्य बनना चाहिये ॥६–१०॥ जिस प्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुँची हुई कोई नाव बिना मल्लाहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षरूपी द्वीप के समीप पहुँची हुई क्षपकरूपी नाव बिना निर्यापकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसाररूपी समुद्र में डूब जाती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है इसलिये बुद्धिमान मुनियों को समाधिमरण धारण करने के लिए निर्यापकाचार्य

न संदेहो विना निर्यापकैर्भुवि । प्रमादेन ततो मृग्याःमृत्यौनिर्यापकाः बुधैः ॥ १३ ॥ आचार्यः सोऽपि तं युक्त्या प्रपरीक्ष्यपरार्थकृत् । स्वीकुर्यात्स्वगणंपृष्ट्वोत्तमार्थसाधनोद्यतम् ॥ १४ ॥ ततोसौक्षपको नत्वा ह्येकान्तेसूरिसन्निधौ । ऋजुचित्त स्वशुध्यर्थंकुर्यादालोचनंस्फुटम् ॥ १५ ॥ मूलोत्तरगुणादीनांरत्नत्रयस्य जातुचित् । अतीचाराः कृताः स्वेन कारिता ये परेण च ॥ १६ ॥ हृदनुमानिता ये तान्त्रिशुध्यासकलान्मलान् । त्यक्त्वालोचनदोषान् स सर्वान् सूरिं निवेदयेत् ॥ १७ ॥ ऋजुबुद्धिर्यथा बालो ब्रूयात्स्वस्यमनोगतम् । याथातथ्येनचाजानन् वाच्या वाच्यादिकं वचः ॥ १८ ॥ मायाभिमानलज्जादींस्त्यक्त्वाशुद्धिमतिस्तथा । यथाजातान् तथा दोषान् भाषतेसूरिसन्निधौ ॥ १९ ॥ तदेवागमदृष्ट्यासौगणी तद्दोषशान्तये । ददातिविधिना तस्मै प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥ २० ॥ ततः स क्षपकः

अवश्य तलाश कर लेना चाहिये ॥११–१३॥ तदनंतर परोपकार करने में तत्पर वे आचार्य भी युक्तिपूर्वक उसकी परीक्षा करते हैं फिर अपने गण को पूछ कर मोक्ष के साधन में लगे हुए उन मुनि को अपने पास रहने की स्वीकारता देते हैं ॥१४॥ तदनंतर सरल हृदय को धारण करने वाला वह क्षपक भी किसी एकांत में आचार्य के समीप नमस्कार कर बैठता है और अपने आत्मा की शुद्धि के लिये स्पष्ट रीति से अपने दोषों की आलोचना करता है ॥१५॥ मूलगुण वा उत्तरगुणों में वा रत्नत्रय में कभी भी जो अतिचार लगाये हो, वा दूसरों से लगवाये हों वा हृदय से उनकी अनुमोदना की हो उन सबको आलोचना के समस्त दोषों से रहित होकर मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक आचार्य से निवेदन कर देना चाहिये ॥१६–१७॥ जिस प्रकार सरल बुद्धि को धारण करने वाला बालक कहने योग्य वा न कहने योग्य वचनों को नहीं जानता हुआ यथार्थ रीति से अपने मन की बात बतला देता है उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि को धारण करने वाले उन मुनियों को भी मायाचारी अभिमान और लज्जा को छोड़ कर आचार्य के समीप समस्त दोषों को यथार्थ रीति से कह देना चाहिये ॥१८–१९॥ तदनंतर उन दोषों को शांत करने के लिए वे आचार्य भी आगम में कहे अनुसार विधिपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त उनके लिये देते हैं ॥२०॥ तदनंतर वह क्षपक भी अपने रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिये आचार्य के

शक्त्यारत्नत्रयविशुद्धये । योदत्त. सूरिणादण्डस्तं सर्वमाचारेत्क्रमात् ॥ २१ ॥ यथाचार्योमुनेस्तस्यहितायाह शुभाशुभान् । मृत्युभेदान्श्रतात्सप्तदशनीचोच्चजन्मदान् ॥ २२ ॥ आवीचिस्तद्भवाख्यं चावधिराद्यन्तसंज्ञवम् । सशल्यं गृध्रपृष्टाख्यं जिघ्रासमरणं ततः ॥ २३ ॥ व्युत्सृष्टं हि वलाकाख्यंसंक्लिश्यमरणं नृणाम् । मरणानिदशैतानि भाषितानि जिनेश्वरैः ॥ २४ ॥ वालवालमृतिर्वालो वालपंडितनामकम् । चतुर्थं मरणं भक्तप्रत्याख्यानाभिधान- कम् ॥ २५ ॥ इंगनीमरणं नाम प्रयोपगमनाभिधम् । मरणं सप्तमं सर्वज्येष्टं पण्डितपण्डितम् ॥ २६ ॥ इमानि देहिनांसप्तदशोक्तानिजिनागमे । सद्गतीता कतृणिमरणानि गणेशिना ॥ २७ ॥ यथाम्बुधौ जलौघानां वीचयः सयमं प्रति । उद्भूयोद्भूयतत्रैवविलीयन्तेतथांगिनाम् ॥ २८ ॥ उद्भयोद्भूयकर्मायुः पुद्गलाणपु य. त्तयः । रसनाप्रत्यह ज्ञेयमावीचिमरणं हि तत् ॥ २९ ॥ भुज्यमानायुप. पुंसो योऽन्तिमेसमयेभुवि । प्राणत्यागो हि तद्भिद्भिमरण

द्वारा दिये हुए समस्त दंड को अपनी शक्ति के अनुसार अनुक्रम से पालन करता है ॥२१॥ इसके बाद वे आचार्य उन मुनिराज का हित करने के लिए ऊंच और नीच योनि में जन्म देने वाले और इसीलिये शुभ अशुभ ऐसे मृत्यु के सत्रह भेदों को शास्त्र के अनुसार कहते हैं ॥२२॥ आवीचिमरण, भवमरण, अवधिमरण, आधंतमरण, सशल्यमरण, गृद्धपृष्ठमरण, जिघ्रासमरण, व्युत्स्टष्टमरण, वलाकामरण, और संक्लिश्यमरण इस प्रकार ये दश प्रकार के मरण भगवान जिनन्द्रदेव ने वतलाये हैं ॥२३–२४॥ वालवालमरण, वालमरण, वालपंडितमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण और सर्वोत्तम पंडितपंडितमरण, इस प्रकार सात मरण ये वतलाये हैं ॥२४–२६॥ इस प्रकार भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम मे प्राणियों को सद्गति और असद्गति देने वाले ये सत्रह प्रकार के मरण वतलाये हैं ॥२७॥ जिस प्रकार समुद्र में पानी के समूह की लहरें समय समय पर उठती हैं और उठ उठकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार संसार जीवों का आयुकर्म प्रत्येक समय में उदय होता रहता है और अपना रस देकर खिर जाता है इसको आवीचिमरण कहते हैं। यह आवीचिरमण प्रति दिन प्रति समय होता रहता है ॥२८–२९॥ जो मनुष्य अपनी आयु को भोग कर अंतिम समय में

तद्भवाह्वपम् ॥ ३० ॥ प्रकृत्याद्यैश्चतुर्विधैर्यादृशैः प्राग्भवे मृतः । यस्तस्य तादृशैर्भावधाख्यंमरणं हि तत् ॥ ३१ ॥ प्राक्तनात्स्वभवाद्बंधैरन्यादृशैश्चतुर्विधैः । प्रकृत्याद्यै र्मृतिर्यानुरायन्तमरणं हि तत् ॥ ३२ ॥ मायामिथ्यानिदानाद्यैः शल्यैः सार्द्धं कषायिणाम् । यत्प्राणमोचनं निंद्यं सशल्यमरणं हि तत् ॥ ३३ ॥ मृत्यु र्यैः क्रियतेहस्तिकलेवरादिषुकचित् । प्रविश्य प्राणिभिर्गृध्रपृष्टाख्यमरणरवुतत् ॥ ३४ ॥ स्वस्यस्वेनदुराचारैः कृत्वा प्राणनिरोधनम् । क्रियतेस्वात्मघातो यो जिघ्रासमरण हि तत् । ३५ ॥ दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमुक्त्वाशठात्मभिः । विधीयतेमृतिर्यात्रिव्युत्सृष्टमरण च तत् ॥ ३६ ॥ पार्श्वस्थेनात्रयत्प्राणमोचनंशिथिलात्मनाम् । दीक्षितानांदुराचारैर्वलाकामरण हि तत् ॥ ३७ ॥ दृग्ज्ञानचरणाचारेंपुसक्लेश विधाय य. । मृत्युस्तपस्विनां चिरोसक्लिश्दमरण खु तत् ॥ ३८ ॥ सम्यग्ज्ञानव्रताचा–

प्राणत्याग कर देता है उसको भवमरण कहते हैं ॥३०॥ इस जीव ने पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि चारों प्रकार के कर्मों का बंध कर मरण किया था यदि वैसे ही कर्मों का बंध कर मरण करे तो उसको अवधिमरण कहते हैं ॥३१॥ पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि कर्मों का बंध किया था उससे भिन्न प्रकृति स्थिति आदि कर्म प्रकृतियों का बंध कर जो मरण करता है उस मरण को आद्यंत मरण कहते हैं ॥३२॥ कपायों को धारण करने वाले जीव माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों के साथ साथ जो प्राण त्याग करते हैं उसको निंद्य सशल्यमरण कहते हैं ॥३३॥ हाथी आदि पशुओं के कलेवरों में प्रवेश कर जो प्राणी मर जाते हैं उसको गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं ॥३४॥ जो मनुष्य अपने ही दुराचारों से स्वयं साँस रोक कर आत्मघात कर लेते हैं उसको जिघ्रासमरण कहते हैं ॥३५॥ जो मूर्ख सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रयों को छोड़ कर मर जाते हैं उसको व्युत्स्टष्टमरण कहते हैं ॥३६॥ शिथिल आचरणों को धारण करने वाले दीक्षित मुनि अपने दुराचरण के कारण प्राण त्याग करते हैं अथवा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के त्याज्य मुनि जो प्राण त्याग कर करते हैं उसको वलाकामरण कहते हैं ॥३७॥ अपने हृदय में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में वा अपने आचरणों में संक्लेश उत्पन्न कर जो तपस्वियों की मृत्यु होती है उसको संक्लेशमरण कहते हैं ॥३८॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है

राद्दते प्राणविसर्जनम् । मिथ्यादृशा हि यद्बालबालाख्यंमरणं च तत् ॥ ३६ ॥ दृग्ज्ञाने सति सद्दृष्टेर्योल्पेतरव्रता-द्विना । शिशोरिववपुस्त्यागस्तद्बालमरणाह्वयम् ॥४०॥ स्थावरध्वसनाद्यैर्थे सूक्ष्मपचाद्यवर्तनै. । बालास्त्रसांगिरक्षाद्यैः स्थूलपचाघवर्जनैः ॥ ४१ ॥ पण्डिताःश्रावकाश्चात्रप्रोच्यन्ते बालपण्डिता । अणुव्रत जुषां तेषांमरण बालपण्डि-तम् ॥ ४२ ॥ यद्भक्ताहारपानादींस्त्यक्त्वास्वस्यप्रतिज्ञया । प्राणोज्झन च सा भक्तप्रत्याख्यानाह्वयामृति. ॥ ४३ ॥ आत्मनोत्रेंगिताकारेणाभिप्रायेणयोगिभिः । साध्यते मरण यत्तदिंगिणीमरण हि तत् ॥ ४४ ॥ प्रायेणोपगमं कृत्वा जना स्थानाद्वनान्तरे । पापाद्यैकाकिनाधीरयमिनाद्वभाव्यते ॥ ४५ ॥ मरणस्ववपुःक्षिप्त्वा ह्येकस्मिन्नचलासने । कस्मिंश्चिन्मरणं तत्स्यात्प्रायोपगमनाह्वयम् ॥ ४६ ॥ भक्तोज्झनादिनामानोमृत्युभेदास्त्रयोप्यमी । ज्ञेया पण्डितमृत्योश्च-

है उसको बालबालमरण कहते हैं ॥३९॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी अणुव्रत वा महाव्रतों के बिना बच्चे के समान जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उसको बालमरण कहते हैं ॥४०॥ श्रावक लोग स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म मिथ्याभाषण आदि सूक्ष्मरूप से पाँचों पापों की प्रवृत्ति करने के कारण बालक कहलाते हैं तथा त्रस जीवों की रक्षा करते हैं स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं इस प्रकार स्थूल रीति से पाँचों पापों का त्याग कर देते हैं इसलिये वे पंडित कहलाते हैं। इस प्रकार वे श्रावक बालपंडित कहलाते हैं उन अणुव्रत धारण करने वाले सम्यग्दृष्टी श्रावकों का जो मरण है उसको बालपंडितमरण कहते हैं ॥४१–४२॥ जो मुनि प्रतिज्ञापूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्राण त्याग करता है उसको भक्त प्रत्याख्यान नाम का मरण कहते हैं ॥४३॥ जो योगी अपने आत्मा के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसको इंगिनीमरण कहते हैं ॥४४॥ जो धीर वीर एकाकी मुनि पापरूप मनुष्यों के स्थान को छोड कर प्रायः निर्जन वन में चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसको प्रायोपगमम मरण कहते हैं ॥४५–४६॥ भक्तप्रत्याख्यानमरण इंगिनीमरण और प्रायोपगमन मरण ये तीनों मरण पंडित मरण के भेद हैं और प्रमत्तसंयमी वा

प्रमत्तादिमहात्मनाम् ।। ४७ ।। त्यक्त्वा केवलिनां प्राणान्गमनंयच्छिवालये । मरणंतज्जगज्ज्येष्टं वंधं पण्डितपण्डितम ।। ४८ ।। अमीषां मरणानां च मध्ये यत्पण्डिताह्वयम् । मरणं क्षपक त्वं तत्साधयात्रातियत्नतः ।।४६।। साधितं मरणं ह्येकपण्डिताख्यंप्रयत्नतः । वहुजन्मशतादीनिक्षपकाणां छिनत्त्यहो ।। ५० ।। अत.सन्मरणेनात्र मर्तव्यं तेन धीधनैः । येनोत्पत्तिः पुन र्न स्याज्जन्ममृत्युजराविधा ।। ५१ ।। ये प्रणष्टमतिज्ञानाश्चतुःसंज्ञाविडंविताः । कौटिल्य-परिणामाश्चमोहारिग्रसिताःशठाः ।। ५२ ।। कषायाकुलचेतस्काः सनिदानाद्दगुज्झिताः । आर्तरौद्रत्रिदुर्लेश्याः शुभध्यानातिगा नराः ।। ५३ ।। असमाधिहता क्लेशेनम्रियन्ते समाधिना । आराधके न ते प्रोक्तामृतौ संसृति-वर्द्धनात् ।। ५४ ।। मरणेनष्टबुद्धीनांविराधितेमतिस्फुटम् । देवदुर्गतयोनूनंभवन्त्यात्रशुभाकराः ।। ५५ ।। वोधिसम्यक्त्व-

---

अप्रमत्तसंयमियों के होते हैं ।।४७।। केवली भगवान जो अपने शरीर को छोड़ कर मोक्ष के लिए गमन करते हैं वह तीनों लोकों में उत्तम और वंदनीय पंडित पंडितमरण कहलाता है ।।४८।। हे क्षपक ! इन सब मरणों में जो पंडितमरण है उसी को तू प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर ।।४६।। यदि यह एक पंडितमरण ही प्रयत्न पूर्वक सिद्ध कर लिया जायगा तो उससे उस क्षपक के अनेक सैंकड़ों जन्ममरण क्षणभर में नष्ट हो जॉयगे ।।५०।। अतएव बुद्धिमानों को श्रेष्ठ मरण से ही मरना चाहिये जिससे कि जन्म मरण और बुढ़ापे को उत्पन्न करने वाला जन्म फिर कभी न हो ।।५१।। जिन जीवों का मतिज्ञान नष्ट हो गया है, जो आहार भय मैथुन परिग्रह इन चारों संज्ञाओं से विडंवित हैं, जिनके परिणाम कुटिल रहते हैं, जो मोहरूपी शत्रु से दबे हुये हैं जो मूर्ख हैं जिनके हृदय कषाय से आकुलित रहते हैं जो सदा निदान करते रहते हैं जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान में लीन रहते हैं पहिली तीन अशुभलेश्याओं को धारण करते हैं जो शुभध्यान से बहुत दूर रहते हैं और जिनके हृदय में कभी भी समाधि को स्थान नहीं मिलता ऐसे लोग बिना समाधिमरण के केवल क्लेशपूर्वक ही मरते हैं। इसलिये आराधना करने वालों को मरण के समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि ये सब जन्म मरणरूप संसार को बढ़ाने वाले हैं ।।५२–५४।। नष्ट बुद्धि को धारण करने वाले जो लोग अपने मरण की विराधना कर देते हैं वे जीव महा पाप की खानि ऐसी देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं ।।५५।। इस

मत्यन्तदुर्लभ भवकोटिभिः । आगमिष्यति कालेह्यनन्तादुर्भवपद्धतिः ॥ ५६ ॥ देवदुर्गतयः काश्च का वोधिमंरणं हृदा । विनश्यतिमुमुक्षूणांकीदृशेन भवोभवेत् ॥ ५७ ॥ अनन्तः केनशिष्येणपृष्टः सूरिरितिस्फुटम् । उवाच देवदुर्गत्यादिकं सर्वं तदीहितम् ॥ ५८ ॥ कदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषाकरम् । स्वमोहत्वतथैवासुरन्वमेतेः कुलक्षणैः ॥ ५९ ॥ सम्पन्नादुर्द्धियोमृत्वागच्छन्ति देवदुर्गतिः । कदर्पाद्याइति प्रोक्ता नीचयोनिभवादिवि ॥ ६० ॥ असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसरागवचनादिकान् । कन्दर्पोद्दीपकाल्लोकेकदर्परतिरंजितः ॥ ६१ ॥ कन्दर्पाःसन्तिदेवा ये नग्नाचार्याः सुरालये । कंदर्पकर्मभिस्तेषुद्य त्पद्यतेसततस्मः ॥ ६२ ॥ मंत्रतंत्रादिकर्माणि यो विधत्ते वहूनि च ।

लोक में रत्नत्रय और सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है, करोड़ों भवों में भी प्राप्त नहीं होता यदि प्राप्त होता है तो काललब्धि के अनुसार प्राप्त होता है। तथा नीच जन्मों की परम्परा अनंतवार प्राप्त होती चली आ रही है ॥५६॥ यहाँ पर कोई शिष्य अपने आचार्य से पूछता है कि हे प्रभो ! देव दुर्गति क्या है ? रत्नत्रय किसको कहते हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों का मरण कैसे हृदय से नष्ट हो जाता है जिससे कि उसको अनंत संसार की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में आचार्य उस शिष्य की इच्छानुसार देव दुर्गति आदि का स्वरूप कहते हैं ॥५७-५८॥ जो मूर्ख कंदर्प जाति के कुलक्षणों को अभियोग्य जाति के कुलक्षणों को पाप की खानि ऐसे किल्विष रूप कुलक्षणों को स्वमोहत्व और असुर रूप कुलक्षणों को धारण कर मरते हैं वे देव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं। स्वर्गों में कंदर्प आदि नीच योनि में उत्पन्न होने वाले जो देव हैं उन्हीं की गति को देव दुर्गति कहते हैं ॥५९-६०॥ जो साधु होकर भी असत्य वचन बोलते हैं, हंसी ठट्ठा के वचन कहते हैं राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं कामदेव को बढ़ाने वाले उत्तेजित करने वाले वचन कहते हैं और जो कामसेवन में लीन हो जाते हैं ऐसे जीव मर कर स्वर्ग में कंदर्प जाति के देव होते हैं वहाँ पर भी वे काम को बढ़ाने वाली क्रियाएं ही करते रहते हैं। इस प्रकार कंदर्पमय क्रियाओं के करने से वे पाखंडी स्वर्ग में भी वैसे ही कंदर्पमय क्रियाएं करने वाले होते हैं। ऐसे देवों को नानाचार्य भी कहते हैं ॥६१-६२॥ जो मनुष्य साधु होकर भी मंत्र तंत्र आदि अनेक कार्यों को करता है ज्योतिष्क वा वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और

ज्योतिष्कमेपजादीनिपराकार्याशुभानि च ॥ ६३ ॥ हास्यकौतूहलादीनि करोतिस्वेच्छया वदेत् । हस्त्यश्ववाहनेष्वत्र जायते सोमरोधमः ॥ ६४ ॥ तीर्थकृतां च संघस्य चैत्यचैत्यालयस्य च । आगमस्याविनीतो यः प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥ ६५ ॥ मायावीकिल्विषाक्रान्तः किल्विपादि कुकर्मभिः । स किल्विपसुरो नीचो भवेत्किल्विष जातिपु ॥६६॥ उन्मार्गदेशको योऽत्र जिनमार्गविनाशकः । सन्मार्गाद्विपरीतोऽत्र दृष्टहीनः कुमार्गगः ॥ ६७ ॥ मिथ्यामायादिमोहेन मोहयन्मोहपीडित. । जायते स स्वमोहेपुस्वभंडामरजातिपु ॥ ६८ ॥ क्षुद्रः क्रोधीखलोमानीमायावीदुर्जनोयतिः । युक्तोनुवद्धवैरेणतपश्चारित्रकर्मसु ॥ ६९ ॥ संक्लिष्टसनिदानो यः उत्पद्यतेऽघकर्मणा । रौद्रासुरकुमारेषुमोम्त्ररादि कुजातिपु ॥ ७० ॥ मिथ्यादर्शनरक्ता ये सनिदानाः कुमार्गगा । कृष्णलेश्योद्धतारौद्रपरिणामागुणातिगः ॥ ७१ ॥

भी बहुत से अशुभ कार्य करता है हंसी करता है कौतूहल तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है वह मर कर हाथी घोड़ा आदि बनने वाले वाहन जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है ॥६३–६४॥ जो तीर्थंकरों की अविनय करता है, संघ की अविनय करता है, चैत्य चैत्यालयों की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्मात्माओं के प्रतिकूल रहता है, जो मायाचारी है और महा पापी है वह अपने महा पापों के कारण किल्विप जाति के देवों में नीच किल्विप देव होता है ॥६५–६६॥ जो साधु कुमार्ग का उपदेश देता है, जिनमार्ग का नाश करता है, श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है कुमार्गगामी है, जो मिथ्यात्व मायाचारी आदि तीव्रमोह से मोहित है, जो तीव्रमोह के कारण अत्यंत दुःखी है वे स्वच्छन्द देवों में उत्पन्न होते हैं। देवों की स्वभंड नाम की नीच जाति में स्वमोह वा श्वमोह (कुत्ते के समान इधर उधर स्वच्छद फिरने वाले) देव होते हैं ॥६७–६८॥ जो साधु क्षुद्र हैं, क्रोधी हैं, दुष्ट हैं अभिमानी हैं मायाचारी हैं दुर्जन हैं, जो पहले जन्म के वा इसी भव के पहले वैरभावों को धारण करते हैं जो तपश्चरण और चारित्र की क्रियाओं में संक्लेशता धारण करते हैं और जो निदान करते रहते हैं वे पापरूप कर्मों के कारण अवांवरीप जाति के नीच और रौद्र असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं ॥६९–७०॥ जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं जो कुमार्गगामी हैं कृष्णलेश्या को धारण करने के कारण जो अत्यंत उद्धत रहते हैं, जो रौद्र परिणामों

त्यक्त्वा सद्दर्शनंसंक्लेशयान्मृयन्तेसमाधिना । ससारे भ्रमतां तेषां वोधिश्चातीवदुर्लभा ॥ ७२ ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्ना अनिदाना' शुभाशयाः । शुक्ललेश्याः शुभध्यानरताः सिद्धान्तवेदिनः ॥७३॥ धर्मध्यानादिसन्यासैर्येमृयन्तेसमाधिना । तेपामासन्नभव्यानांसुलभावोधिरुत्तमा ॥ ७४ ॥ गुरूणांप्रत्यनीका ये दीर्घमिथ्यात्ववासिताः । महुमोहावृतादुष्टा आर्तरौद्रपरायणाः ॥७५॥ मदोद्धताः कुशीलाश्चमृयन्तेऽत्रासमाधिना । स्युस्तेह्यनन्तसंसारा विश्वदुःखशताकुलाः ॥७६॥ जिनवाक्यनुरक्ता ये गुरूणां भक्तितत्पराः । शुद्धभावाः सदाचारा रत्नत्रयविभूषिताः ॥ ७७ ॥ गुर्वाज्ञापालकाश्चत्ता धर्मध्यानसमाधिना । उत्तमं मरणं यान्ति स्युस्ते संसारपारगाः ॥ ७८ ॥ वालवालाशुभान्मृत्यून्मरिष्यन्तिवहूँश्च

को धारण करते हैं और गुणों से सर्वथा दूर रहते हैं ऐसे जो जीव सम्यग्दर्शन को छोड़ कर विना समाधि के संक्लेश परिणामों से मरते वे जीव सदा इस संसार में परिभ्रमण किया करते हैं। उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ हो जाती है ॥७१–७२॥ जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, कभी निदान नहीं करते, जिनका हृदय शुद्ध है, जो शुक्ललेश्या धारण करते हैं, शुभध्यान में सदा लीन रहते हैं और सिद्धांतशास्त्रों को जानते हैं ऐसे जो मुनि समाधि पूर्वक धर्मध्यान वा शुक्लध्यान धारण कर सन्यास से मरण करते हैं उन आसन्न भव्य जीवों के उत्तम रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यंत सुलभ रीति से हो जाती है ॥७३–७४॥ जो जीव आचार्य वा गुरु से सदा प्रतिकूल रहते हैं जो दीर्घमिथ्यात्व को धारण करते हैं जो तीव्र मोह से घिरे हुए हैं, जो दुष्ट हैं आर्त रौद्र परिणामों को धारण करते हैं मद से मदोन्मत्त हैं जो कुशीली हैं ऐसे जीव विना समाधि के मर कर अनंत संसार में परिभ्रमण किया करते हैं और सब तरह के सैकड़ों महा दुःखों से व्याकुल रहते हैं॥७५–७६॥ जो जीव जिनवाणी में सदा अनुरक्त रहते हैं गुरुओं की भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, सदाचार पालन करते हैं रत्नत्रय से सुशोभित हैं, गुरु की आज्ञा को सदा पालन करते रहते हैं, और जो चतुर है ऐसे जीव धर्मध्यान और समाधि पूर्वक उत्तम मरण को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं ॥७७–७८॥ जो जीव अनेक वार अत्यंत अशुभ ऐसे वालवालमरण से मरते हैं, जो

ते । जिनवाक्यं न जानन्ति वराका येऽघवंचिताः ॥ ७६ ॥ स्वान्यशस्त्रादिघातेनविषादिभक्षणेन च । जलानल-प्रवेशाभ्यामनाचारादिकोटिभिः ॥ ८० ॥ उच्छ्वासरोधनाद्यैर्येदुर्मृतिस्वस्यकुर्वते । जन्ममृत्युजरादुःखौघस्तेषां वर्द्धतेतराम् ॥ ८१ ॥ उद्वेगभयसंक्लेशैरूर्ध्वाधस्त्रिजगत्स्वपि । त्रिसस्थावर जीवेषु पराधीनतया त्वया ॥ ८२ ॥ मरणानि ह्यनन्तानिवालवालाशुभानि च । अन्यैः प्राप्तानि च सर्वैरत्नांधैर्वोधिदूरगैः ॥ ८३ ॥ ज्ञात्वेति क्षपकेह त्व मृयस्वाखिलयत्नतः । पण्डितेनमुदायेनमृत्युघ्नश्चभविष्यसि ॥ ८४ ॥ इत्याचार्योपदेशेन योग्यस्थाने मठादिके । समाधिसिद्धये युक्त्यासंस्तरं स प्रपद्यते ॥ ८५ ॥ तदैवाराधनाशुद्धीश्चतुर्विधाहगादिकाः । मनोवाकायसंशुध्या कर्तुमारभतेसुधी. ॥ ८६ ॥ शंकादिदोषदूरस्थाः सद्गुणाष्टविभूषिताः । धर्मरत्नखनीमेस्तु दृग्विशुद्धिर्दृढापरा ॥८७॥

जिनवचनों को जानते ही नहीं, जो नीच हैं पाप से ठगे हुए हैं जो अपने ही शस्त्र से वा दूसरे के शस्त्र घात से मरते हैं, वा विषभक्षण से मरते हैं, जल में डूब कर वा अग्नि में जल कर मरते हैं वा करोड़ों अनाचारों के कारण श्वास रोक कर मरते हैं इस प्रकार जो दुर्मरण से मरते हैं उनके जन्म मरण जरा आदि अनेक दुःखों के समूह निरंतर बढ़ते रहते हैं ॥७६—८१॥ हे क्षपक इस ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक रूप तीनों लोकों में तथा त्रसस्थावर आदि अनेक जीव योनियों में पराधीन होकर उद्वेग भय और संक्लेश रूप परिणामों से अनंतवार अशुभ वालवालमरण किये हैं तथा इसी प्रकार रत्नत्रय से रहित और जीवों की रक्षा करने में अंधे ऐसे अन्य समस्त जीवों ने अनंतबार वालवालमरण किये हैं ॥८२—८३॥ यही समझ कर हे क्षपक तू प्रसन्न होकर प्रयत्न पूर्वक पंडितमरण से मर जिससे कि तेरा जन्ममरण सदा के लिए नष्ट हो जाय ॥८४॥ इस प्रकार आचार्य का उपदेश सुन कर वह क्षपक अपनी समाधि धारण करने के लिये युक्तिपूर्वक किसी मठ आदि योग्य स्थान में अपने बनाये हुये सांथरे पर पहुँचता है ॥८५॥ तदनंतर वह बुद्धिमान मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक सम्यग्दर्शन आदि चारों प्रकार की आराधनाओं की शुद्धि करना प्रारंभ करता है ॥८६॥ वह चिंतवन करता है कि शंकादिक दोषों से रहित तथा निःशंकित आदि आठों गुणों से सुशोभित और धमरत्न की खानि ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मेरी सदा उत्कृष्ट और दृढ़ बनी रहे ॥८७॥ जो ज्ञानाराधना भगवान

सर्वज्ञध्वनिसम्भूतास्वांगपूर्वादिगोचरा । शुध्या भवतुमेज्ञानाराधनाचारपूर्विका ॥ ८८ ॥ त्रयोदशविधा पूर्णा व्रतैः समितिगुप्तिभि. । सर्वैः दोषातिगा चास्तुचारित्राराधनामम् ॥ ८६ ॥ समस्तेच्छानिरोधोत्थां तपः आराधनापराम् । उग्रोग्राख्यां द्विषड्भेदां कुर्वेहं कर्महानये ॥ ६० ॥ आराधनाइमासारामहतीश्चचतुर्विधाः । सर्वोत्कृष्टाः करोत्येप विशुद्धामुक्तिमातृकाः ॥ ६१ ॥ तथाकपायकायाभ्या द्विधासल्लेखनां कृती । विधत्ते भुवि निःशल्यः क्षमातेषादिभिः परैः ॥ ६२ ॥ आदौ कुर्यात्कपायाणां परां सल्लेखनामिति । क्षमेह विश्वजीवानामपराधकिलांजसा ॥ ६३ ॥ कृत मयापराधं मे क्षम्यतांत्रिजगज्जनाः । सर्वभूतेषु मैत्री च ममास्तुसुखकारिणी ॥ ६४ ॥ गुणानुरागएवालं न वैरं केनचित्समम् । रागं कपायसम्वन्ध प्रद्वेपहर्पमंजसा ॥ ६५ ॥ दीनभावं भयं शोकं सोत्सुकत्वं कुचिन्तनम् । कालुष्यं

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से प्रगट हुई है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के गोचर है ऐसी आचार पूर्वक मेरी ज्ञानाराधना सदा शुद्धि बनी रहे ॥८८॥ पाँच महाव्रत तीनगुप्ति और पाँच समितियों से परिपूर्ण ऐसी तेरह प्रकार की मेरी चारित्राराधना समस्त दोषो से रहित हो ॥८६॥ मैं अपने कर्म नष्ट करने के लिए समस्त इच्छाओं के निरोध करने से उत्पन्न हुई तथा घोर वा उग्र उग्र रूप को धारण करने वाली और बारह प्रकार के भेदों से सुशोभित ऐसी तप आराधना को धारण करूंगा ॥६०॥ इस प्रकार चिंतवन करता हुआ वह क्षपक मोक्ष की इच्छा देने वाली, अत्यंत विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत ऐसी इन चारों प्रकार की महा आराधनाओं को धारण करता है ॥६१॥ तदनंतर शल्यरहित वह बुद्धिमान् वह क्षपक क्षमा संतोष आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर कपाय और काय दोनों की सल्लेखना करता है अर्थात कषायों को घटाता है और शरीर से ममत्व का त्याग करता है ॥६२॥ वह क्षपक सबसे पहले कषायों की सल्लेखना करता है वह कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूं तथा मुझसे जो अपराध बने हों उनको तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर देवें। तथा सुख देने वाली मेरी मैत्री समस्त जीवों में हो ॥६३–६४॥ समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ वैरभाव नहीं रखता, मैं राग को कषायों के संबंध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनतारूप परिणामों को, भय, शोक को उत्सुकता को अशुभध्यान को, कलुषता को, सब तरह के दुर्ध्यान को, स्नेह को रति तथा अरति को,

कृत्स्नदुर्ध्यानस्नेहं रत्यरतिद्वयम् ॥ ९६ ॥ जुगुप्सादिकमन्यद्वा त्रिशुध्या व्युत्सृजाम्यहम् । सर्वभूतदयाचित्तः शत्रुमित्रादिवर्जितः ॥ ९७ ॥ ममत्वं निजदेहादौ जहामि सर्वथाखिलान् । निर्ममत्वं सदा चित्तेऽप्रकुर्वन्त्रिजगत्स्वपि ॥९८॥ आत्मैकालम्बनंमेऽस्तुसार्द्धं दृगादिसद्गुणैः । तं विना त्रिजगज्जालंसर्वद्रव्यंत्यजाम्यहम् ॥ ९९ ॥ आत्मैव मे परं ज्ञानमात्मा क्षायिकदर्शनम् । आत्मा परमचारित्रं प्रत्याख्यानं च निर्मलम् ॥ १०० ॥ आत्मैव सकलो योग आत्मैवमोक्षसाधनः । यतोऽत्रैतेगुणाःसन्ति विनात्मानं न जातुचित् ॥ १ ॥ एकाकीम्रियते देही ह्येके उत्पद्यते विधेः । एको भ्रमति ससारे एकः शुध्यति नीरजाः ॥२॥ एको मे शाश्वतोऽत्रात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः । शेषा मेंगादयोभावा बाह्याः संयोगसम्भवाः ॥ ३ ॥ येनसंयोगमूलने प्राप्तादुःखपरंपरा । मया तं कर्मजंसर्वंसंयोगं व्युत्सृजाम्यहम् ॥४॥

जुगुप्सा को तथा और भी कर्म जन्य जो आत्मा के विकार हैं उन सबका मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक त्याग कर देता हूँ। मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिए दया धारण करता हूँ, तथा सबसे शत्रुता वा मित्रता का त्याग करता हूँ। मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूं मैं तीनों लोकों के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूँ ॥९१-९८॥ अब मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूं उसके सिवाय तीनों लोकों में भरे हुए समस्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूँ ॥९९॥ मेरा यह आत्मा ही परम ज्ञान है आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है आत्मा ही परम चारित्र है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है ॥१००॥ मेरा यह आत्मा ही समस्त योग रूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है। क्योंकि आत्मा में जितने गुण हैं वा मोक्ष के कारणभूत जितने गुण हैं वे बिना आत्मा के कभी हो ही नहीं सकते हैं ॥१०१॥ यह प्राणी इस संसार में कर्म के निमित्त से अकेला ही मरता है अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है ॥२॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप यह मेरा एक आत्मा ही नित्य है बाकी के शरीरादिक जितने मेरे बाह्य भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं और सब कर्मादिक के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ॥३॥ जिस कर्म के संयोग से मुझे अनादि काल से आज तक दुःखों की परंपरा प्राप्त हुई है उन कर्मों से उत्पन्न हुए समस्त संयोगों को मैं त्याग करता हूँ ॥४॥

मूलोत्तरगुणादीनांमध्येनाराधितागुणः । यः कश्चित्तं त्रिधादोषं गर्हे प्रतिक्रमामि च ॥ ५ ॥ भयान् सप्तमदानष्टौ चतुः सञ्ज्ञास्त्रिगौरवान् । गर्हेह च त्रयस्त्रिंशदासादना हि सर्वथा ॥ ६ ॥ इहामुत्रभयोत्राणागुप्तिमृत्युभयानि च । वेदनाकस्मिकश्चैते जहामि भयसप्तकम् ॥ ७ ॥ विज्ञानैश्वर्यमाज्ञा च कुलजातितपोवलाः । रूपं सत्सु गुणेष्वत्रैतेषु गच्छामि नो मदम् ॥ ८ ॥ पचैवात्रास्तिकायाश्चषड्जीवजातयस्ततः । महाव्रतानिपंचप्रवचनस्याष्टमातरः ॥ ९ ॥ पदार्था नव चोक्ता हि त्रयस्त्रिंशदितिस्फुटम् । आसादना जिनै जातु मनाक् कार्यामया न भो ॥ १० ॥ निन्दनीयं च यत्किंचित्सर्वंनिन्दामि तद्हृदि । गर्हणीयमकृत्यंयद्गर्हेतद्गुरुसन्निधौ ॥ ११ ॥ इत्याद्यन्यशुभध्यानैः कृत्वा

मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कोई गुण मैंने आराधन न किया हो उस दोष की मैं मन वचन काय से गर्हा करता हूँ निंदा करता हूं और उसके लिए प्रतिक्रमण करता हूँ ॥५॥ मैं सातों भयों की निंदा करता हूँ, आठों मदों की निदा करता हूं चारों संज्ञाओं की निंदा करता हूं तीनों गौरव वा अभिमानों की निंदा करता हूँ और तेतीस आसादनाओं की सर्वथा निंदा करता हूं ॥६॥ इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी रक्षा न होने का भय अगुप्ति (नगर में परकोट के न होने) का भय, मृत्यु का भय, वेदना का भय और आकस्मिक भय ये सात भय हैं मैं इन सातों भयों का त्याग करता हूँ ॥७॥ ज्ञान का मद, ऐश्वर्य का मद, आज्ञा का मद, कुल का मद जाति का मद तप का मद वल का मद और रूप का मद ये आठ मद हैं। मैं इन गुणों में होने वाले सब मदों का त्याग करता हूँ ॥८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने पाँच अस्तिकाय छह प्रकार के जीव, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएं नौ पदार्थ वतलाये हैं इन सवकी संख्या तेतीस होती है इन तेतीसों से संवंध रखना वा इनसे ममत्व रखना इनका तिरस्कार करना इनके निमित्त से रागद्वेप उत्पन्न करना तेतीस आसादनाएं वतलाई हैं इन आसादनाओं का मैं रंचमात्र भी नहीं लगने दूंगा ॥९-१०॥ इस संसार में जो कुछ निंदनीय है उसकी मैं अपने हृदय में निंदा करता हूं तथा जो गर्हा करने योग्य दुष्कृत्य हैं उनकी मैं गुरु के समीप में गर्हा करता हूं ॥११॥ इस प्रकार के ध्यान से अथवा और भी शुभध्यानों से अपने हृदय

सल्लेखनां यतिः ॥ १२ ॥ षष्टाष्टमादिपक्षैकमासाद्यनशनैः परैः । तपोभेदैर्द्विषड्भिश्चशोषयेत्क्रमतो वपुः ॥ १३ ॥ ततस्त्यक्त्वाक्रमेणान्नंस्तोकस्तोकेनधर्मधीः । गृह्णाति केवलं नीरं धर्मध्यानसमाधये ॥ १४ ॥ पश्चाद्युक्त्याम्बुपानं च परित्यज्यकरोति सः । परलोकोत्तमार्थाय, ह्युपवासान्निरन्तरम् ॥ १५ ॥ मुण्डनंदशमुण्डानां करोत्येपुसुयुक्तितः । संकोच्येन्द्रियवाक्कायमनोऽवयवचंचलात् ॥ १६ ॥ स्वस्वाद्यविषयेष्वत्र व्रजतः पंचखात्मकान् । जित्वा शक्त्या स पंचेन्द्रियमुण्डान्कुरुतेबलात् ॥ १७ ॥ मौनेन वचसः कृत्वामुण्डनंहस्तपादयोः । वपुषोरोधनंयुक्त्यास्वस्वेच्छाचलना-द्बुधः ॥ १८ ॥ निरुध्यश्रुतपाशेन भ्रमन्तं चित्तमर्कटम् । पंचेति मुण्डनान्येषकरोति च शिवाप्तये ॥ १९ ॥

में कषायों की सल्लेखना करनी चाहिये और फिर उस मुनि का काय की सल्लेखना करनी चाहिये ॥१२॥ वेला तेला कर के वा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास कर के तथा और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण कर के अनुक्रम से अपने शरीर को कृप करना चाहिये ॥१३॥ तदनंतर उस धर्मबुद्धि को धारण करने वाले यति को धर्मध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिए थोड़ा थोड़ा कर के अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिये ॥१४॥ तदनंतर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिये वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सदा के लिये उपवास धारण कर लेता है ॥१५॥ तदनंतर वह क्षपक पाँचों इन्द्रिय मन वचन काय और शरीर की चंचलता को छोड़ कर युक्ति पूर्वक दश प्रकार का मुंडन धारण करता है ॥१६॥ पाँचो इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में दौड़ लगाती हैं उनको अपनी शक्ति के अनुसार जीत कर जबर्दस्ती पाँचों इन्द्रियों को मुंडन करता है। इसी प्रकार मौन धारण कर वचन का मुंडन करता है हाथ पैरों की क्रियाओं को रोक कर हाथ पैरों का मुंडन करता है तथा वह बुद्धिमान अपनी इच्छानुसार चलायमान होने वाले शरीर को रोक कर शरीर का मुंडन करता है। चारों ओर कूदते हुए इस मनरूपी वंदर को भी श्रुतज्ञान के जाल में बाँध कर मन का मुंडन कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए वह यति हाथ पैर शरीर मन और वचन इन पाँचों का मुंडन करता

पचेन्द्रियारिमुण्डास्त्रिमुण्डाहस्तांघ्रिकायजाः । मनो वचोद्विमुण्डौचामीमुण्डादशवर्णिताः ॥ २० ॥ अमीभिर्मुण्डनै र्दीक्षासफलामुक्तिदा सताम् । एभिर्विनाजिताक्षाणांशिरसोमुण्डनं वृथा ॥ २१ ॥ तस्मिन्वहूपवासानां करणेतीववेदना । क्षुधाद्यैर्यदि जायेत तदेतिचिन्तयेत्सुधीः ॥ २२ ॥ अहोक्षुद्वेदनाश्वभ्रे साध्याविश्वान्नभक्षणैः । अब्धिनीरैस्तृपा पीडाचानुभुतामयाचिरम् ॥ २३ ॥ मयात्रारण्यशैलादौ मृगादिपशुजातिषु । मृगतृष्णादिभिः प्राप्ता तीव्राक्षुत्तृट्क्रु- वेदना ॥ २४ ॥ इत्याद्या अपरा घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । भ्रमतात्रभवारण्येनुभूता दुस्सहा मया ॥ २५ ॥ सर्वा पुद्गलराशिश्चान्नाद्यात्रभक्षिता मया । क्षुत्तृपाशान्तयेपीतमब्ध्यम्बोरधिकं जलम् ॥ २६ ॥ तथापि न मनागासी-

---

है ॥१७-१६॥ पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का मुंडन, हाथ पैर और शरीर का मुंडन तथा मन और वचन का मुंडन इस प्रकार आचार्यों ने दश प्रकार का मुंडन बतलाया है ॥२०॥ सज्जन पुरुषों की मोक्ष देने वाली दीक्षा इन्हीं दश मुंडनों से सफल मानी जाती है। इन मुंडनों के बिना इन्द्रियों को न जीतने वाले लोगों का मस्तक का मुंडन करना व्यर्थ ही है ॥२१॥ इस प्रकार उपवास धारण करने से यदि भूख प्यास की वेदना अधिक होती हो तो उस बुद्धिमान् क्षपक को भी नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये ॥२२॥ देखो मैंने नरकों में भूख की इतनी महा वेदना सहन की है कि यदि उस समय तीनों लोकों का समस्त अन्न खाने को मिल जाता तो भी वह भूख नहीं मिटती तथा वहीं पर प्यास की भी इतनी वेदना सही है कि यदि तीनों लोकों के समुद्रों का जल भी पीने को मिल जाता तो वह प्यास नहीं मिटती। इसी प्रकार जंगल और पर्वतों पर हिरण आदि पशुओं की पर्याय मृगतृष्णा के द्वारा अत्यंत तीव्र भूख और प्यास की वेदना सहन की है ॥२३-२४॥ इस संसाररूपी वन में परिभ्रमण करते हुये मैंने इनके सिवाय और भी भूख प्यास की असह्य और घोर वेदनाएं वा परीषहें सहन की हैं ॥२५॥ अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए मैंने भूख की वेदना मिटा देने के लिए अन्न की समस्त पुद्गल राशि भक्षण करली है तथा प्यास की वेदना मिटाने के लिए समुद्रों के जल से भी अधिक जल पी डाला है ॥२६॥ तथापि इस अन्न जल के भक्षण करने से रंचमात्र भी मेरी

तृप्तिमेंआदिभक्षणैः । किन्तुनित्यंप्रवर्द्धेते तीव्र क्षुत्तृट्कुवेदने ॥ २७ ॥ यथेन्धनचयैरग्निः समुद्रश्च नदीशतैः । तृप्ति नैति तथा जीवः कामभोगैः प्रमातिगैः ॥ २८ ॥ कांक्षितो मूर्च्छितो रोगी कामभोगैश्चमानसे । नित्यं कलुषितोभूतो भुंजानोऽपिकुमार्गगः ॥ २६ ॥ भोगान् दुष्परिणामेनश्वभ्रदुःखनिवन्धनम् । दुरन्तं पापसन्तापंवध्नाति केवलं वृथा ॥ ३० ॥ आहारस्य निर्मित्तेन नरकं यान्ति सप्तमम् । मत्स्यायदि ततो नूनमाहारोनर्थसागरः ॥३१॥ पूर्वं कृततपोभ्यासश्चानिदानः शिवाप्तये । पश्चाद्धूतकषायो यो जित्वासर्वान् परीषहान् ॥ ३२ ॥ क्षुत्तृषादिभवां-स्तीव्रान् साधयेन्मरणोत्तमम् । धन्यःसएवलोकेऽस्मिन्सार्थंतस्यतपोखिलम् ॥ ३३ ॥ पूर्वंकृततपोघोराः प्रतिपालितसद्व्रताः । पश्चात्कर्मगुरुत्वेनक्षुधाद्यतिपरीषहैः ॥ ३४ ॥ ये पतन्तिम्वधैर्यदिमृत्युकाले भवार्णवे । मज्जनंनिश्चितं तेषां

तृप्ति नहीं हुई है किंतु ये भूख प्यास की दोनों कुवेदनाएं प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं ॥२७॥ जिस प्रकार ईंधन के समूह से अग्नि तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रमाण से अधिक काम भोगों का सेवन करने पर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता ॥२८॥ यह जीव अपने मन में काम भोगों के ही कारण अनेक पदार्थों की इच्छायें करता है मूर्छित होता है रोगी होता है तथा वह कुमार्गगामी भोगों को नहीं भोगता हुआ भी सदा कलुषित परिणामों को धारण करता है उस कलुषितरूप अशुभ परिणामों के कारण व्यर्थ ही नरक के महा दुःखों के कारण और अत्यंत कठिन ऐसे अनेक पाप कर्मों का बंध करता है ॥२६–३०॥ देखो इस आहार के ही निमित्त से बड़े बड़े मत्स्य सातवें नरक तक पहुँचते हैं इसलिये कहना चाहिये यह आहार ही अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥३१॥ जिन्होंने पहले बहुत से तपश्चरण का अभ्यास किया है, तथा कभी निदान किया नहीं है और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन्होंने कषायों को नष्ट कर भूख प्यास आदि से होने वाली समस्त तीव्र परीषहों का सहन किया है तथा अंत में जिन्होंने उत्तम पंडितमरण सिद्ध कर लिया है वे ही मुनि इस संसार में धन्य हैं और उन्हीं का समस्त तपश्चरण सार्थक है ॥३२–३३॥ जिन्होंने पहले घोर तपश्चरण किये हैं और श्रेष्ठ व्रतों का अच्छी तरह पालन किया है परंतु पीछे कर्मों के तीव्र उदय से क्षुधादिक कठिन परीषहों के कारण मरण के समय में अपने धैर्य से गिर जाते हैं वे इस संसाररूपी

वृथातपोयमादिकम् ॥ ३५ ॥ इत्यादिचिन्तनैरेभीत्रासेभ्यः शुद्धचेतसा । सहतेपरयाशक्त्यात् धातृपादिवेदनाम् ॥३६॥ शुष्काधरोदरस्यास्यक्षीणगात्रस्ययोगिनः । चर्मास्थिमात्रशेषस्यकाठिन्यसस्तरेण च ॥ ३७ ॥ उत्पद्यतेमहादुःखयद्येष-मानसे तदा । चिन्तयेत्प्राक्तनस्वस्य भवभ्रमणमंजसा ॥ ३८ ॥ अहोजलस्थलाकाशेकंटकादिभवासुवि । प्राग्भवे वसता भुक्तामहतीवेदनामया ॥ ३९ ॥ वज्रकंटकसंकीर्णेश्वभ्रे परवशेन भोः । स दुःखंवसितंपापचिरकालमयविधे ॥ ४० ॥ कियन्मात्रा ततोत्रेयंवेदनासंस्तरादिजा । विचिंत्येति सदुःखंसहतेसस्तरोद्भवम् ॥ ४१ ॥ इत्यादिसद्विचारार्घ्यैर्ध्यानै-र्धर्मशतैः परैः । परमेष्ठिपदध्यानैरनुप्रेक्षार्थचिन्तनैः ॥ ४२ ॥ आगमामृतपानैश्च तर्पयित्वानिजंमनः । स्वस्थं कुर्यात्स

समुद्र में अवश्य डूबते हैं तथा उनका तप यम आदि सब व्यर्थ समझा जाता है ॥३४–३५॥ इस प्रकार शुद्ध हृदय से चिंतवन करता हुआ वह यति कभी क्षुब्ध नहीं होता और अपनी परम शक्ति प्रगट कर क्षुधा तृषा आदि परीषहों को सहन करता है ॥३६॥ जिसके ओठ पेट सब सूख रहे हैं, जिसका शरीर अत्यंत क्षीण हो रहा है और केवल हड्डी चमड़ा ही बाकी रह गया है ऐसे उस क्षपक योगी को कठिन सांथरे का महा दुःख उत्पन्न होता है उस समय उसको अपने हृदय में पहले किये हुए संसार के परिभ्रमण का चिंतवन करना चाहिये ॥३७–३८॥ उसको चिंतवन करना चाहिये कि देखो पहले भवों में मैंने जल स्थल आकाश और पर्वतों पर निवास किया है तथा उनसे उत्पन्न हुई अनेक महा वेदनाएं मैंने सहन की हैं ॥३९॥ कर्म के परवश हुए मैंने पापकर्म के उदय से वज्रमय काँटों से भरे हुए नरक में चिरकाल तक निवास किया है और वहाँ पर अनेक महा दुःख भोगे हैं ॥४०॥ फिर भला यह कठिन संस्तर से उत्पन्न हुई वेदना कितनी है यही चिंतवन कर वह क्षपक कठिन संस्तर से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों को सहन करता है ॥४१॥ तत्त्वों को जानने वाला वह क्षपक अपने आत्म ध्यान और समाधि के लिए ऊपर कहे अनुसार श्रेष्ठ विचारों को धारण कर, सैकड़ों उत्कृष्ट धर्मध्यानों को धारण कर परमेष्ठी के चरण कमलों का ध्यान कर अथवा परमेष्ठी के वाचक पदों का ध्यान कर वा अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन कर अथवा आगमरूपी अमृत का पान कर अपने मन को संतुष्ट करता है और उसको

तत्त्वज्ञः स्वात्मध्यानसमाधये ॥ ४३ ॥ निर्विकल्पमनाः ध्यानी चिदानन्दमयंपरम् । ध्यातुमारभतेचित्ते परमात्मानमजसा ॥ ४४ ॥ अस्मिन्नवसरे योगी क्षीणदेहपराक्रमः । बाह्ययोगंविधातुं सोऽशक्तः सन्नपि धीधनः ॥ ४५ ॥ योगमभ्यन्तरं सारं सर्वाराधनपूर्वकम् । एकचित्तेनमुक्त्यर्थं विधत्तेत्रनिरन्तरम् ॥ ४६ ॥ एतस्मिन्समयेदक्षोद्वादशांगाखिलागमम् । चित्ते चिन्तयितुं धीरः सोऽशक्तोपिमहामनाः ॥ ४७ ॥ सर्वसिद्धान्तमूलंयत्पदमेकंद्वयादिकम् । सारं तच्चिन्तयेद्युक्त्या प्रशस्तध्यानसिद्धये ॥ ४८ ॥ क्षीणगात्रे तदा तस्य दुर्व्याधिर्जायतेयदि । सोघपाकेनतद्धान्यै हीदं गृह्णाति चौषधम् ॥ ४९ ॥ जिनेन्द्रवचनं तथ्यं जन्ममृत्युजरान्तकम् । रोगक्लेशहरंयत्स्याद्विश्वदुःखक्षयंकरम् ॥ ५० ॥ ग्राह्यं तद्धिमयासारं रोगक्लेशार्तशान्तये । जन्मादिदाहनाशायसुधारसमिवोर्जितम् ॥ ५१ ॥ अस्मा

सब तरह से निराकुल बना लेता है ॥४२-४३॥ जिसका मन सब तरह के संकल्प विकल्पों से रहित है ऐसा ध्यान करने वाला वह क्षपक शीघ्र ही अपने मन में चितानंदमय सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का ध्यान करना प्रारंभ करता है ॥४४॥ जिसका शरीर और पराक्रम क्षीण हो गया है ऐसा वह बुद्धिमान योगी यदि उस समय बाह्य योग धारण करने में असमर्थ हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस योगी को एकाग्रचित्त से निरंतर समस्त आराधनाओं की आराधना पूर्वक सारभूत अभ्यंतर योग धारण करना चाहिये ४५-४६॥ यदि उस समय वह महामना धीर वीर चतुर क्षपक अपने मन में द्वादशांग श्रुतज्ञान को चितवन करने में समर्थ न हो तो उसको प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिए समस्त सिद्धांतों का मूलकरण और सारभूत ऐसा पंचपरमेष्ठी का वाचक एक पद का वा दो पद का युक्तिपूर्वक चितवन करना चाहिये ॥४७-४८॥ कदाचित् पापकर्म के उदय से उस समय उस क्षपक के क्षीण शरीर में कोई दुष्ट व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिए उस क्षपक को नीचे लिखे अनुसार औषधि ग्रहण करनी चाहिये अर्थात् नीचे लिखे अनुसार चितवन करना चाहिये ॥४९॥ उसे चिंतवन करना चाहिये कि इस संसार में भगवान जिनेन्द्रदेव के वचन ही तथ्य हैं वे ही जन्म मरण और बुढ़ापे को नष्ट करने वाले हैं, रोग और क्लेश को दूर करने वाले हैं और समस्त दुःखों को क्षय करने वाले हैं। अतएव रोग और क्लेशों के दुःखों को दूर करने के लिए और जन्ममरण का संताप शांत करने के लिए उत्कृष्ट अमृतरस के समान सारभूत जिनवचन मुझे ग्रहण करने चाहिये ॥५०-५१॥

द्रोगभवक्लेशाच्छरणंयामिसंप्रति । सर्वार्हत्सिद्धसाधूनांशरण्यानांजगत्सताम् ॥ ५२ ॥ केवलिप्रोक्तधर्मस्यशरण्यस्या- खिलापदि । तपोरत्नत्रयादीनां विश्वसातारिघातिनाम् ॥ ५३ ॥ यतो लोकोत्तमा ये ते विश्वमंगलकारिणः । शरण्या भव्यजीवानांममापिसन्तुसिद्धिदाः ॥ ५४ ॥ धीरत्वेनापि मर्तव्यं कातरत्वेन, वा यदि । कातरत्वं मुदा त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥ ५५ ॥ धीरत्वेनापिसोढव्यं रोगादिकर्मजं फलम् । कातरत्वेन वा पुंसां धीरत्वेन वरं च यत् ॥ ५६ ॥ शीलेनाप्यत्र मर्तव्यं निःशीलेनापिचेत्सताम् । निःशीलत्वं परित्यज्य शीलत्वे मरणवरम् ॥ ५७ ॥ इत्यादिचिन्तनैर्ध्यानै कुर्वन् स स्वननःस्थिरम् । ददाति जातुगन्तुं न मनाक्क्लेशार्तसन्निधिम् ॥ ५८ ॥ तदासोति

अब मैं इन रोगों से उत्पन्न हुए क्लेशों को शांत करने के लिए तीनों लोकों के सज्जनों को शरणभूत ऐसे समस्त अरहंत सिद्ध और साधुओं की शरण लेता हूं तथा समस्त आपत्तियों में शरणभूत ऐसे केवली भगवान के कहे हुए धर्म की शरण लेता हूँ और समस्त दुःखरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले तप और रत्नत्रय की शरण लेता हूं ॥५२—५३॥ क्योंकि संसार में ये ही लोकोत्तम हैं, ये ही समस्त मंगल करने वाले हैं और ये ही भव्य जीवों को शरण हैं। इसलिये ये सब मेरे लिये भी समस्त कार्यों की सिद्धि करें अथवा मुझे सिद्ध अवस्था प्रदान करें ॥५४॥ देखो मरना धीर वीरता के साथ भी होता है और कातरता के समय (रो रो कर) भी होता है। परंतु कातरता का त्याग कर धीरवीरता के साथ मरण करना अच्छा है इसी प्रकार रोग क्लेश कर्मों का फल धीरवीरता के साथ भी सहन किया जाता है और कायरता के साथ भी सहन किया जाता है परंतु कायरता को छोड़ कर धीरवीरता के साथ रोग वा क्लेशों को सहन करना मनुष्यों के लिए हितकारक है ॥५५—५६॥ इसी प्रकार शीलादिक व्रतों को धारण कर भी मरण होता है और बिना शील व्रतों को धारण किये ही भी मरण होता है परंतु सज्जन पुरुषों को निःशीलता का त्याग कर शील धारण कर मरना अच्छा ॥५७॥ उस क्षपक को इस प्रकार चिंतवन कर तथा ध्यान धारण कर अपने मन को स्थिर रखना चाहिये और अपने मन को क्लेश और दुःखों के समीप रंचमात्र भी नहीं जाने चाहिये ॥५८॥ उस समय यद्यपि वह क्षपक निरीह वृत्ति को धारण करता है तथापि वह किसी महा लोभ के लिए उद्यम करता

निरीहोऽपिमहालोभंकृतोधमः । उत्तमामुत्तमार्थांप्त्यैर्याचांकुर्यादिमांभुवि ॥ ५६ ॥ अर्हतांवीतमोहानामकायानां च या गतिः । पंचमीत्रिजगत्प्रार्थ्या सा मे भवतुशर्मणे ॥ ६० ॥ तीर्थेशसिद्धनिर्मोहयोगिनां ये परागुणाः । अनन्तज्ञानदृष्ट्याद्यास्ते मे सन्तुशिवाप्तये ॥ ६१ ॥ रत्नत्रययुता बोधिःसमाधिः शुक्लपूर्वकः । यावत्प्रास्याम्यहं मोक्षं तावन्मेस्तु भवेभवे ॥ ६२ ॥ अमीभिर्दुद्धराचारैः कृत्स्नदुष्कर्मणांक्षयः । चतुर्गतिजदुःखानां मे चास्तुमुक्तिहेतवे ॥६३॥ जिननाथजगत्पूज्य देहि त्वं सन्मृतिमम् । अधुना त्वद्गुणान्सर्वां स्त्वद्गतिंचाशुभक्षयम् ॥ ६४ ॥ मृत्यवस्थां क्रमादाप्य परमेष्ठ्याख्यसत्पदान् । पचैवात्रजपेद्वाचासचैकद्व्यादिसत्पदम् ॥ ६५ ॥ यदि तान् जपितुं योगी सोऽसमर्थोगिरा तदा । ध्यायेत्पंचनमस्कारांश्चेतसापरमेष्ठिनाम् ॥ ६६ ॥ इत्यादिसर्वयत्नेनध्यायन् जपन्पदोत्तमान् ।

है और इसीलिए वह उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए नीचे लिखे अनुसार सबसे उत्तम याचना करता है ॥५६॥ वह याचना करता है कि भगवान वीतराग अयोगकेवली अरहंतदेव की जो तीनों लोकों के द्वारा प्रार्थनीय पंचम गति होती है वही सुख देने के लिए मुझे प्राप्त हो। भगवान तीर्थंकर परमदेव, भगवान सिद्ध परमेष्ठी और मोह रहित मुनियों जो अनंतज्ञान अनंतदर्शन आदि उत्तम गुण हैं वे सब मोक्ष प्राप्त होने के लिए मेरे आत्मा में प्रगट हों ॥६०–६१॥ जब तक मैं मोक्ष प्राप्त न कर लूं तब तक मुझे भवभव में रत्नत्रय सहित बोधि की प्राप्ति होती रहे और शुक्लध्यान पूर्वक समाधि की प्राप्ति होती रहे ॥६२॥ मैंने जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये कठिन कठिन तपश्चरण किये हैं उनके फल से मेरे समस्त कर्मों का नाश हो तथा चारों गतियों के समस्त दुःखों का नाश दो ॥६३॥ हे जिननाथ ! हे जगत्पूज्य ! आप मुझे इस समय श्रेष्ठ मरण देवें, अपने सब गुण देवें, अपनी सब सद्गति देवें और मेरे सब अशुभों को नाश करें। इस प्रकार उस क्षपक को चिंतवन करना चाहिये ॥६४॥ इस प्रकार चिंतवन करते हुए उस क्षपक की यदि मृत्यु अवस्था अत्यंत समीप आजाय तो उसे अपने वचन से परमेष्ठी के वाचक पाँचों श्रेष्ठ पदों का जप करना चाहिये अथवा किसी भी एक दो पद का जप करना चाहिये ॥६५॥ यदि वह योगी उन परमेष्ठी के वाचक पदों को उच्चारण पूर्वक जप करने में असमर्थ हो जाय तो उसको अपने हृदय में ही पंचपरमेष्ठी के वाचक पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करना चाहिये ॥६६॥ इस प्रकार शल्य

कुर्वन् वा स्वात्मनोध्यानंशृण्वन्निर्यापकास्यजान् ॥ ६७ ॥ सारधर्माक्षरान् ध्यानी निःशल्योनिर्भयः सुधीः । ध्यानाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यां त्यजेत्प्राणान्समाधिना ॥ ६८ ॥ ततोसौ शुद्धिमापन्नोऽहमिन्द्रपदमूर्जितम् । नाकं सर्वार्थसिद्धिं वा गच्छेत्सन्मृतिसाधनात् ॥ ६९ ॥ सन्यासोत्थ सुधर्मेणसुदेवनृगतीसुखम् । महत्त्रिभवपर्यन्तसुरेशचक्रिभूतिजम् ॥७०॥ भुक्त्वाहत्वास्यकर्माणि तपसायान्तिनिर्वृतिम् । पण्डिता मुनयः प्राप्यह्यष्टौसिद्धगुणान्परान् ॥ ७१ ॥ जघन्याराधना येषां तेऽपि भुक्त्वा परंसुखम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तद्विगतौयान्तिनिर्वृतिम् ॥ ७२ ॥ इतिज्ञात्वा फलं सारं मरणस्योत्तमस्य च । साधयन्तुविदोयत्नाच्छिवायमरणोत्तमम् ॥ ७३ ॥ यदिसर्पविषाद्यैश्च चोपसर्गैर्नृपादिजैः । मरणं जायते

रहित, भय रहित, ध्यान करने वाले उस बुद्धिमान् चपक को ऊपर लिखे अनुसार सब तरह के प्रयत्न पूर्वक पंच परमेष्ठी के वाचक उत्तम पदों का जप करते हुए, ध्यान करते हुये, वा अपने आत्मा का ध्यान करते हुये अथवा उन निर्यापकाचार्य के मुख से निकले हुए सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण कर समाधि पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करना चाहिये ॥६७—६८॥ तदनंतर अत्यंत शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ वह चपक श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध कर लेने के कारण उत्कृष्ट अहमिंद्र पद प्राप्त करता है वा सर्वार्थ सिद्धि में उत्पन्न होता है अथवा स्वर्गों में उत्तम देव होता है ॥६९॥ इस समाधिमरण से उत्पन्न हुये श्रेष्ठ धर्म से विद्वानों को वा मुनियों को उत्तम देव गति वा उत्तम मनुष्यगति में सर्वोत्तम सुख मिलते हैं तथा तीन भव तक वे इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूतियों का अनुभव कर अंतमें अपने तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और सिद्धों के आठों परमगुणों को प्राप्त कर लेते हैं ॥७०—७१॥ जो भव्य जीव जघन्य रीति से आराधनाओं की आराधना करते हैं वे भी सात आठ भव तक परम सुखों का अनुभव करते हैं और अंतमें कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥७२॥ इस प्रकार उत्तममरण का ऐसा अच्छा फल समझ कर विद्वान् लोगों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक उत्तम मरण को सिद्ध करना चाहिये ॥७३॥ यदि सर्प काट ले वा विष भक्षण कर ले वा राजा आदि का घोर उपसर्ग

स्वस्य ससन्देहं तदासुधीः ॥ ७४ ॥ समासेन जगज्जन्तून् क्षमयित्वा स्वमानसे । कृतकारितदोषादीनविनिंद्यनिन्दनादिभिः ॥ ७५ ॥ भूत्वासर्वत्रनिःशल्योनिर्ममत्वंविधाय च । सन्यासंद्विविधंहीदंगृह्णातिशिवसिद्धये ॥ ७६ ॥ अस्मिन्देशेऽवधौकाले यदि मे प्राणमोचनम् । तदास्तु जन्मपर्यन्तंप्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥ ७७ ॥ जीविष्यामिकचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात् । करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये ॥ ७८ ॥ यदि नीरं विनाप्रत्याख्यानमादातुमिच्छति । तदा समाधयेस्वस्येदंप्रत्याख्यानमाचरेत् ॥ ७९ ॥ प्रत्याख्यामि विना नीरं चतुर्धाहारमामृतौ । अन्तर्बाह्योपधीन् सर्वान् सावद्यं त्रिविधेन च ॥ ८० ॥ यः कश्चिदुपधिर्मेत्रवाह्योवाभ्यन्तरोऽशुभः । तमाहारं शरीरं च यावज्जीवं

आ जाय और अपने मरने में सन्देह हो जाय तो उस बुद्धिमान को संक्षेप से ही अपने मन में संसार के समस्त प्राणियों को क्षमा कर देना चाहिये, तथा कृत कारित अनुमोदना से हुए समस्त दोषों की निंदा गर्हा के द्वारा आलोचना करनी चाहिये तथा सर्वत्र शल्यरहित ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए नीचे लिखे अनुसार दोनों प्रकार का सन्यास धारण करना चाहिये ॥७४–७६॥ उसको पहला सन्यास तो इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जाँय तो मेरे जन्म पर्यंत चारों प्रकार के आहार का त्याग है। तथा दूसरा सन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिये कि यदि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊंगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिए इतने काल के बाद अवश्य ही पारणा करूंगा ॥७७–७८॥ यदि वह क्षपक उस समय पानी को रखना चाहता है पानी को छोड़ कर बाकी का त्याग करना चाहता है तो उसे अपनी समाधि धारण करने के लिए नीचे लिखे अनुसार प्रत्याख्यान वा त्याग करना चाहिये ॥७९॥ मैं अपने मरण पर्यंत पानी को छोड़ कर बाकी के चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूं तथा मैं मन वचन काय से अंतरंग और वाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग करता हूं और समस्त पापों का त्याग करता हूं। इस समय मुझसे संबंध रखने वाला जो अशुभ वाह्य और अभ्यंतर परिग्रह है मैं उसका जीवन पर्यंत तक के लिए त्याग करता हूं तथा जीवन पर्यंत ही आहार और शरीर का

त्यजाम्यहम् ॥ ८१ ॥ अथवा स्वस्यनिश्चित्यमरणं प्रागतं भुवि । प्रत्याख्यानमितिग्राह्यं दक्षैः सिध्यै चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥ एषोऽपि पूर्ववत्सर्वान् धर्मध्यानादिकान्परान् । स्वीकृत्य साधयित्वाशु चतुराराधनाः पराः ॥ ८३ ॥ समाधिना वपुस्त्यक्त्वासन्यासाज्जिनधर्मतः । सौधर्मादिसर्वार्थसिध्द्यन्तधर्मधीर्व्रजेत् ॥ ८४ ॥ इतिगणधरजातंपण्डिताख्यंप्रयत्नादनघमरणसारं साधयेद्यः स्वसिध्यै । सुरनरपतिसौख्यं प्राप्यमुक्त्यंगनां स श्रयति परमयोगात्कृत्स्नकर्माणिहत्वा ॥ ८५ ॥ मत्वेतीह बुधाप्रयत्नमनसास्वमुक्तिसंसिद्धये, कृत्वा सत्तपऊर्जितनिरुपमसार्द्धं समस्तैर्व्रतैः । जन्मान्तेकिलमाधयन्तुमरणसत्पण्डिताख्यपरं, स्याद्येनात्रनृजन्मसद्व्रततपःसर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥ ८६ ॥ विश्वार्च्या विश्ववन्द्या शिवसुखजननीधर्मरत्नादिखानी, सेव्यानित्यमुनीन्द्रैः सकलविधिहराअर्गलाश्वभ्रगेहे । सारा. सोपानमालाः

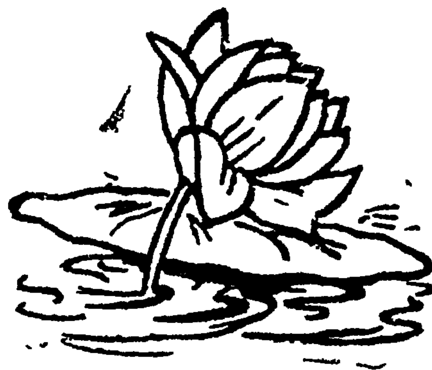
त्याग करता हूँ शरीर से ममत्व छोड़ता हूं ॥८०–८१॥ अथवा यदि अपने मरने का अवश्य निश्चय हो जाय तो चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिये ॥८२॥ इस क्षपक को भी पहले के समान उत्कृष्ट धर्मध्यानादिक सब धारण करने चाहिये चारों प्रकार की आराधनाओं को आराधन करना चाहिये और समाधिपूर्वक सन्यास से शरीर का त्याग करना चाहिये । इस प्रकार समाधिमरण करने वाला धर्मात्मा जिनधर्म के प्रसाद से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि तक उत्तम देवों में जन्म लेता है ॥८३–८४॥ इस प्रकार जो भव्य जीव अपने आत्मा की सिद्धि के लिए भगवान गणधरदेव के द्वारा कहे हुये पाप रहित और सारभूत इस पंडितमरण को प्रयत्न पूर्वक सिद्ध कर लेता है वह जीव इन्द्र और चक्रवर्तियों के सुख भोग कर तथा अंतमें परमयोग धारण कर समस्त कर्मों को नाश करता है और फिर मोक्षस्त्री को प्राप्त कर लेता है ॥८५॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को स्वर्ग मोक्ष सिद्ध करने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त व्रतों के साथ साथ उपमारहित ऐसा सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण करना चाहिये, तथा अंतमें सर्वोत्कृष्ट पंडितमरण को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे कि श्रेष्ठ व्रत उत्तम तप और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय ॥८६॥ यह चारों प्रकार की आराधनारूपी देवता तीनों लोकों में पूज्य है तीनों लोकों में वंदनीय है, मोक्ष सुख देने वाली है, धर्मरत्न की खानि है, श्रेष्ठ मुनिराज ही नित्य

सुरगृहगमनेसद्गुणग्रामधात्रीः, वन्देऽत्राराधनाप्त्यैजिनवरपददाराधनादेवता वै ॥ १८७ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेप्रत्याख्यानसंस्तरवर्णनो
नाम दशमोऽधिकारः ।

इसका सेवन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करने वाली है, नरक के घर को बंद करने के लिए बेंडा है, सबमें सार है, स्वर्ग की सीढ़ी है, अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाली है और तीर्थंकर पद को देने वाली है ऐसी इस आराधना को मैं आराधना प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१८७॥

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के
महाग्रंथ में प्रत्याख्यान संस्तर को वर्णन करने वाला
यह दशवां अधिकार समाप्त हुआ।



एकादशोधिकारः ।



सर्वशीलगुणाधारान्विश्वातिशयभूषितान् । वन्देऽर्हतइहामुत्रत्रिजगच्छर्मकारकान् ॥ १ ॥ अथवक्ष्ये समासेनशीलानिसकलान्यपि । गुणाश्चनिखिलान्युक्त्यासख्ययोत्तमयोगिनाम् ॥ २ ॥ त्रियोगा करणत्रेधा चतुः संज्ञाखपंच वै । दशपृथ्व्यादिकायाश्चधर्माःक्षमादयो दश ॥ ३ ॥ अन्योऽन्यं गुणिता एते योगाद्याः श्रुतकोविदैः । अष्टादशसहस्राणिशीलानिस्युर्महात्मनाम् ॥ ४ ॥ मनोयोगोवचोयोग. काययोगोऽशुभाश्रितः । योगानांयानिपापा–

ग्यारहवां अधिकार ।

जो भगवान अरहंतदेव समस्त शील और समस्त गुणों के आधार हैं, जो समस्त अतिशयों से विभूषित हैं और इस लोक तथा परलोक में तीनों जगत के जीवों का कल्याण करने वाले हैं उन भगवनान अरहंतदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ अब मैं उत्तम योगियों के लिए युक्ति और संख्या पूर्वक समस्त शीलों को कहता हूँ और समस्त गुणों को कहता हूँ ॥२॥ तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, "पृथ्वीकायिक आदि दश प्रकार के जीव और उत्तम क्षमादिक दशधर्म इन सब योगादिकों को परस्पर गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं ये ही महात्माओं के शील हैं ऐसा, श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादिक देव कहते हैं ॥३–४॥ शुभ मनोयोग. शुभ वचनयोग, और शुभ काययोग ये तीन तो योग कहलाते हैं तथा उन योगों के द्वारा जो पुण्य पाप रूप क्रिया

द्विक्रियाप्रवर्तकानि च ॥ ५ ॥ तानित्रिकरणान्यत्रोच्यन्ते करणरोधनैः । अभ्यस्तास्तेत्रयोगानवभेदा भवन्ति वै ॥६॥ आहारभयसंज्ञे संज्ञे मैथुनपरिग्रहे । चतुरश्चादिसंज्ञानां चतुर्धाविरतो त्रयः ॥ ७ ॥ क्रियन्तेमुनिभिस्ताभिश्चतुर्भिर्गुणिता नव । भेदाभवन्तिशीलस्य षट्त्रिंशत्संख्यकाःसताम् ॥ ८ ॥ स्पर्शाक्षरसनघ्राण चक्षुःश्रोत्रनिवारणैः । षट्त्रिंशद्गुणिता भेदाः स्युरशीत्यधिकशतम् ॥ ९ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायिकाःभुवि । द्वित्रितुर्येन्द्रियाःपंचाक्षाश्चेतिदशधांगिनः ॥ १० ॥ अमीषां रक्षणान्यत्र विधीयन्तेमुनीश्वरैः । यत्नेनयानि तानिस्युर्दशशीलानि धीमताम् ॥११॥ दशभिर्गुणितं चैतेयुक्त्याशीत्यधिकंशतम । अष्टादशशतान्युत्पद्यन्तेशीलानियोगिनाम ॥ १२ ॥ उत्तमाद्याक्षमामार्दवं सारं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहत्संयमस्तपस्त्यागऊर्जितः ॥ १३ ॥ आकिंचन्योत्तमोब्रह्मचर्यंदशविधः परः ।

होती है उनको यहाँ पर तीन करण कहते हैं । यदि उन मन वचन काय की होने वाली क्रियाओं को करणों को रोक दिया जाय तो योगों के नौ भेद हो जाते हैं ॥५–६॥ आहार भय मैथुन और परिग्रह ये संज्ञा के चार भेद हैं इनका त्याग करना अर्थात् आहार संज्ञा का त्याग करने के लिये अन्नादिक का त्याग कर देना भय के त्याग के लिये परिग्रह नहीं रखना, मैथुन के त्याग के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना और परिग्रह के त्याग के लिये ममत्व छोड़ना संज्ञाओं का त्याग है । ऊपर कहे हुए योग निरोधों के नौ भेदों से इन चार के साथ गुणा करने से शील के छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥७–८॥ स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कहलाती हैं । इनको वश में करना इन्द्रियों का त्याग है । इसलिये छत्तीस से इन पाँचों को गुणा करने से शील के एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं ॥९॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक साधारण वनस्पतिकायिक दोइन्द्रिय तेन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकार के जीव हैं । मुनिराज इन दशों प्रकार के जीवों की रक्षा प्रयत्न पूर्वक करते हैं । इसलिये ये दश भेद भी शील के ही गिने जाते हैं । ऊपर जो शील के एकसौ अस्सी भेद बतलाये हैं उनसे इन दश के साथ गुणा कर देने से शील के अठारहसौ भेद हो जाते हैं ॥१०–१२॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य

एषधर्मो जगत्पूज्यः श्रमणानां शिवप्रदः ॥ १४ ॥ दशभिर्गुणितान्येभि अष्टादशशतानि च । अष्टादशसहस्राणि सन्ति शीलानियोगिनाम् ॥ १५ ॥ इत्यादिगणनाभिश्च जायन्ते व्रतधारिणाम् । सुशीलाना यतीशानां शीलानि निखिलान्यपि ॥१६॥ अष्टादशसहस्रप्रमाणान्यर्च्यानि नाकिभिः । निर्मलानीह त्रैलोक्ये नन्तशर्माकराणि वै ॥१७॥ शीलाभरणयुक्तांश्च त्रिजगच्छ्रीः स्वयंमुदा । वृणोत्येत्य जिनश्रीश्चमुक्तिरालोकतेमुहुः ॥ १८ ॥ प्रकम्पन्तेसुरेशानां शीलेनाग्रासतानि भोः । किंकराइवसेवन्ते पादान् शील जुषांसुरा ॥ १९ ॥ विघटन्ते सुशीलानां सर्वोपद्रवकोट्यः । निरर्गला भ्रमेत्कीर्तिश्चन्द्राशुवज्जगत्त्रये = २० ॥ जीवितव्यंदिनैकं च वरं शीलवतां भुवि । नि.शीलानां वृथा नून पूर्वकोटिशतप्रमम् ॥ २१ ॥ मत्वेतीमानिशीलानि सर्वाणि कृत्स्नयत्नतः । पालयन्तु बुधा मुक्त्यैदुर्लभान्यल्पचेत–

यह दश प्रकार का धर्म है । यह धर्म जगत्पूज्य है और मुनियों को मोक्ष प्रदान करने वाला है ॥१३–१४॥ ऊपर जो शील के अठारहसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश धर्मों के साथ गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं । ये सब मुनियों के शील कहलाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार की गणना से व्रतों को धारण करने वाले और शीलों को पालन करने वाले मुनिराजों के शीलों के सब भेद हो जाते हैं ॥१६॥ ये अठारह हजार शील इन्द्रों के द्वारा भी पूज्य हैं अत्यंत निर्मल हैं और तीनों लोकों में अनंत कल्याण करने वाले हैं ॥१७॥ जो महा पुरुष इन अठारह हजार शीलों से सुशोभित हैं उनको तीनों लोकों की संपदा प्रसन्नता के साथ स्वयं आकर स्वीकार करती है तथा भगवान जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी और मुक्तिरूपी लक्ष्मी बार बार उनको देखती है ॥१८॥ इन शीलों के प्रभाव से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा शील पालन करने वालों के चरण कमलों की देव लोग भी सेवक के समान सेवा करते रहते हैं ॥१९॥ शील पालन करने वालों के समस्त करोड़ों उपद्रव स्वयं नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा के समान उनकी निर्मल कीर्ति निरर्गल होकर तीनों लोकों में फैल जाती है ॥२०॥ शील पालन करने वालों का एक दिन भी जीना अच्छा परंतु विना शील के सैकड़ों करोड़ वर्ष भी जीना व्यर्थ है ॥२१॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न पूर्वक इन समस्त शीलों का पालन करते रहना चाहिये । जो छोटी बुद्धि को धारण करने वाले हैं उनके लिये

साम् ॥ २२ ॥ एकविंशतिहिंसाद्याश्चत्वारोतिक्रमारयः । शतपृथ्व्यादिकायाश्चदशब्रह्मविराधनाः ॥ २३ ॥ दशालोचनजा दोषा दशशुद्धिकरा इमे । अन्योन्यंवर्गिता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ २४ ॥ प्राणिहिंसामृपावादोऽदत्तादानं च मैथुनम् । संगः क्रोधोमदोमायालोभोभयोऽरतिस्ततः ॥२५॥ रतिस्तथाजुगुप्साथ मनोवाकाय चंचलाः । मिथ्यादर्शनमेवप्रमादः पैशून्यमेव हि ॥ २६ ॥ अज्ञानंसकलाक्षाणामनिग्रह इमेभुवि । एकविंशति दोषाःस्युर्नृणां दोषविधायिनः ॥२७॥ यैर्दयादिव्रताचारैर्विपरीताः कृता इमे । दोषागुणा हि तेषांस्युस्त्रिजगत्पूज्ययोगिनाम् ॥ २८ ॥ प्रतिक्रमणमेवैकं व्यतिक्रमण एव हि । अतीचारोप्यनाचारोदोषाश्चत्वारइत्यमी ॥ २९ ॥ व्रतादीनांप्रयत्नेनसहिता ये जितेन्द्रियाः । जायन्ते ते गुणास्तेषां व्रतादिधर्मवृद्धिदाः ॥ ३० ॥ गुणैश्चतुर्भिरेभिस्तेप्राग्गुणाएकविंशतिः । गुणाश्चतुरशीतिश्चभवेयुर्गुणिताः सताम् ॥ ३१ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायदेहिनः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तु

तो इन शीलों का पालन करना अत्यंत कठिन है ॥२२॥ हिंसादिक के इकईस भेद हैं, अतिक्रमणादिक के चार भेद हैं, पृथ्वीकायादि के सौ भेद हैं, ब्रह्मचर्य की विराधना के दश भेद हैं, आलोचना के दश दोप हैं और इनके त्याग को शुद्ध करने वाले दश गुण हैं। इन सबको गुणा करने से चौरासी लाख हो जाते हैं ॥२३-२४॥ प्राणियों की हिंसा करना १ झूंठ बोलना २ चोरी करना ३ मैथुन सेवन करना ४ परिग्रह रखना ५ क्रोध ६ मद ७ माया ८ लोभ ९ भय १० अरति ११ रति १२ जुगुप्सा १३ मन की चंचलता १४ वचन की चंचलता १५ काय की चंचलता १६ मिथ्यादर्शन १७ प्रमाद १८ पैशून्य १९ अज्ञान २० और पंचेन्द्रियों का निग्रह न करना ये समस्त दोपों को उत्पन्न करने वाले प्राणिहिंसादिक इकईस दोप हैं ॥२५-२७॥ यदि दया आदि व्रतों को पालन कर इन दोपों के विपरीत आचरण किये जॉय तो तीनों जगत के द्वारा पूज्य मुनियों के लिए वे ही सब गुण हो जाते हैं ॥२८॥ प्रतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार अतिक्रम आदि दोप कहलाते हैं। जो जितेन्द्रिय पुरुप इन दोपों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करने वाले वे गुण हो जाते हैं ॥२९-३०॥ पहले जो हिंसा का त्याग आदि इकईस गुण बतलाये हैं उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने से गुणों के चौरासी भेद हो जाते हैं ॥३१॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय,

येंन्द्रियाः पंचेन्द्रियादश ॥ ३२ ॥ इमे भेदा किलाभ्यस्ताःपृथ्व्याद्याः परस्परम् । शतभेदाभवन्त्यत्रदोषास्तेषाविराधनात् ॥ ३३ ॥ अमीषांसर्वयत्नेन रक्षणं ये प्रकुर्वते । तेषां सद्व्रतिनांदोषास्तावन्तःस्युगुणा हि ते ॥ ३४ ॥ गुणाश्चतुरशीतिस्तेशतेनानेनवर्गिताः । गुणाभवन्ति दक्षैश्चतुराशीतिशतप्रमाः ॥३५॥ स्त्रीसंसर्गोमहास्वादरसाद्याहारभोजनम् । गंधमाल्यादिसस्पर्शःकोमलशयनासनम् ॥ ३६ ॥ शरीरमण्डनं गीतवाद्यादिश्रवणं ततः । अर्थहेमादिसम्पर्कः कुशीलदुर्जनाश्रयः ॥ ३७ ॥ राजसेवाक्षसौख्यायरात्रिसचरणं वृथा । एते विराधनादोषाब्रह्मचर्यस्य वै दश ॥३८ ॥ त्रिशुध्या ये त्यजन्ते तान्दशदोषांस्तपस्विनः । जायन्तेसद्गुणास्तेषां दशैव व्रतशुद्धिदाः ॥ ३६ ॥ एतैर्दशविकल्पैश्चतुरशीतिशतान्यपि । गुणितानिसहस्राश्चतुरशीतिप्रमाणकाः ॥ ४० ॥ आकपितश्चदोषोनुमानितोऽदृष्टवादरौ ।

चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये दश जीवों के भेद होते हैं तथा इन दशों प्रकार के जीवों की विराधना के दश भेद हो जाते हैं इनको परस्पर गुणा कर देने से दश प्रकार के प्राणी और उनकी दश प्रकार की विराधना इन दोनों को परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते हैं ॥३२–३३॥ श्रेष्ठ व्रतों को धारण करने वाले जो मुनि प्रयत्न पूर्वक इन दशों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते रहते हैं और उनको दश प्रकार की विराधना से बचते रहते हैं उनके उत्तरगुणों के सौ गुण माने जाते हैं ॥३४॥ पहले उत्तरगुणों में चौरासी गुण बतला चुके हैं उनको इन सौ से गुणा कर देने से चौरासीसौ भेद हो जाते हैं ॥३५॥ स्त्रियों की संगति करना १ महा स्वादिष्ट सरस आहार का भोजन करना २ गंध माला आदि को सूंघना ३ कोमल शयन और आसन पर सोना बैठना ४ शरीर को सुशोभित बनाये रखना ५ गीत बाजे आदि का सुनना ६ सोना चाँदी आदि धन से संबंध रखना ७ कुशीली दुष्टों की संगति रखना ८ राजसेवा करना ९ और इन्द्रियों के सुख के लिये व्यर्थ ही रात्रि में घूमना १० ये दश ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले दोष हैं ॥३६–३८॥ जो तपस्वी मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दश गुण प्रगट हो जाते हैं ऊपर गुणों के चौरासीसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश को गुणा कर देने से गुणों के चौरासी हजार भेद हो जाते हैं ॥३९–४०॥ आकंपित, अनुमानित, अदृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन,

सूक्ष्मः प्रच्छन्नदोषोथशब्दाकुलितसंज्ञकः ॥ ४१ ॥ दोषो बहुजनोऽव्यक्तस्तत्सेवीति दशस्फुटम् । दोषा आलोचनस्यैव ज्ञेया एतेघकारकाः ॥ ४२ ॥ अमीषां दशदोषाणांयत्नेनत्यजनात्सताम् । उत्पद्यन्तेगुणाः शुद्धिकरोस्तावन्त एव हि ॥ ४३ ॥ एतैश्चतुरशीतिश्च सहस्रावर्गितागुणैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि ह्यष्टलक्षाधिकान्यपि ॥ ४४ ॥ आलोचनं त्रिशुध्याप्रतिक्रमणं च तद्द्वयम् । विवेकोथतनूत्सर्गस्तपश्च्छेदः स्वदीक्षया ॥ ४५ ॥ मूलं च परिहारोथश्रद्धानंदशसख्यकाः । प्रायश्चित्तस्य भेदा हि भवन्त्येतेविशुद्धिदाः ॥ ४६ ॥ विपरीता अमीदोषा जायन्तेत्रप्रमादिनाम् । सम्यगाचरिता नूनं गुणाः शुद्धिकराः सताम् ॥ ४७ ॥ एतैर्दशगुणैश्चत्वारिंशत्सहस्रसद्गुणाः । अष्टलक्षाधिका युक्त्याप्राक्तनागुणिता बुधैः ॥ ४८ ॥ लक्षाश्चतुरशीतिश्चभवेयुःपिण्डतागुणाः । सर्वदोपारिहतारोमुनीनां मुक्तिहेतवः ॥ ४९ ॥ एतैर्महागुणैर्यान्तित्रिजगत्पूज्यतापदम् । गणेशजिनचक्र्यादिभूतिं च गुणशालिनः ॥ ५० ॥ यथात्रैव

अव्यक्त, तत्सेवी ये दश पाप उत्पन्न करने वाले आलोचना के दश दोष हैं ॥४१–४२॥ जो सज्जन पुरुष प्रयत्नपूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दश गुण प्रगट हो,जाते है ॥४३॥ ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके हैं उनके साथ इन दश का गुणा कर देने से आठ लाख चालीस हजार गुण हो जाते हैं ॥४४॥ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना दोनो करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षा का छेद, मूल परिहार और श्रद्धान ये दश समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाले प्रायश्चित्त के भेद होते हैं ॥४५–४६॥ यदि इन प्रायश्चित्तों के विपरीत आचरण किया जाय तो ये ही दश दोष हो जाते हैं तथा ये दोष प्रमादियों को अवश्य लगते हैं। यदि इन्हीं प्रायश्चित्तों के भेदों को अच्छी तरह पालन किया जाय तो सज्जनों के व्रतों को शुद्ध करने वाले ये ही दश गुण हो जाते हैं ॥४७॥ ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणों के भेद बतलाये हैं उनके साथ इन दश से गुणा कर देने से चौरासी लाख गुण हो जाते है। ये सब गुण मुनियों के समस्त दोष रूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं और मुक्ति के कारण हैं ॥४८–४९॥ जो महा पुरुष इन गुणों को धारण कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं वे पुरुष इन गुणों के महात्म्य से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य पद को प्राप्त होते हैं और गणधर तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि की महा विभूति को प्राप्त होते हैं ॥५०॥ जो पुरुष इन उत्तम गुणों को धारण करते हैं उनका इस लोक में यश फैलता है,

ममदूषणम् ॥ ६६ ॥ न मारयतिमां मे न किंचिद्गृह्णातिसद्गुणम् । इत्यादिचिन्तनैस्तेन सोढव्यनिन्दनादिकम् ॥६७॥ यदि कश्चित्परोक्षेणमुनिमाक्रोशतिक्रुधा । तदेति मुनिना ध्येयंक्रोधाग्निजलदोपमम् ॥ ६८ ॥ आक्रोशति परोक्षेयं प्रत्यक्षे मां न पापधीः । लाभोस्मान्मम मत्वेतिक्षतव्यं तेन तत्कृतम् ॥ ६९ ॥ वाक्रोशतियतिं कश्चित्प्रत्यक्षेण दुरात्मकः । तदेतिचिन्तनीयंसन्मुनिना कोपनाशकम् ॥ ७० ॥ ददाति केवलमेयगालीं हन्ति न मां शठ । गालीभिः किं व्रणान्यत्र जायन्तेमेऽशुभानि वा ॥ ७१ ॥ अतोत्रामुत्रहानिश्चास्यैवनिन्दनतो न मे । विचिन्त्येतिस्वंमौनेन सोढव्यं तेन दुर्वचः ॥ ७२ ॥ अथवायथधीःकश्चित्साधुं ताडयतिक्रुधा । तदेत्थ साधुना चित्ते चिन्तनीयंक्षमा-

तो नहीं है अथवा मेरे श्रेष्ठ गुणों को तो ग्रहण नहीं करता अथवा नहीं छीनता इस प्रकार चितवन कर उन मुनियों को अपनी होने वाली निंदा को सहन करना चाहिये ॥६५–६७॥ यदि कोई दुष्ट पुरुष क्रोध में आकर परोक्ष में किसी मुनि को गाली देता हो वा कड़वे बुरे वचन कहता हो तो क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान उन मुनि को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह पापी परोक्ष में ही मुझे गाली देता है प्रत्यक्ष में आकर तो गाली नहीं देता मेरे लिये यही बड़ा लाभ है। यही समझ कर उन मुनियों को उस दुष्ट का अपराध क्षमा कर देना चाहिये ॥६८–६९॥ यदि कोई दुरात्मा प्रत्यक्ष में ही आकर किसी मुनि को गाली देवे तो उस मुनि को क्रोध को नाश करने वाला इस प्रकार का चितवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे गाली ही देता है मुझे मारता तो नहीं है गाली से मेरे घाव थोड़े ही हुए जाते है अथवा मेरी कुछ हानि थोड़ी ही होती है। यदि वास्तव में देखा जाय तो मेरी निंदा करने से इस लोक में भी इसकी हानि होती है और परलोक में भी इसकी हानि होती है। इसमे मेरी कुछ हानि नहीं होती इस प्रकार चिंतवन कर और मौन धारण कर उन मुनिराज को उस दुष्ट के दुर्वचन सहन कर लेने चाहिये ॥७०–७२॥ यदि कोई मूर्ख क्रोध में आकर किसी साधु को ताड़ना करे मारे तो उन मुनिराज को अपने चित्त में क्षमा की खानिरूप ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारता ही है मेरे प्राणों का हरण तो नहीं करता अतएव इसमें मेरा

करम् ॥ ७३ ॥ हन्त्येवायंकुधीर्मां भत्प्राणान् हरतिनांजसा । अस्मान्मे लाभएवात्रनचहानिरघक्षयात् ॥ ७४ ॥ वात्रायंवधबंधार्यैमें पापं हरतिस्फुटम् । नच पुण्यमतोऽस्यैवहानिर्वृद्धिर्ममोर्जिता ॥ ७५ ॥ अथत्रामद्रिपुश्चायंप्राग्भवे ताडितो मया । ततो मां ताडयत्यत्रदोषोमेऽस्य न जातुचित् ॥ ७६ ॥ प्राग्भवे वा कृतं कर्म यत्तान्मयैवभुज्यते । निमित्तामात्रमत्रेमं मन्ये दुःखादिकारकम् ॥ ७७ ॥ मदीयमपिचेच्चित्तं व्रजेत्क्रोधाग्निसन्निधिम् । अज्ञस्यास्यविदोमेत्र कोविशेषस्तदापृथक् ॥ ७८ ॥ क्रोधहालाहलाक्रान्तंनिर्विषीकर्तु मक्षमः । अहं यदि कथं क्रोधविषं पिवामिमात्म-तम् ॥ ७९ ॥ अभ्यस्तो यः शमः पूर्वं बहुकष्टैर्मयाधुना । वैफल्यं तस्य जायेत यदि कोपं करोम्यतः ॥ ८० ॥

लाभ ही है मेरी हानि कुछ नहीं है मेरे तो इसमें पाप नष्ट होते हैं असाताकर्मों की निर्जरा होती है ? इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये। अथवा इस प्रकार चिंतवन करना चाहिए कि यह मूर्ख मुझे मार कर वा बाँध कर मेरे पापों का हरण करता है मेरे पुण्य को तो हरण नहीं करता ? इसलिए ऐसा करने में इसकी तो हानि है और मेरे लिये लाभ है। अथवा उस मुनिराज को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह मेरे पहले भव का शत्रु है मैंने पहले भव में इसको मारा होगा इसलिए यह इस भव में मुझे मारता है यह तो मेरा ही दोष है इसमें इसका क्या दोष है ॥७३–७६॥ अथवा उन मुनिराज को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मैंने पहले भवों में जो कर्म किए हैं वे मुझे ही भोगने पड़ेंगे। यह प्राणी तो उन कर्मों के उदय से होने वाले दुःखों में केवल निमित्त कारण है। मुख्य कारण तो मेरे ही कर्मों का उदय है। यदि इस समय मेरे हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो आवे तो फिर इस मूर्ख मे और मुझ ज्ञानी में अलग अलग विशेषता क्या होगी फिर तो दोनों ही समान हो जाँयगे ॥७७–७८॥ यदि मैं क्रोधरूपी महा विष से अक्रांत हुए इस पुरुष को निर्विष करने में समर्थ नहीं हूं अर्थात् यदि मैं इसका क्रोधरूपी विष दूर नहीं कर सकता हूं तो फिर मैं इस समय क्रोधरूपी विष का पान क्यों करूं ॥७९॥ यदि मैं इस समय क्रोध करता हूँ तो मैंने पहले अनेक कष्ट सहन कर जो उपशम रूप (अत्यंत शांत) परिणामों का अभ्यास किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥८०॥ इस प्रकार चिंतवन

लभन्तेहोयशःसत्कारपूजनम् । नमस्कारस्तवादीनिगुणिनश्चपदेपदे ।। ५१ ।। तथाहमिन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्रादिपदानि च । प्राप्यामुत्रश्रयन्ते ते पूजास्तुतिशतानि च ।। ५२ ।। गुणाःसर्वत्रपूज्यन्तेदक्षैःसत्पुरुपाश्रिताः । निर्गुणा नच लोकेस्मिन् सत्कुलादियुताश्रपि ।। ५३ ।। इहामुत्र च जीवन्तिजीवन्तो वा मृताः स्फुटम् । गुणितोगुणिसयोगाज्जगद्विख्यात-कीर्तितः ।। ५४ ।। जीवन्तोपिमृताज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमाः । दृक्तपोज्ञानवृत्तादिगुणहीना. कुकीर्तितः ॥ ५५ ॥ मत्वेति धीधनानित्यं पालयन्तुगुणोत्तमान् । गुणिनां पदससिध्यै दृगाद्यान्यत्नतोभुवि ॥ ५६ ॥ अथधर्मं प्रवक्ष्यामि दशभेदं सुखाम्बुधिम् । साक्षान्मुक्तिपरींगन्तुं पाथेयंपथि योगिनाम् ॥ ५७ ॥ आद्यात्तमोत्तमा श्रेष्ठं मार्दव

लोग पद पद पर उनका आदर सत्कार करते हैं उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं ॥५१॥ तथा इसी प्रकार परलोक में भी अहमिंद्र, देवेन्द्र, नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम पद उनको प्राप्त होते हैं और वहाँ पर भी सैकड़ों बार उनकी पूजा होती है और सैकड़ों बार उनकी स्तुति होती है ॥५२॥ सत्पुरुषों के आश्रित रहने वाले गुण विद्वान पुरुषों के द्वारा सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो पुरुष निर्गुण होते हैं वे चाहे कितने ही अच्छे कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों तथापि उनकी पूजा कोई नहीं करता ॥५३॥ गुणी पुरुष उन गुणों के निमित्त से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल जाती है। इसलिये वे इस लोक में भी जीते हैं और परलोक में भी जीते हैं। वे मर जाने पर भी सदा जीवित ही रहते हैं ॥५४॥ जो पुरुष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप आदि गुणों से रहित हैं उनकी अपकीति चारों ओर फैल जाती है इसलिये वे जीवित रहते हुए भी सुगंध रहित पुष्प के समान मरे हुए के समान समझे जाते हैं ॥५५॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को गुणियों का पद प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुणों को प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक पालन करते रहना चाहिये ॥५६॥ अथानंतर—अब आगे दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप कहते हैं। ये दश प्रकार के धर्म मुनियों के लिये सुख के समुद्र हैं और मोक्षरूपी नगर में जाने के लिए मार्ग का साक्षात् पाथेय हैं मार्ग व्यय हैं ॥५७॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव. उत्तम शौच,

चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहान् संयमस्तपस्त्यागसत्तमः ॥ ५८ ॥ आकिंचन्यं परं ब्रह्मचर्यंसल्लक्षणान्यपि । इमानि धर्ममूलानि श्रमणानां दशैव हि ॥ ५६ ॥ मिथ्यादृक्शत्रुदुष्टाद्यैःकृतेसत्यत्युपद्रवे । अपकीर्तिभयादिभ्यः सह्यतेताडनादिकम् ॥६०॥ संयतैरिह लोकार्थं न परमार्थसिद्धये । यत्सा क्षमोच्यते सद्भिः सामान्यपुरुषाश्रिता ॥६१॥ आस्यदृष्टिविषध्यादीनांसमर्थेत्रसत्यपि । केवलंकर्मनाशायसह्यते यो महात्मभिः ॥ ६२ ॥ प्राणनाशकरोघोरोपसर्गो दुर्जनैः कृतः । उत्तमाख्याक्षमासोक्ताधर्मरत्नखनीपरा ॥ ६३ ॥ स्वदोषगुणाचिन्ताद्यैः प्रत्यक्षादिविचिन्तनैः । विचार चतुरैः कार्यासर्वत्रैका क्षमापरा ॥ ६४ ॥ यदिकश्चित्कुधीः कुर्यात्साधोर्निन्दां तदायमी । हृदीतिचिन्तयेद्दे-तेदोषाःसन्ति न वा मयि ॥ ६५ ॥ विद्यते यदिदोषोमे नचास्यासत्यभाषणात् । दोषाभावेथवाऽज्ञानाद्वक्त्येष

उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य उत्तम ब्रह्मचर्य यह मुनियों के दश धर्म हैं और समस्त धर्मों का मूल हैं ॥५८–५६॥ यदि कोई मिथ्यादृष्टी, शत्रु वा दुष्ट लोग किसी मुनि पर घोर उपद्रव करें उनकी अपकीर्ति करें उन्हें भय दिखलावें वा ताड़नादिक करें तो जो मुनि केवल इस लोक के लिए उसको सहन करते हैं परलोक के लिये सहन नहीं करते उसको सज्जन पुरुष सामान्य पुरुषों के आश्रित रहने वाली क्षमा कहते हैं ॥६०–६१॥ परंतु जो मुनि उसी विष ऋद्धि दृष्टि विष ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होने पर भी केवल कर्मों को नाश करने के लिए दुष्टों के द्वारा किये हुये प्राणों को नाश करने वाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं उन महात्माओं के के धर्मरत्न की खानि ऐसी सर्वोत्तम उत्तम क्षमा होती है ॥६२–६३॥ अपने गुण दोषों को चिंतवन कर अथवा प्रत्यक्ष परोक्ष के गुण दोषों को चितवन कर विचारशील चतुर पुरुषों को सर्वत्र एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये ॥६४॥ यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधु की निंदा करता हो तो उस समय उस साधु को अपने मन में विचार करना चाहिये कि मुझ में ये दोष हैं वा नहीं। यदि मुझ में ये दोष हैं तो इसका कोई दोष नहीं है क्योंकि यह तो सत्य भाषण कर रहा है। यदि अपने में ये दोष न हों तो उनको विचार करना चाहिये कि यह अपने अज्ञान से मेरे दोषों को कहता है मुझे मारता

इत्यादिचिन्तनैश्चित्तस्थिरीकृत्याशुसाधुना । सोढव्यं निखिलंलोके ताडनं दुर्जनोद्भवम् ॥ ८१ ॥ यदि कश्चिद्दुरूषेः– प्राणान् गृह्णातिश्वभ्रनायकः । ऋषिणेदं तदा चिन्तनीयंकोपाग्नि नीरदम् ॥ ८२ ॥ आदत्तेयं ममप्राणान् नच धर्मं शिवप्रदम् । अस्माद्बालाद्धि मे लाभो न हानिर्धर्मवर्द्धनात् ॥ ८३ ॥ जरा जर्जरितकायहत्वादिव्यंगुणाकरम् । वपुदत्तो वधार्थे मे कथं स न सुहृद्वरः॥ ८४ ॥ वधार्थैः पापकर्मभ्योथद्यय मा न मोचयेत् । तदामोक्षः कुतस्तेभ्यो– मेस्मादेषहितकरः ॥८५॥ कारागारनिभात्कायान्मोचयित्वाशुमां हि य· । स्वर्गादौस्थापयत्येव कथं स शत्रुरुच्यते ॥८६॥ इत्यादिसद्विचारौघैः प्राणनाशेपि साधुना । क्षमैका सर्वथा कार्या कोपः कार्यो न जातुचित् ॥ ८७ ॥ छेदनैः

कर उन मुनिराज को अपना चित्त स्थिर कर लेना चाहिये और इस लोक में दुष्टों के द्वारा उत्पन्न हुए मारण ताड़न आदि सब उपद्रव सहन कर लेने चाहिये ॥८१॥ यदि कोई नरक को जाने वाला दुष्ट किसी मुनि के प्राण ही हरण करता हो तो उन मुनिराज को उस समय क्रोधरूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान इस प्रकार का चिंतवन करना चाहिये यह मूर्ख मेरे प्राणों को लेता है, मोक्ष देने वाले मेरे धर्म को तो नहीं लेता इसलिये इस मूर्ख से मेरी कोई हानि नहीं है किंतु मेरे धर्म की वृद्धि होने से मेरा लाभ ही है ॥८२–८३॥ और देखो यह प्राणी मुझे मार कर जरा से जर्जरित हुए मेरे शरीर को नाश को नाश करता है और अनेक गुणों की खानि ऐसा दिव्य शरीर मुझे देता है इसलिए यह तो मेरा सबसे बढ़ कर मित्र है ॥८४॥ यदि यह प्राणी मुझे मार कर पाप कर्मों से मुझे नहीं छुड़ाता तो मैं उन पापों से कैसे छूटता ? इसलिए कहना चाहिये कि यह तो मेरा सबसे अच्छा हित करने वाला है ॥८५॥ अरे जो पुरुष कारागार के समान इस शरीर से मुझे शीघ्र ही छुड़ा कर मुझे स्वर्गादिक में पहुँचा देता है यह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है उसे तो मैं अपना मित्र समझता हूँ ॥८६॥ इस प्रकार अनेक तरह से अपने श्रेष्ठ विचार धारण कर प्राण नाश होने पर भी मुनिराज को एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उन मुनिराज को क्रोध कभी नहीं करना चाहिये ॥८७॥ जिस प्रकार चंदन को छेदने से काटने से वा जलाने से चंदन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार

कर्तनैर्दाहैर्विक्रियांयातिचन्दनम् । न यथात्र तथा योगी सर्वोपद्रवराशिभिः ॥ ८८ ॥ कम्पते न यथा पृथ्वीखनन-ज्वालनादिभिः । उपसर्गैस्तथाविश्वैर्ध्यानस्थोधीरसंयमी ॥ ८९ ॥ कचिद्दुग्धामृतादीनिविषायन्तेविधेर्वशात् । नोपसर्गैश्च-साधूनांचित्तानन्दामृतानि भोः ॥ ९० ॥ न कोपसदृशोवन्हिर्विश्वप्रज्वालनक्षमः । अमृतं न क्षमातुल्यंत्रिजगत्प्रीणन-क्षमम् ॥ ९१ ॥ द्वीपायनः स्वकोपेनदग्ध्वाद्वारावतीं मुनिः । सर्वां स्वस्य शरीरंचागात्तैजसेन दुर्गतिम् ॥ ९२ ॥ क्रोधेनाघार्जनं कृत्वा बहवो नारदादयः । रौद्रध्यानादगताःश्वभ्रंस्त्रीस्त्र्यादिरहिता अपि ॥ ९३ ॥ कोपाग्नि र्जृम्भतेसाधोर्यस्य कायकुटीरके । तस्यदृष्ट्यादिरत्नानि भस्मीभावव्रजन्त्यतः ॥ ९४ ॥ पूर्वं दहति कोपाग्निर्देहं

समस्त उपद्रवों के समूह आजाने पर भी योगी के हृदय में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता ॥८८॥ जिस प्रकार पृथ्वी को खोदने वा जलाने से पृथ्वी कभी कंपायमान नहीं होती उसी प्रकार समस्त उपसर्गों के आजाने पर भी ध्यान में स्थिर हुए धीरवीर संयमी अपने ध्यान से कभी चलायमान नहीं होते हैं ॥८९॥ कभी कभी कर्मों के निमित्त से वा अन्य किसी कारण से दूध वा अमृत आदि उत्तम पदार्थ भी विषरूप हो जाते हैं परंतु साधुओं के हृदय से उत्पन्न हुआ आनंदामृत सैकड़ों उपसर्गों के आजाने पर भी कभी विषरूप वा विकाररूप नहीं होता ॥९०॥ इस संसार में क्रोध के समान अन्य कोई अग्नि नहीं है क्योंकि यह क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ है। इसी प्रकार क्षमा के समान इस संसार में कोई अमृत नही है क्योंकि इस क्षमा से तीनों लोकों के प्राणी अत्यंत संतुष्ट हो जाते हैं ॥९१॥ देखो द्वीपायन मुनि ने क्रोध कर तैजस समुद्घात के द्वारा समस्त द्वारिका नगरी जला डाली, अपना शरीर जला डाला और अंत में उसे नरकरूप दुर्गति में जाना पड़ा ॥९२॥ इनके सिवाय स्त्री धन आदि से रहित ऐसे नारद आदि बहुत से प्राणी क्रोध के कारण अनेक पापों को उपार्जन कर अंतमें रौद्रध्यान से मर कर नरक पहुँचे हैं ॥९३॥ जिस साधु के शरीररूपी झोंपड़ी में क्रोधरूपी अग्नि लग जाती है उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जल कर भस्म हो जाते हैं ॥९४॥ यह क्रोधरूपी अग्नि पहले तो अपने शरीर को जलाती है फिर अन्य प्राणियों को जलाती है और फिर

ततोपरान्जनान् । इहपुंसां च धर्मादीन् दत्तेमुत्राधोगतिम् ॥ ९५ ॥ यदि कोपं कश्चित्कुर्यान्नग्नो वा चीवरावृतः । तदा नीचो जिनैः प्रोक्तः सोन्त्यजादपिपापधीः ॥ ९६ ॥ न क्रोधेन समो वैरी सर्वानर्थाकरोशुभः । इहामुत्रमनुष्याणां सप्तमश्वभ्रकारकः ॥ ९७ ॥ इत्यादिदोषकर्तारं क्रोधशत्रुं तपोधना. । क्षमाखड्गेनमोक्षायदुर्जयंघ्नन्तुशक्तितः ॥ ९८ ॥ क्षमामुक्तिसखी प्रोक्ता जिनैर्मुक्तिवशीकरा । कल्पवल्लीक्षमा नॄणां संकल्पितसुखप्रदा ॥ ९९ ॥ क्षमा रक्षापरापुंसां शत्रुभ्यः शममातृका: । क्षमा धर्मसुरत्नानां खनीसाराशुभंकरा ॥ १०० ॥ पार्श्वेशसंजयन्ताख्यशिवभूत्यादियोगिनः । क्षमयात्राचिराज्जित्वाबहूपसर्गान्वैरिजान् ॥ १ ॥ केवलावगमंप्राप्यत्रिजगद्भव्यपूजनम् । लोकाग्रशिखरंजग्मुर्बहवः

उन साधुओं के धर्मादिक गुणों को नष्ट करती है तथा फिर अंतमें परलोक में नरकादिक अधोगति को देती है ॥९५॥ यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला एलक वा क्षुल्लक कहीं पर क्रोध करता है तो भगवान जिनेन्द्रदेव उस पापी को चांडाल से भी नीच समझते हैं ॥९६॥ इस संसार में क्रोध के समान मनुष्यों का अन्य कोई शत्रु नहीं है। क्योंकि यह क्रोध इस लोक में भी समस्त अनर्थों को करने वाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करने वाला है और परलोक में भी सातवें नरक तक पहुँचाने वाला है ॥९७॥ इस प्रकार अनेक दोप उत्पन्न करने वाले और अत्यंत दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति से क्षमारूप तलवार के द्वारा नाश कर डालते हैं ॥९८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस क्षमा को मोक्ष को वश करने वाली ऐसी मोक्ष की सखी बतलाई है। तथा यही क्षमा मनुष्यों के लिए इच्छानुसार सुख देने वाली कल्पलता के समान है ॥९९॥ मनुष्यों को शत्रुओं से रक्षा करने वाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है। यह क्षमा उपशम की माता है, सबमें सारभूत है, शुभ करने वाली है और धर्मरूप रत्नों की खानि है ॥१००॥ देखो, भगवान पार्श्वनाथ स्वामी, संजयंत मुनि और शिवभूत आदि कितने ही मुनि इस क्षमा को धारण कर ही शत्रुओं से उत्पन्न अनेक उपसर्गों को जीत कर शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं तथा तीनों लोकों के भव्य जीवों के द्वारा पूजे जाकर अनंत सुखों के समुद्र ऐसे लोक शिखर पर जा विराजमान हुए

धर्मसागरम् ॥ २ ॥ क्षमासमं तपोनास्तिक्षमातुल्यं न सद्व्रतम् । क्षमाभं न हितंकिंचित्क्षमानिभं न जीवितम् ।३॥ इत्यादीन्परमाम् ज्ञात्वा क्षमायाः गुणसंचयान् । कुर्वन्तुसुधियोनित्यं क्षमां कृत्स्नप्रयत्नतः ॥ ४ ॥ इत्येकं लक्षणं सारं धर्मस्याख्यायधीमताम् । क्षमाख्यं धर्ममूलं च द्वितीयं मार्दवं ब्रुवे । ५ ॥ सत्सूत्तमेषुमदेषुसज्जात्यादिषुचाष्टसु । मृदुभिश्चित्तवाक्कायैर्निहत्य तत्कृतंमदम् ॥ ६ ॥ क्रियतेमृदुभावोयोखिलाहंकारवर्जितः । तद्धर्मलक्षणं ज्ञेयं मार्दवं सत्कृपाकरम् ॥ ७ ॥ व्रतशीलसमस्तानि यान्तिसम्पूर्णतां सताम् । सुमार्दवेन मुक्तिस्त्रीदत्तेचालिंगनं दृढम् ॥ ८ ॥ त्रियोगमार्दवत्वेन धर्मिणां धर्मउल्वणः । उत्पद्यतेगुणैर्विश्वैः सार्द्धं विश्वसुखाकरः ॥ ९ ॥ काठिन्यपरिणामेन जायते पापमूर्जितम् । क्षयोखिलव्रतादीनांनिंद्यं च श्वभ्रसंबलम् ॥ १० ॥ इतिसन्मृदुकाठिन्यचित्तयोःफलमंजसा ।

है ॥१–२॥ इस संसार में क्षमा के समान अन्य कोई तप नहीं है क्षमा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ व्रत नहीं है, क्षमा के समान कोई हित नहीं है और क्षमा के समान कोई जीवन नहीं है ॥३॥ इस प्रकार इस क्षमा के सर्वोत्कृष्ट गुणों के समूह को समझ कर बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयत्न के साथ नित्य ही क्षमा धारण करनी चाहिये ॥४॥ इस प्रकार बुद्धिमानों के लिए धर्म का मूल और सारभूत ऐसे एक उत्तम रूप धर्म का लक्षण कहा। अब आगे दूसरे उत्तम मार्दव का लक्षण कहते हैं ॥५॥ ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर ये अभिमान के आठ कारण बतलाये हैं इन सबकी उत्तमता प्राप्त होने पर भी मुनियों को अपने कोमल मन वचन काय को धारण कर इन आठों मदों का त्याग कर देना चाहिये तथा सब तरह के अभिमानों का त्याग कर अपने कोमल परिणाम धारण करने चाहिये। श्रेष्ठ दया को पालन करने वाला यही मार्दव धर्म का लक्षण है ॥६–७॥ इस मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं तथा इस मार्दव धर्म से ही मुक्तिस्त्री दृढ आलिंगन देने को तत्पर रहती है ॥८॥ मन वचन काय तीनों को कोमल रखने से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ साथ समस्त सुखों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रगट होता है ॥९॥ तथा कठिन परिणामों को रखने से प्रबल पाप उत्पन्न होता है, समस्त व्रतों का नाश होता है और अत्यंत निंद्य ऐसा नरक गति का साधन प्रगट हो जाता है ॥१०॥ इस प्रकार कोमल परिणामों का फल शुभ और कठिन परिणामों का

शुभाशुभंविदित्वाहोहत्वाकठिनमानसम् ॥ ११ ॥ विश्वसत्वकृपाक्रान्तं मार्दवं सुष्ठुयत्नतः । कुर्वन्तुमुनयोधर्मशिव–श्रीसुखवृद्धये ॥ १२ ॥ हृदियत्संस्थितंकार्यंब्रूयते वचसा च तत् । वपुषाचर्यतेतथ्यमृजुवुद्धिभिरंजसा ॥ १३ ॥ एतदा–र्जवमत्यर्थमुत्तम धर्मलक्षणाम् । प्रणीतं धर्मनाथेन सतां धर्मकुलालयम् ॥ १४ ॥ पुंसां चार्जवभावेन जायन्ते निर्मला गुणाः । त्रिजगत्सुखसाराणि तीर्थेशादिविभूतयः ॥ १५ ॥ धर्मिणामृजुचित्तेनोत्तमो धर्मोभवान्तकः । साक्षान्मुक्तिवधूदाताभवेत्सर्वार्थसाधकः ॥ १६ ॥ आर्या आर्जवयोगेनह्यव्रताअपिभोगिनः । यान्तिदेवालयं नूनं ? मतोस्याप्यमातृकः ॥ १७ ॥ कौटिल्यपरिणामेन कुटिलायान्तिदुर्गतिम् । अहोपापार्जनंकृत्वामार्जारमकरादिकाः ॥१८॥ कूटद्रव्यमिवव्यर्थंनिष्फलंस्वप्नराज्यवत् । विषमिश्रितदुग्धं वा तपोध्यानादिदुर्धियाम् ॥ १६ ॥ मायाविनां तपोध–

फल अशुभ समझ कर कठिन परिणामों का त्याग कर देना चाहिये और उन मुनियों को धर्मतथा मोक्ष की लक्ष्मी और सुख बढ़ाने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त जीवों की कृपा से परिपूर्ण ऐसा मार्दव मार्दव धर्म धारण करना चाहिये ॥१२–१३॥ अपनी सरल बुद्धि को धारण कर अपने मन में जो कार्य जिस रूप से चिंतवन किया है उसको उसी रूप से कहना और शरीर के द्वारा उसी रूप से करना उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है। धर्म की परंपरा का घर ऐसा यह आर्जव धर्म का लक्षण सज्जनों के लिए भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥१३–१४॥ इस आर्जव धर्म के निमित्त से मनुष्यों को अत्यंत निर्मल गुण प्राप्तहोते हैं तीनों जगत के सारभूत सुख प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरादिक की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥१५॥ सरल हृदय को धारण करने से धर्मात्माओं को संसार को नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देने वाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है ॥१६॥ देखो सदा भोगोपभोग सेवन करने वाले और अव्रती ऐसे भोग भूमिया भी मन वचन काय को सरल रखने के कारण स्वर्ग में ही जाकर जन्म लेते हैं ॥१७॥ तथा बिल्ली मगर आदि मायाचारी कुटिल जीव अपने कुटिल परिणामों के ही कारण अनेक पापों को उत्पन्न कर दुर्गति में जाकर जन्म लेते हैं ॥१८॥ जो सरल बुद्धि को धारण नहीं करते उनके तप और ध्यानादिक सब नित्य द्रव्य के समान व्यर्थ हैं, स्वप्न में मिले हुए राज्य के समान निष्फल हैं और विष मिले हुए दूध के समान हानि करने वाले हैं ॥१६॥

ऋजुयोगेन कुर्वीध्वमार्जवंमुक्तयेबुधाः ॥ २१ ॥ स्वान्येषां हितमुद्दिश्य धर्मतत्त्वार्थगर्भितम् । ब्रूयतेयद्वचस्तथ्यं सार सिद्धान्तवेदिभिः ॥ २२ ॥ भाषासमितिमालंब्य तत्सत्य धर्मलक्षणम् । ज्ञानबीजं जगन्मान्यं कर्मघ्नं मोक्षकारणम् ॥ २३ ॥ सत्येन विमला कीर्तिश्च भ्रमेल्लोकत्रयेमताम् । महाधनश्च जायेत ज्ञानाद्यैः सद्गुणैः सह ॥ २४ ॥ त्रिजगच्छ्रीः परं सौख्यं जगत्पूज्या च भारती । सर्वज्ञर्द्धिमवसत्याल्लभ्यतेसत्यवादिभिः ॥ २५ ॥ जडत्वंमुखरोगत्व मपकीर्तिंदुःखसंततिः । दुर्गतिं च महत्पापलमन्तेनृतभाषिणः ॥२६॥ इत्येतयोःफलं ज्ञात्वा त्यक्त्वामृषावचोखिलम् ।

मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम या शुभ क्रियाएं कुछ नहीं बन सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न हुए पाप के कारण मायाचारियों को तिर्यंच गति की ही प्राप्त होती है ॥२०॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मायाचारी से मिले हुये मन वचन काय को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और मन वचन काय की सरलता धारण कर आर्जव धर्म का पालन करना चाहिये ॥२१॥ सिद्धांत को जानने वाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते है तथा भाषा समिति को आलंबन कर वचन कहते हैं वह सत्यधर्म का लक्षण है। यह सत्यधर्म ज्ञान का बीज है, तीनों लोकों में मान्य है कर्मों को नाश करने वाला है और मोक्ष का कारण है ॥२२–२३॥ इस सत्य धर्म के कारण सज्जनों की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है और सम्यग्ज्ञानादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ उनको महाधर्म की प्राप्ति होती है ॥२४॥ सत्यवादियों को इस सत्यधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है परम सुख की प्राप्ति होती है तीनों लोकों में पूज्य ऐसी सरस्वती की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ की विभूति प्राप्त होती है ॥२५॥ मिथ्या भाषण करने वालों को अज्ञानता की प्राप्ति होती है, मुख के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, संसार में अपकीर्ति फैल जाती है, अनेक दुःखों की प्राप्ति होती है और महा पाप उत्पन्न होता है ॥२६॥ इस प्रकार सत्य

वदन्तुनिपुणाः सत्यं मधुरंसद्वचोहितम् ॥ २७ ॥ इन्द्रियार्थेष्वनासक्तं निस्पृहं विश्ववस्तुषु । सर्वांगिकरुणाकान्तंमनः कृत्वाघवर्जितम् ॥ २८ ॥ लोभशत्रुं निहत्योच्चैः सन्तोषो यो विधीयते । विश्वार्थस्वसुखादौतच्छौचं सद्धर्मलक्षणम् ॥२६॥ जीवितारोग्य पंचेन्द्रियोपभोगैश्चतुर्विधः । स्वान्ययोरत्रलोभोदक्षैस्त्याज्य समुक्तये ॥ ३० ॥ निर्लोभानां जिताक्षाणां शौचधर्मोहिकेवलम् । जायतेपरमोमुक्त्यै न कामाशक्तचेतसाम् ॥ ३१ ॥ शौचेन महती लक्ष्मीभुवनत्रय-गोचरा मुक्तिस्त्रीस्वयमायातिनिर्लोभांश्चयशःपरम् ॥ ३२ ॥ लोभिनां लोभपापेनदारिद्रं दुःखमुल्वणम् । दुर्गतौ भ्रमणं पापंदुर्ध्यानं चाशुभो भवेत् ॥ ३३ ॥ मत्वेत्याहत्यलोभारिंसन्तोषखड्गघाततः । अंन्तः शौचंविधातव्यंबुधै-

असत्य दोनों का फल समझ कर बुद्धिमानों को सब तरह के मिथ्या भाषण त्याग कर देना चाहिये और हित करने वाले मधुर सत्य वचन कहने चाहिये ॥२७॥ जो मुनि अपने मन से इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग कर देते हैं, अपने ही मन में समस्त पदार्थों की निस्पृहता धारण करते हैं और समस्त जीवों की दया पालन करते हैं। इस प्रकार अपने मन को पाप रहित बना कर लोभ रूपी शत्रु को सर्वथा नाश कर डालते हैं और समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादिक में पूर्ण संतोष धारण करते हैं उसको शौच नाम का धर्म कहते हैं ॥२८–२६॥ इस संसार मे लोभ चार प्रकार का है, जीवित रहने का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ पंचेन्द्रियों का लोभ और भोगोपभोगों की सामिग्री का लोभ। चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने तथा दूसरों के दोनों के लिए चारों प्रकार के लोभ का त्याग कर देना चाहिये ॥३०॥ जो इन्द्रियों को जीतने वाले निर्लोभी हैं उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करने वाले परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है उनके शौचधर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती ॥३१॥ निर्लोभी पुरुषों को इस शौचधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाली महा लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा मोक्ष लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त हो जाती है और उनका सर्वोत्कृष्ट यश तीनों लोकों मे फैल जाता है ॥३२॥ लोभी पुरुषों को लोभ रूप पाप से दरिद्रता उत्पन्न होती है घोर दुःख प्राप्त होते हैं अनेक दुर्गतियों मे परिभ्रमण होता है महा पाप उत्पन्न होता है निंद्य अशुभध्यान होता है और अशुभ कर्मों का बंध होता है ॥३३॥ यही समझ

मुक्त्यै जलादृते ॥ ३४ ॥ मनः पंचेन्द्रियाणांयद्रोधनंपरिरक्षणम् । षड्जीवानांत्रिशुध्या चाचयंतेत्रमुमुक्षुभिः ॥ ३५ ॥ संयमः स जिनैः प्रोक्तः साक्षान्मुक्तिनिवन्धनः । तपोदृग्ज्ञानधर्मादिगुणानांशुद्धकारकः ॥ ३६ ॥ उपेक्षापहृताभ्यां स संयमोद्विविधोमतः । आद्यउत्कृष्टकायानांद्वितीयोऽपरयोगिनाम् ॥३७॥ उत्कृष्टांगबलाद्यस्यविदस्त्रिगुप्तिधारिणः । रागद्वेषाद्यभावो यः उपेक्षासंयमो त्र सः ॥३८॥ दक्षैः समितयः पंच यत्रसंवरमातृकाः । यत्नेन प्रतिपाल्यन्तेऽपहृताख्यः स सयमः ॥ ३६ ॥ सामायिकाभिधं छेदोपस्थापनसमाह्वयम् । परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्परायनामकम् ॥ ४० ॥ यथाख्याताख्य चारित्रं पंचभेदा इमेपराः । संयमस्य बुधैर्ज्ञेयाश्चारित्राख्यः शिवंकराः ॥ ४१ ॥ सर्वसावद्ययोगानांसर्वथायच्चवर्जितम् । निंदास्तुतिसुहृच्छत्रुदृषद्रत्नादिवस्तुषु ॥ ४२ ॥ सुखदुःखादिसंयोगे समता

कर बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए संतोष रूपी तलवार की चोट से लोभ रूपी शत्रु को मार डालना चाहिये और बिना जल के अंतरंग शौच को धारण करना चाहिये ॥३४॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि लोग मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पाँचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव संयम कहते हैं। यह संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा तप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और धर्मादिक समस्त गुणों को शुद्ध करने वाला है ॥३५–३६॥ अथवा उपेक्षा संयम और अपहृत सयम के भेद से इस संयम के दो भेद हैं। उत्कृष्ट शरीर को धारण करने वालों के उपेक्षा संयम होता है और अन्य मुनियों के अपहृत संयम होता है ॥३७॥ महा ज्ञानी और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाले महा मुनियों के उत्कृष्ट शरीर में बल होने के कारण जो राग द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं ॥३८॥ जो चतुर मुनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करने वाली पाँचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं ॥३६॥ सामायिक छेदोपस्थाना परिहार विशुद्ध, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के उत्कृष्ट भेद हैं। ये सब मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हैं और संयम के ही उत्कृष्ट भेद कहलाते हैं। ऐसा बुद्धिमानों को समझ लेना चाहिये ॥४०–४१॥ जहाँ पर बुद्धिमान पुरुष मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक समस्त सावद्यरूप (पापरूप) योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं, तथा निंदा स्तुति में, शत्रुमित्र में, रत्न

करणं बुधैः । विधीयते त्रिशुध्या तद् वृत्तंसामायिकाह्वयम् ॥ ४३ ॥ देशकालनिरोधार्थैःप्रमादेन च कारणैः । अंगीकृतव्रतादीनां जातातीचारदोषतः ॥ ४४ ॥ प्रायश्चित्तस्वनिन्दार्थैः यद्विशोधनमंजसा । क्रियतेव्रतिभिस्तद्धि छेदोपस्थापनमतम् ॥ ४५ ॥ त्रिंशद्वर्षप्रमायुस्त्रिवर्षाणामुपरिस्फुटम् । अधस्तलेनवाष्टानां पादसेवीजितेन्द्रियः ॥४६॥ तीर्थंकरस्य सद्धैर्यवीर्यकायवलांकितः । योनेकदेशभाषादिचतुरो नवपूर्ववित ॥ ४७ ॥ निष्प्रमादो महादुःखचर्य्या सत्तपसायुतः । परिहारविशुद्धिं सः कर्तुमर्हति नापरः ॥ ४८ ॥ वर्जयित्वात्रिसंध्यांचानेकदेशविहारिणा । एकाकिना प्यनेनैवयोगिना वनवासिना ॥ ४९ ॥ गम्यते यत्नयत्नेन गव्यूतिद्वयमन्वहम् । परिहारविशुध्याख्यंतच्चारित्र विशु-

---

और पाषाण में और सुख दुःखादि के संयोग में समता धारण करते हैं उस चारित्र को सामायिक नाम का चारित्र कहते हैं ॥४२–४३॥ किसी देश काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किये हुए व्रतों में कोई अतिचार लग जाय तो अपनी निंदा गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार संशोधन करना दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध करना छेदोपस्थापन नाम का संयम कहलाता है ॥४४–४५॥ जिस मुनि की आयु कम से कम तीस वर्ष की है जो तीन वर्ष से ऊपर आठ नौ वर्ष तक भगवान तीर्थंकर परमदेव के समीप चरण कमलों के समीप रह चुका हो, जो जितेन्द्रिय हो, श्रेष्ठ धैर्य, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ वल और श्रेष्ठ शरीर से सुशोभित हो तो अनेक देश की भाषाओं के जानने में चतुर हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी हो, प्रमाद रहित हो, जो अत्यंत कठिन और दुःखमय चर्या करता हो और श्रेष्ठ तपश्चरण करता हो वही मुनि परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र को धारण कर सकता है। जिसमें ये गुण नहीं है वह परिहार विशुद्धि चारित्र को कभी धारण नहीं कर सकता ॥४६–४८॥ परिहार विशुद्धि संयम को धारण करने वाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़ कर बाकी के समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है वह आत्मा को अत्यंत विशुद्ध करने वाला परिहार

द्धिरम् ॥ ५० ॥ सूक्ष्मीकृतस्वलोभेन शुक्लध्यानविधायिना । क्षपकोपशमश्रेण्यारूढेनमोहघातिना ॥ ५१ ॥ सूक्ष्मात्मानुभावोयोऽत्रक्रियतेशुद्धचेतसा । तत्सूक्ष्मसाम्परायाख्यचारित्रलोभघातकम् ॥ ५२ ॥ यथातथ्येन सर्वेषां व्रतादीनां च पालनम् । आगमोक्त्यान्तरेस्वानुभवनं परमात्मनः ॥ ५३ ॥ निर्मोहानां भवेयत्र शुक्लध्यानसुधाशिनाम् । तच्चारित्रं यथाख्यातनामिघघातिविघातकम् ॥ ५४ ॥ चारित्रैः पंचभिश्चैतैश्चतुर्भिर्वाशिवांगना । ध्यानिभिर्लभ्यते नूनं समस्तगुणभूषिता ॥ ५५ ॥ संयमेनमतांस्याच्च संवरोखिलकर्मणाम् । निर्जरासद्गुणग्रामः सुखं वाचामगोचरम् । ५६ ॥ संयमेनसमं स्वल्पं कृतं तपोमहाफलम् । फलत्यत्र न संदेहो धीमतां स्वशिवादिषु ॥ ५७ ॥ संयमेन बिना पुंसां

विशुद्ध नाम का चारित्र कहलाता है ॥४९–५०॥ जिन महा मुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यंत सूक्ष्म कर लिया है जो शुक्लध्यान धारण कर रहे हैं जो क्षपकश्रेणी वा उपशम श्रेणी में विराजमान हैं जो मोहनीय कर्म को घात करने वाले हैं ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ को घात करने वाला सूक्ष्म सांपराय नाम का चारित्र कहते हैं ॥५१–५२॥ जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यानरूपी अमृत का पान कर रहे हैं ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों को यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उसको घातिया कर्मों को नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं ॥५३–५४॥ इन पाँचों प्रकार के चारित्र से अथवा चार प्रकार के चारित्र से ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है ॥५५॥ इस संयम को धारण करने से सज्जन पुरुषों के समस्त कर्मों का संवर होता है समस्त कर्मों की निर्जरा होती है समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है ॥५६॥ इस संयम के साथ साथ थोड़ा सा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादिक की प्राप्ति में महा फल देता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥५७॥ इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव

तपोध्यानव्रतादिकम् । वृथा भवेन्न च सार्थंसर्वपापभवाश्रयात् ॥ ५८ ॥ विदित्वेतिविधातव्यः संयमः संवरार्थिभिः कृत्स्नयत्नेनमुक्त्यर्थंरत्नत्रयविशुद्धये ॥ ५६ ॥ पंचाक्षविषयाणांयत्समस्तेच्छानिरोधनम् । तत्तपः सूरिभिः प्रोक्तं परं सद्धर्मकारणम् ॥ ६० ॥ प्रागुक्तं यद्द्विषड्भेदंविस्तरेण तपोखिलम् । धर्मार्थिभिर्विधेयं तत्सद्धर्माय भवापहम् ॥ ६१ ॥ अन्तर्बाह्योपधीनांयन्मूर्च्छात्यजनमंजसा । मनोवाक्काययोगैः स त्यागउत्तमधर्मदः ॥ ६२ ॥ तथाज्ञानहरं ज्ञानदानसिद्धान्तगोचरम् । शब्दार्थोभयसम्पूर्णं यत्सत्पात्राय दीयते ॥ ६३ ॥ अभयाख्यं महद्दानं भयभीताखिलात्मनाम् । त्यागः स उच्यते सद्भिः केवलज्ञाननेत्रदः ॥ ६४ ॥ ज्ञानदानेन लभ्यन्ते श्रुतज्ञानादयोखिलाः । बुधैश्चनिर्भयस्थानं दयादानेननिश्चितम् ॥ ६५ ॥ संगत्यागेन जायेत चित्तशुद्धिः परासताम् । तयाध्यानं प्रशस्तं च ध्यानात्कर्मक्षय—

होता ही रहता है ॥५८॥ यही समझ कर संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिये ॥५६॥ पाँचों इंद्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना आचार्यों के द्वारा तप कहलाता है यह तप उत्कृष्ट धर्म है और श्रेष्ठ धर्म का कारण है ॥६०॥ पहले इस तप के बारह भेद विस्तार के साथ कह चुके हैं। वह सब तप संसार को नाश करने वाला है इसलिए धर्मात्मा पुरुषों को श्रेष्ठ धर्म धारण करना चाहिये ॥६१॥ मन वचन काय के तीनों योगों से अंतरंग और बाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है। यह त्याग सबसे उत्तम धर्म को देने वाला है ॥६२॥ अज्ञान को हरण करने वाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है। यह ज्ञानदान सिद्धांत शास्त्र के गोचर है अर्थात् सिद्धांत शास्त्रों का पढ़ाना ज्ञान दान है। सिद्धांत शास्त्र के शब्द अर्थ वा शब्द अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिये दिए जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं ॥६३॥ तीसरा त्याग अभयदान है भय से भयभीत हुए समस्त जीवों को अभय दान देना अभय दान है यह सब दानों में उत्तम दान है और केवलज्ञान रूपी नेत्रों को देने वाला है ऐसा श्रेष्ठपुरुषों ने कहा है ॥६४॥ विद्वान पुरुषों को ज्ञानदान देने से पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दयादान देने से मोक्षरूप निर्भय स्थान की प्राप्ति होना अवश्य ही निश्चित है ॥६५॥ परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यंत शुद्ध

स्ततः ॥ ६६ ॥ केवलज्ञानलक्ष्मीश्चततोमुक्तिवधूस्तथा । अनन्तसुखमात्मोत्थंसिद्धश्रियागुणैःसमम् ॥ ६७ ॥ संगादि-मूर्च्छया पुंसां दुर्ध्यानंजायतेतराम् । दुर्ध्यानाच्चमहापापं पापाद्दुःखपरंपरा ॥ ६८ ॥ संगत्यागसमो धर्मो न जगच्छ्रीसुखाकरः । संगमूर्च्छानिभं पापं न महच्छ्वभ्रदुःखदम् ॥ ६९ ॥ विज्ञायेतिनिहत्याशुसंगाकांक्षांसुखार्थिनः । धर्मायाखिलसंगानां त्यागं कुर्वन्तु धर्मदम् ॥ ७० ॥ देहोपधिखशर्मादौममत्वं त्यज्यतेत्रयत् । निस्पृहैर्योगशुध्या तदाकिंचन्यंसुखाकरम् ॥७१॥ यथा यथा शरीरादौनिर्ममत्वंप्रवर्द्धते । तथा तथा निरोधश्चपापानांनिर्जरासताम् ॥७२॥ अक्षार्थोपधिशर्मादित्यक्तु यच्छक्यते बुधः । तत्त्याज्यंसकलं वस्तुमनोवाकायशुद्धिभिः ॥७३ ॥ त्यक्तु यच्छक्यते

हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनंत गुण और अनंत लक्ष्मी के साथ साथ आत्मा से उत्पन्न होने वाला अनंत सुख प्राप्त होता है ॥६६–६७॥ परिग्रहादिक में ममत्व रखने से मनुष्यों के अशुभध्यान होता है, अशुभध्यान से महा पाप होता है और पाप से अनेक दुःखों की परंपरा प्राप्त होती है ॥६८॥ इस संसार में परिग्रह के त्याग के समान अन्य कोई धर्म नहीं है क्योंकि यह धर्म तीनों लोकों की लक्ष्मी और सुख की खानि है। इसी प्रकार परिग्रह में मूर्च्छा रखने के समान अन्य कोई पाप नहीं है क्योंकि परिग्रह में मूर्च्छा रखना महा नरक के दुःख देने वाली है ॥६९॥ यही समझ कर सुख चाहने वाले पुरुषों को धर्म की प्राप्ति के लिए समस्त परिग्रहों की आकांक्षा का त्याग कर देना चाहिये और उसके साथ समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये। यह परिग्रहों का त्याग ही धर्म की प्राप्ति कराने वाला है ॥७०॥ जो निस्पृह मुनि मन वचन की शुद्धता पूर्वक शरीर परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग कर देते हैं उसको सुख देने वाला आकिंचन्य धर्म कहते हैं ॥७१॥ जैसे जैसे शरीरादिक में निर्ममत्व बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे सज्जनों के पापों का निरोध होता रहता है और कर्मों की निर्जरा होती रहती है ॥७२॥ बुद्धिमान पुरुष इन्द्रियों के विषयों को और परिग्रहों के सुख को जितना त्याग कर सकते हैं उनको उतना त्याग मन वचन काय की

नाहो कायादिपुस्तकादिकम् । त्याज्यं तेषांममत्वं च सर्वथादोषकारणम् ॥ ७४ ॥ एव ये कुर्वते नित्यंद्याकिंचन्यं परं भवेत् । तेषा वनांर्णवंदोषसंचयंममकारिणम् ॥ ७५ ॥ मत्वेति ममता त्यक्त्वासर्वा कायादिवस्तुपु । निर्ममत्वाशयैः कार्यमाकिंचन्यशिवाप्तये ॥ ७६ ॥ दृश्यन्ते सकला नार्यो यत्रमात्रादिसन्निभाः । त्यक्तरागैर्मनोनेत्रैब्रह्मचर्यं तदुत्तरम् ॥ ७७ ॥ ब्रह्मचर्येणमुक्तिस्त्री वृणोति ब्रह्मचारिणम् । सर्वैःगुणैः समं शीघ्रं स्वर्गश्रियोत्र का कथा ॥७८॥ उत्पद्यतेपरोधर्मो हृच्छुध्या ब्रह्मचारिणाम् । कामिनां चित्तशुद्धिः क तयाविनाशुभंकुतः ॥ ७६ ॥ ज्ञात्वेतिधीधना नित्यंयोगशुध्याविमुक्तये । पालयन्तुविरक्त्याहो ब्रह्मचर्यं सुधर्मदम् ॥ ८० ॥ एषोदशविधोधर्मोमुक्तिस्त्रीहृदयप्रियः ।

शुद्धता पूर्वक अवश्य कर देना चाहिये । तथा जो शरीर वा पुस्तक आदि ऐसे परिग्रह हैं जिनका त्याग किया ही नहीं जा सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ऐसा ममत्व अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥७३–७४॥ इस प्रकार जो परिग्रह का त्याग वा ममत्व का त्याग कर देते हैं उनके धर्म का सागर ऐसा सर्वोत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म होता है तथा जो परिग्रहादिकों में ममत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं ॥७५॥ यही समझ कर निर्ममत्व धारण करने वाले पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए शरीरादिक समस्त पदार्थों में पूर्ण ममत्व का त्याग कर उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारण करना चाहिये ॥७६॥ राग द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है ॥७७॥ ब्रह्मचारियों को इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्तिस्त्री समस्त गुणों के साथ साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्ग की लक्ष्मी की तो बात ही क्या है ॥७८॥ ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध रहता है इसलिये उनको परम धर्म की प्राप्ति होती रहती है तथा कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता इसलिये उनका कल्याण भी नहीं हो सकता ॥७९॥ यही समझ कर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक तथा परिणामों में विरक्तता धारण कर श्रेष्ठ धर्म देने वाला यह ब्रह्मचर्य सदा पालन करते रहना चाहिये ॥८०॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का

क्षमादिलक्षणाविश्वं: कतंव्योमुक्तिकांक्षिभि: ॥ ८१ ॥ न धर्मसदृशोबंधुरिहामुत्रहितंकर: । नान्यधर्मसम: कल्पद्रुम:
कल्पितभोगद: ॥८२॥ चिन्तामणि र्न धर्माभश्चिन्तितार्थशतप्रद: । धर्मतुल्योनिधिनास्त्यखण्डो वा सुहृद्वर: ॥८३॥
नधर्मसन्निभं पुंसां पाथेयं परजन्मनि । सहगामीकश्चिन्नान्योधर्माद्वारामंद: शुभ: ॥ ८४ ॥ धर्माद्विना न कोप्यन्यो
मोक्षं नेतुंनरान्क्षम: । उद्धर्तुं नरकाद्वाहो दातुं चेन्द्रादिसत्पदम् ॥८५॥ इत्याद्यस्य फलं ज्ञात्वाप्रवरंसुष्ठुशक्तित: ।
भजध्वंधर्ममेकं च त्यक्त्वापापसुखार्थिन: ॥ ८६ ॥ इतिमुदितसुधर्मंत्रिजगन्नाथैर्मुदाच्र्यं दशविधमपदोषं ये चरन्त्या-

धर्म है और मुक्तिस्त्री के हृदय को अत्यंत प्रिय है अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उत्तम क्षमा आदि समस्त धर्मों को धारण कर सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ॥८१॥ इस संसार में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में हित करने वाला धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा इसी धर्म के समान इच्छानुसार भोगों को देने वाला अन्य कोई कल्पवृक्ष नहीं है ॥८२॥ इस धर्म के समान सैकड़ों चिंतित पदार्थों को देने वाला कोई चिंतामणि रत्न नहीं है, अथवा इस धर्म के समान कोई अखंड निधि नहीं है और इस धर्म के समान अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है ॥८३॥ मनुष्यों को परजन्म में जाने के लिए इस धर्म के समान कोई पाथेय (मार्ग का व्यय) नहीं है तथा कल्याण करने वाला शुभ रूप ऐसा वा साथी भी इस धर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है ॥८४॥ इस धर्म के सिवाय अन्य कोई भी मनुष्यों को मोक्ष ले जाने में समर्थ नहीं है अथवा नरक से उद्धार करने के लिये भी तथा इन्द्रादिक श्रेष्ठ पद देने के लिए भी धर्म के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है ॥८५॥ अतएव सुख की इच्छा करने वालों को इस धर्म का ऐसा श्रेष्ठ फल समझ कर अपनी शक्ति के अनुसार पापों का त्याग कर इस एक धर्म का ही सेवन करना चाहिये ॥८६॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का धर्म तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है और समस्त दोषों से रहित है। ऐसे इस धर्म को जो अपनी शक्ति के अ आ वे तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवनीय ऐसे सारभूत सुखों का अनुभव कर

त्मशक्त्या । त्रिभुवनपतिसेव्यंशर्मसारं च भुक्त्वा जिनपतिविभव ते यान्तिमोक्षंगुणाब्धिम् ॥ ८७ ॥ धर्मश्रीधन-काङ्क्षिणां च धनदो धर्मश्रयन्तेविदो धर्मेणैवमदाप्यतेवरसुखं धर्मायभक्त्यानम' । धर्मान्नास्त्यपरोगुणाष्टजनको धर्मस्यखानिः क्रियाः धर्मेमेदधतोमनः प्रतिदिनंहेधर्म पापं जहि ॥ १८८ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
शीलगुणदशलाक्षणिकधर्मवर्णनोनामैकादशमोऽधिकारः ।

तीर्थंकर की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें अनेक गुणों के समुद्र ऐसे मोक्षस्थान में जा विराजमान होते हैं ॥८७॥ यह धर्म लक्ष्मी और धन की इच्छा करने वालों को धन देता है, विद्वान लोग ही इस धर्म को धारण करते हैं, इस धर्म से ही श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होती है, इसीलिए मैं इस धर्म के लिये भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं । इस धर्म के सिवाय सम्यक्त्व आदि आठों गुणों को देने वाला अन्य कोई नहीं है, क्रियाकर्म वा धर्मानुष्ठान ही-इस धर्म की खानि है अतएव मैं अपने मन को प्रतिदिन धर्म में ही लगाता हूं, हे धर्म तू मेरे पापों को नाश कर ॥१८८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रंथ में
शीलगुण दशलक्षण धर्म को निरूपण करनेवाला यह
ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।



द्वादशमोऽधिकारः ।



वीतरागान्मुनीन्द्रौघाननुप्रेक्षार्थचिन्तकान् । सद्ध्यानध्वस्तकर्मारीन् वन्देविश्वहितोद्यतान् ॥ १ ॥ प्रत्यहं या अनुप्रेक्षा द्वादशैव मुनीश्वरैः । वैराग्यायसदाध्येयास्तावद्येरागहानये ॥ २ ॥ अनित्याख्या ह्यनुप्रेक्षा द्वितीयाशरणाभिधा । संसारसंज्ञिकैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवाह्वयाः ॥ ३ ॥ संवरो निर्जरा लोको बोधिदुर्लभनामकः । धर्मराताअनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ ४ ॥ अनित्यानिसमस्तानि वपुरायुः सुखानि च । इन्द्रचापसमानानि

बारहवां अधिकार ।

जो मुनिराज वीतराग हैं अनुप्रेक्षाओं का सदा चिंतवन करते रहते हैं जिन्होंने अपने श्रेष्ठध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और जो समस्त संसार का हित करने वाले हैं ऐसे मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मुनियों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रतिदिन चिंतवन करना चाहिये। इसलिये रागद्वेप को नष्ट करने के लिए मैं उन अनुप्रेक्षाओं का निरूपण करता हूं ॥२॥ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं भगवान जिनेन्द्रदेव ने कही हैं ॥३–४॥ यह शरीर आयु सुख राज्य भवन और धन आदि सब अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं ॥५॥

राज्यसौधधनानि च ॥ ५ ॥ यौवनं जरयाकान्तं स्वायुर्यममुखेस्थितम् । रोगैः सन्मिश्रिता भोगा सौख्यं दुःखपुरस्सरम् ॥ ६ ॥ इन्द्रचक्रिवलेशादिपदानि शाश्वतानि न । इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यबलान्यभ्रोपमानि च ॥ ७ ॥ शृंचलाभाश्चलानार्यः कुटम्बस्वविडम्बकम् । पुत्राः पाशोपमा गेह वासा वन्दिगृहोपम. ॥ ८ ॥ रूप पुंसां क्षणध्वंसि संपावचलजीवितम् । सम्पदोविपदोन्तेस्युर्भंगुरनिखिल जगत् ॥ ९ ॥ आजन्मदिनमारभ्य जीवान् स्वान्तनयत्यहो । समयाद्यैः सदापापोयमोखण्डप्रयाणकैः ॥ १० ॥ यत्किंचिद्दृश्यतंवस्तु सुन्दरं भुवनत्रये । कालानलेनतत्सर्वं भस्मीभावभवेद्विधेः ॥ ११ ॥ इत्यनित्यं जगद्ज्ञात्वा नित्यंमोक्षसुलोभिनः । अनित्यै स्वशरीराद्यै. साधयन्तुदृगादिभिः ॥१२॥ वनेऽयाघ्रगृहीतस्यमृगस्येव जगत्त्रये । यमारातिगृहीतस्य जन्ता न शरण कश्चित् ॥ १३ ॥ अर्हन्तोत्राशरीराश्चात्रेविधा

यह यौवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, अपनी आयु यमराज के मुख में ही रह रही है, भोग सब रोगों से मिले हुए हैं और सुखों के आगे सदा दुःख ही बने रहते हैं ॥६॥ इन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहने वाले नहीं है, तथा इन्द्रिय आरोग्य सामर्थ्य और बल सब बादल के समान थाड़ी देर तक ही ठहरने वाले हैं ॥७॥ चंचल स्त्रियाँ संकल के समान बंधन में डालने वाली हैं कुटम्ब सब विडम्बना मात्र है, पुत्र जाल के समान बाँधने वाले हैं और घर का निवास कारागार के समान है ॥८॥ मनुष्यों का यह रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, संपत्तियाँ सब विपत्तियों के मध्य में रहती हैं। इस प्रकार यह समस्त जगत क्षणभंगुर है ॥९॥ यह महापापी यमराज समय समय के अनुसार थोड़ा थोड़ा चल कर जन्मपर्यंत सवेरे से शाम तक अनेक जीवों को अपने पास बुला लेता है ॥१०॥ इस संसार में तीनों लोकों में जो कुछ सुन्दर पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब कालरूपी अग्नि से जल कर भस्म हो जाते हैं ॥११॥ इस प्रकार जगत को अनित्य समझ कर मोक्ष के लोभी पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर इस अनित्य शरीरादिक से नित्य स्वरूप मोक्ष को सिद्ध कर लेना चाहिये ॥१२॥ जिस प्रकार किसी वन में किसी हिरण को सिंह पकड़ लेता है उस समय उस हिरण का कोई शरण नहीं है उसी प्रकार जब इस जीव को यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब इसको बचाने वाला शरणभूत तीनों लोकों में कोई दिखाई नहीं देता ॥१३॥ इसलिये

साधबोखिलोः । इहामुत्रशरण्याः स्युःसर्वत्रापदिधीमताम् ॥ १४ ॥ तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मोरत्नत्रयात्मकः । सहगामीशरण्यः स सतां यमान्तकोमहान् ॥ १५ ॥ संसारभयभीतानांजिनशासनमद्भुतम् । शरण्यंविद्यतेपुंसां जन्म-मृत्युसुखापहम् ॥ १६ ॥ मंत्रतंत्रौषधादीनि व्यर्थानिनिखिलान्यपि । सन्मुखेसति जन्तूनांयमेऽकिंचित्कराणि च ॥१७॥ नीयमानोयमेनांगीवराकः स्वालयप्रति । इन्द्रचक्रिखगेशाद्यैः क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥ १८ ॥ यत्रेन्द्राद्यायमेनाधः पात्यन्तेस्यपदाद्बलात् । कस्तत्रोद्धरतेन्योऽस्मात्सर्वजीवक्षयकरात् ॥ १९ ॥ विज्ञायेतिजिनेन्द्रोक्तधर्मस्यपरमेष्ठिनाम् । नित्यं मोक्ष यमादिभ्योव्रजन्तु शरणं बुधाः ॥ २० ॥ द्रव्यक्षेत्राभिधे कालभवभावाह्वयेऽशुभे । संसारे दुःखसम्पूर्णे भ्रमन्ति कर्मणांगिनः ॥ २१ ॥ कर्मनोकर्मपर्याप्तिभिर्गृहीता न पुद्गलाः । न मुक्ता बहुशो जीवैर्ये ते न स्युर्जग-

बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ही शरण हैं ॥१४॥ अथवा उन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ, तथा तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला, सर्वोत्कृष्ट और यमराज को नाश करने वाला ऐसा रत्नत्रय रूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है ॥१५॥ जीव मनुष्य संसार से भयभीत हैं उनके लिए जन्ममृत्यु के दुःखों को दूर करने वाला सर्वोत्कृष्ट यह जिनशासन ही शरणभूत है ॥१६॥ जिस समय यमराज इन जीवों के सन्मुख होता है उस समय मंत्र तंत्र और औषधि आदि सब न कुछ करने वाली व्यर्थ हो जाती हैं ॥१७॥ जिस समय यह यमराज इस दुखिया जीव को अपने घर ले जाता है उस समय इन्द्र चक्रवर्ती विद्याधर आदि कोई भी क्षणभर के लिये भी नहीं बचा सकता ॥१८॥ अरे जब यह यमराज इन्द्र को भी जबर्दस्ती अपने पैरों के नीचे डाल लेता है तो फिर समस्त जीवों को क्षय करने वाले यमराज से और कौन बचा सकता है ॥१९॥ यही समझ कर विद्वान पुरुषों को भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये धर्म की शरण लेनी चाहिये पाँचों परमेष्ठियों की शरण लेनी चाहिये और यम नियम पालन कर सदा रहने वाली मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥२०॥ यह संसार द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव के भेद से पाँच प्रकार का है, यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है ऐसे संसार में ये प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं ॥२१॥ इन तीनों लोकों में

दृगृहे ॥ २२ ॥ अधोमध्योर्द्ध्वलोकेषुभ्रमन्तोनिखिलांगिनः । यत्रोत्पन्नामृतानैव स प्रदेशो न विद्यते ॥ २३ ॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्देहिनः कर्मणा धृताः । येषु जातामृताहो न नस्युस्तेसमयाभुवि ॥ २४ ॥ चतुर्गतिषु जीवैश्च-
यावद्ग्रैवेयकान्तिमम् । न गृहीता न मुक्ता या सा योनिर्नास्तिभूतले ॥ २५ ॥ मिथ्याविरतिदुर्योगकषायैश्चनि-
रन्तरम् । प्रमादैर्विषयान्धाःस्वंनिघ्नन्ति कर्मपुद्गलैः ॥ २६ ॥ इति संसारकान्तारेऽनादौघोरेभ्रमन्त्यहो । धर्मरत्न-
त्रयोपेतं ह्यप्राप्येन्द्रिललोलुपाः ॥ २७ ॥ जन्ममृत्युजरादुःखरोगक्लेशशतानि च । इष्टवस्तुवियोगं चानिष्टसंयोग-
सञ्चयम् ॥ २८ ॥ अपमानशतादीनिदारिद्र्यंविरहान्बहून् । दौर्भाग्यादिमहादुःखान्प्राप्नुवन्तिभवांगिनः ॥ २९ ॥

ऐसे कोई पुद्गल नहीं है जो इस जीव ने कर्म नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनंतवार ग्रहण न किए हो और अनंतवार ही न छोडे हों ॥२२॥ ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई लोक का प्रदेश नहीं है जहाँ पर संसार मे परिभ्रमण करते हुए ये जीव उत्पन्न न हुए हों अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुए हों ॥२३॥ इसी प्रकार इस उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है जिसमें ये प्राणी अपने अपने कर्मों के उदय से न जन्मे हों और न मरे हों ॥२४॥ इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अंत तक ऐसी कोई योनि नहीं है जो इस जीव ने न ग्रहण की हो न मर कर छोड़ी हो ॥२५॥ विषयों में अंधे हुए ये जीव मिथ्यात्व अविरत कषाय प्रमाद और योगों के द्वारा निरंतर पुद्गलों के द्वारा बने हुए कर्मों का बंध करता रहता है ॥२६॥ इस प्रकार इन्द्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादि काल से चले आए घोर दुःखमय संसाररूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करते हैं ॥२७॥ ये संसारी जीव सैकड़ों जन्म मरण जरा दुःख रोग और क्लेशों को प्राप्त होते हैं, इष्ट पदार्थों के वियोग और अनिष्ट पदार्थों के संयोग को प्राप्त होते हैं, सैकड़ों अपमानों को प्राप्त होते हैं, दरिद्रता को प्राप्त होते हैं अनेक प्रकार के विरहों को प्राप्त होते हैं दुर्भाग्यता को प्राप्त होते हैं और अनेक महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥२८—२९॥ ये जीव अपने अपने कर्म के निमित्त से नरक में उत्पन्न होते हैं,

स्वभ्रस्थलजलाकाशेजायमानाविधेर्वशात् । म्रियमाणाः पराधीनालभन्तेदुःखमुल्वणम् ॥ ३० ॥ सुखदुःखद्वयंभान्ति संसारेनिर्विवेकिनाम् । किंचित्सुखलवेनैवसर्वंदुःखंविवेकिनाम् ॥ ३१ ॥ इत्यशर्माकरं ज्ञात्वाभवंमोक्षंसुखार्णवम् । साधयन्तु बुधाः शीघ्रं तपोरत्नत्रयादिभिः ॥ ३२ ॥ एकोरोगभराक्रान्तोरुदन् दोनोयमालयम् । गच्छेत्स्वजनमध्यान्न कोपि तेनसमव्रजेत् ॥३३॥ एकोवध्नाति कर्माणि ह्येकोभ्रमतिसंसृतौ । एकोत्र जायते देही एकश्चम्रियतेसदा ।३४॥ यत्रनानाहितैर्भोगैर्यः कायः पोषितोपि सः । पादैकं न व्रजेद्देहिनासार्द्धं दुर्जनादिवत् ॥ ३५ ॥ तत्र ये स्वजना जाताःस्वस्वकार्यपरायणाः । कर्मायत्ताः कथं यान्ति जीवेनसहतेखिलाः । ३६ ॥ एकः पापार्जनाद्गच्छेन्नरकं दुःख-

---

जल, स्थल, वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर पराधीन होकर मरते हैं इस प्रकार महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥३०॥ इस संसार में जो निर्विवेकी पुरुष हैं उनके लिये सुख दुःख दोनों अच्छे लगते हैं और विवेकी पुरुषों को सुख किञ्चिन्मात्र दिखाई देता है बाकी समस्त संसार महा दुःखमय प्रतीत होता है ॥३१॥ अतएव विद्वान् पुरुषों को इस संसार को अनेक दुःखों का घर समझ कर तपश्चरण और रत्नत्रय के द्वारा बहुत शीघ्र सुख का समुद्र ऐसा मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३२॥ यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्री होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता ॥३३॥ यह जीव अकेला ही कर्मबंध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है ॥३४॥ यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देने वाली भोगोपभोग सामग्री से पालन पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पैंड़ भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वह वहीं पड़ा रहता है ॥३५॥ इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटंबी लोग जो अपने अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे वे सब इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ? ॥३६॥ यह जीव इकट्ठे किए हुए पाप कर्म के उदय से अकेला ही दुःखों से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्म के उदय से अकेला ही समस्त सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता

पूरितम् । पुण्यपाकवशादेकः स्वर्गेसर्वसुखांकितम् ॥ ३७ ॥ त्रसस्थावरकायेष्वेकाकीभ्रमतिदुःखभाक् । आर्यम्लेच्छकुलेष्वत्रनृगतौविधिवचितः । ३८ ॥ एकस्तपोसिनाहत्वाकर्मारातीन् स्वपौरुषात् । मोहेनसहभव्योत्र व्रजेन्मोक्षं गुणाकरम् ॥ ३९ ॥ इत्येकत्वंपरिज्ञायत्रस्यसर्वत्रधीधनाः । एकत्वं भावयन्त्वात्मनोत्रैकत्वपदाप्तये ॥ ४० ॥ यत्रदेहात्पृथग्भूतोमृत.साक्षात्विलोक्यते । देही जडेतरैस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः ॥ ४१ ॥ जीवात्पंचेन्द्रियाण्यत्रभिन्नरूपाणि तत्त्वतः । कर्मजान्यन्यवस्तूनि मन कायवचांसि च ॥४२॥ अन्याामातापिताप्यन्योन्याभार्यास्वजनोखिल. । पुत्राद्यन्यत्कुटंबं च स्यादेहिनां चतुर्गतौ ॥ ४३ ॥ आत्मानदर्शनज्ञानवृत्तादिगुणभाजनम् । मुक्त्वा किंचिन्न वस्तुस्यात्स्वकीयभुवनत्रये ॥४४॥ इत्यन्यत्वंविदित्वास्वदेहादेस्तत्त्ववेदिन' । पृथक्कृत्यांगतोऽभ्यन्तरेध्यायन्तुस्वचिन्मयम् ॥४५॥

है ॥३७॥ कर्मों से ठगा हुआ वह प्राणी अकेला ही दुःखी होता हुआ त्रस और स्थावरकायिक जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्यगति में आर्य वा म्लेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है ॥३८॥ इसी प्रकार यह अकेला ही भव्य जीव अपने पौरुष से तपश्चरणरूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ साथ समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर अनंत गुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है ॥३९॥ इस प्रकार सर्वत्र अपने अकेलेपन का परिज्ञान कर के बुद्धिमानों को मोक्षरूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिए इस एकत्व भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ॥४०॥ जहाँ पर मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यमय अन्य पदार्थ वा कुटम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं ॥४१॥ वास्तव में देखा जाय तो पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने अपने कर्म के उदय से प्राप्त हुए हैं ॥४२॥ चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न है पिता भी भिन्न हैं स्त्री भी भिन्न हैं समस्त कुटम्ब वर्ग भी भिन्न है और पुत्रादिक भी सब भिन्न हैं ॥४३॥ इन तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्मा को छोड़ कर बाकी का और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है ॥४४॥ तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इस प्रकार अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न समझ कर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप

दृश्यते यत्रदुर्गंधेस्वदेहेप्यशुभाकरे। विश्वाशुचित्वबाहुल्यंभार्यादौ तत्र किं शुचिः ॥ ४६। एकान्ततोऽशुभं तीव्रं नरकेछेदनादिजम्। नारकांगेऽशुचित्वं च कृत्स्नदुःखनिबन्धनम् ॥ ४७ ॥ देहछेदांगभारारोपणाद्यशुभमुल्बणम्। तिर्यग्गतौतद्गादौ चाशुचित्वक्रमिव्रजम् ॥४८॥ वीभत्सेश्वभ्रसादृश्ये गर्भे वसन्तिदेहिनः। नवमासान् ततो जन्मलभन्तेऽशुचियोनिना ॥४६॥ बालत्वेऽशुचिमध्येत्रलोटन्ति यौवन नराः। सेवन्ते चाशुचिद्वारंस्त्रीणांकामार्तपीडिता॥५०॥ रक्तमांसाशुभाकीर्णं चर्मबद्धास्थिसंचयम्। विश्वाशुभाकरीभूतं मलमूत्रादिभाजनम् ॥ ५१ ॥ रोगोरगबिलनिंद्यमशुभं स्वकलेवरम्। विद्धि त्वं दुःखदंसर्वानर्थानां मूलमञ्जसा ॥ ५२ ॥ स्त्र्यशुचिद्वार जाता ये भोगाश्चस्वान्यदेहयोः।

आत्मा को अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए उसका ध्यान करना चाहिये ॥४५॥ जहाँ पर अनेक अशुभों की खानि और दुर्गंधमय अपने शरीर में ही समस्त अपवित्रता की बहुलता दिखाई देती है फिर भला स्त्रियों के शरीर में पवित्रता कैसे आ सकती है ॥४६॥ देखो नरक में नारकियों के शरीर में तीव्र अपवित्रता है, वह अपवित्रता स्वभाव से ही अशुभ रूप है छेदन भेदन से उत्पन्न होती है और अन्य समस्त दुःखों के कारणों से उत्पन्न होती है ॥४७॥ तिर्यंचगति में भी तिर्यंचों का शरीर छेदा जाता है अधिक भार से वह थक जाता है अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं उसमें कीड़े पड़ जाते हैं इस प्रकार तिर्यंचों का शरीर भी अत्यंत अपवित्र है ॥४८॥ मनुष्यभव में यह प्राणी नौ महीने तक तो नरक के समान अत्यंत वीभत्स गर्भ में निवास करता है और फिर अत्यंत अपवित्र योनि के द्वारा जन्म लेता है ॥४६॥ फिर बालकपन में अपवित्र स्थानों में ही लोटता फिरता है और यौवन अवस्था में काम से पीड़ित होकर स्त्रियों की महा अपवित्र योनि का सेवन करता है ॥५०॥ हे जीव देख तेरा यह शरीर रुधिर मांस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका है भीतर हड्डियो का ढेर भर रहा है मल मूत्र का भाजन है समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोगरूपी सर्पों का बिल है अत्यंत निंद्य है अनेक दुःख देने वाला है और समस्त अनर्थों की जड़ है। हे जीव तू अपने शरीर को ऐसा समझ ॥५१–५२॥ जा भोग स्त्रियों की अत्यंत अपवित्र योनि से

कदर्थनाभवास्तेषामशुभवर्ण्यतेत्रकिम् ॥५३॥ इत्याद्यशुचिसम्पूर्णंजगद्ज्ञात्वाविरागिणः। वपुषाऽशुचिना मोक्षं साधयन्तु शुचिप्रदम् ॥ ५४ ॥ भयदुःखशताकीर्णे घोरेससारसागरे। कर्मास्त्रवैर्निमज्जन्तिधर्मपोतातिगा जनाः ॥ ५५ ॥ रागद्वेषौ-द्विधामोहःखानि सञ्ज्ञाश्चतुःप्रमाः। गौरवाणिंकषायाश्चयोगाहिंसादयोनृणाम् ॥ ५६ ॥ एते नर्थाकरीभूताद्दुस्त्याज्या कातरागिनाम्। त्याज्याः कर्मारिभीतैः कृत्स्नकर्मास्त्रवहेतवः ॥ ५७ ॥ येनात्र तुष्यति द्रव्ये कुत्सिते द्वेष्टि दुर्जनः। दृग्वृत्तादौ च तौ रागद्वेषौधिग्भवतोऽशुभौ ॥ ५८ ॥ येनादत्ते न सन्मार्गं कुमार्गमन्यते जनः। अक्षामिषे सुख वेत्ति द्विधामोहोधिगस्तु सः ॥ ५९ ॥ अभिभूता जगज्जीवा वार वार चतुर्गतौ। स्व जानन्ति न यैस्तानिखानियान्तु-

---

उत्पन्न हुए हैं तथा अपने और दूसरों के शरीर को संघट्टित करने से उत्पन्न होते हैं उन भोगों की अपवित्रता का भला क्या वर्णन करना चाहिये। अर्थात् वे तो अत्यंत अपवित्र हैं हीं ॥५३। इस प्रकार इस प्रकार समस्त जगत को अपवित्रमय जान कर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यंत पवित्र ऐसी मोक्ष सिद्ध कर लेनी चाहिये ॥५४॥ जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्रव होते रहने से सैकड़ों भय और दुःखों से भरे हुये इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं ॥५५॥ राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियाँ, चारों प्रकार की संज्ञा, गारव, कषाय, योग और हिंसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं और कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इसका त्याग कर सकते हैं इसलिये कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहने वाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥५६–५७॥ जिस राग द्वेष के कारण दुष्ट पुरुष धनादिक द्रव्यों में संतोष मनाते हैं और कुत्सित द्रव्य में द्वेष करते हैं अथवा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र में द्वेष करते हैं ऐसे अशुभ रागद्वेष को वार वार धिक्कार हो ॥५८॥ जिस मोह के कारण यह जीव श्रेष्ठ मार्ग को तो ग्रहण नहीं करता और कुमार्ग को बहुत अच्छा मानता है तथा जिस मोह इन्द्रियों के विषयों में ही सुख मानता है ऐसे दोनों प्रकार के मोह को बार बार धिक्कार हो ॥५९॥ जिन इन्द्रियों के कारण ये जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर बार बार तिरस्कृत होते हैं और अपने

त्वयंसताम् ॥ ६० ॥ संज्ञाभिर्याभिरत्यर्थंपीड़िताजन्तवोखिला: । अर्जयन्तिमहापापं ता यान्तुप्रलयं स्वत: ॥ ६१ ॥ गारवैर्यैर्जडा: पाप घोरं गुरुतरं वृथा । उपार्ज्य नरकं यान्ति गच्छन्तु नाशमाशु ते ॥ ६२ ॥ कषायरिपवस्तेत्र व्रजन्तुक्षयमंजसा । यैर्दुष्कर्मस्थितिं कृत्वा पतन्ति नरकेंगिन: ॥ ६३ ॥ दुर्योगैर्यैर्निजात्मानंनिवद्धकर्मवन्धनै: । क्षयन्तिदुर्गतौ जीवास्तेधिग्भवन्तु चंचला ॥ ६४ ॥ हिंसाद्यै: पंचभिर्घोरैर्यैरुपार्ज्याघकिल्विषम् । गच्छन्तिदुर्धिय:श्वभ्रं प्रलयंयान्तुपच ते ॥ ६५ ॥ इत्याद्यै: प्रत्ययै:सर्वै: कर्मास्रवैर्गले धृता: । भ्रमन्त्यत्र शठा: नित्यं लभन्ते दु:खमुल्वणम् ॥ ६६ ॥ यावत्कर्मास्रवोल्पोपिकुर्वतामपि सत्तप: । न तावच्छाश्वतस्थानं किन्तुसंसारएव हि ॥ ६७ ॥ इत्यास्रवमहादोषान् ज्ञात्वानिरुध्यप्रत्ययान् । योगशुध्यास्रवान्विश्वान् निराकुर्वन्तुधीधना: ॥ ६८ ॥ रागद्वेषादिपूर्वोक्तान्

आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते ऐसी इन सज्जनों की इन्द्रियों का शीघ्र ही नाश हो ॥६०॥ जिन आहारादिक संज्ञाओं के कारण ये समस्त जीव अत्यंत पीड़ित वा दुःखी हो रहे हैं और महापाप उत्पन्न कर रहे हैं उन संज्ञाओं का भी अपने आप नाश हो ॥६१॥ जिन गारव तथा अभिमानों से ये अज्ञानी जीव व्यर्थ ही महा पाप उपार्जन कर नरक में जाते हैं उन अभिमानों का भी शीघ्र ही नाश हो ॥६२॥ जिन कषायों से ये जीव कर्मों की स्थिति बाँध कर नरक में पड़ते हैं वे कषायरूपी शत्रु शीघ्र ही नाश को प्राप्त हों ॥६३॥ जिन चंचल योगों से ये जीव अपने आत्मा को कर्मरूपी बंधनों से बाँध कर दुर्गति में गिर पड़ते हैं उन चंचल योगों को भी धिक्कार हो ॥६४॥ जिन हिंसादिक पाँचों पापों से ये मूर्ख जीव घोर पापो का उपार्जन कर नरक में पड़ते हैं उन पाँचों पापों का भी शीघ्र ही नाश हो ॥६५॥ इस प्रकार कर्मास्रव के समस्त कारणों से जकड़े हुए मूर्ख प्राणी इस संसार में सदा परिभ्रमण किया करते हैं और घोर दुःखों का अनुभव किया करते हैं ॥६६॥ श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियों के भी जब तक थोड़े से कर्मों का भी आस्रव होता रहता है तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किंतु उनका संसार ही बढ़ता रहता है ॥६७॥ इस प्रकार आस्रव के महा दोषों को समझ कर बुद्धिमान मुनियों को मन वचन काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोक कर समस्त आस्रव को बंद कर देना चाहिये ॥६८॥ पहले जो राग द्वेष आदि आस्रव के कारण बतलाये हैं उन

निरुध्यास्रवकारणान् । कर्मास्रव निरोधे यः संवरः स शिवंकरः ॥ ६९ ॥ रागद्वेषौनिरुध्येतेसर्पौवा ज्ञानमंत्रतः । दृग्वृत्ताभ्यांद्विधामोहो रुध्यते दुष्टदंतिवत् ॥ ७० ॥ तपसेन्द्रियसंज्ञानिराक्रियन्तेजितेन्द्रियैः । गौरवाविनयेनात्रत्यज्यन्ते वैरिणोयथा ॥ ७१ ॥ निगृह्यन्तेकषायाश्चक्षमाद्यस्त्रैरिवारयः । निरुध्यन्ते चलायोगागुप्तिपाशेन वा मृगाः ॥ ७२ ॥ हिंसादीनिनिवार्यन्तेसमितिव्रतसयमैः । प्रशस्तध्यानलेश्याद्यै रुध्यतेसकलास्रव. ॥ ७३ ॥ इतियुक्त्यासुयोगाद्यैर्निरुध्य-निखिलास्रवान् । ये कुर्यु: संवर तेषा निर्वाणनिर्जरायुतम् ॥ ७४ ॥ येन कर्मास्रवोरुद्धः संवरोयुक्तिभिः कृतः । तस्यैवेष्टसुसिद्धि: स्यात्ताविनाऽनिष्फल तप. ॥ ७५ ॥ मत्वेति मंवर दक्षाःकुर्वन्त्वेक शिवाप्तये । परीषह जयैज्ञान-सध्यानसयमादिभिः ॥ ७६ ॥ रुद्धास्रवमहर्षेश्चारित्रसद्गुणभागनः । तपोभिर्दुष्करैर्मुक्तिजननीनिर्जराभवेत् ॥७७॥

सबको रोक कर कर्मों के आस्रव का निरोध करना चाहिये। कर्मों के आस्रव का निरोध होना ही मोक्ष देने वाला संवर है ॥६९॥ ये राग द्वेषरूपी सर्प ज्ञानरूपी मंत्र से रोके जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से दुष्ट हाथी के समान दोनों प्रकार का मोह रुक जाता है ॥७०॥ जितेन्द्रिय पुरुष तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय और संज्ञाओं को रोकते हैं और गारवों वा अभिमानों को शत्रुओं के समान विनय से रोकते हैं ॥७१॥ इसी प्रकार कषायरूपी शत्रुओं को क्षमा मार्दव आदि शस्त्रों से वश में करते हैं गुप्तिरूपी जाल से हिरणों के समान चंचल योगों को वश में कर लेते हैं ॥७२॥ इसी प्रकार व्रत समिति और संयम से हिंसादिक पाँचों पापों को निवारण करते हैं और प्रशस्त ध्यान तथा शुक्ललेश्या से समस्त आस्रव को रोक देते हैं ॥७३॥ इस प्रकार योग धारण कर युक्तिपूर्वक जो समस्त आस्रवों को रोक लेते हैं और संवर धारण कर लेते हैं उनके कर्मों की निर्जरा के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७४॥ जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोक कर संवर धारण किया है उसी के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिये ॥७५॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये परीषहों को जीत कर, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठध्यान को धारण कर और संयम को पालन कर एक संवर ही सिद्ध कर लेना चाहिये ॥७६॥ जिन महामुनियों ने समस्त आस्रव को रोक दिया है और जो चारित्ररूपी श्रेष्ठ

निर्जरा सा द्विधाज्ञेयादेशतः सर्वतोनृणाम । स्वकर्मवशतोदेशनिर्जरान्यतपो भवा ॥ ७८ ॥ चतुर्गतिषुसर्वेषांभ्रमतां कर्मणां त्तयात् । श्रमाद्यानिर्जराजाता साहेयादेशनिर्जरा ॥ ७६ ॥ संवरेण समं यत्नात्तपोभिर्याबुधैः कृता । विपुला मुक्तिसंसिध्यै सा ग्राह्यासर्वनिर्जरा ॥ ८० ॥ अग्निना धातुपाषाणो यथाशुध्यतियोगतः । तथा तपोग्निनाभव्यः कृतःसंवरनिर्जरः ॥८१॥ यथा यथामुनोन्द्राणां जायते कर्मनिर्जरा । तथातथा च मुक्तिस्त्रीमुदायातिस्वयंवरा ॥८२॥ ध्यानयोगेनभव्यानां समस्तकर्मनिर्जरा । यदातदैव जायेत मोत्तलक्ष्मी गुणैःसमम् ॥ ८३ ॥ मत्वेतिनिर्जरानित्यं कर्तव्यामुक्तयेबुधैः । तपोयोगैः सदाचारैः सर्वासंवरपूर्विका ॥ ८४ ॥ अधोवेत्रासनाकारो मध्येस्याद्झल्लरीसमः ।

गुण को धारण करते हैं उनके कठिन कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोत्त की देने वाली निर्जरा होती है ॥७७॥ वह निर्जरा दो प्रकार की है एक एकदेश निर्जरा और दूसरी सर्वदेश निर्जरा। उनमें से एकदेश निर्जरा अपने अपने कर्मों के उदय से होती है और सर्वदेश निर्जरा तपश्चरण से होती है ॥७८॥ चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीवों के कर्मों के त्तय होने से जो निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है ॥७६॥ बुद्धिमान् लोग जो मोत्त प्राप्त करने के लिए संवर के साथ साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है ॥८०॥ जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातुपाषाण (जिस पाषाण में सोना या चाँदी निकले) युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरणरूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करने वाला भव्य जीव अत्यंत शुद्ध हो जाता ॥८१॥ मुनियों के जैसी जैसी कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे स्वयं वरण करने वाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है ॥८२॥ जिस समय भव्य जीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय अनंत गुणों के साथ साथ मोत्तलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥८३॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोत्त प्राप्त करने के लिए तपश्चरण ध्यान और सदाचार धारण कर संवर पूर्वक पूर्ण कर्मों की निर्जर सदा करते रहना चाहिये ॥८४॥ यह लोकाकाश

मृदंगसदृशश्चाग्रे लोकस्येतित्रिधास्थिति. । ८५ ॥ पापिनः पापपाकेनपच्यन्तेछेदनादिभिः । सप्तश्वभ्रेष्वधोभागे नारका' नरकेसदा' ॥८६॥ पुण्येनपुण्यवन्तोस्योर्ध्व भागेसुखमुल्वणम् । कल्पकल्पान्तविश्वेपुभुजन्तिस्त्रीमहर्द्धिभि. ॥८७॥ कचित्सौख्यं कचिद्दुःखं मध्येलोके कचिद्द्वयम् । प्राप्नुवन्तिनृतिर्यंचपुण्यपापवशीकृता: ॥ ८८ ॥ लोकाग्रेशाश्वतं धाम मनुष्यक्षेत्रसम्मितम् । सिद्धा यत्रलभन्तेहो अनन्त सुखमात्मजम् ॥ ८६ ॥ इति लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थ शिवालयम् । हत्वामोह दृगाद्यैश्चसाधयन्तुविदोद्रुतम ॥ ६० ॥ युगच्छिद्रेप्रवेशश्चसमिलाया यथाम्बुधौ । दुर्लभोऽन–

नीचे वेत्रासन के (स्टूल के) आकार हैं, मध्य में झल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग (परवावज) के आकार है। इस प्रकार यह लोक तीन भागों में बटा हुआ है ॥८५॥ इस लोक के अधो भाग में सातों नरकों में महा पापी नारकी अपने पाप कर्म के उदय से छेदन भेदन आदि के द्वारा महा दुःख भोगा करते हैं ॥८६॥ इसी प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्पवासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्य कर्म के उदय से देवांगना और महा ऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महा ऋद्धियों के द्वारा अत्यंत उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं ॥८७॥ इसी प्रकार मध्य लोक में पुण्य पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यंच कहीं सुख भोगते हैं कहीं दुःख भोगते हैं और कहीं सुख दुःख दोनों भोगते हैं ॥८८॥ इस लोक के शिखर पर मनुष्य लोक के समान एक नित्य स्थान है जहाँ पर सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत सुखों का अनुभव किया करते हैं ॥८६॥ इस प्रकार तीनों लोकों का स्वरूप समझ कर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझ कर विद्वान पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥६०॥ यदि किसी समुद्र में एक ओर बैल के कंधे का जूआ डाला जाय और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जूए के छिद्र में पड़ने वाली बाँस की कील डाली जाय जिस प्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जूए के छिद्र में उस बाँस की कील का पड़ जाना अत्यंत कठिन है

न्नसंसारेन्नृभवोत्रतथांगिनाम् ॥ ६१ ॥ क्वचिल्लब्धेमनुष्यत्वेप्यार्यदेशोतिदुर्लभः । तस्मात्सुकुलमत्यर्थं दुर्लभंकल्पशा-
खिवत् ॥ ६२ ॥ कुलतोदुर्लभंरूपं रूपादायुश्चदुर्घटम् । आरोग्यमायुषोक्षाणिपटूनिसुलभानि न ॥ ६३ ॥ तेभ्योपि
सुमतिः साध्वीनिष्पापासुष्ठुदुर्लभा । मतेः कषायहीनत्वं विवेकाश्चतिदुर्लभम् ॥ ६४ ॥ एतेभ्यः सद्गुरो सारः
संयोगोदुर्लभस्तराम् । संयोगाद्धर्मशास्त्राणांश्रवणंधारणं नृणाम् ॥ ६५ ॥ सुगमं न ततः श्रद्धानंनिश्चयोतिदुर्लभः ।
ततःसद्दर्शनज्ञानेविशुद्धिःसुष्ठुदुर्लभा ॥ ६६ ॥ ततो निर्मलचारित्रंदुष्प्राप्यंनिधिवत्तराम् । लब्धेप्यत्रेपुमत्रेपुयावज्जीवं

उसी प्रकार अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन
है ॥६१॥ यदि कदाचित् किसी काल में मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाय तो आर्य देश में जन्म होना
अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् आर्य देश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान
श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यंत कठिन है ॥६२॥ इसी प्रकार उत्तम कुल से सुन्दर रूप का प्राप्त होना
दुर्लभ है, उससे पूर्ण आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है। पूर्ण आयु से भी नीरोग शरीर का प्राप्त होना अत्यंत
दुर्लभ है और नीरोग शरीर की प्राप्ति होने पर भी इन्द्रियों की चतुरता प्राप्त होना कभी सुलभ नहीं हो
सकता ॥६३॥ कदाचित् इन्द्रियों की चतुरता भी प्राप्त हो जाय तो पापरहित श्रेष्ठ बुद्धि का मिलना
अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् निष्पाप बुद्धि भी प्राप्त हो जाय तो कषाय रहित होना और विवेक
का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥६४॥ इन समस्त संयोगों के मिल जाने पर भी सारभूत श्रेष्ठ गुरु
का संयोग मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् श्रेष्ठ गुरु का भी संयोग मिल जाय तो धर्मशास्त्रों
का सुनना तथा उनका धारण करना उत्तरोत्तर अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् इनका भी संयोग मिल
जाय तो उन धर्मशास्त्रों में कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करना उनका निश्चय करना अत्यंत ही दुर्लभ है।
तथा उस श्रद्धान से भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विशुद्धि रखना अत्यंत ही दुर्लभ है ॥६५–६६॥
कदाचित् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की विशुद्धि भी प्राप्त हो जाय निधि के मिलने के समान निर्मल

निरन्तरम् ॥ ६७ ॥ सर्वदानिरवद्याचरणमत्यन्तदुर्घटम् । तस्मात्समाधिमृत्युः स्यान्निधिवद्दुर्लभःसताम् ॥ ६८ ॥ इतिदुर्लभबोधिं ये प्राप्ययत्नेनधीधनाः । साधयन्तिशिवादीनि तेषां बोधिफलं भवेत् ॥ ६६ ॥ आसाद्यबोधिमज्ञा ये कुर्वते मोक्षसाधने । प्रमादं दीर्घसंसारे ते भ्रमन्तिविधेर्वशात् ॥ १०० ॥ मत्वेतिबोधिसद्रत्नंप्राप्यशीघ्रं शिवश्रियम् । साधयन्तु बुधायत्नाद्येन तत्सफलंभवेत् ॥ १ ॥ प्रागुक्तोदशधाधर्मं कर्तव्योधर्मकाङ्क्षिभिः । भुक्तिमुक्तिप्रदोनित्यं क्षमादि लक्षणोत्तमः ॥२॥ अनुप्रेक्षा इमा सद्भिर्द्वादशैव निरन्तरम् । वैराग्यवृद्धये ध्येया रागहान्यै शिवंकरा ॥३॥ एताद्वादशभावनाः सुविमलास्तीर्थेश्वरैः सेविता प्रोक्ताभव्यनृणांहिताय परमा वैराग्यवृध्यै बुधाः । ये ध्यायन्ति

चारित्र का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् इन सबका संयोग प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन पर्यंत निरंतर सर्वदा निर्दोष चारित्र का पालन करना अत्यंत ही दुर्लभ है। यदि कदाचित् यह भी प्राप्त हो जाय तो सज्जनों को निधि मिलने के समान समाधिमरण का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥६७–६८॥ इस प्रकार अत्यंत दुर्लभ ऐसे बोधि रूप रत्नत्रय को पाकर जो विद्वान् प्रयत्न पूर्वक मोक्षादिक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को बोधि का फल प्राप्त हुआ समझना चाहिये ॥६६॥ जो मूर्ख पुरुष इस रत्नत्रय रूप बोधि को पाकर मोक्ष के सिद्ध करने में प्रमाद करते हैं वे पुरुष अपने कर्मों के उदय से दीर्घकाल तक इस महा संसार में परिभ्रमण किया करते हैं ॥१००॥ यही समझ कर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे उनका बोधि का प्राप्त होना सफल हो जाय ॥१०१॥ धर्म की इच्छा करने वाले पुरुषों को उत्तम क्षमा मार्दव आदि लक्षणों से सुशोभित तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाला जो ऊपर कहा हुआ दश प्रकार का धर्म है वह सदा पालन करते रहना चाहिये ॥१०२॥ विद्वान् पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए और रागद्वेष को नष्ट करने के लिए इन बारह अनुप्रेक्षाओं का निरंतर चिंतवन करते रहना चाहिये। क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएं अवश्य मोक्ष प्रदान करने वाली हैं ॥१०३॥ ये बारह भावनाएं अत्यंत निर्मल हैं. तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिंतवन करते हैं और भव्य जीवों का हित

सदाऽमलेस्वहृदये तेषांमुदावर्द्धतेसंवेगोत्रपरोविनश्यतितरांरागः शिवश्रीर्भवेत ॥ ४ ॥ निरूपमगुणखानीर्मोक्षलक्ष्मी- सखीश्च जिनवरमुखजाताः सेविता श्रीगणेशैः दुरितगिरिविघातेवज्रधाराः सदैव प्रभजतशिवकामा भावना द्वादशैताः ॥ ५ ॥ मुनीनां श्रेयसोढव्याः परीषहाश्चतानिह । मार्गाच्यवनदुष्कर्मनिर्जरार्थंनिशाम्यहम् ॥ ६ ॥ क्षुत्पिपासाख्यशीतोष्णाख्यौ दंशमशकाह्वयः । नाग्न्यारत्यभिधौस्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहौ ॥ ७ ॥ शय्याक्रोशोवधोयां- चालाभोरोगपरीषहः । तृणस्पर्शोमलःसत्कारपुरस्कारसंज्ञकः ॥ ८ ॥ प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनान्येतेपरीषहा. । सोढव्या यतिभिर्नित्यंद्वात्रिंशतिः शिवाप्तये ॥ ९ ॥ षष्ठाष्टमेकपक्षाद्युपवासालाभकारणैः । उत्पद्यतेमुनेः स्यान्तर्दाहिन्यग्नि- शिखेवक्षुत् ॥ १० ॥ यदातेन तदाचिंत्योस्मरणीयमिदं स्फुटम् । अहो परवशेनात्रयाप्ता क्षुद्वेदनामया ॥ ११ ॥

करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिए कही गई हैं। इसलिये जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है ॥१०४॥ ये बारह भावनाएं अनुपम गुणों की खानि हैं मोक्षलक्ष्मी की सखी हैं भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई हैं तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पापरूपी पर्वतों को चूर चूर करने के लिए वज्र की धारा के समान हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इन बारह भावनाओं का चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥१०५॥ मुनिराज अपने चारित्रमार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए तथा पाप कर्मों की निर्जरा करने के लिए जिन परीषहों को अवश्य सहन करते हैं उनको मैं कहता हूं ॥१०६॥ क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्नन्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, यांचा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिये ॥७-९॥ किसी मुनिराज ने वेला वा तेला किया हो अथवा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास किया और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अंतरंग को जलाने वाली क्षुधा उत्पन्न होती है ॥११०॥ उस समय उन मुनिराज को अपने हृदय में यह चिंतवन करना चाहिये

नृगतौबन्दिगेहाद्यैः जलस्थलखगादिषु । तिर्यग्गतौनिरोधाद्यैश्वभ्रेषु भ्रमता चिरम् ॥ १२ ॥ तस्या इयं कियन्मात्रा विचिन्त्येतिशिवार्थिना । जेतव्या वेदना क्षुज्जा सन्तोषात्तेननान्यथा ॥ १३ ॥ बहूपवासमार्गश्रमविरुद्धान्नसेवनैः । ग्रीष्मभानुकरैस्तीव्रापिपासा जायतेयते ॥ १४ ॥ तदेदंचिन्तनीयं सन्मुनिनादुर्द्धरातृषा । पराधीनतयात्राहो अनुभूताचिरमया ॥ १५ ॥ नरतिर्यग्गतौश्वभ्रेप्रदेशेनिर्जले वने । इति ध्यानेनधीरः सज्जयतात्तृट्परीषहम ॥ १६ ॥ शुष्कोष्ठमुखसर्वांगस्तृषाग्निस्तपितोपिसन् । तच्छान्त्यै जातु न कुर्यान्मुखप्रक्षालनादिकम् ॥ १७ ॥ तुषारबहुलेशीतकालेचतु.पथादिषु । स्थितस्यशीतवाताद्यै. शीतबाधापराभवेत् ॥१८॥ तदैपनारकाणां च पशूनां नृदरिद्रिणाम ।

कि मैंने परवश होकर जो भूख की वेदना सही है मनुष्यगति में बंदीगृह में पड़ कर भूख की वेदना सही है जलचर थलचर और नभचर के पशु पक्षियों की योनियों में जो भूख की वेदना सही है। तिर्यंचगति में बाँधे जाने वा रोके जाने के कारण जो भूख की वेदना सही है तथा नरकगति में जो भूख की वेदना सही है उसके सामने यह भूख कितनी है कुछ भी नहीं है इस प्रकार चितवन कर मोक्ष चाहने वालों को संतोष धारण कर भूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिये बिना संतोष के क्षुधा वेदना कभी नहीं जीती जा सकती ॥११–१३॥ अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों को तीव्र प्यास की वेदना होती है। उस उस समय उन मुनियों को इस प्रकार चितवन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर मनुष्यगति में तिर्यंचगति में नरक में और निर्जन वनों में चिरकाल तक बड़ी बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है। इस प्रकार चितवन कर उन धीरवीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतनी चाहिये ॥१४–१६॥ यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के ओठ सूख गये हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी वे उस प्यास की शांति के लिए अपना मुख प्रक्षालन आदि कभी नहीं करते हैं ॥१७॥ जिस शीत ऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराये पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है। उस समय वे मुनिराज नारकियों के पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों

चिन्तनैः शीतदुःखौघं सहनेद्दृढचेतसा ॥ १९ ॥ तथाध्यानोष्मणा योगी शीतबाधांनिवारयेत् । मनाक्प्रावरणा-
ग्न्यादीन्शीतशान्त्यैनेचिन्तयेत ॥ २० ॥ ग्रीष्मोग्रभास्करोष्णांशुपित्तरोगपथश्रमैः । आतापनमहायोगक्षाराद्यन्नानश-
नादिभिः ॥ २१ ॥ दुस्सहोष्णमहातापो जायते वनवासिनः । निराश्रयपशुनृणां नारकाणां विधेर्वशात् ॥ २२ ॥
आतोष्णचिन्तनेनासौसद्ज्ञानामृतपानतः । उष्णदुःखं जयेन्नाम्बुसेकावगाहनादिभिः ॥ २३ ॥ दंशैश्चमशकैः सर्वै-
र्मक्षिकावृश्चिकादिभिः । भक्षमाणोत्र दिग्वस्त्रो वृक्षमूलादिषुस्थितः ॥ २४ ॥ न मनाक्खिद्यतेयत्रध्यानीध्यानबलेन
च । परीषहजयो ज्ञेयः स दंशमशकाह्वयः ॥ २५ ॥ नग्नत्वेन च ये जाताः शीतोष्णाद्याउपद्रवाः । शरीरविक्रिया

को चिंतवन करते हुए अपने चित्त को दृढ़ बना कर शीत की वेदना को सहन करते हैं ॥१८–१९॥ उस समय वे मुनिराज ध्यानरूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिए न तो किसी के ओढ़ने का चिंतवन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करने वाले पदार्थों का चिंतवन करते हैं ॥२०॥ गर्मी के दिनों में जब सूर्य की किरणे अत्यंत तीव्र और उष्ण होती हैं वा पित्त रोग हो जाता है अथवा मार्ग के चलने से परिश्रम बढ़ जाता है वा वे मुनिराज आतापन महा योग धारण कर लेते हैं अथवा वे अधिक लवण मिला हुआ अन्न ग्रहण कर लेते हैं उस समय वन में निवास करने वाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महा संताप उत्पन्न होता है। उस समय वे निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के, वा नारकियों के कर्मों के उदय से होने वाली तीव्र उष्ण वेदना का चिंतवन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते ॥२१–२३॥ जो मुनि दिगम्बर अवस्था को धारण किये हुए किसी वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, उस समय यदि कोई डांस मच्छर मक्खी बीछू आदि कीड़े मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंचमात्र भी खेद खिन्न नहीं होते और न वे ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं इसको दंशमशक परीषह विजय कहते हैं ॥२४–२५॥ नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठंडी गर्मी के उपद्रव होते हैं अनेक जीव काट लेते हैं शरीर में कोई विकार

जीवभक्षणैर्हसनादिभिः ॥ २६ ॥ सह्यन्ते यत्रधैर्येण ते संक्लेशाद्विनान्वहम् । दिगम्बरधरैर्ज्ञेयो नाग्न्यदोषजयोत्र सः ॥ २७ ॥॥ अरण्यवासशीतोष्णोग्रतपश्चरणादिभिः । शब्दैर्भयानकैर्जातारतिः सिंहादिजैर्निशि ॥ २८ ॥ मुनिभिर्जीयते यात्र रतिं कृत्वागमामृते । ध्यानज्ञानरतैःस्याच्चारतिवाधाजयोऽत्र सः ॥ २६ ॥ हावभावविलासागास्यभ्रूविकार जल्पनैः । कटाक्षशरविक्षेपैः श्रृंगाररसदर्शनैः ॥ ३० ॥ उन्मत्तयौवनास्त्रीभि. कृतोनर्थोव्रतान्तकः । सह्यतेयोगिभिर्योत्रस्त्रीवाधाजयएव सः ॥ ३१ ॥ भीमारण्याद्रिदुर्गेषु नानादेशपुरादिषु । विहरद्भिः सदाखडपाषाणकंटकादिभिः ॥ ३२ ॥ जातपादव्यथाया यः क्रियतेसर्वथाजय' । निर्ग्रंथैर्मुक्तयेचर्यापरीषह जयोत्रसः ॥ ३३ ॥ बहूप-

भी हो जाता है और अनेक दुष्ट लोग भी उनको देख कर हंसते हैं इन सब उपद्रवों को वे दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ प्रति दिन सहन करते हैं इसको नाग्न्य परीषह जय कहते हैं ॥२६–२७॥ वन का निवास, शीत उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं तथापि ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले वे मुनिराज आगमरूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति की बाधा को जीतते हैं इसको अरति परीषह जय कहते हैं ॥२८–२६॥ कोई मुनिराज किसी एकांत स्थान में विराजमान हों और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियाँ आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार मुख के विकार भोहों के विकार गाना बजाना बकवाद करना कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना, और शृंगार रस का दिखाना आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करने वाला अनर्थ करती हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं। इसको स्त्रीपरीषह जय कहते हैं ॥३०–३१॥ जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वतों पर, किलों में अनेक देश और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े वा कांटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे छोटे घाव हो जाते हैं तथापि वे दिगम्बर मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस सबको सहन करते हैं जीतते हैं इसको चर्यापरीषह जय कहते हैं ॥३२–३३॥ जो मुनिराज किसी गुफा में पर्वत पर वा

सर्गसंजातैः कन्दराद्रिवनादिषु । कृतवज्रासनादिभ्योऽचलनं यन्महात्मनाम् ॥ ३४ ॥ धृतासनविशेषाणांध्यानारोपितचेतसाम् । सर्वदाचलयोगानां निषद्याजय एव सः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायध्यानयोगाध्वश्रमखेदादिहानये । निद्रां मौहूर्तिकीं युक्त्यानुभवद्भिर्जिताशयैः ॥ ३६ ॥ दण्डैकपार्श्वशय्यादौक्रियतेपरिवर्तनम् । न सिंहाद्युपसर्गौ र्धैर्यच्छय्या जयएव सः ॥ ३७ ॥ मिथ्यादृग्म्लेच्छचांडालशत्रुपापिदुरात्मनम् । परुषाण्यपमानावज्ञाधिक्कारवचांसि च ॥ ३८ ॥ आक्रोशादीन्बहून्श्रुत्वात्रिशुध्यासहनंहियत् । विनाक्लेशेन दक्षाणामाक्रोशजय एव सः ॥३९॥ मिथ्यादृग्दुर्जनैर्दुष्टैः शत्रुभिः श्वभ्रगामिभिः । कोपादिभिःप्रयुक्ताश्चवधबधादिताडनाः ॥ ४० ॥ सर्वः प्राणहरायत्रसह्यन्तेधीरयोगिभिः ।

वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसी प्रकार विशेष विशेष कठिन आसन धारण कर के भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं उनके इस परिषह सहन करने को निषद्या जय कहते हैं ॥३४–३५॥ जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिए युक्तिपूर्वक मुहूर्तमात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दंड के समान वा किसी एक कर्वट से सोते हैं सिंहादिक का उपद्रव होने पर भी जो कभी कर्वट नहीं बदलते उसको शय्या परीषह जय कहते हैं ॥३६–३७॥ जो मुनिराज मिथ्यादृष्टी, म्लेच्छ, चांडाल, शत्रु, पापी और दुरात्माओं के कठोर वचनों को अपमान जनक शब्दों को तिरस्कार वा धिक्कार के वचनों को वा अनेक प्रकार के गालीगलौज के शब्दों को सुन कर के भी मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उनको सहन करते हैं उनको सुन कर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उन चतुर मुनियों के आक्रोश परीषह जय कही जाती है ॥३८–३९॥ जो मुनिराज अपने पापो को नाश करने के लिये मिथ्यादृष्टी दुर्जन दुष्ट नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोध पूर्वक किये गये वध वंधन वा ताड़न आदि को सहन करते है तथा वे धीर वीर मुनि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उसी समय प्राण

योगशुध्याघनाशायवधमर्षणमेवतत् ॥ ४१ ॥ व्याधिक्लेशशताद्यैर्वहूपवासपारणैः । याच्यते नौषधाम्ब्वादियांचा-सहनमेवतत् ॥ ४२ ॥ अलाभो योन्नपानादे षष्टाष्टमादिपारणे । त्रिशुध्या सह्यते तुष्टैरलाभविजयात्र सः ॥४३॥ कुष्ठोदरव्यथावातपित्तज्वरादिरुक्शतैः । दुस्सहैः पापपाकोत्थैर्विश्वदुःखनिबन्धनैः ॥ ४४ ॥ जाताया वेदनाया यन्महत्याः सहनं बुधैः । कर्महान्यैप्रतीकारविनारोगजयोत्र सः ॥ ४५ ॥ शुष्कपत्रतृणादीनांस्पर्शनैश्चमरुद्वशै. । जातकडुविकारादेस्त्यक्तदेहमहात्मभिः । ॥ ४६ ॥ क्लेशाद्दतेघनाशायसहन यद्विधीयते । त्रिशुध्या स तृणस्पर्शपरीषह जयोत्रसः ॥४७॥ मलजल्लादिलिप्तांगध्रियते यद्विरागिभि' । सस्कारक्षालनातीतमर्द्धदग्धशवप्रभम् ॥ ४८ ॥ स्नानादीन्

हरण करने वाले बधबंधनादि को भी सहन करते हैं उसको वधपरीषह जय कहते हैं ॥४०—४१॥ जो मुनि सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी औषधि वा जल आदि की याचना नहीं करते हैं उसको यांचापरीषह जय कहते हैं ॥४२॥ जो मुनिराज वेला तेला आदि अनेक उपवास कर के पारणा को निकलें और अन्न पानादिक का लाभ न हो तो भी वे मुनिराज संतुष्ट होकर मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उस भूख प्यास की तथा आहारादिक के न मिलने की वाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परीपह विजय कहते हैं ॥४३॥ जो मुनिराज अपने कर्मों की नाश करने के लिए कोढ़, उदर शूल, बातज्वर, पित्तज्वर आदि अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दुःखों को देने वाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महा वेदना को भी विना प्रतिकार वा इलाज कराये सहन करते हैं उन बुद्धिमानों के रोगपरीषह जय कहलाती है ॥४४—४५॥ अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देने वाले जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिए मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक वायु से उड़ कर आये हुए सूखे पत्ते वा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उसको तृणस्पर्श परीषह जय कहते हैं ॥४६—४७॥ जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिए, राग को नष्ट करने के लिए, और पाप कर्मरूपी मल को नाश करने के लिए स्नान आदि को दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान

दूरतस्त्यक्त्वादयार्थैरागहानये । दुष्कर्ममलनाशायमलधारणमेवतत् ॥ ४९ ॥ नमःस्तवप्रशंसादिः सत्कारउच्यतेवुधैः । अग्रतः करणं यात्रादः पुरस्कारएव सः ॥ ५० ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नैस्तपःसद्गुणशालिभिः । द्विधैषस्त्यज्यतेसत्कारपुरस्कारएवसः ॥५१॥ अहंविद्वान् जगद्वेत्ता वलीवर्दाइमे जडाः । किंचित्तत्त्वं न जानन्तिहीत्यादिगर्वएव यः ॥५२॥ सर्वांगपूर्वविद्भिस्त्वनिवार्यतेमदान्तकैः । सद्धादिभिर्महाप्राज्ञैः प्रज्ञाजय स ऊर्जितः ॥ ५३ ॥अज्ञोयं वेत्तिकिंचिन्न परमार्थंपशूपमः । इत्यादिकटुकालापसहनंयज्जनोद्भवम् ॥ ५४ ॥ईदृशादुर्द्धरं घोरं तपो मे कुर्वतोनघम् । अद्याप्युत्पद्यते कश्चिद् ज्ञानाद्यतिशयो त्र न ॥ ५५ ॥ इत्यादि वहुकालुष्यंमनसोयन्निहन्यते । स्वल्पज्ञानिभिरज्ञानपरीषह जयोहि

मल पसीना नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको मलपरीषह जय कहते हैं ॥४८–४९॥ नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार कहलाता है तथा चलते सयम यात्रादिक में उनको आगे रखना स्वयं पीछे चलना पुरस्कार कहलाता है। जो मुनिराज ज्ञान विज्ञान से सुशोभित हैं और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं ऐसे मुनिराज इन दोनों सत्कार पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते उसको सत्कार पुरस्कार परीषह जय कहते हैं ॥५०–५१॥ जो मुनि ग्यारह अंग चौदह पूर्व के जानकार हैं महा बुद्धिमान हैं, वाद विवाद करने में सर्व श्रेष्ठ हैं और अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूं संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूं, बाकी के ये लोग सब बैल के समान मूर्ख हैं तत्त्वों का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते इस प्रकार के अभिमान को वे सदा के लिए त्याग कर देते हैं उसको प्रज्ञा परीषह जय कहते हैं ॥५२–५३॥ जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं उनके लिए अन्य दुष्ट लोग "यह अज्ञानी है यह परमार्थ को कुछ नहीं जानता पशू के समान है" इस प्रकार कड़वे वचन कहते हैं तथापि वे उनको सहन करते हैं तथा "मैं इस प्रकार का दुर्धर और घोर और पापरहित तपश्चरण करता हूँ तो भी मुझे ज्ञान का कुछ भी अतिशय प्रगट नही होता श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रगट नही होता" इस प्रकार की कलुपता अपने मन में कभी नहीं लाते उसको अज्ञान

स. ॥ ५६ ॥ प्रातिहार्याणिकुर्वन्ति सुरा'सद्योगधारिणाम् । महातपस्विनामेतत्प्रलापमात्रमेव हि ॥ ५७ ॥ यत्तो मे दुर्द्धरानुष्ठानसत्तपोविधायिनः । विख्यातोतिशयःकश्चिज्जातेनामरैः कृतः ॥ ५८ ॥ प्रव्रज्यानर्थिकात्रेत्रमित्यादि-स्त्यज्यते च य' । सकल्पोदृग्विशुध्या हि सोऽदर्शनजयो बुधै. ॥ ५६ ॥ एते कर्मोदयोत्पन्नाद्वाविंशतिपरीषहाः । सर्वशक्त्याघनाशाय सोढव्यामुक्तिगामिभिः ॥ ६० ॥ ज्ञानावरणपाकेनप्रज्ञाज्ञानपरीषहौ । दर्शनाभिधमोहोदयेना-दर्शनसञ्ज्ञक ॥ ६१ ॥ लाभान्तरायपाकेनस्यादलाभपरीषहः । नाग्न्याभिधानिषद्याचाक्रोशोयांचापरीषहः ॥ ६२ ॥ स्यात्सत्कारपुरस्कारोमानाख्यकषायतः । अरत्यरतिनाम्नोवेदोदयात्स्त्रीपरीषह' ॥ ६३ ॥ वेदनीयोदयेनात्र क्षुत्पिपासा

परीषह जय कहते हैं ॥५४–५६॥ "शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करने वाले महा तपस्वियों के लिए प्रातिहार्य प्रगट करते हैं उनका अतिशय प्रगट करते हैं परन्तु यह कहना प्रलापमात्र है यथार्थ नहीं है क्योंकि मैं बड़े बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्धर अनुष्ठान पालन करता हूं तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रगट नहीं करते इसलिये कहना चाहिये कि यह दीक्षा लेना भी व्यर्थ है" इस प्रकार के कलुषित संकल्प विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं उसको बुद्धिमान लोग अदर्शन परीषह जय कहते हैं ॥५७–५९॥ ये बाईस परीषह अपने अपने कर्मों के उदय से प्रगट होती हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करने वाले मुनियों को अपने पाप नाश करने के लिए अपनी सब शक्ति लगा कर ये परीषहों का सहन करना चाहिये ॥६०॥ इन परीषहों में से ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह प्रगट होती हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह प्रगट होती है ॥६१॥ लाभांतराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है। नाग्न्यपरीषह, निषद्या, आक्रोश, यांचा, और सत्कार पुरस्कार परीषह मान कषाय नाम के चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती हैं अरति परीषह अरति नाम के नोकषाय चारित्र मोहनीय के उदय से होती है और स्त्रीपरीषह वेद नाम के नोकषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है। इस प्रकार सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती हैं ॥६२–६३॥ क्षुधा, पिपासा, शीत,

परीषहः । शीतोष्णाख्यौ तथा दंशमशको हि परीषहः ॥ ६४ ॥ शय्या चर्यावधोरोगस्तृणस्पर्शोमलाढ्यः । एकादश इमे पुंसांप्रजायन्ते परीषहाः ॥६५॥ एकस्मिन्समये ह्येकजीवस्ययुगपत्क्वचित् । परीषहाःप्रजायन्तेंगिनां चैकोनविंशति ।६६। मध्येशीतोष्णयोर्नूनमेकएवपरोषहः । शय्या चर्यानिषद्यानांतयैकः स्यान्नचान्यथा ॥ ६७ ॥ मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्त-गुणस्थानेषुसप्तसु । सर्वेपरीषहाः सन्ति ह्यपूर्वकरणेसताम् ॥ ६८ ॥ अदर्शनंविनाह्येकविंशति स्युःपरीषहाः । विंशतिश्चानिवृत्तौ हिविनारतिपरीषहात् ॥ ६९ ॥ शुक्लध्यानेनतत्रैवप्रनष्टे वेदकर्मणि । स्त्र्याख्ये परीषहे नष्टे ते स्युरेकोनविंशतिः ॥ ७० ॥ ततोमानकषायस्यक्षयात्तत्रैव वाशमात् । नाग्न्यनामनिषद्याख्याक्रोशयाचापरीषहाः ॥७१॥ सत्कारादिपुरस्कारश्चामीभिः पंचभिर्विना । अनिवृत्यादिषु क्षीणकषायान्तेषुनिश्चितम् ॥ ७२ ॥ गुणस्थानचतुष्केषु

उष्ण, दंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती हैं ॥६४–६५॥ एक जीव के एक समय में एक साथ जीवों के उनईस परीषह हो सकती हैं। क्योंकि शीत और उष्ण परीषह में से कोई एक ही परीषह होती है, तथा शय्या चर्या निषद्या इन तीनों परीषहों में से कोई एक परीषह होती है। इसमें कभी अंतर नहीं होता ॥६६–६७॥ मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह होती हैं। अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में अदर्शन को छोड़ कर वाकी की इक्कईस परीषह होती हैं। अनिवृत्ति करण नाम के नौवें गुणस्थान में अरति परीषह को छोड़ कर बाकी की वीस परीषह होती हैं। उसी नौवें गुणस्थान में जब शुक्लध्यान के द्वारा वेद कर्म नष्ट हो जाता है तब स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाती हैं और उस समय नौवें गुणस्थान में उनईस परीषह ही रह जाती हैं ॥६८–७०॥ इसी नौवें गुणस्थान में आगे चल कर जब मान कषाय नष्ट हो जाता है अथवा मान कषाय का उपशम हो जाता है तब नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार, पुरस्कार ये पॉच परीषह नष्ट हो जाती हैं उस समय उसी नौवें गुणस्थान में इन पॉचों के बिना चौदह परीषह रह जाती हैं। ये चौदह परीषह नौवें गुणस्थान के इस भाग से लेकर क्षीण कषाय नाम के बारहवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में रहती हैं। परंतु छद्मस्थ वीतरागों के अर्थात् ग्यारहवें

चतुर्दशपरीषहाः, छद्मस्थवीतरागाणां भवन्त्यल्पाःसुखप्रदाः ॥ ७३ ॥ नष्टेघातिविधौक्षीणकषाये च परीषहाः । प्रज्ञा–ज्ञानाह्वयालाभा -नश्यन्तिघातिघातिनः ॥ ७४ ॥ केवलज्ञानिनोवेदनीयाख्यविद्यमानतः । उपचारेण कथ्यन्तेत्रैकादशे–परीषहाः ॥ ७५ ॥ घातिकर्मबलापायात्स्वकार्यकरणेऽक्षमा । दातुं दुःखमशक्ताश्चविगतान्तसुखाश्रयात् ॥ ७६ ॥ सर्वे तीव्रतराः सन्तिसर्वोत्कृष्टाः परीषहाः । नारकाणां गतौ घोरास्तथातिर्यग्गतावपि ॥ ७७ ॥ प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शना–लाभनाग्न्यसञ्ज्ञकाः । अरतिस्त्रीनिषद्याख्याक्रोशयांचापरीषहाः ॥ ७८ ॥ सत्कारादिपुरस्कारः क्षुत्पिपासावधोप्यमी । सन्ति देवगतौस्वल्पाश्चतुर्दशपरीषहाः ॥ ७९ ॥ एते परीषहाविश्वे कर्मजाः कर्महानये । सोढव्याः संयतैः शक्त्या ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥ ८० ॥ चारित्रसगरेघोरे परीषह महाभटाः । यैर्जिताः सत्तपोवाणैर्वृत्तचापार्पितैर्दृढैः ॥ ८१ ॥

बारहवें गुणस्थान में ये परीषह बहुत ही थोड़ी रहती हैं और सुख देने वाली ही होती हैं दुःख नहीं देतीं ॥७१–७३॥ क्षीण कषाय के अंतमें जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब उन केवली भगवान के प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाती हैं अतएव केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाती हैं ॥७४–७५॥ केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकती। तथा उन भगवान के अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिये वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकतीं ॥७६॥ नरकों में नारकियों के और तिर्यंचगति में तिर्यंचों के समस्त परीषह होती हैं तथा अत्यंत तीव्र और उत्कृष्ट होती हैं ॥७७॥ देव गति मे प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन. अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश यांचा, सत्कार पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा, और बध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूप में होती हैं ॥७८–७९॥ ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होती हैं। इसलिये मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा अवश्य सहन करनी चाहिये ॥८०॥ अपने चारित्र में अचल रहने वाले जो मुनिराज चारित्ररूपी घोर युद्ध में चारित्र रूपी धनुष पर श्रेष्ठ तप रूपी वाण चढ़ा कर परीषह रूपी महा योद्धाओं को जीत लेते हैं उनके समस्त कर्म पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों के साथ साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी

तेषां नश्यन्ति कर्माणिपंचाक्षतस्करैःसमम् । ढौकतेत्रिजगल्लक्ष्मीमुक्तिश्रियासहाचिरात् ॥ ८२ ॥ परीषहभटेभ्यो ये भीता नश्यन्ति कातराः । मचारित्ररणात्प्राप्यतेपकीर्तिजगत्त्रये ॥ ८३ ॥ हास्यं स्वजनसाधूनांमध्येचतुर्गताविह । अमुत्रपापपाकेनस्युर्विश्वदुःखभाजनाः ॥ ८४ ॥ मत्वेति सुधियोनित्यंस्वारीनिवपरीषहान् । जयन्तु धैर्यखड्गेन मुक्तिसाम्राज्यसिद्धये ॥ ८५ ॥ ऋद्धीरथमुनीन्द्राणामृषीणां सत्तपोभवाः । समासेन प्रवक्ष्यामि तपोमाहात्म्यव्य- क्तये ॥ ८६ ॥ ऋद्धिर्बुध्याह्वया चाद्याक्रियर्द्धिर्विक्रियाह्वया । तपऋद्धिर्बलर्द्धिश्चौषधर्द्धिरससंज्ञकाः ॥ ८७ ॥ क्षेत्रर्द्धि- र्योगिनामेताऋद्धयोष्टविधाःपराः । जनन्योखिलसौख्यानां तपःशुद्धिप्रभावजाः ॥८८॥ केवलावधिसंज्ञाने मनःपर्य- बोधनः । बीजकोष्ठाह्वयेबुद्धीपादानुसारिसंज्ञका ॥ ८९ ॥ संभिन्नश्रोत्रदूरास्वादनस्पर्शनदर्शनाः । घ्राणाश्रवणसमर्थ्ये दशपूर्वित्वमेवहि ॥ ९० ॥ सचतुर्दशपूर्वित्वविश्वार्थावगमक्षमम् । अष्टांगपरिपूर्णा महानिमित्तज्ञतापरा ॥ ९१ ॥

के साथ साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥८१–८२॥ जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डर कर भाग जाते हैं वे उस चारित्ररूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हंसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उनको चारोंगतियों के समस्त महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥८३–८४॥ यही समझ कर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिये अपनी धैर्य रूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान ये समस्त परीषह सदा के लिए जीत लेनी चाहिये ॥८५॥ अथानंतर—मुनियों के ऋषियों के श्रेष्ठ तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव उस तप का महात्म्य प्रगट करने के लिए संक्षेप से उन ऋद्धियों का स्वरूप कहता हूं ॥८६॥ बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ मुनियों के होती हैं। ये सब ऋद्धियाँ तपश्चरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रगट होती हैं और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥८७–८८॥ केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पादा- नुसारि, संभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दशपूर्वित्व वा चतुर्दश- पूर्वित्व, समस्त पदार्थों के जानने की सामर्थ्य, अष्टांग महा निमित्त की पूर्णता, प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येक

सत्प्रज्ञाश्रवणत्व च प्रत्येकबुद्धता परा । वादित्वमृद्धिभेदाःस्युर्बुद्धेरष्टादशाप्यमी ॥ ६२ ॥ चारणत्वंतथाकाशगामित्व व्योमगामिनाम् । द्विधाक्रियर्धिरत्रेति तत्रैते चारणाः पराः ॥ ६३ ॥ जलजंघाभिधास्तन्तुपुष्पपत्राख्यचारणाः । बीजश्रेणिफलाग्निशिखाद्युपरिगामिनः ॥ ६४ ॥ जलमादाय वाप्यादिष्वप्कायिकविराधनाम् । अकुर्वन्तोमनाग्भूमाविव कार्यायपादयोः ॥ ६५ ॥ व्रजन्त्युद्धारनिक्षेपाभ्यां येखिलांगिरक्षकाः । महाकारुण्यचित्तास्ते भवन्ति जलचारणाः ॥ ६६ ॥ भूमेरुपरिचाकाशेचतुरंगुलसम्मिते । स्वजंघोत्क्षेपनिक्षेपाभ्यांयान्तिबहुयोजनान् ॥ ६७ ॥ विहारकर्मणे ये ते योगिनोजंघचारिणः । एवमन्येपिविज्ञेयातन्त्वादिचारणा. पराः ॥ ६८ ॥ पर्यंकासनयुक्ता वा निषण्णा वा सुचारणाः । कायोत्सर्गस्थिताः पादोद्धारनिक्षेपणेन वा ॥ ६६ ॥ वा ताभ्यामन्तरेणैवबहुयोजनगा–

बुद्धता और श्रेष्ठ वादित्व इस प्रकार अठारह अतिशयों का प्राप्त होना बुद्धिऋद्धि के भेद हैं ॥८६–६२॥ चारण ऋद्धि और आकाशगामी ऋद्धि ये दो प्रकार की क्रियाऋद्धियाँ आकाशगामी मुनियों के होती हैं । अब आगे चारण ऋद्धियों का विशेष रीति से लिखते हैं । जलचारण, जंघाचारण, तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, बीजचारण, श्रेणीचारण, फलचारण, अग्निशिखाचारण आदि चारण ऋद्धि के अनेक भेद हैं । जो मुनि अपने कार्य के लिए बावड़ी सरोवर आदि जल में जलकायिक जीवों की रंचमात्र भी विराधना न करते हुए पृथ्वी के समान उस जल पर पैरों को उठाते रखते हुए चलते हैं ऐसे समस्त जीवों की रक्षा करने वाले, और हृदय में महा करुणा धारण करने वाले वे मुनिराज जलचारण ऋद्धि को धारण करने वाले कहलाते हैं ॥६३–६६॥ जो मुनि भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में अपनी जंघाओं को उठाते रखते हुए विहार करते हैं और इसी प्रकार अनेक योजन चले जाते हैं उन मुनियों को जंघाचारण ऋद्धिधारी कहते हैं । इसी प्रकार तंतुचारण पुष्प फल चारण आदि चारण ऋद्धियों के भेद समझ लेने चाहिये ॥६७–६८॥ आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि चलने में अत्यंत चतुर होते हैं तथा पर्यंकासन से बैठ कर वा अन्य किसी आसन से बैठ कर वा कायोत्सर्ग से खड़े होकर वा पैरों को उठाते रखते हुए वा पैरों को विना उठाए रक्खे अनेक योजन चले जाते हैं ।

मिनः । आकाशगामिनो ज्ञेयाः कुशलाः व्रजने च खे ॥ २०० ॥ अणिमा महिमा नाम्नी लघिमा गरिमा ततः । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्ववशित्वं वशकारकम् ॥ १ ॥ तथैवाप्रतिघातोन्तर्द्धानमदृश्यकारणम् । कामरूपित्वमित्याद्या–विक्रियर्द्धिरनेकधा ॥ २ ॥ उग्रोदीप्ततपस्तप्तोमहद्घोरतपस्ततः । सर्वकार्यविधौशक्तस्तपोघोरपराक्रमः ॥ ३ ॥ घोराद्यन्तगुणब्रह्मचर्यंस्वप्नेप्यखण्डितम् । सत्तापोतिशयर्द्धिश्चैषामता सप्तधासताम् ॥ ४ ॥ मनोवाक्कायभेदेन त्रिधा बलर्द्धिरुच्यते । सर्वांगपाठचिन्तादौसत्तपश्चरणेत्तमाः ॥ ५ । आमखेलाख्यजल्लमलोविटसर्वौपधिस्ततः । तथैवास्य–विषोदृष्टिविषर्द्धिरितियोगिनाम् ॥ ६ ॥ विश्वरोगहराज्ञेयात्रौषधर्द्धिः पराष्टधाः । सत्तापोवृत्तधर्मादिमाहात्म्यव्यक्ति–कारिणी ॥ ७ ॥ परा आस्यविषादृष्टिविषामहर्षयोद्भूताः । सन्क्षीराश्राविणोमध्वाश्राविणो मुनिपुंगवाः ॥ ८ ॥ सर्पिराश्राविश्चैवामृताश्राविण ऊर्जिताः । एवंरसर्द्धिसंप्राप्ताः षड्विधास्तपयोमताः ॥ ९ ॥ द्विधाक्षेत्रर्द्धिसंप्राप्ताः

उसको आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं ॥९९–२००॥ विक्रिया ऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वश करने वाली वशित्व, अप्रतिघात, अदृश्यता का कारण अंतधान और कामरूपित्व आदि अनेक भेद हैं ॥१–२॥ उग्रदीप्ततप, तप्ततप, महाघोरतप, समस्त कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ ऐसा घोर तप, घोर पराक्रम घोरगुण और स्वप्न में अखंडित रहने वाला घोर ब्रह्मचर्य इस प्रकार तपोतिशय ऋद्धि के सात भेद हैं ॥३–४॥ मनोबल वचनबल और कायबल के भेद से बलऋद्धि के तीन भेद हैं। वे मुनिराज इस बलऋद्धि से समस्त अंगों का पाठ और चिंतवन क्षणभर मे कर लेने के लिए समर्थ हो जाते हैं ॥५॥ आम, खेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्य विष, और दृष्टि विष ये समस्त रोगों को हरण करने वाली औषधि ऋद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। ये सब ऋद्धियाँ तप चारित्र और धर्म के महात्म्य को प्रगट करने वाली हैं ॥६–७॥ रसऋद्धि के छह भेद हैं आस्यविषा, दृष्टिविषा, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी और अमृतस्रावी। इनसे सुशोभित होने वाले मुनि रसऋद्धिधारी कहलाते हैं ॥८–९॥ क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं एक अक्षीण महानस और

इत्यक्षीणमहानमा. । जनावगाहदाःस्वस्याश्रमेक्षीणमहालयाः ॥१०॥ इमा अष्टविधाः साराः ऋद्धयोविविधास्तथा । तपामाहात्म्यजा ज्ञेया ऋषीणांशिवशर्मदाः ॥ ११ ॥ निराकांक्षास्त्रिशुध्यायेऽनघकुर्वन्तिसत्तपः । ऋद्धयः सकलास्तेषां जायन्ते स्वयमेव हि ॥ १२ ॥ जिनदीक्षामुदादाय तपोयेत्र न कुर्वते । तेषां रोगप्रजोमुत्रदुर्गतिर्नित्यभक्षणात् ॥ १३ ॥ मत्वेति शिवसिध्यर्थं कुर्वन्तुसत्तपोन्वहम् । विश्वर्द्धिजनकशक्त्या भवभीताः शिवार्थिनः ॥ १४ ॥ इतिविमलमहर्ध्यालंकृता ये महान्तः सकलगुणसमुद्राः विश्वपूज्याऋषीन्द्राः । शिवगतिसुखकामा वन्दिताः सस्तुतास्ते ममनिखिल निजर्द्धीमुक्तिसिध्यैप्रदद्युः ॥ १५ ॥ मूलाचारादिशास्त्रान्वरगणिगदितान्संविलोक्यार्थतो थ मूलाचारप्रदीपाभिधममृतसम ज्ञानतीर्थंमयात्र । सम्यक्स्वाचारदीपंजगतिसुयमिनांधर्मबीजंसुधार्च्यं मेतत्स्वान्याग्रहान्यैदुरितचयहरंग्रथसारं

आश्रम में समस्त लोगों को जगह देने वाली अक्षीण महालय इनसे सुशोभित होने वाले मुनि क्षेत्र ऋद्धिधारी कहलाते हैं ॥१०॥ इस प्रकार ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ कहलाती हैं इन सारभूत ऋद्धियों के अनेक भेद हैं तथा ऋषियों के तपश्चरण के महात्म्य से प्रगट होती हैं और उन्हें मोक्ष देने वाली होती हैं ॥११॥ जो मुनि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक विना किसी अकांक्षा के पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके अपने आप समस्त ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं ॥१२॥ जो मुनि अपनी इच्छानुसार दीक्षा धारण कर के भी तपश्चरण नही करते उनके अनेक रोग प्रगट होते हैं और नित्य भक्षण करने से परलोक में दुर्गति होती हैं ॥१३॥ यही समझ कर संसार से भयभीत हुए और मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियो को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त ऋद्धियों को प्रगट करने वाला यह श्रेष्ठ तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥१४॥ इस प्रकार जो मुनि निर्मल महा ऋद्धियों से सुशोभित हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, ऋषिराज हैं और मोक्ष गति के सुखों की इच्छा करने वाले हैं उनकी मैं वंदना करता स्तुति करता हूं। वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए मुझे अपनी समस्त ऋद्धियों को प्राप्त करें ॥१५॥ मैंने श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा कहे हुए मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों को देख कर तथा उनका सार लेकर अपने और अन्य जीवों के पाप नाश करने के लिए अमृत के समान यह मूलाचार प्रदीप नाम का सारभूत

च चक्रे ॥ १६ ॥ न कीर्तिपूजादिकलाभवांछया नवा कवित्वाद्यभिमानकांक्षया । ग्रंथः कृतः किन्तुपरार्थसिद्धये स्वधर्मवृत्यै भुवि केवलंमया ॥ १७ ॥ अस्मिन्ग्रंथवरेसुमार्गकथकेकिंचिन्मयोक्तं च यत् मात्रासन्धिपदादिहीनमखिला ज्ञानप्रमादादिभिः । आचारागमसंविरुद्धमथवासर्वंक्षमत्वाम्वतं पूज्ये भारति तीर्थनाथमुखजे दोषंमदीयं भुवि ॥१८॥ येपठन्तिसुविदोवरशास्त्र धर्मरत्ननिधिमात्महिताय । आदिमांगजमिमंनिरवद्यं ते विबुध्ययतिमार्गसमग्रम् ॥ १६ ॥ तत्त्वतोनुचरणादिविसौख्यं प्राप्यशक्रपदजंशुभवीजम् । चक्रिराजविभवं च निहत्य कृत्स्नकर्मकिलयान्तिशिवान्तम् ॥२०॥ ये पाठयन्तिनिपुणा यमिनः शिवाय शुद्धं यथार्थसहितं वरशास्त्रमेतत् । ते ज्ञानदानजनिताद्भुतधर्मतःस्यु लब्ध्वा–

ग्रंथ मुनियों के लिए बनाया है। यह ग्रंथ ज्ञान का तीर्थ है, श्रेष्ठ आचारों को दिलाने वाला दीपक है, धर्म का बीज है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है और पापों के समूह को नाश करने वाला है ॥१६॥ यह ग्रंथ मैंने न तो अपनी कीर्ति वा पूजा आदि के लाभ की इच्छा से बनाया है और न अपना कवित्व के अभिमान को दिखलाने की इच्छा से बनाया है। किंतु केवल दूसरों का उपकार करने के लिए और अपने धर्म की वृद्धि के लिए मैंने यह ग्रंथ बनाया है ॥१७॥ हे माता सरस्वती, हे तीर्थंकर के मुख कमल से उत्पन्न हुई देवी ! मैंने सुमार्ग को दिखलाने वाले इस श्रेष्ठ ग्रंथ में अपने पूर्ण अज्ञान वा प्रमादिक से आचारांग शास्त्र के विरुद्ध कहा हो वा मात्रा संधि पद आदि कुछ कम कहा हो उस मेरे दोष को हे पूज्य सरस्वती तू क्षमा कर ॥१८॥ यह मूलाचार प्रदीप नाम का शास्त्र धर्मरूप रत्नों का निधि है, पहले आचारांग अंग से उत्पन्न हुआ है और निर्दोष है। इसलिये जो बुद्धिमान पुरुष अपना हित करने के लिए इसको पढ़ते हैं वे मुनियों के समस्त मार्ग को जानकर और यथार्थ रीति से उसको आचरण कर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ के सुखों को प्राप्त कर वा वहाँ के इन्द्रपद के सुखों को प्राप्त कर बचे हुए पुण्य कर्म से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त करते हैं। तथा अंतमें समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥१६–२०॥ जो चतुर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस शास्त्र को यथार्थ अर्थ सहित शुद्ध रीति से पढ़ाते हैं वे ज्ञानदान से उत्पन्न हुए अद्भुत धर्म के प्रभाव

निर्मला: ज्ञानांगामममवोदिशन्तुसकलांसिद्धिंनिजांसंस्तुता: ॥ २५ ॥ पंचाचारपरायणा. सुगणिन: स्वाचारसंदर्शिन स्वाचाराद्यखिलांगपाठनिपुणाअध्यापका. साधव विश्वेशक्तिभरेणयोगसहिता: स्वाचारमार्गोद्यता: ये ते विश्वहितंकराश्चममवोदत्स्वकीयान्गुणान् ॥ २६ ॥ भवरिपुभयभीतानां शरण्यं बुधार्च्यं निरुपमगुणपूर्णंस्वर्गमोक्षैकहेतुम् । गणधरमुनिसेव्यं धर्ममूलं गरिष्ठं जयतु जगति जैनं शासनपापदूरम् ॥ २७ ॥ विश्वेशंज्ञानतीर्थंमहितमपमलं वन्दितं संस्तुतं च विश्वाचारप्रदीपगुणगणजनकंतीर्थनाथै: प्रणीतम् । अर्थादंगादिपूर्वैर्गणधरयमिभिर्यन्निबद्धं मयातत् नित्यं यात्वत्रवृद्धिंसकलयतिगणैर्धर्मनोर्थं हि यावत् ॥ २८ ॥ एतद्ज्ञानसुतीर्थसारमतुलं प्रोक्तं मयासंस्तुतं वंद्यमेति सुलोभिन:

हैं। ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूँ वे सिद्ध परमेष्ठी तुम लोगों के लिए अपनी समस्त सिद्धि प्रदान करें ॥२५॥ इस संसार में पंचाचारों के पालन करने में तत्पर तथा अपने आचारों को दिखलाने वाले दूसरों से पालन कराने वाले जितने आचार्य हैं तथा आचारांगादि समस्त अंगों के पढ़ने पढ़ाने में निपुण जितने उपाध्याय हैं, और अपनी शक्ति के अनुसार योगों को धारण करने वाले अपने आचार मार्ग में उद्यत रहने वाले तथा समस्त जीवों का हित करने वाले जितने साधु हैं वे सब तुम्हारे लिए और मेरे लिए अपने अपने समस्त गुण प्रदान करें ॥२६॥ इस संसार में यह जैनशासन संसाररूपी शत्रु से भयभीत हुए जीवों के लिए शरणभूत है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है, उपमा रहित गुणों से पूर्ण है, स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, गणधर और मुनियों के द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म का मूल है, सर्वोत्कृष्ट है और पापों से रहित है। ऐसा यह जैनशासन तीनों लोकों में जयवंत हो ॥२७॥ जो आचार प्रदीप ज्ञान का तीर्थ है, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, वंदनीय है, स्तुति करने योग्य है, समस्त आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, अनेक गुणों के समूह को उत्पन्न करने वाला है, अर्थरूप से भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है, तथा अर्थरूप से अंग पूर्व के द्वारा गणधर परमदेवों ने इसकी रचना की है, उसी को मैंने रचना रूप में प्रगट कर दिया है ऐसा यह ग्रन्थ जब तक धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति रहे तब तक समस्त मुनियों के समूह के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे ॥२८॥ यह वंदना करने योग्य स्तुति करने योग्य उपमा रहित और सारभूत ऐसा मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान तीर्थ अत्यंत लोभ करने वाले

तदादरेण भोक्तव्यं रोषस्यावसरः कुतः ॥५८॥ मत्वेति मुनयो यत्नात् दुर्द्धरं रसनेन्द्रियम् । जयंत्वत्रैनसां मूलं रसत्यागतपोयमैः ॥५६॥ कृत्स्नानर्थपरंपरार्पणपरं पंचाक्षशत्रोर्गृहं कर्मारण्यजलं निहत्य विषमं जिह्वेन्द्रियारिं खलम् । घोरै स्तीव्रतरैस्तपोभिरखिलं जिह्वानिरोधं गुणं सेवध्वं यतयो भवारि मथनं शेषाक्षविध्वंसकम् ॥६०॥ कर्कशो मृदुशीतोष्णाः स्निग्धरूक्षो गुरुर्लघुः । जीवाजीव भवा एते त्राष्टौ स्पर्शाः शुभाशुभाः ॥६१॥ अमीषां स्पर्शने योत्राभिलाषो हि निवार्यते । स्पर्शनेन्द्रियरोधः स केवलं योगिनां महान् ॥६२॥ स्त्रीमर्त्य कोमलांगेषु गद्यकातूलिकादिषु । मृदुष्वासनशय्यादि संस्तरेष्वघ कारिषु ॥६३॥ पट्टकूलादिवस्त्रेषु स्पर्शनं ब्रह्मनाशकृत् । व्रतिभिर्जातु कार्यं न कालाहिकंटकेष्विव ॥६४॥ कोमले गद्यकादौ ये कुर्वन्ति शयनासनम् । स्पर्शनेन्द्रियलांपट्या–

यही समझ कर मुनियों को रसों का त्याग कर तथा तपश्चरण और यम नियम धारण कर बड़े प्रयत्न के साथ समस्त पापों की मूलकारण और अत्यंत दुर्धर ऐसी रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिये ॥५६। यह जिह्वा इन्द्रिय रूपी शत्रु अत्यंत दुष्ट है, समस्त अनर्थों की परंपरा को देने वाला है, पाँचो इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का घर है, कर्मरूपी वन को बढ़ाने के लिये जल के समान है और अत्यंत विषम है। इसलिये मुनियों को अत्यंत घोर और अत्यंत तीव्र तपश्चरण के द्वारा इस जिह्वा इन्द्रिय को अपने वश में कर लेना चाहिये और जन्म मरण रूप संसार शत्रु को नाश करने वाला तथा समस्त इन्द्रियों को निरोध करने वाला ऐसा जिह्वानिरोध नाम का गुण सदा पालन करते रहना चाहिये ॥६०॥ कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, तथा हलका भारी ये जीव अजीव से होने वाले आठ स्पर्श है। ये आठों ही स्पर्श शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। मुनिराज जो इन आठों प्रकार के स्पर्शों में अपनी अभिलाषा का त्याग कर देते हैं उसको स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध कहते हैं यह स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध मुनियों के लिये सर्वोत्कृष्ट है ॥६१–६२॥ स्त्री वा पुरुष को कोमल शरीर के स्पर्श करना रुई के कोमल गद्दों का स्पर्श करना, पाप उत्पन्न करने वाले कोमल शय्या आसन आदि बिछोनों पर सोना वा कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना आदि सब ब्रह्मचर्य को नाश करने वाला है इसलिये व्रती पुरुषों को काले सर्प वा काँटों के समान समझ कर कभी इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥६३–६४॥ जो पुरुष कोमल गद्दों पर बैठते हैं वा सोते हैं उनके स्पर्श इन्द्रिय की लंपटता होने

तेषां ब्रह्मव्रतं कुतः ॥६५॥ मत्वेति कोमले रम्ये शर्मदे शयनासने । ब्रह्मव्रतार्थिभिर्जातु न कार्यं शयनासनम् ॥६६॥ किंतु शिलाश्मभूम्यादौ कठिने फलकादिषु । शयन चासन कार्यं निद्राहान्यै सुब्रह्मणे ॥६७॥ यद्यनीहित वृत्यात्र वायुः स्पृशति शीतल. । ग्रीष्मे वपुस्तथाप्याशु रागस्त्याज्योऽशुभप्रद' ॥६८॥ शीतकाले थवा शीतो मरुत्स्पृशति योगिनम् । तत्रापि न मनाग्द्वेष करोति मुनिपुंगव ॥६९॥ इत्याद्या वहुधा स्पर्शाः सुख दु.ख विधायिनः । ये तानासाद्य योगीन्द्रा रागद्वेषौ न कुर्वते ॥७०॥ रागद्वेषपरित्यागा त्तेषां संवर निर्जरे । स्पर्शेषु सत्स्वपीहाहो न बन्धः कर्मणां कचित् ॥७१॥ स्पर्शेषु तेषु ये मूढा रागद्वेषौ वितन्वते । तेषां पापास्रवस्तस्माद्दुर्गतौ भ्रमणं चिरम् ॥७२॥ विज्ञायेति न कर्तव्यौ रागद्वेषौ सुसंयतै. । सर्वेषु स्पर्शभेदेषु सुख दु.खादि कारिषु ॥७३॥ विश्वा–

के कारण ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं ठहर सकता ॥६५॥ यही समझ कर ब्रह्मचर्य व्रत की इच्छा करने वाले पुरुषों को कोमल मनोहर और सुख देने वाले आसन पर कभी नहीं बैठना चाहिये और न ऐसी शय्या पर सोना चाहिये किंतु अपना ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये तथा निद्रा को दूर करने के लिये शिला पत्थर भूमि वा कठिन तखते पर सोना चाहिये और उसी पर बैठना चाहिये ॥६६–६७॥ यदि ग्रीष्म ऋतु में मुनियों के शरीर को विना उनकी इच्छा के अनायास शीतल वायु स्पर्श करे तो मुनियों को उसी समय उस शीत स्पर्श से अपना अशुभ उत्पन्न करने वाला राग छोड़ देना चाहिये ॥६८॥ यदि किसी मुनि के शरीर को शीत ऋतु में शीतल वायु स्पर्श कर ले तो भी उन मुनिराज को अपने हृदय में किंचित भी द्वेष नहीं करना चाहिये ॥६९॥ इस प्रकार वहुत से स्पर्श सुख देने वाले हैं और वहुत से स्पर्श दुःख देने वाले हैं उनको पाकर मुनियों को राग द्वेष कभी नहीं करने चाहिये ॥७०॥ राग द्वेष का परित्याग करने से स्पर्श होते हुए भी मुनियो के कर्मों का वंध कभी नहीं होता किंतु उनके कर्मों का संवर और निर्जरा ही होती है ॥७१॥ जो मूर्ख पुरुष उन स्पर्शों में राग द्वेष करते हैं उनके महा पाप का आस्रव होता है और उस पापास्रव से वे चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥७२॥ यही समझ कर श्रेष्ठ मुनियों को सुख वा दुख देने वाले अनेक प्रकार के स्पर्शों में कभी राग वा द्वेष नहीं करना चाहिये ॥७३॥ यह कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय समस्त अनिष्टों को करने वाली है और

निष्टकरं भवारिजनकं कामेन्द्रियस्पर्शनं जित्वाश्मादिमवैरतीव कठिनैः शय्यासनै दुष्करैः । स्वर्मोक्षैककरं सुसौख्यजलधिं कर्माद्रिवज्रं परं कृत्स्नाक्षारिवशीकरं प्रकुरुत स्पर्शाक्षरोधं बुधाः ॥७४॥ येषां मध्ये जनैर्ज्ञेयौ रसस्पर्शनाह्वयौ । द्वौहि कामेन्द्रियौ नृणां महानर्थविधायिनौ ॥७५॥ श्रोत्रं घ्राणेन्द्रियं चक्षुरिमाणि त्रीणि संसृतौ । भोगेन्द्रियाणि जंतूनां स्तोकानर्थकराण्यपि ॥७६॥ इमे पंचेन्द्रियाश्चौरा धर्मरत्नापहारिणः । जिताः संयमबाणैर्यैं सुखनिस्तेन चापरे ॥७७॥ धावन्तो विषयारण्ये दुर्दांतेन्द्रियदन्तिनः । त्रिवैराग्यांकुशेनात्र यैधृता–स्तेविदावराः ॥७८॥ पंचाक्षतस्कराः क्रूरास्तपः सुभट ताडिताः । विघटंते सतां मोक्षमार्गे विघ्नविधायिनः ॥७९॥ यथात्र पोषिता नागा नयन्ति स्वामिनो बलात् । यमान्तं च तथा पंचेन्द्रिया श्वभ्रंहि सप्तमम् ॥८०॥

संसार रूप शत्रु को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को पत्थर शिला आदि कठिन वा दुष्कर शय्या आसन आदि के द्वारा इस कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिये तथा स्वर्ग मोक्ष को देने वाला, अनंत सुख का समुद्र, कर्मरूपी पर्वत को चूर करने के लिये वज्र के समान और समस्त इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को वश करने वाला ऐसा स्पर्शन इन्द्रिय का निरोध अवश्य करना चाहिये ॥७४॥ इन पाँचों इन्द्रियों में से स्पर्शन इन्द्रिय और रसना वा जिह्वा इन्द्रिय ये दोनों इन्द्रियाँ कामेन्द्रिय कहलाती हैं और मनुष्यों के लिये अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करने वाली हैं ॥७५॥ इसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन इन्द्रियाँ भोगेन्द्रिय कहलाती हैं और जीवों को थोड़ा ही अनर्थ करती हैं ॥७६॥ ये पाँचों इन्द्रियाँ चोर हैं और धर्मरूपी रत्न को चुराने वाली हैं। जिन संयमियों ने अपने संयम बाणों से इनको जीत लिया है इस संसार में वे ही सुखी हैं अन्य नहीं ॥७७॥ ये इन्द्रियरूपी हाथी बड़े ही प्रबल हैं और विषय रूपी वन में दौड़ लगा रहे हैं। जो लोग संसार शरीर और भोगों के वैराग्यरूपी अंकुश से इन इन्द्रिय रूपी हाथियों को वश में कर लेते हैं उन्हें ही सबसे उत्तम ज्ञानी समझना चाहिये ॥७८॥ ये पंचेन्द्रिय रूपी चोर बड़े ही क्रूर हैं और सज्जन पुरुषों को मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले हैं ऐसे ये चोर तपश्चरणरूपी योद्धाओं से ताड़ित होने पर भी इधर उधर भागते हैं ॥७९॥ जिस प्रकार पालन पोषण किये हुये पालतू सर्प अपने स्वामी

अरिभ्योऽपि महादुष्टा अवान्तेन्द्रियशत्रवा । इहामुत्र मनुष्याणां कृत्स्न दुःख.निवन्धना. ॥८१॥ यतोत्रैवाराय किंचिद्दु:ख च ददते न वा । इहामुत्र नृणा घोर ददत्येवा नशात्रव ॥८२॥ रागेभ्योऽपि महादु:खकरा पचाक्ष दुर्जना. । लालिता' स्त्रीनराणा च निंद्या दुर्गतिदायिन ॥८३॥ जनयंति यतोरोगा अल्पासात क्वचित् नृणाम् । कोटी-कोटाब्धि पर्यन्तं दु:ख खानि च दुर्गतौ ॥८४॥ कालकूटविपं मन्ये सुख वैपयिक नृणाम् । अक्षज विपमं घोरदु:खतापनिवधनम ॥८५॥ कालकूटं यतो भुक्त स्वोसून् हरति केवलम् । सुख चेन्द्रियज पुंमां दत्तेनेकविधासुखम् ॥८६॥ चतुरगुलमानेयं जिह्वा दु:खाशुभांविका । तावन्मात्रोप्यजय्योहो दुष्ट कामेन्द्रिय. खल ॥८७॥ एभिरष्टांगुलोत्पन्नै दोंपै जींवा कदर्थिता । प्रकुर्वन्ति महापापं लभन्ते दु:खमुल्व-

को ही जबर्दस्ती यम मंदिर तक पहुँचा देते हैं मार डालते हैं उसी प्रकार ये पाँचो इन्द्रियाँ भी इस जीव को सातवे नरक तक पहुँचा देती है ॥८०॥ ये इन्द्रियरूपी प्रवल शत्रु शत्रुओं से भी महादुष्ट है। तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में मनुष्यों को सब तरह के दुःख देने वाले हैं। इसका भी कारण यह है कि शत्रु इसी लोक मे थोड़ा सा दुःख देते हैं अथवा नहीं भी देते हैं किंतु इन्द्रिय रूपी शत्रु मनुष्यो को इस लोक में भी दुःख देते हैं और परलोक में भी महा दुःख देते हैं ॥८१–८२॥ स्त्री और पुरुपों के द्वारा लालन पालन किये गये ये पाँचो इन्द्रिय रूपी दुर्जन रोग से भी अधिक महा दुःख देने वाले है, निंदनीय हैं और दुर्गति को देने वाले हैं। क्योंकि रोग तो मनुष्यों को कहीं कहीं पर थोड़ा सा दुःख देते हैं परंतु ये इन्द्रियाँ दुर्गतियों में डाल कर कोडाकोडि सागर पर्यंत महा दुःख देते हैं ॥८३–८४॥ ये मनुष्यो के इन्द्रिय जन्य विपय संबंधी सुख अत्यंत विपय हैं तथा घोर दुःख और संताप को देने वाले हैं इसीलिये हम इनको कालकूट विप के समान ही मानते हैं। इसका भी कारण यह है कि भक्षण किया हुआ विष केवल अपने प्राणों को हरण कर लेता है परंतु इन्द्रिय जन्य सुख मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं ॥८५–८६॥ यह जिह्वा इन्द्रिय चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनेक दुःख और दुर्गतियों को देने वाली है। इसी प्रकार अत्यंत दुष्ट कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है और अत्यंत अजेय है ॥८७॥ इन आठ अंगुल प्रमाण दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोपो के द्वारा

णाम् ॥ ८८ ॥ इदं कामेन्द्रियं युग्मं निर्जितं यैस्तपो यमैः । तेषां शेषेन्द्रियाण्याशु वशं यान्ति हृदा समम् ॥८६॥ विज्ञायेति रसत्यागतपोभिरतिदुष्करैः । जयन्तु मुनयो ऽत्रेदं स्वाक्षयुग्मं शिवाप्तये ॥ ६० ॥ पंचेन्द्रियठगा एते वैरिणोऽभ्यंतरंगजाः । सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तादि रत्नान्यपहरन्ति नुः ॥ ६१ ॥ तथाक्षदंतिनोऽदांता धर्मकल्पद्रुमं क्षणात् । पुंसामुन्मूलयंत्यत्रानन्तमुक्ति सुधाफलम् ॥ ६२ ॥ पोषिता स्वेच्छयात्रैतेऽक्षाश्वा उत्पथगामिनः । उन्मार्गे पातयंत्याशु नरान् मुक्तिपथात् शुभात् ॥६३॥ ये केचन गताः श्वभ्रं यान्ति यास्यान्ति भूतले । केवलं ते जना नूनमिन्द्रियैर्व्याकुलीकृताः ॥ ६४ ॥ रुद्राद्या मुनयो ऽत्राहो दशपूर्वधरा विदः । खधूर्तैर्वंचिता हत्वा चारित्रं नरकं ययुः ॥ ६५ ॥ स्पर्शनाक्षेण मातंगा मत्स्या जिह्वेन्द्रियेण च । घ्राणेन भ्रमराश्चक्षुषा पतंगा मृगास्तथा ॥६६॥

कदर्थित हुए दुःखी हुए जीव महा पाप उत्पन्न करते हैं और फिर घोर दुःखों को भोगते हैं ॥८८॥ जो जीव अपने तप और संयम के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय इन दोनों कामेन्द्रियों को जीत लेते हैं उनकी बाकी की समस्त इन्द्रियाँ भी हृदय के साथ साथ बहुत शीघ्र वश में हो जाती हैं ॥८६॥ यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अत्यंत कठिन ऐसे रस त्याग नाम के तपश्चरण से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में करनी चाहिए ॥६०॥ ये पाँचों इन्द्रियाँ बड़ी ठग हैं और इस जीव की अंतरंग शत्रु हैं। तथा मनुष्यों के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नों को चुरा लेती हैं ॥६१॥ किसी के वश न होने वाले ये इन्द्रिय रूपी हाथी मोक्षरूपी अमृतफल को देने वाले ऐसे मनुष्यों के धर्मरूपी कल्पवृक्ष को क्षण भर में जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक देते हैं ॥६२॥ अपनी इच्छानुसार पालन पोषण किये हुये ये इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्गगामी हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को मोक्ष के शुभ मार्ग से हटा कर शीघ्र ही कुमार्ग में पटक देते हैं ॥६३॥ इस संसार में अब तक जितने जीव नरक गये हैं वा अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे मनुष्य केवल इन्द्रियों से व्याकुल होकर ही गये हैं वा जायेंगे और तरह से नहीं ॥६४॥ देखो ग्यारह अंग और दश पूर्व के जानकार रुद्र आदि कितने ही मुनि इस संसार में इन्द्रियों से ठगे गये और अपने चारित्र को नष्ट कर नरक में जा पहुँचे ॥६५॥ देखो केवल स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर हाथी अपने प्राण खो देता है, जिह्वा इन्द्रिय के वश होकर मछलियाँ

कर्णेन्द्रियेण चैकेन क्षयं यान्त्यत्र लोलुपाः । केवलं विषयाशक्त्या किंचित्सौख्यं श्रयन्ति न ॥ ६७ ॥ एकैका–चारिणात्राहो प्रणष्टाः पशवो यदि । तत: पचाक्षलोला ये श्वभ्रनाथा. कथ न ते ॥ ६८॥ अन्येऽपि बहवो येऽर्द्धचक्रि चक्रयादयो भुवि । राजानो विषयाशक्त्या गताःश्वभ्रं च सप्तमम् ॥ ६६ ॥ भुक्त्वा जन्मादिमृत्यन्तं भोगान्पंचेन्द्रियोद्भवान् । तेषां को गदितुं शक्तः कथां भोगभवां बुधः ॥ १०० ॥ मत्वेति ज्ञानिनः शीघ्रं पंचेन्द्रियमृगान् चलान् । वध्नंतु दृढवैराग्यपाशेन शिवशर्मणे ॥ १ ॥ इन्द्रियारतयो धीरै यैर्जिताः सयमायुधैः । तैश्च दुर्मोह कर्माया हता मुक्तिः करे कृता: ॥ २ ॥ अक्षारीनपि ये जेतुमक्षयाः क्लीवतां गता' । मोह दुष्कर्म–शत्रूंस्ते हनिष्यन्ति कथं भुवि ॥ ३ ॥ गृहस्त्रीश्र्यादिकां त्यक्त्वा दीक्षात्र गृह्यते बुधैः । जयाप स्वाक्षशत्रूणां

प्राण खो देती हैं, घ्राण इन्द्रिय के वश होकर भ्रमर अपने प्राण खोता है चक्षु इन्द्रिय के वश होकर पतंगा अपने प्राण खोते हैं और कर्ण इन्द्रिय के वश होकर हिरण अपने प्राण खोते हैं। विषयों में आसक्त और इन्द्रिय लोलुपी ये जीव कुछ भी सुख न पाकर अपने प्राण खो देते हैं ॥६६–६७॥ देखो एक एक इन्द्रिय रूपी शत्रु के वश होने से ये पशु सब नष्ट हो जाते हैं फिर भला जो पाँचों इन्द्रियों के लोलुपी हैं वे नरक के स्वामी क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् वे अवश्य नरक में जायेंगे ॥६८॥ और भी बहुत से चक्रवर्ती अर्द्ध चक्रवर्ती राजा विषयों में आसक्त होने के कारण सातवें नरक में पहुँचे हैं ॥६६॥ जो जीव जन्म से लेकर मरण पर्यंत पंचेन्द्रिय के भोगों को अनुभव करते हैं उनके भोगों से उत्पन्न होने वाली कथा को भला कौन बुद्धिमान् कह सकता है अर्थात् कोई नहीं ॥१००॥ यही समझ कर ज्ञानी पुरुषों को अपना मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही वैराग्य रूपी रस्सी से पंचेन्द्रिय रूपी चंचल पशुओं को दृढ़ता के साथ बाँधना चाहिये ॥१०१॥ जो धीर वीर पुरुष अपने संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ही पुरुष मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालते हैं तथा उन्हीं के हाथ में मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥२॥ जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को भी जीतने में असमर्थ हैं उन्हें नपुंसक ही समझना चाहिये। ऐसे पुरुष भला इस संसार में मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ? अर्थात कभी नहीं ॥३॥ बुद्धिमान लोग रत्नत्रय को अपहरण करने वाले इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए ही

रत्नत्रयापहारिणाम् ॥४॥ अतोऽनिर्जितखारीणां वृथा दीक्षातपः फलम्। व्यर्थो गृह परित्यागो इहामुत्र सुखं न च ॥५॥ यतोऽक्षविजय पुंसां तपः स्यात्परम भुवि। अतः किं सत्तपस्तेषां येषां भो नाक्षनिर्जयः ॥६॥ किमत्र बहुनोक्तेन तेषां सिद्धिर्महात्मनाम्। ऋद्धयः सुतपांसि स्युर्जिता यैः स्याक्षशत्रवः ॥७॥ अनिर्जिताक्ष हीनानां नेह लोकोपकीर्तिनः। परलोको न तापस्यात् किंतु दुर्गतिरेव च ॥८॥ यथात्रगमने स्याता पथानौ द्वौ न देहिनाम्। तथाक्षसुख मोक्षौ च वृथाजन्मद्विकांक्षिणाम् ॥९॥ ज्ञात्वेति बहुयत्नेन दक्षाः स्वार्थसिद्धये। खारीन् जयन्तु चारित्रतपखड्गैः भयंकरैः ॥१०॥ यन्नाम्ने भुवने त्रये च महिता वन्द्या स्तुता योगिनो, ये चारित्ररणावनौ सुविषमे स्थित्वापि कृत्वार्जितम्। उग्रोग्र सुतपो धनुर्गुणयुत सम्यग्दृगाद्यैः शरैः, तीव्रणै

घर स्त्री और धन आदि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं। इसलिये जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा और तपश्चरण वा तपश्चरण का फल आदि सब व्यर्थ है, तथा उनका घर का त्याग भी व्यर्थ है। ऐसे पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सुख नहीं मिल सकता ॥४–५॥ इन्द्रियों को दमन करना जीतना इस संसार में मनुष्यों का परम तप कहलाता है इसलिये कहना चाहिये कि जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकते हैं उनके श्रेष्ठ तप कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥६॥ बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है उन्हीं महात्माओं के ऋद्धियाँ तपश्चरण और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥७॥ अपनी इन्द्रियों को न जीतने के कारण जो हीन हो रहे हैं उनके न तो इस लोक में कीर्ति होती है और न परलोक ही उनका सुधरता है किंतु इन्द्रिय लंपटता होने के कारण परलोक में उनकी दुर्गति ही होती है ॥८॥ जिस प्रकार चलते समय मनुष्य भिन्न भिन्न दो मार्गों में ही नहीं चल सकता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति चाहते हैं उनका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥९॥ यही समझ कर चतुर लोगों को अपने समस्त पदार्थों की सिद्धि करने के लिये चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से बडे प्रयत्न के साथ इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेना चाहिये ॥१०॥ इस संसार में जो मुनिराज अत्यंत विषम ऐसे चारित्ररूपी रणांगन में ठहर कर

घ्नन्ति खलान् त्रिलोक जयिन' पंचाक्षशत्रून् द्रुतम्, विश्वाच्यर्यान् विश्ववद्यान् जिनमुनिवृषभै. स्वीकृतान् धर्ममूलान्, पापाघ्नान् मुक्तिवर्त्न् शिवसुख जलधान् स्वर्गसोपान भूतान् । ज्ञानध्यानाग्निहेतून् सकलगुणनिधीन् चित्तमातंगसिंहान्, सेवध्वमुक्ति कामाः यमनियमचयै' कृत्स्नपंचाक्षरोधान् ॥१२॥ अथ मूलगुणान् वक्ष्ये षडावश्यकसज्ञकान् । धर्म शुक्लोत्तमध्यानहेतून् सिद्धांतजान् सताम् ॥१३॥ सामायिकं स्तवो वंदना प्रतिक्रमणं तबः । प्रत्याख्यानं तनूत्सर्ग. इमान्यावश्यकानि षट् ॥१४॥ जीविते मरणे लाभालाभे दृषदि सन्मणौ । संयोगे विप्रयोगे च रिपौ बधौ खलाखले ॥१५॥ तृणे च कांचने सौख्ये दु.खे वस्तौ शुभाशुभे । क्रियते समभावो य

तथा उग्र उग्र श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी प्रत्यंचा सहित धनुष को चढ़ा कर समग्दर्शन आदि तीक्ष्ण बाणों से अत्यंत दुष्ट और तीनों लोकों को जीतने वाले ऐसे पाँचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को शीघ्र ही मार डालते हैं वश में कर लेते हैं वे ही मुनि धन्य हैं तीनों लोकों में पूज्य हैं वे ही वंदनीय हैं और वे ही स्तुति करने योग्य हैं ॥११॥ समस्त पाँचों इन्द्रियों का निरोध तीनों लोकों में पूज्य है, सबके द्वारा वंदनीय है, भगवान तीर्थंकर और गणधर आदि श्रेष्ठ मुनियों ने भी इसको स्वीकार किया है, यह पंचेन्द्रियों का निरोध पापों को नाश करने वाला है, धर्म का मूल है, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है, मोक्ष के अनंत सुख का समुद्र है, स्वर्ग की सीढ़ी है, ज्ञान और ध्यान का कारण है समस्त गुणों का निधि हैं और मन रूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह के समान है। इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को अपने यम और नियमों के समूह से इस पंचेन्द्रियों के निरोध को अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२॥ अब आगे छह आवश्यक नाम के मूलगुणों को कहते हैं। ये छह आवश्यक धर्म और शुक्ल नाम के उत्तम ध्यान के कारण हैं और सिद्धांत शास्त्रों में कहे हुये हैं ॥१३॥ सामायिक स्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कहलाते हैं ॥१४॥ जीने मरने में, लाभ अलाभ में, पत्थर मणि में, संयोग वियोग में, शत्रु बंधु में, दुष्ट सज्जन में, तृण सुवर्ण में, सुख दुःख में और शुभ अशुभ पदार्थों में समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है ॥१५–१६॥ यह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार

स्तद्धि सामायिकं मतम् ॥१६॥ नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभाश्रितः । भावः सामायिकोत्रैषो निक्षेपः षड्विधो भवेत् ॥१७॥ क्रूर बीभत्सनामान्यशुभानि द्वेषदानि च । रागकर्तॄणि नामानि मनोहरशुभानि वै ॥१८॥ श्रुत्वा यद्वर्जनं राग द्वेषादीनां विधीयते । नाम सामायिकाख्यं तत्सतां प्रोक्तं गणाधिपैः ॥१९॥ स्थापनाः प्रतिमा दिव्यरूपा मनोज्ञशर्मदाः । नेत्रानिष्टाः कुरूपाश्च वेतालाकृतिधारिणीः ॥२०॥ विलोक्य क्रियते राग द्वेषदो यद्विसर्जनम् । शान्ति शर्मदं स्थापनासामायिकमेवतत् ॥२१॥ सुवर्णरूप्यमाणिक्यमुक्ताफलांशुकादिषु । द्रव्येषु भोगवस्त्राद्यै मृत्तिकाकंटकादिषु ॥२२॥ रागद्वेषादिकांस्त्यक्त्वा सतां यत्समदर्शनम् । द्रव्यसामायिकं तच्च द्रव्योत्पन्नाघनाशनम् ॥२३॥ सौधारामनदीकूलपुरादीनि शुभानि च । क्षेत्राणि दाव बीभत्सकंटकाद्याश्रितान्यपि ॥२४॥ अशुभान्याप्य रागद्वेषयोरभाव एव यः । क्षेत्रसामायिकं तद्धि क्षेत्रजास्रवरोधकम् ॥२५॥

है ॥१७॥ द्वेष उत्पन्न करने वाले क्रूर बीभत्स और अशुभ नामों को सुन कर द्वेष नहीं करना तथा राग उत्पन्न करने वाले मनोहर और शुभ नामों को सुन कर राग नहीं करना शुभ अशुभ नामों में राग द्वेष का त्याग कर देना उसको गणधर देवों ने सज्जनों के नाम सामायिक कहा है ॥१८-१९॥ स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित मन और इन्द्रियों को सुख देने वाली प्रतिमाओं को देख कर राग नहीं करना तथा नेत्रों को अनिष्ट, कुरूप, वेताल की आकृति के समान प्रतिमाओं को देख कर द्वेष नहीं करना शांति और कल्याण करने वाला स्थापना सामायिक है ॥२०-२१॥ सोना, चाँदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि भोगोपभोग के पदार्थों में अथवा मिट्टी काँटे आदि पदार्थों में राग द्वेष का त्याग कर देना तथा समस्त पदार्थों में समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है। यह सामायिक द्रव्यों से उत्पन्न हुए समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥२२-२३॥ राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रों को पाकर राग नहीं करना तथा काँटों से भरे हुये कंकड़ पत्थरों से भरे हुये दावाग्नि से जले हुए वन आदि अशुभ क्षेत्र को पाकर द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है। यह क्षेत्र सामायिक क्षेत्र से उत्पन्न होने वाले आस्रव को रोकने वाला है ॥२४-२५॥

साम्यरूपान् शुभान् कालान् शीतोष्णादिच्युतान् क्वचित् । षड्ऋतूंश्च तम. पचशीतोष्णाद्यान् कुदु'खदान् ॥२६॥ सस्पर्शः त्यज्यते यद्धि रागद्वेप द्वयं बुधै. । कालमामायिकं कालकृतदोपादिहृत् यत् ॥२७॥ सर्वजीवेपु मैत्र्यादियुक्तोऽशुभापरान्मुख. । शुभो रागादिनिर्मुक्तो धर्मध्यानादितत्पर' ॥२८॥ शुद्धः समगुणापन्नो भावो यो धमितां महान् । भावसामायिक तद्धि चित्तोत्थदोपवारकम् ॥२९॥ एतै. षड्भिश्चनिर्दोपैरुपायैर्ज्ञानिनां परम् । सामयिकं शुभध्यान कारणं जायतेतराम् ॥३०॥ दर्शनज्ञानचरित्रतपोभिः सह चात्मन । ऐक्यं गमन मत्यर्थं यत्तत्सामायिकं महत् ॥३१॥ निर्जिताखिल घोरोपसर्गतीव्रपरीपहैः । व्रतैः समितिगुप्ताद्यै सर्वैश्च नियमैर्यमैः ॥३२॥ सुभावनाखिलैः सारै. शुभध्यानैरलङ्कृतः । य. सर्वत्र समारूढ. सोऽत्र सामायिकी महान् ॥३३॥

कोई समय शीत उष्णता से रहित समान रूप तथा शुभ होता है। कहीं पर छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता रहा है, कहीं शीतता अधिक होती है, कहीं उष्णता अधिक होती है किसी समय अँधेरा ही रहता है। इस प्रकार के सुख दुःख देने वाले समयों में राग द्वेष नहीं करना राग द्वेष का सर्वथा त्याग कर देना सो बुद्धिमानों के द्वारा काल सामायिक कहलाता है यह काल सामायिक काल से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥२६–२७॥ समस्त जीवों में मैत्री प्रमोद प्रमोद कारुण्य आदि भावों को धारण करना, अशुभ परिणामों से सदा परान्मुख रहना, रागादिक शुभ परिणामों का भी त्याग करना धर्मध्यान में सदा तत्पर रहना, समता गुण से सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूप से जो बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उसको भाव सामायिक कहते हैं। यह भाव सामायिक मन से उत्पन्न होने वाले समस्त दोपों को दूर करने वाला है ॥२८–२९॥ ज्ञानी पुरुषों के ऊपर लिखे अनुसार छह प्रकार के उपायरूप निर्दोपों से उत्कृष्ट सामायिक होता है तथा वह शुभ ध्यान का कारण होता है ॥३०॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपश्चरण के साथ साथ आत्मा की एकता हो जाना आत्मा में अत्यंत लीन हो जाना सर्वोत्कृष्ट सामायिक कहलाता है ॥३१॥ जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परिषहों को जीत लेता है, जो व्रत, समिति, गुप्ति, समस्त यम, नियम, सारभूत समस्त भावनायें और

समवायं स्वरूपं च यो जानाति स बुद्धिमान् । द्रव्याणां तद्गुणानां च पर्यायाणां जिनागमे ॥ ३४ ॥ हेयोपादेयतत्त्वं च कारणं बन्धमोक्षयोः । तस्य सामायिकं विद्धि परमं ज्ञानिनो भुवि ॥ ३५ ॥ विरतः सर्वसावद्यान्निर्जिताक्षमना महान् । महातपा स्त्रिगुप्तो यः सामायिकी स उत्तमः ॥३६॥ यस्य सन्निहितोत्रात्मा संयमे नियमे गुणे । शमे तपसि तस्यैव तिष्ठेत्सामायिकं परम् ॥ ३७ ॥ यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च । सादृश्यः स्वात्मनो भावस्तस्य सामायिकं सताम् ॥३८॥ रागद्वेषाक्षमोहाद्या विकृतिं जनयन्ति न । शमाद्यैर्दमिता यस्य तस्य सामायिकं महत् ॥३९॥ कषाया. क्रोधमानाद्याश्चत्वारो येन निर्जिता. । क्षमामृद्वार्जवासंगगुणै-

शुभ ध्यान से सुशोभित रहता है जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है वह उत्कृष्ट सामायिक करने वाला कहा जाता है ॥३२–३३॥ जो बुद्धिमान पुरुष स्वपर पदार्थों के संबंध के स्वरूप को जानता है जिनागम के अनुसार द्रव्य गुण और पर्यायों के स्वरूप को उनके संबंध के स्वरूप को जानता है, हेय और उपादेय तत्त्वों को जानता है और बंध मोक्ष के कारणों को जानता है उस परम ज्ञानी के सामायिक होता है ॥३४–३५॥ जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया है, जो उत्कृष्ट है, महा तपस्वी है और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला है वह उत्तम पुरुष सामायिक करने वाला कहा जाता है ॥३६॥ जिस महा पुरुष का आत्मा संयम में, नियम में, गुणों में समता में और तपश्चरण में लगा हुआ है उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है ॥३७॥ जो पुरुष समस्त त्रस स्थावर जीवों में समता धारण करता है समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान मानता है। इस प्रकार के भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ॥३८॥ जिस पुरुष के राग द्वेष इन्द्रियाँ और मोह आदिक किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसके समता वा शांत परिणामों से रागद्वेषादिक सब शांत हो गये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ॥३९॥ जिस महा पुरुष ने क्रोधादिक की शक्ति को घात करने वाले क्षमा मार्दव आर्जव और आकिंचन्य गुणों से क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों को जीत लिया है तथा वैराग्य ब्रह्मचर्य और संयम से तीनों वेद और हास्यादिक नोकषाय जीत लिये हैं तथा जिसने और भी समस्त दोष जीत लिये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट

स्तन्छक्तिघातकैः ॥४०॥ हास्याद्या षट् त्रिवेदाश्च वैराग्यव्रह्म संयमे । अन्ये दोषाच तस्यात्र परं सामायिकं मतम् ॥४१॥ आहाराद्याश्चतु सज्ञा. लेश्यास्तिस्रोऽशुभाभुवि । न यान्ति विकृतिं यस्त्र तस्य सामायिक शुभम् ॥४२॥ यस्य पचेन्द्रियादान्तास्तपोभिःस्पर्शनादयः । शक्ता कर्तुं विकार न तस्य सामायिक महत ॥४३॥ दुर्ध्यानान्यार्त्त रौद्राणि योष्टौ नित्यं परित्यजेत् । प्रशस्तध्यानमालव्य तस्य सामायिक परम् ॥४४॥ ध्यानं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्ल ध्यायति योन्वहम् । जित्वा मनो वलात्तस्य तिष्ठेत्सामायिकोत्तमम् ॥४५॥ सर्वत्र समताभाव कारणाय जिनैर्मत । योगिना परमो नित्य मामायिकाख्यसंयम. ॥४६॥ सर्वसावद्ययोगादिवर्जनार्थं शुभाप्तये । सामायिकं गृहस्थाना प्रोक्त धर्मशमाय च ॥४७॥ मत्वेति श्रावकै र्नित्यं कार्यं सामायिक शुभम् । दिनमध्ये त्रिवार च धर्मध्यानाय शर्मणे ॥४८॥ यत कुर्वन् गृही नून शुद्धं सामायिक परम् । सर्वत्र समतापन्नो

सामायिक माना जाता है ॥४०-४१॥ जिस पुरुष के आहार आदिक चारों संज्ञाएं तथा तीनों अशुभ लेश्याएं कभी विकार भाव को प्राप्त नहीं होतीं उसी के शुभ सामायिक माना जाता है ॥४२॥ जिसके तपश्चरण के वल से स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियाँ शांत हो गई हैं और कभी भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकतीं उसी के उत्कृष्ट सामायिक होता है ॥४३॥ जो पुरुष धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण कर चारों प्रकार के आर्तध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग कर देता है उसी के श्रेष्ठ सामायिक कहा जाता है ॥४४॥ जो पुरुष अपनी शक्ति से मन को जीत कर चारो प्रकार के धर्मध्यान को और चारों प्रकार के शुक्लध्यान को प्रतिदिन धारण करता है उसी के उत्तम सामायिक होता है ॥४५॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने योगियों के लिये सर्वत्र समता भाव धारण करने के लिए प्रतिदिन परम सामायिक करना और प्रतिदिन इन्द्रिय संयम पालन करना ही बतलाया है ॥४६॥ गृहस्थों को समस्त पापरूप योगों का त्याग करने के लिये, शुभ की प्राप्ति के लिये तथा धर्म और कल्याण की प्राप्ति के लिये एक सामायिक ही वतलाया है ॥४७॥ यही समझ कर श्रावकों को धर्मध्यान की प्राप्ति और आत्मकल्याण करने के लिये प्रतिदिन दिन में तीन वार शुभ सामायिक करना चाहिये ॥४८॥ क्योंकि सर्वत्र समता भाव धारण करता हुआ और शुद्ध उत्कृष्ट सामायिक करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही भावलिंगी मुनि के

भावलिंगी यतिर्भवेत् ॥४६॥ अरण्ये श्रावकः कश्चित् धीरस्त्यक्तवपुर्महान् । निष्कंप ध्यानमालंब्य व्यधात्सामायिकं परम् ॥५०॥ शरेण केनचिद्विद्धो मृगस्तस्य पदान्तरे । प्रविश्यार्तं कियत्कालं स्थित्वा वेदनया मृतः ॥५१॥ तथापि न मनागेषो चलत्सामायिकात्सुधीः । अस्योगमे कथा ज्ञेया गृहिणो भावलिंगिनः ॥५२॥ अजिताद्याश्च पार्श्वान्ता द्वाविंशति जिनेश्वरा । दिशन्ति मुक्तये वाण्या सामायिकैकसंयमम् ॥५३॥ छेदोपस्थापनं नैव यतोमीषां महाधियः स्वभावेन सुशिष्याः स्युः निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः ॥५४॥ सामायिकं च छेदोपस्थापनं संयमं परम् । आहतुर्ध्वनिना मुक्त्यै ह्याद्यान्तिमजिनाधियौ ॥५५॥ यतः श्री वृषभेशस्य सुशिष्या ऋजुबुद्धयः । सन्मतेः काल

समान माना जाता है ॥४६॥ कोई एक धीरवीर महा श्रावक अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर किसी वन में अचल और ध्यान में लीन होकर उत्कृष्ट सामायिक करने के लिये खड़ा था। उसी समय किसी के बाण से घायल हुआ कोई हिरण उस श्रावक के दोनों पैरों के बीच में आ पड़ा। उस समय वह हिरण अत्यंत दुःखी होकर चिल्ला रहा था और उसी वेदना से वह थोड़ी ही देर में वहीं मर गया तथापि वह बुद्धिमान श्रावक अपने सामायिक से रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। इस भावलिंगी गृहस्थ की कथा शास्त्रों में लिखी है वहाँ से जान लेनी चाहिये ॥५०–५२॥ भगवान अजित नाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने अपनी दिव्य ध्वनि से मोक्ष प्राप्त करने के लिये एक सामायिक नाम के संयम का ही उपदेश दिया है। इन बाईस तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना नाम के संयम का उपदेश नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि इन बाईस तीर्थंकरों के श्रेष्ठ शिष्य स्वभाव से ही महा बुद्धिमान थे, प्रमाद रहित थे और जितेन्द्रिय थे ॥५३–५४॥ प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेव ने तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिये सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयमों का उपदेश दिया है ॥५५॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान वृषभदेव के शिष्य सरल बुद्धि को धारण करने वाले थे और भगवान महावीर स्वामी के शिष्य कालदोष से सदोष थे और मंद बुद्धि को धारण करने वाले थे ॥५६॥ स्वभाव से

दोषेण सदोपामंदबुद्धय ॥ ५६ ॥ ऋजुमंदस्वभावास्ते योग्यायोग्यंव्यतिक्रमम् । व्यक्त सव नजानन्ति विस्तरोक्त्या-विनाभुवि ॥ ५७ ॥ तस्माचकारणात्तौद्वावूचतु'श्रीजिनाधिपौ । अनुग्रहाय शिष्याणां सग्रमौ द्वौ शिवाप्तये ॥५८॥ आख्यातु'किलविज्ञातु'पृथग्भावयितु' तथा । महाव्रतानि पचैवगुप्तय समितीस्तथा ॥ ५९ ॥ तेपि मर्वे जिनेशानां शिष्या.शुद्धिशिवाप्तये । चरन्तिसर्वशेत्कृष्टं शुद्ध'सामायिक शुभम् ॥ ६० ॥ सामायिकवलाद्योगीचणार्द्धेन-चिपेच्चयत् । कर्मजाल महत्तत्र तपसा वर्षकोटिभिः ॥ ६१ ॥ सामायिकवजेनासौ करोति सवरंपरम् । कर्मणां विधिनाध्यानी महर्ती सुनिर्जराम् ॥ ६२ ॥ सामायिकस्य सामर्थ्याद्विधत्ते मुनिपुगव । ध्यानानि तै.प्रजायेते केवलज्ञानदर्शने ॥ ६३ ॥ सामायिक जिनाःप्राहु पचाचमृगबन्धने । पाशचशृंखलातुल्य मनोमर्कटरोधने ॥६४॥

ही सरल बुद्धि और मंदबुद्धि को धारण करने के कारण वे लोग विना विस्तार से वतलाये योग्य अयोग्य मुनियों के पूर्ण चारित्र को व्यक्तरीति से नहीं जानते थे। इसी कारण से भगवान वृषभदेव और भगवान महावीर स्वामी ने उन शिष्यों का अनुग्रह करने के लिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार के संयम वतलाये हैं ॥५७-५८॥ कहने समझने और अलग अलग पालन करने के लिये महाव्रत पॉच हैं गुप्तियॉ तीन हैं और समितियॉ पॉच हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव के शिष्य आत्म शुद्धि और मोक्ष प्राप्त करने के लिये इनका पालन करते हैं तथापि वे शुभ शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट सामायिक को अवश्य करते हैं क्योंकि सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं ॥५९-६०॥ मुनिराज इस सामायिक के वल से आधे क्षण में जितने कर्मों को नष्ट कर डालते हैं उतने महा कर्म करोड़ों वर्षों के तपश्चरण से भी नष्ट नहीं हो सकते ॥६१॥ ध्यान करने वाला योगी इस सामायिक के वल से परम संवर करता है और विधि पूर्वक कर्मों की महा निर्जरा करता है ॥६२॥ मुनिराज इस सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारण करते हैं और ध्यान से केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करते हैं ॥६३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने पॉचों इन्द्रियरूपी पशुओं को बॉधने के लिये इस सामायिक को रस्सी के समान बतलाया है और मनरूपी बंदर को रोकने के लिये इसी सामायिक को सांकल के समान बतलाया है ॥६४॥ विद्वान् लोग संसार

सामायिकमहामंत्रं संसाररोगकीलने । बुधा जगुश्च साधूनां कर्मारण्येनलोपमम् ॥ ६५ ॥ सामायिक सुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम् । सुखनिस्तेचिरेणस्युर्जन्ममृत्युविषातिगा ॥ ६६ ॥ संचीयते परंधर्मं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । शुद्धं च क्षीयते पाप सामायिकात्तचेतसाम् ॥ ६७ ॥ मुक्तिश्रीःस्वयमागत्यासक्त्यासामायिकात्मनः । वृणोत्यहो श्रियासार्द्धं काकथादेवयोषिताम् ॥ ६८ ॥ सामायिकेन मागरा हिंसादिपंचपातकान् । हत्वोपार्ज्य परं धर्मं यान्ति स्वर्गंचषोडशम् ॥ ६९ ॥ द्रव्यसामायिकेनात्राभव्योजिनेन्द्रवेषधृत् । महातपा सुशास्त्रज्ञःऊर्द्ध्व ग्रैवेयकं व्रजेत् ॥७०॥ बह्वारम्भोद्भवं पापं क्षिपित्वा प्रत्यहं महत् । शुद्धसामायिकेनैव निंदयागर्हणेनच ॥ ७१ ॥ शिप्तकर्माद्भिमश्चक्री भरतेशोनुसंयमम् । गृहीत्वा ध्यानमालम्ब्य शुक्लं कर्मवनानलम् ॥ ७२ ॥ घटिकाद्वयमात्रेण हत्वा घातिचतुष्टयम् ।

रूपी सर्प को कीलने के लिये (वश में करने के लिये) इस सामायिक को महामंत्र बतलाते है तथा साधुओं के कर्म रूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान कहते हैं ॥६५॥ जो मुनि इस सामायिक रूपी अमृत पान को निरंतर करते रहते हैं वे जन्म मरण रूपी विषय से छूट कर सदा के लिये सुखी हो जाते हैं ॥६६॥ जिनके हृदय में सामायिक की वासना भरी हुई है उनके पाप सब नष्ट हो जाते हैं, और अत्यंत शुद्ध तथा स्वर्ग मोक्ष को वश करने वाला परम धर्म संचित होता है ॥६७॥ सामायिक करने वाले पुरुषों को मोक्षरूपी लक्ष्मी समस्त लक्ष्मियों के साथ आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है फिर भला देवियों की तो बात ही क्या है ॥६८॥ इस सामायिक के प्रभाव से श्रावक भी हिंसादिक पाँचों पापों को नष्ट कर और परम धर्म को संचित कर सोलहवें स्वर्ग तक पहुँचते हैं ॥६९॥ भगवान जिनेन्द्रदेव के भेष को धारण करने वाला (मुनि लिंग धारण करने वाला) महा तपस्वी और अनेक शास्त्रों का जानकार अभव्य जीव भी इस द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक पहुँचता है ॥७०॥ देखो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत महारंभ से उत्पन्न हुए प्रतिदिन के महा पापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे, तथा निंदा गर्हा के द्वारा बहुत से कर्मों को नष्ट करते थे। तदनंतर उन्होंने संयम धारण कर कर्मरूपी वन को जलाने के लिये अग्नि के समान ऐसे शुक्ल ध्यान को धारण किया था और दो ही घडी में चारो घातिया कर्मों को नष्ट कर देव और इन्द्रों के द्वारा

सार्द्धं देवार्चनैर्दिव्यं प्रापानन्तचतुष्टयम् ॥७३॥ वहुनोक्तेन किं साध्यं नकिंचित् शिवसिद्धये । सामायिकेन सदृशं विद्यते योगिनांकचित् ॥७४॥ ज्ञात्वेत्यस्यात्रमाहात्म्यमुत्थाय बुधसत्तमा । योगशुद्धिं विधाय प्रतिलेख्यांगं धरातलम् ॥७५॥ स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य कालेकाले शिवाप्तये । कुर्वन्तु सर्वदा यत्नात् शुद्धं सामायिकं परम् ॥७६॥ अखिलगुणसमुद्रं मुक्तिसौधाग्रमार्गं निरुपमसुखहेतुं धर्मवीजं विशुद्धम् । दुरित तिमिरभानुं धीधनाः कर्महान्यै कुरुत हृदयशुध्या शुद्धसामायिकं भो ॥७७॥ इमां सामायिकस्यादौ निर्युक्तिं प्रतिपाद्यवै । समासेन ततो वक्ष्ये निर्युक्तं सत्स्तवस्य च ॥७८॥ चतुर्विंशति तीर्थेपा त्रिजगत्स्वामिनां च यत् । सार्थैर्नामादिभिः षड्भिः सारैर्लोकोत्तमैर्गुणैः ॥७९॥ स्तवनंक्रियते दक्षैः प्रणाम भक्तिपूर्वकम् । भावार्चनं महध्यानं

होने वाली पूजा के साथ साथ दिव्य अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिया था ॥७१–७३॥ वहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि योगियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस सामायिक के समान और कोई पदार्थ किसी स्थान में भी नहीं है ॥७४॥ इस प्रकार इस सामायिक के महात्म्य को समझ कर श्रेष्ठ वुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये उठ कर खड़ा होना चाहिये तथा मन वचन काय को शुद्ध कर, अपने शरीर और पृथ्वी को देख शोध कर अपने दोनों हाथ जोड़ कर सामायिक के प्रति समय पर प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये ॥७५–७६॥ यह सामायिक समस्त गुणों का समुद्र है, मोक्षरूपी राजभवन का मुख्य मार्ग है, मोक्षरूपी अनुपम सुख का कारण है, धर्म का वीज है, अत्यंत विशुद्ध है, और पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है। इसलिये हे वुद्धिमान् लोगो अपने कर्मों को नाश करने के लिये शुद्ध हृदय से शुद्ध सामायिक धारण करो। प्रतिदिन नियम पूर्वक इसको करते रहो ॥७७॥ इस प्रकार पहले सामायिक का स्वरूप कहा अब आगे संक्षेप से दूसरे स्तव वा स्तुति नाम के आवश्यक का स्वरूप कहते हैं ॥७८॥ भगवान चौवीस तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामी हैं उनके सार्थक नामों के द्वारा वा सारभूत लोकोत्तम गुणों के द्वारा प्रणाम और भक्ति पूर्वक छह प्रकार से जो चतुर पुरुषों के द्वारा स्तवन किया जाता है उनकी भावपूजा की जाती है वा उनका महा ध्यान किया जाता है उसको मोक्ष सुख देने वाला स्तवन कहते हैं ॥७९–८०॥

सस्तवः शिवशर्मदः ॥८०॥ स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालो जिनोद्भवः। भावस्येति निक्षेप.स्तवश्चषड्विधः स्मृतः ॥८१॥ तीर्थेशनाममात्रोच्चारणेनचसतां द्रुतम्। विघ्नजालानि पापानि प्रलीयन्ते रुजादयः ॥८२॥ जायते च परं पुण्यं जिनचक्रयादिभूतिदम्। धर्माद्यर्थाश्च सिध्यन्ति ढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥८३॥ इत्यादि नाममहात्म्य वर्णनैर्या विधीयते। स्तुति नामभिश्चाष्टाग्रसहस्रप्रणामकै. ॥८४॥ वर्तमानचतुर्विंशति तीर्थेश्वर नामभिः। स्तव. सकथ्यते सद्भिर्धर्ममूलोऽशुभान्तकः ॥८५॥ कृत्रिमाकृत्रिमाणां च मूर्तीनां तीर्थकारिणाम्। पूजास्तुतिनमस्कारैः क्षीयन्ते विघ्नराशय. ॥८६॥ सतां सम्पद्यते पुण्यं परं शर्मैककारणम्। विश्वाभ्युदयकल्याणा जायन्ते च पदे-पदे ॥८७॥ इत्यादिस्थापनास्तुत्या तीर्थेपांस्तवनंचयत्। शिवाय क्रियते विद्भिःसस्थापनाभिधःस्तव. ॥८८॥

वह स्तवन भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से छह प्रकार है। यह छह प्रकार का स्तवन का निक्षेप है और भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥८१॥ चौबीसों तीर्थंकरों के नाम मात्र के उच्चारण करने से सज्जनों के सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं पाप नष्ट हो जाते हैं और रोगादिक सब नष्ट हो जाते हैं ॥८२॥ इसके सिवाय तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने से तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की विभूति को देने वाला पुण्य प्राप्त होता है, धर्मादिक चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों की लक्ष्मियां प्राप्त हो जाती हैं ॥८३॥ इस प्रकार भगवान के नामों का महात्म्य वर्णन कर जो स्तुति की जाती है अथवा एक हजार आठ नाम पढ़ कर जो स्तुति की जाती है उनको एक हजार आठ प्रणाम किये जाते हैं अथवा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नाम पढ़ कर जो स्तुति की जाती है उसको धर्म का मूल और शुभ देने वाला नाम स्तवन कहते हैं ॥८४–८५॥ इस संसार में तीर्थंकरो की जो कृत्रिम वा अकृत्रिम प्रतिमायें हैं उनकी पूजा स्तुति वा नमस्कार करने से सज्जनों के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं परम कल्याणों का कारण ऐसा पुण्य प्राप्त होता है और क्षण क्षण में सब तरह के अभ्युदय और कल्याण प्राप्त होते हैं इस प्रकार विद्वान् लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्थापना निक्षेप से स्थापित की हुई तीर्थंकर की प्रतिमा को स्तुति करते हैं उसको स्थापना स्तव कहते हैं ॥८६–८८॥ भगवान तीर्थंकर परम देव

दिव्यौदारिकदेहाना कोटीनेभ्योखिलार्हताम् । विश्वनेत्रप्रियाणां सौम्यानामधिकतेजसाम् ॥८९॥ श्वेतपीतादि-सद्वर्णैः स्तवनं यत्सुकान्तिभिः । निष्पाद्यते च शास्त्रज्ञै. सद्द्रव्यस्तव एवहि ॥९०॥ कैलाशचलसम्मेदोर्जयतादि-शभात्मनाम् । निर्वाणक्षेत्रभूमीनामर्हतागुणवर्णनै. ॥९१॥ पूजास्तुति नमस्कारैर्यन्माहात्म्यप्रशंसनम् । क्षेत्रस्तवः सविज्ञेयःपुण्यनिर्वाणहेतुकृत् ॥९२॥ पच कल्याणके सारै स्वर्गावतरणादिभिः । देवेन्द्राद्रिकृतैर्भूत्यामहापुण्य निबधनैः ॥९३॥ स्तुतिर्याक्रियते तज्ज्ञै कल्याणगुणभाषणै । सर्वेषां तीर्थकर्तॄणां काल स्तवः सएवच ॥९४॥ केवलज्ञानदृष्ट्याद्या गुणा अन्तातिगा. पराः । विद्यन्तेयेर्हतां स्तोतुं तान्नक्षमोमादृश.कथम् ॥९५॥ इत्यादि सद्गुणानांच भाषण यद्विधीयते । तद्गुणाय बुधैर्भावस्तव सतद्गुणप्रदः ॥९६॥ लोकोद्योतकरालोके विश्वतत्त्व-

दिव्य औदारिक शरीर को धारण करने वाले हैं संसार भर के समस्त नेत्रों को प्रिय हैं अत्यंत सौम्य हैं और करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेज को धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकरों के अत्यंत मनोहर श्वेत पीत आदि शरीर के रूप का वर्णन कर उनकी स्तुति करना अथवा अनेक शास्त्रो को जानने वाले जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार की स्तुति करते हैं उसको द्रव्य स्तवन कहते हैं ॥८९–९०॥ भगवान अरहंतदेव के गुणों का वर्णन कर कैलाश पर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि अरहंतों के शुभ निर्वाण भूमियों की पूजा स्तुति करना उनको नमस्कार करना और उनका महात्म्य प्रगट करना क्षेत्र स्तवन कहलाता है। यह क्षेत्र स्तवन भी पुण्य और निर्वाण का कारण है ॥९१–९२॥ विद्वान् लोग जो समस्त तीर्थंकरों के स्वर्गावतार आदि पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं इन्द्रादिक देवों ने जिस विभूति के साथ कल्याणोत्सव मनाया है उसका वर्णन करते हैं उन कल्याणोत्सवों को महा पुण्य का कारण बतलाते हैं और सारभूत कहते हैं इस प्रकार जो पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते है उसको कालस्तवन कहते हैं ॥९३–९४॥ "भगवान अरहंतदेव के केवल ज्ञान केवल दर्शन आदि अनंत गुण हैं उन सबकी स्तुति करने के लिये मेरे समान बुद्धिहीन पुरुष कभी समर्थ नहीं हो सकते" इस प्रकार विद्वान् लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिये जो अरहंतदेव के गुणों का निरूपण करते हैं वह उन गुणों को देने वाला भावस्तवन कहलाता है ॥९५–९६॥ भगवान अरहंतदेव इस लोक में समस्त लोक का उद्योत करने

प्रकाशकाः । धर्मतीर्थकराः सर्वज्ञान तीर्थविधायिनः ॥६७॥ अर्हन्तो मुक्तिभर्तारःपंचकल्याणभागिनः । शरण्या भवभीतानामनन्तगुणसागराः ॥६८॥ मंत्रमूर्तिमया ध्येयाः कीर्तनीयाःजगत्सताम् । वंदनीया महान्तश्च पूज्या-लोकोत्तमाःपराः ॥६६॥ दिव्यश्रीभूपितानित्या निस्पृहा स्तवनावपि । देवीनिकरमध्यस्थाः परब्रह्मव्रतांकिता ॥२००॥ विश्वभव्यहिताद्युक्ता. सार्थवाहाःशिवाध्वनि ॥१॥ मुक्ति मुक्त्यादिदातारो धर्मार्थकाममोक्षदाः । विश्वविघ्नाघ्रह-न्तारो भाक्तिकानां नसंशयः ॥२॥ इत्याद्यन्यगुणौघैर्ये पूर्णा जिनवरा भुवि । ते मे वोधिं समाधिंचदिशन्तु कीर्तिता नुताः ॥ ३ ॥ सम्यग्दर्शनसद्ज्ञान चारित्राण्यत्र यानिच । परमार्थेन तीर्थानि दुष्कर्ममलनाशनात् ॥४॥

वाले हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं, धर्म के तीर्थंकर हैं, समस्त ज्ञान और तीर्थों की प्रवृत्ति करने वाले हैं, मोक्ष के स्वामी हैं, गर्भादिक पंच कल्याणों को प्राप्त हुए हैं, संसार से भयभीत हुये मनुष्यों को शरण भूत हैं, अनंत गुणों के समुद्र हैं, समस्त मंत्रों की मूर्तिस्वरूप हैं, तथा समस्त जगत के सज्जनों को ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं। वे भगवान वंदनीय हैं, महान् हैं, पूज्य हैं, लोकोत्तम हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। वे भगवान सदा ही दिव्य विभूतियों से विभूपित रहते हैं, अपने शरीर से भी निस्पृह हैं, अनेक देवियों के मध्य मे विराजमान रहते हुये भी परम ब्रह्मचर्य व्रत से सुशोभित रहते हैं। वे भगवान आतम क्षमा आदि उत्तम गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले है, समस्त भव्य जीवों का हित करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष मार्ग में वे सदा सहायक रहते हैं। वे भगवान भक्त पुरुषों को भक्ति और मुक्ति दोनों के देने वाले हैं, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारो पुरुषार्थों को देने वाले हैं तथा समस्त विघ्नो और पापों को नाश करने वाले हैं। इस प्रकार वे भगवान अनेक गुणों के समूहों से परिपूर्ण हैं। उन भगवान की मैंने यह स्तुति की है तथा उनको नमस्कार किया है इसलिये वे भगवान मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें और समाधि की प्राप्ति करें ॥६७–२०३॥ वास्तव में देखा जाय तो अशुभ कर्मों का नाश रत्नत्रय से ही होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये ही वास्तव में तीर्थ हैं। इन रत्नत्रय स्वरूप तीर्थों की प्रवृत्ति वे तीर्थंकर ही करते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयरूप महा तीर्थों से सुशोभित रहते हैं अथवा

जितमोहारिसन्ताना.
तेषां ये च प्रणेतारो महद्भिस्तैरलं कृता' । तन्मया वा जगन्नाथास्तेऽत्रतीर्थंभवन्त्यहो ॥५॥ जितमोहारिसन्ताना.
सतामोह जयन्ति ये । ते जिनाःघातिहन्तार. उच्यन्ते तेनहेतुना ॥६॥ सर्वान् स्तुतिनमस्कारान् सत्कारादीन्–
नृनाकिनाम् । पचकल्याणकार्चां च गमनं मुक्तिधामनि ॥७॥ अन्यद्वा मानसन्मान येत्रार्हन्ति जिनेश्वरा ।
अर्हन्तस्तेऽत्र कथ्यन्ते ह्यमुनाहेतुनाखिला' ॥८॥ कथ्यन्ते त्रिजगन्नाथै कीर्तनीया न भूतले। वद्याश्रमुनिभि यैःसन्मु–
क्तिमार्ग.प्रदर्शितः ॥९॥ लोकालोक समस्त ये जानन्तिकैवलेन च । प्रपश्यन्ति दृशा तस्मात्स्युस्तेकैवलिनोऽ–
खिला' ॥१०॥ मोहदृग्ज्ञानचारित्रावरणैर्घातिकमभि. । मुक्ता ये तीर्थकर्तार उत्तमास्ते जगत्रये ॥११॥ एव गुण–
विशिष्टाये तीर्थनाथाजगत्स्तुता' । तेमे दिशन्तु वोधिंचसमाधिं च स्वगुणान् परान् ॥१२॥ नश्यादेतन्निदानहि

वे तीर्थंकर रत्नत्रयमय ही हैं ऐसे तीनों लोकों के स्वामी वे तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं ॥४–५॥ उन भगवान ने मोहरूपी शत्रु की समस्त संतान जीत ली है अथवा वे भगवान सज्जन पुरुषों के मोह को भी जीत लेते हैं तथा वे भगवान घातिया कर्मों को नाश करने वाले हैं इसलिये उनको जिन कहते हैं ॥६॥ अथवा वे भगवान जिनेन्द्रदेव मनुष्य और इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली समस्त स्तुतियों के समस्त नमस्कारों के योग्य हैं, पंचकल्याणकों में होने वाली पूजा के योग्य हैं, मुक्ति स्थान में गमन करने योग्य हैं तथा और भी संसार मे जितना मान सन्मान है सबके वे योग्य हैं इन्हीं सब हेतुओं से वे भगवान अर्हन् कहलाते हैं ॥७–८॥ जिन तीर्थंकर परमदेव ने श्रेष्ठ मोक्ष का मार्ग दिखलाया है वे भगवान इस संसार में तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा ही प्रशंसनीय नहीं है किंतु मुनियों के द्वारा भी वंदनीय गिने जाते हैं ॥९॥ वे भगवान केवल ज्ञान के द्वारा समस्त लोक आलोक को जानते हैं इसलिये उनको केवली कहते हैं तथा केवल दर्शन के द्वारा वे समस्त लोक अलोक को देखते हैं इसलिये उनको केवल दर्शी वा सर्वदर्शी कहते हैं ॥१०॥ वे तीर्थंकर परमदेव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और चरित्रावरण (चारित्र मोहनीय वा अंतराय) इन घातिया कर्मों से रहित हैं इसलिये वे भगवान तीनों लोकों में सर्वोत्तम कहलाते हैं ॥११॥ इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित और तीनों लोकों के द्वारा स्तवन किये गये वे भगवान तीर्थंकर परमदेव मेरे लिये रत्नत्रय तथा समाधि को प्रदान करें,

किन्त्वमत्यमृपाह्वयम् । एपाभापा जिनेन्द्रेण प्रणीता कार्यसिद्धये ॥१३॥ यतस्तैर्यच्चदातव्यं सर्वदृग्विद्व्रतादिकम् । हितं धर्मोपदेशादि तद्दत्तं तैर्जिनैःसताम् ॥ १४ ॥ अधुनावीतमोहास्तेकृतकृत्याजिनाधिपः । नकिंचिद्ददते लोके विश्वचितमातिगा नृणाम् ॥ १५ ॥ अथवा प्रार्थनात्रैपा भक्तिरागभरांकिता । सफला भक्तिकानां सद्धर्मार्जनाद्भविष्यति ॥ १६ ॥ यतोभक्त्यार्हतां पुंसां चीयन्तेक्लेशराशयः । सर्वे मनोरथासिद्धिमिहामुत्र व्रजन्ति च ॥ १७ ॥ अर्हत्सुवीतदोपेष्वाचार्योपाध्यायसाधुपु । धर्मं रत्नत्रयेनर्ध्यं जिनवाक्ये च धर्मिषु ॥ १८ ॥ यतो जायतेराग· स्वभावेनयो गुणोद्भवः । सप्रशस्तो मतःसद्भिर्दृष्टिज्ञानादिधर्मकृत् ॥ १९ ॥ मत्वेति श्रीजिनादीनां

तथा अपने अन्य गुणों को भी प्रदान करें ॥१२॥ भगवान की इस प्रकार की स्तुति करने को "रत्नत्रय समाधि प्रदान करें" इस प्रकार कहने को निदान नहीं समझना चाहिये किंतु भगवान जिनेन्द्रदेव ने कार्य सिद्धि के लिए ऐसी भापा को अनुभय भापा कहा है ॥१३॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेव को भव्य जीवों के लिये सम्यग्दर्शन, आत्मा की शुद्धता, व्रत, हित, धर्मोपदेश आदि जो कुछ देना था वह सव कुछ वे भगवान भव्य सज्जनों को दे चुके। इस समय तो वे भगवान वीतराग हैं कृतकृत्य हैं जिनेन्द्र हैं और समस्त चिंताओं से रहित हैं इसलिये वे अव इस संसार में मनुष्यों को कुछ नही देते ॥१४–१५॥ अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान की ऐसी स्तुति करना हमें रत्नत्रय देवें आदि कहना भक्ति और उनके गुणो के प्रति होने वाले अनुराग से भरी हुई प्रार्थना है और श्रेष्ठ धर्म को पालन करने से भक्त पुरुपों की वह प्रार्थना सफल ही होती है ॥१६॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से मनुष्यों के समस्त क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों के मनोरथ सव सिद्ध हो जाते हैं ॥१७॥ वीतराग भगवान अरहंतदेव में आचार्य उपाध्याय साधुओं में, रत्नत्रय रूप सर्वोत्कृष्ट धर्म मे, जिन वचनों मे और धर्मात्माओं में उनके गुणों से उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग है उसको सज्जन पुरुप प्रशस्त अनुराग कहते है वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म को उत्पन्न करने वाला है ॥१८–१९॥ यही समझ कर भक्त पुरुपों को समस्त अर्थों को सिद्धि करने वाली भगवान

भक्तिरागादयोखिला' । विश्वार्थसाधका नित्य कर्तव्या भक्तिभि. परा' ॥२०॥ स्तव कुर्वन्तु तद्धचतुर्विंशतिजिनेशा- नाम् । सर्वाभ्युदयसंसिध्यै नित्यप्रति मुनीश्वराः ॥२१॥ प्रतिलेख्य धरांगादीश्चित्तशुद्धिं विधाय च । स्वकरौ संपटी कृत्य स्थित्वा कृत्वा स्थिरौ क्रमौ ॥२२॥ ऋजू चांतरितौ शक्त्या चतुर्भिरंगुलैर्मुदा । मधुरेण स्वरेणैव शुद्धव्यक्ताक्षरव्रजैः ॥२३॥ यतोर्हद्गुणराशीना स्तवनेन बुधोत्तमै' । लभ्यन्ते तत्समा सर्वेगुणा'स्वर्मोक्षदा- यिन' ॥२४॥ कीर्तनेनाखिला कीर्तिस्त्रैलोक्येच भ्रमेत्सताम् । इन्द्रचक्रि जिनादीनां कीर्तनीयं पद भवेत् ॥२५॥ सम्पद्यतेऽर्हतां भक्त्या सौभाग्यभोगसम्पद. । पूजया त्रिजगल्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥२६॥ जिनानांध्यानयोगेन तीर्थंकरादिभूतय । जायन्ते मुक्तिनार्यामा का वार्ता परसम्पदाम् ॥२७॥ गुणग्रहणमात्रेण जिनेन्द्राणां च्यं

जिनेन्द्रदेव की भक्ति और उनके गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिये ॥२०॥ इसलिये मुनिराजो को अपने समस्त कल्याणों की सिद्धि करने के लिये भगवान चौवीसों तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन सदा करनी चाहिये ॥२१॥ मुनियो को सबसे पहले अपना शरीर और पृथ्वी को शुद्ध कर लेना चाहिये, मन को शुद्ध कर लेना चाहिये फिर अपने हाथ जोड़ कर दोनों पैरों को स्थिर रख कर खड़े होना चाहिये । उस समय उनके दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर होना चाहिये और दोनो चाहिये और दोनो पैर सीधे रहने चाहिये । फिर प्रसन्न चित्त होकर मधुर स्वर से शुद्ध और व्यक्त अक्षरों का उच्चारण करते हुये अपनी शक्ति के अनुसार चौवीसों तीर्थंकरो की स्तुति करनी चाहिये ॥२२–२३॥ इसका कारण यह है कि भगवान अरहंतदेव के गुणों के समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान पुरुषों को उन गुणों के समान ही स्वर्ग मोक्ष देने वाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभ कीर्ति तीनो लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं ॥२५॥ भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से समस्त सौभाग्य और भोग संपदाएं प्राप्त होती हैं तथा अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्य पद प्राप्त होते हैं ॥२६॥ भगवान अरहंतदेव का ध्यान करने से मुक्ति स्त्री के साथ साथ तीर्थंकर की समस्त विभूतियाँ प्राप्त होती हैं फिर भला अन्य सम्प-

भागात्। यान्ति विघ्नाश्च रोगाश्च यत्नेन नमामि भो ॥२८॥ ज्ञात्वेति यतयो नित्यं तद्गुणाय जिनेशिनाम्। प्रयत्नेन प्रकुर्वन्त्वनुरागभक्तिस्तवादिकान् ॥२९॥ जिनस्तवगुणहेतुं लोपकुध्यानि शत्रुं मकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञान-मूलम्। परविमलगुणौघैस्तद्गुणप्राप्तिगेहे कुरुत बुधजनानित्यं स्तव तीर्थभाजाम् ॥३०॥ विश्वेषां तीर्थकर्तॄणां निर्दिश्येति स्तवं ततः। स्वान्यस्थात्मयोर्वक्ष्ये वंदनां मुक्तिमातृकाम् ॥३१॥ एकतीर्थकृतःसिद्धाचार्यपाठकयो-गिनाम्। साधूनां च गुणाग्रामैर्ध्यानभक्त्यादिभिश्च यत् ॥३२॥ गुणग्रामैर्नमःस्तोत्रं कृतकर्मविधीयते। प्रत्यह गुणिभिर्मुक्त्यै वंदनावश्यकोऽत्र सः ॥३३॥ नामस्थापना द्रव्यक्षेत्रं काल. शुभान्वित.। भावःषडतिनिक्षेपा

दाओं की तो बात ही क्या है ॥२७॥ जिस प्रकार सूर्य की प्रभा से अंधकार सब नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के गुणों को ग्रहण करने से क्षण भर में ही समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ॥२८॥ यही समझ कर मुनियों को भगवान अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिये बड़े प्रयत्न के साथ भगवान अरहंतदेव के गुणों में अनुराग, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति आदि करनी चाहिये ॥२९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव का स्तवन उनके गुणों की प्राप्ति का कारण है, समस्त दोष और अशुभ ध्यानों को नाश करने वाला है समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल कारण है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को तीर्थंकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मल गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिये ॥३०॥ इस प्रकार समस्त तीर्थंकरों की स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिए मोक्ष की जननी ऐसी वंदना का स्वरूप कहते हैं ॥३१॥ गुणी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी एक तीर्थंकर की सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करते हैं ध्यान और भक्ति के द्वारा तथा उनके गुण वर्णन कर के प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं उनकी स्तुति करते हैं और कृतिकर्म करते हैं उसको वंदना नाम का आवश्यक गुण कहते है ॥३२-३३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने उस वंदना के भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप निक्षेपों के द्वारा

धेतिविनयोमत' ॥ ५१ ॥ अभ्युत्थान नमस्कारासनदानादिभि परैः । भापानुवृत्ति छन्दोनुवृत्तिसद्भोजनादिकैः ॥५२॥ लोकात्मीकरणार्थं यो विनय'क्रियते जनैः । लोकानुवृत्तिनामासविनयः कार्यसाधकः ॥ ५३ ॥ अर्थाय य. कृतोलोके विनय' सोऽर्थ संज्ञकः । काभाय कार्मिभिर्यश्चसकामविनयोऽशुभ' ॥ ५४ ॥ भयेनविनयोयोनुष्ठीयते स भयाह्वयः । मोक्षार्थंविनयो योऽत्र समोक्षविसयो महान् ॥ ५५ ॥ त्याज्या लोकानुवृत्याद्याश्चत्वारो विनयाः सदा । मोक्षाख्यः पंचम. कार्यें विनयोमुनिभि परः ॥५६॥ दृग्विद्वृत्ततपोभेदैरुपचारेण पंचधा । मोक्षाख्यो विनयो ज्ञेयोमुक्तिहेतु गुणप्रदः ॥५७॥ यथाविश्वे पदार्था येऽत्रोपदिष्टा जिनोत्तमै. । तेपां तथैव श्रद्धानं यद्दृष्टिविनयो– हि सः ॥५८॥ सम्यक्त्वविनयेनात्र सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम् । सोपानं प्रथममुक्तिश्रीसौधलभ्यते महत् ॥५९॥

निमित्तक, कामहेतुक भय और मोक्ष संज्ञक ॥५१॥ दूसरे को देख कर खड़ा होना, उसको नमस्कार करना, उसको आसन देना, उसके अनुकूल भापण करना, उसके अनुकूल चलना, उनको भोजन देना आदि लोगों को अपना बनाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको लौकिक कार्य सिद्ध करने वाला लोकानुवृत्ति नाम का विनय कहते हैं ॥५२—५३॥ इस लोक में धन कमाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको अर्थ विनय कहते है कामी पुरुषों के द्वारा जो काम सेवन के लिये विनय किया जाता है उसको अशुभ काम विनय कहते हैं ॥५४॥ भय से जो विनय किया जाता है वह भय विनय है और मोक्ष के लिये जो विनय किया जाता है वह महान् मोक्ष विनय है ॥५५॥ मुनियों को लोका- नुवृत्ति आदि चारों प्रकार का विनय सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये और पाँचवाँ सर्वोत्कृष्ट मोक्ष नाम का विनय धारण करना चाहिये ॥५६॥ यह मोक्ष निनय मोक्ष का कारण है और अनेक गुणों को देने वाला है तथा दर्शन विनय ज्ञान विनय चारित्र विनय तप विनय और उपचार विनय ये पाँच उसके भेद हैं ॥५७॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने समस्त पदार्थों का स्वरूप जैसा बतलाया है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना दर्शन विनय कहलाती हैं ॥५८॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का विनय करने से चन्द्रमा के समान निर्मल और मुक्तिलक्ष्मी के राजभवन की पहिली सीढ़ी ऐसा महान् सम्यग्दर्शन प्राप्त होता

कलाद्यष्टविधाचारैः पठनं पाठनं च यत् । योगशुध्यासुशास्त्राणां स ज्ञानविनयोऽद्भुतः ॥६०॥ सद्ज्ञानविनयेनाहो जायते ज्ञानलोचनम् । त्रिजगद्दर्पणंसार्द्धं सर्वैर्विद्यादिभिः सताम् ॥६१॥ त्रयोदशविधेः वृत्तापालने वृत्तशालिभिः । उत्साहो योऽनुरागश्च चारित्रविनयोऽत्रसः ॥६२॥ चारित्रविनयेनात्र केवलज्ञान कारणम् । विश्वसौख्याकरं वृत्तं यथाख्यातं नृणां भवेन् ॥६३॥ द्विषद्भेदतपोयोगाचरणे च तपस्विषु । भक्तिरागोद्यमः शक्त्या यस्तपः विनयोऽत्र सः ॥६४॥ स्युस्तपोविनयेनाहो घोरवीर तपांसि च । घातिकर्मारिहंतॄणि योगिनां विश्वसम्पदः ॥६५॥ यत्प्रत्यक्षपरोक्षेणाचार्याद्यखिलयोगिनाम् । आज्ञादिपालनं चौपचारिको विनयोऽत्र सः ॥६६॥ अनेन विनयोनाशु संपाद्यन्तेखिलागुणाः । ज्ञानविज्ञानविद्याद्यामोक्षदा यमिनां पराः ॥६७॥ मोक्षार्थं विनयं

है ॥५६॥ मन वचन काय को शुद्ध कर कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, शब्दार्थाचार, विनयाचार, उपाधना चार, मानाचार, अनिह्नवाचार इन आठों आचारों के साथ साथ श्रेष्ठ शास्त्रों का पठन पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञानविनय कहलाता है ॥६०॥ इस श्रेष्ठ ज्ञानविनय से सज्जन पुरुषों के समस्त विद्याओं के साथ साथ दर्पण के समान तीनों लोकों के स्वरूप को दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है ॥६१॥ चारित्र पालन करने वालों का तेरह प्रकार के चारित्र पालन करने में जो उत्साह वा अनुराग है उसको चारित्र विनय कहते हैं ॥६२॥ चारित्र विनय को धारण करने से केवलज्ञान का कारण और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाला ऐसा यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है ॥६३॥ बारह प्रकार के तपश्चरण को पालन करने में तथा तपस्वियों में शक्तिपूर्वक अनुराग धारण करना तपो विनय कहलाता है ॥६४॥ तपो विनय धारण करने से मुनियों के घातिया कर्मों को नाश करने वाले घोर वीर तपश्चरण प्रगट होते हैं और संसार की समस्त संपदाएं प्राप्त होती है ॥६५॥ आचार्य आदि समस्त योगियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से आज्ञा का पालन करना औपचारिक विनय है ॥६६॥ मुनियों के इस उपचार विनय से सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष देने वाले ज्ञान विज्ञान विद्या आदि समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥६७॥ जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन इस मोक्ष विनय को धारण करते हैं उनको संसार की समस्त विभूतियों के साथ साथ मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥६८॥

वंदनायाजिनैर्मता ॥ ३४ ॥ एकार्हतोच सिध्दानां सूरीणां पाठकात्मनाम् । साधूनांचमुदानामोच्चरणैर्नाम-सम्भवे ॥ ३५ ॥ गुणग्रामैःसदा स्तोत्रंक्रियते यच्छिवाप्तये । सा नामवंदनाज्ञेया नुतिपूर्वा जगद्धिता ॥३६॥ एकार्हाद्दिसर्वेषां भक्तिभावभरांकितैः । स्तूयन्ते प्रतिमा यत्रपुण्यादिफलभापणेः ॥ ३७ ॥ तद्भक्त्यार्चा प्रणामादीनांधर्मार्थादिसाधनम् । स्थापनाख्यं जिनैःप्रोक्तं वंदनावश्यकंहि तत् ॥ ३८ ॥ अमीषां यच्छरीराणां दिव्य-वर्णादिवर्णनैः । स्तवनं यद्बुधैर्भक्त्या साद्रव्यवदना शुभा ॥ ३६ ॥ क्षेत्राण्यधिष्ठितान्येव तैःसर्वे यत्रयोगिभिः । स्तूयन्ते पुण्यकर्तॄणि क्षेत्राख्या वदनाहिमा ॥४०॥ तैरेकजिनसिद्धाद्यै.कालोयोऽधिष्ठित शुभ. । स्तूयन्तेसद्गुणोच्चारैः सा कलवन्दनोर्जिता ॥४१॥ एकार्हच्छरीराचार्योपाध्यायमहात्मनाम् । साधूनां शुद्धभावेनभावग्रहणपूर्वकम् ॥४२॥

छह भेद बतलाये है ॥३४॥ किसी एक तीर्थंकर का, सिद्धों का आचार्यों का उपाध्यायों का और साधुओं का प्रसन्नता पूर्वक नाम उच्चारण करना उनके नाम में होने वाले गुणों का वर्णन करना वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनकी स्तुति करना नाम वंदना कहलाती है। यह नाम वंदना नमस्कार पूर्वक ही होती है और संसार भर का हित करने वाली है ॥३५–३६॥ अलग अलग तीर्थंकरों की अलग अलग प्रतिमाओं की अत्यंत भक्ति और अनुराग के साथ स्तुति करना इस प्रकार सब तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्तुति करना तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, उनको प्रणाम आदि करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका निरूपण करना स्थापनावंदना नाम का आवश्यक गुण है यह गुण धर्म अर्थ आदि समस्त पुरुषार्थों को सिद्धि करने वाला है। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥३७–३८॥ बुद्धिमान लोग भक्तिपूर्वक जो पाँचों परमेष्ठियों के शरीर का दिव्य वर्णन करते हैं तथा उस वर्णन के द्वारा जो लोग उनकी स्तुति करते हैं उसको शुभ द्रव्य वंदना कहते हैं ॥३६॥ उन पाँचों परमेष्ठियों के द्वारा जो क्षेत्र अधिष्ठित किया गया है रोका गया है उस पुण्य बढ़ाने वाले क्षेत्र की स्तुति करना उसको क्षेत्र वंदना कहते हैं ॥४०॥ एक तीर्थंकर, एक सिद्ध एक साधु आदि के द्वारा जो शुभ काल अधिष्ठित किया गया है उसके गुणों को उच्चारण कर उसकी स्तुति करना काल वंदना है ॥४१॥ किसी एक अरहंत एक सिद्ध एक आचार्य एक महात्मा उपाध्याय और एक साधु की शुद्ध भाव पूर्वक विचारवान

स्तवनं यद्विचारज्ञैः क्रियतेगुणभापणैः । साभाववन्दना ज्ञेया शुभभावप्रवर्द्धिनी ॥४३॥ प्रथमं कृतिकर्माथ चितिकर्म द्वितीयकम् । पूजाकर्म तृतीयं च विनयकर्मचतुर्थकम् ॥४४॥ कृत्यतेछिद्यतेयेनाक्षरव्रजेन योगिभि' । सर्वमष्टविधं कर्मकृतिकर्मतदुच्यते ॥४५॥ पापारिनाशनोपायो येनसचीयतेतराम् । तीर्थकृत्वादिसत्पुण्यं चितिकर्म तदेवच ॥४६॥ पूज्यन्तेयेनसर्वेऽत्राऽर्हदाद्याःपरमेष्ठिनः । विश्वाभ्यु॰यकर्तारस्तत्पूजाकर्म कथ्यते ॥४७॥ विनीयन्तेऽ-ष्टकर्माणि येनान्तमुदयादिना । तत्स्याद्विनयकर्मात्र समस्तकार्यसाधकम् ॥ ४८ ॥ यस्माद्विनाशयत्याशु यःकर्मा-ष्टकमंजसा । तस्माद्विलीनसंसारास्तमाहुर्विनयं परम् ॥ ४६ ॥ पूर्वंविश्वैर्जिनाधीशैः सर्वासु कर्मभूमिषु । सतां सुमुक्तिलाभाय विनयःप्रतिपादितः ॥ ५० ॥ लोकानुवृत्तिनामार्थनिमित्त. कामहेतुकः । भयाख्यो मोक्षसंज्ञ पंच—

पुरुषों के द्वारा स्तुति की जाती है उनके भाव ग्रहण कर उनके गुणों के वर्णन द्वारा जो स्तुति की जाती है उसको भाव वंदना कहते हैं। यह भाववंदना अनेक शुभ भावों को वढ़ाने वाली है ॥४२–४३॥ वंदना में पहला कृति कर्म दूसरा चिति कर्म तीसरा पूजा कर्म और चौथा विनय कर्म किया जाता है ॥४४॥ योगी लोग स्तुति के जिन अक्षरों से आठों प्रकार के कर्मों को छिन्न भिन्न कर डालते हैं काट डालते हैं उसको कृतिकर्म कहते हैं ॥४५॥ स्तुति के जिन अक्षरों से पापरूप शत्रु के नाश करने का उपाय किया जाता है, अथवा तीर्थंकर की विभूति को देने वाला पुण्य संचय किया जाता है उसको चितिकर्म कहते हैं ॥४६॥ जिन अक्षरों के समुदाय से समस्त कल्याणों को करने वाले समस्त विभूतियों को देने वाले अरहंत आदि पाँचों परमेष्ठियों की पूजा की जाती है उसको पूजा कर्म कहते है ॥४७॥ स्तुति के जिन अक्षरों से आठों कर्मों को उदय उदीर्णा में लाकर नष्ट कर दिया जाता है उसको समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला विनय कर्म कहते हैं ॥४८॥ इस विनय से आठों कर्म वहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं इसीलिये संसार को नाश करने वाले भगवान अरहंतदेन इसको विनय कहते हैं ॥४६॥ पहले जितने भी तीर्थंकर हुये हैं उन सवने समस्त कर्म भूमियों में सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्ष का कारण एक विनय ही वतलाया है ॥५०॥ इस विनय के पाँच भेद हैं लोकानुवृत्ति, अर्थ

मोक्षाभिधं येप्रकुर्वंतेऽन्वहम् । इमं तेषांजगल्लक्ष्म्यासमं मुक्तिप्रजायते ॥६८॥ मत्वेति विनयं दक्षा इमसर्वप्रयत्नतः । त्रिशुध्या प्रत्यह सार कुर्वन्तु शिवशर्मणे ॥ ६६ ॥ अत्रान्तरे सुमेधावी शिष्यः पृच्छति सादरः । प्रणम्य स्वगुरुं मूर्ध्नाकांश्चित्प्रश्ननान्शुभाप्तये ॥ ७० ॥ भगवन् कृतिकर्मात्र कीदृश वा कियद्विधम् । कैस्तेषां तद्विकर्तव्यं विधिना केनवाखिलम् ॥ ७१ ॥ अवस्थाविषये कस्मिन् कतिवारान्शुभप्रदान् । कृतिकर्मण एवास्य कियत्य-वनतानि वै ॥ ७२ ॥ कियन्ति च शिरांसि स्युरावर्तानिकियंति च । कति दोषैर्विमुक्तं वा कर्तव्यं कृतिकर्म-तत् ॥ ७३ ॥ इमां सत्प्रश्नमालां मेऽनुग्रहायसमादिश । ततःप्राह गुरुर्विश्व हितोद्युक्तं इदं वचः ॥ ७४ ॥ शृणु धीमन् विधाय त्व स्ववशे हृदयं निजम् । जिनागम वलाद्वचो कृतिकर्मविधीन्परान् ॥ ७५ ॥ नित्यनैमित्तिकाभ्यां तत्कृतिकर्म द्विधोच्यते । एकैक वहुभेदं च कर्मघ्न शिवकारणम् ॥ ७६ ॥ त्रिकालवदना योग सत्प्रतिक्रमणा-

---

यही समझ कर चतुर पुरुषों को मन वचन काय को शुद्ध कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन यह सारभूत मोक्ष विनय धारण करना चाहिये ॥६६॥ इसी बीच में किसी चतुर शिष्य ने अपने गुरु के आगे मस्तक झुका कर आदर के साथ शुभ ज्ञान की प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछे ॥७०॥ वह पूछने लगा कि हे भगवन् यहाँ पर कृति कर्म से क्या अभिप्राय है, वह कितने तरह का होता है, उनका विधान किन किन के लिये है वा किनको करना चाहिये, किस विधि से करना चाहिये,, किस अवस्था में कितने बार यह शुभप्रद कृति कर्म करना चाहिये, कितने नमस्कार करने चाहिये कितनी शिरोनति करनी चाहिये कितने आवर्त करने चाहिये, और कितने दोषों से रहित यह कृति कर्म करना चाहिये ॥७१–७३॥ हे प्रभो मेरा अनुग्रह करने के लिये इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये। यह सुन कर सब जीवों का हित करने वाले गुरु नीचे लिखे अनुसार कहने लगे ॥७४॥ कि हे बुद्धिमान् तू अपने मन को वश में कर सुन। मैं जिनागम के अनुसार कृति कर्म की उत्कृष्ट विधियों को कहता हूँ ॥७५॥ उस कृति कर्म के दो भेद हैं एक प्रतिदिन होने वाला कृति कर्म और दूसरा किसी निमित्त से होने वाला कृति कर्म। इनमें भी एक एक कृति कर्म के अनेक भेद हैं जो कर्मों को नाश करने वाले हैं और मोक्ष के कारण हैं ॥७६॥ जो प्रतिदिन त्रिकाल वंदना की जाती है, योग

दिकम् । प्रत्यहं क्रियते यत्तन्नित्यकर्माघनाशकम् ॥७७॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षपर्वदिनादिषु । विधीयते क्रियाकर्म यत्तन्नैमित्तिकं परम् ॥७८॥ त्रिकालवंदनायां च विधेया भक्तिकै. सदा । चैत्यभक्तिस्ततः पंचगुरु-भक्तिर्विधानतः ॥७९॥ चतुर्दशीदिने सिद्धचैत्यश्रुताख्य भक्तयः । भक्तिः पंचगुरूणां श्रीशान्तिभक्तिस्ततोतिमा ॥८०॥ अष्टमीदिवसे सिद्धश्रुतचारित्र भक्तयः । चैत्यभक्ति स्तत. पंचगुरुशान्ति समाह्वये ॥८१॥ पाक्षिके दिवसे सिद्ध-चारित्रशान्तिभक्तयः । श्रीसिद्धप्रतिमायां श्रीसिद्धिभक्तिर्विधीयते ॥८२॥ अपूर्वचैत्यचैत्यालये सिद्धचैत्यसज्ञके । भक्ति चारित्रसत्पंचगुरुश्रीशांतिनामिका: ॥८३॥ नन्दीश्वरत्रये सिद्धचैत्यभक्ति स्वभक्तिः । विधातव्ये ततःपंच गरुशान्त्यविधे परे ॥८४॥ जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च तीर्थेशजन्मनो वुधैः । सिद्ध चारित्रशान्त्याख्या दातव्या सक्तयो मुदा ॥ ८५ ॥ कर्तव्या अभिषेकस्य वंदनाया सुभक्तयः । सिद्धचैत्यमहापचगुरुशांतिजिनेशिनाम् ॥ ८६ ॥ जिनेन्द्र-

---

धारण किया जाता है वा श्रेष्ठ प्रतिक्रमण किया जाता है उसको नित्यकर्म कहते हैं। यह नित्यकर्म भी पापों को नाश करने वाला है ॥७७॥ अष्टमी के दिन चतुर्दशी के दिन पक्ष पूरा होने पर वा अन्य किसी पर्व के दिन जो क्रिया कर्म किया जाता है उसको नैमित्तिक कृतिकर्म कहते हैं ॥७८॥ त्रिकाल वंदना में भक्त पुरुषों को विधि पूर्वक सदा चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलनी चाहिये ॥७९॥ चतुर्दशी के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८०॥ अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८१॥ पाक्षिक वंदना में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा सिद्ध प्रतिमा के सामने सिद्ध भक्ति पढ़नी चाहिये ॥८२॥ अपूर्व चैत्य वा अपूर्व चैत्यालय में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, चारित्र-भक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८३॥ नंदीश्वर के तीनों पर्वों में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति नंदीश्वरभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के सामने तथा तीर्थंकर के जन्म कल्याणक के दिन बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८५॥ अभिषेक की वंदना में सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८६॥ भगवान जिनेन्द्रदेव की चल और अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा

प्रतिविम्वानां स्थिरानां वा चलात्मनाम् । प्रतिष्ठायां भवेत्सिद्धशान्ति भक्त्योह्वय: द्वयम् ॥ ८७ ॥ स्थिरार्हत्प्र-तिमाया च चतुर्थस्नपनाहनि । सिद्धभक्तिश्च चारित्रभक्किरालोचनायुता ॥ ८८ ॥ चैत्यभक्तिर्महा पचगुरुभक्ति: प्रयत्नत: । शान्तिभक्ति विधातव्या विधिना विधिहानये ॥ ८६ ॥ चलार्हत्प्रतिमायाश्च मुदाकार्यावुधोत्तमै. । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशान्तिसुभक्तय: ॥ ६० ॥ महत्ताप. पदारूढसामान्यर्पे प्रवदना । सिद्धभक्ति विधायोच्चैर्भक्त्या कार्यान्यसंयतै: ॥६१॥ मिद्धांतवेदिनां सिद्धश्रुतभक्तिद्वयं भवेत् । आचार्याणां हि सिद्धाचार्यभक्ति भवतो नुतौ ॥६२॥ सिद्धांतवेदि सूरीणा वदनायां सुशिष्यकै. । कर्तव्या विधिना सिद्धश्रुताचार्याख्यभक्तय: ॥६३॥ मुनेर्लघीयसोपि प्रतिमायोगस्थितस्य वै । महतस्तपसो भक्त्याप्रणामे परसंयतै. ॥६४॥ ध्यात्वा युक्तित. सिद्धयोगशांत्याख्यभक्तय' । तथा प्रदक्षिणा कार्या योगभक्त्यातिभाक्तिकै' ॥६५॥ जिननिष्क्रमणेसिद्धचारित्र

में सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति ये दो भक्ति पढनी चाहिये ॥८७॥ स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति आलोचना, चैत्यभक्ति, पंचमहा गुरुभक्ति और शांतिभक्ति विधिपूर्वक कर्मों को नाश करने के लिये प्रयत्नपूर्वक पढ़नी चाहिये ॥८८–८६॥ बुद्धिमान पुरुषों को चल अरहंत प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन प्रसन्नतापूर्वक सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचमहागुरुभक्ति शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥६०॥ जो सामान्य मुनि उग्र उग्र तपश्चरण करने वाले हैं उनकी वंदना करने के लिये अन्य मुनियों को भक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिये ॥६१॥ सिद्धांत के जानने वाले मुनियों की वंदना करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढनी चाहिये । तथा आचार्यों की वंदना करने के लिये सिद्धभक्ति आचार्यभक्ति पढ कर नमस्कार करना चाहिये ॥६२॥ यदि वे आचार्य सिद्धांत के जानकार हो तो उनके शिष्यों को विधि पूर्वक सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढनी चाहिये ॥६३॥ यदि कोई मुनि छोटे हों किंतु प्रतिमा योग धारण कर खड़े हों तो उनके लिये तथा बड़े मुनियों के लिये अन्य मुनियों को नमस्कार करते समय युक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये । तथा भक्त पुरुषों को योगभक्ति पढ़ कर उनकी प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥६४–६५॥ भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति

योगभक्तयः । योगशान्त्याह्वयेभक्ति योगभक्त्या प्रदक्षिणा ॥६६॥ जिन निर्वाण सत्क्षेत्रे भक्ति सिद्धश्रुताभिधे । चारित्रयोगनिर्वाण शान्तिभक्तिप्रदक्षिणा ॥६७॥ ज्ञानोत्पत्तौ महासिद्धश्रुतचारित्रभक्तयः । शान्तिभक्तिस्तथायोग भक्त्या कार्या प्रदक्षिणा ॥६८॥ श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिने कार्या क्रियाविधौ । सिद्धनिर्वाण सत्पंचगुरुशान्त्याख्य भक्तयः ॥६६॥ सामान्यर्षौ मृतेगस्य निषद्यास्थानकस्य वा । विधेयाः सिद्धयोगश्रीशांतिभक्तय एव हि ॥३००॥ सिद्धांतवेदिसाधूनां कर्तव्या मरणे वुधैः । श्रीसिद्धश्रुतयोगश्रीशांतिभक्तिसमाह्वय. ॥१॥ उत्तराख्यमहायोगधारिणां योगिनांमृतौ । सिद्धचारित्र सद्योगश्रीशांतिभक्तयोऽमलाः ॥२॥ तथोत्तरमहायोगधारिसिद्धांतवेदिनाम् । श्रीसिद्धश्रुतचारित्रयोगश्रीशांतिभक्तयः ॥३॥ आचार्येऽत्र मृतेगस्य निषद्यायाः किलाथवा ।

पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥६६॥ तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र में जाकर सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा प्रदक्षिणा भी देनी चाहिये। (प्रदक्षिणा योगभक्ति से दी जाती है) ॥६७॥ भगवान के ज्ञान कल्याणक के समय महा सिद्धिभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥६८॥ भगवान बर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के दिन कृतिकर्म की विधि करते समय सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६६॥ किसी सामान्य ऋषि के मरण हो जाने पर उनके शरीर के लिए तथा उनके निषद्या स्थान के लिये सिद्धभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३०॥ सिद्धांत के जानकार साधुओं के मरण होने पर बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३०१॥ उत्तरगुण धारण करने वाले महायोगी मुनियों के मरण होने पर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और निर्मल शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥२॥ यदि उत्तरगुणों को धारण करने वाले महामुनि सिद्धांत के जानकार हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥३॥ आचार्य के मरण होने पर उनके शरीर के लिये और निषद्या के लिये सिद्धभक्ति

दातव्याःसिद्धयोगाचार्यश्रीशान्तिभक्तय ॥४॥ सिद्धांत वेदिसूरीणां विधेया शिष्यकैर्मुदा । श्रीसिद्धश्रुतयोगा– आचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥५॥ उत्तराभिधसद्योगिनासूरीणां मृतेसति । सिद्धचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥६॥ सिद्धान्तोत्तर सद्योगाद्यसूरेः सिद्धपूर्विका । श्रुतचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥७॥ इमाष्टौ च क्रियाः– कार्याः शिष्यैर्वापरसयतैः । शरीरस्य निषद्यास्थानस्य वा शुभकारणा ॥८॥ प्रथमं श्रुतपचम्यांभक्तिसिद्ध– श्रुताह्वये । श्रीश्रुताचार्यभक्तिः च कृत्वास्वाध्यायऊर्जित. ॥९॥ आह्यस्तत्त्वार्थसूत्राणि पठित्वानुबुधैश्च तम् । निष्ठाप्य श्रुतभक्त्यन्ते शान्तिभक्तिर्विधोयते ॥१०॥ सन्यासारभकाले भक्ति सिद्धश्रुतसज्ञिके । कृत्वा गृहीत–

योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥४॥ यदि सिद्धांत के जानकार आचार्य का मरण हो जाय तो उनके शरीर और निषद्या के लिये शिष्यों को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार उत्तरगुणों को धारण करने वाले आचार्यों के मरण होने पर सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥६॥ यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता भी हो और उत्तरगुणों को धारण करने वाले भी हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥७॥ ये आठ क्रियायें (आठ प्रकार के साधुओं के मरण होने पर पढ़ी जाने वाली भक्तियों का पढना) उनके शिष्यों को भी करनी चाहिये तथा अन्य मुनियों को भी करनी चाहिये । तथा ये शुभ क्रियाएं उनके शरीर की भी करनी चाहिये और उनके निषद्या[1] स्थान की भी करनी चाहिये ॥८॥ श्रुत पंचमी के दिन पहले तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये । फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़ कर उत्तम स्वाध्याय का प्रारंभ करना चाहिये फिर तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ कर बुद्धिमानों को श्रुतभक्ति पढ कर उस स्वाध्याय को पूर्ण करना चाहिये और फिर शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९–१०॥ समाधिमरण के प्रारंभ काल में सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये फिर मन में परम वैराग्य धारण करते हुए सन्यास ग्रहण करना चाहिये । फिर श्रुतभक्ति और

१—समाधिस्थान

संन्याससंवेगांकितमानम. ॥११॥ श्रुताचार्याभिधे भक्ति दत्वास्वाध्यायमद्भुतम् । गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयेन्मुना ॥ १२ ॥ स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेया मंन्यामस्थ महामुने । महाश्रुतमहाचार्यमहा श्रुताख्य भक्तयः ॥१३॥ सत्प्रतिक्रमणे कार्या त्रिकालगोचरेन्वहम् । सिद्धभक्तिस्ततो भक्ति. प्रतिक्रमणसञ्ज्ञका ॥ १४ ॥ निष्ठितकरणाद्यंत वीरभक्तिश्चसंयतैः । चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिर्मलहानये ॥१५॥ पाक्षिकाख्ये च चातुर्मासिकसञ्ज्ञेऽघघातके । सत्प्रतिक्रमणेसारे सांवत्सरिकनामनि ॥१६॥ आदौ श्रीसिद्धचारित्रप्रतिक्रमण भक्तयः । श्रीनिष्ठितकरणादि वीरभक्ति-समाह्वयः ॥१७॥ चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिः शुभदायिनी । चारित्रालोचनाचार्यभक्तिश्चारित्रशुद्धिदा ॥१८॥ वृहदालोचनाचार्यभक्तिर्मलविनाशिनी । क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्ति' शुद्धिकरांतिमा ॥१९॥ चारित्रालोचनाचार्य भक्तिर्भक्तिविधायिनी । वृहदालोचनाचार्य भक्तिर्दोपापहारिणी ॥२०॥ एतद्भक्तिद्वयमुक्त्वा शेपाः पड्भक्तयोपरा. ।

आचार्यभक्ति पढ़ कर उत्तम स्वाध्याय को ग्रहण करना चाहिये और अंत में श्रुतभक्ति पढ़ कर उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये ॥११-१२॥ सन्यास धारण करने वाले महामुनि को स्वाध्याय ग्रहण करते समय महा श्रुतभक्ति महा आचार्यभक्ति और महाश्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥१३॥ प्रतिदिन तीनों कालों में होने वाले प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति प्रतिक्रमण के अंत में वीरभक्ति और दोप दूर करने के लिए चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करनी चाहिए ॥ १४-१५ ॥ पापों को नाश करने वाले पाक्षिक प्रतिक्रमण में चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में और सारभूत वार्षिक प्रतिक्रमण में पहले सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति करनी चाहिये फिर प्रतिक्रमण भक्ति पढ़नी चाहिये प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वीर-भक्ति और शुभ देने वाली चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढ़नी चाहिए फिर चारित्र को शुद्ध करने वाली चारित्रालोचना आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । तदनंतर दोप दूर करने वाली वृहत आलोचना और आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये अंत में शुद्धि करने वाली लघु आलोचना और लघु आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥१६-१९॥ इन भक्तियों में से चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति भक्ति उत्पन्न करने वाली है तथा वृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति दोपों को दूर करने वाली हैं ॥२०॥ पाक्षिक चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण को छोड़कर वाकी के जितने प्रतिक्रमण हैं उन सब में दोप दूर करने के लिये

प्रतिक्रमणशेषेषुकर्तव्या दोषहानये ॥ २१ ॥ सद्दीक्षाग्रहणे लोचे सिद्धयोगतमाह्वये । भक्ति लोचावसाने च सिद्ध-भक्तिर्विरागदा ॥२२॥ श्री सिद्धयोग भक्तीकृत्वाप्रत्याख्यानमूर्जितम् । गृहीत्वाचार्यभक्तिश्चकर्तव्या पारणा-हनि ॥२३॥ सिद्धभक्तिं विधायोच्चैः प्रत्याख्यान विमोचयेत् । मध्याह्ने सयमीदातृगेहेशरिथतये चिदे ॥२४॥ श्रीश्रुताचार्य भक्तिविधाय स्वाध्याय ऊर्जित । ग्राह्यो निष्ठापने तस्यश्रुतभक्तिर्भवेत्सताम् ॥ २५ ॥ कार्यामगल-मध्याह्नक्रियायांमुनिसत्तमैः । सिद्धश्रीचैत्य सत्पंचगुरुश्रीशान्तिभक्तयः ॥ २६ ॥ प्रत्याख्याने शुभेमगलगोचर-समाह्वये । महासिद्धमहायोगभक्तीकृत्वा चतुर्विधम् ॥ २७ ॥ प्रत्याख्यान गृहीत्वैकोपवासादिकगोचरम् । आचार्य शान्तिभक्ती चान्तेत्र कुर्वन्तु योगिनः ॥ २८ ॥ ग्रहणे रात्रियोगस्य मोचने सुयोगिन । योगभक्तिं प्रकुर्वन्तु पापास्रवनिरोधिनीम् ॥ २९ ॥ योगस्य ग्रहणे वर्षाकाले निष्ठापने तथा । श्रीसिद्धयोगभक्ति दत्त्वा ग्राह्यो

चारित्रालोचना और आचार्य भक्ति को छोड़कर बाकी की छहों भक्ति पढनी चाहिये ॥ २१ ॥ दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोंच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़नी चाहिये तथा केशलोंच करने के अनंतर वैराग्य उत्पन्न करने वाली सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये ॥२२॥ सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढकर उत्तम प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये और पारणा के दिन आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥ २३ ॥ फिर संयमियों को आत्म कल्याणार्थ शरीर की स्थिति के लिए दाता के घर मध्याह्न के समय सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान का त्याग करना चाहिए ॥ २४ ॥ सज्जन पुरुषों को श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढकर श्रेष्ठ स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करते समय श्रुतिभक्ति पढ़नी चाहिए ॥२५॥ मध्याह्न की मांगलिक क्रियाओं में मुनियों को सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥ २६ ॥ किसी मांगलिक शुभ प्रत्याख्यान में महा सिद्धभक्ति, और महा योगभक्ति पढ़कर एक वा दो वा अधिक उपवास के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और अन्त में उन मुनियों को अचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए ॥ २७–२८ ॥ रात्रि योग धारण करते समय और उसका त्याग करते समय मुनियों को पापास्राव को रोकने वाली योगभक्ति पढ़नी चाहिए ॥ २९ ॥ वर्षाकाल में योग धारण करते समय तथाअंत में उसका त्याग

योगऊर्जितः ॥३०॥ चतुर्दिक्षु चतस्रोनुचैत्य भक्तयः एवहि । ततो भक्तिद्वयं पंचगुरुशान्त्याह्वयं परम् ॥३१॥ सिद्धांतवाचनाया ग्रहणे सिद्धश्रुताभिधे । भक्तिः कृत्वा पुनर्दत्वा श्रुताचार्याह्वयेपरे ॥ ३२ ॥ स्वाध्यायं किल गृह्णातु तस्य निष्ठीपने यमी । श्रुतश्रीशान्ति भक्तिं च करोतु वहुभक्तय ॥ ३३ ॥ सिद्धांतार्थाधिकाराणां समाप्तौ मानहेतवे । एकैकं सत्तनूत्सर्गं मुदा कुर्वन्तु संयताः ॥ ३४ ॥ तेषमर्थाभिकाराणां वहुमान्यत्वतश्चिदे । आदौ सिद्धश्रुताचार्यभक्तिः कृत्वाविदाम्वरैः ॥ ३५ ॥ समाप्तावप्यनेनक्रमणे प्रवर्तते सति । भवन्ति ज्ञानकर्तार. म्वुधिपारगः ॥ ३७ ॥ कायोत्सर्गाः षडेव हि ॥ ३६ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो महाप्राज्ञो महातपाः । चिरप्रव्रजितो वाग्मी सिद्धांता— दान्तोदियोति निर्लोभोधीरः स्वान्यमतादिवित् । गंभीरस्तत्त्वविद्दक्षो ह्यजह्योमृदुमा—

करते समय सिद्धभक्ति योगभक्ति पढ़कर योग धारण करना चाहिए वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में एक एक चैत्य भक्ति पढ़नी चाहिए और फिर पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए इसी प्रकार वर्षायोग धारण करना चाहिए और इसी प्रकार उसका विसर्जन करना चाहिए ॥ ३०–३१ ॥ सिद्धांत वाचना के ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए, फिर श्रुतिभक्ति आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय का ग्रहण करना चाहिए और उसको समाप्त करते समय मुनियों को अधिक भक्ति करने के लिए श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति पढनी चाहिये ॥३२–३३॥ सिद्धांत ग्रंथों के अधिकार समाप्त होने पर उनका सन्मान करने के लिये मुनियों को प्रसन्न चित्त होकर एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ३४ ॥ सिद्धान्त ग्रंथों के अर्थाधिकारों के प्रारम्भ में अधिक मान देने के लिये सब से पहले सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बुद्धिमानों को कर लेनी चाहिये ॥३५॥ इसी प्रकार सिद्धांत ग्रंथो के अर्थाधिकार समाप्त होने पर ये ही भक्तियां पढ़नी चाहिये तथा ज्ञान की वृद्धि करने वाले छह कायोत्सर्ग करने चाहिये ॥३६॥ जो शिष्य ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न है महा बुद्धिमान है, महा तपस्वी है, चिरकाल का दीक्षित है श्रेष्ठ वक्ता है, सिद्धांत महासागर का पारगामी है, इन्द्रियों को वश करने वाला है, अत्यंत निर्लोभ है, धीर वीर है, अपने और दूसरों के मन को अच्छी तरह जानता है, जो गंभीर है तत्वों का वेत्ता है चतुर है, जिसका मन कोमल है जो धर्म की प्रभावना करने

नस. ॥ ३८ ॥ धर्मप्रभावना शील' इत्यादिगुणसागरः । आचार्यपदवीयोग्यः शिष्योगुरोरनुज्ञया ॥३६॥ श्रीसिद्धाचार्य भक्ति विधायाचार्यपदंमहत् । गृहीत्वासघसानिध्ये शान्तिभक्तिं करोतु च ॥ ४० ॥ इमा उक्ताः क्रियाः कार्या. सकलायोगिभिर्मुदा । श्रावकैश्च यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमैः ॥ ४१ ॥ क्षमादिलक्षणैर्युक्ता-रत्नत्रयविभूपिता' । निर्ममानिरहंकारा अनालस्या जितेन्द्रियाः ॥ ४२ ॥ दीक्षया लघवो दक्षा विरागा निर्जरार्थिनः । धर्मशीला' सुसंवेगा विचार चतुराभुवि ॥ ४३ ॥ इत्यादिगुणसम्पन्ना मुनयो ये शिवाप्तये ॥ आचार्यादि वरिष्टानां कुर्वन्तु कृतिकर्म ते ॥ ४४ ॥ पंचकल्याणपूजार्हा अर्हन्तस्त्रिगन्नुता. । सिद्धाः कर्मांग-मुक्ताश्च योग्या' सत्कृतिकर्मणाम् ॥ ४५ ॥ पचाचारपरा दक्षा षट्त्रिंशद्गुणभूपिताः । विश्वोपकारचातुर्या

में चतुर है और जिसका मन निश्चल है इस प्रकार जो अनेक गुणों का समुद्र है, ऐसा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचार्य पदवी के योग्य होता है ॥ ३७–३६ ॥ ऐसे शिष्य को सिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति पढकर आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण करना चाहिये और फिर संघ के समीप बैठकर शांतिभक्ति करनी चाहिये ॥ ४० ॥ ये सब ऊपर लिखी हुई क्रियाएं मुनियों को प्रसन्न चित्त होकर करनी चाहिये तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों को यथा योग्य रीति से ये क्रियाएं करनी चाहिये ॥ ४१ ॥ जो मुनि उत्तम क्षमा आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं, रत्नत्रय से विभूपित हैं, मोह रहित हैं अहंकार रहित हैं आलस्य रहित हैं जितेन्द्रिय हैं, दीक्षा की अपेक्षा लघु वा छोटे हैं, चतुर हैं वीतराग हैं, कर्मों की निर्जरा करने वाले हैं धर्मात्मा हैं, संसार से भयभीत हैं, और विचार करने में चतुर हैं । इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित जो मुनि हैं उनको मोक्ष प्राप्त करने के लिये आचार्य आदि अपने से श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृति कर्म करना चाहिये ॥ ४२–४४ ॥ जो पाँचों कल्याणकों की पूजा के योग्य हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे भगवान अरहंत देव तथा समस्त कर्मों से रहित भगवान सिद्ध परमेष्ठी सत्कृति कर्म के योग्य हैं । भावार्थ—मुनियों को श्रेष्ठ मुनियों का कृतिकर्म करना चाहिये । और अरहंत सिद्धों का सत्कृति कर्म करना चाहिये ॥ ४५ ॥ जो पाँचों आचारों के पालन करने में अत्यंत चतुर हैं, जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हैं, जो समस्त जीवों का उपकार करने में चतुर

आचार्याः सर्वंवदिताः ॥४६॥ रत्नत्रयमहाभूषा अंगपूर्वाब्धिपारगाः। उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठन-तत्पराः ॥४७॥ प्रवर्तकाः स्वसंघानां योगक्षेमविधायिनः। मर्यादेशका ये च स्थविराश्चिरदीक्षिता. ॥४८॥ चत्वारस्ते जगद्वंद्या योग्या भवन्ति भूतले। विनयस्य मुनीनां च सर्वेषां कृतिकर्मणाम् ॥४६॥ शैथल्याचारणा मंदसंवेगा द्रव्यलिंगिनः। द्विधासंगात्त ससक्ता. शठाः पडितमानिन' ॥५०॥ नरेन्द्रमातृपित्राद्यै दीक्षाविद्यादि-दायिनः। गुरवश्चक्रियाहीनाः सर्वे पाषंडिर्लिगिनः ॥५१॥ रागिणो विरताविश्वे कुदेवा भववर्तिनः। एते सतामवंद्या यतोऽयोग्याः कृतिकर्मणाम् ॥५२॥ पार्श्वस्थाश्च कुशीला हि संसक्ता वेषधारिणः। तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्रनामकाः ॥५३॥ एते पंचैवपार्श्वस्था न वंद्याः संयतैः क्वचित्। अमीषां लक्षणं किंचन्निंद्याचारं ब्रुवेऽत्र

हैं और सब मुनि जिनको नमस्कार करते हैं उनको आचार्य कहते हैं। ॥ ४६ ॥ जो रत्नत्रय से अत्यंत सुशोभित हैं, जो अंग पूर्व रूपी महासागर के पारगामी हैं, और जो शास्त्रों के पठन पाठन में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं ॥ ४७ ॥ जो अपने संघ में योग क्षेम करने वाले हैं उनको प्रवर्तक कहते हैं तथा जो एक देश मर्यादा को पालन करने बतलाने वाले चिरकाल के दीक्षित हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥ ४८ ॥ ये जगतवंद्य चारों प्रकार के मुनि इस संसार में अन्य मुनियों की विनय के और समस्त मुनियों के कृति कर्म के योग्य होते हैं ॥ ४६ ॥ जिनका आचरण अत्यंत शिथिल है, जिनका संवेग मंद है, जो द्रव्य लिंगी है. वाह्याभ्यंतर परिग्रह धारण करने के कारण जो आर्तध्यान में लीन रहते है, जो मूर्ख हैं, अपने को पण्डित मानते हैं, जो राजा वा माता पिता के कहने से दीक्षा वा विद्या देते हैं, जो गुरु क्रियाहीन हैं, जो जो पाखण्डी हैं, रागी हैं, व्रतहीन हैं, जो जो संसार में परिभ्रमण करने वाले कुदेव हैं वे सब सज्जनों को वंदना करने के अयोग्य है तथा कृतिकर्म करने के अयोग्य हैं। उन्हें न वंदना करनी चाहिये और न उनके लिये कृतिकर्म करना चाहिये ॥ ५०–५२ ॥ जो मुनि पार्श्वस्थ हैं, कुशील हैं वेषधारी संसक्त हैं अपगत संज्ञक हैं और मृगचारित्री हैं वे सब पार्श्वस्थ कहलाते हैं मुनियों को ऐसे पार्श्वस्थों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये। आगे मैं संक्षेप से इन पार्श्वस्थों का थोड़ा सा लक्षण और निंद्य आचरण कहताहूँ ॥ ५३–५४ ॥ जो सदा वसतिका में

च ॥५४॥ वसनिग्रंतिवद्धा ये बहुमोहा कुमार्गगा । सगोपकरणादीनाकारकाः शुद्धिदूरगा ॥५५॥ दूरस्था' सयतेभ्यो दुष्टाऽसयतादि सेविनः । अजिताक्षकपायाश्च द्रव्यलिगधरा भुवि ॥५६॥ गुणेभ्योदृग्विदादिभ्य. पार्श्वेतिष्ठन्तियोगिनाम् । ते पार्श्वस्था जिनै. प्रोक्ता स्तुतिनुत्यादि वर्जिताः ॥५७॥ शील च कुत्सितं येपां निंद्यमाचरणं सताम् । स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसाः ॥५८॥ व्रतशीलगुणैर्हीना अयश. करणे भुवि । कुशला साधुसगाना कुशीला वदिताः खलाः ॥५९॥ असक्ता दुर्धियोनिंद्या असयतगुणेपुये ये । सदा-हारादिगृध्या च वैद्यज्योतिपकारिण ॥६०॥ राजादिसेवनो मूर्खा मंत्रतंत्रादितत्पराः । संसक्तास्ते बुधै. प्रोक्ता धृतवेपाश्चलंपटा ॥६१॥ विनष्टा प्रगताः सज्ञा. सम्यग्ज्ञानादिजा' पराः । येपां ते लिंगनोत्रापपगतसंज्ञा

निवास करते हैं, जो अत्यन्त मोही हैं कुमार्ग गामी है, परिग्रह और उपकरण आदि को उत्पन्न करने वाले हैं, जो शुद्धता से दूर रहते हैं, संयमियों से दूर रहते हैं, दुष्ट असंयमियों की सेवा करते हैं जो न तो इन्द्रियो को जीतते हैं और न कपायों को जीतते हैं जो संसार में केवल द्रव्य लिग को धारण करते हैं, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणो के लिये मुनियों के पास रहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं ऐसे मुनि स्तुति वा नमस्कार आदि सबसे रहित होते हैं ॥५५-५७॥ जिनका शील भी कुत्सित है, जिनके आचरण भी निंद्य हैं, जिनका स्वभाव भी निंद्य है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा हुआ है उनको कुशील कहते हैं ॥५८॥ ये कुशील मुनि व्रत शील और गुणों से रहित होते हैं साधु और संघ का अपयश करने में जो संसार भर में कुशल होते हैं तथा जो दुष्ट होते हैं ऐसे मुनियों को कुशील कहते हैं ॥५९॥ जो मुनि चारित्र पालन करने में असमर्थ हैं, विपरीत बुद्धि को धारण करने वाले हैं, असंयमियों मे भी निंद्य हैं, जो आहारादिक की लालसा से ही, वैद्यक वा ज्योतिप का व्यापार करते हैं, राजादिकों की जो सेवा करते हैं, जो मूर्ख हैं, मंत्र तंत्र करने में तत्पर हैं, और जो लंपटी हैं ऐसे भेप धारण करने वाले मुनियों को बुद्धिमान लोग संसक्त मुनि कहते हैं ॥६०-६१॥ जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक संज्ञा सब नष्ट हो गई है चली गई है ऐसे भेपधारी मुनियों

भवन्तिभो ॥६२॥ जिनवाक्यमजानाना भ्रष्टाः चारित्रवर्जिताः । सांसारिकसुखासक्ताः करणालसमानसाः ॥६३॥ मृगस्येव चारित्रं चोचरणं स्वेच्छया भुवि । येषां ते मृगचारित्रा भवेयुः पापकारिण. ॥६४॥ स्वच्छंदचारिणो जैनमार्गदूपणदायिनः । त्यक्त्वाचार्योपदेशांश्चैकाकिनो धृतिवर्जिताः ॥६५॥ दर्शनज्ञान चारित्र तपेभ्यो विनया-च्छुतात् । दूरीभूताश्च पार्श्वस्था एते पंचैव दुर्भगा. ॥६६॥ छिद्रादिप्रेक्षिणोज्ञेया गुणियोगिसतां सदा । अवंद्याः सर्वथानिंद्या अयोग्या कृतिकर्मणाम् ॥६७॥ एषां पूर्वोदितानां च जातु कार्या न वंदना । विनयाद्या न शास्त्रा-दिलाभाभीत्यादिभिर्बुधै ॥६८॥ अमीषांभ्रष्टवृत्तानां ये कुर्वन्ति स्वकारणात् । विनयादि नुतिस्तेषांक वोधिर्निश्चयः कथम् ॥६९॥ यतः पलायते नूनं सम्यक्त्वं सद्गुणैः समम् । ढौकन्ते दोपामिथ्यात्वा नीचसंगनुतेः

को अपगत संज्ञक कहते हैं ॥६२॥ जो भगवान जिनेन्द्रदेव के वाक्यो को समझते ही नहीं जो भ्रष्ट है चारित्र से रहित हैं, संसार के विषयजन्य सुखों में लीन रहते हैं, जिनका मन चारित्र के पालन करने में आलसी रहता है जो इस संसार में हिरणों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र वा आचरणों को पालन करते है उन पापियों को मृगचारित्र नाम के मुनि कहते हैं ॥६३-६४॥ ये ऊपर लिखे पाँचों प्रकार के मुनि स्वच्छन्दचारी होते हैं, जैन धर्म में दोष लगाने वाले होते है, आचार्यों के उपदेश को छोड़ कर एकाकी रहते हैं, धैर्य से सदा रहित होते हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र सम्यक्तप विनय और श्रुतज्ञान से सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनों के दोष देखने में ही निपुण होते है छिद्रान्वेषी होते हैं। इसीलिये ये अवंदनीय होते हैं सर्वथा निंद्य होते हैं और कृतिकर्म के अयोग्य होते हैं ॥६५-६७॥ बुद्धिमान् पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से वा किसी भय से भी ऊपर कहे हुये पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये और न इनकी विनय करनी चाहिये ॥६८॥ जो पुरुष अपने किसी भी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र को धारण करने वाले इन पार्श्वस्थों की विनय करता है वा इनको वंदना करता है उनके रत्नत्रय और श्रद्धा वा निश्चय कभी नहीं हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता ॥६९॥ इसका भी कारण यह है कि नीच लोगों के संसर्ग से वा उनको नमस्कार करने से सज्जनों का समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ

सताम् ॥७०॥ मत्वेति जातु कार्यो न तेषा सगोयकीर्तिवृत्त् । व्रतमूलहरो निंद्य सद्भिः शास्त्रादि लोभतः ॥७१॥ पुष्पमालार्हतो यद्वत्सपर्कोद्वंद्यता व्रजेत् । अस्पर्शता च लोकेहि मृतकस्य नसशय' ॥७२॥ तद्वन्महात्मनां सगात्पूज्यतां यांति सयता' । नीचात्मनामिहामुत्र निंद्यतां च पदेपदे ॥७३॥ यथापद्माद्यियोगेन सुगंध शीतल जलम् । भाजनानलसंपर्कात्सतप्तं जायतेतराम् ॥७४॥ तथात्रोत्तमसगेनोत्तमोगी तद्गुणै. समम् । भवेन्नीचप्रसगेन नीचश्चतद्गुणै. सह ॥७५॥ अचौरश्चौरससर्गाद्यथा चौरोत्र कथ्यते । साधुश्चासाधुससर्गादसाधुर्नान्यथा तथा ॥७६॥ असाधुः प्रोच्यते साधुर्यथात्र साधुसेवया । निर्गुणोपि तथा लोकेगुणी च गुणिसेवया ॥ ७७ ॥ किमत्र

सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोप सब उन सज्जनो में आ मिलते हैं ॥७०॥ यही समझ कर सज्जन पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से भी इन भ्रष्ट मुनियों का संसर्ग नहीं रखना चाहिये क्योंकि इनका संसर्ग अपकीर्ति करने वाला है, व्रतो को जड़ मूल से हरण करने वाला है और निंदनीय है ॥७१॥ देखो जिस प्रकार भगवान अरहंतदेव के संसर्ग से पुष्पमाला भी वंदनीय गिनी जाती है और मृत पुरुप के (मुर्दा के) संसर्ग से वही पुष्पमाला अस्पृश्य छूने अयोग्य मानी जाती है उसी प्रकार संयमी लोग भी महात्माओं के संसर्ग से पूज्यता को प्राप्त होते हैं और नीचों के संसर्ग से इस लोक और परलोक में पद–पद पर निंद्यनीय हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥७२–७३॥ देखो कमल आदि के संयोग से जल सुगंधित और शीतल हो जाता है तथा बर्तन और अग्नि के संसर्ग से वही जल अत्यंत गर्म हो जाता है। उसी प्रकार यह पुरुप भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग से उनके उत्तम गुणों के साथ साथ उत्तम बन जाता है और नीच पुरुषो के संसर्ग से उनके नीच गुणों के साथ साथ नीच हो जाता है ॥७४–७५॥ जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है उसी प्रकार साधु पुरुप भी असाधुओं के संसर्ग असाधु ही कहलाता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥७६॥ इस संसार में जिस प्रकार असाधु पुरुप भी साधु की सेवा करने से साधु कहलाते हैं उसी प्रकार निर्गुणी पुरुप भी गुणी पुरुषों की सेवा करने से इस लोक में गुणी ही कहलाते हैं ॥७७॥ बहुत करने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये

वहुनोक्तेन गुणांश्चदोषांश्च देहिनाम् । संसर्गजनितान् मन्ये सर्वान् वुध्या न चान्यथा ॥ ७८ ॥ विज्ञायेत्यु–त्तमानां च सगंमुक्त्वा गुणार्थिभिः । कचित्संगो न कर्तव्यो नीचाना कार्यकोटिषु ॥७६॥ महाव्रतसमित्याद्यैः कलितान् धर्मभूपितान् । वाह्यान्तग्रंथनिर्मुक्तान् युक्तान् सद्गुणसम्पदा ॥ ८० ॥ मुमुक्षून् श्रमणान्नित्यं ध्या–नाध्ययनतत्परान् । वंदस्व परया भक्त्या त्वं मेधाविन् शिवाप्तये ॥ ८१ ॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोविनय भूपणैः । भूपिता निर्ममानित्यंसर्वत्रांगादिवस्तुपु ॥८२॥ सतां गुणधराणां च ये दत्तागुणवादिन. । आत्मध्यानरतास्तेत्र वदनीया नचापरे ॥८३॥ केनचिद्धेतुना व्याकुलचित्ता मुनयोप्यहो । प्रमत्ता निद्रिताः सुप्ता विकथादिरताशयाः ॥८४॥ आहारं यदि कुर्वाणा नीहारं वा परान्मुखा. । नार्हा सतां नमस्कारे ध्यानाध्ययनवर्जिता. ॥८५॥ पर्यंकाद्यासनस्था

कि जीवों के जितने गुण वा दोप हैं वे सब संसर्गजन्य ही माने जाते हैं। न तो वे गुण दोप बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और न किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होते हैं ॥७८॥ यही समझ कर गुण चाहने वाले पुरुषों को करोड़ो कार्य होने पर भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग को छोड़ कर कभी भी नीच पुरुषों का संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥७६॥ इसलिये हे बुद्धिमान् जो मुनि महाव्रत और समिति आदि से सुशोभित हैं, धर्म से विभूपित है, वाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों से रहित हैं, श्रेष्ठ गुणरूपी संपदा से सुशोभित हैं, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं ऐसे मुनियों की मोक्ष प्राप्त करने के लिये परम भक्ति पूर्वक वंदना कर ॥८०–८१॥ जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप विनय आदि आभूपणों से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर आदि पदार्थों में भी मोह रहित हैं, जो गुणों को धारण करने वाले सज्जनों के गुण वर्णन करने में निपुण हैं और जो आत्मध्यान में लीन हैं ऐसे मुनि ही इस संसार में वंदनीय हैं अन्य नहीं ॥८२–८३॥ जिन मुनियों का चित्त किसी भी कारण से व्याकुल है, जो प्रमादी हैं निद्रित हैं सोए हुए हैं विकथा आदि करने में लीन हैं, जो आहार वा नीहार कर रहे हैं अथवा जो परान्मुख हैं और जो ध्यान अध्ययन से रहित हैं ऐसे मुनि सज्जन पुरुषों को कभी नमस्कार करने योग्य नहीं होते ॥८४–८५॥ जो मुनि

ये शुभध्यानपरायणा' । गुर वः शान्तरूपा. शुद्धाचार्यादयोखिला. ॥८६॥ तेभ्यः स्वस्यान्तरे स्थित्वा हस्तमात्रो- मुमुक्षव' । प्रतिलेख्य धरापादगुह्यार्दीश्च प्रवग्नाम् ॥ ८७॥ भवद्भ्यः कर्तुमिच्छाम इति विज्ञाय संयता. कुर्वन्तु वंदनां तेषां कृतिकर्माणिमुक्तये ॥ ८८॥ मायागर्वादिदूरस्थै. शुद्धभावैरनुद्धतै । जनयद्भि' सुसवेग कृति- कर्मविधायिनाम ॥ ८६ ॥ आचार्याद्यैर्जगद्वन्द्यैस्तैर्योग्यमधुरोक्तिभि. । वदनाभ्युपगतव्या स्वान्ययो शुभकारिणी ॥६०॥ प्रश्ने चालोचना काले स्वापराधे सुसयतै' । गुरूणां वदना कार्यस्वाध्यायावश्यकादिषु ॥ ६१ ॥ एकैकस्मिन् तनूत्सर्गे मूर्ध्नाद्वे वनती पृथक् । आवर्ता द्वादश स्युश्चानु शिरोनतयो थवा ॥ ६२ ॥ चतुर्दिनु च चत्वार प्रणामा भ्रमणेशुभाः । एकैकस्मिन् बुधैर्ज्ञेया आवर्ता द्वादशैवहि ॥ ६३ ॥ इत्थंचसकलसार कृतिकर्मशुभावहम् । मनोवा-

पर्यंकासन वा अन्य किसी आनन से विराजमान हैं जो गुरु शुभध्यान में तत्पर हैं और अत्यंत शांत हैं ऐसे शुद्ध आचार्य उपाध्याय वा साधु हैं उनसे एक हाथ दूर बैठ कर तथा पृथ्वी पाद गुह्य इन्द्रिय आदि का प्रतिलेखन कर (पीछी से शुद्ध कर) "मैं आपके लिये वंदना करना चाहता हूं" इस प्रकार उनको सूचित कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उनकी वंदना करनी चाहिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनका कृतिकर्म करना चाहिये ॥८६—८७॥ जो आचार्यादिक माया अहंकार आदि से रहित हैं, शुद्ध भावों को धारण करने वाले हैं, उद्धतता से रहित हैं, संवेग को उत्पन्न करने वाले हैं और जगतवंद्य है ऐसे आचार्य उपाध्याय और श्रेष्ठ साधुओं को योग्य और मधुर वचन कह कर कृतिकर्म करने वालों की वह अपना और दूसरों का कल्याण करने वाली वंदना स्वीकार करनी चाहिये ॥८६—६०॥ किसी प्रश्न के पूछने पर, आलोचना करते समय, अपना कोई अपराध हो जाने पर और स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों के करते समय मुनियों को अपने गुरु की वंदना करनी चाहिये ॥६१॥ प्रत्येक कायोत्सर्ग में आदि अंत में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चारो दिशाओं में चार प्रणाम वा शिरोनति करनी चाहिये ॥६२॥ विद्वानों को एक एक प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में चार शुभ प्रणाम करने चाहिये और बारह आवर्त करना चाहिये ॥६३॥ इस प्रकार समस्त दोषों से रहित, शुभ भावनाओं को धारण करने वाला, सारभूत यह कृतिकर्म मुनियों को

कायसंशुद्धं ग्रंथार्थोभयभूषितम् ॥ ६४ ॥ द्विविधस्थानसंयुक्तं मदातीतं सुयोगिनः । दोषातिगं यथाजातं कुर्वन्तु-विनयादिभि ॥ ६५ ॥ दोषश्चानादृतः स्तब्धः प्रविष्ठः परिपीडितः । दोलायताख्यदोषोंकुशितः कच्छपरिंगितः ॥ ६६ ॥ मत्स्योद्वर्त्तो मनोदुष्टोवेदिकावधएवहि । भयाभिधोविभ्यद्दोष ऋद्धिगौरवगौरवौ ॥ ६७ ॥ स्तेनित प्रतिनीताख्यः प्रदुष्टस्तर्जिताभिधः । शब्दोहीलिनदोषस्त्रिवलितः कुंचिताह्वयः ॥ ६८ ॥ दृष्टोदृष्टाभिधः संघकर-मोचनसंज्ञकः । आलब्धाख्योप्यनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥ ६६ ॥ मूकाख्यो दर्दुरोदोष तथा च लुलुताख्यकः वंदनाया इमे दोषास्त्याज्याद्वात्रिंशदेवहि ॥ ४०० ॥ आदरेणविना यत्र शैथिल्येनप्रमादिभिः क्रियतेत्रक्रियाकर्म दोषः सोनादृताह्वयः ॥ १ ॥ श्रुतविद्यादिगर्वेण प्रोद्धताशयसंयतैः । विधीयते क्रियाकर्म यस्तब्धदोषएव सः ॥ २ ॥ अत्यासन्नोत्रभूत्वायः पंचानां परमेष्ठिनाम् । क्रियाकर्म विधत्तेसः प्रविष्टदोषमाप्नुयात् ॥ ३ ॥ करजानुप्रदेशैर्य संस्पृश्य परिपीड्यवा । करोति वंदनां तस्य दोषस्या त्परिपीड़ितः ॥ ४ ॥ यः कृत्वा चलमात्मानं दोलामिवात्र-

---

मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक, शब्द अर्थ और शब्दार्थ से विभूषित होकर, तथा मद रहित होकर और दोनों प्रकार के स्थानों से सुशोभित होकर विनयादिक के साथ यथार्थ रीति से करना चाहिये ॥६४-६५॥ इस वंदना के बत्तीस दोष हैं और वे ये हैं—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परि-पीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगत, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकावद्ध, भय, विभ्दोष, ऋद्धि-गौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, दुष्टदोष, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित कुंचित दृष्ट अदृष्ट संघकर मोचन लब्ध अनालब्ध हीन उत्तर चूलिक मूक दर्दुर और चुलुक्तित। वंदना के ये बत्तीस दोष हैं वंदना करते समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥६६-४००॥ आदर के विना शिथिलता पूर्वक प्रमोद के साथ क्रियाकर्म करना अनादृत नाम का दोष हैं ॥४०१॥ श्रुतज्ञान वा विद्या आदि के अहंकार से उद्धत हुए मुनियों के द्वारा जो क्रियाकर्म किया जाता है उसको स्तब्ध दोष कहते हैं ॥२॥ जो पाँचों परमेष्ठियों के अत्यंत निकट होकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है उसके प्रविष्ट नाम का दोष प्राप्त होता है ॥३॥ जो अपने हाथ से जंघा को स्पर्श करता हुआ वा जंघा को दबाता हुआ वंदना करता है उसको परिपीड़ित नाम का दोष लगता है ॥४॥ जो मुनि झूला

वदनाम् । सशयित्वाथवा कुर्यात्सदोलायितदोपभाक् ॥ ५ ॥ कृत्वांकुशमिवात्मीये ललाटेंगुष्टमेवयः । भजते वदनां तस्य दोपोकुशित नामकः ॥ ६ ॥ विधाय कच्छपरयेंव कटीभागेनचेष्ठितम् । कुरुते वंदना य स. भजेत्कच्छपरिंगितम् ॥ ७ ॥ मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं स विधाय या वंदना वा द्विपार्श्वेन मत्स्योद्वर्तः स उच्यते ॥ ८ ॥ दुष्टो भूत्वा हृदाचार्यादीना क्लेशयुतेन वा विधत्तेयः क्रियाकर्म समनोदुष्टदोपभाक् ॥ ९ ॥ वेदिकाकारहस्ताभ्यां वध्वा जानुद्वयंस्वयम् । वदनाकरणं यत्सवेदिकावद्धसंज्ञकः ॥ १० ॥ मृत्वादिभयभीतो यः भयत्रस्तोभयेन वा । करोति वदनां तस्य भयदोपोत्रजायते ॥ ११ ॥ परमार्थातिगाज्ञस्य गुर्वादिभ्योत्रविभ्यत । वदनाकरण यत्सविभ्यदोपोऽशुभप्रदः ॥ १२ ॥ चातुर्वर्णसुसंघेभ्योभक्ति कीर्त्यादिहेतवे । वंदनां यो विधत्ते स ऋद्धिगौरवदोपवान् ॥ १३ ॥ आवि–

के समान आत्मा को चलायमान करता हुआ अथवा संशय में पड़ कर वंदना करता है उसको दोलायित नाम का दोप लगता है ॥५॥ जो मुनि अंकुश के समान अपने ललाट पर अंगूठे को रख कर वंदना करता है उसको अंकुशित नाम का दोप प्रगट होता है ॥६॥ जो अपनी कमर से कच्छप के समान चेष्टा करता हुआ वंदना करता है उसके कच्छपरिंगत नाम का दोप लगता है ॥७॥ जो मछली के समान अपनी कमर को ऊंची निकाल कर वंदना करता हैं अथवा जो दोनों बगलों से वंदना करता है उसको मत्स्योद्वर्त नाम का दोप लगता है ॥८॥ जो मुनि आचार्यों को क्लेश पहुँचा कर वा आचार्यों के प्रति अपने मन में कुछ दुष्टता धारण कर वंदना करता है उसको मनोदुष्ट नाम का दोप लगता है ॥९॥ जो वेदी के आकार के अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को बाँध कर वंदना करता है उसको वेदिकावद्ध नाम का दोप लगता है ॥१०॥ जो मृत्यु आदि के भय से भयभीत होकर अथवा किसी भय से त्रस्त होकर वंदना करता है उसको भय नाम का दोप लगता है ॥११॥ जो अज्ञानी मुनि परमार्थ को न जानता हुआ गुरु से डर कर वंदना करता है उसके अशुभ उत्पन्न करने वाला विभ्य नाम का दोप लगता है ॥१२॥ जो मुनि चारों प्रकार के संघ से भक्ति वा कीर्ति चाहने के लिये वंदना करता हैं उसको ऋद्धि गौरव नाम का दोप लगता है ॥१३॥ जो मुनि किसी विशेप आसन

ष्कृत्य समाहात्म्यमासनाद्यैः सुखाय वा कुर्याद्यो वंदनां तस्यद्दोषो गौरवसंज्ञक. ॥ १४ ॥ चौरवुध्यास्वगुर्वादीनां करोति यः वंदनाम् । चौरयित्वास्वमन्येषां तस्याघ स्तेनिताभिध' ॥ १५ ॥ प्रतिकूलोत्रयो भूत्वा देवगुर्वादियोगिनाम । वंदनां कुरुते तस्य प्रतिनीताह्वयोमलः ॥ १६ ॥ विधाय कलहाद्यन्यैः सह चन्तव्यमांशु य. । अकृत्वा वन्दनां कुर्यात्सदुष्टदोषमाप्नुयात् ॥ १७ ॥ अन्यान्यस्तर्जयन्नंगुल्या वा गुर्वाद्यैस्तर्जितः । श्रयते वन्दनां तस्यदोषस्तर्जितस–ज्ञकः ॥ १८॥ मौनं त्यक्त्वा ब्रुवाणो यः क्रियाकमनिजेच्छया । करोति तस्य जायेत शब्ददोषोघ कारकः ॥ १९ ॥ कृत्वापरिभवं वाक्येनाचार्यादिमहात्मनाम् । क्रियाकर्म विधत्ते यः स' स्याद्धीलितदोषभाक् ॥ २० ॥ कृत्वात्रिवलितं कट्यादौ ललाटेथवात्रयः । विदधाति क्रियां तस्यदोषस्त्रिवलिताह्वयः ॥ २१ ॥ हस्ताभ्यां स्वशिर' स्पर्शन् जानु–मध्येविधाय वा यः करोतिक्रियाकर्म तस्य दोषोत्रकुंचितः ॥ २२ ॥ आचार्याद्यैश्चदृष्टोयः सम्यक्करोतिवंदनाम् ।

आदि के द्वारा अपना माहात्म्य प्रगट कर वंदना करता है अथवा जो अपने किसी सुख के लिये वंदना करता है उसको गौरव नाम का दोष लगता है ॥१४॥ जो मुनि चोर की बुद्धि रख कर अन्य मुनियों से छिपा कर गुरु आदि की वंदना करता है उसके स्तेनित नाम का दोष लगता है ॥१५॥ जो मुनि देव शास्त्र गुरु से प्रतिकूल होकर वंदना करता है उसके प्रतिनीत नाम का दोष लगता है ॥१६॥ जो मुनि किसी से कलह कर के विना उससे चमा कराये वंदना करता है उसके दुष्ट नाम का दोष लगता है ॥१७॥ जो मुनि दूसरों को तर्जना करता हुआ वंदना करता है अथवा गुरु के द्वारा तर्जना किया हुआ वंदना करता है उसको तर्जित नाम का दोष लगता है ॥१८॥ जो मुनि मौन को छोड़कर अपनी इच्छानुसार बोलता हुआ क्रियाकर्म (वंदना) करता है उसको पाप उत्पन्न करने वाला शब्द नाम का दोष लगता है ॥ १९ ॥ जो मुनि किसी वाक्य आदि के द्वारा आचार्य आदि महापुरुषों का तिरस्कार कर वंदना करता है उसको हीलित नाम का दोप लगता है ॥ २० ॥ जो मुनि अपनी कमर मे त्रिवली डालकर अथवा ललाट पर त्रिवली डालकर वंदना करता है उसके त्रिवलित नाम का दोप होता है ॥ २१ ॥ जो मुनि अपने हाथ से मस्तक को स्पर्श करता हुआ अथवा अपने मस्तक को जंघाओं के बीच में रखकर वंदना करता है उसको कुंचित नाम का दोप लगता है ॥ २२ ॥ आचार्यों

नान्यथा वा दिशः पश्यन् दृष्टदोपोत्र तस्य वै ॥२३॥ त्यक्त्वा दृष्टिपथंयोऽत्राचार्यादीनां च वन्दनाम् । करोत्यप्रतिलेख्यांगभूमिं सो दृष्टिदोपभाक् ॥२४॥ सघस्य करदानार्थं वासघभक्तिवांच्छया । क्रियते यतक्रियाकर्म तत्संघकरमोचनम् ॥२५॥ लब्धोपकरणादि य सानद सर्ववदनाम् । कुरुते नान्यथा तस्य लब्धदोपः प्रजायते ॥२६॥ योद्योपकरण लप्स्येहमत्रेतधियामुनि । विधत्ते वदना तस्यदोपोनालब्धसज्ञक. ॥२७॥ अथार्थकालहीनां सत्परिणामविवर्जिताम् । तनोति वदना तस्य हीनदोपो शुभोभवेत् ॥२८॥ वदना स्तोक कालेन निर्वर्त्यकार्यसिद्धये । वदना चूलिकाभूतस्यालोचनात्मकस्य वै ॥२९॥ कालेनमहता कृत्वा निर्वर्तनं करोति यः । वदनां स्याच्चतस्योत्तर चूलिकाह्वयोमल ॥३०॥ मूकवन्मुखमध्येयो वदना वितनोति वा । कुर्वन् हस्ताद्यहंकारसज्ञां

वा अन्य किसी के देख लेने पर तो जो अच्छी तरह वंदना करता है और किसी के न देखने पर सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वंदना करता है उसके दृष्ट नाम का दोप लगता है ॥२३॥ जो आचार्यों की दृष्टी को बचा कर तथा शरीर भूमि आदि को बिना प्रतिलेखन किये वंदना करता है उसको अदृष्ट नाम का दोप लगता है ॥२४॥ जो मुनि वंदना को संघका कर समझ कर क्रिया कर्म वा वंदना करता है अथवा संघ से भक्ति चाहने की इच्छा से वंदना करता है उसको संघकर मोचन नाम का दोप लगता है ॥२५॥ जो मुनि किसी उपकरण आदि को पाकर आनन्द के साथ पूर्ण वंदना करता है तथा उपकरण आदि को न पाने से वंदना नहीं करता उसको लब्ध नाम का दोप लगता है ॥२६॥ यहाँ पर आज मुझे कोई उपकरण अवश्य प्राप्त होगा इस प्रकार की बुद्धि रख कर जो मुनि वंदना करता है उसके अनालब्ध नाम का दोप लगता है ॥२७॥ जो मुनि शब्द अर्थ से रहित काल से रहित और शुभ परिणामों से रहित वंदना करता है उसके हीन नाम का अशुभ दोप लगता है ॥२८॥ जो मुनि अपने कार्य की सिद्धि के लिये वंदना को बहुत थोड़े समय में पूर्ण कर लेता है तथा वंदना की चूलिका भूत जो आलोचना है उसके करने में बहुत समय लगाता है उसको उत्तर चूलिका नाम का दोप लगता है ॥२९–३०॥ जो मुनि गूंगे के समान मुख के भीतर ही भीतर वंदना करता है अथवा हाथ आदि के इशारे से अहंकार को सूचित करता हुआ वंदना करता है उसको

स मूक दोषवान् ॥ ३१ ॥ स्वशब्देनाभिभूयान्यशब्दान् बृहद्गलेन वा । वंदनां कुरुते तस्य दोषो दुर्दुर नामकः ॥ ३२ ॥ स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वंदनांभजेत् । दोषश्चुलुलितस्तस्यपचमादिस्वरेण वा ॥ ३३ ॥ ऐते दोषः सदा त्याज्याः कृतिकर्म मलप्रदाः । द्वात्रिंशत्सर्वयत्नेन षडावश्यकशुद्धये ॥ ३४ ॥ अमीषां केनचिद्दोषेण समं कृतिकर्म च । कुर्वन् सर्वंभवेन्निर्जराभागी जातुनोयतिः ॥ ३५ ॥ मत्वेतामूंश्च तद्दोषान् सम्यक्त्यक्त्वासुसंयताः । कुर्वन्तु कृतिकर्माणि सर्वाणि निर्जराप्तये ॥ ३६ ॥ नृसुरजिनयतीनां विश्वमम्पत्तिखानिं वरपदजननीं वा सद्गुणाराम वृष्टिम् । अतुलसुखनिधिसद्वंदना धर्ममान्यां प्रभजत शिवकामाः सर्वदोच्चैःपदाप्त्यै ॥ ३७ ॥ तीर्थेशान् धर्ममूलान् त्रिभुवनपतिभिः सेव्यमानाघ्रियब्जान् सिद्धानन्तातिगान् सद्वसुगुणकलितान् ज्ञानदेहानदेहान् । सूरीनाचारदक्षान्

मूक नाम का दोष लगता है ॥३१॥ जो मुनि अपने ऊंचे गले की आवाज से दूसरे मुनियों के शब्दों को दबाता हुआ तिरस्कार करता हुआ वंदना करता है उसके दुर्दुर नाम का दोष लगता है ॥३२॥ जो मुनि एक ही प्रदेश में बैठ कर सब मुनियों की वंदना कर लेता है अथवा जो पंचम स्वर से ऊंचे स्वर से वंदना करता है उसके चुलुलित नाम का दोष लगता है ॥३३॥ मुनियों को अपने छहों आवश्यक शुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इन बत्तीस दोषों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये दोष वंदना में मल उत्पन्न करने वाले हैं ॥३४॥ जो मुनि इन दोषों में से किसी भी दोष के साथ वंदना करता है वह पूर्ण निर्जरा का भागी कभी नहीं हो सकता ॥३५॥ यही समझ कर मुनियों को कर्म की निर्जरा करने के लिये इन समस्त दोषों का त्याग कर कृतिकर्म वा वंदना करनी चाहिये ॥३६॥ यह वंदना नाम का आवश्यक मनुष्य देव और जिनेन्द्रदेव की समस्त सम्पत्तियों की खानि है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदों को देने वाली है, श्रेष्ठ गुण रूपी बगीचे के लिये वर्षा के समान है अनुपम सुखों की निधि है और धर्मात्मा लोगों को सदा मान्य है इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालों को उच्च पद प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये ॥३७॥ जो तीर्थंकर परम देव धर्म के मूल हैं और तीनों लोकों के समस्त इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थंकरों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं। जो अनंत सिद्ध

स्वपरहितकरान् पाठकान् ज्ञानश्रद्धान् साधून्सर्वांश्चमूलोत्तरगुणजलधीन्संस्तुवेतद्गुणाप्त्यै ॥ ४३८ ॥

इति मूलाचार प्रदीपाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचते मूलगुण
व्यावर्णन पंचेन्द्रियरोध सामायिकस्तववंदना वर्णनो नाम तृतीयोधिकारः ।

सम्यक्त्व आदि आठों श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वयं शरीर रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को भी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ। जो आचार्य पाँचों आचारों को पालन करने में चतुर हैं जो उपाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाले हैं जो साधु ज्ञान और ऋद्धियों से सुशोभित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुण के समुद्र हैं उन सबकी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥४३८॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप की भाषा टीका में मूलगुणों के वर्णन में पाँचों इन्द्रियो का निरोध तथा सामायिक स्तुति वंदना को निरूपण करने वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।



चतुर्थोऽधिकारः ।



पूर्णावश्यककर्तारो ये पंचपरमेष्ठिनः । गुणानामभ्धयस्तोषां वंदेघ्रीस्तद्गुणाप्तये ॥ १ ॥ अथ वक्ष्ये समासेन व्रतरत्नमलापहाम् । प्रतिक्रमण निर्युक्तिस्वान्येषां मुक्तिसिद्धये ॥ २ ॥ द्रव्यक्षेत्रादिकै भावैः कृतापराधशोधनम् । स्वनिंदागर्हणाभ्यां यत्क्रिया तत्रमुमुक्षुभिः ॥ ३ ॥ मनोवाक्काययोगैश्च कृतकारितमाननैः । तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम् ॥ ४ ॥ नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रंकालोनिजाश्रितः । भावोमीषड्वानिक्षेपा. स्युःप्रतिक्रमणे– शुभाः ॥ ५ ॥ शुभाशुभादि नामौघैर्जातातीचारशोधनम् । निंदाद्यैर्यत्सतां नामप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ६ ॥

चौथा अधिकार ।

जो पाँचों परमेष्ठी पूर्ण आवश्यकों के करने वाले है और गुणों के समुद्र हैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं उनके चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अब मैं अपने और दूसरों के मोक्ष की सिद्धि के लिए व्रत रूपी रत्नों के दोषों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण के स्वरूप को संक्षेप से कहता हूं ॥२॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले जो मुनि मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से द्रव्य क्षेत्र वा भावों से उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं अथवा अपनी गर्हा निंदा के द्वारा अपराधों को शुद्ध करते हैं उसको व्रतों के दोषों को दूर करने वाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥३–४॥ यह प्रतिक्रमण भी द्रव्य क्षेत्र काल नाम स्थापना और अपने आश्रित रहने वाले भावों के द्वारा छह प्रकार का माना जाता है ॥५॥ शुभ वा अशुभ नामों से उत्पन्न हुए अतीचारों को अपनी निंदा आदि के

मनोज्ञेतरमूर्तेभ्यो जातादोषाद्विवर्जनम् । योगैर्यत्स्थापनाख्यं तत्प्रतिक्रमणमूर्जितम् ॥ ७॥ सावद्यद्रव्यसेवाया उत्पन्नदोषवारणम् । त्रिशुध्यायत्सतां द्रव्यप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ८ ॥ सरागक्षेत्रवासोत्थातीचारपरिहायनम् । निंदाधैर्यत्सदाक्षेत्रप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ६ ॥ रजनीदिनवर्षादिकालजव्रतदोषतः । निवृतिर्या हृदाकालप्रतिक्रमणमेवतत् ॥१०॥ रागदोषाश्रिताद्भावाज्जातस्यातिक्रमस्य या । विरति क्रियते भावप्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ११ ॥ एतै पड्विधनिक्षेपै सर्वेषास्वव्रतात्मनाम् । कृतानां कृत्स्नदोषाणा निराकरणमूर्जितम ॥ १२ ॥ हृदा च वपुषा वचा निंदनैर्गर्हणादिभि क्रियते मुनिभिर्यत्तत्प्रतिक्रमणमद्भुतम् ॥ १३ ॥ एकं दैवसिक रात्रिकमैर्यापथसंज्ञकम् । पाक्षिक नाम चातुर्मासिकं दोषक्षयंकरम् ॥ १४ ॥ सांवत्सरिकमेगोत्तमार्थं संन्याससंभवम् । सप्तधेति जिनैः प्रोक्तं प्रतिक्रमणनुत्तमम् ॥ १५ ॥

द्वारा शुद्ध करना नाम प्रतिक्रमण कहलाता है ॥६॥ मनोज्ञ वा अमनोज्ञ मूर्ति से उत्पन्न हुए दोषों को मन वचन काय से त्याग करना स्थापना नाम का श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है ॥७॥ पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक निवारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है ॥८॥ सरागरूप क्षेत्रों के निवास से उत्पन्न हुए अतीचारों को निंदादि के द्वारा दूर करना उसको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं ॥६॥ रात दिन वर्षा आदि काल जन्य व्रतों के दोषों को हृदय से निवारण करना काल प्रतिक्रमण कहलाता है ॥१०॥ राग द्वेष आदि के आश्रित रहने वाले भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना भावप्रतिक्रमण कहलाता है ॥११॥ व्रत करने वाले समस्त व्रतियों के इन छहों निक्षेपों के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं मुनि लोग जो मन वचन काय से होने वाली निंदा गर्हा के द्वारा उन समस्त दोषों को दूर करते हैं उसको उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं ॥१२–१३॥ इस प्रतिक्रमण के सात भेद हैं एक दैवसिक प्रतिक्रमण, दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण, तीसरा ईर्यापथ प्रतिक्रमण, चौथा पाक्षिक प्रतिक्रमण, पाँचवाँ दोषों को क्षय करने वाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, छठा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और सातवाँ उत्तम अर्थ को देने वाला सन्यास के समय होने वाला प्रतिक्रमण । इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद बतलाये हैं ॥१४–१५॥

प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमणमेवतत् । यत्प्रतिक्रमितव्यंतत्त्रयं सर्वंबुधैर्धुना ॥ १६ ॥ मुमुक्षुर्यत्नचारीयः पापभीतो महाव्रती । मनोवाक्कायसंशुद्धो निंदागर्हादितत्परः ॥ १७ ॥ द्रव्यैर्नानाविधैः क्षेत्रैः कालैर्भावैर्व्रतात्मनाम् । अतीचारागतस्याशु मन्निराकरणोद्यत. ॥ १८ ॥ निर्मायो निरहंकारो व्रतशुद्धिसमीहकः स प्रतिक्रामको ज्ञेयः उत्तमोमुनिपुंगवः ॥ १६ ॥ सर्वथा कृतदोषाणां यन्निराकरणं त्रिधा । पश्चात्तपाक्षरोच्चारैस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम् ॥ २० ॥ सचित्ताचित्तमिश्रं यत्त्रिधा द्रव्यमनेकधा । वा प्रतिक्रमितव्यंतत्सर्वं तद्दोषहायनैः ॥ २१ ॥ सौधादिरम्यक्षेत्रं कालो दिन निशादिकः । यः प्रतिक्रमितव्यः स तज्जातीचारशोधनैः ॥ २२ ॥ काले कालेथवा नित्यं योगिभिर्व्रतशुद्धये । भो प्रतिक्रमितव्यंसर्वदोष हान्य च मुक्तये ॥ २३ ॥ रागद्वेषाश्रितो भावो मिथ्यात्वा–

इस प्रतिक्रमण के करने में आत्मा प्रतिक्रमण होता है जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। अब आगे इन तीनों का स्वरूप कहते हैं ॥१६॥ जो उत्तम मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, यत्नाचार से अपनी प्रवृत्ति करता है, जो पापों से भयभीत है महाव्रती है, जिसका मन वचन काय अत्यंत शुद्ध है, जो निंदा गर्हा आदि करने में तत्पर है, जो अनेक प्रकार के द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि के द्वारा लगे हुए व्रतों के दोषों को निराकरण करने में सदा तत्पर रहता है, जो छल कपट से रहित है, अहंकार से रहित है और जो व्रतों को शुद्ध रखने की सदा इच्छा करता रहता है ऐसा मुनि प्रतिक्रमण करने वाला प्रतिक्रामक कहलाता है ॥१७–१६॥ पश्चात्ताप के द्वारा तथा अक्षरों का उच्चारण कर जो सर्वथा किए हुए दोषों का मन वचन काय से निराकरण करना है उसको शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥२०॥ सचित्त अचित्त और मिश्र के भेद से द्रव्य के तीन भेद हैं अथवा द्रव्य के अनेक भेद हैं वे सब द्रव्य दोष दूर करते समय प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥२१॥ राजभवन आदि मनोहर क्षेत्र तथा दिन रात आदि काल भी तज्जन्य (क्षेत्र वा काल से उत्पन्न होने वाले) अतिचारों को शुद्ध करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥२२॥ अथवा मुनियों को अपने दोष दूर करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिए तथा व्रतों को शुद्ध रखने के लिये प्रत्येक समय प्रतिक्रमण करते रहना चाहिये अतएव उनके लिये सदा काल प्रतिक्रमितव्य है ॥२३॥

संयमादिभाक् । कषायबहुलोयः प्रतिक्रमितव्य' एव सः ॥ २४ ॥ मिथ्यात्वपचपापानां सर्वस्यासंयमस्य च । कषायाणां च सर्वेषां योगानामशुभात्मनाम् ॥ २५ ॥ प्रयत्नेन विधातव्यंप्रतिक्रमणमजसा । तज्जातिव्रतदोषादिनिराकरणशुद्धिभि' ॥ २६ ॥ सिद्धभक्त्यादिक कृत्वा सन्मार्ज्यांगधरादिकान् । कृताजलिपुटः शुद्धो मायायानौ विहाय च ॥ २७ ॥ शिष्यो व्रत विशुध्यर्थं गुरुवेज्ञानशालिने । आलोचयेत्समस्तान् व्रतातिचारान् यथोद्भवान् ॥२८॥ आद्य दैवसिक रात्रिकमैर्यापथनामकम् । पाक्षिकाख्य तथा चातुर्मासिक च मलापहम् ॥ २९ ॥ सांवत्सरिकनामोत्तमार्थं चानशनोद्भवम् । सप्तभेदमिति प्रोक्त सतामालोचन जिनैः ॥ ३० ॥ यद्धि किंचित्कृतं कर्मकारितं चानुमोदितम् । वपुपा मनपा वाचा व्रतातिचारगोचरम ॥ ३१ ॥ प्रकटं संघलोकानां प्रच्छन्न वा प्रमादजम् ।

जो भाव राग द्वेप के आश्रित है अथवा मिथ्यात्व असंमय के आश्रित है अथवा जो भाव अधिक कपाय विशिष्ट है वह भी प्रतिक्रमितव्य है उसका भी प्रतिक्रमण वा त्याग करना चाहिये ॥२४॥ मुनियों को मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होने वाले दोपों को निराकरण करने और व्रतों को शुद्ध रखने के लिये मिथ्यात्व, पाँचों पाप, सब तरह का असंयम, समस्त कपाय और समस्त अशुभ योगों का प्रयत्न-पूर्वक शीघ्र ही प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥२५–२६॥ शिष्य मुनियों को पृथ्वी और अपने शरीर को पीछी से शुद्ध कर तथा सिद्धभक्ति आदि पढ़ कर दोनों हाथ जोड़ कर मान तथा माया का त्याग कर अंतःकरण से शुद्ध होकर अत्यंत ज्ञानवान् ऐसे अपने गुरु के सामने अपने व्रतों को अत्यंत शुद्ध करने के लिये जैसे जैसे उत्पन्न हुए हैं उसी तरह समस्त व्रतों के अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये ॥२७–२८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना के भी सात भेद बतलाये हैं पहली आलोचना दैवसिक, दूसरी रात्रिक, तीसरी ईर्यापथ, चौथी पाक्षिक, पाँचवीं चातुर्मासिक, छठी दोपों को दूर करने वाली सांवत्सरिक और सातवी उत्तम अर्थ को देने वाली औपवासिक (उपवास से उत्पन्न होने वाली) ॥२९–३०॥ जिन कर्मों से व्रतों में दोप वा अतिचार लग जाय ऐसे कर्म जो मुनिराज मन वचन काय से करते हैं वा कराते हैं वा अनुमोदना करते हैं, चाहे उन्होंने वह कार्य संघ वा लोगों के सामने किया हो चाहे छिपकर किया हो और चाहे प्रमाद से किया हो वह सब पाप उन

तत्सर्वं बालवत्पापं त्रिशुध्यालोचयेद्यति ॥ ३२ ॥ यस्मिन् क्षेत्रे च कालादौ द्रव्यभावाश्रयेण य. । जातो व्रतात्र्य- तीचारो मायां त्यक्त्वातद्वेसः ॥ ३३ ॥ निहितव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः । गुर्वादिसाक्षिकं दक्षैर्व्रतघ्नोऽरिरिवोत्थितः ॥ ३४ ॥ मनसा निंदनं स्वस्य गर्हणं गुरुसाक्षिकम् । पश्चात्तापजशोकेनयदश्रुपतनादि च ॥ ३५ ॥ क्रियते मुक्तिमार्गस्थैः सतिव्रतात्यतिक्रमे । प्रतिक्रमणंभावाख्यं तदन्त' शुद्धिकारणम् ॥ ३६ ॥ य प्रतिक्रमणं सर्वं द्रव्यभूतं करोति वा । शृणोति सूत्रमात्रेण निंदागर्हादि दूरग ॥ ३७ ॥ परमार्थातिगस्तस्य शुद्धिर्न जायते मनाक् । व्रतानां नच दोषाणां हानि र्न निर्जराशिवम् । यत. सवेगवैराग्यशुद्धभावाश्रितोमुनि. । अनन्यमानसो धीमान्- स्वनिंदा गर्हणादिभाक् ॥ ३९ ॥ प्रतिक्रमणसूत्रेणविधाय शुद्धिमुल्वणम् व्रतानां तत्फलेनाशुलभतेशाश्वतंपदम् ॥४०॥

मुनियों को मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक बालक के समान गुरु से कह देना चाहिये और फिर उनकी आलोचना करनी चाहिये ॥३१—३२॥ जिस क्षेत्र में जिस काल में जिन द्रव्यों से और जिन भावों से व्रतों में अतिचार उत्पन्न हुआ है वह सब चतुर मुनियों को छलकपट छोड़ कर निंदा गर्हा और शोक के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बडे प्रयत्न से दूर करना चाहिये तथा उस दोष को व्रतों को नाश करने वाले शत्रु के समान समझ कर उनका निराकरण करना चाहिये ॥३३—३४॥ मन से अपनी निंदा करना गर्हा है पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए शोक से आँसू गिरना आदि शोक कहलाता है। मोक्षमार्ग में रहने वाले मुनियों को व्रतों में दोष लगने पर गर्हा निंदा वा शोक के द्वारा प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। यह भाव प्रतिक्रमण कहलाता है और अंतःकरण की शुद्धि का कारण है ॥३५—३६॥ जो मुनि केवल द्रव्य प्रतिक्रमण तो सब तरह का कर लेता है तथा सूत्रमात्र से उसको सुन भी लेता है परंतु निंदा गर्हा से दूर रहता है और परमार्थ से भी दूर रहता है उसके व्रतों की शुद्धि किंचितमात्र भी नहीं होती है, न उसके दोष दूर होते हैं न उसकी निर्जरा होती है और न उसको मोक्ष प्राप्त होती है ॥३७—३८॥ इसका भी कारण यह है कि जो बुद्धिमान मुनि संवेग वैराग्य और शुद्ध भावो को धारण करते हैं जो संवेग वैराग्य के सिवाय अन्य किसी काम में अपना मन नहीं लगाते जो अपनी निंदा गर्हा करते रहते है और जो प्रतिक्रमण सूत्र के अनुसार अपने

मत्वेति धीमता नित्यंनिंदागर्हादिपूर्वकं सत्प्रतिक्रमणालोचने कार्यें व्रतशुद्धये ॥ ४१ ॥ सत्प्रतिक्रमणो धर्मो महान् रत्नत्रयात्मक. । शिष्याणां मुक्ति कर्तासीन्नाभेय वीरनाथयो ॥ ४२ ॥ तयोर्मध्यजिनेशानाशिष्याणा च प्रमादत. । कश्चिद्यस्मिनव्रते दोपो जायते तस्य शुद्धये ॥ ४३ ॥ तावन्मात्रं भवेत्स्तोक सत्प्रतिक्रमण शुभम । नच सर्व यत-स्तोस्युर्निप्रमादा महाधिय' । ॥ ४४ ॥ आदि तीर्थकृतः शिष्या स्वभावादृजवुद्धय तस्मात्तेषामतीचारा भवेयुर्वह्वो व्रते ॥ ४५ ॥ श्रीवर्द्धमानतीर्थेशशिष्यास्तुच्छधियस्तत । कालदोपेण तेषां स्यादतीचार व्रजो व्रते ॥४६॥ तस्मान्नतिक्रमस्ते दु:स्वप्नेऽप्यगोचरादिक । जात स्वल्पोमहान्चात्र तस्यशुध्यैस्वशक्तिता उच्चारयन्ति सर्वास्तान् प्रतिक्रमणदडकान् । त्रिकाल नियमेनैव व्रतशुद्धिविधायिन' ॥ ४८ ॥ विज्ञायेति व्रतादीना शुध्यर्थं कर्महानये ।

व्रतों की उत्तम शुद्धि करत हैं वे ही मुनि उस प्रतिक्रमण के फल से शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥३९–४०॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिए निंदा गर्हा पूर्वक श्रेष्ठ प्रतिक्रमण और आलोचना प्रति दिन करनी चाहिये ॥४१॥ यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमण रूप धर्म रत्नत्रयात्मक है और महान् है तथा भगवान वृषभदेव और भगवान वीरनाथ के शिष्यों को मोक्ष का देने वाला है ॥४२॥ भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक के वाईस तीर्थंकरों के शिष्यो को किसी भी प्रमाद से जिस व्रत में दोप लगा है उसी की शुद्धि के लिये उतना ही थोड़ा सा शुभ प्रतिक्रमण बतलाता है उनके लिये सब प्रतिक्रमण नहीं बतलाया। क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शिष्य बड़े बुद्धिमान् थे और स्वभाव से ही प्रमाद रहित थे ॥४३–४४॥ प्रथम तीर्थंकर भगवान वृपभदेव के शिष्य स्वभाव से ही सरल बुद्धि वाले थे इसलिये उनके व्रतों में भी बहुत से अतिचार लगते थे। तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान बर्द्धमान स्वामी के शिष्य तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं। अतएव कालदोप के कारण उनके व्रतो में भी बहुत से अतिचार लगते हैं ॥४५–४६॥ अतएव दुःस्वप्न ईर्यागमन आदि से होने वाले जितने भी छोटे वा वडे अतिचार हैं उनको शुद्ध करने के लिए व्रतों को शुद्ध करने वाले मुनि अच्छी तरह निःशंकित होकर नियम पूर्वक तीनो समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण करते हैं ॥४७–४८॥ यह समझ कर चतुर पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध करने के लिए

कर्तव्यं यत्ततो दृद्यैः प्रतिक्रमणमंजसा ॥ ४६ ॥ यतः कश्चिद्व्रतेदोपादिर्निराक्रियते बुधैः । सत्प्रतिक्रमणेनैव कश्चिदालोचनादिभिः ॥ ५० ॥ तस्मात्तद्द्वितयं नित्यं विधेयं विधिपूर्वकम् । सर्वदोपापहं यत्नाद् व्रतशुद्धिविधायिभिः ॥ ५१ ॥ यतः सर्वैर्गुणैः सार्द्धं समस्ता व्रतपंक्तयः । चन्द्रज्योत्स्ना इवात्यर्थं निर्मलाःस्युश्चतद्द्वयात् । चित्तशुद्धिश्चजायेत तयाऽध्यानं शिवप्रदम् । तेनकर्मविनाशश्चतन्नाशे निवृतिः सताम् ॥ ५३ ॥ प्रमादी योऽथवा गर्वीमत्वा निजं तपोमहत् । मूढधीः प्रत्यहं कुर्यान्नप्रतिक्रमणाऽिकम् ॥ ५४ ॥ दोपैर्मलीमसं तस्य व्यर्थं स्यात्तपोखिलम् । दीक्षा च निष्फला पापस्रावा जन्म निरर्थकम् ॥ ५५ ॥ मत्वेत्यालोचनायुक्तं सत्प्रतिक्रमणं विदः । कुर्वन्तु सर्वयत्नेन नित्यं युक्त्या शिवाप्तये ॥ ५६ ॥ सर्वेषांव्रतगुप्तियोगसमितीनां शुद्धिहेतुं परमन्तातीतगुणात्मनां च शिवदं

और कर्मों को नष्ट करने के लिये बहुत शीघ्र प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥४६॥ बुद्धिमान् लोग किसी दोप को तो प्रतिक्रमण से निराकरण करते हैं और किसी दोप को आलोचना आदि से निराकरण करते हैं अतएव यत्नपूर्वक व्रतों की शुद्धि करने वाले मुनियों को विधि पूर्वक समस्त दोपों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही सदा करने चाहिये ॥५०—५१॥ इसका भी कारण यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण और आलोचना करने से समस्त व्रतों के समूह समस्त गुणों के साथ साथ चन्द्रमा की चांदनी के समान अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥५२॥ इसके सिवाय प्रतिक्रमण और आलोचना करने से चित्त की शुद्धि होती है तथा चित्त की शुद्धि होने से मोक्ष देनेवाला ध्यान प्रगट होता है उस ध्यान से समस्त कार्मों का नाश होता है और समस्त कर्मों के नाश होने से सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥५३॥ जो मुनि अपने तपश्चरण को बहुत बड़ा समझकर प्रमादी तथा अहंकारी हो जाता है और इसीलिये जो मूर्ख प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि नहीं करता उसका समस्त तपश्चरण दोपों से मलिन रहता है और इसीलिये व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार पापों का आस्रव करने वाली उसकी दीक्षा भी निष्फल समझी जाती है और उसका जन्म भी निरर्थक माना जाता है ॥५४—५५॥ इसलिये चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ युक्ति पूर्वक प्रतिदिन आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥५६॥ यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक अनंत गुणों को धारण

दोषापहं निर्मलम् । पापघ्नं मुनय. कलंकहतकं यत्नात्कुरुध्व सदा स्वान्तः शुद्धिकरं प्रतिक्रमण नामावश्यकं मुक्तये ॥ ५७ ॥ प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमिमामुक्त्वा समासतः । सत्प्रत्याख्यान निर्युक्तिं प्रवक्ष्यामि ततःशुभाम् ॥ ५८ ॥ अयोग्यानां स्वयोग्यानां वस्तूना तपसेथवा यन्निराकरणं यत्नात्क्रियते नियमेन च ॥ ५९ ॥ नामादि षड्विधानां वा कर्मसंवरहेतवे । आगतानामनागतनां तत्प्रत्याख्यान मतजिनैः ॥ ६० ॥ नामानुस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः । भावश्चेत्यत्र निक्षेपः प्रत्याख्यानेऽपि षड्विधः ॥ ६१ ॥ पापरागादिहेतूनि क्रूराशुभान्यनेकश. । नामानि बुधर्निंद्यानि स्वान्येषां दोषदानि च ॥ ६२ ॥ जातुचियत्रनोच्यन्ते हास्याद्यैः स्वपरादिभिः । नियमेनैव तन्नामप्रत्याख्यानं स्मृत बुधै. ॥ ६३ ॥ मिथ्यादेवादिमूर्तीनां रचनीनां सकलैनसाम् । मिथ्यात्वहेतुभूतानां वीक्षणे

करने वाले समस्त व्रत गुप्ति योग और समितियों को शुद्ध करने वाला है, सर्वोत्कृष्ट है मोक्ष देने वाला है, दोषों को दूर करने वाला है, अत्यंत निर्मल है, पापो को नाश करने वाला है, कलंक को दूर करने वाला है और अंतःकरण को शुद्ध करने वाला है। इसीलिये मुनियों को ऐसा यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥५७॥ इस प्रकार हमने संक्षेप से प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा अब आगे शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं ॥५८॥ जो पदार्थ अपने योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं उन पदार्दों का नियम पूर्वक तपश्चरण के लिये त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। अथवा कर्मों का संवर करने लिये नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थों का त्याग करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है ॥५९–६०॥ इस प्रत्याख्यान मे भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव ये छह निक्षेप माने गये हैं, अर्थात् छहों निक्षेपों से यह प्रत्याख्यान भी छह प्रकार है ॥६१॥ इस संसार में अनेक नाम ऐसे हैं जो पाप और राग के कारण हैं, क्रूर हैं अशुभ हैं, विद्वानों के द्वारा निंदनीय हैं, और अपने तथा दूसरों के लिये दोष उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे नामों को हंसी आदि के कारण वा अपने पराये की किसी प्रेरणा से भी नियम पूर्वक उच्चारण नहीं करना विद्वानों के द्वारा नाम प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६२–६३॥ पाप से डरने मुनिलोग समस्त पापों की खानि, मिथ्यात्व बढ़ाने का कारण, क्रूर और सरागी मिथ्या देवों की मूर्तियों के देखने का

नियमो त्रयः ॥६४॥ कृताद्यै वासरागाणां क्रूराणां गृह्यते निशम् । पापभीतैश्च तत्स्थापनाप्रत्याख्यानमद्भुतम् ॥६५॥ कर्मबंध करा द्रव्या शुभा वा तपसेखिलाः । स्वेन जातु न भोक्तव्या भोजितव्या नचापरैः ॥ ६६ ॥ मनसा नानुमंतव्या एवं यो नियमो वरः । मुनीशै गृ्ह्यते द्रव्यप्रत्याख्यानं तदूर्जितम् ॥ ६७ ॥ रागवाहुल्यकर्त्तॄणामसंयम-प्रवर्तिनाम् । सेवितानां विटस्त्र्याद्यै सवदोपविधायिनाम् ॥ ६८ ॥ क्षेत्राणां दुष्टमिथ्यादृग्भूतानां परिहापनम् । नियमाद्यत्सतां क्षेत्रप्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥ ६९ ॥ यच्चवृष्टिट्तुपारादि व्याप्तकालस्य वर्जनम् : असंयमादि हेतोः कालप्रत्याख्यानमेवतत् ॥ ७० ॥ मिथ्यात्वासंयमानां प्रमादानां चाशुभात्मनाम् कपायवेदहास्यादीनां सर्वेषां जिनेन्द्रियैः ॥ ७१ ॥ सर्वथा शुद्धभावेन त्यजनं क्रियते वुधैः नियमाद्यैश्च यद्भावप्रत्याख्यानं तदुत्तमम् ॥ ७२ ॥ एतैश्च षड्विधोपायैर्निक्षेपैः पड्विधंशुभैः । प्रत्याख्यानं विधातव्यं प्रत्यहं संयमाप्तये ॥ ७३ ॥ प्रत्याख्यापक

कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देते हैं उनके न देखने का नियम कर लेते हैं उसको उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६४–६५॥ जो द्रव्य कर्मबंध को करने वाले हैं अथवा शुभ हैं ऐसे पदार्थों को तपश्चरण पालन करने के लिए कभी उपभोग नहीं करना और न दूसरों से कभी उपभोग कराना और मन से उनके उपभोग करने की अनुमोदना भी नहीं करना इस प्रकार मुनिराज जो नियम कर लेते हैं उसको उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६६–६७॥ जो क्षेत्र अत्यंत राग उत्पन्न करने वाले हैं, असंयम की प्रवृत्ति करने वाले हैं, जो व्यभिचारी वा कुट्टिनियों के रहने के स्थान हैं जो समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले है और दुष्ट वा मिथ्यादृष्टियों से भरे हुए हैं ऐसे क्षेत्रों का नियम पूर्वक त्याग कर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६८–६९॥ जिस समय वृष्टि पड़ रही हो वा तुपार पड़ रहा हो ऐसे काल का असंयमादि के डर से त्याग कर देना काल प्रत्याख्यान कहलाता है ॥७०॥ जिते-न्द्रिय बुद्धिमान पुरुष अपने पूर्ण शुद्ध भावों से नियम पूर्वक मिथ्यात्व असंयम प्रमाद अशुभ कषाय वेद हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा आदि का त्याग कर देते हैं उसको उत्तम भाव प्रत्याख्यान कहते हैं ॥७१–७२॥ मुनियों को अपना संयम पालन करने के लिये ऊपर लिखे शुभ छहों प्रकार के निक्षेप रूप उपायों से छहों प्रकार का प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिये ॥७३॥ यहाँ पर प्रत्याख्यान

आत्मात्र यः प्रत्याख्यानमेवयत् । प्रत्याख्यातव्यमन्यद्यदेतेषां विस्तरं ब्रुवे ॥ ७४ ॥ श्रीगुरो जिनदेवस्याज्ञया चरणपालकः । मूलोत्तर गुणान् सर्वान्निर्मलो कर्तुमुद्यत. ॥ ७५ ॥ जिनसूत्रानुचारी यो दोषागमन भीतिकृत । तयोऽर्थीजितकामाद्यः स प्रत्याख्यापकोमहान ॥ ७६ ॥ अशनादिपरित्यागंप्रत्याख्यानमनेकधा । मूलोत्तर गुणादौ च दशधानागतादि वा ॥ ७७ ॥ अनागतमतिक्रान्तं कोटीसहितसंज्ञकम् । अखडितं च साकारमनाकारसमाह्वयम् ॥ ७८ ॥ परिणामगतं नामा परिशेषाभिधानकम् । तथाध्वगतसज्ञं च प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥ ७९ ॥ कर्तव्यमुपवासादि चतुर्दश्यांदिके च यत् । क्रियतेतत्त्रयोदश्यांभावनागतमेवतत् ॥ ८० ॥ विधेयमुपवासादि चतुर्दश्यादिके च यत् । तत. प्रतिपदादौ क्रियतेऽतिक्रांतमेवतत् ॥ ८१ ॥ प्रातः स्वाध्यायसपूर्णे यदि शक्ति र्भविष्यति।

करने वाला आत्मा प्रत्याख्यापक कहलाता है, त्याग करना प्रत्याख्यान है और जिसका त्याग किया जाता है उसको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप कहते है ॥७४॥ जो मुनि श्री गुरु की आज्ञा से वा भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से चारित्र का पालन करता है, समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों को निर्मल करने के जो सदा उद्यत रहता है, जो जिन शास्त्रों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, जो दोषों के आगमन से सदा भयभीत रहता है, जो निर्मल तपश्चरण करना चाहता है, जो इन्द्रिय और काम को जीतने वाला है और जो उत्कृष्ट है उसको प्रत्याख्यापक कहते हैं ॥७५–७६॥ भोजन पान का त्याग करना प्रत्याख्यान है वह अनेक प्रकार है, अथवा मूलगुण वा उत्तरगुणों में अनागत आदि जो दश प्रकार का त्याग हैं उसको भी प्रत्याख्यान कहते हैं ॥७७॥ अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, अखंडित, साकार, अनाकार, परिणामगत, परिशेप, अध्वगत और सहेतुक ये दश प्रकार के प्रत्याख्यान हैं ॥७८–७९॥ जो उपवास चतुर्थशी के दिन करता है उसका नियम त्रयोदशी के दिन ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८०॥ जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना है, उसका नियम प्रतिपदा के दिन ही कर लेना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है ॥८१॥ प्रातःकाल स्वाध्याय पूर्ण होने पर यदि शक्ति होगी तो मैं उपवास करूंगा इस प्रकार के नियम करने

उपवासं करिष्यामि तत्कोटिसहितंमतम् ॥ ८२ ॥ अवश्यं यद्विधातव्यं पक्षमासादिगोचरम् । उपवासादिकं तत्स्यात्प्रत्याख्यानमखंडितम् ॥ ८३ ॥ सर्वतोभद्रनक्षत्ररत्नावल्याद्यनेकधा । विधानकरणंयद्बहुधासाकारमत्रतत् ॥८४॥ निजेच्छयोपवासादि करण यद्विधिं विना । प्रत्याख्यानमनाकारं कथ्यते तत्तपस्विनाम् ॥८५॥ यत्षष्ठाष्टमपक्षैकमासादि वर्षगोचरम् । करणं स्वोपवासादे परिणामगतं हि तत् ॥ ८६ ॥ चतुर्विधाखिलाहार वर्जनं यद्विधीयते । यावज्जीवं स्वसंन्यासे परिशेषं तदुच्यते ॥ ८७ ॥ मार्गाटव्याद्रिनद्यादिगमनानां प्रतिज्ञया क्रियतेऽत्रोपवासादि यत्तदध्वगतं स्मृतम् ॥ ८८ ॥ उपसर्गनिमित्तेऽत्रजातेसति विधीयते उपवासादिकं यत्तात्प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥ ८९ ॥ प्रत्याख्यानविधेःसारान् दशभेदानिमान् सदा । ज्ञात्वा नाना तपोवृध्यैह्यु पचरन्तु तपोधनाः ॥ ९० ॥ अशनंपानकंखाद्यं स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् । आहारं विविधं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥ ९१ ॥ उपधिः श्रमणायोग्यः क्षेत्रं

को कोटि सहित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८२॥ किसी पक्ष वा किसी महीने में जो उपवास अवश्य किया जाता है उसको अखंडित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८३॥ सर्वतोभद्र नक्षत्रमाला रत्नावली आदि अनेक प्रकार के विधान वा व्रत करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८४॥ विना किसी विधि के अपनी इच्छानुसार उपवास आदि करना तपस्वियों का अनाकर प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥८५॥ जो दो दिन का तीन दिन का एक पक्ष का एक महीने का वा एक वर्ष का उपवास किया जाता है उसको परिणाम गत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८६॥ अपने सन्यास मरण के समय जीवन पर्यंत तक जो चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसको परिशेष प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८७॥ किसी मार्ग में वन में पर्वत पर वा नदी आदि के गमन करने में जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको अध्वगत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८८॥ किसी उपसर्ग आदि के निमित्त मिलने पर जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको सहेतुक प्रत्याख्यान कहते हैं ॥८९॥ ये ऊपर लिखे हुए प्रत्याख्यान विधि के सारभूत दश भेद हैं इन सबको समझ कर मुनियों को अपने अनेक प्रकार के तपश्चरणों की वृद्धि के लिए इन प्रत्याख्यानों का पालन करना चाहिये ॥९०॥ अन्न पान स्वाद्य खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है। इनके सिवाय सचित्त अचित्त मिश्र के भेद

कालादयोऽखिला' इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यातव्यमञ्जसा ॥ ६२ ॥ द्रव्यमिश्रितपानेनोपवासो यातिखंडताम् । सचित्तं न जलं पातुं योग्यं तस्मात्त्यजेद्बुध ॥ ६३ ॥ रागोष्ण कालदाहाद्यैर्यदि त्यक्तुं न शक्यते । नीरं षष्ठाष्टमादौ तद्युष्णं ग्राह्यं कचिज्जनैः ॥ ६४ ॥ पारणाहनि जातासु रागक्लेशाङ्किादिषु । प्राणान्तेपि न चादेयं भोजनानन्तरेजलम् ॥ ६५ ॥ आद्यं विनयशुद्धाख्यमनुभाषासमाह्वयम् । प्रतिपालनशुद्धाख्यं भावशुध्याभिधानकम् ॥ ६६ ॥ शुद्धं चतुर्विधहीदं प्रत्याख्यानं भवापहम् । मुक्तये युक्तिमद्वाक्यैः पृथक् पृथक् ब्रुवेसताम् ॥६७॥ सिद्धयोगाभिधेभक्ति कृत्वानत्वागुरुक्रमौ । पंचधा विनयेनामा प्रत्याख्यान चतुर्विधम् ॥ ६८ ॥ गृह्यतेयत्तदन्तेचा—

से अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, मुनियों के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण हैं, अयोग्य क्षेत्र अयोग्य काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याख्यान पदार्थ हैं ॥६१–६२॥ किसी द्रव्य से मिला हुआ पानी पीने से उपवास खंडित हो जाता है तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है। इसलिये बुद्धिमानों को इन सब का त्याग कर देना चाहिये ॥६३॥ राग की अधिकता के कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि वेला तेला आदि में पानी का त्याग न हो सके तो लोगों को ऐसे समय में उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये ॥६४॥ पारणा के दिन यदि रोग क्लेश भी उत्पन्न हो जाँय और प्राणों के अंत होने का समय आ जाय तो भी उस दिन भोजन के बाद जल ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥६५॥ इस प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखना चाहिये पहली विनयशुद्ध, अनुभाषाशुद्ध, प्रतिपालनशुद्ध और और भावशुद्ध इस प्रकार चार प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही संसार को नाश करने वाला है। अब हम सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये युक्ति पूर्वक वचनों के द्वारा अलग अलग इनका स्वरूप कहते हैं ॥६६–६७॥ प्रत्याख्यान लेते समय सिद्धभक्ति योगभक्ति पढ़नी चाहिये फिर गुरु के दोनों चरण कमलों को नमस्कार कर पाँच प्रकार की विनय के साथ चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तथा अंत में आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये। इस प्रकार शिष्यों के द्वारा मोक्ष देने वाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनयशुद्ध

र्यभक्तिः प्रदीयते । शिष्यैर्विनयशुद्ध' तत्प्रत्याख्यानं शिवप्रदम् ॥ ९९ ॥ प्रत्याख्यानाक्षराः सर्वे गुरुणोच्चरितायथा । व्यंजनस्वरमात्रादिशुध्या ये तांस्तथैव च ॥ १०० ॥ शिष्योनुभापतेयत्रप्रत्याख्यानविधौशुभे । अनुभापणशुद्धाख्यं प्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥ १ ॥ महोपसर्गे दुर्व्याध्यश्रमक्लेशादिराशिपु । जातेपु सुखदुःखादिष्वटव्याद्रिवनादिपु ॥२॥ दुर्भिक्षादिपुसर्वत्राखडंयत्प्रतिपाल्यते । अनुपालनशुद्धाख्यं तत्प्रत्याख्यानमूर्जितम् ॥ ३ ॥ रागद्वेपमदोन्मादैः कपायारि व्रजै. क्वचित् । कामाद्रेकाख्यधूर्तैश्च परिणामेन योगिनाम् ॥ ४ ॥ न मनाग्दूपितं शुद्धं प्रत्याख्यानं यदुत्तमम् । भावशुद्धाभिधं ज्ञेयं प्रत्याख्यानं तदेव हि ॥ ५ ॥ प्रत्याख्यानमिदं सर्वं कृत्वा कायस्थितिं द्रुतम् । ग्राह्यं चतुर्विधं मुक्त्यै गुरोऽन्तेमुद्रावुधैः ॥ ६ ॥ कचिद्धानिर्न कर्तव्या प्रत्याख्यानस्यसंयतैः । प्राणान्तेपि

प्रत्याख्यान कहते हैं ॥९८–९९॥ प्रत्याख्यान के समस्त अक्षर जो गुरु ने उच्चारण किये हैं व्यंजन स्वर और मात्राएं जिस प्रकार शुद्ध उच्चारण की हैं उसी प्रकार शिष्य को भी शुभ प्रत्याख्यान लेते समय उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार के प्रत्याख्यान को अनुभापण शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहते हैं ॥१००–१०१॥ किसी महा उपसर्ग के आजाने पर किसी महा व्याधि के हो जाने पर, किसी दुःख वा क्लेश के हो जाने पर अथवा किसी जंगल वन पर्वत आदि में किसी सुख दुःख के उत्पन्न हो जाने पर अथवा दुर्भिक्ष के उत्पन्न हो जाने पर सर्वत्र अपने प्रत्याख्यान का पालन करना अनुपालन-शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहलाता है ॥२–३॥ राग, द्वेप, मद, उन्माद आदि के द्वारा वा कपाय रूप शत्रुओं के द्वारा अथवा काम के उद्रेकरूपी धूर्तों के द्वारा मुनियों के परिणामों में किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं आती है। उनका उत्तम प्रत्याख्यान शुद्ध बना रहता है उसको भावशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ॥४–५॥ बुद्धिमान मुनियों को यह सब प्रत्याख्यान कर के उसका नियम पूर्ण होने पर शरीर स्थिति के लिये आहार ग्रहण करना चाहिये और फिर गुरु के समीप जाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये फिर चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥६॥ मुनियों को अपने कंठगत प्राण होने पर भी तीव्र परिपह आदि के द्वारा जगत भर में निंदा उत्पन्न करने वाली प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं

जगन्निंद्या तीव्रं परीपहादिभिः ॥ ७ ॥ प्रत्याख्यानस्य भगेन भगंयान्तियतोखिलाः । गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद्भंगाच्छ्वभ्रकारणम् । ॥ ८ ॥ महापाप प्रजायेत तेनदुःख वचोतिगम् । भ्रमणशिथिलानाच श्वभ्रादिदुर्गतौचिरम् ॥ ९ ॥ मत्वेति विश्वयत्नेनपालयन्तु तपोधनाः । प्रत्याख्यानं जगत्सारंसत्सूपद्रवकोटिपु ॥ १० ॥ सर्वानर्थहरमनोक्षजयिन कर्मारिविध्वंसकं स्वर्मोक्षैकनिबंधनंशुभनिधिं तीर्थेश्वरैः सेवितम् । अन्तातीतगुणाम्बुधिं सुमुनय. संपालयेताखिलं प्रत्याख्यानवरं सदासुविधिनासर्वार्थसंसिद्धये ॥ ११ ॥ प्रत्याख्यानस्य निर्युक्तिं निरूप्येमासमासत. । कायोत्सर्गस्य निर्युक्तिमितऊर्ध्वं दिशाम्यहम् ॥ १२ ॥ त्यक्त्वांगादिममत्वं यद्द्विधासर्गविधीयते लवमानभुजास्थानं गुणचिंतन-पूर्वकम् ॥ १३ ॥ परमेष्ठिपदादीनामहोरात्रादिगोचर. । कायोत्सर्गः स मन्तव्योनंतवीर्यादि कारकः ॥ १४ ॥

करनी चाहिये ॥७॥ इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यान के भंग होने से मूलगुण उत्तरगुण आदि सबका भंग हो जाता है तथा मूलगुण उत्तरगुण के भंग होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से वचनातीत दुःख होता है। तथा इस प्रकार शिथिलाचार को धारण करने वाले मुनि नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं ॥८—९॥ यही समझ कर मुनियों को करोड़ों उपद्रव आने पर भी जगत में सारभूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिये ॥१०॥ यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थों को हरण करने वाला है, मन और इन्द्रियों को जीतने वाला है, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाला है, स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, शुभ का निधि है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करतं हैं और अनंत गुणो का समुद्र है। इसलिये श्रेष्ठ मुनियों को संपूर्ण पुरुपार्थ सिद्धि करने के लिये विधि पूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिये ॥११॥ इस प्रकार संक्षेप से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा अब आगे कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं ॥१२॥ रात्रि में वा अन्य किसी समय में अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर खड़े होकर दोनों भुजाएं लंबी लटका कर पाँचों परमेष्ठियों के गुणों का चिंतवन करना कायोत्सर्ग कहलाता है। यह कायोत्सर्ग अनंत वीर्य को उत्पन्न करने वाला है ॥१३—१४॥

नामाख्यस्थापना द्रव्यंक्षेत्रं कालोशुभाश्रित. । भावश्चेत्यनिक्षेपः कायोत्सर्गस्यषड्विधः ॥१५॥ सरागक्रूरनिंद्यादिनामोत्थदोषशुद्धये । कायोत्सर्गोत्र यो नाम कायोत्सर्गाह्वयोहि सः ॥ १६ ॥ कुत्सितस्थापनाद्वारागतातीचारशान्तये । कायोत्सर्गः कृतोयः स स्थापनासंज्ञएवहि ॥ १७ ॥ सावद्यद्रव्यसेवाद्यैर्जातदोषस्यहानये । क्रियते यस्तनूत्सर्गो द्रव्यव्युत्सर्गएव सः ॥ १८ ॥ सरागक्रूरमिथ्यात्वाद्यक्षेत्रजंमलात्मनाम् । विशुध्यै यस्तनूत्सर्गः क्षेत्रव्युत्सर्ग एव सः ॥ १९ ॥ ऋत्वहोरात्रवर्षादि व्याप्तकालोद्भवस्य यः । दोषस्यहानये कायोत्सर्गः स कालसंज्ञकः ॥ २० ॥ मिथ्यासंयमकोपादियुक्तदुर्भावजस्य यः । दोपस्यशुद्धये कायोत्सर्गः सभावनामकः ॥ २१ ॥ अमीभि.षड्विधैःसारैर्निक्षेपैर्मुनिसत्तमैः कायोत्सर्गः सदाकार्यो जातदोपविशुद्धये ॥ २२ ॥ कायोत्सर्गश्च कायोत्सर्गीकायोत्सर्गकारणम् । अमीपां त्रितयानांहि प्रत्येकं लक्षण ब्रुवे ॥ २३ ॥ वाह्यान्त. सकलैः संगैः सम कायस्य धीधनैः । क्रियते यः

नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और शुभ भाव के भेद से छहों निक्षेपों से यह कायोत्सर्ग भी छह प्रकार है ॥१५॥ किसी सारगी, क्रूर और निंद्य आदि नाम से उत्पन्न हुए दोपों को शुद्ध करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१६॥ किसी कुत्सित स्थापना के आए हुए अतीचारों को शांत करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१७॥ पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोपों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१८॥ सारगी क्रूर और मिथ्यात्व से दूपित क्षेत्र से उत्पन्न हुए दोपों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१९॥ ऋतु दिन रात और वर्षाऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोपों को नाश करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं ॥२०॥ मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादिक दुर्भावों से उत्पन्न हुए दोपों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भाव कायोत्सर्ग कहलाता है ॥२१॥ उत्तम मुनियों को उत्पन्न हुए दोपों को विशुद्ध करने के लिये सारभूत इन छहों निक्षेपों से होने वाला कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥२२॥ अब आगे कायोत्सर्ग कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारणों का अलग अलग लक्षण कहते हैं ॥२३॥ जहाँ पर बुद्धिमानों के द्वारा वाह्य और

परित्याग. कायोत्सर्गः समुक्तये ॥ २४ ॥ प्रालवितभुज' पादांतश्चतु'स्वागुलाश्रितः । सर्वांग चलनातीतः कथ्यतेत्र चतुर्विध' ॥ २५ ॥ उत्थितोत्थितनामोत्थितोपविष्टसमाह्वय' । उपविष्टोत्थिताख्यकिलासीनासीनसञ्ज्ञक' ॥ २६ ॥ एतै' शुभाशुभैर्भेदै. कायोत्सर्गश्चतुर्विधः । द्विधा त्याजोद्विधा ग्राह्यस्तेषां मध्येसयोगिभिः ॥ २७ ॥ धर्मशुक्लाभिधद्वेधा ध्यानं यत्क्रियते वुधैः । कायोत्सर्गेण मुक्त्यैस. व्युत्सर्ग उत्थितोत्थित' ॥ २८ ॥ आर्तरौद्राख्यदुर्ध्याने कायोत्सर्गेण यः स्थितः ध्यायेत्तस्य तनूत्सर्गः उत्थितासीनसञ्ज्ञक. ॥ २९ ॥ धर्मशुक्लशुभध्यानालिविष्टो भजतेत्रयः । हृदा तस्य तनूत्सर्गो निविष्टोत्थितनामकः ॥ ३० ॥ ध्यायत्यत्र निविष्टो यः आर्तरौद्राणि चेतसा । ध्यानानि तस्य चासीनासीनव्युत्सर्गं एवहि ॥ ३१ ॥ उत्थितासीनएकोन्य आसीनासीनसञ्ज्ञक' । द्वाविमौ सर्वथा त्याज्यौ शेषौ

आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के साथ साथ शरीर का भी त्याग कर दिया जाता है परिग्रह और शरीर के ममत्व सर्वथा त्याग कर दिया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं। ऐसा कायोत्सर्ग मोक्ष देने वाला होता है ॥२४॥ उस कायोत्सर्ग में भुजाएं लंबायमान होतीं हैं दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रहता है और समस्त शरीर का हलन चलन बंद कर दिया जाता है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चार प्रकार का होता है ॥२५॥ पहला उत्थितोत्थित, दूसरा उत्थितोपविष्ट, तीसरा उपविष्ठोत्थित और चौथा उपविष्टोपविष्ट अथवा आसीनासीन ये चार कायोत्सर्ग के भेद हैं ॥२६॥ इन चारों प्रकार के कायोत्सर्ग में दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं। मुनियों को दोनों अशुभ कायोत्सर्गों का त्याग कर देना चाहिये और दोनों शुभ कायोत्सर्ग ग्रहण कर लेना चाहिये ॥२७॥ जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतवन करते हैं उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥२८॥ जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का चितवन करता है उसको उत्थितासीन कात्योत्सर्ग कहते हैं ॥२९॥ जो मुनि बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का चिंतवन करता है उसके निविष्टोत्थित नाम का कायोत्सर्ग कहलाता है ॥३०॥ जो मुनि बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से आर्तध्यान वा रौद्रध्यान का चिंतवन करता है उसके असीनासीन नाम का कायोत्सर्ग होता है ॥३१॥ इनमें से एक उत्थितासीन और दूसरा आसीनासीन इन दोनों कायोत्सर्गों का सदा के

कार्यों प्रयत्नतः ॥ ३२ ॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रश्रुताभ्यासयमादिषु । महाव्रतेषु सर्वेषु संयमाचरणेषु च ॥ ३३ ॥ दशलक्षणधर्मेषु तपःसमितिगुप्तिषु । प्रत्याख्याने कषायाक्षाशुभध्यानादिरोधने ॥ ३४ ॥ आत्मतत्त्वेऽन्यतत्त्वेषु ध्यानेषु परमेष्ठिनाम् । कर्मास्रवनिरोधे च संवरे निर्जरा शिवे ॥ ३५ ॥ इति शुद्धसुसंकल्पः क्रियते यो गुणाप्तये । महान् व्युत्सर्गमापन्नैस्तद्ध्यानमुत्तमंमतम् ॥ ३६ ॥ परिवारमहासम्पत्पूजासत्कारहेतवे । अन्नपानादिमिष्टाद्यैर्ख्याति-कीर्तिप्रसिद्धये ॥ ३७ ॥ स्वमाहात्म्यप्रकाशाय स्वेष्टवस्त्वाप्तयेऽन्वहम् । स्वर्गराज्यपराङ्गनाप्राप्तयेऽमुत्र वा इति ॥३८॥ इत्याद्यन्यतमाप्त्यै यः संकल्पः क्रियतेऽशुभः । कायोत्सर्गमापन्नैस्तद्ध्यानमशुभंस्मृतम् ॥ ३९ ॥ अप्रशस्तं प्रशस्तं च ध्यानं ज्ञात्वाबुधा इदम् । त्यक्त्वाशुभं शुभध्यानं कायोत्सर्गे भजन्तुभोः ॥ ४० ॥ मोक्षार्थी जितनिद्रोयस्तत्त्व-

---

त्याग कर देना और बाकी के दोनों कायोत्सर्ग प्रयत्नपूर्वक धारण करने चाहिये ॥३२॥ कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनि गुण प्राप्त करने की इच्छा से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शास्त्रों का अभ्यास, यम, नियम, समस्त महाव्रत, समस्त संयमाचरण, दश लक्षण धर्म, तप, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, कषायों का निरोध, इन्द्रियों का निरोध, अशुभ ध्यान का निरोध, आत्म तत्त्व, अन्य तत्त्व, परमेष्ठियों का ध्यान, कर्मों के आस्रव का निरोध, संवर निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो हृदय में शुद्ध संकल्प करते हैं महा संकल्प करते हैं उसको उत्तम ध्यान कहते हैं ॥३३–३६॥ इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वाले जो मुनि अपने परिवार को महा संपत्ति प्राप्त करने के लिये, वा पूजा सत्कार कराने के लिये, वा मीठे मीठे अन्न पान प्राप्त करने के लिये वा अपनी कीर्ति फैलाने वा प्रसिद्ध होने के लिये, वा अपना महात्म्य प्रगट करने के लिये, वा प्रतिदिन अपनी इच्छानुसार इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिये वा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति राज्य की प्राप्ति वा सेना की प्राप्ति के लिये वा इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में अशुभ संकल्प करते हैं उसको अशुभध्यान कहते हैं ॥३७–३९॥ इस प्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान को समझ कर बुद्धिमानों को कायोत्सर्ग में अशुभध्यान का त्याग कर देना चाहिए और शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥४०॥ जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, निद्रा को जीतने वाला है, तत्त्व और

शास्त्रविशारद. । मनोवाक्कायसंशुद्धो वलवीर्यान्वित कृत' ॥ ४१ ॥ महातपासहाकायोमहाधैर्योजितेन्द्रिय' परीषहो–पसर्गादि जयशीलो चलाकृतिः ॥ ४२ ॥ महाव्रती परात्मज्ञ. इत्याद्यन्यगुणाकर.। कायोत्सर्गी भवेन्नूनमुत्तमो मुक्तिसाधक. ॥ ४३ ॥ व्रताना समितीनां च गुप्तीनां सयमात्मनाम् । क्षमादिलक्षणानां च मूलान्यगुणदृक् चिदाम् ॥ ४४ ॥ कषायै नेकिषायैश्चमदोन्माद भयादिभिः । यातायातै. प्रमादैश्च मनोक्षवाग्वपुश्चलै. ॥ ४५ ॥ जाता येऽतिक्रमास्तेषा दक्षैः शुध्यर्थमत्र यः । विधीयते तनूत्सर्गः तद्ज्ञेयं तस्य कारणम् ॥ ४६ ॥ दुर्द्धरा उपसर्गा ये नृदेवादि कृता भुवि सर्वे परीषहा घोरामहन्तस्तपसादयः ॥ ४७ ॥ कायोत्सर्गेण तानचिश्वान्सहेह मुक्तिहेतवे । इत्यादि कारणैर्नित्यं कुर्वन्तु मुनयोऽत्र तम् ॥ ४८ ॥ कायोत्सर्गे कृते यद्वदंगोपांगादिसंधयः । भिद्यन्ते सुधियां

शास्त्रों के जानने में अत्यंत चतुर है, जिसके मन वचन काय शुद्ध हैं, जो वल और वीर्य से (शक्ति से) सुशोभित है, जो महा तपस्वी है हृष्ट पुष्ट पूर्ण शरीर को धारण करने वाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय है, परिषह और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है परमात्मा को जानने वाला है और मोक्ष को सिद्ध करने वाला है तथा और भी ऐसे ही ऐसे गुणों की खानि है । ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्गी (कायोत्सर्ग करने वाला) कहा जाता है ॥४१–४३॥ व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा मार्दव आदि धर्म मूलगुण उत्तरगुण सम्यग्दर्शन और आत्मा की शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन इन्द्रियाँ वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं । इसीलिये व्रतादिकों मे दोष लगना कायोत्सर्ग का कारण समझना चाहिये ॥४४–४६॥ इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किए हुए जितने भी दुर्धर उपसर्ग हैं, जितनी घोर परिषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूंगा यही समझ कर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये ॥४७–४८॥ कायोत्सर्ग के करने में जिस प्रकार अंग उपांग की संधियाँ भिन्न भिन्न होती हैं उसी प्रकार बुद्धिमानों

तद्दुष्कर्माणि क्षणेक्षणे ॥ ४६ ॥ कायोत्सर्गप्रभावेन जायन्तेहिमहर्धयः । समस्ता अचिरेणैवयोगिनां नात्रसंशयः॥५०॥ धर्मशुक्लशुभाध्यानाः शुभाःलेश्याः प्रयान्त्यहो । कायोत्सर्गेण धर्मात्मनां सर्वोत्कृष्ठतामिह ॥ ५१ ॥ प्रकंपन्ते सुरेशानामासनादि क्षणान्तरे । महाध्यानप्रभावेन कायोत्सर्गस्थयोगिनाम् ॥ ५२ ॥ व्याघ्रसिंहादय क्रूरा शाम्यन्ति नतमस्तकाः कायोत्सर्गस्थधीराणां महायोगप्रभावतः ॥ ५३ ॥ उपसर्ग व्रजाः सर्वे विघ्नादिजालकोटय. । कायोत्सर्गस्थमाहात्म्याद्विघटन्ते च तत्क्षणम् ॥ ५४ ॥ कायोत्सर्गेण दक्षाणां केवलज्ञानमाशुभोः । जायतेप्रकटं लोके ऽत्रान्यस्यज्ञानस्यकाकथा ॥ ५५ ॥ व्युत्सर्गं कुरुतेधीरो योधर्मशुक्लपूर्वकम् । अत्यासक्त्या स्वयं हेत्यमुक्तिरामावृणोति तम् ॥ ५६ ॥ कायोत्सर्गेणसादृश्यं नापरं परमं तपः । उपायस्तत्समो नान्यः कर्मारातिनिकृन्दने ॥ ५७ ॥ यतो

के कर्म भी क्षण क्षण में नष्ट होते रहते हैं ॥४९॥ इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से मुनियों को बहुत ही शीघ्र समस्त महा ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥५०॥ इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से धर्मात्मा पुरुषों के धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएं सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं ॥५१॥ कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से क्षणभर में ही इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं ॥५२॥ इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए महा धीर वीर मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और उनके चरणों में आकर अपना मस्तक झुका देते हैं ॥५३॥ इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महात्म्य से क्षण भर में ही समस्त उपसर्गों के समूह नष्ट हो जाते हैं और करोड़ो विघ्नों के जाल क्षण भर में कट जाते हैं ॥५४॥ चतुर पुरुषों को इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से इसी लोक में शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भला अन्य ज्ञानों की तो बात ही क्या है ॥५५॥ जो धीर वीर पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग धारण करता है उस पर मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त हो जाती है और स्वयं आकर उसको वर लेती है ॥५६॥ इस कायोत्सर्ग के समान न तो अन्य कोई परमोत्कृष्ट तप है और न कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिये अन्य कोई उपाय है ॥५७॥ इसका भी कारण

व्युत्सर्गकर्तॄणां कर्मजालानि कोटिशः । नश्यति क्षणमात्रेण तमांसि भानुना यथा ॥ ५८ ॥ इत्यादि प्रवर चास्य फलंमत्वा शिवार्थिनः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य सिद्ध्यै कुर्वन्तु तसदा ॥ ५६ ॥ कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्ठेन वर्षैकं प्रमाणकम् । अन्तमुहूतमात्रं स्याजघन्यं कालसंख्यया ॥ ६० ॥ मध्यमेन तयोर्मध्येप्रमाणं बहुधाभवेत् । अहो-रात्रादिपक्षैकमासद्वित्र्यादिगोचरम् ॥ ६१ ॥ सत्प्रतिक्रमणे वीरभक्तौदैवसिकाभिधे । कायोत्सर्गे स्यादुच्छ्वासा अष्टोत्तर शतप्रभाः ॥ ६२ ॥ उच्छ्वासारात्रिके कार्याश्चतुः पचाशएव च । परमेष्ठिपदोच्चारैः शतानित्रीणि पाक्षिके ॥ ६३ ॥ उच्छ्वासानां च चातुर्मासिके चतुःशतानि वै । शतानि पच सावत्सरके स्युःर्नियमात्सताम् ॥६४॥ वीरभक्तिं विना शेपसिद्धभक्त्यादिषुस्फुटम् । सर्वेषुस्युरन्तनूत्सर्गे उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥ ६५ ॥ प्राणिहिंसानृ स्तेया

यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के करोड़ों कर्म जाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥५८॥ इस प्रकार इस कायो-त्सर्ग का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति प्रगट कर वह कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥५६॥ इस कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है तथा मध्य का जो एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक महीना दो महीना तीन महीना छह महीना आदि काल है वह सब कायोत्सर्ग का मध्यम काल गिना जाता है ॥६०–६१॥ श्रेष्ठ प्रतिक्रमण करते समय, वीरभक्ति करते समय, और दैवसिक कायोत्सर्ग में एकसौ आठ उच्छ्वासों से छत्तीसवार नमस्कारमंत्र पढ़ना चाहिये। रात्रि के कायोत्सर्ग में चौवन श्वासोच्छ्वासों से अठारह बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये। पाक्षिक कायोत्सर्ग में तीनसौ उच्छ्वासों से परमेष्ठी वाचक पदों का उच्चारण करना चाहिये अर्थात् सौबार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये ॥६२–६३॥ चातुर्मास कायोत्सर्ग में चारसौ श्वासोच्छ्वासों से नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये और वार्षिक कायोत्सर्ग में पाँचसौ उच्छ्वासों से पंचनमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये ॥६४॥ वीरभक्ति के बिना शेष सिद्धभक्ति आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से करना चाहिये ॥६५॥ हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के निमित्त से जो पाँचों महाव्रतों में अतिचार

ब्रह्मोयधिप्रसंगतः । सन्महाव्रतपंचानां जातातिचारशुद्धये ॥ ६६ ॥ पृथक्पृथग्विधातव्यः कायोत्सर्गो व्रतार्थिभिः । अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः प्रमाणोविधनाकचिन् ॥ ६७ ॥ ग्रंथारम्भे समाप्ते च स्वाध्याये वंदनादिषु । कायोत्सर्गेण कर्तव्या उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥ कायोत्सर्गेषु सर्वेषु हीत्युच्छ्वासान् विधाय च । परमेष्ठिपदानां जपनेनाघविशुद्धये ॥ ६९ ॥ प्रशस्तं धर्मशुक्लाख्यं द्विधाध्यानशिवप्रदम् । स्वशक्त्या स्वैकचित्तेनचिरंध्यायन्तु धीधनाः ॥ ७० ॥ यतोव्युत्सर्गे एकोत्र धर्मशुक्लशुभान्वित । द्वात्रिंशद्दोपनिष्क्रान्तः कृत आशुसुयोगिनाम् ॥ ७१ ॥ महती सकला ऋद्धी व्योमगत्यादिकारिणी । ज्ञानं च केवलं विश्वप्रदीप जनयत्यहो ॥ ७२ ॥ घोटकोऽथलताख्य-स्तंभकुड्यौमालसंज्ञः । दोषः स वरवध्वाख्यस्ततो निगलनामक ॥ ७३ ॥ लम्बोत्तराभिधोदोषस्तनदृष्टिश्चवायस. ।

लगे हों तो उनको शुद्ध करने के लिये व्रतियों को अलग अलग व्रत के अलग अलग अतिचार एकसौ आठ उच्छ्वास के द्वारा विधि पूर्वक कायोत्सर्ग धारण कर अलग ही शुद्ध करना चाहिये। भावार्थ— एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा अहिंसा व्रत के दोप शुद्ध करने चाहिये फिर एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा सत्यव्रत के दोप दूर करने चाहिये इस प्रकार सबके लिये अलग अलग कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥६६–६७॥ ग्रंथ के प्रारंभ में वा ग्रंथ की समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना करने में वा और भी ऐसे कार्यों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥६८॥ ऊपर कहे हुए समस्त कायोत्सर्गों में ऊपर कहे हुए उच्छ्वासों के द्वारा पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पदों को जपना चाहिये। ऐसे ही जप से पापों की शुद्धि होती है ॥६९॥ धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान ही प्रशस्त हैं और ये ही दो ध्यान मोक्ष देने वाले हैं इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार एकचित्त होकर चिरकाल तक ये दोनों ध्यान धारण करने चाहिये ॥७०॥ क्योंकि यह कायोत्सर्ग यदि बत्तीस दोषों से रहित तथा शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक किया जाय तो इस एक ही से मुनियों को आकाश गामिनी आदि बड़ी बड़ी समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा लोक अलोक सबको दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥७१–७२॥ कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम कहते हैं। घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य, माल, वरवधू, निगल, लंबोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस खलीन, युग, कपित्थ, शिर

खलिनो युगकपित्थौ शिरः प्रकंपिताख्यक ॥ ७४ ॥ मूकितोंगुलिदोपोथभ्रूविकारसमाह्वयः । दोपश्चवारुणीपायी दिग्दशालोकनादिश ॥ ७५ ॥ ग्रीवोन्नमनदोषोथ दोप प्रणमनाख्यकः । निष्ठीवनोंगमर्शाख्योऽथाभीपां लक्षणं ब्रुवे ॥ ७६ ॥ य स्वैकं पादमुत्क्षिप्यविन्यस्य वात्र तिष्ठिति । अश्ववद्वित नूत्सर्गे सः स्याद्घोटकदोपभाक् ॥७७॥ लतेवात्रनिजांगानि चालयन् यः प्रतिष्टते । कायोत्सर्गेण तस्य स्याल्लतादोपश्चलात्मनः ॥ ७८ ॥ स्तम्भमाश्रित्य यस्तिष्ठेत् कायोत्सर्गेण संयत । वा शून्यहृदयस्तस्य स्तंभदोपोत्र जायते ॥ ७६ ॥ कुड्यमाश्रित्य तिष्ठेद्यो व्युत्सर्गेणाथवापरम् । कुड्यदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गमलप्रदः ॥ ८० ॥ पीठिकादिकमारुह्य वोर्ध्वभागंस्वमस्तकात् । आश्रित्य यस्तनूत्सर्गं कुर्यात्स मालदोपवान् ॥ ८१ ॥ जधाभ्यांजघनपीड्य सवराद्विधूरिव । यस्तं धत्तेऽत्र स स्यात्सवरवध्वाद्व्यदोषभाक् ॥ ८२ ॥ कृत्वा वह्वन्तराल यः पादयोर्निगलस्थवत् । कायोत्सर्गं विधत्ते स निगला–

प्रकंपित, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिग्दशालोकन ग्रीवोन्नमन प्रणमन, निष्ठीवन अंगमर्श ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोप हैं आगे अनुक्रम से इनका लक्षण कहते हैं ॥७३–७६॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर को उठा कर अथवा एक पैर को रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके घोटक नाम का दोप लगता है ॥७७॥ जो मुनि लता के समान अपने शरीर को वा अंग उपांगों को हिलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के लता नाम का नाम का दोप लगता है ॥७८॥ जो मुनि किसी खंभे के आश्रय खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है अथवा खंभे के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करता है उसके स्तंभ नाम का दोप लगता है ॥७६॥ जो मुनि किसी दीवाल के सहारे खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके कायोत्सर्ग को दूपित करने वाला कुड्य नाम का दोष लगता है ॥८०॥ जो मुनि किसी पीठिका पर (वेदी आदि पर) चढ़ कर और उसके ऊपर के भाग पर मस्तक का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके माल नाम का दोप प्रगट होता है ॥८१॥ जो मुनि वर वधू के समान दोनों जंघाओं से जंघा को दबाकर कायोत्सर्ग करता है उसके वरवधू नाम का दोप लगता है ॥८२॥ जिसके पैर सॉकल से बंधे हैं पैरों के बीच में बेड़ी वा लोहे के डंडे पड़े हैं उसके समान जो अपने पैरों को बहुत दूर दूर रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके निगल

स्वयंमलंश्रयेत् ॥ ८३ ॥ व्युत्सर्गस्थस्ययस्यात्रोन्नमनंचभवेन्मुनेः वह्वधोनमनं तस्य दोषोलम्बोत्तराह्वयः ॥ ८४ ॥ व्युत्सर्गस्थोत्र यः पश्येत्स्वस्तनौ चंचलोदृशा । तस्य दोषः प्रजायेत स्तनदृष्टिसमाह्वयः ॥ ८५ ॥ कायोत्सर्गस्थ एवोप्यपार्श्वेपश्यति यो दृशा । काकवत्तस्य जायेतदोषो वायससंज्ञकः ॥ ८६ ॥ कायोत्सर्गं विधत्ते चाश्ववत्खलिन-पीडितः । यो दन्तकटकंमस्तकं तस्यखलिनोमलः ॥ ८७ ॥ ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठेद्युगपीडितवृषादिवत् । कायोत्सर्गेण तस्यास्ति युगदोषोविरूपकः ॥ ८८ ॥ कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वातिष्ठति यो मुनिः । व्युत्सर्गेण भवेत्तस्य कपित्थ-दोषएवहि ॥ ८९ ॥ कायोत्सर्गान्वितो यः शिरः प्रकंपयतिस्फुटम् । शिरः प्रकंपितं दोषं लभते समलप्रदम् ॥ ९० ॥ करोति चंचलत्वेन कायोत्सर्गस्थसंयतः । मुखनासाविकारं यस्तस्यदोषोहिमूकितः ॥ ९१ ॥ कायोत्सर्ग युतो योऽत्र

नाम का दोष लगता है ॥८३॥ कायोत्सर्ग करते समय जो मुनि ऊंचे को अधिक तन जाय अथवा नीचे को नव जाय उसके लंबोत्तर नाम का दोष लगता है ॥८४॥ जो चंचल मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों से अपने स्तनों को देखता है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष लगता है ॥८५॥ कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि कौए के समान इधर उधर दोनों बगलों की ओर देखता है उसके वायस नाम का दोष लगता है ॥८६॥ लगाम से दुःखी हुए घोड़े के समान जो मुनि मस्तक को हिलाता हुआ और दाँतों को कट कटाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन नाम का दोष होता है ॥८७॥ जिस प्रकार जुआ से दुःखी हुआ बैल अपनी गर्दन को लंबी कर देता है उसी प्रकार जो मुनि अपनी गर्दन को लंबी कर कायोत्सर्ग करता है उसके युग नाम का अशुभ दोष होता है ॥८८॥ जो मुनि कैथ के समान अपनी मुट्ठियों को बाँध कर कायोत्सर्ग करता है उसके कपित्थ नाम का दोष लगता है ॥८९॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ शिर को हिलाता जाता है उसके शिरःप्रकंपित नाम का मल उत्पन्न करने वाला दोष लगता है ॥९०॥ जो मुनि अपनी चंचलता से कायोत्सर्ग करता हुआ भी मुख वा नासिका में विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूकित नाम का दोष लगता है ॥९१॥ कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि हाथ पैर वा अंगुली से विकार उत्पन्न करता रहता है उसके अंगुलि नाम का दोष लगता

विकार कुरुतेयतिः । हस्तपादंगुलोनामंगुलिदोषं लभेत सः ॥ ६२ ॥ व्युत्सर्गस्थोयमी नेत्रे भ्रूविकारं तनोति यः । नर्तनं वांगुलीनां पादयोः सभ्रूविकारभाक् ॥ ६३ ॥ सुरापायीव यो घूर्णमानास्तिष्ठतिसयमी । व्युत्सर्गे वारुणीपायी दोषस्तस्य चलात्मनः ॥ ६४ ॥ व्युत्सर्गस्थः प्रपश्येद्यो नेत्राभ्यां हि दिशोदश । लभते दश दोषान् स दिगालोकन-सञ्ज्ञकान् ॥ ६५ ॥ कायोत्सर्गेणसयुक्त. स्वग्रीवोन्नमनंहि यः । करोति तस्य दोषः स्याद्ग्रीवोन्नमन नामकः ॥६६॥ कायोत्सर्गा कितो यः प्रणमनं कुरुतेयति । तस्यप्रणमनाख्योस्ति दोषो दोषकरोऽशुभः ॥ ६७ ॥ व्युत्सर्गालंकृतोयत्र निष्ठीवन करोति च. तथा षड्वारण तस्यदोषो निष्ठीवनाह्वयः ॥ ६८ ॥ कायोत्सर्गयुत. कुर्याच्चपलत्वेन योमुनिः । स्वशरीरपरामर्श सोंगामर्शाख्यदोषवान् ॥ ६६ ॥ एते दोषाःप्रयत्नेन द्वात्रिंशत्सख्यकाः सदा । योगशुध्या परि-त्याज्याः कायोत्सर्गस्थसंयतैः ॥ २०० ॥ यतोमीभिर्विनिर्मुक्त दोष. सर्वै प्रकुर्वंत । व्युत्सर्गं प्रकटीकृत्य ये सामार्थ्यं

है ॥६२॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों में वा भौंहों में विकार उत्पन्न करता है अथवा अपने पैर की अंगुलियों को नचाता है उसको भ्रूविकार नाम का दोष लगता है ॥६३॥ जो मुनि मद्य पीने वाले मनुष्य के समान लहरें लेता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के वारुणीपायी नाम का दोष लगता है ॥६४॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपने नेत्रों से दशों दिशाओं की ओर देखता है उसके दश दिगालोकन नाम के दश दोष लगते हैं। भावार्थ—एक एक दिशा को देखना एक एक दोष है। इस प्रकार दशों दिशाओं को देखना दश दोष हैं ॥६५॥ जो मुनि अपनी गर्दन को ऊंची कर कायोत्सर्ग करता है उसके ग्रीवोन्नमन नाम का दोष लगता है ॥६६॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी नीचे की ओर झुक जाता है उसके अनेक दोष उत्पन्न करने वाला प्रणमन नाम का अशुभ दोष होता है ॥६७॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है अथवा खकारता रहता है उसके निष्ठीवन नाम का दोष होता है ॥६८॥ जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी चंचल होने के कारण अपने शरीर को स्पर्श करता रहता है उसके अंगमर्श नाम का दोष लगता है ॥६६॥ कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनियों को अपने मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक प्रयत्नपूर्वक इन बत्तीस दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥२००॥ क्योंकि जो मुनि अपने पराक्रम वा सामर्थ्य को

पराक्रमम् ॥ १ ॥ तेषां नश्यन्ति चत्वारि घातिकर्माणि जायते । केवलावगमं मर्वैर्गुणैः सहाचिरेण भोः ॥२॥ विज्ञायेति फलं चास्य शक्ता वा मन्दशक्तयः । कुर्वन्तु प्रत्यहं कायोत्सर्गं सर्वार्थसिद्धये ॥ ३ ॥ यतोत्र निजशक्त्या स क्रियमाणोजगत्सताम् । भवत्येव न संदेहो महाफलनिबंधनः । ॥ ४ ॥ समर्था बलिनो यत्र प्रमादेन न कुर्वते । कायोत्सर्गं भवेत्तेषां व्यर्थं जंघाबलादिकम् ॥ ५ ॥ मत्वेति कर्मनाशाय कायोत्सर्गो भवापहः । कर्तव्यः प्रत्यहं धीरैः प्रमादेन विनाखिलः ॥ ६ ॥ विश्वाग्र्यं धर्ममूलं सकलविधिहरं तीर्थनाथैर्निषेव्यं मुक्तिश्रीदानदक्षं गुणमणिजलधिं धीरवीरैकगम्यम् । दुःखघ्नं शर्मखानिं कुरुत सुविधिना ध्यानमालंब्य दक्षाः कायोत्सर्गं शिवाप्त्यैवपुषि जगतिवा-निर्ममत्वं विधाय ॥ ७ ॥ अवश्यकरणादेते प्रोक्ता आवश्यका जिनैः । सर्वे सार्थक नामनो योगिनां योगकारिणः ॥८॥

प्रगट कर इन समस्त दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही अनंत चतुष्टय आदि गुणों के साथ साथ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥१–२॥ इस कायोत्सर्ग का ऐसा फल समझ कर समर्थ मुनियों को व कमसमर्थ मुनियों को भी अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥३॥ क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार किया हुआ कायोत्सर्ग जगत के सज्जन पुरुषों को महा फल का कारण होता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥४॥ जो मुनि समर्थ और बलवान होकर भी प्रमाद के कारण कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनकी जंघा का बल व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥५॥ यही समझ कर धीर वीर पुरुषों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये प्रमाद को छोड़ कर संसार को नाश करने वाला यह कायोत्सर्ग प्रतिदिन करना चाहिये ॥६॥ यह कायोत्सर्ग संसारभर में मुख्य है, धर्म का मूल है, समस्त कर्मों को नाश करने वाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव भी इसको धारण करते हैं, यह मोक्षरूपी लक्ष्मी के देने में अत्यंत चतुर है गुणरूपी मणियों को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसको धारण कर सकते हैं, यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला है और कल्याण की खानि है । ऐसा यह कायोत्सर्ग चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने शरीर से तथा संसार से ममत्व छोड़ कर और शुभ ध्यान को आलंबन कर विधि पूर्वक अवश्य करना चाहिये ॥७॥ इस प्रकार जो छह आव-श्यक कहे हैं वे मुनियों को अवश्य करने चाहिये इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव इनको आवश्यक कहते हैं ।

अथवामुक्तिरामावश्यवशीकरणा बुधैः । आवश्यका महान्त. पडुक्ताः सर्वार्थसाधकाः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वेति परिपूर्णानि दक्षैरावश्यकानि पट् । काले काले विधेयानिमहाफलकराण्यपि ॥ १० ॥ यथा धान्यानि सर्वाणि काले काले कृतानि च । महाफलप्रदानि स्यु सामग्र्यात्र कुटविनाम् ॥ ११ ॥ तथावश्यक कृत्स्नानियोग्यकालेकृतान्यपि । इन्द्राहमिंद्रतीर्थेशादिश्रीप्रदानि योगिनाम ॥ १२ ॥ अकाले कृतसस्यानि यथा नाभीप्टसिद्धये । कृतान्यावश्यकान्यत्रसामग्र्यादिविनातथा ॥ १३ ॥ विज्ञायेति विचारज्ञा पडावश्यकमजसा । कालेकालेप्रकुर्वन्तु त्रिशुध्या शिवभूतये ॥ १४ ॥ सर्वसिद्धांतसारार्थमादाय श्रीगणाधिपै । रचितानि मुनीना च विशुध्यै धर्मसिद्धये ॥ १५ ॥ यान्यावश्यकसाराणि तानि योगतर्धार्यति । हीनानि कुरुते मृढ शास्त्रपाठादिलोभत ॥ १६ ॥ तस्मात्पलायते

ये सब आवश्यक सार्थक नाम को धारण करते हैं और योगियों को ध्यान उत्पन्न करने वाले हैं ॥८॥ अथवा इनके द्वारा मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य ही वश में हो जाती है इसलिये बुद्धिमान लोग इनको आवश्यक कहते हैं। ये छहों आवश्यक महान् हैं और समस्त अर्थों को सिद्ध करने वाले हैं ॥९॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को अपने अपने समय पर महाफल देने वाले ये छहों आवश्यक पूर्ण रूप से पालन करने चाहिये ॥१०॥ जिस प्रकार समय समय पर उत्पन्न किए हुए धान्य कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सामग्री के साथ महा फल देने वाले होते हैं-उसी प्रकार योग्य समय पर किए हुए समस्त आवश्यक भी मुनियों को इन्द्र अहमिंद्र और तीर्थंकर आदि के समस्त पद और उनकी लक्ष्मी को देने वाले होते हैं ॥११-१२॥ जिस प्रकार असमय पर उत्पन्न किये हुये धान्यों से अपनी इष्ट सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार सामग्री आदि के विना किए हुए आवश्यकों से भी मुनियों को इष्ट सिद्ध नहीं होती ॥१३॥ यह समझ कर विचारवान् पुरुषों को मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मन वचन काय को शुद्ध कर समयानुसार छहों आवश्यक करने चाहिये ॥१४॥ गणधर देवों ने धर्म की सिद्धि के लिए और मुनियों के चारित्र को शुद्ध रखने के लिये समस्त सिद्धांत के सारभूत अर्थ को लेकर ये आवश्यक बतलाये हैं ॥१५॥ जो बुद्धि रहित मूर्ख मुनि शास्त्रों के पठन पाठन के लोभ से, सारभूत समस्त, आवश्यकों को पूर्णरूप से नहीं करता है कम करता है उसकी बुद्धि दूर भाग जाती है मूर्खता उस पर सवार हो जाती है

बुद्धिर्जडत्व तस्यढौकते । इहामुत्रसुखंनश्येद् व्रतादिसद्गुणैः समम् ॥ १७ ॥ मत्वेति योगिनः पूर्वं कृत्वावश्यकमजसा । ततः पठन्तु शास्त्रादीन् यैः स्युः सर्वार्थसिद्धयः ॥ १८ ॥ विनात्रावश्यकैर्यो धीरावासमीहतेशिवे । कायक्लेशेन गंतुं स मेर्वग्रं चरणादृते ॥ १९ ॥ दंतभग्नो यथा हस्तीदंष्ट्राहीनोमृगाधिपः । त्यक्तधर्मोजनो जातु न क्षमः कार्यसाधने ॥ २० ॥ तथावश्यकहीनश्च यतिः कचिन्नजायते । कुशली वा समर्थोत्रस्वर्गमोक्षादिसाधने ॥२१॥ राज्यागरहितो यद्वन्नारीन्हतुं क्षमो नृपः । कर्मारातीन् मुनिस्तद्वदावश्यक वलातिगः ॥ २२ ॥ मत्वेति सर्वयत्नेन रत्नत्रयविशुद्धये । सम्पूर्णाने सदा दक्षाः कुर्वन्त्वावश्यकानिषट् ॥२३॥ विश्वाच्यान् विश्ववंद्यान् शिवसुखजनकान्

और व्रत आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ इस लोक और परलोक दोनों लोकों के उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं ॥१६–१७॥ यही समझ कर योगी पुरुषों को सबसे पहले आवश्यक करने चाहिये और फिर शास्त्रादिक का पठन पाठन करना चाहिये। ऐसा करने से ही समस्त पदार्थों की सिद्ध होती है ॥१८॥ जो धीर वीर रहित मुनि विना आवश्यकों के केवल काय क्लेश के द्वारा मोक्ष चाहते हैं। वे बिना पैरों के मेरु पर्वत पर चढना चाहते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार टूटे दाँत वाला हाथी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता बिना डाढ़ों के सिह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्य भी कभी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ॥२०॥ इसी प्रकार आवश्यक रहित मुनि भी स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने में कभी कुशल वा समर्थ नही हो सकते ॥२१॥ जिस प्रकार राज्य के अंगों से रहित राजा अपने शत्रुओं को नष्ट नहीं कर सकता उसी प्रकार आवश्यक रूपी वल से रहित मुनि भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नाश नहीं कर सकता ॥२२॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को अपना रत्नत्रय विशुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त छहों आवश्यक पालन करने चाहिये ॥२३॥ ये छहों आवश्यक तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वंदनीय हैं, मोक्ष सुख को देने वाले हैं, समस्त दोषरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव वा गणधर देव आदि संसार के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं, इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्म के स्वरूप को कहने वाले हैं, पापरहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं और श्रुतज्ञान के समस्त महा अर्थों से भरे हुए

सर्वदोषारिहन्तन् सेव्यान् लाकोत्तमार्थैर्गणधरजिनपैः धर्मवार्द्धीननघ्नन् पूतान्सारान् गुणांकान्श्रुतसकलमहार्थैर्वि–वर्द्धांस्त्रिशुध्या पूर्णान्नित्यंप्रयत्नात्कुरुतसुमुनयः षड्विधावश्यकान् भोः ॥ २४ ॥ त्रयोदशक्रियाणां हि मध्ये येत्रोदिते जिनैः । निषिद्धिकासिके सारे धुनातेत्र दिशाम्यहम् ॥ २५ ॥ भवेद्योत्र निषिद्धात्मा महायोगीजितेन्द्रियः । कषा–यांगममत्वादौ मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २६ ॥ प्रोक्ता महामुनेस्तस्यसार्थापूज्यानिषिद्धिका । तीर्थभूता जगद्वंद्या धर्मखानिर्गणाधिपैः ॥ २७ ॥ अपरस्यानिषिद्धस्य योगिनश्चंचलात्मनः । निषिद्धिकाभिधः शब्दो भवत्येवात्र केवलम् ॥ २८ ॥ इहामुत्राक्षभोगादौख्यातिपूजादि कीर्तिषु । सर्वाशाभ्योविनिर्युक्तो मुक्तिकांक्षी मुनीश्वरः ॥ २९ ॥ योत्र तस्ययतीन्द्रस्यासिको संज्ञा जिनोदिता । आकांक्षिणोऽपरस्यासिका शब्दः केवलंभवेत् ॥ ३० ॥ यथायोग्य–मिमेयुक्त्यै निषिद्धिकासिकेशुभे । त्रयोदशक्रियासिध्यै क्रियते वचसा बुधैः ॥ ३१ ॥ इत्यावश्यकमाख्यायतीनां

हैं। इसलिये हे मुनिराजो मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न से इन छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से सदा पालन करो ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने तेरह क्रियाओं में निषिद्धिका और आसिका ये सारभूत दो क्रियाएं बतलाई हैं आगे इन्हीं दोनों का स्वरूप कहते हैं ॥२५॥ जो जितेन्द्रिय महायोगी कषाय और शरीर के ममत्व आदि में मन वचन काय के तीनों योगों से निषिद्ध स्वरूप रहते हैं कषाय और शरीर ममत्व नहीं करते उन महा मुनियों के पूज्य और सार्थक निषिद्धका कही जाती है। यह निषिद्धिका तीर्थभूत है जगतवंद्य है और धर्म की खानि है ऐसा गणधरदेवों ने कहा है ॥२६–२७॥ जिन मुनियों के मन वचन काय चंचल हैं और जिनके कषाय और ममत्व घटे नहीं हैं उनके लिये निषिद्धिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥२८॥ जो मुनिराज इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी इन्द्रिय भोगों में तथा ख्याति पूजा और कीर्ति में समस्त आशाओं से रहित हैं और जो केवल मोक्ष की इच्छा रखते हैं उन मुनिराजों की आसिका संज्ञा भगवान जिनेन्द्रदेव ने बतलाई है। तथा जो मुनि भोगादिकों की इच्छा करते हैं अथवा ख्याति पूजा वा कीर्ति की इच्छा करते हैं उनके लिये आसिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥२९–३०॥ बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तेरह क्रियाओं को सिद्ध करने के लिये यथायोग्य रीति से वचन पूर्वक निषि–द्धिका और आसिका ये दोनों क्रियाएं करनी चाहिये ॥३१॥ इस प्रकार यतियों का हित करने के

हितसिद्धये । शेषमूलगुणान् वक्ष्ये लोचादिप्रमुखानहम् ॥ ३२ ॥ हस्तेनमस्तके कूंचश्मश्रूणां यद्विधीयते । उत्पाटनं विना क्लेशं सद्भिः लोचः स उच्यते ॥ ३३ ॥ क्रियते यो द्विमासाभ्यां लोचःउत्कृष्ट एव सः । त्रिमासैर्मध्यमस्तुर्यमासैर्जघन्य एव च ॥ ३४ ॥ तुर्यमासान्तरे लोचः कर्तव्यो मुनिभिः सदा । रागक्लेशादिकोटीभिः पंचमेमासि जातु न ॥ ३५ ॥ लोचेन प्रकट वीर्यं जिनलिंगं च योगिनाम् । अहिंसाव्रत मत्यर्थं कायक्लेशं तपो भवेत् ॥३६॥ तथास्य करणेनैव वैराग्यं वर्द्धतेतराम् । हीयते रागशत्रुश्चांगाद्यैर्निर्ममता परा ॥ ३७ ॥ इत्यादिगुण वृध्यर्थं योगिभिर्लोचएव हि । उपवासदिने कार्या न जातुमुंडनादिक ॥ ३८ ॥ यतो न काकनीमात्रः संग्रहोस्तिमहात्मनाम् । येनात्र कार्यते चौरं तस्माल्लोचः कृतोमहान् ॥ ३९ ॥ हिंसाहेतुभयाद्यस्मास्त्रमात्रं न चाश्रितम् । मुनिभिःपापभीतैर्यै

लिये आवश्यकों का स्वरूप कहा अब आगे केशलोंच आदि अन्य मूल गुणों को कहते हैं ॥३२॥ मुनिराज जो बिना किसी क्लेश के अपने हाथ से ही मस्तक के तथा डाढ़ी मूछों के बाल उखाड़ डालते हैं उसको सज्जन पुरुष लोच कहते हैं ॥३३॥ जो लोच दो महीने में किया जाता है वह उत्कृष्ट कहलाता है, जो तीन महीने में किया जाता है वह मध्यम कहलाता है और जो चार महीने में किया जाता है वह जघन्य कहलाता है ॥३४॥ मुनियों को चौथे महीने के भीतर ही लोच कर लेना चाहिये । करोड़ों रोग वा क्लेश होने पर भी पाँचवें महीने में लोच नहीं करना चाहिये ॥३५॥ केश लोच करने से मुनियों की सामर्थ्य प्रगट होती है जिनलिंग प्रगट होता है अहिंसा व्रत की वृद्धि होती है और कायक्लेश नाम का तपश्चरण होता है ॥३६॥ इसके सिवाय इस केश लोच के करने से वैराग्य की वृद्धि होती है, राग रूप शत्रु नष्ट होता है और शरीर से होने वाले निर्ममत्व की अत्यंत वृद्धि होती है ॥३७॥ इस प्रकार अनेक गुणों की वृद्धि करने के लिये मुनियों को उपवास के दिन लोच ही करना चाहिये उन्हें मुंडन आदि कभी नहीं करना चाहिये ॥३८॥ इसका भी कारण यह है कि महात्मा मुनियों के पास सलाई मात्र भी परिग्रह नहीं होता जिससे वह चौर कर ले इसीलिये मुनियों को लोच करना ही सर्वोत्कृष्ट माना है ॥३९॥ कोई भी अस्त्र रखना हिंसा का कारण है अतएव पापों से डरने वाले मुनि हिंसा के हेतु के भय से कोई अस्त्र नहीं रखते । इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए

तेषां लोचोजिनैर्मतः ॥ ४० ॥ इतिगुणमणिखानिं सर्वतीर्थेशसेव्यं मुनिवरगतिहेतुं सत्तपो धर्मबीजम् । सुरशिव–गतिमार्गं मुक्तिकामाः कुरुध्वं दुरिततिमिर भानुं लोचमात्मादिशुध्यै ॥ ४१ ॥ वस्त्रेणाजिनवल्काभ्यां रोमपत्रतृणादिभिः पट्टकूलेन वान्यैश्च सर्वैरावरणैः परैः । ॥ ४२ ॥ संस्कारैर्वर्जित जातरूप यद्धार्यते भुवि । सर्वदामुक्तिकामैस्तदचे–लकत्वमुच्यते ॥ ४३ ॥ इदमेव जगत्पूज्य मोक्षमार्गप्रदीपकम् । गृहीतं श्रीजिनेन्द्राद्यैर्वंद्य देवनराधिपै. ॥ ४४ ॥ यतः पुरुषसिंहा ये जिनचक्रिबलाद्यः । एतल्लिगं गृहीतं तैर्धीरैर्विश्वार्थसिद्धये ॥ ४५ ॥ कातरा ये निराकर्तुमक्षमा हि कुलगिनः । कामादिकविकारांस्तैर्गृहीतं चीवरादिकम् ॥ ४६ ॥ जायन्ते जैननिर्ग्रंथरूपेण त्रिजगच्छ्रियः ।

लोच ही बतलाया है ॥४०॥ यह केश लोच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियों की खानि है, समस्त तीर्थंकर इसकी सेवा करते हैं अर्थात् लोच करते हैं, यह मुनियों को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है, मोक्ष वा स्वर्गगति का मार्ग है, और पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है। ऐसा यह लोच मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये अवश्य करना चाहिये ॥४१॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि न तो वस्त्र धारण करते हैं न चमड़े से शरीर ढकते हैं न वृक्षों की छाल पहनते हैं, न ऊनी वस्त्र पहनते हैं न पत्ते तृण आदि से शरीर ढकते हैं न रेशमी वस्त्र धारण करते हैं तथा और भी किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करते। समस्त संस्कारों से रहित उत्पन्न होने के समय जैसा इसका नग्न रूप धारण करते हैं इसको अचेलकत्व मूल गुण कहते हैं ॥४२–४३॥ यह नग्न रूप धारण करना ही जगत में पूज्य है मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, भगवान जिनेन्द्रदेव भी इसको धारण करते हैं और इसीलिये यह देवेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा भी वंदनीय है ॥४४॥ क्योंकि तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र आदि जितने उत्तम पुरुष हुए हैं उन समस्त धीर वीर पुरुषों ने अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये यह जिनलिंग धारण किया है ॥४५॥ जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं शूरवीर नहीं ॥४६॥ इस जिनलिंग वा निर्ग्रंथ अवस्था से सज्जन पुरुषों को तीनों लोकों

शक्रचक्रिजिनेशादिपदान्यचिरतः सताम् ॥ ४७ ॥ तथा नैर्ग्रंथ्यवेषेण रत्नत्रितयभागिनाम् । किंकरा इवसेवन्ते पादपद्मान् सुरेश्वराः ॥ ४८ ॥ अहो मुक्तिवधूरेत्य दत्तेत्रालिंगनं मुदा । दिगलंकार भाजां का कथादेवादियोषिताम् ॥ ४९ ॥ ब्रह्मचर्यं परं मन्ये तेषां ब्रह्ममयात्मनाम् । सर्वमाचरणं त्यक्तं यै र्नांगावृतदहिनाम् ॥ ५० ॥ नग्ना अपि न तेनग्ना ये ब्रह्मांशुक भूषिताः । वस्त्रावृताश्च ते नग्ना ये ब्रह्मव्रतदूरगाः ॥ ५१ ॥ नग्नत्वे ये गुणा व्यक्ता ब्रह्मचर्यप्रदीपकाः। वस्त्रावृते च ते सर्वे दोषाः स्युर्ब्रह्मघातकाः ॥ ५२ ॥ तथा कौपीनमात्रेपि सतिभोगे भवन्त्यपि । योगिनां वहवो दोषाश्चिन्तादुर्ध्यानहेतवः ॥ ५३ ॥ कौपीनेपि क्वचिन्नष्टे चित्त व्याकुलता भवेत् । तयो दुर्ध्यानमन्यस्य प्रार्थना विश्वनिंदिता ॥ ५४ ॥ इत्यादि चेलसंगस्य ज्ञात्वा दोषान् वहून्विदः । अचेलस्य गुणान् सारान्

की लक्ष्मी प्राप्त होती है और इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं ॥४७॥ इसके सिवाय इस निर्ग्रंथ अवस्था को धारण करने से रत्नत्रय धारण करने वाले मुनियों के के चरण कमलों को इन्द्र भी आकर किंकर के समान सेवा करते हैं ॥४८॥ आश्चर्य तो यह है कि दिशा रूपी वस्त्र अलंकार धारण करने वाले मुनियों को मोक्ष रूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिंगन करती है फिर देवियों की तो वात ही क्या है ॥४९॥ जिन्होंने अपने वस्त्र लंगोटी आदि समस्त आवरणों का त्याग कर दिया है जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण नहीं हैं परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं उन्हीं का ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिये ॥५०॥ जो मुनि ब्रह्मचर्य रूपी वस्त्रों से सुशोभित हैं वे नग्न होते हुये भी नग्न नहीं कहलाते। तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर रहते हैं और वस्त्रावरण धारण करते हैं वे नग्न न होने पर नग्न वा नंगे कहलाते हैं ॥५१॥ नग्न अवस्था धारण करने से ब्रह्मचर्य को दिखलाने वाले दीपक के समान जो जो गुण हैं वे सब वस्त्र पहन लेने पर ब्रह्मचर्य को घात करने वाले दोष कहलाते हैं ॥५२॥ यदि कोपीन मात्र का भी उपयोग किया जाय तो भी योगियों को उससे चिंता और अशुभध्यान के कारण ऐसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं ॥५३॥ यदि कहीं वह कोपीन नष्ट हो जाय तो चित्त में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है और आर्तध्यान होने लगता है तथा संसार में अत्यंत निंदनीय ऐसी उसके लिये प्रार्थना दूसरों से करनी पड़ती है ॥५४॥ इस प्रकार इस वस्त्र धारण करने

धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥ ५५ ॥ दुर्ध्यानहानये नित्य कुर्वन्ति श्रीजिनादय॰ । निर्दोष स्वाखिलांगे हो दिगष्टावरणं परम् ॥ ५६ ॥ यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च । तावन्न लभते मोक्षं काकथापरयोगिनाम् ॥ ५७ ॥ मत्वेति मुक्ति कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमंजसा । कलंकमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥ ५८ ॥ असमगुण निधानंमुक्तिधामाग्रमार्गं, जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्यादिखानिम् । त्रिभुवनपतिवंद्य धीधना॰ स्वीकुरुध्वं शुभशिव–गतयेत्रा चेलकत्वं त्रिशुध्या ॥ ५६ ॥ स्नानोद्वर्तनसेकादीन मुखप्रक्षालनादिकान् । संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद जल्लमलादिभि॰ ॥ ६० ॥ लिप्तांगं धार्यते यच्च स्वान्तः शुध्यै विशुद्धये । तदस्नान व्रतं प्रोक्तंजिनैरंतर्मलाप–

के अनेक दोष समझ कर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझ कर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानों को दूर करने के लिए अपने समस्त शरीर पर सब दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥५५–५६॥ इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है॥५७॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये॥५८॥ यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधर देव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये ॥५६॥ जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिए और आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उबटन, शरीर का सिंचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करने वाला अस्नान नाम का व्रत कहते हैं ॥६०–६१॥ इस अस्नान नाम के उत्तम व्रत

हम् ॥ ६१ ॥ अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः । जायन्तेयमिनां नूनं शुद्धयोघमलान्तकाः ॥ ६२ ॥ रागद्वेषा-विमोहानां हानयश्च व्रतादयः । अहिंसादिक सम्पूर्ण वैराग्यादिविवृद्धयः ॥ ६३ ॥ यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां परिक्षयः । तेन पापं परंरागो महान् ब्रह्मादिघातकः ॥ ६४ ॥ ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम् । रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण नाशिनः ॥ ६५ ॥ अस्नान व्रतभूपानामन्तःशुद्धिः पराभवेत् । रागादि त्यजनैः कर्म नाशजामुक्तिमातृका ॥ ६६ ॥ मद्यकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यादृशः स्नानैरन्तःपापमलीमसाः ॥ ६७ ॥ घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्त. शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ॥ ६८ ॥ यदि स्नानेन शुद्धिस्स्यात्तर्हिवंद्या विशुद्धये । मूढैर्मत्स्यादयो व्याधा नान्तःशुद्धाश्चसज्जनाः ॥६६॥

से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं। इस अस्नान व्रत से राग द्वेष मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥६२–६३॥ इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवों का घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करने वाला महा राग प्रगट होता है ॥६४॥ अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों को नाश करने वाले पापकर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ॥६५॥ जो मुनि अस्नान व्रत से सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करने वाली और मोक्ष को देने वाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की शुद्धि प्रगट होती है ॥६६॥ जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जल से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापों से महा मलिन मिथ्या दृष्टी भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥६७॥ जिस प्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी विना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यंत शुद्धता को धारण करने वाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ॥६८॥ यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषों को अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की वा धीवरों की वंदना करनी चाहिये अंतरंग में शुद्धता धारण करने वाले सज्जनों

अत्यंत मलिनं कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्वं जलादृते ॥ ७० ॥ तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम् । दक्षैस्त्यक्तं महामूढैः स्वीकृतं धर्मदूरगैः ॥ ७१ ॥ सप्तधातुमयेदेहे सर्वाशुचि कुटीरके । मन्यन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा न च ॥ ७२ ॥ इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वादोपान् स्नानभवान् बहून् । श्रयध्वं धीधनाः शुध्यै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ॥ ७३ ॥ रहितनिखिलदोषरागनिर्नाशहेतु मसमगुणसमुद्रं लोक नाथैकपूज्यम् जगतिपरपवित्रं शुद्धिदं पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ॥ ७४ ॥ संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री क्लीवादि-विवर्जिते । अल्पससरितेप्रासुकभूम्यादिक गोचरे ॥ ७५ ॥ एकपार्श्वधनुर्दंडादिशय्याभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमो-

---

की वंदना कभी नही करनी चाहिये ॥६९॥ देखो यह शरीर अत्यंत मलिन है इसलिये वह जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह अपनी आत्मा विना जल के स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ॥७०॥ इसलिये मुनियों के लिए जल से स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है। इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ॥७१॥ यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थों का घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किंतु उन्हें पशु समझना चाहिये ॥७२॥ इस प्रकार अस्नान व्रत के अनेक गुणों को समझ कर और स्नान से उत्पन्न होने वाले बहुत से दोषों को समझ कर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रत को ही स्वीकार करना चाहिये ॥७३॥ यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणों का समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भर में पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करने वाला है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नानव्रत को नित्य ही पालन करना चाहिये ॥७४॥ मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यंच स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक कर्वट से अथवा धनुष के समान पैर समेट कर वा डंडे के समान

त्थित्यै धराशयनमेवतत् ॥ ७६ ॥ व्रतेनानेन जायन्ते दृढं तुर्यंमहाव्रतम् । निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेगऊर्जितः ॥७७॥ मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तथा ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युते नृणाम् ॥ ७८ ॥ एषः सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः । विश्वपापकरीभूतोऽनेका नर्थादिसागरः ॥ ७९ ॥ मत्वेत्यल्पान्नपानाद्यैः काठिन्यैः शयनासनैः । निद्रा जयं प्रकुर्वीध्वं मुनींद्राः ध्यानसिद्धये ॥ ८० ॥ यतो निद्रापिशाचीं येऽधमा जेतुमिहाक्षमाः । ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः । विज्ञायेति न कर्तव्या निंद्रापापखनी कचिन् । दिवसे सति रोगादौ ध्यानिभि-र्ध्यान नाशिनी ॥८२॥ किन्तु मध्यविभागे च निशानां योगिनायकाः । आन्तमुहूर्तिकीं निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥८३ कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमश्रान्त्यादि हानये । न पूर्वे पश्चिमे यामे सति प्राणात्ययेपि भोः ॥ ८४ ॥ बुधजन परिसेव्यं

शयन करते हैं उसको भूमिशयन नाम का मूलगुण कहते है ॥७५–७६॥ इस भूमिशयन व्रत से ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यंत दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है ॥७७॥ कोमल शय्या पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ॥७८॥ समस्त प्रमादों में यह निद्रा नाम का प्रमाद ही प्रबल है। यह निद्रा नाम का प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥७९॥ यही समझ कर मुनियों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अन्न पान की मात्रा अत्यंत कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्या पर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि जो नीच इस निद्रा रूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और विना ध्यान की शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥८१॥ यही समझ कर ध्यान करने वाले मुनियों को रोगादिक के होने पर भी पाप की खानि और ध्यान को नाश करने वाली ऐसी निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिये ॥८२॥ इसलिये हे योगिराजो ! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिये शिला भूमि वा तखते पर रात्रि के मध्य भाग में अंतमुहूर्त तक निद्रा लो । रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत प्राण होने पर भी निद्रा

धर्मशुक्लादि मूलं, श्रमहरमपदोषं योगवीज गुणाब्धिम्। निहतमदनसर्पं निष्प्रमादत्वहेतुं, चितिशयनमतंद्रामुक्तये स्वीकुरुध्वम् ॥ ८५ ॥ स्वनखांगुलिपाषाणलेखिनीखर्परादिभि.। तृणत्वजादिकैर्यश्चदतानां मलसंचयः ॥ ८६ ॥ न निराक्रियते जातु वैराग्याय मुनीश्वरैः। अदंतवनमेवात्र तद्रागादिनिवारकम् ॥ ८७ ॥ अनेन वीतरागत्वाद्यो व्यक्तागुणा' सताम्। जायन्ते च प्रणश्यन्ति दोपा रागोदयोखिलाः ॥ ८८ ॥ मुखादिधोवनं दतघर्पणं ये वितन्वते अगसंस्कारमत्यर्थं तेपां रागोत्कटो भवेत् ॥ ८६ ॥ रागात्कामश्च कामेन व्रतभगोखिलोद्भूतः। तेन पापं महत्पापा न्मज्जन नरकाम्बुधौ ॥६०॥ मत्वेति यतयो नित्यं त्यजन्तु दूरतोखिलम्। मुखप्रक्षालनांगादिसंस्कारदन्तपावनम् ॥६१॥ शम यमदमसौधं वीतरागत्वमूल वरयतिगुण वार्द्धिं दुर्विकारादि दूरम्। सुरशिवगतिमार्गं त्यक्तसंगा अदतवन-

मत लो ॥८३–८४॥ इस भूमिशयन नाम के मूलगुण को विद्वान लोग धारण करते हैं, यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कारण है, परिश्रम को हरण करने वाला है, समस्त दोपों से रहित है, योगसाधन का कारण है, गुणों का समुद्र है, कामरूपी सर्प को नाश करने वाला है और प्रमाद को दूर करने का कारण है। इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तंद्रा दूर करने के लिये इस भूमिशयन व्रत को अवश्य धारण करना चाहिये ॥८५॥ मुनिराज अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए अपने नखों से, उंगली से, पत्थर से, कलम से, खप्पर से, तृण से वा छाल से दाँतों में इकट्ठे हुए मल को कभी दूर नहीं करते हैं उसको रागादिक को दूर करने वाला अदंतधावन नाम को मूलगुण कहते हैं ॥८६–८७॥ इस अदंतधावन व्रत से सज्जनों के वीतरागादिक गुण प्रगट हो जाते हैं तथा रागादिक समस्त दोप नष्ट हो जाते हैं ॥८८॥ जो पुरुप अपना मुख धोते हैं दंतधावन करते हैं और शरीर का खूब संस्कार करते हैं उनके उत्कट राग उत्पन्न होता है ॥८९॥ उस उत्कट राग से काम के विकार उत्पन्न होते हैं काम के विकारों से व्रतों का भंग होता है, समस्त व्रत भंग होने से महा पाप उत्पन्न होता है और उस महा पाप से इस जीव को नरकरूपी महासागर में डूबना पड़ता है ॥९०॥ यही समझ कर मुनियों को मुखप्रक्षालन करना, शरीर का संस्कार करना दंतधावन करना आदि सबका त्याग दूर से ही सदा के लिए कर देना चाहिये ॥९१॥ यह अदंतधावन नाम का गुण समतापरिणाम, यम नियम

मपगतदोषं शुद्धये हो भजन्तु ॥ ९२ ॥ स्वपादस्थापनोत्सृष्टपात्रादिजनाश्रिते । धरात्रिके विशुद्धेऽङ्घ्रीस्थापयित्वा-समौ बुधैः ॥९३॥ पाणिपात्रेण कुड्यादीननाश्रित्यान्यधामनि । अशनं भुज्यते शुद्धं यत्तत्स्यात्स्थिति भोजनम् ॥९४॥ स्थितिभोजनसारेण व्यक्तं वीर्यं प्रजायते । आहारगृद्धिहानिश्च जिह्वायाति वशं सताम् ॥ ९५ ॥ निविष्ट भोजने नैवाहारसंज्ञा च वर्द्धते । लांपट्यं रसनाक्षाणामिह वैषयिके सुखे ॥ ९६ ॥ कातरत्वं यतोमीषां प्रतिज्ञेमा परा सताम् । पाण्योः संयोजनं यावत्स्थिरौ पादौ ममस्थितौ ॥ ९७ ॥ तावद्गृह्णामि चाहारमन्यथानशनं परम् । इत्याद्यगुणसंसिध्यै स्थितिभोजनमूर्जितम् ॥ ९८ ॥ ज्ञात्वेति मुनिभिः सर्वं व्याधिक्लेशादि कोटिषु । प्राणनाशेपि

और इन्द्रिय दमन के रहने के लिये राजभवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियों के गुणों का समुद्र है, अशुभविकारों से सर्वथा रहित है स्वर्गमोक्ष का कारण है और समस्त दोषों से रहित है। इसलिए परिग्रह रहित मुनियों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए यह अदंतधावन नाम का गुण अवश्य धारण करना चाहिये ॥९२॥ अपने पैरों के रखने के बाद बची हुई भूमि में दाता वा वर्तन आदि आहार सामग्री के रखने की जगह हो ऐसी तीन प्रकार की विशुद्ध पृथ्वी पर अपने दोनों पैरों को समान स्थापन कर बुद्धिमान मुनियों को दूसरे के घर में जाकर दीवाल आदि के सहारे के विना खड़े होकर करपात्र में शुद्ध भोजन लेना चाहिए इसको स्थिति भोजन नाम का मूलगुण कहते हैं ॥९३–९४॥ इस सारभूत स्थिति भोजन से सज्जन पुरुषों की सामर्थ्य प्रगट होती है, आहार की लंपटता नष्ट होती है और जिह्वा इन्द्रिय वश में हो जाती है ॥९५॥ बैठ कर भोजन करने से आहार संज्ञा बढ़ती है और रसना इन्द्रिय से उत्पन्न हुए वैषयिक सुखों में अत्यंत लंपटता बढ़ जाती है ॥९६॥ इसके सिवाय बैठ कर भोजन करने में कातरता सिद्ध होती है। इसलिये सज्जन मुनियों की यह प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं और मेरे दोनों पैर खड़े होने के लिए स्थिर रह सकते हैं तभी तक मैं आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा उपवास धारण करूंगा। इस प्रकार के अनेक गुण प्रगट होने के लिए स्थिति भोजन नाम का उत्कृष्ट गुण बतलाया है ॥९७–९८॥ यही समझ कर मुनियों को करोड़ों व्याधि और क्लेश होने पर भी तथा प्राणों का नाश होने पर भी बैठ कर

न ग्राह्यमुपविष्टेन भोजनम् ॥ ९९ ॥ तिर्यक स्थितेन सुप्तेन वांगाधोनमनेन च। सुखाय वा प्रमादेनसंत्यज्य स्थितभोजनम् ॥ ३०० ॥ यतो मूलगुणस्यास्य भगेन पापमुल्वणम्। पापेन दुर्गतौ पुंसां भ्रमणं चायशश्चि-रम् ॥ ३०१ ॥ इति दोषं परिज्ञाय निविष्टै. सयतैः कचित्। जलपानं च पूगादि भक्षण न विधीयते ॥ २ ॥ यतः श्रीजिनदेवाद्याः षण्मासाब्दादिपारणे। कायस्थित्यैहि गृह्णन्ति स्थित्याहारं च नान्यथा ॥ ३ ॥ ज्ञात्वेतियमिनः कृत्वात्रान्तर निजपादयोः। चतुरगुलसखग्रान कुर्वन्तु स्थितिभोजनम् ॥ ४ ॥ परमगुणसमुद्र व्यक्त वीर्यादिकारं जिनमुनिगणसेव्य धीरयोगीन्द्रगम्यम्। रहितनिखिल दोष स्वाक्षजिह्वाग्निवारिदमिह कुरुत दक्षाभोजनं स्वोर्द्ध्व का-यम् ॥ ५ ॥ नाडीत्रिकविहायात्रोदयास्तमनकालयो.। एकद्वित्रमुहूर्तांना मध्येयद्भोजनं भुवि ॥ ६ ॥ क्रियतेमुनिभि-

भोजन कभी नहीं करना चाहिये ॥९९॥ जो मुनि टेढ़ी रीति से खड़े होकर आहार लेता है वा खड़े ही खड़े सोता हुआ आहार लेता है वा अपने शरीर को नीचा नवा कर आहार लेता है अथवा सुख के लिये वा प्रमाद के कारण खड़े होकर आहार नहीं करता तो उसका यह मूलगुण भंग हो जाता है। मूलगुण भंग होने से महा पाप उत्पन्न होता है तथा महा पाप उत्पन्न होनें से इस मनुष्य को दुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, तथा चिरकाल तक उसका अपयश बना रहता है। इस प्रकार दोषों को समझ कर मुनियों को बैठ कर कभी भी जलपान वा सुपारी आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥३००—३०२॥ देखो तीर्थंकर परमदेव छह महीने वा एक वर्ष का उपवास कर के भी शरीर को स्थिर रखने के लिए खड़े होकर ही आहार लेते हैं ये बैठ कर कभी आहार नहीं लेते ॥३०३॥ यही समझ कर मुनियों को चार अंगुल का अंतर रख कर अपने दोनों पैरों से खड़े होना चाहिये और इस प्रकार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिये ॥४॥ यह स्थिति भोजन परम गुणों का समुद्र है, अपनी शक्ति को प्रगट करने वाला है, तीर्थंकर मुनिराज और गणधरदेव भी इसकी सेवा करते हैं, धीर वीर मुनि ही इस गुण को पालन कर सकते हैं, यह समस्त दोषों से रहित है और जिह्वा इन्द्रिय रूपी अग्नि को दमन करने के लिये मेघ के समान है। इसलिये चतुर पुरुषों को खड़े होकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये ॥५॥ मुनिराज सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी

योग्यकाले श्रावक सद्मनि । एकस्यांनिजवेलायामेक भुक्तं तदुच्यते ॥७॥ एकभक्तेन चान्नादेर्दुराशानाशमिच्छति । संतोषस्तपसासार्द्धं वर्द्धते योगिनां महान् ॥ ८ ॥ एकभक्तस्यभंगेन प्रणश्यत्यखिलाः गुणाः । तन्नाशतः परं पापं पापाद्दुःखंमहन्नृणाम् ॥ ९ ॥ मत्वेति संयतैरेक वेलां गोचरगोचराम् । मुक्त्वा पानादि न ग्राह्यं तीव्रदाह ज्वरादिषु ॥ १० ॥ विषयसफर जालं सत्तपोवृद्धिहेतु सुरगति शिवमार्गं चान्नसंज्ञादिदूरम् । श्रुतवनमहाध्यानां–गयोगादि कर्तृ भजत विगत कामा एकभक्तं शिवाय ॥ ११ ॥ एते मूलगुणाः सारा अष्टाविंशतिरूर्जिताः । तपो विश्वमहायोगाधारभूता जिनोदिताः ॥ १२ ॥ सर्वोत्तर गुणाप्त्यै गुणानां मूलहेतवः । प्राणान्तेपि न

पहले तक योग्य काल में श्रावक के घर जाकर एक ही बार एक मुहूर्त दो मुहूर्त वा तीन मुहूर्त के भीतर भीतर तक आहार लेते हैं उसको एक भुक्त नाम का मूलगुण कहते हैं ॥६–७॥ एकबार आहार करने से अन्नादिक की दुराशा नष्ट हो जाती है और योगियों का महान् संतोष तपश्चरण के साथ साथ वृद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ इस एक भक्त व्रत का भंग करने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं गुणों के नाश होने से पाप उत्पन्न होता है और उस पाप से मनुष्यों को महा दुःख भोगने पड़ते हैं ॥९॥ यही समझ कर मुनियों को तीव्र दाह वा ज्वर आदि के होने पर भी आहार के योग्य ऐसे एक समय को छोड़ कर दूसरी बार कभी जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१०॥ यह एक भुक्त व्रत विषयरूपी मछलियों के लिये जाल है, श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धि का कारण है स्वर्ग मोक्ष का मार्ग है आहार संज्ञा से दूर है और श्रुतज्ञान तथा महाध्यान के अंगभूत योग को उत्पन्न करने वाला है। इसलिए इच्छाओं का त्याग करने वाले तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस एक भुक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ॥११॥ ये अट्ठाईस मूलगुण सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि समस्त महा योगों के आधारभूत बतलाये हैं ॥१२॥ समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिये ये गुण मूलरूप हैं मूल कारण हैं और समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं इसलिए बुद्धिमानों को कंठगत प्राण होने पर भी इनका

मोक्तव्या बुधैः सर्वार्थसिद्धिदाः ॥ १३ ॥ कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीनाः मूलगुणैःसताम् । परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाङ्घ्रिपा. ॥ १४ ॥ येत्रोत्तरगुणाप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान् । ते करांगुलिकोट्यर्थं छिदन्ति स्वशिरः शठाः ॥ १५ ॥ इमान्मूलगुणान्सर्वान् त्रिजगच्छ्रीसुखप्रदान् । साक्षी कृत्य गृहीत्वा जितसंघश्रुतसद्गुरून् ॥ १६ ॥ त्यजन्ति ते लभन्तेत्र दुःख वाचामगोचरम् । अमुत्र श्वभ्रगत्यादौ व्रतभगोत्थपापतः ॥ १७ ॥ इहैव चोत्तमाचार त्यक्तानां दुर्धियां बुधैः । विधीयतेपमानं च सवत्राहो शुनामिव ॥ १८ ॥ मत्वेति यमिनो नित्यं सर्वयत्नेन सर्वथा । सर्वत्र पालयन्त्वत्र विश्वान्मूलगुणान्परान् ॥ १९ ॥ शशोकनिर्मलान्सारान् स्वप्नेपि मा त्यजतु च । घोरोपसर्ग–रोगाद्यैः पक्षमासाद्विपारणे ॥ २० ॥ तथामूलगुणानां च न कर्तव्यो ह्यतिक्रमः । व्यति क्रमोप्यतीचारो नाचारः

त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥१३॥ जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कोई किसी प्रकार का फल नहीं लगता उसी प्रकार सज्जनों के मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देने वाले नहीं हो सकते ॥१४॥ जो मूर्ख उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे लोग अपने हाथ की करोड़ों उंगलियाँ बढ़ाने के लिए अपने मस्तक को काट डालते हैं ॥१५॥ ये मूलगुण तीनों जगत की लक्ष्मी और समस्त सुख देने वाले हैं ऐसे इन मूलगुणों को भगवान अरहंतदेव, संघ, श्रुत और सद्गुणों की साक्षी पूर्वक ग्रहण कर के जो छोड़ देते हैं वे व्रत भंग होने के कारण उत्पन्न हुए पापों से वाणी के अगोचर ऐसे महा दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादिक दुर्गतियों में महा दुःख भोगते हैं ॥१६–१७॥ जो मूर्ख लोग उत्तम आचरणों का त्याग कर देते हैं उनके कुत्ते के समान अपमान सर्वत्र बुद्धिमान लोग करते हैं ॥१८॥ यही समझ कर मुनियों को सर्वोत्कृष्ट ये समस्त मूलगुण पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र सर्वथा सदा पालन करते रहना चाहिये ॥१९॥ ये मूलगुण चन्द्रमा के समान निर्मल हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। इसलिये घोर उपसर्ग के आने पर वा रोगादिक के हो जाने पर अथवा पक्षोपवास मासोपवास की पारणा होने पर भी स्वप्न में भी इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥२०॥ इसी प्रकार इन मूलगुणों में न तो अतिक्रम लगाना चाहिये न व्यतिक्रम लगाना चाहिये न अतिचार लगाना चाहिये और न अनाचार लगाना चाहिये ॥२१॥

संयते क्वचित् ॥ २१ ॥ अहिंसादि व्रतानां च षडावश्यक कर्मणाम् । पालने या मनः शुद्धेर्हानि. सोति क्रमोयतः ॥ २२ ॥ षडावश्यक कर्त्तॄणां महाव्रत धरात्मनाम् । विषयेष्वभिलाषो यो जायते स व्यतिक्रम. ॥ २३ ॥ महाव्रतसमित्यावश्यादि परिपालने । आलस्यं क्रियते यत्सोतीचारो व्रतदूपकः ॥ २४ ॥ व्रतावश्यकशीलानां भंगो योत्र दुरात्मभिः । विधीयते सधर्मघ्नोऽनाचारः श्वभ्रसाधकः ॥ २५ ॥ एते दोषा हि चत्वारः सर्वमूलगुणात्मनाम् । सर्वथा यतिभिस्त्याज्यायत्नेन मल कारिणः ॥ २६ ॥ यतोमीभिश्चतुर्दोषैर्विश्वेमूलगुणा नृणाम् । दूषिता न फलंत्यत्र स्वर्मोक्षादौ महत्फलम् ॥ २७ ॥ असमगुणनिधानान् स्वर्गमोक्षादिहेतून् गणपतिमुनिसेव्यांस्तीर्थनाथैः प्रणीतान् । दुरिततिमिरसूर्यान् धर्मवार्द्धीन् महान्तो भजत निखिलयत्नात् मूलसंज्ञान् गुणौघान् ॥ २८ ॥

अहिंसादिक महाव्रतों के पालन करने में तथा छहों आवश्यकों के पालन करने में जो मन की शुद्धता की हानि है उसको अतिक्रम कहते हैं ॥२२॥ महाव्रत पालन करने वालों को तथा छहों आवश्यक पालन करने वालों की जो विषयों में अभिलाषा होना है उसको व्यतिक्रम कहते हैं ॥२३॥ महाव्रत समिति आवश्यक आदि के पालन करने में जो आलस करना है उसको व्रतों में दोष लगाने वाला अतिचार कहते हैं ॥२४॥ दुरात्मा वा पापियों के द्वारा व्रत आवश्यक वा शीलों का जो भंग करना है वह धर्म को नाश करने वाला और नरक में पहुँचाने वाला अतिचार कहलाता है ॥२५॥ ये चारों दोष समस्त मूलगुणों में मल उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये मुनियों को पूर्ण प्रयत्न कर के इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥२६॥ क्योंकि इन चारों दोषों से समस्त मूलगुण दूषित हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को स्वर्ग मोक्षादिक के महाफल उन मूलगुणों से कभी प्राप्त नहीं हो सकते ॥२७॥ ये समस्त मूलगुण अनुपम गुणों के निधि हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधर देव और मुनिराज इनको पालन करते हैं, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये ये सूर्य के समान हैं, धर्म के समुद्र हैं और सबमें उत्तम हैं । इसलिये महापुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ इनका पालन करना चाहिये ॥२८॥

येऽमून्मूलगुणान् प्रमादरहिताः संपालयन्त्वन्वहं तैलोकत्रयसंभवांश्चपरमान् सौख्योत्तमान् सद्गुणान् । संप्राप्यानु-जिनेन्द्रचक्रि पदवीं देवार्चनां केवलं ज्ञानं कर्मरिपून् निहत्य तपसा मोक्षं लभन्तेऽचिरान् ॥ २६ ॥ विज्ञायेतिफलं महद्बुधजनाः मोहारिमाहत्य च निर्वेदासिवरेण सार्द्धमखिलैर्लक्ष्मी कुटवादिभिः । दीक्षां मुक्तिसखीं परार्थजननीं ह्यादायमोक्षाप्तये सर्वान् मूलगुणान्मलादिरहितान् भो· पालयन्त्वन्वहम् ॥ ३० ॥ ये सर्वपरमेष्ठिनोऽत्रपरमान् मूलोत्तराख्यान् गुणान् नित्यं यत्नपराभजन्ति यमिनामाचारयंत्यूर्जितान् व्याख्यान्त्येवगिरा जगत्त्रयसतां

जो मुनि प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन इन समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले परम और उत्तम सुखों को तथा उत्तम सद्गुणों को प्राप्त होते हैं फिर देवों के द्वारा पूज्य ऐसे चक्रवर्ती और तीर्थंकर के पद प्राप्त करते हैं तदनंतर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२६॥ इस प्रकार विद्वान लोगो को इन मूलगुणों को महा फल देने वाले समझ कर वैराग्य रूपी तलवार से मोहरूपी शत्रु को मार कर तथा लक्ष्मी कुटुम्ब आदि सबका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्षस्त्री की सखी और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली ऐसी जिन दीक्षा धारण करनी चाहिये और फिर उनको प्रतिदिन समस्त दोषों से रहित ऐसे ये समस्त मूलगुण पालन करने चाहिये ॥३०॥ इस संसार में जो जो अरहंत आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी प्रयत्नपूर्वक सर्वोत्कृष्ट मूलगुणों को वा उत्तरगुणों को प्रतिदिन पालन करते हैं वा इन्हीं सर्वोत्तम मूलोत्तर गुणों को मुनियों से पालन कराते हैं अथवा तीनों जगत के सज्जन पुरुषों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये अपनी वाणी से इन्हीं मूलोत्तर गुणों का व्याख्यान करते हैं उन समस्त परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ। वे समस्त परमेष्ठी मेरे लिये अपने समस्त उत्कृष्ट मूलगुणों को प्रदान

सर्वार्थसंसिद्धये ते ये मूलगुणान् प्रदद्यु रखिलान् सारान्स्वकीयान् स्तुताः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमूलाचार प्रदीपाख्ये भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते मूलगुणव्यावर्णने प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग लोचा चेलक्त्वास्नान क्षितिशयनादंतवन स्थितिभोजनैकभक्त वर्णनोनाम चतुर्थोधिकारः ।

करें ॥३१॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित-मूलाचार प्रदीप में मूलगुणों के वर्णन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एक भक्त को वर्णन करने वाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।



पंचमोधिकारः ।



पंचाचोरप्रभावेन ये प्राप्तास्तीर्थ कृच्छ्रियः । अनंतमहिमोपेता वदे तेषां पदाम्वुजान् ॥१॥ त्रिजगन्नाथसंप्रार्थ्या गता. सिद्धगतिं हि ये । पंचाचारेण तान् सिद्धान्नमाम्यन्तातिगान्परान् ॥ २ ॥ येत्राचरन्तियत्नेनपंचाचारान् शिवाप्तये । आचारयन्ति शिष्याणां तानाचार्यान्स्तुवेनिशम् ॥ ३ ॥ ये व्याख्यान्तिसतां सिध्यै ह्यंगैः पूर्वैः प्रकीर्णकैः । पचाचारानुपाध्याथान् तान्नमामिश्रुताप्तये ॥ ४ ॥ त्रिकालयोगयुक्ता येद्रिकंदरगुहादिषु । साधयंत्य-

---

पांचवां अधिकार ।

पंचाचार के प्रभाव से ही जिन्होंने तीर्थंकर की परम लक्ष्मी प्राप्त की है, और जो अनंत महिमा से विभूषित हैं ऐसे अरहंत भगवान के चरण कमलों को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी जिनकी स्तुति करते हैं और जो इन पंचाचारों के प्रभाव से ही सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो आचार्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न पूर्वक पंचाचारों का पालन करते हैं तथा शिष्यों से प्रतिदिन पालन कराते हैं उन आचार्यों की भी मैं स्तुति करता हूं ॥३॥ जो उपाध्याय मोक्ष प्राप्त करने के लिये अंग पूर्व और प्रकीर्णकों के द्वारा पंचाचारों का व्याख्यान करते हैं उन उपाध्यायों को मैं श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥४॥ त्रिकाल योग धारण करने वाले जो मुनि पर्वत कंदरा वा गुफा में

खिलाचारांस्तान्साधून् नौमिशक्तये ॥ ५ ॥ इत्यमून् शिरसा नत्वा पंच सत्परमेष्ठिनः । धृत्वा च स्वगुरूंश्चित्ते श्रीजिनास्यज भारतीम् ॥ ६ ॥ पंचाचारान् प्रवक्ष्यामि विश्वाचारप्रसिद्धये । मुनीनां स्वस्य वा नूनं समासेन शिवाय च ॥ ७ ॥ दर्शनाचार एवाद्यो ज्ञानाचारस्ततोद्भुतः । चारित्राचार नामान्यस्तप आचार ऊर्जितः ॥८॥ वीर्याचार इमे पंचाचाराः सर्वार्थसाधकाः । प्रोक्ताविश्वैर्जिनाधीशैर्मुनीनां मुक्तिसिद्धये ॥ ९ ॥ तेषामादौ प्रसिद्धं यत्सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम् । तद्वक्ष्येहं समासेन निर्दोषं गुणभूषितम् ॥ १० ॥ तन्निसर्गाभिधं दृष्ट्यधिगमाख्यं ततोपरम् । इति द्वेधाजिनैः प्रोक्तंसम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥ ११ ॥ भव्य. पंचेन्द्रियःसंज्ञी यो भवाब्धितटाश्रितः । तस्यात्रकाललब्ध्वा यो जायतेनिश्चयोमहान् ॥ १२ ॥ जिनेन्द्रतत्त्वगुर्वादौ मुक्तिमार्गे स्वयं द्रुतम् । विनागुरूपदेशादे

बैठ कर समस्त पंचाचारों को सिद्ध करते हैं उन साधुओं को मैं शक्ति प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूं ॥५॥ इस प्रकार पाँचों श्रेष्ठ परमेष्ठियों को मस्तक झुका कर नमस्कार कर के तथा अपने गुरु और भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई सरस्वती देवी को अपने हृदय में विराजमान कर के तीनों लोकों में पंचाचारों की प्रसिद्धि करने के लिए तथा स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए वा मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होने के लिये मैं संक्षेप से पंचाचारों का निरूपण करता हूँ ॥६—७॥ दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार ये पाँच पंचाचार कहलाते हैं ये पंचाचार समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं और समस्त तीर्थंकर परमदेवों ने मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति के लिये निरूपण किये हैं ॥८—९॥ इनमें भी सबसे प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन है जो शुद्धि का कारण है, गुणों से सुशोभित है और दोषों से रहित है। ऐसे सम्यग्दर्शन को ही मैं सबसे पहले कहता हूँ ॥१०॥ भव्य जीवों के होने वाला यह सम्यग्दर्शन भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का बतलाया है एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज ॥११॥ जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसार रूपी समुद्र के किनारे आ लगा है उसके काल लब्धि मिलने पर जो देव शास्त्र गुरु में तत्त्वों में और मोक्ष मार्ग में विना गुरु के उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महा निश्चय हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते

निसर्ग तद्धिदर्शनम् ॥१३॥ तत्त्वदेवागमादीनां श्रवणेनात्र या रुचिः । प्रादुर्भवतिसन्मार्गे सतामधिगमं हि तत् ॥१४॥ तथौपशमिक चायिकंमुक्तिस्त्रीवशीकरम् । चायोपशमिकं चेति त्रिविधं दर्शनं मतम् ॥ १५ ॥ आद्याश्चतु कषाया अनन्तानुवधसंज्ञका. । तिस्रोमिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रप्रकृतयोऽशुभा ॥ १६ ॥ आसां सप्तविधानां प्रकृतीनां अतरे सताम् । समस्तोपशमेनौपशमिकाख्य च दर्शनम् ॥ १७ ॥ निःशेष चययोगेन चायिकं जायते परम् । साचान्मुक्तिवरं ह्यासन्नभव्यानां च शाश्वतम् ॥ १८ ॥ षण्णां हि प्रकृतीनामुदयाभावे नृणां सति । सति सम्यक्त्वस्योदयोऽन्यद्धि-चायोपशामिकाह्वयम् ॥ १६ ॥ एतत्त्रिविधसम्यक्त्व भव्यानामिह केवलम् । प्रणीतं तीर्थनाथेन न दूराभव्यदेहि-नाम् ॥ २० ॥ जैनतत्त्वपदार्थेभ्यः सर्वज्ञोक्तेभ्य एव हि । तत्त्वेभ्यो नापरे तत्त्वपदार्थाः सूनृताः कचित् ॥ २१ ॥

हैं ॥१२–१३॥ तत्त्व और देव शास्त्र गुरु के स्वरूप को सुन कर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती हैं वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१४॥ अथवा औपशमिक, मुक्तिस्त्री को वश में करने वाला चायिक और चायोपशमिक के भेद से इस सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं ॥१५॥ इस सम्यग्दर्शन को घात करने वाली मोहनीय कर्म की सात प्रकृति हैं मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन तो दर्शन मोहनीय की अशुभ प्रकृति हैं तथा अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृति हैं इन सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूप से उपशम होता है तब भव्य जीवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥१६–१७॥ तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूप से चय हो जाता है तब आसन्न भव्य जीवों को चायिक सम्यग्दर्शन होता है। यह चायिक सम्यग्दर्शन साचात् मोच देने वाला है और प्रगट होने के बाद सदा बना रहता है ॥१८॥ इसी प्रकार सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व को छोड़ कर बाकी की छहों प्रकृतियों के उदयाभावी चय होने पर तथा सत्तावस्थित इन्हीं छहों प्रकृतियों के उपशम होने पर और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर मनुष्यों के चायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥१६॥ यह तीनों प्रकार का सम्यग्दर्शन केवल भव्य जीवों के ही होता है अभव्यों के नही। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। दूरभव्यों के भी यह सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥२०॥ भगवान वीतराग सर्वज्ञ देव ने जो तत्त्व और पदार्थ बतलाये हैं

अर्हद्भ्योघातिनिहंतृभ्योनिर्दोषेभ्यो जगत्सताम् । भुक्तिमुक्त्यादिदातारो नान्यदेवाः शुभप्रदाः ॥ २२ ॥ कैवल्यभापिताद्धर्माद्यतिश्रावकगोचरात् । नापरोत्रोर्जितो धर्मो धर्मार्थ काममोक्षदः ॥ २३ ॥ विश्वसत्वहितेभ्योत्रनिर्ग्रंथेभ्योऽपरे परा । भवाब्धिं तरितुं तारयितुं न गुरवःक्षमाः ॥ २४ ॥ रत्नत्रयात्मकान्मार्गाज्जिनोक्तात्परमार्थतः । नापरो विद्यते जातु मोक्षमार्गोति निस्तुषः ॥ २५ ॥ जैनशासनतो नान्यत् शासनं शरणं सताम् । सुपात्रदानतो नान्यद् दानं स्वान्यहितकरम् ॥ २६ ॥ द्विषड्भेदतपोभ्योऽन्यन्न तप. कर्मघातकम् । जिनसिद्धांतसूत्रेभ्यो नान्यच्छास्त्रं

वे ही यथार्थ हैं उनसे भिन्न अन्य पदार्थ कभी यथार्थ नहीं हो सकते ॥२१॥ घातिया कर्मों को नाश करने वाले तथा अठारह दोषों से रहित भगवान अरहंतदेव ही देव हैं और वे ही जगत के समस्त सज्जन पुरुषों को भुक्ति और मुक्ति दे सकते हैं। उनके सिवाय अन्य कोई भी देव देव नहीं हो सकता और न वह भुक्ति मुक्ति दे सकता है। तथा भगवान अरहंतदेव के सिवाय अन्य कोई देव शुभप्रद नहीं हो सकता ॥२२॥ भगवान अरहंतदेव ने जो मुनि और श्रावकों का धर्म निरूपण किया है वही धर्म अर्थ काम मोक्ष इन पुरुषार्थों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म है इसके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता और न अन्य कोई धर्म पुरुषार्थों को दे सकता है ॥२३॥ समस्त जीवों का हित करने वाले दिगम्बर गुरु हीं उत्कृष्ट गुरु है और वे ही इस संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं। दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है वा न अन्य किसी को पार कर सकता है ॥२४॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय स्वरूप बतलाया है परमार्थ से वही मोक्ष का मार्ग है और वही निर्दोष है उसके सिवाय अन्य कोई भी निर्दोष और यथार्थ मोक्ष का मार्ग नहीं है ॥२५॥ यह जैन शासन ही सज्जनों को शरण लेने योग्य उत्तम शासन है। इसके सिवाय अन्य कोई शासन शरण लेने योग्य नहीं है। अपना और दूसरों का हित करने वाला सुपात्र दान ही दान है इसके सिवाय अन्य कोई दान हित करने वाला नहीं है ॥२६॥ बारह प्रकार का तपश्चरण ही कर्मों को नाश करने वाला तपश्चरण है। इसके सिवाय अन्य कोई तपश्चरण कर्मों को नाश करने वाला

च सूनृतम् ॥२७॥ इत्याद्यपर धर्माणा जिनोक्तानां महीतले । प्रामाण्यपुरुपाग्र्यच्च श्रद्धानं बुधसत्तमैः ॥२८॥ क्रियते या रुचिश्चित्ते निश्चयो योथवामहान् । तत्सर्वं दृष्टि कल्प द्रुमस्य स्यान्मूलकारणम् ॥२९॥ अथ तेपा तत्त्वानां श्रद्धानेनात्र लभ्यते । निर्मल दर्शनं तानि तत्त्वान्येव दिशाम्यहम् ॥३०॥ जीवाजीवास्रवा वधः सवरो निर्जरा परा । मोक्षोमूनि सुतत्त्वानि भापितानि जिनाधिपैः ॥३१॥ मुक्त संसारिभेदाभ्यांद्विधाजीवा जिनैर्मताः । मुक्ता भेदविनिष्क्रान्ताः पड्विधाभववर्तिनः ॥३२॥ अष्टकर्मवपुर्मुक्ता दिव्याष्टगुणभूपिताः । लोकाग्रशिरवरावासाः सिद्धाः स्युरन्तवर्जिताः ॥३३॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुकाया वनस्पत्यंगिनस्त्रसा । एते ससारिणो ज्ञेया पड्विधा जीवजातयः ॥३४॥ पृथिवी वालुकाताम्रमयास्त्रिपुपसीसकौ । रूप्यं सुवर्णमेवाथ हरिताल मनः

नहीं है। जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थ शास्त्र है। इनके सिवाय अन्य कोई शास्त्र यथार्थ नहीं है ॥२७॥ इस संसार में पुरुष के प्रमाण होने से उसके वचन प्रमाण माने जाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। इसलिये उत्तम पुरुष उन्हीं के कहे हुए धर्म का श्रद्धान करते हैं उसी में रुचि करते हैं और अपने हृदय में उसी का महान् निश्चय करते हैं। इसके सिवाय अन्य धर्म को वे कभी श्रद्धान नहीं करते। इस प्रकार के श्रद्धान में सम्यग्दर्शन रूपी कल्पवृक्ष ही मूल कारण समझना चाहिये। अर्थात् ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्दर्शन के होने से ही ऐसा श्रद्धान होता है ॥२८–२९॥ इस संसार में तत्त्वों का श्रद्धान करने से ही निर्मल सम्यग्दर्शन होता है इसलिये अब हम उन तत्त्वों का ही स्वरूप निरूपण करते हैं ॥३०॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व वतलाये हैं ॥३१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुक्त और संसारी के भेद से जीवों के दो भेद वतलाये हैं। इनमें भी मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं है सब समान हैं। तथा संसारी जीवों के छह भेद हैं ॥३२॥ जो ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से रहित हैं सम्यक्त्व आदि आठों दिव्य-गुणों से सुशोभित हैं और लोक शिखर पर विराजमान हैं उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध अनंतानंत हैं ॥३३॥ पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रस के भेद से संसारी जीवों के छह भेद समझना चाहिये ॥३४॥ पृथिवी, वालू, तांवा, लोहा, रांगा, सीसा, चाँदी, सोना, हरताल, मनशिल, हिंगुल, सस्यक, सुरमा, अभरक,

शिलाः ॥ ३५ ॥ हिंगुलं सस्यकं वांजनमभ्रकोभ्रवालुकाः । लवणं चेति भेदाः स्युर्मृदुपृथ्व्या हि षोडशः ॥ ३६ ॥ शर्करा, उपलं वज्रं शिला प्रवालकायिका: । कर्केतन मणिश्चांकोरुजकः स्फटिकोमणिः ॥ ३७ ॥ पद्मरागोथवैडूर्य्य-श्चन्द्रप्रभश्च चन्दन. । जलकान्तो वकः सूर्यकान्तोमरकतोमणिः ॥ ३८ ॥ मोचोमसणपाषाणो रुचिराख्योमणिः स्फुटम् । अमीभेदाः बुधैर्ज्ञेयाखरपृथ्व्या हि विंशतिः ॥ ३६ ॥ षट्त्रिंशत्स्युरिमे भेदाः स्थूलपृथ्व्यंगिना भुवि । सूक्ष्मा पृथ्व्यंगिनो ज्ञेयाः खे सर्वत्र जिनागमात् ॥ ४० ॥ पृथ्व्यष्ट पंच मेर्वाद्या पर्वतः सकला भुवि । द्वीप वेदी विमाना हि प्रतोली तोरणाश्च ये ॥ ४१ ॥ जम्बूशाल्मलि चैत्यद्रुमास्तूपभवनादयः । कल्पवृक्षाः खरा विश्वेह्य तेष्वन्तर्भवन्ति ते ॥ ४२ ॥ ज्ञात्वेति पृथिवीकायान्खननाद्यैः शिवार्थिभिः । तेषां जातु न कर्तव्या स्वेनान्येन विराधना ॥ ४३ ॥ अवश्यायजलं पश्चिमरात्रिपतितं हिमम् । महिकाख्यजलं धूमाकारं हरज्जलं

अभ्रवालुका, लवण ये सोलह कोमल पृथ्वी के भेद हैं ॥३५–३६॥ कठिन बालू, पत्थर के गोल टुकड़े, वज्र (हीरा) बड़ी शिला, प्रवाल वा मूंगा, गोमेदमणि, पुलक मणि (प्रवाल के समान) रुजक (राजवर्त मणि) स्फटिक मणि, पद्मरागमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रप्रभमणि, चन्दनमणि, जलकांतमणि, पुष्परागमणि, सूर्यकांतमणि, मरकतमणि, नीलमणि, विद्रुममणि और रुचिरमणि । बुद्धिमानों को ये बीस भेद कठिन पृथ्वी के समझने चाहिये ॥३७–३६॥ ये छत्तीस भेद पृथ्वीकायिक स्थूल जीवों के समझने चाहिये । तथा पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव आकाश में सब जगह फैले हुये हैं ऐसा जैन शास्त्रों मे कहा है ॥४०॥ आठों पृथिवी पाँचों मेरु पर्वत द्वीप वेदी विमान प्रतोली (गली) तोरण, जम्बू शाल्मलि, चैत्यवृक्ष, भवन कल्पवृक्ष आदि कठिन प्रकार की पृथ्वी सब इसी में अंतर्भूत समझनी चाहिये ॥४१–४२॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को खोद पीट कर पृथिवीकायिक जीवों की विराधना न तो स्वयं करनी चाहिये और न किसी दूसरे से करानी चाहिये ॥४३॥ बरफ का पानी, पिछली रात में पड़ी हुई ओस, तुषार, भाफ का पानी, हरज्जल, बड़ी बूंदें, छोटी बूंदें, शुद्ध पानी, चन्द्रकांत मणि से उत्पन्न होने वाला पानी जमाई हुई बरफ का पानी घनोदक, घनाकार,

तत ॥ ४४ ॥ स्थूलविन्दुयुत वायु जल शुद्धोदकं तथा । चन्द्रकान्तभवं नीरं सामान्यं नीहारादिजम् ॥ ४५ ॥ घनोदक घनाकार ह्रदाब्धिघनवातजम् । वा मेघोद्भवमि त्याद्या ज्ञेया अपकायिकांगिनः ॥४६॥ सरित्सागरमेघोत्थाः कूपनिर्झर भूस्थिता । चन्द्रकान्तादिजा अत्रै वान्तर्भवाजलांगिन. ॥ ४७ ॥ इति ज्ञात्वा सदामीषां रत्ता कार्या प्रयत्नत । पादादिक्षालनैर्जातु न हिंस्या' सर्वथा बुधैः ॥ ४८ ॥ ज्वालांगारमथार्चिर्मुर्मुर. शुध्याग्निसंज्ञकः । सूर्यकान्तादिजोग्नि. सामान्य इत्यग्निकायिक· ॥ ४६ ॥ नन्दीश्वरादि चैत्यालय धूमकु डिकानला । मुकटाग्न्यादयो त्रैवान्तर्भवन्त्यग्निकायिका ॥ ५० ॥ इत्यग्निकायिकान् ज्ञात्वा मीषांरोगादिशान्तये । हिंसा क्वचिन्न कार्या ज्वालनविध्यापनादिभिः ॥ ५१ ॥ वात.सामान्यरूपश्चोभ्द्रमः ऊर्ध्व व्रजन् मरुत् । उत्कलिमंडलिर्वायुः पृथ्वीलग्नो

सरोवर समुद्र आदि का पानी घतवात का पानी, बादल से बरसा हुआ पानी आदि सब तरह का पानी अपकायिक जीवमय ही समझना चाहिये ॥४४–४६॥ नदी समुद्र का पानी, मेघों का बरसा पानी, कुए वा निर्झरने का पानी, पृथ्वी के भीतर रहने वाला पानी, चन्द्रकांत मणि से निकला हुआ पानी इनके जलकायिक जीव सब इन्हीं में अंतर्भूत समझना चाहिये ॥४७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषो को प्रयत्न पूर्वक इनकी रत्ता करनी चाहिये और पदप्रचालन आदि के द्वारा इन जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये ॥४८॥ ज्वाला, अंगार, ज्वाल का प्रकाश, बारीक कोयलों के फुलिंगे, शुद्ध अग्नि, सूर्यकांत से उत्पन्न हुई अग्नि इत्यादि सामान्य अग्नि अग्निकायिक जीव विशिष्ट है ॥४६॥ नंदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों में रक्खे हुये धूप कुंड की अग्नि अग्निकुमार देवों के मुकुट की अग्नि में रहने वाले अग्निकायिक जीव सब इसी में अंतर्भूत समझने चाहिये ॥५०॥ इस प्रकार अग्नि–कायिक जीवों को समझ कर किसी रोग को शांत करने के लिये भी अग्नि को जला कर वा बुझा कर अग्निकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥५१॥ सामान्य वायु को वात कहते हैं, ऊपर को जाने वाली वायु को उभ्द्रम कहते हैं, गोलाकार घूमते हुये वायु को उत्कलि वायु कहते हैं पृथ्वी से लग कर चलने वाले वायु को गुंजावात्र कहते हैं वृत्तादिकों को तोड़ देने वाला महावात कहलाता

भ्रमन् व्रजेत् ॥ ५२ ॥ गुंजामरुन्महावातो वृक्षादि भंगकारकः। घनवातश्च तन्वाख्यो व्यजनादि कृतोथवा ॥५३॥ उदरस्थाब्धिभूस्थानविमानाधार वायवः। अत्रैवान्तर्मवा ज्ञेयाः भवनस्थादिकाखिला ॥ ५४ ॥ इमान् वातांगिनो मत्वा जात्वमीषां विराधना। न विधेया महादाहे वातादिकरणैर्बुधैः ॥ ५५ ॥ मूलाग्रपौरवीजाः कंदस्कंधवीज-सञ्ज्ञकाः। वीज वीजरुहा एते कदाद्यारोहसंभवा ॥५६॥ जीवाः सन्मूर्छिमा मूलाद्यभावेपिसमुद्भवाः। प्रत्येककायिका जीवा अनंतकायदेहिनः ॥ ५७ ॥ कंदमूलांगिनस्त्वक्स्कंध पत्रं कुसुमंफलम्। प्रवालं गुच्छकायश्च गुल्मं वल्लीतृ-णान्यथ ॥ ५८ ॥ पर्वकाया इमे ज्ञेयाः पृथ्वीतोयादिसंभवाः। विना वीजेन नाना भेदा वनस्पतिकायिकाः ॥५९॥ सैवोलं पणकं भूमिगतसैवालमेव हि। कवगं नाम भृंगालं वकच्छत्रं हरिप्रभम् ॥ ६० ॥ कुहणाख्यंस्थिताहारकं जिह्वादिस्थपुष्पिका। एतेत्र वादरा ज्ञेया अनन्तकायिका बुधैः ॥ ६१ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुज्जीवाः सूक्ष्माहष्ट्याद्य-

है। घनवात तनुवात पंखा आदि से उत्पन्न किया हुआ वायु, पेट में भरा हुआ वायु, पृथ्वी समुद्र विमान आदि को आश्रय देने वाला वायु तथा भवनों में रहने वाला वायु सब सामान्य वायु मे अंतर्भूत है ॥५२–५४॥ यह सब वायु वातकायिक जीवमय है। यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को महा दाह होने पर भी वायु को उत्पन्न कर वातकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिये ॥५५॥ मूलवीज, अग्रवीज, पर्ववीज, कंदवीज स्कंध वीज वीजरूह ये सब कंदादिक से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके सिवाय सम्मूर्च्छन जीव हैं जो मूलादिक का अभाव होने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से कोई प्रत्येक कायिक हैं और कोई अनंतकाय हैं ॥५६–५७॥ कंद मूल त्वक् (छाल) स्कंध पत्र कुसुम फल नया कोंपल, गुच्छ गुल्म वेल तृण आदि सब अनंतकायिक हैं। तथा विना वीज के पृथ्वी जल आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पर्व कायिक हैं जो अनंतकाय कहलाते हैं ॥५८–५९॥ सेवाल, पणक, भूमिगत, सैवाल कवग श्रृंगाल वकछत्र हरिप्रभ कुहण स्थिताहारक जिह्वादि पुष्पिका ये सब वादर अनंतकाय हैं ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिये ॥६०–६१॥ पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक सूक्ष्म जीव दृष्टि के अगोचर होते हैं और

गोचरा॰ । अगुलस्याप्यसख्यातभागप्रमवपुर्युता॰ ॥ ६२ ॥ सर्वत्र द्विविधा ज्ञेया जलस्थलनभोखिले । सर्ववनस्पतिप्राणिन. प्रत्येकेतरात्मका: ॥ ६३ ॥ येषां गूढसिरासधिपर्वाणि स्युरहीरकम् । समभंगं तथा छेदरुह च विद्यते भुवि ॥ ६४ ॥ साधारणशरीरास्तेत्रानन्त जीवसकुला: । एतेभ्यो विपरीता ये ते प्रत्येकांगिनोमता: ॥ ६५ ॥ यत्रैको म्रियते तत्र मियन्तेनन्तदेहिन: । यत्रैको जायते तत्र जायन्तेनन्तकायिका: ॥ ६६ ॥ अतोऽत्रैते जिनै: प्रोक्ता॰ जीवा अनन्तकायिका॰ । भुवि सार्थक नामानोऽनन्तप्राणिमया: स्फुटम् ॥ ६७ ॥ अनन्तै. प्राणिभि यैंश्च महामिथ्याघपूरितै॰ । त्रसत्व जातु न प्राप्त नित्यास्तेनन्तकायिका: ॥ ६८ ॥ जम्बूद्वीपे यथाक्षेत्रं भरत भरते भवेत् । कौशलः कौशलेऽयोध्यायोध्यायां गृहपक्तय ॥ ६९ ॥ तथा स्कंधा असख्याता लोकमात्रा भवन्ति वै । एकैकस्मिन् पृथक् स्कंधे प्रोक्तिता अंडरा जिनै: ॥ ७० ॥ असंख्यलोकमात्राश्चैके कस्मिन्नडरे तथा । आवासा॰ स्युरसख्यात–

उनका शरीर अंगुल के असंख्यात में भाग प्रमाण होता है ॥६२॥ वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जीव जल स्थल और आकाश आदि सब स्थानों मे भरे हुये हैं। इनमें से कुछ प्रत्येक वनस्पति हैं और कुछ साधारण हैं ॥६३॥ जिनकी सिरा संधि पर्व आदि गूढ़ हैं दिखाई नहीं देते तोड़ने से जिनका भंग समान होता है और जो काटने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। उनको साधारण शरीर कहते हैं ऐसे साधारण शरीर अनंत जीवों से भरे हुए होते हैं। इनसे जो विपरीत हैं अर्थात् जिनका सिरा संधि प्रगट हो गया है और तोड़ने से जिनका समभंग नहीं होता उनको प्रत्येक कहते हैं ॥६४–६५॥ एक जीव के मरने पर जहाँ अनंत जीव मर जाँय और एक जीव के उत्पन्न होने पर जहाँ पर अनंत जीव उत्पन्न हो जाँय ऐसे जीवों को भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनंतकाय बतलाया है। उनमें का एक एक शरीर अनंत जीव स्वरूप होता है इसलिये वे अनंतकाय इस सार्थक नाम को धारण करते हैं ॥६६–६७॥ महा मिथ्यात्व के पाप से परिपूर्ण हुए जिन अनंत जीवों ने आज तक त्रस पर्याय नहीं पाई है उनको नित्य अनंतकायिक कहते हैं ॥६८॥ जिस प्रकार जम्बू द्वीप में भरत क्षेत्रादिक क्षेत्र हैं भरत क्षेत्र में कोशल आदि देश हैं, कोशलदेश में अयोध्या आदि नगर हैं और अयोध्या आदि नगरों में घरों की पंक्तियाँ हैं उसी प्रकार इस संसार में असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध हैं। एक एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं। एक एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं एक एक आवास

लोकतुल्या न संशयः ॥७१॥ एकैकस्मिन् किलावासे मता पुलवयो बुधैः। असंख्यलोकमाना येकैकस्मिन् पुलवौ भुवि ॥७२॥ शरीराणि ह्यसख्येय लोकमानानि संति च। एकैकस्मिन्निकोतस्य शरीरे जंतवः स्फुटम् ॥७३॥ अतीत कालसिद्धेभ्यः सर्वानन्तेभ्य एव हि। प्रोक्ता स्तीर्थंकरै रागमेत्रानन्तगुणापरे ॥७४॥ इत्यादीन् स्थावरान् पंचविधान् विज्ञाययोगिभिः। प्रयत्नेन दया कार्या मीषां वाक्कायमानसैः ॥७५॥ सकला विकलाश्चेति द्विधा जीवास्त्रसामताः। विकला द्वित्रितुर्याख्या. शेषा हि सकलेन्द्रियाः ॥७६॥ क्रमयः शुक्तिकाः शंखा कपर्दकाश्च वालकाः। जलूकाद्या श्रुते ज्ञेया द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियान्विताः ॥७७॥ कुंथवोवृश्चिका यूकामत्कुणाश्चपिपीलिकाः। उद्देहिकाद्या गोपानिकास्त्रीन्द्रियशरीरिण. ॥७८॥ भ्रमरामशका दंशाः पतंगामधुमक्षिका। कीटका मित्तकाद्याश्च चतुरिन्द्रियजातयः ॥७६॥ जलस्थलनभोगामिनस्तिर्यंचोनराः सुराः। नारकाः सकलाः प्रोक्ता जीवा पचेन्द्रियाः

में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी हैं। एक एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं तथा उस एक एक निगोत शरीर में अतीत काल के समस्त अनंतानंत सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने आगम में बतलाया है ॥६६–७४॥ मुनियों को इस प्रकार स्थावरो के पाँचों भेद समझ कर मन वचन काय से प्रयत्नपूर्वक उन सब जीवों की दया करनी चाहिये ॥७५॥ दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवो को त्रस कहते हैं। उनके दो भेद हैं एक विकलेन्द्रिय और दूसरा सकलेन्द्रिय। दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं ॥७६॥ लट, सीप, शंख, जोंक, लीक आदि जीवों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ हैं इसलिये इन जीवों को दो इन्द्रिय कहते हैं ॥७७॥ कुंथु, बीछू, जूं, खटमल, चीटी, उद्देहिका, गोपानिका आदि जीवो के स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं इसलिये इनको तेइन्द्रिय कहते हैं ॥७८॥ भौंरा, मच्छर, डांस, पतंगा, मधुमक्खी, मक्खी, दीपक पर पड़ने वाले जीवों के स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु इन्द्रियाँ हैं इसलिये इनको चौइन्द्रिय कहते हैं ॥७६॥ मगर मच्छ आदि जलचर, कबूतर आदि नभचर और गाय भैंस आदि स्थलचर जीव पंचेन्द्रिय हैं मनुष्य देव और समस्त

श्रुते ॥ ८० ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कांया लक्षाणां सप्तसप्त च। नित्येत्तरनिकोताः किलवनस्पतयोदश ॥ ८१ ॥ द्विद्विलक्षप्रमा द्वित्रि चतुरक्षा.पृथक्सुराः। तिर्यंचो नारकालक्षाणां चत्वारः पृथक्पृथक् ॥ ८२ ॥ द्विसप्तलक्षसख्यनां आर्यम्लेच्छाखिला नराः। इति सर्वांग लक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ ८३ ॥ इत्थविश्वांगि जातीं सम्यग्निरूप्य जिनागमात्। ततः सतां दयासिध्यै वक्ष्ये कुलानिदेहिनाम् ॥ ८४ ॥ पृथ्वीनांकुलकोटी लक्षाणां द्वाविंशति स्फुटम्। अप्कायिकांगिना सप्तत्रयश्चानलदेहिनाम् ॥ ८५ ॥ मरुतां कुल कोटीलक्षाणि सप्तकुलानि वै। कोटीलक्षाणि चाष्टाविंशतिर्हरितजन्मिनाम् ॥ ८६ ॥ द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां तुर्येन्द्रियात्मनाम्। कोटीशतसहस्राणि– सप्तचाष्ठौ नवक्रमात् ॥ ८७ ॥ अप्चराणां नभोगामिना किलाद्ध त्रयोदश। द्वादशैवक्रमात्सन्ति लक्षाणि

नारकी जीव भी पंचेन्द्रिय हैं ऐसा शास्त्रों मे कहा है ॥८०॥ इनमें से पृथ्वीकायिक जलकायिक वायु–कायिक और अग्निकायिक जीवों की सात सात लाख योनियाँ हैं। नित्यनिगोत और इतरनिगोत की भी सात सात लाख योनियाँ हैं वनस्पतिकायिक की दश लाख योनियाँ हैं दोइन्द्रिय की दो लाख तेइन्द्रिय की दो लाख और चौइन्द्रिय की दो लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, तिर्यंचों की चार लाख, और नारकियों की चार लाख योनियाँ हैं तथा आर्य और म्लेच्छ के भेद से दोनों प्रकार के मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार समस्त जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं ॥८१–८३॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त जीवों की जातियों का स्वरूप वतलाया अव आगे सज्जनों को दया पालन करने के लिये जीवों के कुल वतलाये हैं ॥८४॥ पृथ्वीकायिक जीवों के वाईस लाख करोड़, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं। दोइन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़, तेइन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं ॥८५–८७॥ जलचर जीवों के साढ़े वारह लाख करोड़, नभचर जीवों के वारह लाख करोड़ कुल हैं ॥८८॥ चतुष्पदों के दश लाख करोड़ कुल हैं नारकियों के पच्चीस लाख करोड़

कुलकोटयः ॥ ८८ ॥ दशैव कोटि लक्षाणि षतुष्पदांकुलानि च । पंचविंशतिकोटीलक्षाणिनारकदेहिनाम् ॥ ८९ ॥ स्युः षड्विंशतिकोटीलक्षाणि देव कुलानि च । नवैव कोटि लक्षाणिह्यु रः सर्पात्मनां भुवि: ॥ ९० ॥ कुलान्यत्र-मनुष्याणामार्यम्लेच्छखगात्मनाम् । द्विसप्तकोटिलक्षाणि सर्वेषामितिजन्मिनाम् ॥ ९१ ॥ एकैव कोटि कोटीसार्द्धानवति नवाधिका । कोटीशतसहस्त्राणि कुलसंख्याजिनोदिता ॥ ९२ ॥ इति जाति कुलान्यत्रगुणस्थानानिमार्गणाः । सम्यग्विज्ञाय जीवानांश्रु ते कार्या दया न्वहम् ॥ ९३ ॥ जीवतत्त्वंनिरूप्येद् प्रसिद्धागमभाषया । सतां श्रु वे समासेनाधुनाध्यात्मसुभाषया ॥ ९४ ॥ द्रव्यभावात्मकै.प्राणैर्जीविता: प्राग्यतोंगिनः । जीवन्ति च तथा जीविष्यन्ति जीवास्ततोमताः ॥ ९५ ॥ केवलज्ञानदृग्नेत्राः कर्तृ भोक्तृत्ववर्जिता. । उत्पत्तिमरणातीताः वधमोक्षातिगा भुवि ॥९६॥ असख्यातप्रदेशा सर्वेऽमूर्ता. सिद्धसन्निभाः । साद्दश्यागुणयोगेननिश्चयेनांगिनः स्मृतो. ॥ ९७ ॥ युक्त्या मत्यादिभि

कुल हैं देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं और सरीसर्पों के नौ लाख करोड़ कुल हैं ॥८९–९०॥ आर्य म्लेच्छ और विंद्याधरों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं ॥९१॥ इस प्रकार समस्त जीवों के कुलों की संख्या एकसौ साड़ेनिन्यानवे लाख करोड़ होती है। इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनके कुल बतलाये हैं ॥९२॥ इस प्रकार जीवों की जाति कुल गुणस्थान और मार्गणाओं को शास्त्रों के अनुसार अच्छी तरह जान कर प्रतिदिन जीवों की दया करनी चाहिये ॥९३॥ इस प्रकार आगम की प्रसिद्ध भाषा के अनुसार जीव तत्त्व का स्वरूप कहा अब आगे सज्जनों के लिए अध्यात्म भाषा के द्वारा संक्षेप से जीव का स्वरूप कहते हैं ॥९४॥ जो प्राणी द्रव्य प्राण और भाव प्राणों के द्वारा पहले जीवित थे, अब जीवित हैं और आगे जीवित रहेंगे उनको जीव कहते हैं ॥९५॥ निश्चय नय से देखा जाय तो समस्त जीव केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित हैं जन्म मरण से रहित हैं बंध मोक्ष से रहित हैं असंख्यात प्रदेशी हैं और सिद्ध के समान सब अमूर्त हैं तथा आत्म गुणों के समान होने से सब समान हैं। इस प्रकार निश्चय नय जीवों का स्वरूप है ॥९६–९७॥ इसी प्रकार गणधरादिक देवों ने व्यवहार नय से जीवों का स्वरूप मतिज्ञान श्रुतज्ञान

. ज्ञानैश्चसुराद्यैश्चदर्शनैः । कर्मणां कर्तृभोक्तारो बंधमोक्षविधायिनः ॥ ६८ ॥ चतुर्गतिमतामूर्ता. सुखदुःखादिभोगिन. । व्यवहारनयेनात्र प्रोक्ता जीवा गणाधिपै. ॥ ६६ ॥ रूप्यरूपिप्रकाराभ्यामजीवाद्विविधामता. । चतुर्द्धा पुद्गुला–रूपिणश्चस्कंधादिभेदतः ॥ १०० ॥ स्कधाखगाः स्कंधदेशाश्च स्कधप्रदेशपुद्गला' । अणवः पुद्गला अत्रेत्युक्ता–जिनैश्चतुर्विधा. ॥ १०१ ॥ सर्व स्कंधः सभेदश्चवह्वणूद्भवऊर्जित. । स्कधस्यार्द्ध वुधैरुक्त. स्कधदेशोजिनागमे ॥२॥ तस्यार्द्धार्द्धेन सजातोद्वणपर्यन्तभेदभाक् । स्कंधप्रदेशएवाविभागी स्यादणु' पुद्गलः ॥ ३ ॥ जीवितं मरणं दु खं सुख देहोन्विवर्जनम् । जीवाना पुद्गला' कुर्यु कर्मवंधाद्युपग्रहम् ॥ ४ ॥ धर्मोऽधर्मो नभः काल इमेरूपादिवर्जिताः । जीवपुद्गलयो र्लोके निष्क्रिया सहकारिणः ॥ ५ ॥ सहकारीगतौधर्मो जीवपुद्गलयोर्मत. । असख्यातप्रदेशोत्र

आदि ज्ञानों को धारण करने वाला चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन आदि दर्शनों को धारण करने वाला, कर्मों का कर्ता भोक्ता, वंध वा मोक्ष को करने वाला, चतुर्गति में परिभ्रमण करने वाला मूर्त और सुख दुःख भोगने वाला बतलाया है ॥६८–६६॥ आगे अजीव को बतलाते हैं अजीव के दो भेद है रूपी और अरूपी । उनमें से उद्गल रूपी हैं और स्कंधादिक के भेद से चार उसके भेद हैं ॥१००॥ स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने पुद्गल के चार भेद बतलाये हैं ॥१०१॥ जो बहुत से परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कंध को स्कंध कहते हैं। स्कंध का जो आधा भाग है उसको विद्वानों ने जैन शास्त्रों में स्कंधदेश बतलाया है। उस स्कंधदेश के आधे भाग को तथा उसके भी आधे भाग को इस प्रकार दो अणु के स्कंध तक के भागों को स्कंधप्रदेश कहते हैं तथा अविभागी पुद्गल के परमाणु को अणु कहते हैं ॥१०२–३॥ जीवन मरण सुख दुःख तथा शरीर के त्याग के द्वारा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार करते हैं। ये पुद्गल कर्मबंध के द्वारा भी जीव का उपकार करते हैं ॥४॥ धर्म अधर्म आकाश और काल ये अरूपी अजीव द्रव्य हैं, ये चारों ही द्रव्य क्रिया रहित हैं और जीव पुद्गल के उपकारक हैं ॥५॥ जिस प्रकार जल की राशि मछलियों को चलने में सहायक हैं उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव उद्गलों के चलने में सहकारी होता है यह धर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है ॥६॥ जिस

मत्स्यानां जलराशिवत् ॥ ६ ॥ छायावत्पथिकानामधर्मः सोह्यकारः स्थितौ । जीवपुद्गलयोः प्रोक्तः संख्यानीत–प्रदेशवान् ॥ ७ ॥ लोकालोक द्विभेदाभ्यांद्विधाकाशः स्मृतो जिनैः । अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां खंडवर्जितः ॥ ८ ॥ धर्मोऽधर्मोंगिनः काल पुद्गलाः खेत्र यावति । एते तिष्ठन्ति तावन्मानः लोकाकाशएवहि ॥ ९ ॥ तस्मात्स्या–त्परतोनंतप्रदेशएककोमहान । सर्वद्रव्यातिगोनित्योऽलोकाकाशोजिनोदितः ॥ १० ॥ नवजीर्णादिभिः कालः परिवर्तनहेतुकृत् । जीवपुद्गलयोर्लोके व्यवहारोदिनादिकः ॥ ११ ॥ लोकाकाशप्रदेशे यः पृथग्भूतोएसंचयः । स निश्चयाभिधः कालोरत्नराशिरिवोर्जितः ॥ १२ ॥ एतेत्र सह जीवेन षड्द्रव्याउदिताजिनै. । कालद्रव्यं विनापचा–स्तिकायाश्रीजिनागमे ॥ १३ ॥ रागद्वेषादियुक्तो य. परिणामो हि रागिणाम् । कर्मास्रवनिमित्तोनेकधाभावास्रवो

प्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी होता है। तथा यह द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है ॥७॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने आकाश के दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। यह आकाश समस्त पदार्थों को जगह देता है। तथा यह आकाश अखंड द्रव्य है ॥८॥ जितने आकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल रहता है उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं ॥९॥ उस लोकाकाश के बाहर सब ओर जो एक महान् और अनंत प्रदेशीं आकाश है जिसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है और जो नित्य है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने अलोकाकाश बतलाया है ॥१०॥ काल द्रव्य नवीन पदार्थों को भी पुराना बना देता है और जिस प्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थों में परिवर्तन करता रहता है। तथा लोक में दिन रात घड़ी घंटा आदि के भेद से जो काल माना जाता है वह सब व्यवहार काल है ॥११॥ जिस प्रकार रत्नों की राशि पास पास जड़ी रहती है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो अलग अलग काल के परमाणु विद्यमान हैं उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं ॥१२॥ इस प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पाँच अजीव के भेद बतलाये हैं उनमें जीव द्रव्य को मिला देने से भगवान जिनेन्द्रदेव ने छह नाम बतलाये हैं तथा काल द्रव्य को छोड़ कर बाकी के पाँच जैन शास्त्रों में अस्तिकाय बतलाये हैं ॥१३॥ रागद्वेष को धारण करने वाले जीवों के कर्मों के आस्रव का कारण ऐसा जो रागद्वेष सहित परिणाम है उसको भावास्रव कहते हैं उस भावास्रव के अनेक

त्रसः ॥ १४ ॥ भावास्रवेन जंतूनां यदागमनमन्वहम् । कर्मरूपेण भोपुद्गलानां द्रव्यास्रवोत्रस ॥ १५ ॥ मिथ्यात्वं पचधा द्वादशधाविरतयोऽशुभाः । दशपचप्रमादाश्च कषायाः पचविशतिः ॥ १६ ॥ योगा. पचदशात्रैतेदुस्त्याज्याः प्रत्ययान्नृणाम् । विश्वानर्थाकरीभूता भावास्रवस्यहेतवः ॥ १७ ॥ येनप्रत्ययरोधेनरुद्ध कर्मास्रवोखिल । सर्वंसमीहितं सिद्धं तस्यैवमुक्ति कारणम् ॥ १८ ॥ कर्मास्रवनिरोधयोऽक्षम कर्तु निजात्मन । ध्यानाध्ययनयोगाद्यैर्वृथा तस्य तपोयमः ॥ १९ ॥ कर्मास्रव निराकर्तुं येऽसमर्थायमादिभि. । चचलास्ते कथं घ्नन्ति क्रूरान् कर्मारिदुर्जयान् ॥२०॥ ज्ञात्वेतिकर्मवद्दक्षाः स्वनिरुध्याखिलाश्रयात् । वाह्यात्सर्वप्रयत्नेनरुंधीध्व सकलास्रवम् ॥ २१ ॥ रागद्वेषमयेनात्र परिणामेन येन च । बध्यन्ते कृत्स्नकर्माणि भावबध स उच्यते ॥ २२ ॥ भावबंधनिमित्तेनसार्द्धं यः कर्मपुद्गलैः ।

भेद है ॥१४॥ संसारी जीवों के उस भावास्रव के द्वारा कर्म रूप बन कर जो पुद्गलों का आगमन होता है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं ॥१५॥ पॉच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार का अविरत, पंद्रह प्रकार के अशुभ प्रमाद, पच्चीस कषाय और पद्रह योग ये सब भावास्रव के कारण हैं समस्त अनर्थों के करने वाले हैं और मनुष्यों से बड़ी कठिनता से छूटते हैं ॥१६–१७॥ जो मनुष्य भावास्रव के कारणों को रोक कर समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेता है उसके मोक्ष के कारण ऐसे समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥१८॥ जो मुनि अपनी आत्मा के ध्यान अध्ययन और योग आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ है अर्थात् जो धनादिक के द्वारा आस्रव रोक नहीं सकता उसका यम नियम और तपश्चरण सब व्यर्थ है ॥१९॥ जो मुनि यम नियम आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को भी रोकने मे असमर्थ हैं वे चंचल पुरुष अत्यंत क्रूर ऐसे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ?॥२०॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को बाहर के समस्त आश्रयों से कर्मविशिष्ट आत्मा को रोकना चाहिये और पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त आस्रवों को रोकना चाहिये ॥२१॥ जिन रागद्वेषमय परिणामों से समस्त कर्म बंधते हैं उन परिणामों को भावबंध कहते हैं ॥२२॥ उस भावबंध के निमित्त से कर्मपुद्गलों के साथ साथ जो आत्मा के प्रदेशों का संबंध हो जाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं ॥२३॥

संश्लेषोगिप्रदेशानां द्रव्यबंधः स कथ्यते ॥ २३ ॥ प्रकृतिस्थितिरनुभागः प्रदेशपंचकः । इति चतुर्विधो द्रव्यबंधो-बंधकरोंगिनाम् ॥ २४ ॥ प्रकृत्यामा प्रदेशस्य वचौवाकायमानसैः कषायै र्भवतो बंधोपुंसां स्थित्यनुभागयोः ॥२५॥ यथारजांसि तैलादिस्निग्धगात्रे णदेहिनाम् । लगन्ति च तथा कर्माण्योरागादिभिः सदा ॥ २६ ॥ यथा बंधन वद्धोत्र भुंक्ते दुःखमनारतम् । पराधीनस्तथाप्राणी चतुर्गतिपुमाधिकम् ॥ २७ ॥ अक्षम -कर्मबधं यः छेत्तुं ध्यानायुधादिभिः । कथं मुक्तो भवेत्सोत्रकुर्वन्नपि तपोमहत् ॥ २८ ॥ यावच्छिनत्तिबंधं न कर्मणां सत्तपोसिना । तावत्सुखी क जायेतमुनिर्भ्रमन् भवाटवीम् ॥ २९ ॥ विज्ञायेतिप्रयत्नेन मुक्तिकामाः स्वमुक्तये । रत्नत्रयायुधेनेव-छिन्दन्तु कर्मशास्त्रवम् ॥३०॥ चैतन्यपरिणामो यः कर्मास्रवनिरोधकः । स्वात्मध्यानरतः शुद्धो भावसंवर एव सः ॥३१॥

प्राणियों को बंध करने वाला यह द्रव्यबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से चार प्रकार का बतलाया है ॥२४॥ इन चारों प्रकार के बंधों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध मन वचन काय के योगों से होते हैं और स्थितिबंध तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं ॥२५॥ जिस प्रकार तेल आदि के द्वारा चिकने हुए मनुष्यों के शरीर पर धूल जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष आदि कारण आत्मा के प्रदेशों में कर्मों के परमाणु आकर मिल जाते हैं ॥२६॥ जिस प्रकार बंधन में बधा हुआ मनुष्य पराधीन होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है उसी प्रकार कर्मबंध से बंधा हुआ यह प्राणी पराधीन होकर चारों गतियों में बहुत से दुःख भोगता है ॥२७॥ जो मुनि महा तपश्चरण करता हुआ भी ध्यान रूपी शस्त्र से कर्मबंध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त कभी नहीं हो सकता ॥२८॥ यह मुनि जब तक श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी तलवार से जब तक कर्मों के बंधन को छिन्न भिन्न नहीं कर सकता तब तक वह संसार रूपी वन मे ही घूमता रहता है और तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता ॥२९॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालना चाहिये ॥३०॥ कर्मों के आस्रव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है अथवा ध्यान में लीन हुआ जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको भाव संवर कहते हैं ॥३१॥ तेरह प्रकार का चारित्र, दश प्रकार का सर्वोत्कृष्ट धर्म,

त्रयोदशविधं वृत्तं धर्मो दशविधोमहान् । अनुप्रेक्षाद्विषडभेदा परीषहजयोखिल ॥ ३२ ॥ चारित्रं पचधा योगा ध्यानाध्ययनदक्षता । तपो यमादिका एते भावसवरकारिण ॥ ३३ ॥ संवर कर्मणा यस्यमुनेर्योगादिनिग्रहै । तस्यैव सफल जन्मसार्थादीक्षा शुभशिवम् ॥ ३४ ॥ अक्षम सवर कर्तुं यो यतियोगचंचलै । तस्य जातु न मोक्षोत्रागक्लेशस्तुषखडनम् ॥ ३५ ॥ सन्नद्ध सगरेयद्वद्भटोहन्ति रिपून वहून् । तद्वत् सवरितो योगी कर्मारातींस्त-पोवलात् ॥ ३६ ॥ सवरेणविनापुंसां वृथा दीक्षा तपोखिलम् । यत. कर्मास्रवेणैव वर्द्धते ससृतिस्तराम् ॥ ३७ ॥ मत्वेति धीधनै कार्यः सवरो मुक्तिकारक । सर्वै व्रतादिभियोगैप्रयत्नशिवाप्तये ॥ ३८ ॥ कर्तव्योमुनिभिः पूर्वं सवरोत्राघकर्मणाम । स्वात्मध्यान तत. प्राप्यसिध्यै च शुभकर्मणाम ॥ ३९ ॥ सविपाकाविपाकाभ्या कर्मणां

बारह अनुप्रेक्षाएं, समस्त परिपहो का जीतना, पाँच प्रकार का चारित्र, योग ध्यान और अध्ययन की चतुरता, तप यम नियम आदि सब भावसंवर के कारण हैं ॥३२–३३॥ जो मुनि अपने मन वचन काय के योगों का निग्रह कर कर्मों का संवर करता है उसी का जन्म सफल समझना चाहिये उसी का दीक्षा सार्थक समझनी चाहिये और उसी को शुभ मोक्ष की प्राप्ति समझनी चाहिये ॥३४॥ जो मुनि अपने योगों की चंचलता के कारण कर्मों का संवर करने में असमर्थ है उसको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी अवस्था मे उसका तप करना चावलो की भूसी को कूटने के समान केवल शरीर को क्लेश पहुँचाना है ॥३५॥ जिस प्रकार युद्ध के लिये तैयार हुआ योद्धा युद्ध मे बहुत से शत्रुओं को मार डालता है उसी प्रकार संवर को धारण करने वाला मुनि अपने तपश्चरण के वल से बहुत से कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालता है ॥३६॥ बिना संवर के मनुष्यों की जिनदीक्षा वा तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है क्योंकि कर्मों का आस्रव होने से संसार की परंपरा बरावर बढ़ती जाती है ॥३७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त चारित्र तपश्चरण आदि धारण कर प्रयत्न पूर्वक मोक्ष देने वाला कर्मों का संवर सदा करते रहना चाहिये ॥३८॥ मुनियों को सबसे पहले पापरूप अशुभ कर्मों का संवर करना चाहिये और फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने आत्मध्यान में लीन होकर शुभ कर्मों का भी संवर करना चाहिये ॥३९॥ कर्मों के एक देश क्षय होने

निर्जरा द्विधा । सविपाकात्र सर्वेषां सदा कर्मविपाकतः ॥ ४० ॥ अविपाका मुनीनां मा केवलं जायतेतराम् । तपोभिर्दुष्करैर्विश्ववैर्यमाद्यै मुक्तिमातृका ॥ ४१ ॥ यद्वदाम्रफलान्यत्रपचन्तेहो वह्न्यूष्मणा । तद्वच्च कृत्स्नकर्माणितप-स्तापैर्मुनीश्वरैः ॥ ४२ ॥ यथाजीर्णयुतोरोगीमलनिर्गमनाद्भवेत् । महासुखीमुनिस्तद्वत्कर्मनिर्जरणाद्भुवि ॥ ४३ ॥ यथायथात्र जायेत कर्मणां निर्जरामताम् । तथातथासमायातिनिकटंमुक्तिनायका ॥ ४४ ॥ यदैव निर्जरा सर्वा तपसाखिलकर्मणाम् । तदैव जायते मोक्षोऽनन्तसौख्याकरः मताम् ॥ ४५ ॥ ज्ञात्वेति मुक्तिकामैः सा विधेयामुक्ति-कारिणी । खनीमस्तसौख्यानां तपोरत्नत्रयादिभिः ॥ ४६ ॥ सर्वेषां कर्मणां योत्रक्षयहेतुर्जितात्मनः । विशुद्धः परिणामः सः तावन्मोक्षोऽशुभान्तकः ॥ ४७ ॥ केवलज्ञानिनो योत्रविश्लेषः कर्मजीवयोः । सर्वथा द्रव्यमोक्षः

को निर्जरा कहते हैं उसके सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा के भेद से दो भेद हैं। उनमें से सविपाक निर्जरा समस्त संसारी जीवों के सदा होती रहती है क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का विपाक प्रति समय सबके होता रहता है ॥४०॥ तथा अविपाक निर्जरा मोक्ष की माता है और वह घोर तपश्चरण तथा समस्त यमों को धारण करने से केवल मुनियों के ही होती है ॥४१॥ जिस प्रकार आम के फल अधिक गर्मी से जल्दी पक जाते हैं उसी प्रकार मुनिराज भी अपने तीव्र तपश्चरण की गर्मी से समस्त कर्मों को पका डालते हैं ॥४२॥ जिस प्रकार अजीर्ण रोग का रोगी मल निकल जाने से (दस्त हो जाने से) अधिक सुखी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी कर्मों की निर्जरा हो जाने से अधिक सुखी हो जाते हैं ॥४३॥ मुनियों की जैसे जैसे कर्मों की अधिक निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे मुक्ति रूपी नायका उनके निकट आती जाती है ॥४४॥ जब तपश्चरण के द्वारा सज्जनों के समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय उनको अनंत सुख देने वाली मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥४५॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को तपश्चरण और रत्नत्रय आदि के द्वारा समस्त सुखों की खानि और मोक्ष को देने वाली यह कर्मों की निर्जरा अवश्य करनी चाहिये ॥४६॥ अपने आत्मा को वश करने वाले मुनियों के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण ऐसा जो अत्यंत शुद्ध परिणाम होता है उसको समस्त पापों का नाश करने वाला भाव मोक्ष कहते हैं ॥४७॥ केवली भगवान के जो कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसको अनन्त सुख देने वाला महान्

सोऽनन्तशर्माकरोमहान् ॥ ४८ ॥ यथापादशिरोन्तं हि वद्धस्य दृढवन्धनैः । मोचनाच्च परशर्म तथा कृत्स्नविधिक्षयात् ॥ ४६ ॥ तत ऊर्ध्वस्वभावेनव्रजेदात्माशिवालयम् । कृत्स्नकर्मवपुर्नाशाद्गुणाष्टकमयोमहान् ॥ ५० ॥ तत्रभुंक्तेनिरावाधंसुखं वाचामगोचरम् । अनन्त शाश्वतं सिद्धः स्वात्मजविपयातिगम् ॥ ५१ ॥ यत्सुख सकलोत्कृष्टं कालत्रितयगोचरम् । विश्वदेवमनुष्याणांतिरश्चांभोगभागिनाम् ॥ ५२ ॥ तस्मादन्तातिगसौख्यं निरौपम्यसुखोद्भवम् । एकस्मिन समयेभुंक्ते सिद्धोऽमूर्तोखिलार्थवित् ॥ ५३ ॥ विज्ञायेति बुधा शीघ्रं मोक्ष नित्यगुणाम्बुधिम् । साधयन्तु प्रयत्नेन तपोभिर्दीक्षयायमैः ॥ ५४ ॥ इमानि सप्ततत्त्वानि भाषितानिजिनागमे । जनैर्दृक्शुद्धये नित्य श्रद्धेयानि–

द्रव्य मोक्ष कहते हैं ॥४८॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य अत्यंत दृढ़ वन्धनों से सिर से पैर तक बंधा हो और फिर उसको छोड़ दिया जाय तो छूटने से वह सुखी होता है उसी प्रकार कर्मों से बंधा हुआ आत्मा समस्त कर्मों के नाश हो जाने से अनन्त सुखी हो जाता है ॥४६॥ तदनन्तर ऊर्ध्वस्वभाव होने के कारण यह आत्मा मोक्ष में जा विराजमान होता है। इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और शरीर भी नष्ट हो जाता है इसलिये भी यह मोक्ष में पहुँच जाता है। उस समय यह सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हो जाता है और सर्वोत्कृष्ट हो जाता है ॥५०॥ वहाँ पर सिद्ध भगवान जिस शुख का अनुभव करते हैं वह सुख निरावाध है वाणी के अगोचर है, अनंत है, नित्य है केवल स्वात्मा से प्रगट होता है और विषयों से सर्वथा रहित है ॥५१॥ समस्त देव समस्त मनुष्य, समस्त तिर्यंच और समस्त भोग भूमियों का भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों में होने वाला जो सर्वोत्कृष्ट सुख है उससे अनंतगुना अनुपम सुख समस्त पदार्थों को जानने वाले अमूर्त सिद्ध भगवान एक समय में अनुभव करते हैं ॥५२–५३॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को तपश्चरण दीक्षा और यम आदि धारण कर प्रयत्नपूर्वक सदा रहने वाले अनुपम गुणों का समुद्र ऐसा यह मोक्ष अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥५४॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में ये सात तत्त्व निरूपण किए हैं। सम्यग्दृष्टी पुरुषों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध रखने के लिये सदा इनका श्रद्धान बनाये रखना

दृगन्वितैः ॥ ५५ ॥ शुभैर्योगक्रियाद्यैश्च पुण्यमुत्पद्यते नृणाम् । अशुभैःपापमत्यर्थं प्रत्यहं दुःखकारणम् ॥ ५६ ॥ सद्वेद्यं सुरतिर्यग्नरायुर्नामशुभानि च । उच्चैर्गोत्रमिमाज्ञेयाद्विचत्वारिंशदेव हि ॥ ५७ ॥ पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादि-सुखखानयः । पापप्रकृतयः शेपाविश्वदुःखनिबंधना. ॥ ५८ ॥ प्रागुक्तसप्ततत्त्वानिपुण्यपापयुतानि च । पदार्था नव कथ्यन्तेसम्यग्दृग्ज्ञानगोचराः ॥ ५९ ॥ तेषुतत्त्वपदार्थेषु परां श्रद्धा विधाय च। दृष्टेरंगान्यपीमान्यादेयान्यष्टौ-विशुद्धये ॥ ६० ॥ नि.शंकितं च निःकांक्षितांगंनिर्विचिकित्सितम् । अमूढदृष्टिनामागंह्यु पगूहनमंङकम् ॥ ६१ ॥ सुस्थितीकरण वात्सल्यंप्रभावननामकम् । एतान्यष्टौमहागानि दृष्टेर्धार्याणिदृग्युतैः ॥ ६२ ॥ उक्ततत्त्वपदार्थेषु तीर्थेशेसकलागमे । निर्ग्रंथे च गुरौधर्मेदयापूर्णे जिनोदिते ॥ ६३ ॥ रत्नत्रयमये मोक्षमार्गे शंकाबुधोत्तमैः । त्यज्यते

चाहिये ॥५५॥ मनुष्यों को मन वचन काय की शुभ क्रियाओं से पुण्य उत्पन्न होता है और अशुभ क्रिआओ से प्रतिदिन दुःख देने वाला अत्यंत पाप उत्पन्न होता है। साता वेदनीय, देवायु, चिर्यचायु, मनुष्यायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँचों शरीर, तीनों आंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृपभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण रस गंध स्पर्श, मनुष्यगति प्रयोग्यानुपूर्वी देवगतिप्रयोग्यानुपूर्वी अगुरुलघु परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति निर्माण, तीर्थंकर ऊंच गोत्र ये कर्मों की ब्यालीस प्रकृतियाँ शुभ कहलाती हैं तथा इन्हीं को पुण्य कहते हैं ये पुण्य प्रकृतियाँ तीर्थंकरादिक पदों के सुख देने वाली हैं। इनके सिवाय जो कर्म प्रकृतियाँ है ये सब पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं और समस्त दुःखों को देने वाली हैं ॥५६–५८॥ पहले कहे हुए सातों तत्त्व पुण्य पाप के मिलाने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गोचर हैं ॥५९॥ इन तत्त्व और पदार्थों में परम श्रद्धा धारण कर इस सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिये आगे कहे हुए सम्यग्दर्शन के आठों अगों का पालन करना चाहिये॥ ६०॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के महा अंग हैं। सम्यग्दृष्टियों को इनका पालन अवश्य करना चाहिये ॥६१–६२॥ ऊपर कहे हुए समस्त तत्त्वों में, पदार्थों मे, तीर्थंकर परमदेव में, उनके कहे हुये आगम में, निर्ग्रंथ गुरु में भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये दयामय धर्म मे और रत्नत्रय

या सदासस्यान्निःशकितांग आदि भ. ॥ ६४ ॥ कुलाद्रिमेरुभूभागंकचिद्दैवाच्चलेदहो । न जातुदेशकालेपि वाक्यं श्रीजिनभापितम ॥ ६५ ॥ इति मत्वात्रसर्वज्ञं निर्दोपगुणसागरम् । प्रमाणीकृत्यतीर्थेशं तद्वाक्येनिश्चयं कुरु ॥ ६६ ॥ इहलोकभयंनाम परलोकभवभुवि । अत्राणगुप्तिमृत्याख्यवेदनाकस्मिकाह्वया ॥ ६७ ॥ इमे सप्तभयास्त्याज्या भयकर्मभवाबुधैः । दृग्विशुध्यै विदित्वानुल्लघ्यं भाविशुभाशुभम् ॥ ६८ ॥ इह पुत्रकलत्रश्रीराज्यभोगादिशर्मसु । अमुत्रस्वर्ग चक्री न्द्राहमिन्द्रादिपदेषु च ॥ ६९ ॥ कुदेवश्रुतगुर्वादौ कुधर्मेवारिनिर्जये । धर्मायमूढभावेनतपोधर्मफलादिभिः ॥ १७० ॥ या निराक्रियतेनित्यंदुराकांक्षाविरागिभिः । तन्निःकांक्षाह्वयं सारं ह्यंगं स्वमुक्तिभूतिदम् ॥७१॥

स्वरूप मोक्षमोग में विद्वान् पुरुषों को सब तरह की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिये। इसको सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग कहते हैं ॥६३–६४॥ इसका भी कारण यह है कि कदाचित् दैवयोग से कुलपर्वत वा मेरुपर्वत का भूभाग चलायमान हो सकता है परन्तु किसी भी देश वा किसी भी काल में भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वचन चलायमान वा अन्यथा नही हो सकता ॥६५॥ यही समझ कर और सर्वज्ञ निर्दोष तथा गुणों के समुद्र ऐसे तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके वचनों का निश्चय करना चाहिये ॥६६॥ इस संसार में सात भय हैं इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी अरक्षा का भय, मृत्यु का भय, वेदना वा रोग का भय, आकस्मिक भय और परकोटा आदि के न होने से सुरक्षित न रहने का भय ये सातों भय भय नाम के कर्म से उत्पन्न होते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये बुद्धिमानों को इन सातों भयों का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि जो होनहार शुभ तथा अशुभ है उसको कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता ॥६७–६८॥ वीत–रागी पुरुष धर्म के लिये किये हुये तपश्चरण आदि धर्म के फल से अज्ञान रूप परिणामों से भी पुत्र स्त्री लक्ष्मी राज्य भोग आदि कल्याण करने वाले इस लोक संबंधी पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते, तथा परलोक में होने वाले स्वर्ग के सुख वा इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि के पदों की आकांक्षा भी नहीं करते। इसी प्रकार कुदेव कुशास्त्र कुगुरु और कुधर्म की भी इच्छा कभी नहीं करते और न शत्रुओ के जीतने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करना है उसको स्वर्ग मोक्ष की विभूति

भंगुरंत्रिजगत्सर्वं भोगांगंश्वभ्रकारणम् । कारागारं वपुर्मत्वा कांक्षा हेया सुखादिषु ॥ ७२ ॥ द्रव्यभावद्विभेदाभ्यां विचिकित्सा द्विधामता । आद्यामुनिवपुर्जाताद्वितीयात्रक्षुधादिजा ॥ ७३ ॥ मुनीनां मलमूत्रादीन् वातकष्टादिरुग्व्रजान् । पश्यतां याघृणा द्रव्यविचिकित्सात्र सा शुभा ॥ ७४ ॥ जैनेत्रशासने घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । यदि सन्ति न चेदन्यत्समीचीन किलाखिलम् ॥ ७५ ॥ इत्यादि चिन्तनं यच्च कातरैः क्रियते हृदि । भावाख्याविचिकित्सा सा स्मृतामिथ्यात्वकारिणी ॥ ७६ ॥ एषात्रत्रिविधा चित्ते हन्यते या विवेकिभिः । तत्स्यान्निर्विचिकित्साख्यमंगं विश्वसुखप्रदम् ॥ ७७ ॥ मुनीन्द्रसद्गुणान्सारान् जगद्भव्यहितंकरान् । विश्वासाधारणान् ज्ञात्वा तद्गात्रेत्यज भोघृणाम् ॥ ७८ ॥ बौद्धादिसमयेसर्ववेदस्मृत्यादिदुःश्रुते । हरहर्यादिदेवे च सग्रंथेकुगुरौखले ॥ ७९ ॥

देने वाला सारभूत निःकांक्षित अंग कहते है ॥६९–७१॥ ये समस्त तीनों लोक क्षणभंगुर हैं भोगोपभोग के साधन सब नरक के कारण हैं और शरीर कारागार के समान है यही समझ कर सुखादिक की आकांक्षा सर्वथा दूर कर देनी चाहिये ॥७२॥ द्रव्य और भाव के भेद से विचिकित्सा के दो भेद हैं। पहली मुनियों के शरीर से उत्पन्न हुई द्रव्यविचिकित्सा है और दूसरी भूख, प्यास से उत्पन्न होने वाली भावविचिकित्सा है ॥७३॥ मुनियों के मलमूत्र को देख कर अथवा वायु के रोग को वा उनके अन्य रोगों को देख कर जो घृणा करता है वह अशुभ द्रव्यचिकित्सा कहलाती है ॥७४॥ यदि जैन शासन में भूख प्यास की घोर परिषह न हों तो बाकी का समस्त जैन शासन अत्यंत समीचीन है इस प्रकार का चिंतवन कातर लोग ही करते हैं और इसी को मिथ्यात्व बढ़ाने वाली भावचिकित्सा कहते हैं ॥७५–७६॥ विवेकी पुरुष इन दोनों प्रकार की विचिकित्साओं का जो त्याग कर देते हैं उसको समस्त संसार को सुख देने वाला निर्विचिकित्सा अंग कहते है ॥७७॥ मुनिराज मे समस्त संसार में न न होने वाले अनेक असाधारण सद्गुण है वे सब गुण सारभूत हैं और जगत के समस्त भव्य जीवों का हित करने वाले हैं। यही समझ कर मुनिराज के शरीर को देख कर कभी घृणा नहीं करनी चाहिये ॥७८॥ चतुर पुरुष अपने आत्मा का कल्याण करने के लिये बौद्ध आदि अन्य समस्त मतो में, वेद स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रो में, हरि हर आदि अन्य देवों मे और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओं में

श्रेयोर्थं दृक्भावेन भक्तिरागाद्युपासनम् । यन्निराक्रियतेस्वान्यैरमूढत्वं तदूर्जितम् ॥ ८० ॥ विवेकलोचनेनात्रपरीच्य-निखिलान्मतान् । सारासाराश्च धर्मादीन् मूढत्व जहि सर्वथा ॥ ८१ ॥ निर्दोपस्य निसर्गेण जिनेन्द्रशासनस्य च । चतु.सघमुनीशानां वालाशक्त जनाश्रयै. ॥ ८२ ॥ आगतस्यात्रदोपस्याच्छादनं यद्विधीयते । दक्षैर्नानाविधोपायैरुप-गूहनमेवतत् ॥ ८३ ॥ निष्कलकशरण्यं च महच्छ्रीजिनशासनम् । विदित्वागततद्दोप छादयन्तु बुधा द्रुतम् ॥८४॥ सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रेभ्योघोरतपसोभुवि । परीपहोपसर्गाद्यैश्चलतां गृहियोगिनाम् ॥ ८५ ॥ सुस्थितिकरण यच्च क्रियते स्वक्रियादिपु । हितैधर्मकरैर्वाग्भै. सुस्थितीकरणंहि तत् ॥ ८६ ॥ परिज्ञाय जगत्सारांस्तपोधर्मव्रतादिकान् स्वमुक्तिसाधकास्तेपुस्थितीकरणमाचरे. ॥ ८७ ॥ चतुर्विधेपुसवेपु नाकनिर्वाणगामिषु । धर्मप्रवर्तकेष्वत्रसद्य प्रसूत-

---

न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते उसको श्रेष्ठ अमूढदृष्टि अंग कहते हैं ॥७९—८०॥ चतुर पुरुषो को विवेक रूपी नेत्रों से समस्त मतों की परीक्षा कर लेनी चाहिये उन सबका सार असार समझ लेना चाहिये धर्म का स्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर अपनी मूढता का त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ यह जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिये उसमें तथा चारो प्रकार के मुनियों के संघ में यदि किसी बालक वा असमर्थ मनुष्य के आश्रय से कोई दोप आ जाय तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादान ही कर देना चाहिये । इसको उपगूहन अंग कहते हैं ॥८२—८३॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेव का महा जिन शासन निष्कलंक है और शरणभूत है यही समझ कर चतुर पुरुषो को शीघ्र ही उसमें आये हुये दोपों को आच्छादान करते रहना चाहिये ॥८४॥ यदि कोई श्रावक वा मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्मरूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥८५—८६॥ ये तप धम और व्रतादिक सब जगत में सारभूत हैं और स्वर्गमोक्ष के साधन हैं यही समझ कर उनमें स्थिति करण अवश्य करना चाहिये ॥८७॥ धर्मात्मा पुरुष अपने धर्म की सिद्धि क लिये स्वर्गमोक्ष में जाने वाले चारों प्रकार के

धेनुवत् ।। ८८ ।। स्नेहंभक्त्यादिकं यच्च धर्मबुध्या विधीयते । धार्मिकैर्धर्मसिध्यर्थं तद्वात्सल्यं जगद्धितम् ।। ८९ ।। चतुर्विधंमहासंघं विश्वलोकोत्तमंपरम् । गुणैरन्तातिगै र्ज्ञात्वा तद्वात्सल्यंभजान्वहम् ।। ९० ।। मूलोत्तरगुणैर्योगै-र्वृ त्तमूलादिपूर्वकैः । तपोभिदु ष्करै र्ज्ञानविज्ञानभानुरश्मिभिः ।। ९१ ।। उच्छिद्यान्यमतध्वान्तंविद्भिर्लोके प्रकाशकम् । धर्मार्हच्छासनादीनां यत्साप्रभावना मता ।। ९२ ।। सत्यभूतं जगत्पूज्य भव्यात्तं जिनशासनम् । भवघ्नं मोक्षदं वीक्ष्य व्यक्तीकुर्वन्तु धीधनाः ।। ९३ ।। इमान्यष्टांगसाराणि दर्शनस्यविशुद्धये । विशुद्धिदानि यत्नेनरक्षणीयानि धीधनैः ।। ९४ ।। यथोराज्यांगहीनोत्राक्षमोहन्तु रिपून् नृपः । तथास्यांगैर्विना सम्यग्दृष्टिः कर्मरिपून्क्वचित् ।। ९५ ।।

संघ में तथा धर्म की प्रवृत्ति करने वालों में धर्म बुद्धि से जो अपने बच्चे में हाल की प्रसूता गाय के समान स्नेह करते हैं और भक्ति करते हैं उसको जगत का हित करने वाला वात्सल्य अंग कहते है ।।८८–८९।। यह चारों प्रकार का संघ समस्त लोक में उत्तम है और अनंत गुणों से सुशोभित होने के कारण सर्वोकृष्ट है । यही समझ कर प्रतिदिन इस वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिये ।।९०।। जिस प्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाएं डालियाँ आदि होती हैं उसी प्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं । इन मूलगुणों को धारण कर के तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान विज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अन्य मत रूपी अंधकार को नाश कर विद्वान लोग इस लोक में जो धर्मस्वरूप भगवान अरहंतदेव के शासन को प्रकाशित करते हैं उसको प्रभावना अंग कहते हैं ।।९१–९२।। यह जिनशासन यथार्थ है, जगतपूज्य है, भव्य जीवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है संसार को नाश करने वाला है और मोक्ष को देने वाला है । यही समझ कर बुद्धिमान लोगों को इसका महात्म्य प्रगट करना चाहिये ।।९३।। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंग हैं । ये अंग सारभूत हैं और सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने वाले हैं । इसलिये बुद्धिमानों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए यत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये ।।९४।। जिस प्रकार राज्य के अंगों से रहित हुआ राजा अपने शत्रुओं को नहीं जीत सकता उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दृष्टी पुरुष भी कर्मरूपी

इतिमत्वामुदागयाष्टांगानि दर्शनस्य च । पंचविंशतिस्त्रे मेदोषास्त्याज्या मलप्रदा. ॥ ६६ ॥ त्रिधामौढ्यं मदाअष्टौ पडनायतनानि च । दोषाः शकादयोत्रैतेदृग्दोषाः पंचविंशति. ॥ ६७ ॥ चंडिका क्षत्रपालेषु ब्रह्मकृष्णेश्वरादिषु । उपासन कुदेवेषुयद्देवमौढ्यमेवतत् ॥ ६८ ॥ मिथ्यामतानुसारेणलोकाचारोघकरकः । आचर्यते शठैर्लोके लोकमूढत्व-मेवतत् ॥ ६६ ॥ बौद्धमीमांसकादीनांसमयेष्वन्यवर्त्मसु । मूढभावेन यो रागस्तन्मौढ्यं समयाभिधम् ॥ २०० ॥ एतन्मूढत्रयंनिंद्यं मूढलोकप्रतारकम् । धर्मध्वंसकरं त्याज्यश्वश्रदंदूरतो बुधैः ॥ २०१ ॥ महाजातिकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपो बलाः । शिल्पित्वं दुर्मदाण्तेष्टौहतव्यागुणान्वितैः ॥ २ ॥ भिन्नभिन्नादिजातीनां स्त्रीणांचतिर्यग्योनिषु । अभद्भिर्यत्पयः पीतमब्ध्यंबोरधिक हि तत् ॥ ३ ॥ तिर्यग्मनुष्यनारीणां तुग्वियोगजशोकतः । अनन्तानांयदश्रुंबु तत्समुद्राभ

शत्रुओं को कभी नहीं जीत सकता ||६५|| यही समझ कर सम्यग्दर्शन के इन आठों अंगों को प्रसन्नता पूर्वक धारण करना चाहिये तथा मलिनता उत्पन्न करने वाले पच्चीसों दोषों का त्याग कर देना चाहिये ||६६|| तीन मूढ़ताएं आठ मद छह अनायतन और आठ शंकादिक दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहे जाते हैं ||६७|| चंडी क्षेत्रपाल वा ब्रह्मा विष्णु महेश आदि कुदेवों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है ||६८|| मिथ्यामत के अनुसार जो लोकाचार है वह पाप उत्पन्न करने वाला है उसको जो अज्ञानी लोक आचरण करते हैं उसको लोकमूढ़ता कहते हैं ||६६|| अपनी अज्ञानता से बौद्ध मीमांसिक आदि के शास्त्रों में वा अन्य मत में जो राग करना है उसको समय मूढ़ता कहते हैं ||२००|| ये तीनों प्रकार की मूढ़ताएं अत्यंत निंद्य हैं अज्ञानी लोगों को ठगने वाली हैं धर्म को नाश करने वाली हैं और नरकादिक के दुःख देने वाली हैं। इसलिये बुद्धिमानों को दूर से ही इनका त्याग कर देना चाहिये ||२०१|| उत्तम जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप ज्ञान तप बल और शिल्पित्व इन आठों का मद करना दुर्मद है गुणी पुरुषों को इनका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ||२|| तिर्यंच योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण भी समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है ||३|| तिर्यंच और मनुष्यों की स्त्रियों की अनंत पर्यायों में अपने पुत्र के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आँसू निकले हैं उनका प्रमाण भी समुद्रों के

शोधिकम् ॥ ४ ॥ इतिस्वमातृपितृश्च नीचोच्चांतातिगान्भवे । ज्ञात्वादक्षैर्मदस्त्याज्यः सज्जातिकुलयोस्त्रिधा ॥ ५ ॥ क्षणविध्वंसि विज्ञायैश्वर्यंचक्र्यादिभूभृताम् । अरिचोरादिभिः सार्द्धं हेयोत्रैश्वर्यजोमदः ॥ ६ ॥ रोगक्लेशविषास्त्राद्यैः स्वरूपं क्षणभंगुरम् । मत्वा न तत्कृतो गर्वो जातु कार्यो विचक्षणैः ॥ ७ ॥ अंगपूर्वाम्बुधेः संख्यां विदित्वाश्रीजिनागमे । किंचिच्छ्रुतंपरिज्ञाय नादेयस्तन्मदः कचित् । ८ ॥ उग्रोग्राग्निमहाघोरतपोविधीन्सुयोगिनाम् । भाक्तनानां मुदा ज्ञात्वा हंतव्यस्तत्कृतो मदः ॥ ९ ॥ जिनचक्रिमहर्षीणामप्रमाणं महाबलम् । विदित्वा स्वबलस्यात्र न कार्यो बलिभिर्मदः ॥ १० ॥ शिलिपत्वंविविधं ज्ञात्वा विज्ञान लेखनादिजम् । जातुशिल्पमदोनात्रविधेयोज्ञानशालिभिः ॥११॥ एतेत्राष्ठौमदा निंद्या निंद्यकर्मकराभुवि । दृग्धर्मध्वंसकाहेयाःशत्रवोत्रैव पंडितैः ॥ १२ ॥ मदाष्टकमिदं योत्र विधत्ते

जल से बहुत अधिक है ॥४॥ इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपने माता पिता के कुल को ऊंच नीच से रहित समझ कर मन वचन काय से उत्तम जाति और उत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिये ॥५॥ इस संसार में चक्रवर्ती आदि महाराजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर है इसके सिवाय इस धन को चोर चुरा ले जाते हैं शत्रु ले जाते हैं। यही समझ कर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥६॥ यह सुन्दर रूप रोग क्लेश विष और शास्त्रादिक के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाता है। यही समझ कर बुद्धिमानों को कभी भी अपने रूप का मद नहीं करना चाहिये ॥७॥ जैन शास्त्रों से ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों की संख्या समझ कर थोडे से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥८॥ पहले के मुनि उग्र उग्र तप महा घोर तपश्चरण का मद भी प्रसन्नता पूर्वक छोड़ देना चाहिये ॥९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी बहुत है और महर्षियों का बल भी बहुत है यही समझ कर बलवान् पुरुषों को अपने अधिक बल का मद कभी नहीं करना चाहिये ॥१०॥ इस संसार में विज्ञान और लेखन आदि की कलाएं भी अनेक प्रकार की हैं उन सबको जान कर ज्ञानी पुरुषों को उन कलाओं का मद भी कभी नहीं करना चाहिये ॥११॥ ये आठों मद अत्यंत निंद्य हैं निंद्यकर्म करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन रूपी धर्म को नाश करने वाले शत्रु हैं। इसलिए विद्वान् लोगों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥१२॥ जो अज्ञानी पुरुष इन आठों

मूढधीर्यतिः । तेनहत्वाद्दगादीन् सः नीचयोनीश्चिरंभ्रमेत् ॥ १३ ॥ विज्ञायेति न कर्तव्योमदो जातु गुणान्वितैः । सज्जात्यादिपुसर्वेपुसत्सुप्राणात्ययेप्यहो ॥ १४ ॥ मिथ्यासम्यक्त्वकुज्ञानकुचारित्राणिदुर्धियः । तद्वन्तस्त्रय एतानि निंद्यानायतनानिषट् ॥ १५ ॥ श्वभ्रसवलहेतूनिविश्वपापाकराणि च । त्याज्यानिदृष्टिघाती नीमान्यनायतनानि-षट् ॥ १६ ॥ दृष्टेःप्रागुक्तनि शंकादिभ्य. शकादयोऽशुभाः । विपरीता बुधैर्ज्ञेया अष्टौदोषा मलप्रदाः ॥ १७ ॥ एतेदोषा त्रिशुध्यापरिहर्तव्याद्दगन्तका । पचविंशतिरात्मज्ञैर्दृग्विशुध्यै कुमार्गदाः ॥ १८ ॥ मलिने दर्पणे यद्वत्प्रति-विम्व न दृश्यते । सदोपेदर्शनेतद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्वुजम् ॥ १९ ॥ मत्वेति दर्शनं जातुस्वप्नेपि मलसन्निधिम् । निर्मलंमुक्तिसोपानं न नेतव्यं शिवार्थिभिः ॥ २० ॥ धन्यास्तएवसंसारे बुधै पूज्या.सुरै स्तुता । दृष्टिरत्नं न यै

मदों को धारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को नष्ट कर चिरकाल तक नीचे योनियों मे परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१३॥ यही समझ कर गुणी पुरुषों को कंठगत प्राण होने पर भी जाति आदि का मद कभी नहीं करना चाहिये ॥१४॥ मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र और इन तीनों को धारण करने वाले अज्ञानी ये छह निंद्य अनायतन गिने जाते हैं। ये छहों अनायतन नरक के कारण हैं समस्त पापों को करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन का घात करने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१५–१६॥ पहले सम्यग्दर्शन के जो निःशंकित आदि आठ अंग बतलाये हैं उनसे विपरीत शंका कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं ये दोष भी सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१७॥ ये पच्चीसों दोष सम्यग्दर्शन को नाश करने वाले हैं और कुमार्ग को देने वाले हैं इसलिये आत्मा के स्वरूप को जानने वाले विद्वानों को अपना सम्यग्दर्शन विशुद्ध रखने के लिए मन वचन काय से इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१८॥ जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलिन वा सदोष सम्यग्दर्शन में मुक्तिस्त्री का मुखकमल दिखाई नहीं देता ॥१९॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को मोक्ष का कारणभूत अपना निर्मल सम्यग्दर्शन स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥२०॥ जिन लोगों ने अपना सम्यग्दर्शन रूपी रत्न कभी भी मलिन

नीतं कदाचिन्मलसन्निधौ ॥ २१ ॥ तस्यैव सफलं जन्म मन्येहं कृतिनोभुवि । शशांकनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥ २२ ॥ यतश्चारित्रतो भ्रष्टा. केचित्सम्यक्त्वशालिनः । सिध्यन्ति तपसा लोके स्वीकृत्य चरणं पुनः ॥२३॥ ये भ्रष्टा दर्शनात्ते च भ्रष्टा एव जगत्त्रये । चारित्रेसत्यपि ज्ञानेमोक्षस्तेषां न जातुचित् ॥ २४ ॥ यस्माच्च ज्ञानचारित्रे मिथ्यात्वविषदूषिते । भवतो न कचित्काले परमेपि शिवाप्तये ॥ २५ ॥ अतो विनात्रसम्यक्त्वं ज्ञानमज्ञानमेव भोः । दुश्चारित्रं च चारित्रं कुतपः सकलं तपः ॥ २६ ॥ अन्यद्वादुष्करं कायक्लेशमातपनादिकम् । कथ्यते निष्फलपुंसा तुषखंडन वज्जिनैः ॥ २७ ॥ यथा वीजादृते जातु क्षेत्रे न प्रवरफलम् । दर्शनेन विना तद्वन्न चारित्रे शिवादि च ॥ २८ ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमातंगमपि भूतले । भाविमुक्तिवधूकान्तं देवा देवं

नहीं किया है वे ही मनुष्य इस संसार में धन्य हैं विद्वान लोग उनकी ही पूजा करते हैं और देव लोग उन्हीं की स्तुति करते हैं ॥२२१॥ जिस पुरुष ने चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यग्दर्शन स्वीकार कर लिया है उसी महा पुण्यवान् का जन्म मै सफल मानता हूं ॥२२॥ इसका भी कारण यह है कि कितने ही सम्यग्दृष्टी ऐसे हैं जो चारित्र से भ्रष्ट हो जाते है परन्तु वे फिर भी चारित्र को धारण कर तपश्चरण के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाते है वे चारित्र के होने पर भी तथा ज्ञान के होने पर भी तीनों लोकों में कहीं भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥२३—२४॥ इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान को और चारित्र कितने ही उत्कृष्ट क्यो न हों फिर भी उनसे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥२५॥ इसलिये कहना चाहिये कि विना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है चारित्र मिथ्या चारित्र है और समस्त तप कुतप है । इनके सिवाय जो अत्यंत कठिन आतपनादिक योग है वे भी सब विना सम्यग्दर्शन के केवल शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले हैं और चावल की भूसी को कूटने के समान सब निष्फल है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२६—२७॥ जिस प्रकार विना बीज के किसी भी खेत में कभी भी उत्तम फल उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शन के केवल चारित्र से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२८॥ यदि चांडाल भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो तो गणधरादिक देव उसको होनहार मुक्ति रूपी स्त्री का स्वामी और

पदन्त्यहो ॥ २६ ॥ सम्यग्दृग्रत्नकंठस्थो निर्धनोपि जगत्त्रये । उच्यते पुण्यवान् सद्भिः स्तुत्य. पूज्योमहाधनी ॥३०॥ यतोत्रैकभवेसौख्यं दु ख वा कुरुतेधनम । इहामुत्र च सम्यक्त्व केवलसुखगूर्जितम् ॥ ३१ ॥ सम्यक्त्वेन सम वासो नरकेपिवरंसताम् । सम्यक्त्वेन विनानैवनिवासोराजतेदिवि ॥ ३२ ॥ यतः श्वभ्राद्विनिर्गत्यक्षिपित्वाप्राक्तनाशुभम् । सम्यग्दर्शनमहात्म्यात्तीर्थनाथो भवेत्सुधीः ॥ ३३ ॥ सम्यक्त्वेन विनादेवा आर्तध्यान विधाय भोः । दिवश्च्युत्वा प्रजायन्तेस्थावरेष्वत्रतत्फलात ॥ ३४ ॥ सम्यग्दृष्टिगृहस्थोपि कुर्वन्नारभमंजसा । पूजनीयो भवेल्लोकेनृनाकिपतिभि स्तुत. ॥ ३५ ॥ दृष्टिहीनोभवेत्साधु' कुर्वन्नपि तपोमहत् । दृष्टिशुद्धैःसुरैर्मर्त्यैर्नि दनीय' पदेपदे ॥ ३६ ॥ इन्द्राह-मिन्द्रतीर्थेशलौकान्तिकमहात्मनाम् । वलादीनांपदान्यत्रमहान्ति च सुरालये ॥ ३७ ॥ यानि तानि न लभ्यन्ते

इसीलिये देव कहते हैं ॥२६॥ जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी रत्न शोभायमान है वह यदि निर्धन हो तो भी सज्जन पुरुष उसको तीनों लोकों में पुण्यवान कहते हैं उसको पूज्य समझते हैं उसकी स्तुति करते हैं और उसको महाधनी समझते हैं ॥३०॥ इसका भी कारण यह है कि धन इसी एक भव में सुख वा दुःख देता है परंतु सम्यग्दर्शन इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट सुख देता है ॥३१॥ सज्जन पुरुषों को इस सम्यग्दर्शन के साथ साथ नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के विना स्वर्ग में निवास करना भी सुशोभित नहीं होता ॥३२॥ इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुष नरक में से निकल कर तथा उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से पहले के समस्त अशुभ कर्मों को नाश कर महा बुद्धिमान तीर्थंकर हो सकता है ॥३३॥ परंतु विना सम्यग्दर्शन देव आर्तध्यान धारण कर लेते हैं और फिर मिथ्यात्व के महात्म्य से स्वर्ग से आकर स्थावरो में उत्पन्न होता है ॥३४॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष गृहस्थ होकर भी तथा आरंभ करता हुआ भी इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूजनीय होता है और सब उसकी स्तुति करते हैं। परन्तु साधु होने पर भी जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह घोर तपश्चरण करता हुआ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले देव और मनुष्यों से पद पद पर निंदनीय माना जाता है ॥३५-३६॥ इन्द्र अहमिंद्र तीर्थंकर लौकांतिक वलभद्र आदि के जो जो सर्वोत्कृष्ट पद हैं वे विना सम्यग्दर्शन के परम तपश्चरण करते हुये

र्ब्वृद्धिः परमं तपः । मुनिभिश्चविनादृष्टिं संयमाद्यखिलैः परैः ॥ ३८ ॥ नारकत्वं च तिर्यक्त्वंकुगतिंनिंदितंकुलम् । स्त्रीत्वं च विकलांगत्वंक्लीवत्वं च कुजन्मताम् ॥ ३९ ॥ अल्पायुस्त्वंदरिद्रत्वंकातरत्वममान्यताम् । धर्मार्थकामदूरत्वं शुभभावादिविच्युतिम् ॥ ४० ॥ रोगित्व वहुपापित्वंदु:खित्वंमूर्खतादिकान् । अव्रतिनोपिदृष्ट्याढ्या न लभन्तेत्र जातुचित् ॥ ४१ ॥ ज्योतिर्भावनभौमेषुदिवि किल्विषिकेषु च । प्रकीर्णकाभियोग्येषु हीनेषुवाहनेषु च ॥ ४२ ॥ अन्येषुनिंद्यभोगेषुकुभूम्यादौदृगन्विताः । उत्पद्यन्ते कदाचिन्न व्रतादिरहिता अपि ॥ ४३ ॥ किन्तुस्वर्गेप्रजायन्ते- दृगाढ्यादृक्शुभोदयात् । इन्द्राः पूज्याः प्रतीन्द्राश्च लोकपालामहर्द्धिकाः ॥ ४४ ॥ लौकांतिकाश्चदेवार्च्याः

भी तथा समस्त संयमादिकों को धारण करने पर भी मुनियों को भी कभी प्राप्त नहीं होते ॥३७-३८॥ जो पुरुप सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे अव्रती ही क्यों न हों तथापि वे नरक गति में, तिर्यंचगति में, कुगति में निंदित कुल में स्त्री पर्याय में नपुंसक पर्याय में उत्पन्न नहीं होते। वे विकल वा अंगभंग शरीर को भी धारण नहीं करते, उनका कुजन्म भी नहीं होता, वे अल्पायु भी नहीं पाते, दरिद्री भी नहीं होते, कातर भी नहीं होते, अमाननीय भी नहीं होते, धर्म अर्थ काम पुरुपार्थ से दूर भी नहीं रहते, शुभभावों से रहित भी नहीं होते, वे रोगी भी नहीं होते, अधिक पापी भी नहीं होते, दुःखी भी नहीं होते और मूर्ख भी नहीं होते। सम्यग्दृष्टी पुरुप इन अशुभ संयोगों को कभी प्राप्त नहीं होते ॥३९-४१॥ सम्यग्दृष्टी पुरुप व्रत रहित होने पर भी ज्योतिपी देवों में, भवन वासी देवों में, व्यंतर देवों में, वैमानिक देवों के किल्विपिक देवों में, प्रकीर्णक देवों में आभियोग्य देवों में वाहनादिक वनने वाले हीन देवों में उत्पन्न नहीं होते, जहाँ पर निंदनीय भोगोपभोग की सामिग्री मिलती है वहाँ कहीं भी उत्पन्न नहीं होते तथा कुभोग भूमि में भी उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टी इन स्थानों में कभी उत्पन्न नहीं होते ॥४२-४३॥ किंतु सम्यग्दृष्टी पुरुप सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्गों में पूज्य इन्द्र होते हैं अहमिंद्र होते हैं प्रतीन्द्र होते हैं बड़ी ऋद्धि को धारण करने वाले लोकपाल होते हैं, देवों के द्वारा पूज्य ऐसे लौकांतिक देव होते हैं अथवा समस्त भोगोगभोगों की सामग्री से सुशोभित

सामानिकादयोमराः । विश्वभोगोपभोगाढ्या जिनधर्मप्रभावका. ॥ ४५ ॥ मनुजत्वेपि तीर्थेशावला' चक्रेश्वरादयः । कामदेवा गणेशाश्च पूजिता नृसुरासुरै ॥ ४६ ॥ ओजस्तेज प्रतापाढ्या महाविद्यायशोकिता । जिनभक्ताश्च जायन्ते चतुर्नरार्थसाधकाः ॥ ४७ ॥ किमत्र बहुनोक्तेनमम्यग्दष्टिसताकचित् । सुदेवनृगती मुक्त्वान्यागतिविद्यते न भो. ॥ ४८ ॥ इत्यादि प्रवर ज्ञात्वा तन्माहात्म्य सुखार्थिनः । सर्वयत्नेन कुर्वीध्वद्दग्विशुद्धिं जगत्सु ताम् ॥४९॥ निखिलगुणनिधानंमुक्तिसोपानमाद्य दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम् । कुगतिगृहकपाटं धर्ममूल सुखाब्धि भजतपरम यत्नाद्दर्शनंपुण्यभाज ॥ ५० ॥ विश्वाभ्यर्चमनन्तशर्मजनकंस्वर्मोक्षमार्गपर विश्वानर्थहरपरार्थशिवदपापारिनाश–

और जैन धर्म की प्रभावना करने वाले सामानिक जाति के देव होते हैं ॥४४–४५॥ यदि वे मनुष्य होते हैं तो तीर्थंकर वलभद्र चक्रवर्ती, कामदेव और गणधर होते हैं जो मनुष्य देव और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य होते हैं ॥४६॥ सम्यग्दृष्टी पुरुप बड़े ओजस्वी तेजस्वी और प्रतापी होते हैं अनेक महा विद्याएं तथा महा यश से सुशोभित होते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव के भक्त होते हैं और चारों पुरुपार्थों को सिद्ध करने वाले होते हैं ॥४७॥ बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से मे इतना समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टी सज्जन पुरुपों को श्रेष्ठ देवगति और श्रेष्ठ मनुष्यगति को छोड़ कर अन्य कोई गति नहीं होती ॥४८॥ इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य समझ कर सुख चाहने वाले पुरुपों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य ऐसी इस सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को धारण करना चाहिये ॥४९॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है मोक्ष की प्रथम सीढी है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, पुण्य बढाने के लिये तीर्थ है, सब में प्रधान है कुगति रूपी घर को बन्द करने के लिए कपाट के समान है धर्म का मूल है और सुख का समुद्र है । इसलिये पुण्यवान पुरुपों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धता पूर्वक धारण करना चाहिये ॥५०॥ यह सम्यग्दर्शन तीनो लोकों में पूज्य है, अनंत सुख देने वाला है, स्वग मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करने वाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, सद्धर्मरूपी अमृत का समुद्र है, और

... सस्तुताश्च । सिद्धाविश्वाग्रभूस्था हतभववपुषो ज्ञानदेहा अमूर्ता. सर्वश्रीसाधवोमेत्रिपदगुणयुताद्दग्विशुद्धिं प्रदद्युः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचते पंचाचार व्यावर्णने दर्शनाचारवर्णनो नामपंचमोधिकार. ।

समस्त उपमाओं से रहित है। ऐसा यह ऊपर कहा हुआ चायिक सम्यग्दर्शन मोच प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन मेरे हृदय में विराजमान रहो ॥५१॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव संसार भर में तीर्थभूत हैं जिनवरों में भी श्रेष्ठ हैं, तथा चायिक सम्यग्दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों को धारण करने के कारण तीनों लोकों में पूज्य हैं तीनों लोकों में सुशोभित हैं और तीनों लोक उनकी स्तुति करता है। इसी प्रकार भगवान सिद्ध परमेष्ठी समस्त लोक के ऊपर विराजमान हैं संसार तथा शरीर से रहित है ज्ञान ही उनका शरीर हैं और वे अमूर्त हैं। तथा आचार्य उपाध्याय साधुपरमेष्ठी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं। इस प्रकार के ये पाँचों परमेष्ठी मुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रदान करें ॥२५२॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ मे पंचाचार के वर्णन मे दर्शनाचार को वर्णन करने वाला यह पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।



॥२१२॥

षष्ठोधिकारः ।



ज्ञानाचारफलप्राप्तानर्हत्सिद्धत्रियोगिन. । नत्वावक्ष्येष्टधा ज्ञानाचारं विश्वाग्रदीपकम् ॥ १॥ये नात्मावुध्यते तत्व मनो येन निरुध्यते । पापाद्विमुच्यतेयेनतज्ज्ञान ज्ञानिनोविदु. ॥ २ ॥ येनरागादयो दोपा प्रणश्यन्तिद्रुतसताम् । सवेगाद्या.प्रवर्द्धन्तेगुणा ज्ञानतदूर्जितम् ॥ ३ ॥ येनात्तविपयेभ्योत्र विरज्यशिववर्त्मनि । ज्ञानीप्रवर्ततेनित्य तज्ज्ञान जिनशासने ॥ ४ ॥ कालाख्यो विनयाचार. उपधानसमाह्वय. । वहुमानाभिधोनिह्नवाचारो व्यजनाह्वय. ॥ ५ ॥

छठा अधिकार ।

अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी ज्ञानाचार के फल को प्राप्त हुए है इसलिये इनको नमस्कार कर समस्त लोक अलोक को दिखलाने वाले आठ प्रकार के ज्ञानाचार का स्वरूप अब मै कहता हूँ ॥१॥ जिस ज्ञान से आत्मा का स्वरूप जान जाय, जिस ज्ञान से मन वश में हो जाय और जिस ज्ञान से समस्त पाप छूट जॉय उसी को ज्ञानी पुरुप ज्ञान कहते हैं ॥२॥ जिस ज्ञान से सज्जनो के रागादिक दोप सव नष्ट हो जॉय और संवेगादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाँय उसको उत्तम ज्ञान कहते हैं ॥३॥ जिस ज्ञान से ज्ञानी पुरुप इन्द्रियों से विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाता है जिनशासन में उसी को ज्ञान कहते हैं॥४॥ इस ज्ञानाचार के आठ भेद हैं कालाचार, विनया-चार, उपधानाचार, वहुमानाचार, अनिन्हवाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार । इस प्रकार

अर्थाचाराभिधानश्च ततस्तदुभयाभिधः । ज्ञानाचारस्यविज्ञेया अष्टौभेदा इमे बुधैः ॥ ६ ॥ पूर्वाह्णस्यापराह्णस्य-पूर्वपश्चिमयामयो. । रजन्यामध्यवेलायाः पूर्वपश्चिमभागयोः ॥ ७ ॥ तथामध्याह्नकालस्य कालंद्विघटिकाप्रमम् । प्रत्येकंविद्धि सिद्धांतपाठाययोग्यमेव च ॥८॥ एतान् सदोषकालांश्च त्यक्त्वास्वाध्यायऊर्जितः । ग्राह्य आगमपाठाद्याः कार्याः कालेशुभेपरे ॥ ९ ॥ पूर्वाह्नेत्र यदासप्तपादच्छाया भवेत्तदा । स्वाध्यायो हि गृहीतव्योनिर्विकल्पेनचेतसा ॥ १० ॥ आषाढे द्विपदच्छायापुष्यमासे चतुष्पदा । यदावतिष्ठते शेषा निष्ठापनीयएव स. ॥ ११ ॥ तयोर्मासद्वयोर्मध्ये कालः स्वाध्यायमोचने । प्रत्येकं शेपमासानां वृद्धिहानियुत. स्फुटम् ॥ १२ ॥ पादयोः पष्ठभागोत्र भवेत् ज्ञात्वेति योगिभिः । कर्तव्यो मुक्तये काले स्वाध्यायस्तत्वपूरितः ॥ १३ ॥ अपराह्णेत्रमध्याह्नाद्विमुच्यघटिका

विद्वान् लोग ज्ञानाचार के आठ भेद बतलाते हैं ॥५–६॥ प्रातःकाल के एक पहर पहले, सायंकाल के एक पहर बाद, आधी रात के एक पहर पहले तथा एक पहर बाद और मध्याह्न काल की दो घड़ी ये सब काल सिद्धांत शास्त्र के पढ़ने के अयोग्य हैं ॥७–८॥ इन सदोप कालों को छोड़ कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिये । तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिये ॥९॥ पूर्वाह्न के समय जब सात पैर छाया हो जाय तब मुनियों को अपने सब विकल्प छोड़ कर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये ॥१०॥ आसाढ महीने में जब छाया दो पद रह जाय तथा पौष मास में जब छाया चार पैर रह जाय तब मुनियों को स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये ॥११॥ यह आपाढ़ और पौष महीने में स्वाध्याय समाप्त करने का काल बतलाया । बाकी के महीने महीनों में छाया की हानि वृद्धि के अनुसार स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिये ॥१२॥ प्रत्येक महीने में दो पैर का छठवाँ भाग घटाना बढ़ाना चाहिये अर्थात् श्रावण में दो पैर और एक पैर का तीसरा भाग, भादों में दो पैर और एक पैर का दो भाग, आश्विन में तीन पैर, कार्तिक में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, मगसिर में तीन पैर एक पैर का दो भाग, तथा पौष में चार पैर छाया रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये । मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस प्रकार योग्य समय में तत्वों से भरा हुआ स्वाध्याय करना चाहिये ॥१३॥ (माघ में तीन पैर एक पैर का दो भाग, फाल्गुन में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, चैत मे

द्वयम् । स्वाध्यायोह्यपराह्णाख्योग्राह्योदक्षै.प्रयत्नतः ॥ १४ ॥ दिनस्य पश्चिमे भागे सप्तपादप्रमाणका । यदावतिष्ठते छाया तदा मोक्तव्य एव सः ॥१५॥ पूर्वरात्रे: परित्यज्य किलाद्यं घटिकाद्वयम् । गृह्णन्तु यतयः पूर्वरात्रिस्वाध्याय-मञ्जसा ॥ १६ ॥ त्यक्त्वामध्याह्नरात्रेश्च काले द्विघटिकामितम् । स्वाध्यायोत्रविधेयः पश्चिमरात्रिसमाह्वय. ॥ १७ ॥ आद्यमध्यावसानानां प्रत्येकं दिनरात्रयोः । त्यक्त्वाद्विघटिकांकालस्वाध्यायोयोग्यमंजसा ॥ १८ ॥ पूर्वपश्चिमभागोत्थं शेषकालेषुसर्वदा । बुधा गृह्णन्तु मुंचन्तुसिध्यै स्वाध्यायमूर्जितम् ॥ १९ ॥ अग्निवर्णो हि दिग्दाहउल्कापातो नभोगणान् । विद्युदिन्द्रधनुःसंध्यापीतलोहितवर्णभा ॥ २० ॥ दुर्दिनोभ्रमसंयुक्तो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययो' । कलहादिर्धराकंपो धूमाकारात्तमंबरम् ॥ २१ ॥ मेघगर्जनमित्याद्यादोषाविघ्नादिहेतव' । त्याज्याः सिद्धांतसूत्रे स्वाध्यायस्यपाठका-

---

तीन पैर, वैसाख में दो पैर और एक पैर का दो तिहाई भाग, जेठ में दो पैर एक पैर का तीसरा भाग और अषाढ़ मे दो पैर छाया रहने पर स्वाध्याय की समाप्ति का काल समझना चाहिये।) मध्याह्न काल की दो घड़ी छोड़ चतुर पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक अपराह्न समय का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये ॥१४॥ दिन के पश्चिम भाग में जब छाया सात पैर बाकी रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये ॥१५॥ पूर्व रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर मुनियों को पूर्व रात्रि का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये। तथा मध्य रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर पिछली रात्रि का स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये ॥१६–१७॥ दिन के आदि मध्य अंत में तथा रात्रि के आदि मध्य अंत में दो दो घड़ी छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिये। दिनरात का पूर्व भाग और अंतिम भाग स्वाध्याय के अयोग्य काल है उसको छोड़ कर बाकी के समय में बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय का प्रारम्भ तथा समाप्ति करनी चाहिये ॥१८–१९॥ जिस समय अग्निवर्ण का दिशाओं का दाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल पीले वर्ण की संध्या हो, भ्रमपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य वा चन्द्रमा का ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धूएं के आकार का कुहरा फैला हो वा बादल गरज रहा हो ये सब दोष सिद्धांत सूत्रों के पढने में विघ्न के कारण हैं। इसलिए पाठकों को इन समयों में स्वाध्याय नही करना चाहिये ॥२०–२२॥

'दिभिः ॥ २२ ॥ कालशुद्धिंविधायेमां ये पठन्तिजिनागमम् । निर्जरा विपुला तेषां कर्मणामास्रवोन्यथा ॥ २३ ॥ रुधिरं च वृणादीन मांसपूयविडादयः । इत्याद्यन्याशुचिद्रव्यादेहे स्वस्यपरस्य वा । २४ । व्रर्जनीया प्रयत्नेनपाठकै द्रव्यशुद्धये । स्वाध्यायस्यसमारभेद्रव्यशुद्धिरियं मता ॥ २५ ॥ चतुर्दिचु शुभक्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम् । रक्ताक्तिरहितं पूत सशोध्यक्रियते वुधैः ॥ २६ ॥ स्वाध्यायो योगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये । कर्मणा निर्जरायैवा क्षेत्रशुद्धिर्मतात्र सा ॥ २७ ॥ क्रोधमानादिकान्सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोकदुर्मदान् । हास्यारति भयादींश्च त्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ॥२८॥ कृत्वायोगृह्यतेदक्षै स्वाध्यायोजिनसूत्रजः । त्रिशुध्यासास्यविज्ञेयाभावशुद्धिर्विशुद्धिदा ॥ २९ ॥ इतिरुक्तकालसद्द्रव्य-क्षेत्रभावाश्रितांपराम् । कृत्वा चतुर्विधां शुद्धिंस्वाध्याये ये पठन्त्यहो ॥ ३० ॥ वा पाठयन्ति सिद्धांन्ततेषामावि-

जो मुनि इस काल शुद्धि को ध्यान मे रखते हुये जिनागम का पठन पाठन करते है उनके कर्मों की बहुत सी निर्जरा होती हैं। यदि वे अकाल में ही स्वाध्याय करते हैं तो उनके कर्मों का आस्रव ही होता है ॥२३॥ स्वाध्याय करने वालों को अपनी द्रव्य शुद्धि बनाये रखने के लिए अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मॉस पीव विष्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हो तो उनका प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये तव स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये। इसको द्रव्य शुद्धि कहते हैं ॥२४–२५॥ वुद्धिमान पुरुषों को अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये अज्ञान को दूर करने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए अंग पूर्वों का स्वाध्याय करना चाहिये और उस समय चारों ओर का सौ सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिये। सौ सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त मॉस हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिये। इसको क्षेत्रशुद्धि कहते हैं ॥२६–२७॥ चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद हास्य रति अरति भय आदि सबका त्याग कर तथा मन को प्रसन्न कर मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक जिनसूत्रों का स्वाध्याय करते हैं। इसको विशुद्धता उत्पन्न करने वाली भाव शुद्धि कहते हैं ॥२८–२९॥ जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि श्रेष्ठ द्रव्यशुद्धि श्रेष्ठ क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर अर्थात् चारों प्रकार की शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय मे सिद्धांतशास्त्रों का पठन पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ समस्त

भेवेत्स्वयम् । ऋध्यादिभिर्गुणैः सर्वैःसहाखिलं श्रुतपरम् ॥ ३१ ॥ अंगपूर्वाणिवस्तूनिप्राभृतादीनि यानि च । भाषितानि गणाधीशै प्रत्येकबुद्धियोगिभिः ॥ ३२ ॥ श्रुतकेवलिभिर्विद्भिः दशपूर्वधरैर्भुवि । अप्रस्खलितसवेगैस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥ ३३ ॥ उक्तस्वाध्यायवेलाया युज्यन्ते चार्यिकात्मनाम् । पठितुं चोपदेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥ ३४ ॥ चतुराराधनाग्रथा मृत्युसाधनसूचका । पचसंग्रहग्रंथाश्चप्रत्याख्यानस्तवोद्भवाः ॥ ३५ ॥ षडावश्यकसद्ग्रंथा महाधर्म कथान्विता । शलाकापुरुषाणांचानुप्रेक्षादिगुणैर्भृताः ॥ ३६ ॥ इत्याद्या ये परे ग्रंथाश्चरित्राढ्य एव ते । सर्वदापठितुं योग्या सत्स्वाध्यायंविनासताम् ॥ ३७ ॥ अगानां सर्वपूर्वाणा वस्तूनां प्राभृतात्मनाम् । प्रारभेत्रसमाप्तौचैकशोह्यनुज्ञया गुरोः ॥ ३८ ॥ उपवासो विधातव्यो व्युत्सर्गाः पच वा बुधैः । अकालादिजदोषस्यविशुध्यर्थंशिवाप्तये ॥ ३९ ॥ सुपर्यंकार्द्ध पर्यंकवीरासनादिकान् बहून । विधायहृदयेधृत्वाप्रतिलेख्य

श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥३०–३१॥ अंग, पूर्व, वस्तु तथा जो प्राभृत गणधरों के कहे हुए हैं प्रत्येक बुद्ध योगियों के कहे हुए हैं, श्रुत केवलियों के कहे हुए हैं, दशपूर्वधारी विद्वानों के कहे हुए हैं अथवा जिनका संवेग कभी प्रस्खलित नहीं हुआ ऐसे योगियों के द्वारा कहे हुए हैं वे सब मुनियो को ऊपर लिखे हुए स्वाध्याय के समय में ही पढ़ने चाहिये तथा अन्य आर्य मुनियों को उनका उपदेश देना चाहिये। स्वाध्याय के विना उनको अन्य किसी प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिये ॥३२–३४॥ मृत्यु के साधनों को सूचित करने वाले चारों आराधनाओं के ग्रंथ, पंचसंग्रह (गोमट्टसार आदि) प्रत्याख्यान स्तुति के ग्रंथ, छहों आवश्यकों को कहने वाले ग्रंथ महाधर्म की कथाओं को कहने वाले ग्रंथ, शलाका पुरुषों के ग्रंथ, अनुप्रेक्षादिक गुणों से परिपूर्ण ग्रंथ तथा चरित्र आदि जितने अन्य ग्रंथ हैं उनको सज्जन पुरुष स्वाध्याय के विना अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं ॥३५–३७॥ ग्यारह अंग चौदह पूर्व वस्तु और प्राभृत शास्त्रों का स्वाध्याय प्रारम्भ करने के समय तथा समाप्ति के समय गुरु की आज्ञा से एक एक उपवास करना चाहिये अथवा बुद्धिमानों को पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिये। ये उपवास वा कायोत्सर्ग अकाल से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये करने चाहिये ॥३८–३९॥ मुनि लोग जो पर्यंकासन अर्द्धपर्यंकासन वीरासन आदि में से कोई एक आसन

करद्वयम् ॥ ४० ॥ नत्वा सिद्धांतसूत्राणि पठ्यन्ते यत्र योगिभिः । सूत्रार्थयोगशुध्या स ज्ञानस्यविनयोमतः ॥४१॥ आचाम्लनिर्विकृताद्यैः पक्वान्नादिरसोज्झनैः । विधायनियमं ग्रंथसमाप्त्यन्तं श्रुतोत्सकैः ॥ ४२ ॥ सिद्धान्तं पठ्यते यत्राग्रहेण स्वार्थसिद्धये । आचार उपधानाख्यः म ज्ञानस्यस्मृतोमहान् ॥ ४३ ॥ अंगपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम् । तथैवाचोच्चरन् वाण्या यो न्येषांप्रतिपादयेत् ॥ ४४ ॥ कर्मक्षयाय कुर्यान्नसूरिश्रुतादियोगिनाम् । कचित्परिभवं गर्वाद्बहुमानं लभेत सः ॥ ४५ ॥ सामान्यादि यतिभ्योपि पठित्वा श्रुतमूर्जितम् । महर्षिभ्योमयाधीतं मानिभिर्यन्निगद्यते ॥ ४६ ॥ अधीत्य प्रवरं शास्त्रं पार्श्वेनिर्ग्रंथयोगिनाम् । कुलिंगिनिकटेऽधीतमुच्यते य ज्जडात्मभि. ॥ ४७ ॥ नाधीतं न श्रुतं वेद्मि नेत्यादि ब्रूयते च यत् । पठितस्यापिशास्त्रस्य सर्वं निह्नवनं हि

लगा कर, हाथों को शुद्ध कर, सिद्धांत सूत्रों को ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान मनवचनकाय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र वा सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञान का विनय वा विनयाचार कहते हैं ॥४०–४१॥ शास्त्रज्ञान की उत्कट इच्छा रखने वाले मुनि ग्रंथ की समाप्ति तक केवल भात भिला माड़ खाने का निर्विकृति (विकार रहित पौष्टिक रहित) आहार ग्रहण करने का वो पकान्न रस को त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये आग्रह पूर्वक जो सिद्धांतों का पठन पाठन करते हैं उसको ज्ञान का उपधान नाम का आचार कहते हैं ॥४२–४३॥ अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों का सूत्र अर्थ जैसा है उसी प्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं उसी प्रकार दूसरों के लिये प्रतिपादन करते हैं। यह सब पठन पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिये करते हैं तथा अभिमान से आचार्य शास्त्र वा किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमान नाम का ज्ञानाचार कहते हैं ॥४४–४५॥ कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़ कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महा ऋषि से पढ़ा है। अथवा किसी उत्तम शास्त्र को किसी निग्रन्थ मुनि के समीप पढ़ कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से कुलिंगी से पढ़ा है। अथवा पढ़े हुये शास्त्र के लिये भी यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता इस प्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको

तत ॥ ४८ ॥ इमं निह्नवदोष च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम् । गुरुपाठकशास्त्राणांश्रुतस्य पठितस्य वा ॥ ४९ ॥ गुणप्रकाशन लोकेख्यातिश्चब्रूयतेतराम् । मुमुक्षुभि. स सर्वोप्यनिह्नवाचार उच्यते ॥ ५० ॥ अक्षरस्वरमात्राद्यैर्य-न्छुद्धं पठ्यतेश्रुतम् । दक्षैगुरूपदेशेन व्यजनाचार एव स ॥ ५१ ॥ अर्थेनात्रविशुद्धयत्सदर्थालंकृतश्रुतम् । पठ्यते पाठ्यतेऽन्येषांसोर्थाचारः श्रुतस्य वै ॥ ५२ ॥ अर्थाक्षरविशुद्धं यदधीयतेजिनागमम् । विद्भिस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यतेमहान् ॥ ५३ ॥ एभिरष्टविधाचारैरधीतं यज्जिनागमम् । तन्निहैवाखिलं ज्ञानं जनयेद्वाशु केवलम् ॥ ५४ ॥ विनयाद्यै रधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतंश्रुतम् । तथामुत्र च तद्ज्ञान सूते च केवलोदयम् ॥ ५५ ॥ ज्ञानमष्टविधाचारैः पठितयमिनांस्फुटम । अनन्तकर्महान्यैस्यात् कर्मबधाय चान्यथा ॥ ५६ ॥ विज्ञायेति विदो

निह्नव कहते हैं। इस निह्नव दोप का त्याग कर आचार्य आदि योगियों की गुरु की उपाध्याय की शास्त्रों की और सुनने वा पढ़ने की प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य गुरु उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों के अनिह्नवाचार कहलाता है ॥४६–५०॥ चतुर पुरुप गुरु के उपदेश के अनुसार जो अक्षर स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं ॥५१॥ अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है ॥५२॥ जो जिनागम को शब्द अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञान का महान् उभयाचार कहते हैं ॥५३॥ इस प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोक में पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥५४॥ जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोक में उसको केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥५५॥ इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियों के अनंत कर्मों को नाश कर देता है यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है ॥५६॥ यही समझ कर विद्वान् पुरुषों को योग्य काल में

ज्ञानं कालेत्रविनयादिभिः । पठन्तु योगशुध्या वा पाठयन्तुसतांचिदे ॥५७॥ ज्ञानेन निर्मला कीर्ति भ्रमत्येव जगत्त्रये। ज्ञानेन त्रिजगन्मान्यं ज्ञानेनातिविवेकता ॥ ५८ ॥ ज्ञानेन केवलज्ञानं ज्ञानेनपूज्यतापदम् । ज्ञानेन त्रिजगल्लक्ष्मी र्जिनशक्रादिसत्पदम् ॥ ५९ ॥ ज्ञानेनैवप्रभुत्वं च ज्ञानेन सकला कला । जायते ज्ञानिनां नून विज्ञानादिगुणोत्करः ॥ ६० ॥ ज्ञानेन ज्ञानिनां सर्वेशमाद्याः परमाः गुणाः । आश्रयन्तित्त यंयान्ति दोषाः क्रोधमदादयः ॥ ६१ ॥ सज्ञानशृं खलावद्धो मनोदन्ती भ्रमन् सदा । दुर्धरोविषयारण्ये वशमायाति योगिनाम् ॥ ६२ ॥ ज्ञानपाशेन वद्धाः स्युः पंचेन्द्रियकुतस्कराः । क्षमा न विक्रियां कर्तुं धर्मरत्नापहारिणः ॥६३॥ मदनाग्निमहाज्वाला जगद्दाहविधायनी ।

विनयादिक के साथ मन वचन काय को शुद्ध कर ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसी प्रकार दूसरों को पढ़ाना चाहिये ॥५७॥ इस ज्ञान से मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है इस ज्ञान से ही तीनों लोकों में मान्यता बढ़ जाती है और ज्ञान से ही उत्कृष्ट विवेक शीलता आ जाती है ॥५८॥ ज्ञान से ही केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, ज्ञान से ही पूज्यता के पद प्राप्त होते हैं, ज्ञान से ही तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और ज्ञान से ही तीर्थंकर और इन्द्र आदि के श्रेष्ठ पद प्राप्त होते हैं ॥५९॥ ज्ञान से ही प्रभुत्व प्राप्त होता है, ज्ञान से ही समस्त कलाएं प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के ही विज्ञान आदि गुणों के समूह प्रगट होते हैं ॥६०॥ इस ज्ञान से ही ज्ञानी पुरुषों को उपशम आदि समस्त परम गुण अपने आप आ जाते हैं तथा ज्ञान से ही क्रोध मद आदिक दोष सब नष्ट हो जाते हैं ॥६१॥ अत्यंत दुर्धर ऐसा यह मन रूपी हाथी विषयरूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करता है यदि उसको ज्ञानरूपी साँकल से बाँध लिया जाय तो फिर वह उन योगियों के वश में अवश्य हो जाता है ॥६२॥ धर्मरूपी रत्न को अपहरण करने वाले ये पंचेन्द्रियरूपी दुष्ट चोर जब ज्ञान के पाश में (जाल मे) बंध जाते हैं तब फिर वे किसी प्रकार का विकार करने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥६३॥ यह कामदेव रूपी महा ज्वाला संसार भर में दाह उत्पन्न करने वाली है यदि इसको ज्ञानरूपी जल से बुझा दी जाय तो फिर वह

सिक्ता ज्ञानाम्बुना नून पुंसांशाम्यतितत्क्षणम् ॥ ६४ ॥ ज्ञानेन ज्ञायते विश्वं हस्तरेखेव निस्तुषम् । लोकालोकं सुतत्त्व च परतत्त्वं किलाखिलम् ॥ ६५ ॥ हेयोपादेयसर्वाणिहिताहिताश्च वोधतः । कृत्स्नधर्मविचारादीन् ज्ञानीवेत्ति नचापरः ॥ ६६ । विश्वज्ञोत्रसमर्थः स्यात्तरितुं च भवाम्बुधिम् । परांस्तारयितुं ज्ञानी ज्ञानोपेतेन नापर ॥६७॥ वीतरागस्त्रिगुप्तात्मान्तर्मुहूर्तेन कर्मयत् । क्षिपेद्ज्ञानी न त चाज्ञस्तपसा भवकोटिभि ॥ ६८ ॥ यतोज्ञो दुष्करं घोरं तपः कुर्वन्नपि कचित् । आस्रवाद्यपरिज्ञानान्मुच्यते कर्मणा नहि ॥ ६९ ॥ हेयादेयं विचार च तत्त्वातत्त्वंशुभा- शुभम् । सारासारास्रवादीनि अज्ञानी जातुवेत्ति न ॥ ७० ॥ मत्वेति कृत्स्नयत्नेनप्रत्यहं श्रीजिनागमम् । अधीध्व मुक्तयेदक्षाविश्वविज्ञानहेतवे ॥ ७१ ॥ ज्ञानाभ्यास विनाजातु न नेतव्या हितार्थिभिः । एका कालकलालोके

मनुष्यों की मदनज्वाला उसी समय शांत हो जाती है ॥६४॥ इस ज्ञान के ही द्वारा यह तीनो लोक हाथ की रेखा के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है तथा ज्ञान से ही लोक, अलोक अपने तत्त्व और समस्त दूसरों के तत्त्व जाने जाते हैं ॥६५॥ हेयोपादेय रूप समस्त तत्त्वों को, हित अहित को, और समस्त धर्म के विचारों को ज्ञानी पुरुष ही अपने ज्ञान से जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता ॥६६॥ समस्त तत्त्वों को जानने वाला सर्वज्ञ ही संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए समर्थ हो सकता है तथा ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानरूपी जहाज के द्वारा अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार कर सकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय अन्य कोई भी संसार से पार नहीं कर सकता ॥६७॥ तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला वीतराग ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों को नाश कर सकता है उतने कर्मों को अज्ञानी पुरुष करोड़ों भव के तपश्चरण से भी नहीं कर सकता ॥६८॥ इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी पुरुष घोर दुष्कर तपश्चरण करता हुआ भी आस्रवादि के स्वरूप को न जानने के कारण कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता ॥६९॥ अज्ञानी पुरुष हेय उपादेय को, विचार अविचार को, तत्त्व अतत्व को, शुभ अशुभ को सार असार को और आस्रवादि को कभी नहीं जान सकता ॥७०॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आगम का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥७१॥ अपने

प्रमादेनशिवाप्तये ॥ ७२ ॥ अखिलगुणसमुद्रं चित्तमातंगसिंहं विषयसफर जालं मुक्तिमार्गैकदीपम् । सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलं श्रुतनिखिलमदोषं धीधनाः सपठन्तु ॥ ७३ ॥ ज्ञानाचारमिमं सम्यगाख्याय ज्ञानशालिनाम् । त्रयोदशविधं वक्ष्ये चारित्राचारमूर्जितम् ॥ ७४ ॥ महाव्रतानि पचैव तथा समितयः शुभाः । पचत्रिगुप्तयोभेदाश्चा रित्रस्यत्रयोदश ॥७५॥ सर्वस्मात्प्राणिघाताच्चमृषावादाच्चसर्वथा । अदत्तादानतो नित्यं मैथुनाद्विपरिग्रहात् ॥७६॥ सामस्त्येन निवृतिर्या त्रिशुध्यात्रकृतादिभिः । महान्ति तानि कथ्यन्ते महाव्रतानि पंच वै ॥ ७७ ॥ अमीषां लक्षण पूर्वं प्रोक्त मूलगुणोऽधुना । सप्रपंचं न वक्ष्यामि ग्रथविस्तारभीतितः ॥ ७८ ॥ महाव्रतविशुध्यर्थं त्याज्यं रात्रौ च

आत्मा का हित करने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार में ज्ञान के अभ्यास के विना प्रमाद से भी कभी समय की एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥७२॥ यह श्रुतज्ञान समस्त गुणों का समुद्र है मनरूपी हाथी को वश करने के लिए सिंह के समान है, विषयरूपी मछलियों के लिए जाल है, मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल है वसलिये बुद्धिमानों को ऐसे इस समस्त श्रुतज्ञान का पठन पाठन निर्दोष रीति से करते रहना चाहिये ॥७३॥ इस प्रकार ज्ञानियों के ज्ञानाचार का निरूपण अच्छी तरह किया। अब आगे तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्राचार का वर्णन करते हैं ॥७४॥ पाँच महाव्रत पाँच शुभ समिति और तीन गुप्ति ये तेरह चारित्र के भेद हैं ॥७५॥ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक कृत कारित अनुमोदना से पूर्ण रूप से समस्त हिंसा का त्याग कर देना सर्वथा असत्य भाषण का त्याग कर देना, सर्वथा चोरी का त्याग कर देना सदा के लिये अब्रह्म का मैथुन सेवन का त्याग कर देना और समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। ये पाँचों व्रत सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं ॥७६–७७॥ इन सब का लक्षण विस्तार के साथ पहले मूलगुणों के वर्णन में कह चुके हैं अतएव ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं ॥७८॥ इन महाव्रतों की विशुद्धि के लिए रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये तथा मुनियों को आठ प्रवचन मातृका का पालन करना चाहिये।

भोजनम् । सेव्याः प्रवचनाख्याष्टमातरो यतिभिः सदा ॥ ७६ ॥ रात्रिचर्याटनेनैव सर्वव्रतपरिक्षयः । शीलभंगोपवादश्च जायते यमिनां द्रुतम् ॥ ८० ॥ रात्रिभिक्षाप्रविष्टानां चौरैश्चारक्षकादिभिः । नाशः स्यान्महतीशंकासर्वत्र च व्रतादिषु ॥ ८१ ॥ विदित्वेति गते योग्यकाले जातु न भोजनम् । चिन्तनीयं हृदादक्षै षष्ठाणुव्रतसिद्धये ॥८२॥ ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपणसमाह्वया । उत्सर्गाख्यात्रपञ्चेमाः शुभा. समितयोमताः ॥ ८३ ॥ आसांसम्यक्पुराख्यातं लक्षणं विस्तरेण च । इतो ब्रुवं न शिष्याणांग्रंथगौरवजाद्भयात् ॥ ८४ ॥ मनोगुप्तिश्च वाग्गुप्तिः कायगुप्तिरिमाः पराः । तिस्त्रोत्रगुप्तयोज्ञेयाः सर्वास्रवनिरोधिकाः ॥ ८५ ॥ पञ्चाक्षविषयार्थेभ्यः समस्तवाह्यवस्तुषु । संकल्पेभ्यो विकल्पेभ्यः कषायादिभ्य एव च ॥ ८६ ॥ गच्छन्मनोनिरुध्याशु ध्यानाध्ययनकर्मसु । यत्स्थिरं क्रियते लीनं सा मनोगुप्तिरद्भुता ॥ ८७ ॥ मनोगुप्तौप्रयत्नेन प्रणिधान कुकर्मदम् । अप्रशस्तं द्रुतं त्याज्यं ग्राह्यं प्रशस्तमंजसा ॥८८॥

(तीन गुप्ति और पांच समितियो का पालन करना अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती है) ॥७६॥ मुनियों को रात्रि में चर्या करने से समस्त व्रतों का नाश हो जाता है, शील का भंग हो जाता है, और सर्वत्र अपवाद या निंदा फैल जाती है ॥८०॥ भिक्षा के लिये रात्रि में जाने से चोर डाकू आदि के द्वारा नाश होने का डर रहता है तथा व्रतादिकों में सर्वत्र महा शंका बनी रहती है ॥८१॥ यही समझ कर चतुर मुनियों को छठे रात्रिभोजन त्याग व्रत की रक्षा करने के लिए हृदय से भी कभी अयोग्य काल में आहार की वांच्छा नहीं करनी चाहिये ॥८२॥ ईर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति आदान निक्षेपण समिति, और उत्सर्ग समिति ये पाँच शुभ समिति कहलाती हैं ॥८३॥ शिष्यों के लिए विस्तार के साथ इनका वर्णन पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। इसलिये अब ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं ॥८४॥ मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं ये तीनों गुप्तियाँ समस्त आस्रवों को रोकने वाली हैं ॥८५॥ यह मन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में गमन करता है, समस्त वाह्य पदार्थों के संकल विकल्पों में गमन करता है और समस्त कषायों में गमन करता है। अतएव इस मन को इन सब से रोक कर शीघ्र ही ध्यान अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है ॥८६–८७॥ इस मनोगुप्ति को पालन करने के लिये पाप कर्मों को उत्पन्न करने वाले समस्त अशुभ ध्यानों का त्याग कर देना चाहिये और

इन्द्रियप्रणिधानं च पंचाक्षविषयोद्भवम् । नोइन्द्रियाभिधं चान्यद्प्रशस्तमितिद्विधा ॥ ८६ ॥ शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे सारे मनोहरे । मनोज्ञे वामनोज्ञे च सुखदुःखविधायिनि ॥ ६० ॥ रागद्वेषात्तमोहाद्यैर्गमनचिन्तनादि यत् । इन्द्रियप्रणिधानंतदप्रशस्तं च पंचधा ॥६१॥ क्रोधेमानेखिलेमायालोभेनर्थकरेऽशुभे । रागद्वेषादिभावैश्चमनोव्यापार एव य ॥ ६२ ॥ क्रूरोरक्तोथवा निंद्योविश्वासातनिवन्धन' । प्रणिधानाप्रशस्तस्तन्नोइन्द्रियाभिधंमतम् ॥ ६३ ॥ प्रणिधानाप्रशस्तस्यैते भेदा वहवो परे । परद्रव्यममत्वादिजास्त्याज्यागुप्तिधारिभिः ॥ ६४ ॥ व्रतगुप्तिसमित्यादि-शीलानां रक्षणादिषु । दशलक्षणिके धर्मे ध्याने च परमेष्ठिनाम् ॥ ६५ ॥' स्वात्मनः श्रुतपाठार्थे यन्मनःप्रापणं

शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥८८॥ पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाला ध्यान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है और नोइन्द्रिय वा मन से उत्पन्न होने वाला अशुभध्यान नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। इस प्रकार प्रणिधान के दो भेद हैं ॥८६॥ स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय है ये पाँचों विपय मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं तथा सुख देने वाले भी हैं और दुःख देने वाले भी हैं। इन मनोहर और सारभूत दिखने वाले विषयों में राग द्वेप इन्द्रियों की लंपटता और मोहाधिक के कारण इन्द्रियों का प्राप्त होना वा इन विषयों में गमन करने के लिये इन्द्रियों की लंपटता होना अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है ॥६०–६१॥ अनेक प्रकार के अनर्थ करने वाले और अशुभ क्रोध मान माया लोभ में रागद्वेषमय परिणामो से मन का व्यापार होना नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। यह नोइन्द्रिय प्रणिधान भी अप्रशस्त है, क्रूर है, निंद्य है, समस्त दुःखों का कारण है और त्याज्य है ॥६२–६३॥ इस अप्रशस्त प्रणिधान के अनेक भेद हैं और वे परद्रव्यों में ममत्व करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुप्ति पालन करने वालों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥६४॥ व्रत गुप्ति और समितियों की रक्षा करने में, शीलों की रक्षा करने में, दशलाक्षणिक धर्म में, परमेष्ठियों के ध्यान में, अपने आत्मा के शुद्ध ध्यान में और शास्त्रों के पठन पाठन में जो मन को लगाता है उसको प्रशस्त मनःप्रणिधान कहते हैं। मन को वश में करने वाले मुनियों को यत्नपूर्वक

सदा । प्रणिधानं प्रशस्तं तत्कार्यं यत्नात्मनोऽन्तकै. ॥ ९६ ॥ निर्विविकल्पं मन. कृत्वानिवेश्यते यथा यथा । परमात्माविधे तत्त्वे चिदानन्दमये थवा ॥ ९७ ॥ सिद्धार्हद्योगिनां ध्याने पागमामृतसागरे । तत्वरत्नाकरे पूर्णा मनोगुप्तिस्तथा तथा ॥ ९८ ॥ सम्पूर्णा सन्मनोगुप्तिर्यस्यासीद्विमलात्मनः । व्रतगुप्तिसमित्याद्यास्तस्य पूर्णा भवन्त्यहो ॥ ९९ ॥ यतो येन मनोरुद्धं सवेगादिगुणोत्करैः । तेन कर्मास्रव: कृत्स्नोरुद्धः कृतश्चसवर ॥ १०० ॥ तस्मात्कर्मास्रवाभावाज्जायन्तेनिर्मलागुणाः । सर्वव्रतसमित्याद्या. सम्पूर्णाश्च क्षमादयः ॥ १ ॥ विज्ञायेति मनोगुप्तिस्तात्पर्येणसुखाकरा । विधेया सर्वदा दक्षैः समस्तव्रतसिद्धये ॥ २ ॥ वाह्यार्थतोनिरोध्दुंयोऽसमर्थश्चंचल मन । कुतस्तस्यापरे गप्ती कथ शुद्धाव्रतादय. ॥ ३ ॥ यतः कर्मप्रसूतेत्र वचः काय द्वय क्वचित् । सर्वदा चंचलं चित्तं

प्रशस्त मनःप्रणिधान धारण करना चाहिये ॥९५–९६॥ मुनिराज अपने मन के समस्त विकल्पों को हटा कर चिदानंदमय परमात्म तत्त्व में अथवा अरहंत सिद्ध वा आचार्यों के ध्यान में अथवा रत्नों से परिपूर्ण ऐसे आगमरूपी अमृत के समुद्र में अपने मन को जैसे जैसे लगाते हैं वैसे ही वैसे उनकी मनोगुप्ति पूर्णता को प्राप्त होती जाती है ॥९७–९८॥ निर्मल आत्मा को धारण करने वाले जिस मुनि की मनोगुप्ति पूर्ण हो जाती है उन्हीं के महाव्रत गुप्ति समिति आदि सब पूर्ण हुए समझना चाहिये ॥९९॥ जो मुनि संवेग आदि गुणों के समूह से अपने मन को रोक लेते हैं वे अपने समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेते हैं तथा पूर्ण संवर को धारण करते हैं ॥१००॥ आस्रव के रुकने और संवर के होने से व्रत समिति आदि समस्त निर्मल गुण प्रगट हो जाते हैं तथा उत्तम क्षमादिक भी समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥१०१॥ अतएव चतुर पुरुषों को अपने समस्त व्रतों का पालन करने के लिये पूर्णरूप से सुख देने वाली इस मनोगुप्ति का पालन सर्वदा करते रहना चाहिये ॥२॥ जो मुनि अपने चंचल मन को वाह्य पदार्थों से नहीं रोक सकता उसके अन्यगुप्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं तथा व्रत भी शुद्ध कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं । क्योंकि वचन और काय से तो कभी कभी कर्म आते हैं परन्तु मनुष्यों के चंचल मन से नरक देने वाले घोर कर्म सदा ही आते रहते हैं ॥३–४॥

घोरं श्वभ्रपदं नृणाम् ॥ ४ ॥ अतःकार्यामनोगुप्तिः सर्वसंवरदायनी । निर्जराकारिणी मुक्तिजननीसद्गुणाकरा ॥५॥ मनोगुप्त्याक्षवाक्कायकषायाद्यखिलद्विषाम् । निरोधो जायते तस्मात्प्रशस्तं ध्यानमंजसा ॥ ६ ॥ तेन स्यातां च सम्पूर्णे परेसंवरनिर्जरे । ताभ्यां घातिविधेर्नाशस्ततः प्रादुर्भवेत्सताम् ॥ ७ ॥ केवलज्ञानमात्मोत्थं दिव्यैः सर्वैः गुणैःसमम् । ततो मुक्तिवधूसंगो ह्यनन्तसुखकारक. ॥ ८ ॥ इत्यादि परमं ज्ञात्वातत्फल मोक्षकांक्षिभि । एकात्रैव मनोगुप्तिः कार्या सर्वार्थसिद्धये ॥ ९ ॥ अतुलसुखनिधाना स्वर्गमोक्षैकमाता जिनगणधरसेव्या कृत्स्नकर्मारिहंत्री । व्रतसकलसुवीथी चित्तगुप्तिः सदा तां श्रयतपरमयत्नाद्योगिनोयोगसिध्यै ॥ १० ॥ वार्तालापोत्तरादिभ्योऽशुभेभ्यो

अतएव मुनियों को मनोगुप्ति का पालन सदा करते रहना चाहिये। यह मनोगुप्ति पूर्ण संवर को उत्पन्न करने वाली है निर्जरा की करने वाली है मोक्ष की माता है और श्रेष्ठ गुणों की खानि है ॥५॥ इस मनोगुप्ति से ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन हो जाता है, और कषायादिक समस्त शत्रुओं का निरोध हो जाता है, तथा इन सबका निरोध होने से प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति हो जाती है, प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति होने से पूर्ण संवर और निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से समस्त दिव्य गुणों के साथ साथ सज्जनों को आत्मा से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। तदनंतर केवलज्ञान प्रगट होने से अनंत सुख देने वाला मोक्ष रूप वधू का समागम प्राप्त हो जाता है ॥६–८॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इस प्रकार इस मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझ कर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझ कर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिये ॥९॥ यह मनोगुप्ति अनुपम सुखों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष की माता है, तीर्थंकर और गणधरादिक देव भी इसका पालन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करने वाली है और समस्त व्रतों के आने का मार्ग है अतएव मुनियों को ध्यान की सिद्धि के लिये प्रयत्न पूर्वक इस मनोगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१०॥ मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वचन योग को अशुभ बातचीत

यन्निवर्तनम् । वाचो विधाय सिध्यर्थं स्थापनं क्रियतेन्वहम ॥ ११ ॥ सर्वार्थसाधकेमौनेसिद्धान्ताध्ययनेऽथवा । सा वाग्गुप्तिर्मतासर्वा वचोव्यापारदूरगा ॥ १२ ॥ यथा यथा वचोगुप्तिर्वर्द्धते धीमतां तराम् । तथा तथाखिला-विद्या विकथादिविवर्जनात् ॥ १३ ॥ परिज्ञायेतिवाग्गुप्ति विद्यार्थिभिः श्रुताप्तये । विधेयालंबनं कृत्वा सिद्धान्ता-ध्ययने न्वहम् ॥ १४ ॥ ज्ञातविश्वागमैर्नित्य कर्तव्यं मौनमजसा । पाठन वा स्वशिष्याणामागमस्यप्रयत्नतः ॥१५॥ कचिद्वात्रविधातव्यं मतां धर्मोपदेशनम् । अनुग्रहाय कारुण्यान्मोक्षमार्गप्रवृत्तये ॥ १६ ॥ एहि गन्छ मुदा तिष्ठ कुरु कार्यमिद द्रुतम् । इत्यादि न वचो वाच्यं प्राणत्यागेपि संयतैः ।। १७ ॥ अतोत्रा संयतावां ये प्रेषणांकारयन्ति वा । यातायात कुतस्तेषां व्रताद्या. प्राणिघातनात् ॥ १८ ॥ यथा यथात्रवाह्यार्थे ब्रूयते वाक् तथा तथा ।

से तथा अशुभ उत्तर से हटा कर समस्त अर्थ को सिद्ध करने वाले मौन में, अथवा सिद्धांतों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं ॥११–१२॥ बुद्धिमानों की वचनगुप्ति जैसी जैसी बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे विकथाओं का त्याग होता जाता है और समस्त विद्याएं बढ़ती जाती हैं ॥१३॥ यही समझ कर विद्या की इच्छा करने वाले मुनियों को श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने वचनों को प्रतिदिन सिद्धांत के अध्ययन में लगा कर इस वाग्गुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१४॥ समस्त आगम को जानने वाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिये अथवा प्रयत्न पूर्वक अपने शिष्यों को आगम का पाठ पढ़ाना चाहिये । अथवा मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए करुणा बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी कभी धर्मोपदेश देना चाहिये ॥१५–१६॥ मुनियों को प्राणों के त्याग करने का समय आने पर भी "आओ, जाओ, प्रसन्न होकर बैठो. इस काम को शीघ्र करो" इस प्रकार के वचन कभी नहीं बोलने चाहिये । क्योंकि जो मुनि अन्य असंमयी लोगों को बाहर भेजते हैं अथवा उनसे आने जाने का काम लेते हैं उनके कारितजन्य प्राणियों का घात होने से व्रतादिक निर्मल कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥१७–१८॥ "ये लौकिक प्राणी जैसे जैसे वाह्य पदार्थों के लिये बातचीत करते हैं वैसे ही वैसे उनके कर्म बंधते जाते हैं" यह जो लोकोक्ति है

बध्यते कर्म लोकोक्तिरियं सत्या न चान्यथा ॥ १९ ॥ वाचोऽप्यत्रनिरोधं यो विधातुमक्षमोधमः । स मनोक्षकषायाणां निग्रहं कुरुते कथम् ॥ २० ॥ विदित्वेति सदाकार्यं मौनं सद्ध्यानदीपकम् । निहत्यसिद्धये निंद्यं वाह्यं वाग्जालमंजसा ॥ २१ ॥ यतोमौनेनदक्षाणांस्वप्नेपि कलहोस्ति न । मौनेनाशु म्रियन्तेहो रागद्वेषादयो- रयः ॥ २२ ॥ मौनेनगुणराशिश्च लभ्यते सकलागमम् । मौनेन केवलज्ञानं मौनेनश्रुतमुत्तमम् ॥ २३ ॥ मौनेन ज्ञानिनां नूनं सर्वेषां निर्जयो महान् । परीषहोपसर्गाणां गुणाः सर्वेतिनिर्मलाः ॥ २४ ॥ मौनेन मुक्तिकान्ता स्यासक्तशावृणोति मौनिनम् । स्वभार्येवाचिरादेत्य का कथाहोसुयोषिताम् ॥ २५ ॥ इमान् मौनगुणान् ज्ञात्वा मख्यातीतान् विवेकिभिः । शश्वद्विश्वार्थनिष्पत्यै तत्कार्यं च सुखाकरम् ॥ २६ ॥ तथा मौनव्रतायोच्चैर्विधातव्या-

वह सत्य है इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता ॥१९॥ जो नीच मनुष्य वचनों को रोकने में भी असमर्थ हैं वह भला मन इन्द्रियाँ और कषायों का निग्रह कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता ॥२०॥ यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत निंद्य ऐसे अपने वाह्य वाग्जाल को रोक कर श्रेष्ठ ध्यान को प्रगट करने के लिये दीपक के समान ऐसे इस मौनव्रत को सदा धारण करते रहना चाहिये ॥२१॥ इसका भी कारण यह है कि इस मौन को धारण करने से चतुर पुरुषों को स्वप्न में भी कभी कलह नहीं होता तथा इसी मौन व्रत से रागद्वेषादिक शत्रु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥ इसी मौन से समस्त गुणों की राशि प्राप्त होती है, इसी मौन से समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है, इसी मौन से केवलज्ञान प्रगट होता है इसी मौन से उत्तम श्रुतज्ञान प्राप्त होता है ॥२३॥ इसी मौन व्रत से ज्ञानी पुरुष समस्त परीषह और समस्त उपसर्गों का महान् विजय प्राप्त करते हैं और इसी मौनव्रत से समस्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं ॥२४॥ इसी मौन व्रत से मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान बहुत शीघ्र मौनव्रती को स्वीकार करती है फिर भला देवांग- नाओं की तो बात ही क्या है ॥२५॥ विवेकी पुरुषों को इस प्रकार मौनव्रत के असंख्यात गुण समझ कर समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए सुख की खानि ऐसा यह मौनव्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥२६॥ इस मौनव्रत को पालन करने के लिये समस्त पापों को नाश करने वाली वाग्गुप्ति

घनाशिनी । वाग्गुप्ति सर्वदा जातु न त्याज्या कार्यकोटिभिः ॥ २७ ॥ शुभगुणमणिखानिं स्वर्गमोक्षादिधात्रीं दुरिततिमिरहंत्रीमर्गलां पापगेहे । वृषसुखजननीं वाग्गुप्तिमात्मार्थसिध्यै कुरुतनिखिलयत्नान्मौनमाधायनित्यम् ॥२८॥ हस्ताद्यवयवानीश्च स्वेच्छयावृत्तितोवलात् । आहृत्य निखिलं देहं विक्रियानिगमूर्जितम् ॥ २९ ॥ कृत्वा यत्स्थाप्यते धीरै व्युत्सर्गे वा दृढासने । निष्पंद काष्ठवन्मुक्त्यै सा कायगुप्तिरुत्तमा ॥ ३० ॥ कायगुप्त्यात्र धीराणां सर्वप्राणिदया भवेत् । निष्प्रकंपं परं ध्यान सवरो निर्जरा शिवम् ॥ ३१ ॥ काय चंचलयोगेन म्रियन्तेजन्तुराशयः । तन्मृते व्रतभंगः स्यात्ततो नर्थपरंपरा ॥ ३२ ॥ मत्वेति विक्रियां सर्वां त्यक्त्वा नेत्रमुखादिजाम् । निंद्यांचपलतांरुध्वा शाम्यंचित्रोपम वपु ॥ ३३ ॥ कृत्वामोक्षाय संस्थाप्य कायोत्सर्गासनादिषु । कायगुप्तिर्विधातव्या प्रत्यह ध्यानमा–

का पालन करना चाहिये तथा करोड़ों कार्य होने पर भी इस वाग्गुप्ति का त्याग नहीं करना चाहिये ॥२७॥ यह वचनगुप्ति शुभ गुणरूपी मणियों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष को देने वाली है, पाप रूपी अंधकार को नाश करने वाली है पापरूपी घर को बंद करने के लिए अर्गल वा वेंडा के समान है तथा धर्म और सुख की माता है। अतएव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिये समस्त यत्नों से सदा मौन धारण कर इस वचनगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥२८॥ जो मुनि अपने हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिलाते, और अपने शरीर में कोई विकार उत्पन्न नही होने देते, वे धीर वीर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर को कायोत्सर्ग में वा किसी दृढ़ आसन पर काठ के समान निश्चल स्थापन करते हैं उसको उत्कृष्ट कायगुप्ति कहते हैं ॥२९–३०॥ इस कायगुप्ति को धारण करने से धीर वीर मुनियों के समस्त प्राणियों की दया पल जाती है निश्चल ध्यान की प्राप्ति हो जाती है तथा संवर निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ॥३१॥ शरीरकी चंचलता के निमित्त से बहुत से जीवों की राशि मर जाती है, उनके मरने से व्रतका भंग हो जाता है और व्रत भंग होने से अनेक अनर्थों की परम्परा प्रगट हो जाती है ॥३२॥ यही समझ कर नेत्र वा मुख से होने वाले समस्त विकारों का त्याग कर देना चाहिये, निंद्य चपलता को रोकना चाहिये और चित्र के समान शरीर को अत्यंत शांत और निश्चल रख कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग में वा किसी आसन पर दृढ़ रखना चाहिये। इस प्रकार ध्यान की माता के समान इस कायगुप्ति को प्रतिदिन

तृका ॥ ३४ ॥ सुरशिवगतिवीथी दीपिकां ध्यानसौधे व्रतसकलवराम्वां कर्मवृक्षैकुठारीम् । जिनमुनिगणसेव्यां कायगुप्तिं पवित्रां श्रयतजितकषाया यत्नतोमुक्तिसिध्यै ॥ ३५ ॥ त्रिस्रः सद्‍गुप्तयोत्रैताविधेयाविधिनासदा । विधिज्ञाः शिवशर्माम्वाः कृत्स्नकर्मान्तकारिकाः ॥ ३६ ॥ वलवद्भिर्यथाविश्वैः शत्रुभिः स्वाश्रमान्नृपः । न नेतुं शक्यतेगुप्तः प्राकारखातिकाभटैः ॥ ३७ ॥ तथामुनि रोगुप्तो मनोवाक्कायगुप्तिभिः । न जातु विक्रियां नेतुं शक्य कर्मारि-संचयैः ॥ ३८ ॥ वर्मितः संगरे यद्वद्भटो वाणैर्न भिद्यते । तथा योगी त्रिगुप्तात्मा रागाद्यसंयमेषुभिः ॥ ३९ ॥ सार्थंसमितिभिः पंचभिरिमाः गुप्तयः पराः । प्रोक्ता प्रवचनाख्याष्टमातरो हितकारिकाः ॥ ४० ॥ रक्षन्ति मातरो

पालन करना चाहिये ॥३३-३४॥ यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है, ध्यानरूपी राजभवन को दिखलाने के लिये दीपक से समान है, समस्त व्रतों की श्रेष्ठ माता है, कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी है, भगवान जिनेन्द्रदेव और मुनियों के समूह सब इसको पालन करते हैं तथा यह अत्यंत पवित्र है। अतएव कषायों को जीतने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इस कायगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥३५॥ ये तीनों गुप्तियाँ कर्मों को नाश करने वाली हैं मोक्ष के सुख की माता हैं, और समस्त कर्मों को नाश करने वाली हैं अतएव मुनियों को विधि पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥३६॥ जो राजा कोट खाई और योद्धाओं से अत्यंत सुरक्षित है उसको अत्यंत बलवान समस्त शत्रु भी उसके घर से बाहर नहीं ले जा सकते उसी प्रकार जो मुनि मन वचन काय की गुप्तियों से अत्यंत सुरक्षित हैं उनकी आत्मा में कर्मरूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ॥३७-३८॥ जिस प्रकार युद्ध मे कवच पहनने वाला योद्धा वाणों से घायल नही होता उसी प्रकार मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति को धारण करने वाला योगी असयमादिक वाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता ॥३९॥ ये तीनों गुप्तियाँ तथा पाँचों समितियाँ मिल कर आठों प्रवचनमातृका कहलाती हैं। ये आठों ही माता के समान हित करने वाली हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं ॥४०॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को धूलि मिट्टी से बचाती हैं उसी प्रकार ये अष्ट

यद्वन्मलाग्निस्पर्शनात्सुतान् । तथेमामुनिपुत्रांश्चदुष्कर्मास्रवपांशुतः ॥ ४१ ॥ विपत्तेः प्रतिपाल्यास्वाः पोषयन्ति यथात्मजान् । तथैतांश्च यतीन् सर्वैर्हितैः स्वमुक्तिशर्मभि. ॥ ४२ ॥ यथांगजान् जनन्यो न दद्यु र्गन्तु कुविक्रियाम् । तथायम्रिसुताश्चैताः पालयन्त्य स्वशत्रुभि ॥ ४३ ॥ शिव कुर्वन्ति सूनोश्चयद्वदम्वा निवार्य भोः । दुःखक्लेशाग्निकांस्तद्वदेताः साधो प्रपालिता ॥ ४४ ॥ इत्थंवागुणसंयोगात्सार्थाख्या वरमातर । उच्यन्ते श्रीजिनाधीशैः मातृतुल्यामहात्मनाम् ।।४५।। एपव्रतादिसम्पूर्णश्चारित्राचार ऊर्जितः । त्रयोदशविधोऽन्दौर्विधातव्योतिनिर्मल. ।।४६।। सर्वातिचारनिर्मुक्तं चारित्रं शशिनिर्मलम् । ये चरन्ति प्रयत्नेन तेषामोक्षो न्स्यदेहिनाम् ॥ ४७ ॥ अन्ये ये मुन–

प्रवचनमातृकाएं मुनियों को कर्मास्रव रूपी धूलि से बचाती हैं ॥४१॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को विपत्ती से बचा कर पालन पोपण करती हैं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को सब तरह का हित कर तथा स्वर्ग मोक्ष के सुख देकर मुनियों का पालन पोपण करतीं हैं ॥४२॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों को किसी भी आपत्ति में जाने नहीं देतीं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं भी अपने मुनिपुत्रों को रागद्वेपादिक समस्त शत्रुओ से रक्षा करती हैं ॥४३॥ जिस प्रकार माताएं अपने पुत्रों के समस्त दुःख और क्लेशों को दूर कर उनका कल्याण करती हैं उसी प्रकार ये गुप्तिसमिति रूप माताएं भी साधुओं की रक्षा करती है दुःख देने वाले रागद्वेप वा कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देतीं ॥४४॥ इस प्रकार इन गुप्ति समितियों में माता के समस्त गुण विद्यमान हैं इसीलिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने अष्ट प्रवचनमातृकाएं ऐसा इनका सार्थक नाम बतलाया है। वास्तव में महात्माओं के लिये ये माता के ही समान हैं॥४५॥ इस प्रकार पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्तियों से परिपूर्ण हूआ चारित्राचार तेरह प्रकार का है इसीलिये चतुर मुनियों को अत्यंत निर्मल और अत्यंत उत्कृष्ट ऐसा यह चारित्राचार अवश्य धारण करना चाहिये ॥४६॥ जो पुरुप समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्र को प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरमशरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥४७॥ और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों

योदत्ताश्चारित्राचार भूषिताः । त्रिजगच्छर्म भुक्त्वा ते क्रमाद्यान्तिशिवालयम् ॥ ४८ ॥ जीवितंप्रवरंमन्येदिनैकं व्रतभूषितम् । तद्विना विफलं पुंसां पूर्व कोट्यादिगोचरम् ॥ ४९ ॥ नमन्ति त्रिजगन्नाथांश्चारित्रालंकृतात्मनाम् । पादपद्मान् मुदामूर्ध्ना प्रत्यहं किंकरा इव ॥ ५० ॥ महाचारित्र भूपाणां प्रतापेन सुरेशिनाम् । आसनानि प्रकम्पन्ते शाम्यन्ति क्रूरजन्तवः ॥ ५१ ॥ धन्य· सएव लोकेस्मिन् सफलं तस्य जीवितम् । कदाचिच्चरणं येन न नीतं मलसन्निधौ ॥ ५२ ॥ चारित्रेण विना येनोत्कृष्टेपि ज्ञानदर्शने । समर्थे न शिवं कर्तुं तत्कथश्लाघ्यते न भोः ॥ ५३ ॥ महाज्ञानदृगाढ्योपि चारित्रशिथिलोयतिः । सन्मार्गगमनाशक्तः पगुवद्भाति जातु न ॥ ५४ ॥ वरप्राणपरित्यागः सयतानां शुभप्रदः । शैथिल्य चरणे कर्तुं मनागयोग्यं ननिन्दितम् ॥५५॥ यथात्रैवसुचारित्री

लोकों के सुखों को भोग कर अनुक्रम से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥४८॥ व्रतों से सुशोभित होकर एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु व्रतों के विना मनुष्यों का करोड़ पूर्व तक जीवित रहना भी निष्फल है ॥४९॥ जिनका आत्मा इस चारित्र से सुशोभित है उन मुनियों के चरण कमलों को तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नता पूर्वक मस्तक नवा कर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं ॥५०॥ जो मुनि इस महा चारित्र से सुशोभित हैं उनके प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा उन्हीं मुनियों के प्रताप से सिंहादिक क्रूर घातक जन्तु भी शांत हो जाते हैं ॥५१॥ जिन मुनियों ने अपने चारित्र को कभी भी मलिन नहीं किया है संसार में वे ही मुनि धन्य हैं और उन्हीं का जीवन सफल है ॥५२॥ इस चारित्र के विना अत्यंत उत्क्रष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते फिर भला इस ऐसे चारित्र की प्रशंसा क्यों नहीं करनी चाहिये अवश्य करनी चाहिये ॥५३॥ महा ज्ञान और महा सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से शिथिल हो जाय तो वह लंगड़े के समान मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता तथा वह न कभी सुशोभित हो सकता है ॥५४॥ मुनियों को कल्याणकारी प्राण त्याग कर देना अच्छा परन्तु चारित्र में शिथिलता धारण करना किंचित् भी योग्य नहीं है। क्योंकि चारित्र में शिथिलता धारण करना निंदनीय है ॥५५॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ चारित्र को धारण करने वाला योगी इस लोक

वंद्यः पूज्यः स्तुतोभवेत् । मान्योविश्वजनैर्योगी तथामुत्रजगत्त्रये ॥ ५६ ॥ चारित्रशिथिलोयद्वन्निंद्योत्रैव पदेपदे । विश्वापमाननीयः स्यात्तथामुत्र च दुर्गतौ ॥ ५७ ॥ मत्वेति धीधनैर्जातु चारित्रं निर्मलं महत् । मलपार्श्वे ननेतव्यं प्राणान्तेपि विमुक्तये ॥ ५८ ॥ एषोनन्तगुणाकरोशुभहरः स्वर्मोक्षशर्माकरः श्रीतीर्थेश्वरभाषितोमुनिगणैः ससेवितः प्रत्यहम् । ससाराम्बुधितारकोतिविमलोविश्वाग्रिमः सर्वं चारित्राचार इहोर्जितः प्रतिदिनमेमानसे तिष्ठतु ॥ ५९ ॥ चारित्राचार एषोत्र वर्णितो हि महात्मनाम् । इतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तप आचारमद्भुतम ॥ ६० ॥ स्वेच्छाया अक्षशर्मादौ निरोधो यो विधीयते । तपोर्थिभिस्तपः सिध्यै तदेव प्रवरं तपः ॥ ६१ ॥ वाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां द्विधासत्तपउच्यते । तद्वाह्यं षड्विधं सोढाभ्यन्तरं च भवान्तकम् ॥ ६२ ॥ यत्तपः प्रकट लोकेऽन्येषां वात्र

में भी समस्त लोगों के द्वारा वंदनीय पूज्य स्तुति करने योग्य और मान्य माना जाता है उसी प्रकार वह परलोक में भी तीनों लोकों में मान्य पूज्य वंदनीय माना जाता है ॥५६॥ जिस प्रकार शिथिल चारित्र को धारण करने वाला मुनि इस लोक में भी पद पद पर निंदनीय माना जाता है तथा सबके द्वारा अपमानित होता है उसी प्रकार परलोक में दुर्गतियों में पड़ कर निंदनीय और अपमानित होता है ॥५७॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्राणों के त्याग का समय आने पर भी अपने निर्मल और सर्वोत्कृष्ट चारित्र को कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥५८॥ यह चारित्राचार अनंतगुणों की खानि है, पापों को हरण करने वाला है, स्वर्गमोक्ष के सुख देने वाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है अनेक मुनिगण प्रतिदिन इसका सेवन करते हैं, यह संसाररूपी समुद्र से पार करने वाला है अत्यंत निर्मल है सब में मुख्य है और सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा यह पूर्ण चारित्राचार मेरे मन में विराजमान रहो ॥५९॥ इस प्रकार महात्माओं के इस चारित्राचार का वर्णन किया। अब आगे सर्वोत्कृष्ट तप आचार को कहता हूं ॥६०॥ तपश्चरण करने वाले मुनि अपने तपश्चरण की सिद्धि के लिये जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं ॥६१॥ इस तप के वाह्य आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं उसमें भी वाह्य तप के छह भेद है और संसार को नाश करने वाले अभ्यंतर तप के भी छह भेद है ॥६२॥ जो तप संसार में प्रगट दिखाई

कुदृष्टिभिः । कर्तुं च शक्यते बाह्यं तत्तपः सार्थकं भवेत् ॥ ६३ ॥ आद्यं चानशनं सारमवमौदर्यसंज्ञकः । द्वितीयं सत्तापोवृत्तिपरिसंख्यानमूर्जितम् ॥ ६४ ॥ ततोरसपरित्यागो विविक्तशयनासनम् । कायक्लेशोत्रषोढेति तपो बाह्यं सुखाकरम् ॥६५॥ तत्साकांक्षनिराकांक्षं भेदाभ्यां श्रीजिनाधिपैः । द्विधानशनमाम्नातंसाकांक्षं वहुधाभवेत् ॥६६॥ अन्नपानकसत्वाद्यस्वाद्यभेदैश्चतुर्विधः । आहारस्त्यज्यतेमुक्त्यै यत्तापोनशनं हि तत् ॥ ६७ ॥ क्रियते चोपवासस्य धारणेपारणे वुधैः । यदैकभक्तमाप्तैः सः चतुर्थः कथ्यते वुधैः ॥ ६८ ॥ चतुर्भोजनसंत्यागाच्चतुर्थः सार्थकोमहान् । षड्वेलाशनसत्यागात् षष्ठो द्विप्रोपधात्मकः ॥६९॥ अष्टवेलाशनत्यागादष्टमस्त्रिचतुर्थजः । दशभोजनसंत्यागाद्दशमः कर्मनाशकः ॥७०॥ द्विषड्वेलाशनत्यागात्प्रोक्तो द्वादशमो जिनैः । इत्याद्या. प्रोषधाज्ञेया साकांक्षानशनस्य च ॥७१॥

देता है अथवा अन्य मिथ्यादृष्टी भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नाम को धारण करने वाला वाह्य तप कहलाता है ॥६३॥ अनशन अवमोदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान रसपरित्याग विविक्त शय्यासन और काय क्लेश इस प्रकार सुख देने वाला वाह्य तप छह प्रकार है ॥६४—६५॥ उसमें भी भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनशन तप के दो भेद बतलाये हैं एक साकांक्ष और दूसरा निराकांक्ष । इनमें से साकांक्ष तप के भी अनेक भेद बतलाये हैं ॥६६॥ मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो अन्न पान स्वाद्य खाद्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं ॥६७॥ जिस उपवास में धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाता है उसको भगवान सर्वज्ञदेव चतुर्थ नाम से कहते हैं ॥६८॥ इस उपवास में चार समय के भोजन का त्याग किया जाता है इसलिये यह चतुर्थ नाम का महा उपवास सार्थक नाम को धारण करने वाला है। यदि छह समय के आहार का त्याग कर धारणा पारणा के दिन एकाशन कर मध्य में जो उपवास किये जाँय तो उसको षष्ठ नाम का उपवास कहते हैं ॥६९॥ जिसमें आठ समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में तीन उपवास किये जाँय उसको अष्टम उपवास कहते हैं। तथा जिस उपवास में दश समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य मे चार उपवास किए जाँय उसको कर्मों का नाश करने वाला दशम उपवास कहते हैं ॥७०॥ जिस उपवास मे बारह समय के

पक्षमासोपवासादि षण्मासान्तं तपोऽनघम् । क्रियते यन्महाधीरैः सर्वं साकांक्षमेवतत् ॥ ७२ ॥ कनकैकावली सिंहनि.ष्क्रीडितादयोखिला. । भद्र त्रैलोक्यसाराद्याः साकांक्षेन्तर्भवामताः ॥ ७३ ॥ मरण भक्तप्रत्याख्यानमिंगिनी-समाह्वयम् । प्रायोपगमनंहीत्याद्यान्यानि मरणानि च ॥ ७४ ॥ यानि तानि समस्तानि यावज्जीवाश्रितान्यपि । निराकांक्षोपवासस्य वहुभेदानि विद्धि भो ॥७५॥ उपवासाग्निनापुंसां कायः सतप्यतेतराम् । दह्यन्ते सकलाक्षाणि कर्मेन्धनान्यनन्तशः ॥ ७६ ॥ ढौकते त्रिजगल्लक्ष्मीर्नाक श्रीश्चसुशर्मदा । मुक्तिस्त्री सन्मुख पश्येदुपवासफलात्स-ताम् ॥ ७७ ॥ इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं शक्त्या शिवाप्तये । वहूपवासभेदांश्च प्रकुर्वन्तु तपोधना' ॥ ७८ ॥ सहस्र

आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य मे पॉच उपवास किये जॉय तथा धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाय उसको द्वादशम उपवास कहते हैं। इस प्रकार के जो प्रोपधोपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशन के भेद हैं ॥७१॥ इसी प्रकार महाधीर वीर पुरुप जो एक पक्ष का वा एक मास का उपवास करते हैं वा छह महीने तक का उपवास करते हैं तथा इस प्रकार जो पाप रहित तपश्चरण करते हैं उस सबको आकांक्ष अनशन कहते हैं ॥७२॥ इसी प्रकार कनकावली एकावली सिंह निष्क्रीडित आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वा भद्र त्रैलोक्यसार आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशन में ही अंतर्भूत होते हैं ॥७३॥ भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनसंन्यास मरण इस प्रकार के जितने सन्यासमरण हैं उनमें जो जीवन पर्यंत आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं। उस निराकांक्ष उपवास के भी इस प्रकार के मरण के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं ॥७४-७५॥ इस उपवास रूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यंत संतप्त हो जाता है और फिर उससे समस्त इन्द्रियाँ और अनंत कर्मरूपी ईंधन सब जल जाता है ॥७६॥ इस उपवास के फल से सज्जनों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, और श्रेष्ठ कल्याण करने वाली मुक्तिस्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है ॥७७॥ इस प्रकार इस उपवास का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक भेद रूप उपवासों को सदा करते रहना चाहिये ॥७८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने मनुष्यों के लिए

तंदुलैरेकः कवलोत्रोदितो नृणाम् । द्वात्रिंशत्कवलैः पूर्ण आहारश्चागमेजिनैः ॥ ७६ ॥ एकेन कवलेनैवोनाहारो
-येत्रभुज्यते । तपोर्थं हि जघन्यं तदवमौदर्यसत्तप ॥८०॥ अत्रैकग्रासमात्रो य आहारोगृह्यते चिदे । तपस्विभिस्तपोर्थं
तदवमौदर्यमुत्तमम् ॥८१॥ जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येत्रातृप्ति भोजनं हि यत् । बहुधातपसे तच्चावमौदर्यसुमध्यमम् ॥८२॥
अनेन तपसा नृणां निद्राजयः स्थिराशनम् । ग्लानिहानि. श्रुतं ध्यानं स्याच्चाभुक्तिश्रमात्ययः ॥ ८३ ॥
इत्यादींस्तद्गुणान् ज्ञात्वावमौदर्यं तपोनघम् । ग्रासादिहापनैर्दक्षाः कुर्वन्तु ध्यान सिद्धये ॥ ८४ ॥ चतुःपथाध्व-
वीथ्येकगृहाद्रिपाटकैः परै. । नानावग्रहसंकल्पैर्गतृभोजन भाजनैः ॥८५॥ दुष्प्राप्याहारसंप्राप्त्यै या प्रतिज्ञात्रगृह्यते ।

एक हजार चावलों का एक ग्रास बतलाया है, तथा जिनागम में बत्तीस ग्रासों का पूर्ण आहार बतलाया है। जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिये एक ग्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमोदर्य नाम का श्रेष्ठ तप कहते हैं ॥७६–८०॥ जो तपस्वी अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए वा आत्मा को शुद्ध करने के लिए केवल एक ही आहार का ग्रास लेते हैं वह उत्तम अवमोदर्य तप कहलाता है ॥८१॥ एक ग्रास से अधिक और इकत्तीस ग्रास से कम ग्रासों का आहार लेना मध्यम अवमोदर्य है। यह अवमोदर्य तपश्चरण के ही लिये किया है और इसमें उतना ही आहार लिया जाता है जिसमें पूरी तृप्ति न हो ॥८२॥ इस तपश्चरण से मनुष्यों का निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है ध्यान की वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता ॥८३॥ इस प्रकार इस तपश्चरण के गुणों को जानकर चतुर पुरुषों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिये अपने ग्रासों की संख्या घटा कर अवमोदर्य नाम के निर्दोष तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये ॥८४॥ मैं चौराये पर आहार मिलेगा तो लूंगा इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो आहार लूंगा एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूंगा अथवा दाता ऐसा होगा उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं। इस प्रकार कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पडगाहन

तर्द्वृत्तिपरिसंख्यानं वहुभेदं तपोमहत् ॥ ८६ ॥ तपसानेन जायेत धीरत्वंयोगिनां परम् । आशान्तरायकर्माणिप्रण श्यन्ति च लौल्यता. ॥ ८७ ॥ इत्याद्यस्य फलं मत्वादुर्लभाहारसिद्धये । चतुःपथादिभिर्धीराः प्रतिज्ञामाचरन्तु भो' ॥ ८८ ॥ दधिदुग्धगुडानां च रसानां तैलसर्पिषो. । लवणस्य कषायाम्लमधुराणांजितेन्द्रियैः ॥ ८६ । तिक्तस्य कटुकस्यापि त्यागो यः क्रियतेजिनैः । उक्तंरसपरित्यागं तत्तपोत्तमदान्तवम् ॥ ६० ॥ मद्यमांसमधुन्येवनवनीतमिमाः सदा । निंद्या विकृतयस्त्याज्याश्चतस्र. पापखानय. ॥ ६१ ॥ सःुष्णेकाजिके शुद्धमाप्लाव्यभुज्यतेशनम् । जितेन्द्रियैस्तपोर्थं यदाचाम्लउच्यतेत्रसः ॥ ६२ ॥ आहारो भुज्यते दुग्धादिकपचरसातिग । दमनायाक्षशत्रूणां य सा निर्विकृतिर्मता ॥ ६३ ॥ आचाम्लनिर्विकृत्याख्ये तपसे तेनघे न्वहम । पचाक्षारातिघाताय कर्तव्येविधिव-

---

होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है यह तप सर्वोत्कृष्ट है और इसके अनेक भेद हैं ॥८५–८६॥ इस तपश्चरण से योगियों में धीरवीरता उत्पन्न होती है, आशा और अंतराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती है ॥८७॥ इस प्रकार इस तप के फल को समझ कर धीर वीर पुरुषों को कठिनता से आहार प्राप्त करने के लिये ऊपर कहे अनुसार चौराये आदि पर आहार लेने की प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिये ॥८८॥ इन्द्रियों को जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तेल, घी, लवण, कषायला, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको इन्द्रिय और मद को नाश करने वाला रसपरित्याग नाम का तप भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥८६–६०॥ मद्य मॉस मधु और नवनीत ये चारों ही पदार्थ निंद्य हैं विकार उत्पन्न करने वाले हैं और पाप की खानि हैं। इसलिये इन चारों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥६१॥ जितेन्द्रिय पुरुष अपना तपश्चरण बढ़ाने वाले जो गर्म कांजी में (भात के मॉड़ में) शुद्ध आहार मिला कर आहार लेते हैं उसको आचाम्ल कहते हैं ॥६२॥ मुनिराज अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को दमन करने के लिये दूध दही आदि पॉचों रसों से रहित नीरस आहार लेते हैं उसको निर्विकृत कहते हैं ॥६३॥ बुद्धिमान मुनियों को अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए और पाँचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए विधि पूर्वक पापरहित ऐसे आचाम्ल और निर्विकृत नाम का

द्धुधैः ॥ ६४ ॥ रसत्यागतपोभिश्चद्धुर्गन्तेन्द्रियनिर्जयः । रसध्यार्दिमहर्द्धीयँ जायते च शिवं सताम् ॥ ६५ ॥ विदित्वेति फलं चास्य महत्कुर्वन्तु संयताः । एक द्यादिरम त्यागैरसत्यागतप सदा ॥ ६६ ॥ नारीदेवीपशुक्लीवगृहस्थादि-विवर्जिते । शून्यागारेश्मशानेवा प्रदेशे निर्जनेवने ॥ ६७ ॥ विधीयतेगुहादौ वा यत्सदाशयनासनम् । ध्यानाध्ययनसिध्यैतद्विविक्तशयनासनम् ॥ ६८ ॥ ध्यानाध्ययननिर्विघ्नारागद्वेषादिहानयः । लभ्यन्तेतपसानेनसाम्यताद्या महागुणा ॥ ६६॥ मत्वेतीदं तपः कार्यं ध्यानादिसिद्धये न्वहम् । सरागस्थानकांस्त्यक्त्वा स्थित्वाशून्यगृहादिषु ॥२००॥ कायोत्सर्गैकपार्श्वादिशय्यावज्रासनादिभिः । आतपनादियोगैश्च त्रिकालगोचरैः परैः ॥ १ ॥ तपोवुध्या मनः शुध्या

आहार प्रतिदित लेना चाहिये ॥६४॥ इस रसपरित्याग नाम के तप से प्रवल इन्द्रियों का विजय होता है रस ऋद्धि आदि महा शक्तियाँ प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६५॥ इस प्रकार इस तप का फल समझ कर मुनियों को एक दो आदि रसों का त्याग कर इस रसपरित्याग तप को सदा धारण करते करना चाहिये ॥६६॥ मुनिराज अपने ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिए स्त्री देवी पशु नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहाँ निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसको विविक्तशय्यासन नाम का तप कहते हैं ॥६७–६८॥ इस तपश्चरण से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा रागद्वेष आदि कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है। इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महा गुण प्रगट हो जाते हैं ॥६६॥ यही समझ कर ध्यान अध्ययन आदि की सिद्धि के लिये मुनियों को राग उत्पन्न करने वाले स्थानों का त्याग कर और निर्जन एकांत स्थान में निवास कर प्रतिदिन इस तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये ॥२००॥ मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिये तपश्चरण बढ़ाने के लिये मन की शुद्धता के साथ साथ कायोत्सर्ग धारण कर, एक कर्वट से सोकर वज्रासन आदि कठिन आसन लगा कर, वा वर्षा ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होने वाले उत्कृष्ट अतापनादिक कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट

कायक्लेशोविधीयते । यः कायशर्महान्यै तत्कायक्लेशतपोमहत् ॥ २ ॥ वलर्ध्यांद्यामहर्द्धीश्च सुखं त्रैलोक्यसम्भवम् । कामेन्द्रियजयादीनिलभन्तेस्यफलाद्विद. ॥ ३ ॥ विज्ञायेति सदा कार्यः कायक्लेशोगुणाकरः । निजशक्त्यनुसारेण विद्वद्भिः शिवशर्मणे ॥ ४ ॥ येन नोत्पद्यते पुंसा सक्लेशो मनसोशुभ. । वर्तते तपसाश्रद्धादुर्ध्यानादिपरिक्षय. ॥ ५ ॥ न हीयन्ते महायोगा वर्द्धन्ते प्रवरागुणा । अभ्यन्तरतपास्यत्रतद्वाह्यं परम तपः ॥ ६ ॥ अभ्यन्तरतपोवृध्यर्थं वाह्यं निखिल तपः । कीर्तितंवीतरागेणध्यानाध्ययनकारणम् ॥ ७ ॥ मत्वेत्यन्तस्तपो वृध्यैतपोवाह्यं तपोधनाः । सर्वशक्त्याप्रकुर्वन्तु कर्महान्यै शिवाय च ॥ ८ ॥ इतिवाह्यं तपः सम्यग्व्याख्याय श्रीजिनागमात् । इत ऊर्ध्वं सतां सिध्यै वक्ष्याम्यभ्यन्तरं तप ॥ ९ ॥ व्यक्तं यन्नापरेषां वा तपः कर्तुं न शक्यते । मिथ्यादृग्भिः

कायक्लेश नाम का तप कहते हैं ॥१—२॥ इस तपश्चरण के फल से विद्वानों को वल ऋद्धि आदि अनेक महा ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला सुख प्राप्त होता है और कामेन्द्रिय का विजय होता है ॥३॥ यही समझ कर विद्वानों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक गुणों की खानि ऐसा यह कायक्लेश नाम का तप अवश्य धारण करना चाहिये ॥४॥ जिस तपश्चरण से मनुष्यों के मन में अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरण में श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्मशुक्ल ध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो श्रेष्ठ गुण बढ़ते जाँय और अभ्यंतर तपश्चरण भी जिससे बढ़ते जाँय उसको वाह्य परम तपश्चरण कहते हैं ॥५—६॥ भगवान सर्वज्ञदेव ने अभ्यंतर तप को बढ़ाने के लिए ही ध्यान और अध्ययन का कारण ऐसा यह अनेक प्रकार का वाह्य तपश्चरण बतलाया है ॥७॥ यही समझ कर तपस्वी लोगों को अपने अंतरंग तप की वृद्धि के लिये, कर्मों को नाश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा कर इस वाह्य तपश्चरण को पालन करना चाहिये ॥८॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार वाह्यतप का निरूपण अच्छी तरह से किया। अब आगे सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अभ्यंतर तप का निरूपण करते हैं ॥९॥ जो तप दूसरों के द्वारा प्रगट दिखाई न दे, तथा मिथ्यादृष्टी

शठैस्तच्चाभ्यन्तरं प्रवरं तपः ॥ १० ॥ प्रायश्चित्तं च दोषघ्नं विनयं सद्गुणाकरम् । वैयावृत्यं तपः सारं स्वाध्यायो धर्मसागरः ॥११॥ कायोत्सर्गं शुभध्यानमित्यन्तः शुद्धिकारणम् । अभ्यन्तरं तपः षोढास्यादन्तः शत्रुघातकम् ॥१२॥ कृतदोषो मुनिर्येनविशुध्यतितरां व्रतैः । सम्पूर्णं दशभेदंतत्प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ॥ १३ ॥ आलोचनं च दोषघ्नं प्रतिक्रमणमूर्जितम् । ततस्तदुभयं सारं विवेको गुणसागरः ॥ १४ ॥ कायोत्सर्गस्तपश्छेदो मूलं दोषक्षयंकरम् । परिहारश्चश्रद्धानं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ॥ १५ ॥ प्रायश्चित्तादिसिद्धान्तविदः सूरेः रहस्यपि । पंचाचाररतस्यान्ते त्यक्त्वामायां निवेदनम् ॥ १६ ॥ यद्विशुध्यै व्रतादीनांयोगैः कृतादिकर्मभिः । कृतातीचारकृत्स्नानां तदालोचन-मुच्यते ॥ १७ ॥ आकंपिताख्यो दोषोऽनुमानितोदृष्टसंज्ञकः । बादरः सूक्ष्मदोषश्चछन्नः शब्दाकुलिताह्वयः ॥ १८ ॥

अज्ञानी जिस तप को धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यंतर तप कहते हैं ॥१०॥ समस्त दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त, श्रेष्ठ गुणों की खानि ऐसा विनय, तपश्चरण का सारभूततप वैयावृत्ति, धर्म का सागर स्वाध्याय, तथा कायोत्सर्ग और अंतरंग को शुद्ध करने वाला शुभध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तप है यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अंतरंग शत्रुओं को नाश करने वाला है ॥११–१२॥ जिस ध्यान से मुनियों के व्रतों में लगे हुये दोष शुद्ध हो जाँय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं इस प्रायश्चित्त के दश भेद हैं और यह समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाला है ॥१३॥ दोषों को नाश करने वाली आलोचना, १ उत्कृष्ट प्रतिक्रमण २ सारभूत तदुभय ३ गुणों का सागर ऐसा विवेक ४ कायोत्सर्ग ५ तप ६ छेद ७ दोषों को क्षय करने वाला मूल ८ परिहार ९ और श्रद्धान १० यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त कहलाता है ॥१४–१५॥ जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धांतशास्त्रों के जानकार हैं और जो पंचाचार पालन करने में लीन हैं उनके समीप एकांत में बैठ कर अपने व्रत तप आदि की शुद्धि के लिये बिना किसी छलकपट के मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से किए हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचन कहलाता है ॥१६–१७॥ इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन अव्यक्त, तत्सेवित, ये दश दोष हैं। मुनियों

दोषो बहुजनो व्यक्तस्तत्सेवितसमाह्वय । दशदोषा अमीत्याज्या आलोचनस्य संयतैः ॥ १६ ॥ रम्योपकरणे दत्ते ज्ञानादौसति चापरे । तुष्ट सूरिर्ममप्रायश्चित्तंस्तोकं हि दास्यति ॥ २० ॥ मत्वेतिप्राक्प्रदायोच्चै ज्ञानोपकरणादिकम् । सूरेरालोचनं यत्सदोष आकपिताह्वयः ॥ २१ ॥ पित्ताधिक. प्रकृत्याहं दुर्वलोग्लान एव च । नालं कर्तुं समर्थोऽस्म्युपवासादिकमुल्वणम् ॥ २२ ॥ यदि मे दीयतेस्वल्पप्रायश्चित्तं ततः स्फुटम् । करिष्येस्वस्यदोषाणां सर्वेषां च निवेदनम् ॥ २३ ॥ नान्यथेतिवचोत्रोक्त्वा क्रियते सूरिसन्निधौ । शिष्यैरालोचन्न यत्स दोषोनुमानिताभिध ॥२४॥ अन्यैरदृष्ट दोषाणां कृत्वोपगूहनं च यत् । कथन दृष्टदोषाणां दृष्टदोषः स उच्यते ॥२५॥ आलस्यप्रमादाद्वाज्ञानाद्वालसंयतैः । अल्पापराधराशीनां निवेदनादृते भुवि ॥२६॥ आचार्यनिकटेयच्चस्थूलदोषनिवेदनम् । विधीयते स दोषश्चतुर्थो वादरसञ्ज्ञकः ॥ २७ ॥ अयशो दुष्करप्रायश्चित्तादिभयतोथवा । अयं सूक्ष्मातिचाराणां परिहारक

को इन दश दोषों से रहित आलोचना करनी चाहिये ॥१८–१९॥ यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाय तो आचार्य संतुष्ट हो जाँयगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे । यही समझ कर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादिक देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नाम का दोष कहते हैं ॥२०–२१॥ मेरे शरीर मे पित्त प्राकृतिका अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्वल हूं, अथवा मैं रोगी हूँ इसलिये मैं अधिक वा तीव्र उपवासादिक नहीं कर सकता । यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं अपने समस्त दोषो का निवेदन प्रगट रीति से कर दूंगा अन्यथा नहीं इस प्रकार कह कर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं ॥२२–२४॥ जो शिष्य दूसरों के द्वारा विना देखे हुये दोषों को तो छिपा लेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर देता है उसके आलोचना का दृष्ट नाम का दोष लगता है ॥२५॥ जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस प्रमाद वा अज्ञान से छोटे छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किंतु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को निवेदन करता है उसको चौथा वादर नाम का दोष कहते हैं ॥२६–२७॥ जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डर से, अथवा "देखो इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म

ऊर्जितः ॥ २८ ॥ अहोमत्वेतियन्मूढैः स्वगुणख्यापनेच्छया । स्थूलदोषशतादीनां कृत्वासंवरणंमहत् ॥ २९ ॥ सूरेर्महाव्रतादीनां स्वल्पदोषनिवेदनम् । मायया क्रियते यस्स दोषः सूक्ष्माभिधानकः ॥ ३० ॥ ईदृशेसत्यतीचारे प्रायश्चित्तं हि कीदृशम् । इत्युपायेनपृष्ट्वा स्वगुरुं सुश्रूषया ततः ॥ ३१ ॥ स्वदोषहानयेशिष्यैः प्रायश्चित्तंविधीयते । यदकीर्तिभयाल्लोके छन्नदोषः स दोषदः ॥ ३२ ॥ पाक्षिके दिवसे चातुर्मासिके शुभकर्मणि । वा सांवत्सरिके तीव्र समवाये महात्मनाम् ॥ ३३ ॥ स्वस्वालोचन संजाते बहुशब्दाकुलेमति । यद्दोष कथनं दोषः शब्दाकुलित एव स ॥ ३४ ॥ गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तिमिदं नवा । प्रायश्चित्तादिसद्ग्रंथे हीतिशंका विधाय यत् ॥ ३५ ॥ निकटे परसूरीणां प्रश्नो विधीयते बुधैः । दत्तदण्डस्य निगः स दोषो बहुजनाख्यकः ॥ ३६ ॥ स्वसमानयतेरन्ते

दोषों को भी अच्छी तरह प्रगट कर देता है" इस प्रकार के अपने गुणों के प्रगट होने की इच्छा से सैकड़ों बड़े बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्य के सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषों को निवेदन कर देता है उसको पाँचवाँ सूक्ष्म नाम का दोष कहते हैं ॥२८–३०॥ जो शिष्य लोक में फैलने वाली अपनी अपकीर्ति के भय से अपने दोषों को दूर करने के लिए सुश्रूषा कर के गुरु से पूछता है कि हे स्वामिन् "इस प्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिये" इस प्रकार किसी भी उपाय से पूछ कर वह जो प्रायश्चित्त लेता है वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छन्न नाम का दोष कहलाता है ॥३१–३२॥ जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा दैवसिक वा चातुर्मासिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ काम के लिये महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिल कर अपनी अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊंचे स्वर से निकल रहे हों उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं ॥३३–३४॥ आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रन्थों के अनुसार ठीक है वा नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेने वाले के बहुजन नाम का दोष लगता है ॥३५–३६॥ जो

यद्दोपालोचनं महत् । जिनागमानभिज्ञस्य दोषोऽस्याव्यक्तसज्ञकः ॥ ३७ ॥ समानोस्यापराधेन मेति चारो व्रतस्य वै । अस्मै यद्गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तदेव हि ॥ ३८ ॥ ममाप्याचरितुं युक्तं मत्वेत्यालोचनां विना । तपोभिः शोधनं यत्स दोषस्तत्सेविताभिधः ॥ ३९ ॥ अमीषां केनचिद्दोषेणान्वितालोचनं कृतम् । मायाविनां सशल्यानां मनाक्शुद्धिकरं न हि ॥ ४० ॥ दशदोषानिमांस्त्यक्त्वा बालकैरिवसंयतैः । स्वदोषकथनं यत्क्रियते शुद्धिकरं हि तत् ॥ ४१ ॥ महत्तपोव्रतंसर्वं ह्यनालोचनपूर्वकम् । न स्वकार्यकरं जातु मलिनादर्शवद्भुवि ॥ ४२ ॥ विदित्वेतिचिरं चित्ते व्यवस्थाप्यस्वदूषणम् । प्रकाशनीयमत्यर्थं गुरोरन्तेशुभाशयैः ॥ ४३ ॥ सूरेरेकाकिनः पार्श्वे स्वदोषाणां

मुनि जिनागम को न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े बड़े दोषों की आलोचना करता है आचार्य से आलोचना नहीं करता उसके अव्यक्त नाम का दोष लगता है ॥३७॥ जो मुनि यह समझ कर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतों में अतिचार लगा है इसलिये आचार्य महाराज ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे लेलेना चाहिये। यही समझ कर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतों को शुद्ध करता है उसके तत्सेवित नाम का दोष लगता है ॥३८—३९॥ जो मायाचारी शल्यसहित मुनि इन दश दोषों में से किसी भी दोष के साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ीसी भी नहीं होती ॥४०॥ जो मुनि इन दश दोषों को छोड़ कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महा तपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते, अर्थात् उनसे कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती ॥४२॥ यही समझ कर अपने हृदय में अपने दोषों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और फिर अपने शुद्ध हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रगट कर देना चाहिये ॥४३॥ जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हो

प्रकाशनम् । अद्वितीयस्यशिष्यस्यैकान्तेप्युक्तं न चान्यथा ॥ ४४ ॥ प्रकाशे दिवसेसूरेरन्ते स्वालोचनादिकम् । आर्यिकायाः सतामिष्टं तृतीये सज्जनेसति ॥ ४५ ॥ कृतालोचनदोषो यो न तद्दोषापहं तपः । कुर्यात्तस्य न जायेत मनाक्शुद्धिः प्रमादिनः ॥ ४६ ॥ विज्ञायेति द्रुतं कार्यं-प्रायश्चित्तं मलापहम् । न चास्याचरणेकिंचिद्विधेयं काल-लंघनम् ॥ ४७ ॥ दिनादिजव्रतातीचाराणां निंदनगर्हणैः । विशोधनत्रिशुध्या यत्प्रतिक्रमणमेवतत् ॥ ४८ ॥ कश्चिद्दोषोव्रतादीनां नश्यत्यालोचनाद्द्रुतम् । दुःस्वप्नादिजकर्मा य सत्प्रक्रमणेन च ॥ ४९ ॥ मत्वेत्यालोचनापूर्वं प्रतिक्रमणमंजसा । पाक्षिकादौगिरा यत्क्रियते तदुभयं हि तत् ॥ ५० ॥ द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषतः । निर्वर्तनं हृद्यात् सविवेको य 'नेकधाथवा ॥ ५१ ॥ प्रत्याख्यानस्य वस्तोर्ग्रहणेविस्मरणात्मति । स्मृत्वा पुनश्च तत्त्यागो यो विवेकः स कथ्यते ॥ ५२ ॥ दुश्चिन्तनार्त्त दुःस्वप्नदुर्ध्यानाद्यैर्मल प्रदै । मार्गव्रजननद्याद्युत्त-

---

उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपन दोष कहने चाहिये किसी के सामने अपने दोष नहीं कहने चाहिये ॥४४॥ अर्जिकाएं दिन में ही प्रकाश में ही किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करती हैं ऐसा सज्जन लोग कहते हैं ॥४५॥ जो मुनि दोषों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोष को दूर करने वाले तपश्चरण को नहीं करता उस प्रमादी के दोषों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती ॥४६॥ यही समझ कर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त लेना चाहिये। प्रायश्चित्त के लेने में थोड़ीसी भी देर नहीं करनी चाहिये ॥४७॥ दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक निंदा गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४८॥ व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दुःस्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझ कर पाक्षिक चातुर्मासिक वार्षिक दोषों को दूर करने के लिये वचनपूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं ॥४९–५०॥ द्रव्य क्षेत्र अन्न पान उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है। यह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा भूल से त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मरण हो आने पर फिर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं ॥५१–५२॥ अशुभ चिंतवन, आर्तध्यान, दुःस्वप्न, दुर्ध्यान

रणैरपरेद्दशैः ॥५३॥ जातातीचारशुध्यर्थमालंव्यध्यानमुत्तमम् । कायस्य त्यजनं युक्त्यायत्स व्युत्सर्ग ऊर्जितः ॥५४॥ व्रतातीचारनाशायोपवासाचाम्लयोर्मुदा । तथा निर्विकृतेरेकस्थानादेः करण तपः ॥ ५५ ॥ भयोन्मादप्रमादानववोधाशक्तिकारणैः । अन्यैर्विस्मरणाद्यैश्च जातातीचारहानये ॥ ५६ ॥ व्रतादीनां प्रदातव्यं पूर्वोक्तं षड्विधं यते । प्रायश्चित्तंयथायोग्यंशक्तस्येद्दे तरस्य च ॥ ५७ ॥ चिर प्रवृजितस्यैव शूरस्य गर्वितस्य वा । कृतदोषस्य मासादिविभागेन च योगिनः ॥ ५८ ॥ छित्वा प्रवृजन तद्दीक्षया लघुमहात्मनाम् । अधोभागे किलावस्थापनं यच्छेद एव सः ॥ ५९ ॥ पार्श्वस्थादिकपंचानां महादोषकृतां पुनः । अब्रह्मसेविनां दीक्षादानं मूलमिहोच्यते ॥ ६० ॥

आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्र करने के लिए अथवा मार्ग में चलना नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम ध्यान को धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५३–५४॥ व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिये उपवास करना आचाम्ल करना निर्विकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि तप कहलाता है ॥५५॥ यदि किसी भयसे, उन्मादसे, प्रमादसे, अज्ञानतासे वा असमर्थतासे, अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतों में अतिचार लगे हों तो उनको दूर करने के लिये समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिये ॥५६–५७॥ यदि कोई मुनि चिरकाल का दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने व्रतों में दोष लगावे तो उसको एक महीना दो महीना एक वर्ष दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी (उसके बाद दीक्षित हुए मुनियों से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त कहलाता है ॥५८–५९॥ जो महा दोष उत्पन्न करने वाले पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि हैं अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है ॥६०॥ परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक अनुपस्थान और दूसरा

परिहारोनुस्थापनपारंचिक प्रभेदतः । द्विविधः प्रोदितो आदि त्रिक संहननस्य वै ॥ ६१ ॥ स्वस्यापरस्यभेदाभ्यां गणस्य श्रीगणाधिपैः । अनुपस्थापनं द्वेधा कीर्तितं श्रीजिनागमे ॥६२॥ अन्यसंयतसम्बन्धिनं यतिं चार्यिकांशुभम् । छात्रं बाल गृहस्थं वा परस्त्रीं चेतनेतरम् ॥ ६३ ॥ द्रव्यंपार्षंडिनां वा योऽपहरे च्चौर्य कर्मणा । मुनीन्हन्ति तथेत्यादि विरुद्धाचरणं चरेत् ॥ ६४ ॥ नवानां वा दशानां वा पूर्वाणां धारकोमहान् । चिरप्रव्रजितः शूरोजिताशेषपरीषहः ॥ ६५ ॥ दृढधर्मी च तस्यैव प्रायश्चित्तं जिनैर्मतम् । अनुपस्थापनं स्वस्यगणाख्यं नापरस्य वै ॥ ६६ ॥ तेन शिष्याश्रमाद्द्वात्रिंशद्दण्डान्तरभूतलम् । विहरेत वदन्ते नित्यं दीक्षया लघुसयतान् ॥ ६७ ॥ लभते नहि तेभ्यः प्रतिवन्दनांसहाखिलम् । गुरूणां लोचनं कुर्यान्मौनं सार्द्धं च योगिभिः ॥ ६८ ॥ धृत्वापरान्मुखांपिच्छिकां चरेत्पारणं

पारंचिक । यही परिहार नाम का प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है ॥६१॥ भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम में अनुस्थापन के भी दो भेद कहे हैं एक तो अपने ही संघ में अपने ही आचार्य से परिहार नाम का प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना ॥६२॥ जो मुनि चोरी कर के अन्य मुनि के साथ रहने वाले किसी मुनि को, अच्छी अर्जिका को, विद्यार्थी को बालक को गृहस्थ को वा परस्त्री को अ।वा द्रव्य पाखंडियों के अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण करले अथवा किसी मुनि को मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा दश पूर्वका धारी हो उत्कृष्ट हो चिरकाल का दीक्षित हो, शूर हो समस्त परीषहों को जीतने वाला हो और दृढ धर्मी हो ऐसे मुनि को भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने ही गण का अनुस्थापन प्रायश्चित्त बतलाया है उसके लिये परगण संबंधी अनुस्थापन अनुपस्थान प्रायश्चित्त नहीं बतलाया ॥६३–६६॥ इस स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को धारण करने वाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दंड दूर रहता है, जो अन्य मुनि दीक्षा से छोटे हैं उनको भी वंदना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रतिवंदना नहीं करते । वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियों के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों की आलोचना करता

सदा । पंचपंचोपवासैर्जघन्येनोत्कृष्टतो मुदा ॥६६॥ षण्मासैर्मध्यमैः शक्त्या बहुभेदैर्महाबलः । प्रायश्चित्तं करोत्येव द्विषड्वर्षान्तमद्भुतम् ॥७०॥ स एव दर्पतो दोषान्प्रागुक्तान् नाचरेद्यदि । अथेत्परगणोपस्थापनं दोष क्षयंकरम् ॥७१॥ सापराधं प्रहेतव्यः सूरिणा गणितप्रति । सोऽप्याचार्यो गिराकर्ण्य तस्यालोचनमञ्जसा ॥७२॥ प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तरप्रापयेच्च तम् । इत्येव स प्रहेतव्योयावत्सूरिश्चसप्तम ॥७३॥ प्रेषितः पश्चिमेनैष पूर्वाचार्यप्रतिस्फुटम् । प्रायश्चित्तं चरेत्सर्वप्रागुक्तं स बलान्वितः ॥७४॥ परिहारस्य भेदोयं द्विधाप्रोक्तो जिनागमात् । पारंचिकमितो वक्ष्ये प्रायश्चित्तं सुदुष्करम् ॥७५॥ तीर्थकृद्गणभृत्सङ्घजिनसूत्रादिधर्मिणाम् ।

है और अपनी पीछी को उलटी रखता है। कम से कम पाँच पाँच उपवास करके पारणा करता है तथा अधिक से अधिक छह महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन पन्द्रह दिन एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है। इस प्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इस प्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्त को वह बारह वर्ष तक करता है ॥६७–७०॥ यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगावे तो उसके लिये आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करने वाला परगणोपस्थान नाम का परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है ॥७१॥ उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघ के आचार्य के पास भेजते हैं। वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही हुई सब आलोचना को सुनते हैं तथा बिना प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। वे भी आलोचना सुन कर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस प्रकार वह सात आचार्यों के पास भेजा जाता है। सातवें आचार्य आलोचना सुन कर उसको उसके ही गुरु के पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते हैं। तदनन्तर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नाम का प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित्त को धारण करता है ॥७२–७४॥ इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार परिहार प्रायश्चित्त के दोनों भेद बतलाये। अब आगे अत्यन्त कठिन ऐसे पारंचिक नाम के प्रायश्चित्त को कहते हैं ॥७५॥ जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्र की निंदा करता है धर्मात्माओं

करोत्यासादनं राजाननुमत्या ददाति यः ॥ ७६ ॥ जिनमुद्राममात्यादीनां भजेद्राजयोषितः । इत्याद्यन्यै दुराचारैः कुर्याद्धर्मस्य दूषणम् ॥ ७७ ॥ तस्य पारंचिकप्रायश्चित्तं भवति निश्चितम् । चातुवर्णस्वसंघस्थाः संभूयश्रमणा भुवि ॥ ७८ ॥ एषोऽवंधोमहापापी बाह्यः श्रीजिनशासनात् । घोषयित्वेतिदत्त्वानुपस्थापनं सुदुष्करम् ॥ ७६ ॥ प्रायश्चित्तं स्वदेशात्त निर्घाटयन्तिदोषिणाम् । स्वधर्मरहिते चेत्रे सोपिगत्वा महावलः ॥ ८० ॥ दृढसंहननो धीरः प्रागुक्त क्रमतश्चरेत् । प्रदत्तं गुरुणा सर्वं प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ॥ ८१ ॥ मिथ्यादृष्ट्युपदेशाद्यैः मिथ्यात्व च गतस्य यां । दृग्विशुध्यै रुचिस्तत्त्वादौश्रद्धानं तदद्भुतम् ॥ ८२ ॥ एतद्दशविधंप्रायश्चित्तं तद्व्रतशुद्धये । युक्त्या कालानुसारेण कर्तव्यं मुनिभिः सदा ॥ ८३ ॥ यो महत्स्वतपो मत्वा प्रायश्चित्तं करोति न व्रतादिदोषशुध्यर्थं

की निंदा करता है अथवा विना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिन दीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्म को दूषित करता है उसके लिये आचार्यों ने पारंचिक नाम का प्रायश्चित्त निश्चित किया है। उस प्रायश्त्ति को देते समय अपने संघ के चारो प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिल कर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है इसलिये अवंदनीय है और श्री जिनशासन से बाहर है। तदनंतर वे आचार्य उसको अत्यंत कठिन अनुपस्थापन नाम का प्रायश्चित देते हैं। तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं। मजबूत संहनन को धारण करने वाला धीर वीर महाबलवान् वह मुनि भी जिस देश में जिनधर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिए हुए समस्त दोषों को शुद्ध करने वाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है। इसको पारंचिक अनुपस्थान प्रायश्चित्त कहते हैं ॥७६—८१॥ मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए तत्त्वों में वा देव शास्त्र गुरु मे श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं ॥८२॥ श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिए यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने अपने समय के अनुसार युक्ति पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥८३॥ जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझ कर व्रतादिक के

शठात्मा गर्विताशय' ॥८४॥ तस्यसर्वतपोवृत्तं तद्दोषो नाशयेद्द्रुतम् । सहाखिलैगु णौघैः कुथितताम्बूलपत्रवत् ॥८५॥ प्रायश्चित्तेननि.शल्यंमनोभवति निर्मला: । दृग्ज्ञानाद्यागुणौघा. स्युश्चारित्रं शशिनिर्मलम् ॥ ८६ ॥ संघमान्यमभीतिः स्यान्नि. शल्यंमरणोत्तमम् । इत्याद्या वहवोन्येत्र जायन्ते सद्गुणा. सताम् ॥ ८७ ॥ विज्ञायेति यदा कश्चिद्दोषः उत्पद्यते व्रते । प्रायश्चित्तं तदैवात्र कर्तव्य तद्विशुद्धये ॥ ८८ ॥ कषायेन्द्रिय चौराणां शक्त्या विजयं वलात् । विनयो वा सतांनीचैवृ त्तिरत्नत्रयस्य य' ॥ ८६ ॥ तद्वतांसज्जनैः प्रोक्तोविनयोऽनिष्टघात क· । विश्वविद्याकरीभूतः पंचधागुणसागर' ॥ ६० ॥ दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयोमहान् । उपचाराभिधश्चेति विनय पंचधा मतः ॥६१॥

दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है। उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत तप गुण नष्ट हो जाते हैं ॥८४—८५॥ इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रगट हो जाते हैं ॥८६—८७॥ यही समझ कर मुनियों को अपने व्रतों में जब कभी दोष लग जाय उसी समय में अपने व्रतों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥८८॥ कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों को अपनी शक्ति के अनुसार बल पूर्वक जीतना विनय है। अथवा सज्जनों के प्रति नम्रता धारण करना वा रत्नत्रय की विनय करना रत्नत्रय को धारण करने वालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है। यह विनय समस्त अनिष्टों को दूर करने वाला है समस्त विद्याओं की खानि है और गुणों का समुद्र है। ऐसा यह विनय तप पाँच प्रकार का है ॥८६—६०॥ दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और सर्वोत्कृष्ट उपचारविनय इस

येपदार्थाः जिनैः प्रोक्तास्तथ्या तएव नान्यथा । वीतरागाश्चसर्वज्ञा यतो नासत्यवादिनः ॥ ६२ ॥ इतियुक्तिविचाराद्यैस्तत्त्वादौ निश्चयोऽचलः । क्रियते यो खिले जैनागमेर्हृद्धर्मयोगिषु ॥६३॥ निःशंकितादिसर्वेषामंगानां यच्चधारणम् । शंकादि त्यजनं कृत्स्नं सूक्ष्मतत्त्वविचारणे ॥ ६४ ॥ भक्तिर्हृढतरार्यकोश्रुतार्हन्मुनिधर्मिषु । सम्यग्दृष्टजनादौ च रुचिसु शिवपथेवृषे ॥६५॥ इत्यादि यच्छुभाचारमपरं वा विधीयते । विनयो दर्शनाख्यः स सर्वोगुणाकरोघहृत् ॥६६॥ कालाद्यैरष्टधाचारैर्विनयेनार्चनादिभिः । कृत्स्नानामंग.पूर्वाणा ज्ञानायाज्ञानहानये ॥ ६७ ॥ त्रिशुध्या पठनं शुद्धं पाठनं यच्चयोगिनाम् । चिन्तनं हृदयेत्यर्थं परिवर्तनमंजसा ॥ ६८ ॥ ख्यापनं कीर्तनं लोके प्रकाशनमनारतम् । ज्ञानिनां भक्तिसन्मानं ज्ञानादिगुणभाषणम् ॥ ६९ ॥ इत्याद्यन्यच्छु तज्ज्ञानगुणग्रहणमूर्जितम । क्रियते स समस्तोपि

प्रकार विनय के पाँच भेद हैं ॥६१॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने जो तथ्य बतलाये हैं तथा जिस प्रकार बतलाये हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं। क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते। इस प्रकार युक्ति और विचार पूर्वक तत्त्वादिकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना, देव धर्म गुरु में अचल श्रद्धान करना, निःशंकित आदि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वों का विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना, देवशास्त्र गुरु और धर्म में अत्यंत दृढ़ भक्ति धारण करना, सम्यग्दृष्टी पुरुषों में मोक्ष के मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाचार धारण करना है उसको दर्शनविनय कहते हैं। यह दर्शन-विनय समस्त गुणों की खानि है और समस्त पापों को नाश करने वाला है ॥६२–६६॥ अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिये और अज्ञान को दूर करने के लिए विनय के साथ तथा कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक अंग पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिंतवन करना, हृदय में बार बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरंतर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और उनका सन्मान करना ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी

ज्ञानाख्योविनयोद्भुतः ॥ ३०० ॥ कषायेन्द्रियचौराणां प्रमादानां च वर्जनम् । व्रतगुप्तिसमित्याद्याचरणे यत्नमन्वहम् ॥ ३०१ ॥ महातपोधनानां च श्रुत्वाचरणमद्भुतम् । अंजली करणं भक्त्या प्रणाम वृत्तशालिनाम् । २ ॥ इत्याद्यन्यत्सुचारित्रमाहात्म्यस्य प्रकाशनम् । लोके विधीयते यत्स चारित्रविनयोखिल' ॥ ३ ॥ आतापनादि सद्योगे सुराराख्ये गुणेद्भुते । दुष्करे च द्विषड्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥ ४ ॥ श्रद्धोत्साहानुरोगाकांक्षादीनां करणं महत् । तपोधिकयतीनां च प्रणामस्तवनादिकम् ॥ ५ ॥ षडावश्यकसम्पूर्णश्चित्तक्लेशादिवर्जनम । तपसा करणे वीर्यादानं पंचाक्षनिर्जयः ॥ ६ ॥ इत्याद्यन्यत्तपोऽनर्घ्यगुणानां यत्प्रकीर्तनम् । सत्तपोजमहर्द्धीनां स तपोविनयोखिलः ॥ ७ ॥ सत्कायवाग्मनोभेदैरुपचारो जिनागमे । विनयस्त्रिविध. प्रोक्त' काययाकृच्चित्तशुद्धिद. ॥ ८ ॥ स प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां

श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञानविनय कहलाता है। यह समस्त ज्ञानविनय बहुत ही अद्भुत है ॥६७–३००॥ कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, व्रत समिति गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणो को सुनकर उनके लिये भक्ति पूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र पालन करने वालों को भक्ति पूर्वक प्रणाम करना, तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के माहात्म्य को प्रगट करना चारित्रविनय कहलाता है ॥१–३॥ आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर और कठिन तपश्चरण में श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना छहों आवश्यकों को पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिये अपनी शक्ति को प्रगट करना, पाँचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय कहलाती है ॥४–७॥ जैन शास्त्रों में मन वचन काय को शुद्ध करने वाला उपचार विनय तीन प्रकार का बतलाया है कायसे होने वाला विनय वचन से होने वाला विनय और मन से होने वाला विनय ॥८॥ यह मन वचन काय से होने वाला

प्रत्येकं द्विविधः स्मृतः । इत्येतेषट्प्रकारा उपचार विनये मताः ॥ ६ ॥ अभ्युत्थानं क्रियाकर्म मुदाभक्तित्रयांकितम् । प्रणामः शिरसा भाले स्वांजलीकरणं सदा ॥ १० ॥ गुरोरागच्छतश्चाभिमुखयानां प्रगच्छतः । अनुव्रजनमत्यर्थं भक्तिरागप्रकाशनम् ॥ ११ ॥ नीचं स्थानं क्रियन्नीचं गमनं शयनामनम् । आसनज्ञानशौचोपकरणादिसमर्पणम् ॥१२॥ शून्यागारगुहादीनामन्विष्य च निवेदनम् । गुरुकायक्रमादीनां स्पर्शनं मर्दनं करैः ॥ १३ ॥ आदेशकरणं संस्तरादिप्रस्तारणं निशि । ज्ञानोपकरणादीनां प्रतिलेखनमन्वहम् ॥ १५ ॥ इत्याद्यन्योयथायोग्यउपकारो विधीयते । कायेन सद्गुरो यः स विनयः कायिकोखिलः ॥ १५ ॥ आचार्यभगवत्पूज्यपाद भट्टारकादिभिः । नामभिःप्रवरं पूज्य वचनं मधुरं वचः ॥ १६ ॥ हिततथ्यमितादीनां वचसां भाषणं गिरा । जिनसूत्रानुसारेण भाषणं पापदूरगम् ॥ १७ ॥

तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो प्रकार है। इस प्रकार उपचारविनय छह प्रकार का हो जाता है ॥६॥ गुरु को देख कर उठ कर खड़े होना, प्रसन्नता पूर्वक श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियों को पढ़ कर क्रियाकर्म वा वंदना करना, उनको प्रणाम करना, दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखना. गुरु के आने पर उनके सामने जाना, गुरु के गमन करने पर उनके पीछे चलना, उनके प्रति अत्यंत भक्ति और अनुराग प्रगट करना, नीचा स्थान हो तो कितना नीचा है यह बताना, गमन शयन आसन आदि का ज्ञान कराना, आसन देना, ज्ञान और शौच के उपकरण समर्पण करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूंढ कर बतलाना, गुरु के शरीर को वा उनके चरणों को स्पर्श करना वा हाथों से दबाना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके लिये संतर बिछाना, रात के समय प्रतिदिन ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना (पीछी से झाड़ कर शुद्ध करना,) तथा अपने शरीर से इसी प्रकार के गुरु वा आचार्य के अन्य उपकार करना यथायोग्य रीति से उपकार करना शारीरिक विनय कहलाती है ॥१०–१५॥ गुरु के समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान् पूज्यपाद भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को संबोधन करना, वचन से सदा हित मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदाजैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा

उपशान्त वचोवाच्यमगृहस्थवचः शुभम् । अकर्कशं वच सारं सुखस्पृष्टमनिष्ठुरम् ॥ १८ ॥ इत्यादिनिखद्यं यद्ब्रूयते वचनवरम् । गुरोरन्ते स सर्वोपि वाचिको विनयो महान् ॥ १९ ॥ दुष्कर्मागमनद्वारसन्मुखं स्वसुखावृतम् । दुर्ध्यानद्वेषरागादिलीनंचिन्ताशताकुलम् ॥ २० ॥ त्यक्त्वा स्वपरिणामसुतत्त्ववैराग्यवासितम् । सदर्थधर्मसद्भावा-गमचिन्तादितत्परम् ॥ २१ ॥ स्वान्येषांहितकृच्छुद्धं धार्यते यन्निजं मनः । गुरोः पार्श्वे स विश्वोमानसिकोविनयो वरः ॥ २२ ॥ प्रत्यक्षे सद्गुरूणां यो विनयः क्रियते बुधैः । त्रिशुध्या त्रिविधः सोत्र प्रत्यक्ष विनयो मतः ॥ २३ ॥ परोक्षे सद्गुरूणां यत् प्रणामकरणादिकम् । कायेनवचसा नित्यंस्तवादिगुण कीर्तनम् ॥ २४ ॥ हृदाज्ञापालनं सम्यक् सद्गुणग्रामचिन्तनम् । इत्यादिक्रियतेऽन्यत्सपरोक्षविनयोऽखिलः ॥ २५ ॥ अथवा सप्तधाप्रोक्तः

ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों सारभूत हों स्पष्ट हो कठिन न हों उत्तम और अनिंद्य हों । इस प्रकार गुरु के समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है ॥१६–१६॥ जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुख को चाहने वाले हों, अशुभध्यान वा रागद्वेप में लीन हों और सैकड़ों चिंताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़ कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मन में श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चिंतवन में ही अपने मन को सदा लगाये रखना, अपने मन को सदा अपने और दूसरे के हित में लगाना, तथा अपने मन को अत्यंत शुद्ध रखना इस प्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता रखना उत्तम मानसिक विनय है ॥२०–२२॥ विद्वान् लोग मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक मन वचन काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं ॥२३॥ इसी प्रकार गुरुओं के परोक्ष में शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनको प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूह को अच्छी तरह चिंतवन करना तथा और भी उनकी परोक्ष में उनकी विनय करना परोक्ष विनय कहलाती है ॥२४–२५॥ अथवा भगवान जिनेन्द्रदेव ने शरीर से होने वाली विनय के सात भेद बतलाये हैं

कायिको विनयो जिनैः । चतुर्धा वाचिकः सारो द्विधा मानसिको महत् ॥ २६ ॥ अभ्युत्थानं प्रणामो ह्यासनदानं महागुरोः । पुस्तकादिप्रदानं च क्रियाकर्म त्रिभक्तिजम् ॥ २७ ॥ स्वोच्चासनपरित्यागः पृष्ठेऽनुव्रजनं कियत् । विनयाः कायिका एते सप्तभेदा वपुर्भवाः ॥ २८ ॥ हितभाषणमेकं च द्वितीयं मितभाषणम् । वचः परिमितं सूत्रानुवीची-भाषणं स्फुटम् ॥ २९ ॥ वाचिका विनया एते चतुर्भेदा वचोभवाः । निरवद्या विधातारः स्वान्येषां धर्ममूर्जितम् ॥३०॥ पापादानमनोरोधो धर्मध्यानप्रवर्तनम् । इत्येति विनयो ज्ञेयो द्विधा मानसिकोऽमलः ॥ ३१ ॥ दीक्षाधिककृतीनां च तपोधिकमहात्मनाम् । श्रुताधिकमुनीनां च सद्गुणाधिकयोगिनाम् ॥ ३२ ॥ दीक्षाशिक्षाश्रुतज्ञानगुरूणां यत्नतोऽनिशम् । कार्यः सर्वः प्रणामाद्यैः विनयोऽत्रैव संयतैः ॥ ३३ ॥ दीक्षालघुतपोहीनस्वल्पश्रुताल्पयोगिनाम् । यथायोग्य मदा

वाचनिक विनय चार प्रकार की बतलाई है और मानसिक विनय दो प्रकार बतलाई है ॥२६॥ महा गुरुओं के आने पर उठ कर खड़े हो जाना, उनको प्रणाम करना, उनको आसन देना, पुस्तक देना, श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियाँ पढ़ कर उनकी वंदना करना उनके सामने अपने आसन को छोड़ देना, और उनके जाते समय थोड़ी दूर तक उनके पीछे जाना यह शरीर से होने वाली सात प्रकार की कायिक विनय है ॥२७–२८॥ हित रूपभाषण अर्थात् धर्मरूप वचन कहना, मित भाषण अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत सा अर्थ हो ऐसे वचन कहना, परिमित भाषण अर्थात् कारण सहित वचन कहना और सूत्रानुवीची भाषण अर्थात् आगम के अविरुद्ध वचन कहना यह चार प्रकार की वाचनिक विनय है। जो मुनि इन चारों प्रकार की विनयों को निरवद्य (पापरहित) रीति से पालन करता है वह अपने और दूसरों के श्रेष्ठ धर्म को बढ़ाता है ॥२९–३०॥ जिस मन से पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे मन को रोकना और अपने मन को धर्मध्यान में लगाना दो प्रकार की मानसिक विनय है। यह मानसिक विनय अत्यंत निर्मल है ॥३१॥ जो मुनि अपने से अधिक काल के दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु हैं शिक्षा के गुरु हैं, वा श्रुतज्ञान के गुरु हैं उनके लिये प्रणाम आदि कर के मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करनी चाहिये ॥३२–३३॥ जो मुनि दीक्षा से

कार्यो विनयो मुनिपुंगवैः ॥ ३४ ॥ आर्यिकाश्राविकादीनां ज्ञान धर्मादिदेशनैः । जिनमार्गानुरागेण यथार्हः कार्य एव स ॥ ३५ ॥ सर्वथा विनयो दक्षैः कर्तव्य कार्यसाधक । चातुर्वर्णस्वसघानांयथायोग्यो हितंकरः ॥३६॥ यतो विनय हीनानां शिक्षानिरर्थिकाखिला । श्रुतादिपठनं व्यर्थमकीर्तिर्वर्द्धतेतराम् ॥ ३७ ॥ महाविनयपोतेनगम्भीर–मागमार्णवम् । भवाम्बुधिं च दुस्तीर तरन्तियमिनोऽचिरात् ॥३८॥ विद्याविवेक कौशल्यशमाद्याः प्रवरा गुणाः । विनायासेन जायन्ते विश्वे विनयशालिनाम ॥ ३९ ॥ विनयोत्था महाकीर्तिःप्रसर्पात जगत्त्रयम् । उत्पद्यते परावुद्धिः सतां विश्वार्थदीपिका ॥ ४० ॥ स्वसघे मान्यतां पूजां ख्यातिं च स्तवनादिकान् । तपोरत्नत्रयं शुद्धं लभन्ते

छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञान को धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना चाहिये ॥३४॥ इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिनमार्ग में अनुराग कर अर्जिका और श्रावकों का विनय भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिये ॥३५॥ चतुर पुरुषों को चारों प्रकार के संघ का विनय यथायोग्य रीति से सर्वथा करते रहना चाहिये । क्योंकि यह विनय समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला है और सबका हित करने वाला है ॥३६॥ इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिये तथा उनका शास्त्रादिक का पढ़ना भी व्यर्थ समझना चाहिये । इसके सिवाय अविनयी पुरुषों की अपकीर्ति सदा बढती रहती है ॥३७॥ मुनिलोग इस महा विनय रूपी जहाज पर बैठ कर अत्यंत गम्भीर ऐसे आगमरूपी महासागर को बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं तथा अत्यंत कठिन ऐसे संसाररूपी समुद्र को भी बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं ॥३८॥ विनय धारण करने वाले पुरुषों के विद्या विवेक, कुशलता और उपशम आदि अनेक उत्तम गुण विना ही परिश्रम के अपने आप आ जाते हैं ॥३९॥ इस विनय से उत्पन्न होने वाली महा कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है तथा इसी विनय से सज्जनों के समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ॥४०॥ विनय धारण करने वाले मुनियों को अपने संघ में भी मान वा आदर सत्कार मिलता है, बड़प्पन मिलता है कीर्ति मिलती है, सब लोक उनकी स्तुति करते हैं तथा विनय से मुनियों को

विनयांकिताः ॥४१॥ चतुराराधनांमैत्री क्षान्त्यार्जवादिलक्षणान् । मनोवाक्कायसंशुद्धीः श्रयन्ति विनयाद्बुधाः ॥४२॥ विनयाचारिणां नूनं शत्रुर्गच्छेत्सुमित्रताम् । उपसर्गाविलीयन्तेढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥ ४३ ॥ अहोसद्विनयाकृष्टा मुक्तिस्त्री योगिनांस्वयम् । एत्याश्रालिंगनंदत्ते का कथामरयोषिताम् ॥ ४४ ॥ इत्यादिप्रवरं ज्ञात्वा विनयस्य फलं विदः । कुर्वन्तुसर्वसंघानां मुक्तये विनयं सदा ॥४५॥ आचार्यपाठकेषुस्थविरप्रवर्तकेषु च । शक्त्या गणधरेष्वत्रगच्छे वालेतराकुले ॥ ४६ ॥ कायपिण्डादिदुर्ध्यानहान्यै सध्यानवृद्धये । सुश्रूषाक्रियतेयोन्यैवैयावृत्यं तदुच्यते ॥ ४७ ॥ षट्त्रिंशद्गुणपंचाचारान्विताः सूरयोऽद्भुताः । पाठकाः सर्वपूर्वांगपारगाः पाठनोद्यताः ॥ ४८ ॥ सर्वतोभद्रघोरा–दितपसश्चतपस्विनः । सिद्धान्तशिक्षणोद्युक्ताः शिष्यकाः मुक्तिमार्गगाः ॥ ४६ ॥ रुजादिव्याप्तसर्वांगा ग्लाना

शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ॥४१॥ विद्वान् पुरुषों को इस विनय से ही चारों आराधनाओं की प्राप्ति होती है मैत्री प्रमोद आदि गुण प्रगट होते हैं क्षमा मार्दव आर्जव आदि गुण प्रगट होते हैं और मन वचन काय की शुद्धता प्राप्त होती है ॥४२॥ विनय करने वालों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, उपसर्ग सब उनके नष्ट हो जाते हैं और उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर प्राप्त हो जाती है ॥४३॥ सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इस श्रेष्ठ विनय से अपने आप खिची हुई मुक्ति रूपी स्त्री स्वयं आकर मुनियों को आलिंगन देती है। फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है ॥४४॥ इस प्रकार इस विनय का अत्यंत श्रेष्ठ फल जानकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त संघ की सदा विनय करते रहना चाहिये ॥४५॥ जो मुनि अशुभ ध्यान को नाश करने के लिये और श्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि के लिये आचार्य उपाध्याय वृद्ध मुनि प्रवर्तक आचार्य और गणधर आदि महा मुनियों को तथा बाल मुनि वा वृद्ध मुनियों के कारण व्याकुल रहने वाले गच्छ वा संघ को आहार औषधि आदि देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है ॥४६–४७॥ जो आचार्यों के छत्तीस गुण और पंचाचारों का पालन करते हैं उनको उत्कृष्ट आचार्य कहते हैं, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी है तथा शिष्यों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं। जो सिद्धांतशास्त्रों के पढ़ने

व्रतगुणच्युताः । समवायोगणोभ्यर्च्यो वालवृद्धादियोगिनाम् ॥५०॥ आचार्यस्य च शिष्यस्यस्वाम्नाय' कुलमुत्तमम् । ऋष्यादिश्रमणानां निवहः संघश्चतुर्विधः ॥ ५१ ॥ त्रिकालयोगधातारः साधवोमुक्तिसाधकाः । आचार्यसाधुसघानां प्रियोमनोज्ञ ऊर्जितः ॥५२॥ अमीषां दशभेदानां रोगक्लेशादिकारणे । सजाते सति कर्तव्यं वैयावृत्यं दशात्मकम् ॥५३॥ पादादिमर्दनैर्दक्षै. सुश्रूषाकरणादिभि' । धर्मोपदेशनैश्चान्यैर्विरमूत्राद्यपकर्षणै' ॥ ५४ ॥ दर्मार्गश्रमखिन्नानां चौरभू-पारिदुर्जनैः । सिंहादिजोपसर्गैश्चपीडितानां सुयोगिनाम् ॥ ५५ ॥ संग्रहानुग्रहैर्दानैरत्तणै पालनादिभिः । वैयावृत्यं विधातव्यं-धर्मवुध्यासमाधये ॥ ५६ ॥ तपोदृग्ज्ञान चारित्र ध्यानाध्ययनकर्मसु । पुस्तकादिसुदानैश्चव्याख्याधर्मो-

में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुये हैं उनको शैक्ष्य कहते हैं। जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रत रूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते है। बाल और वृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं। आचार्य के शिष्यों की परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं। ऋषि मुनि यति और अनगार इन चारों प्रकार के मुनियों के समुदाय को संघ कहते हैं। जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्ष की सिद्धि में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं। जो आचार्य साधु और संघ को प्रिय हों उनको उत्तम मनोज्ञ कहते हैं। ये दश प्रकार के मुनि होते हैं। इनके लिये रोग क्लेश आदि का कारण आजाने पर उन सबका वैयावृत्य करना सेवा सुश्रूषा करना दश प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है ॥४८–५३॥ जो मुनि कंकरीले वा ऊंचेनीचे मार्ग में चलने के कारण खेद खिन्न हो रहे हैं अथवा जो किसी चोर वा राजा वा शत्रु वा दुष्ट अथवा सिंह आदि के उपसर्ग से अत्यंत दुःखी हो रहे हैं ऐसे मुनियों के पाँव दाबना सेवा सुश्रूषा करना उनको धर्मोपदेश देना उनका विष्ठा मूत्र कफ आदि हटाना उनको अपने पास रखना उनका अनुग्रह करना उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर देना आदि अनेक प्रकार का वैयावृत्य चतुर पुरुषों को ध्यान की प्राप्ति के लिये केवल धर्म बुद्धि से सदा करते रहना चाहिये ॥५४–५६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप ध्यान अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य लिये पुस्तक आदि उपकरणों को देना शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्ति पूर्वक और भी साधर्मियों

पदेशनैः ॥ ५७ ॥ यत्साह्यकरणंयुक्त्यै साधर्मिणां विधीयते । निराकांक्षतया सर्वं वैयावृत्यं तदुच्यते ॥ ५८ ॥ वैयावृत्यविधातॄणां विचिकित्सापरिक्षयः । तीर्थंकरादिसत्पुण्यंयशःस्वसंघमान्यता ॥ ५६ ॥ रत्नत्रयविशुद्धिःप्रवचनस्य च जायते । वत्सलत्वं तपोवृद्धिः परोपकार ऊर्जितः ॥ ६० ॥ आचार्यपाठकादीनां वैयावृत्येन संभवेत् । धर्मध्यानं मनः स्वस्थं-पीडादुर्ध्याननाशनम् ॥ ६१ ॥ इत्यत्र स्वान्ययोर्मत्वा वैयावृत्यं हितं महत् । सबलाः सर्वशक्त्यास्वेनान्यैः कुर्वन्तुशुद्धये ॥ ६२ ॥ स्वस्य वा परभव्यानां हितोध्यायो विधीयते । ज्ञानिभिर्योघघाताय स स्वाध्यायोगुणाकरः ॥ ६३ ॥ वाचनापृच्छनाख्योऽनुप्रेक्षाथाम्नायऊर्जितः । धर्मोपदेशएवेति स्वाध्यायः पंचधा मतः ॥ ६४ ॥ अंगपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये । व्याख्यानंक्रियतेयस्ययत्सतां वाचनात्र सा ॥ ६५ ॥

की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है ॥५७–५८॥ वैयावृत्य करने वालों के विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् निर्वि-चिकित्सा अंगका पूर्ण पालन होता है, तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है समस्त संसार में यश फैलता है, अपने संघ में मान्यता बढ़ती है, रत्नत्रय की विशुद्धि होती है, साधर्मी जनों के साथ अत्यंत प्रेम बढ़ता है, तपश्चरण की वृद्धि होती है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है ॥५६–६०॥ आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है ॥६१॥ इस प्रकार वैयावृत्य के करने से अपना भी महा हित होता है और अन्य जीवों का भी महा हित होता है। यही समझ कर बलवान और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए स्वयं वैयावृत्य करना चाहिये और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिये ॥६२॥ जो ज्ञानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिये अपने आत्मा का हित करने के लिए तथा अन्य भव्य जीवों का हित करने के लिये सिद्धांत आदि ग्रंथों का पठन पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं ॥६३॥ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं ॥६४॥ जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नाम का स्वाध्याय कहते

सन्देह हानयेन्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते । सिद्धांतार्थंमहागूढं श्रूयते पृच्छनात्र मा ॥ ६६ ॥ तप्ताय. पिंडसादृश्ये-नैकाग्रार्पित चेतसा । अभ्यासोधीतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्रसोत्तमा ॥६७॥ द्रुतलंवितमात्रादिच्युतदोषातिग च यत् । परिवर्तनमभ्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ॥ ६८ ॥ ख्यातिपूजादिलाभादीन् विना तीर्थंकृतांसताम् । सत्कथाख्यापन यत्र धर्मोपदेश एव स. ॥ ६९ ॥ इत्येवं पचधा दक्षैः स्वाध्यायोविश्वदीपक' । कर्तव्य प्रत्यहं सिध्यैस्वान्येषां हितकारक' ॥७०॥ समस्ततपसां मध्ये स्वाध्यायेन समं तप' । परनास्ति न भूत न भविष्यति विदांकचित् ॥७१॥ यतः स्वाध्यायमत्यर्थं कुर्वतां निग्रहो भवेन् । पंचाक्षाणांत्रिगुप्तश्चसंवरो निर्जरा शिवम् ॥ ७२ ॥ स्वाध्यायेनात्र जायेत योगशुद्धिश्चयोगिनाम् । तथा शुक्लं महाध्यान ध्यानादूयातिविधक्षय ॥ ७३ ॥ तद्घातात्केवलज्ञानं

हैं ॥६५॥ अपना सन्देह दूर करने के लिये किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धांतशास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है ॥६६॥ तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्र चित्त से पढ़े हुए शास्त्रों का वार वार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥६७॥ पढ़े हुए शास्त्रों का वार वार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न तो धीरे धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहते हैं ॥६८॥ अपनी कीर्ति बड़प्पन वा लाभ आदि की इच्छा के बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषों की कथा का कहना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥६९॥ इस प्रकार यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाला है और समस्त तत्त्वों के स्वरूप को दिखलाने के लिये दीपक के समान है। इसलिए चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ॥७०॥ समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा ॥७१॥ इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७२॥ इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है, तथा महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है, शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता

लोकालोकार्थदीपकम् । शक्रादिपूजनं तस्माद्गमनं मुक्ति धामनि ॥ ७४ ॥ इत्यादि परमं ज्ञात्वाफलमस्य विदोन्वहम् । निष्प्रमादेन कुर्वन्तु स्वाध्यायं शिवशर्मणे ॥ ७५ ॥ वाह्याभ्यन्तरसंगाश्च त्यक्त्वामा वपुषासताम् । ध्यानपूर्वास्थितिर्यात्र कायोत्सर्गः स उत्तमः । ७६ ॥ आवश्यकाधिकारेप्राक् तस्य लक्षणमंजसा । गुणदोषादिकं प्रोक्तं व्यासेन न ब्रुवेधुना ॥ ७७ ॥ एकाग्रचेतसायोत्र चिन्त्यते द्रव्यसंग्रह. । वहिश्चिन्ताविनिष्क्रान्तस्तध्यानमुच्यते बुधैः ॥ ७८ ॥ अप्रशस्तप्रशस्ताभ्यां द्विधाध्यानं तदिष्यते । आर्तरौद्रद्विभेदाभ्यामप्रशस्तं द्विधामतम् ॥ ७९ ॥ धर्मशुक्लप्रकाराभ्यां प्रशस्तमपि धर्मिणाम् । ध्यानं जिनैर्द्विधाम्नातं नानाभेदयुतं च तत् ॥ ८० ॥ वाह्याध्यात्मिकभेदाभ्यामार्तध्यानंद्विधाभवेत् । शोचनाक्रन्दनम्लानमुखादिवाह्यमुच्यते ॥ ८१ ॥ अन्तस्तीव्राधिकालुष्यकरमाध्या–

हैं घातिया कर्मों के नाश होने से लोक अलोक सबको प्रगट करने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अंतमें मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७३–७४॥ इस प्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझ कर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिये प्रमाद छोड़ कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ॥७५॥ वाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़ कर सज्जन पुरुष जो ध्यान पूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं ॥७६॥ आवश्यकों के अधिकार में पहले विस्तार के साथ इसका लक्षण तथा इसके गुण दोष आदि सब कह चुके हैं। इसलिये अब यहाँ पर नहीं कहते हैं ॥७७॥ बुद्धिमान् पुरुष जो अन्य समस्त चिंतवनों को रोक कर एकाग्र चित्त से द्रव्यों के समूह का चिंतवन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं ॥७८॥ उस ध्यान के दो भेद हैं एक अप्रशस्त वा अशुभ ध्यान और दूसरा प्रशस्त वा शुभ ध्यान। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भेद से दो भेद कहे जाते हैं ॥७९॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने धर्मात्माओं के लिये शुभध्यान के भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो भेद बतलाये हैं। तथा इनके भी फिर अनेक भेद होते हैं ॥८०॥ इनमें से आर्तध्यान के भी वाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद होते हैं। शोक करना, रोना, मुख को मलिन करना आदि वाह्य आर्तध्यान कहलाता है ॥८१॥ जो अंतरंग में अधिक तीव्र कलुषता करने वाला है उसको अभ्यंतर

त्मिकं च तत् । आद्यमनिष्टसंयोगसञ्ज्ञमिष्टवियोगजम् ॥ ८२ ॥ पीडाचिन्तननामाथनिदानकरणाभिधम् । इत्यार्त्तध्यानमार्तैश्चचतुर्भेदमुदाहृतम् ॥ ८३ ॥ सर्पसिंहारि चौराग्निकटकाग्निदुरात्मनाम् । अन्येषां चामनोज्ञानांसंयोगेसति भूतले ॥ ८४ ॥ तद्वियोगायसंक्लेशमनसाचिन्तनंमुहु । क्रियते क्लेशिभिर्यत्तदार्तमाद्यमघाकरम् ॥ ८५ ॥ इष्टपुत्रकलत्रादिराजवन्धुजनात्मनाम् । मनोज्ञानांवियोगेत्रसति क्लेशात्तमानसैः ॥ ८६ ॥ तत्सयोगाय यच्चाध्यवसानं हि विधीयते । लोभिभिप्रत्यहं तत्स्यादार्त्तमिष्टवियोगजम् ॥ ८७ ॥ वातपित्तज्वरादीनां कुष्ठशूलरुजांसति । प्रादुर्भावे प्रतीकारशतै क्लेशात्त चेतसा ॥ ८८ ॥ दुःखिभिस्तद्विनाशंयदन्वहंचिन्त्यतेभुवि । आरोग्य च तदार्त्तः स्यात्पीडाचिन्तनसञ्ज्ञकम् ॥ ८९ ॥ तपश्चारित्रदानार्चाधर्मध्यानादिकान् वहून् । कृत्वा तेषां फलेनात्रपुत्रनार्यादिसम्पदाम् ॥९०॥

आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्टसंयोग से होने वाला इष्टवियोग से होने वाला रोग वा दुःख के चिंतवन से होने वाला और निदान करना इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने आर्तध्यान के चार भेद बतलाये हैं ॥८२–८३॥ सर्प, सिंह, शत्रु, चोर, कॉटा, अग्नि, दुष्ट तथा और अच्छे न लगने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर मन में संक्लेश परिणाम धारण कर उसको दूर करने के लिए बार बार चिंतवन करना अनिष्ट संयोगज नाम का पहला आर्तध्यान है। यह दुःखी लोगों के होता है और पाप उत्पन्न करने वाला है ॥८४–८५॥ इष्ट पुत्र स्त्री राज्य भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर लोभी पुरुष जो मन में क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग के प्रतिदिन बार बार चिंतवन करते हैं उसको इष्ट वियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान कहते हैं ॥८६–८७॥ पित्तज्वर, वातज्वर, कोढ़, शूल, आदि रोगों के उत्पन्न होने पर दुःखी पुरुष अपने चित्त में क्लेश उत्पन्न कर सैंकड़ों उपायों के द्वारा प्रतिदिन जो उन रोगों के नाश होने का चिंतवन करते हैं अथवा नीरोग होने का चितवन करते हैं उसको पीड़ा चिंतवन नाम का आर्तध्यान कहते हैं ॥८८–८९॥ जो रागी पुरुष तप, चारित्र, दान, पूजा, आर्तध्यान आदि बहुत सा धर्म सेवन कर उसके फल से इस लोक में पुत्र स्त्री धन आदि संपदाओं की इच्छा करते हैं तथा में स्वर्ग राज्य आदि के भोगों की आकांक्षा करते हैं उसको निदान नाम का आर्तध्यान

अमुत्रस्वर्गराज्यादिभोगानांस्वस्पराग्भिः । आकांक्षाकरणं यत्तदार्त्तं निदाननामकम् ॥ ६१ ॥ ध्यानंध्येयं तथा ध्याता फलमस्यभवेद्भुवि । अप्रशस्तमनोवृत्ति ध्यानंनिंद्यं चतुर्विधम् ॥ ६२ ॥ अप्रशस्त जगद्वस्तु ध्येयमस्याशुभाकरम् । कषायकलुषीभूतोध्याताक्लेशशताकुलः ॥ ६३ ॥ विश्वसंक्लेशसंपूर्णं तिर्यग्गतिकरं फलम् । मिथ्यादृशामति क्लेशात्सद्दृष्टीनां च तद्व्ययात् ॥ ६४ ॥ त्रिदुर्लेश्यावलाधानमन्तर्मुहूर्तकालजम् । अयत्नजनितं चैतन्नृणां दुःखादिकारणम् ॥ ६५ ॥ क्षायोपशमिको भावो दुष्प्रमादावलम्बनम् । दुर्ध्यानानाममीषां स्याद्भवभ्रमणकारिणाम् ॥ ६६ ॥ उत्कृष्टं ध्यानमेतद्गुणस्थाने प्रथमे भवेत् । प्रमत्ताख्ये जघन्यं च तयोर्मध्येषुमध्यमम् ॥ ६७ ॥ निसर्गजनितं निंद्यं पूर्वसंस्कारयोगतः । विश्वदुःखाकरीभूत कृत्स्नपापनिवधनम् ॥ ६८ ॥ समाधि धर्मशुक्लादिहंतृ

कहते हैं ॥६०-६१॥ यह ध्यान ध्यान ध्याता ध्येय और फल के भेद से चार प्रकार का होता है। इस चारों प्रकार के आर्तध्यान में मन की प्रवृत्ति अत्यंत अशुभ होती है इसलिये यह ध्यान निंद्य कहलाता है। अशुभ करने वाली संसार की अशुभ वस्तु ही इसका ध्येय है, सैकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कषायों से कलुषित हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है और समस्त क्लेशों से भरा हुआ तिर्यंचगति का प्राप्त होना ही इसका फल है। मिथ्यादृष्टियों के अत्यंत क्लेश से यह ध्यान होता है। तथा सम्यग्दृष्टियों के बिना क्लेश के होता है। यह आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अंतर्मुहूर्त इसका समय है, मनुष्यों के बिना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दुःखादिक का होना ही इसका कारण है ॥६२-६५॥ संसार में परिभ्रमण कराने वाले इन सब दुर्ध्यानों में क्षायोपशमिक भाव होता है और अशुभ प्रमाद ही इनका अवलंबन होता है ॥६६॥ यह आर्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है प्रमत्त नाम के छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और बाकी के गुणस्थानों में मध्यम होता है ॥६७॥ यह आर्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निंद्य है समस्त दुःखों की खानि है और समस्त पापों का कारण है ॥६८॥ यह आर्तध्यान अशुभध्यान है और समाधि, धर्मध्यान शुक्लध्यान को नाश करने

दुर्ध्यानमजसा । त्यजन्तु दुस्त्यजं दक्षा धर्मध्यानबलोत्सदा ॥ ६६ ॥ रौद्रध्यानमपि द्वेधा बाह्याध्यात्मिकभेदतः । रक्ताक्षनिष्ठुराक्रोशनिर्भर्त्सनादिलक्षणम् ॥ ४०० ॥ वधबन्धान्यपीडादिकरं बाह्यमनेकधा । अन्तर्मथनशील स्वसवेद्याध्यात्मिकमतम् ॥४०१॥ हिंसानन्दंमृषानन्दंस्तेयानन्दंसमाह्वयम् । विषयाव्यंतसरक्षणानन्दंतच्चतुर्विधम् ॥२॥ हिंसायां परपीडायां सरम्भाद्यैः कदर्थनैः । संकल्पकरणयद्वा बाधितेष्वांगिराशिषु ॥ ३ ॥ कलौहर्षश्चसग्रामे जयाजयादिचिन्तनम् । तद्धियां समस्तं च हिंसानन्दं प्ररूपितम ॥ ४ ॥ दुर्बुद्धिकल्पनायुक्त्यापरवंचनहेतवे । ब्रूयतेयन्मृषावादंपरवंचनपंडितैः ॥ ५ ॥ मृषावादेऽथवा प्रोक्ते केनचित्कटुकाक्षरै । हृदानुमननंयत्तन्मृषानन्दंकिला- खिलम् ॥ ६ ॥ परश्रीः स्त्रीसुवस्त्वादिहरणे लोभिभिर्भृशम् । सकल्पः क्रियते चित्ते योऽशुभोवात्रतस्करैः ॥ ७ ॥

वाला है अतएव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के बल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्तध्यान को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये ॥६६॥ आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं लाल नेत्र होना, कठिन वचन कहना किसी की निंदा करना किसी का तिरस्कार करना किसी को मारना वा बाँधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना बाह्य रौद्रध्यान है और वह अनेक प्रकार का है। जो अंतरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको अभ्यंतर रौद्रध्यान कहते हैं ॥४००–४०१॥ हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंद और विषय संरक्षणानंद के भेद से इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं ॥२॥ हिंसा में आनंद मानना, दूसरे की पीड़ा में आनंद मानना, जीवों के छिन्न भिन्न करने का संकल्प करना, अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता हो, अथवा जीवों की राशि के घात होने पर आनंद मानना, कलह में आनंद मानना, युद्ध में जीत हार का चिंतवन करना आदि रूप से जो दुर्बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिंसानंद नाम का ध्यान कहते हैं ॥३–४॥ दूसरों को ठगने में अत्यंत चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिये अपनी दुर्बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्या वचन कहते हैं उसमें जो हृदय से अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥५–६॥ जो लोभी वा चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री, वा अच्छी वस्तुओं के हरण करने के लिए

नीतेसतिपरद्रव्ये धनेवृथानुमोदनम् । रौद्रध्यानं च तत्सर्वस्तेयानन्दमघप्रदम् ॥ ८ ॥ मदीया वस्तुमद्राज्यरामासेना- दिसम्पदः । यो हरेत्तं दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ॥ ९ ॥ इतिस्ववस्तुरक्षायांसंकल्पकरणंहृदि । दुर्धियां तत्समस्तं विषयसंरक्षणाभिधम् ॥ १० ॥ ध्यानं ध्येयंभवेद्ध्याताफलमस्यशठात्मनाम् । ध्यानमध्यवसानं च रौद्रं वाक्चित्तकायजम् ॥ ११ ॥ ध्येयंलोकत्रयोद्भूतं रौद्रवस्तुकदम्बकम् । रौद्रस्तीव्रकपायीस्याद्ध्यातास्याद्रक्तलोचनः ॥१२॥ अनन्तदुःखसन्तापपूरितं नरकप्रदम् । वहुसागरपर्यन्तंफलमस्यदुरात्मनाम् ॥ १३ ॥ उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रयावला- धानमस्य च । भाव औदयिकोनिंद्यः क्षायोपशमिकोथवा ॥ १४ ॥ दशपंचप्रमादाधिष्ठानं कपायजृम्भणम् । अन्तर्मुहूर्तकालश्च चतुर्विधस्य नान्यथा ॥१५॥ आदिमे च गुणस्थानेत्रैतदुत्कृष्टमंजसा । जघन्यं पंचमेस्याद्द्वित्र-

अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई वहुतसा द्रव्य मार लाया हो उसकी अनुमोदना करते हैं उस सबको पाप उत्पन्न करने वाला स्तेयानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥७–८॥ "ये पदार्थ यह राज्य यह सैना यह स्त्री और यह सम्पत्ति सब मेरी है जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुपार्थ से मारूंगा" इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिये अपने हृदय में संकल्प करते हैं वह सब विपयसंरक्षणानंद नाम का रौद्रध्यान कहलाता है ॥९–१०॥ इस रौद्रध्यान के भी ध्यान ध्येय ध्याता और फल के भेद से चार भेद होते हैं। मूर्ख लोगों के रुद्ररूप मन वचन काय से जो चिंतवन होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं ॥११॥ तीनों लोकों में उत्पन्न हुये रौद्रपदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं तथा तीव्र कपाय और लाल नेत्रों को धारण करने वाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है ॥१२॥ उन दुष्टों को अत्यंत दुःख और संताप से भरे हुये नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है ॥१३॥ इस ध्यान में उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएं होती हैं। इसका समय अंतर्मुहूर्त है, भाव निंद्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पंद्रह प्रमाद ही इनका आधार है कपायों से यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन चारों प्रकार के रौद्रध्यान की सामिग्री है ॥१४–१५॥ यह रौद्रध्यान पहले गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे तीसरे चौथे में मध्यम होता है ॥१६॥ यह

चतुर्थे च मध्यमम् ॥ १६ ॥ रौद्रकर्मभवं रौद्रकर्मभावनिवन्धनम् । रौद्रदुःखकर रौद्रगतिदंरौद्रयोगजम् ॥ १७ ॥ रौद्रपापारिसन्तानं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् । त्याज्यं सर्वत्र यत्नेन धर्मध्यानेनधर्मिभिः ॥ १८ ॥ वाह्याध्यात्मिकमेदेन धर्मध्यानमपि द्विधा । दृढव्रतसदाचारतत्त्वचिन्तादिलक्षणम् ॥ १६ ॥ मनोवाक्कायनिःस्पन्दं वाह्यं व्यक्तं सतांभुवि । आध्यात्मिकस्वसंवेद्यमन्तःशुद्धिकरंपरम् ॥ २० ॥ अपायविचयं ध्यानमुपायविचयं ततः । जीवादिविचयंध्यानम-जीवविचयाह्वयम् ॥२१॥ विपाकविचयं ध्यान विरागविचयंमहत् । भावादिविचयं ध्यानं सस्थानविचयाभिधम् ॥२२॥ तथाज्ञाविचयंहेतुविचयाख्यमितिस्फुटम् । धर्मध्यानंमहाधर्माकरं दशविधंमहत् ॥ २३ ॥ दुःखार्णवे भवेनादौयथेष्ट चारिणो मम् । अन्यस्य वा वपुर्वाक्यमनोर्जितकुकर्मणाम् ॥ २४ ॥ विनाशः स्यात्कथंशीघ्रं ध्यानेन तपसाथवा ।

चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है रौद्र वा भयानक दुःख उत्पन्न करने वाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न कराने वाला है, रौद्ररूप मन वचन काय से उत्पन्न होता है और रौद्ररूप पाप शत्रुओं को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर वड़े प्रयत्न से सर्वत्र छोड़ देना चाहिये। सब जगह इसका त्याग कर देना चाहिये ॥१७–१८॥ व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतवन करना धर्मध्यान का लक्षण है। इस धर्मध्यान के भी वाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं ॥१६॥ ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन वचन काय की क्रियाओं का जो वंद हो जाना है उसको वाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और अंतःकरण को शुद्ध करने वाला है उसको अंतरंग धर्मध्यान कहते हैं ॥२०॥ अपायविचय, उपायविचय, जीव-विचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय इस प्रकार इस धर्मध्यान के महा धर्म उत्पन्न करने वाले दश भेद हैं ॥२१–२३॥ अनेक दुःखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसार में मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते चले आ रहे हैं। इसलिये ध्यान से अथवा तपश्चरण से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन वचन काय से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कव नष्ट होंगे इस प्रकार का चितवन करते रहना अपायविचय

इतिचिन्ताप्रबंधो योऽत्रापायविचयं हि तत् ॥ २५ ॥ मनोवाक्काययोगादि प्रशस्तं मे भवेत्कथम् । कर्मास्रवविनिष्क्रान्तंध्यानेनाध्ययनेन वा ॥ २६ ॥ इत्युपायोऽत्र तच्छुध्यै चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः । नानोपायैः श्रुताभ्यासैरुपायविचयं हि तत् ॥ २७ ॥ उपयोगमयोजीवोमूर्तोमूर्तोगुणीमहान् । शुभाशुभविधेर्भोक्तामोक्षगामी च तत्क्षयात् ॥ २८ ॥ सूक्ष्मोसंख्यप्रदेशोऽत्रपराधीनोऽनिशंभ्रमेत् । इत्याद्यंगिस्वभावानां चिन्तनं तृतीयं हि तत् ॥ २९ ॥ धर्माधर्मनभः कालपुद्गलानां जिनागमे । अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ॥ ३० ॥ अनेकगुणपर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हृदि । ध्रौव्योत्पादव्ययैर्यत्तादजीवविचयं परम् ॥ ३१ ॥ सत्पुण्यप्रकृतीनां गुडखंडशर्करामृतैः । समोगप्रकृतीनां च

नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२४–२५॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष अपने मन वचन काय को शुद्ध करने के लिये यह चिंतवन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन वचन काय शुभ हो जाँयगे अथवा मेरे मन वचन काय से कर्मों का आस्रव कब रुक जायगा इस प्रकार के चिंतवन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपायविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२६–२७॥ यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्म के संबंध से मूर्त है, गुणी है समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मों के नाश होने से उसी समय में मोक्ष में जा विराजमान होता है। यह जीव अत्यंत सूक्ष्म है असंख्यात प्रदेशी है, और कर्मों के आधीन होकर इस जन्म मरण रूप संसार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार जीवों के स्वरूप का चिंतवन करना जीवविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है ॥२८–२९॥ योगी लोग अपने धर्मध्यान की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल रूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण पर्यायों के द्वारा चिंतवन करते अथवा उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिंतवन करते हैं उसको अजीवविचय नाम का उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं ॥३०–३१॥ श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों का विपाक गुड़, खाँड़, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर शुभ होता है तथा पाप प्रकृतियों का विपाक नीम विष हलाहल आदि के समान

निम्बादिसदृशोऽशुभः ॥ ३२ ॥ विपाको बहुधाऽदौश्चिन्त्यते यत्रमानसे । तद्विपाकजयायोच्चैर्विपाकविचयं हि तत् ॥ ३३ ॥ सप्तधातुमयान्निंद्यात्- कायादमेध्यमन्दिरात् । अतृप्तजनकाच्छ्वभ्रकारणाद्भोगसंचयात् ॥ ३४ ॥ अनन्तदुःखसम्पूर्णात्संसाराद्वसुखच्युतात् । विरक्ति या सतां चित्ते विरागविचय हि तत् ॥ ३५ ॥ अनन्तदुःखसंकीर्णे भवेनादौसुखातिगे । सचित्ताचित्तमिश्रादिनानायोनिपुकर्मभिः ॥ ३६ ॥ भ्रमन्ति प्राणिनोऽश्रान्तंकर्मपाशावृता इति । भवभ्रमणदु.खानुचिन्तनध्यानमप्तमम् ॥ ३७ ॥ अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मदाः । वैराग्यमातरो रागनाशिन्योमुक्तिमातृकाः ॥ ३८ ॥ चिन्त्यते रागनाशाय यत्रवैराग्यवृद्धये । योगिभिर्योगससिध्द्यै सस्थानविचयंहि तत् ॥ ३९ ॥ प्रमाणीकृत्य तीर्थेशान् सर्वज्ञान्दोषदूरगान् । तत्प्रणीतेपु सूक्ष्मेपुविश्ववद्दग्गोचरेपु च ॥ ४० ॥

अत्यंत अशुभ होता है। इस प्रकार चतुर पुरुप कर्मों के विपाक को जीतने के लिये बार बार चिंतवन करते हैं उसको विपाकविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥३२–३३॥ यह शरीर सप्त धातुओ से भरा हुआ है, अत्यंत निंद्य है और भिष्ठा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नही होती और यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है इस प्रकार चितवन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विरागविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥३४–३५॥ यह संसार अनादि है सुख से सर्वथा रहित है और अनंत दुःखों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जाल में फंसे हुए ये प्राणी अपने अपने कर्मों के उदय से सचित्त अचित्त मिश्र आदि अनेक प्रकार की योनियों में निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार संसार के परिभ्रमण के दुःखों का बार बार चिंतवन करना भववीचार नाम का धर्मध्यान है ॥३६–३७॥ योगी पुरुप अपने योग की सिद्धि के लिये, वैराग्य की वृद्धि के लिए और रागद्वेप को नष्ट करने के लिये मोक्ष की देने वाली, रागद्वेप को नाश करने वाली वैराग्य को उत्पन्न करने वाली और अनंत सुख को देने वाली ऐसी अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतवन करते हैं उसको संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥३८–३९॥ भगवान तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ हैं और समस्त दोषों से रहित हैं इसलिये भगवान तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके कहे हुए

लोकालोकादितत्त्वेषु धर्मेपुमुक्तिवर्त्मसु । रुचिः श्रद्धाप्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयंसताम् ॥ ४१ ॥ स्याद्वादनयमालंब्य-हेतुदृष्टांतयुक्तिभिः । पूर्वापराविरोधेनतर्कानुसारि धीधनैः ॥ ४२ ॥ सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थाप्यन्ते यत्रभूतले । यथातथ्येनचित्तेवा तद्धेतुविचयाभिधम् ॥ ४३ ॥ एतद्दशविधं धर्मध्यानं शुक्लनिबन्धनम् । ध्यातव्यं ध्यानिभिर्नित्यं विश्वश्रेयस्करंपरम् ॥ ४४ ॥ ध्यानं ध्येयंवुधैर्ध्याता फलमस्यनिगद्यते । ध्यानप्रशस्तसंकल्पंपरमानन्दकारकम् ॥ ४५ ॥ विश्वद्रव्यपदार्थादिश्रीजिनागममूर्जितम् । परमेष्ठिस्वरूपं च ध्येयमस्याखिलंमतम् ॥ ४६ ॥ व्रतशीलगुणैःपूर्णोविरागो विश्वतत्त्ववित् । एकान्तवाससंतुष्टोधीमान्ध्यातास्यकथ्यते ॥ ४७ ॥ सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् सर्वाभीष्टार्थसाधकम् ।

केवलज्ञान वा केवलदर्शन के गोचर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों में लोक अलोक आदि तत्त्वों में, उनके कहे हुए धर्म में वा मोक्षमार्ग में जो रुचि श्रद्धा वा प्रतीति करना है वह सज्जनों के लिए आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान कहा जाता है ॥४०-४१॥ स्याद्वाद नयको आलंबनकर हेतु दृष्टांत और युक्तियों से अथवा तर्थ वा अनुमान से बुद्धिमान लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसारभर में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतुविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥४२-४३॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का धर्मध्यान मोक्ष का कारण है, समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है और परम उत्कृष्ट है। इसलिये ध्यान करने वालों को सदा इसका ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ ध्यान ध्येय ध्याता और फल के भेद से इसके भी चार भेद हैं। जो परमानंद उत्पन्न करने वाला शुभ संकल्प है उसको बुद्धिमान लोग ध्यान कहते हैं ॥४५॥ श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीवाजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यान का ध्येय समझना चाहिये ॥४६॥ जो व्रत शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है समस्त तत्त्वों को जानने वाला है बुद्धिमान है और एकांतवास में सदा सन्तुष्ट रहता है वह इस ध्यान का ध्याता कहलाता है ॥४७॥ तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों को उत्पन्न करने वाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करने वाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यंत

अत्यंत मलिनः कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्वं जलाद्दते ॥७०॥ तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम् । दक्षैस्त्यक्तं महामूढैः स्वीकृतं धर्मदूरगैः ॥७१॥ सप्तधातुमयेदेहे सर्वाशुचि कुटीरके । मन्यन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा न च ॥७२॥ इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वादोषान् स्नानभवान् वहून् । श्रयध्वं धीधनाः शुध्यै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ॥७३॥ रहितनिखिलदोपरागनिर्नाशहेतु मसमगुणसमुद्र लोक नाथैकपूज्यम् जगतिपरपवित्र शुद्धिद पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ॥७४॥ संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री क्लीवादि-विवर्जिते । अल्पससरितेप्रासुकभूम्यादिक गोचरे ॥७५॥ एकपार्श्वधनुर्दंडादिशय्याभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमो-

---

की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये ॥६९॥ देखो यह शरीर अत्यंत मलिन है इसलिये वह जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह अपनी आत्मा विना जल के स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ॥७०॥ इसलिये मुनियों के लिए जल से स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है। इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ॥७१॥ यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थों का घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किंतु उन्हें पशु समझना चाहिये ॥७२॥ इस प्रकार अस्नान व्रत के अनेक गुणों को समझ कर और स्नान से उत्पन्न होने वाले वहुत से दोषों को समझ कर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रत को ही स्वीकार करना चाहिये ॥७३॥ यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणों का समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भर में पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करने वाला है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नानव्रत को नित्य ही पालन करना चाहिये ॥७४॥ मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यंच स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक करवट से अथवा धनुष के समान पैर समेट कर वा डंडे के समान

त्यक्ते धराशयनमेवतत् ॥७६॥ अनेनैव व्रतेनोच्चैः तुर्यं महाव्रतम् । निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेगवर्द्धनः ॥७७॥ मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तया ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युतेर्नृणाम् ॥ ७८ ॥ एषः सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः । विश्वपापकरीभूतोऽनेका नर्थाब्धिसागरः ॥ ७९ ॥ मत्वेति स्वल्पान्नपानाद्यैः काठिन्यैः शयनासनैः । निद्रा जयं प्रकुर्वीध्वं मुनीन्द्राः ध्यानसिद्धये ॥ ८० ॥ यतो निद्रापिशाचीं ये जेतुमक्षमाः । ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः । मत्वेति न कर्तव्या निद्रा पापकरी क्वचित् । दिवसे सति रोगादौ ग्लानिभि- ध्यान नाशिनी ॥८२॥ किन्तु मध्यविभागे च निशायां योगिनायकाः । श्रान्त्यै कुर्वन्तु निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥८३ कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमशान्त्यादि हानये । न पूर्वे पश्चिमे यामे सति प्राणात्ययेपि भोः ॥ ८४ ॥ तृणतृन परिसंस्त्वं

शयन करते हैं उनको भूमिशयन नाम का मूलगुण कहते हैं ॥७५–७६॥ इस भूमिशयन व्रत से ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यंत दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है ॥७७॥ कोमल शय्या पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ॥७८॥ समस्त प्रमादों में यह निद्रा नाम का प्रमाद ही प्रबल है। यह निद्रा नाम का प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥७९॥ यही समझ कर मुनियों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अन्न पान की मात्रा अत्यंत कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्या पर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि जो लोग इस निद्रा रूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना ध्यान की शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥८१॥ यही समझ कर ध्यान करने वाले मुनियों को रोगादिक के होने पर भी पाप की ग्लानि और ध्यान को नाश करने वाली ऐसी निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिये ॥८२॥ इसलिये हे योगिराजो ! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिये शिला भूमि वा तख्ते पर रात्रि के मध्य भाग में अंतमुहूर्त तक निद्रा लो। रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत प्राण होने पर भी निद्रा

धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥ ५५ ॥ दुर्ध्यानहानये नित्यं कुर्वन्ति श्रीजिनादयः । निर्दोषं स्वाखिलांगे हो दिगष्टावरणं परम् ॥ ५६ ॥ यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च । तावन्न लभते मोक्षं काकथापरयोगिनाम् ॥ ५७ ॥ मत्वेति मुक्ति कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमजसा । कलंकमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥ ५८ ॥ असमगुण निधानमुक्तिधामाग्रमार्गं, जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्याद्विखानिम् । त्रिभुवनपतिवंद्यं धीधनाः स्वीकुरुध्वं शुभशिव–गतयेत्रा चेलकत्व त्रिशुध्या ॥ ५९ ॥ स्नानोद्वर्तनसेकादीन मुखप्रक्षालनादिकान् । संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद जल्लमलादिभिः ॥ ६० ॥ लिप्तांगं धार्यते यच्च स्वान्तः शुध्यै विशुद्धये । तदस्नान व्रत प्रोक्तं जिनैरंतर्मलाप–

के अनेक दोष समझ कर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझ कर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानों को दूर करने के लिए अपने समस्त शरीर पर सब दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥५५–५६॥ इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है ॥५७॥ यही समझ कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये ॥५८॥ यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधर देव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये ॥५९॥ जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिए और आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उबटन, शरीर का सिंचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करने वाला अस्नान नाम का व्रत कहते हैं ॥६०–६१॥ इस अस्नान नाम के उत्तम व्रत

हम् ॥ ६१ ॥ अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः । जायन्तेयमिनां नूनं शुद्धयोघमलान्तकाः ॥ ६२ ॥ रागद्वेषा- दिमोहानां हानयश्च व्रतादयः । अहिंसादिक सम्पूर्ण वैराग्यादिविवृद्धयः ॥ ६३ ॥ यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां परिक्षयः । तेन पापं परंरागो महान् ब्रह्मादिघातकः ॥ ६४ ॥ ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम् । रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण नाशिनः ॥ ६५ ॥ अस्नान व्रतभूपानामन्तःशुद्धिः पराभवेत् । रागादि त्यजनैः कर्म नाशजामुक्तिमातृका ॥ ६६ ॥ मद्यकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यादृशः स्नानैरन्तःपापमलीमसाः ॥ ६७ ॥ घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्तः शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ॥ ६८ ॥ यदि स्नानेन शुद्धिश्चेत्तर्हिवद्या विशुद्धये । मूढैर्मत्स्याद्यो व्याधा नान्त शुद्धाश्चसज्जनाः ॥६६॥

से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं। इस अस्नान व्रत से राग द्वेष मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥६२–६३॥ इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवों का घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करने वाला महा राग प्रगट होता है ॥६४॥ अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों को नाश करने वाले पापकर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ॥६५॥ जो मुनि अस्नान व्रत से सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करने वाली और मोक्ष को देने वाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की शुद्धि प्रगट होती है ॥६६॥ जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जल से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापों से महा मलिन मिथ्या दृष्टी भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥६७॥ जिस प्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी विना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यंत शुद्धता को धारण करने वाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ॥६८॥ यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषों को अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की वा धीवरों की वंदना करनी चाहिये अंतरंग में शुद्धता धारण करने वाले सज्जनों

हानये बुधैः ॥ ७७ ॥ एतद्द्वादशधा प्रोक्तं समासेन मया तप. । सर्वयत्नेन मुक्त्यर्थमाचरन्तु तपोधना. ॥ ७८ ॥ यथाग्निविधिनातप्तं द्रुतं शुध्यति कांचनम् । तथा कर्मकलंकी च स्वात्मा तपोग्निना भृशम् ॥ ७९ ॥ वस्त्राद्याः समलाद्रव्या यद्वद्धौताश्चवारिणा । भवन्ति निर्मला स्तद्वद्योगी तपोच्छवारिणा ॥ ८० ॥ तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरारुज. । पचाक्षारातिभिःसार्द्धं विलीयन्तेघराशयः ॥ ८१ ॥ चतुर्ज्ञानधरोमुक्तिगामीशक्रगणार्चितः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य करोत्येव पर तप. ॥ ८२ ॥ आदिदेवोऽपि वर्षान्तेपारणं कृतवान् भुवि । अन्यैरपि जिनाधीशै. सर्वैः कृत तपो महत् ॥ ८३ ॥ धीरोवाहुवलिः कृत्वा वर्षैकप्रोपधान्परान् । व्युत्सर्गस्थ. सुयोगेन केवलज्ञानमापभो. ॥८४॥ इत्याद्या' प्रवराः सर्वे पुराणपुरुषा अहो । वलाद्यन्ये तप कृत्वा घोरं मुक्तिपदंययु' ॥ ८५ ॥ गता याति च

इस प्रकार बारह प्रकार का यह तपश्चरण हमने अत्यंत संक्षेप से कहा है। तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर इन तपश्चरणों को पालन करना चाहिये ॥७८॥ जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ सोना शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह कर्ममल से कलंकित हुआ आत्मा तपश्चरण रूपी अग्नि से बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है ॥७९॥ जिस प्रकार मलिन वस्त्र पानी से धोने पर निर्मल हो जाते हैं उसी प्रकार योगी पुरुष भी तपश्चरण रूपी स्वच्छ जल से अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥८०॥ इस तपश्चरण रूपी औषधि से जन्म मरण बुढ़ापा आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं पंचेन्द्रिय रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापों की राशि नष्ट हो जाती है ॥८१॥ जो मोक्ष-गामी पुरुष चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं और समस्त इन्द्र जिनकी पूजा करते है ऐसे योगी पुरुष अपनी शक्ति को प्रगट कर सदा उत्कृष्ट तपश्चरण करते हैं ॥८२॥ देखो भगवान वृषभदेव ने एक वर्ष के बाद पारणा किया था। तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण किया था ॥८३॥ अत्यंत धीरवीर बाहुबलि ने भी एक वर्ष का उत्कृष्ट उपवास किया था तथा श्रेष्ठ योग धारण कर कायोत्सर्ग से विराजमान होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था ॥८४॥ इस प्रकार समस्त श्रेष्ठ महापुरुष अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपश्चरण कर के ही मोक्ष पद में जा विराजमान हुए हैं ॥८५॥ मोक्ष

यास्यन्ति मुक्तिं येत्र मुमुक्षवः। कर्मारीन् केवलं हत्वातपोभिस्ते न चान्यथा ॥ ८६ ॥ मुक्तिमार्गप्रवृत्तानांत्रिरत्नश्रीयुतात्मनाम्। विघटन्तेऽक्षचौराद्यास्तपःसुभटताडिताः ॥ ८७ ॥ सहायीकृत्य यो धीमान् तपःसुभटमूर्जितम्। व्रजेन्मुक्तिपथेत्वार्थे विघ्नं तस्य न जातुचित् ॥ ८८ ॥ तपोलंकारिणो नूनमत्यासक्ता शिवात्मजा। वृणोत्यत्र न सदेह का वार्ता शक्रयोषिताम् ॥ ८९ ॥ अहमिन्द्रपदं पूज्यं देवराजपदंमहत्। चक्रनाथपदं चान्यद्बलदेवादिसत्पदम् ॥ ९० ॥ लौकान्तिकपदंसारं गणेशादिपदंपरम्। तपः फलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुतम् ॥ ९१ ॥ अनन्तमहिमोपेतास्तीर्थनाथविभूतयः। तपसा धीमतांसर्वा जायन्ते मुक्तिमातृकाः ॥ ९२ ॥ त्रिजगन्नाथसंसेव्यान् भोगान् पंचाक्षपोषकान्। तपोधना लभन्ते च सौख्यं वाचामगोचरम् ॥ ९३ ॥ तपोमंत्रवराकृष्टासम्पल्लोकत्रयोद्भवा।

की इच्छा करने वाले जो पुरुष आज तक मोक्ष गये हैं अब जा रहे हैं वा आगे जाँयगे वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर मोक्ष गये हैं वा जाँयगे। बिना तप के न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है ॥८६॥ जो पुरुष मोक्षमार्ग में लग रहे हैं और रत्नत्रय की लक्ष्मी सुशोभित हैं उनके इन्द्रियरूपी चोर तपश्चरण रूपी सुभट से ताड़ित होकर अपने आप भाग जाते हैं ॥८७॥ जो बुद्धिमान इस तपश्चरण रूपी उत्कृष्ट योद्धा को साथ लेकर मोक्षमार्ग में गमन करता है उसके लिए इन्द्रियाँ आदि कभी भी विघ्न नहीं कर सकतीं ॥८८॥ जो पुरुष तपश्चरणरूपी अलंकार से सुशोभित हैं उनको मोक्षरूपी कन्या अत्यंत आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है इसमें कोई सन्देह नहीं है फिर भला इन्द्र की इन्द्राणियों की तो बात ही क्या है ॥८९॥ तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही फल से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसा पूज्य अहमिन्द्रपद उत्कृष्ट इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद श्रेष्ठ बलभद्र का पद सारभूत लौकान्तिक का पद और उत्कृष्ट गणधर का पद प्राप्त होता है ॥९०–९१॥ इस तपश्चरण से ही बुद्धिमानों को अनंत चतुष्टय की महिमा से सुशोभित सबको सुख देने वाली और मोक्ष की जननी ऐसी तीर्थंकर की उत्कृष्ट विभूति प्राप्त होती है ॥९२॥ तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवन करने योग्य और पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले ऐसे भोग प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर ऐसे सुख प्राप्त होते हैं ॥९३॥ तपस्वी पुरुषों को

तपोमहात्म्यतो गुर्वी सपद्ये त तपस्विनाम् ॥ ६४ ॥ तपश्चिन्तामणिर्दिव्यस्तपः कल्पद्रुमोमहान् । तपो नित्यं निधानं तपः कामधेनुरूर्जिता ॥ ६५ ॥ यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम् । अनर्घ्यं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसा-चिरात् ॥ ६६ ॥ ये तप. कुर्वते नाहो सत्वहीना खलपटाः । भवेद्रोग व्रजस्तेषामत्र लघनराशिदः ॥ ६७ ॥ ततस्तीव्रमहादुःखक्लेशादिशतसंकुलम् । अक्षोत्थपापपाकेन जन्मश्वभ्रादिदुर्गतौ ॥ ६८ ॥ इति मत्वा बुधानित्यं-जित्वापंचाक्षतस्करान् । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्यचरन्त्वत्र तपोनघम् ॥ ६९ ॥ वलं वीर्यं निज सर्वं प्रकटीकृत्य योगिनाम् । सयमाचरण यत्सवीर्याचारोजिनैर्मत' ॥ ५०० ॥ रसाहारौषधाद्यैश्चजनित वलमुच्यते । वीर्यं वीर्यान्तरायस्यक्षयोपशमसम्भवम ॥ १ ॥ अनयोः प्राप्यसामर्थ्यं तपोयोगादिसयमान् । व्युत्सर्गादींश्च कुर्वन्त्वनिगू-

इस तपश्चरण के ही माहात्म्य से तपश्चरणरूपी श्रेष्ठ मंत्र से आकृष्ट हुई तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट संपत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥६४॥ यह तपश्चरण ही चिंतामणि रत्न है, तपश्चरण ही महान् कल्पद्रुम है तप ही सदा रहने वाला निधान वा खजाना है और तप ही उत्कृष्ट कामधेनु है ॥६५॥ तीनों लोकों में रहने वाले जो बहुमूल्य पदार्थ अत्यंत दूर हैं और जो कठिनता से प्राप्त हो सकते है वे सब पदार्थ इस तपश्चरण से बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं ॥६६॥ इन्द्रियों में लंपटी और शक्ति हीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते हैं उन्हें अनेक लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त हो जाते हैं ॥६७॥ उन इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महा पाप के फल से उन लंपटियों का जन्म नरकादिक दुर्गतियों में होता है जहाँ कि तीव्र महा दुःख और सैकड़ों महा क्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं ॥६८॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों को जीत कर और अपनी शक्ति को प्रगट कर निरंतर पापों से सर्वथा रहित ऐसा तपश्चरण करते रहना चाहिये ॥६९॥ योगी लोग जो अपना वल वीर्य आदि सब प्रगट कर के संयमाचरण का पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव वीर्याचार कहते हैं ॥५००॥ सरस आहार और औषधि आदि से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वल कहते हैं तथा वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वीर्य कहते हैं ॥१॥ इन दोनों की सामर्थ्य प्राप्त कर तथा अपनी शक्ति को न छिपा कर मुनियों को तप, योग, संयम और

हितपराक्रमा ॥२॥ प्राणीन्द्रियद्विभेदाभ्यां संयमोद्विविधोमतः । तत्राणिसंयमः सप्तदशप्रकार एव हि ॥३॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कायानां वनस्पतिदेहिनाम् । यत्नेनरक्षणं यत्पंचधा कायसंयमः ॥४॥ द्वित्रितुर्यपंचेन्द्रियाणां यत्प्रतिपालनम् । त्रसभेदेन सप्रोक्तश्चतुर्धासंयमः मताम ॥५॥ अजीवानां तृणादीनामच्छेदनं नखादिभिः । यत्ससंयमिनां प्रोक्तः संयमोऽजीवसंज्ञकः ॥६॥ ज्ञानोपकरणादीनां सम्यगप्रतिलेखनम् । नेत्रेणादर्शनं तस्यगत्ना—त्संयमनं महत् ॥७॥ मृदुपिच्छिकया वारं वारं यत्प्रतिलेखनम् । दर्शनं नयनाभ्यां सः प्रतिलेखनसंयमः ॥८॥ जीवमर्दनबाधादिकरदुष्प्रतिलेखनम् । तत्संयमनं सर्वप्रमादमन्तरेणयत् ॥९॥ सूक्ष्मप्राणिदयाहेतु प्रमार्जनंमुहुर्मुहुः । उक्तः स जिननाथैर्दुष्प्रतिलेखनसंयमः ॥१०॥ उपेक्षणमुपेक्षा च धर्मोपकरणादिषु । व्यवस्थाप्यातिकालेना—

कायोत्सर्ग आदि धारण करना चाहिये ॥२॥ यह संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं ॥३॥ पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पाँच प्रकार का काय संयम है ॥४॥ दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सज्जन लोगों के लिए चार प्रकार का त्रस संयम कहलाता है ॥५॥ संयमी लोग जो तृण आदि अजीव पदार्थों को भी नाखून आदि से भी कभी नहीं छेदते उसको अजीवसंयम कहते हैं ॥६॥ ज्ञानादिक के उपकरणों का ठीक ठीक अच्छी तरह प्रतिलेखन न हुआ हो वा वे उपकरण नेत्रों से अच्छी तरह न देखे गये हों ऐसे पदार्थों को कोमल पीछी से प्रतिलेखन करना बार बार प्रतिलेखन करना और बार बार नेत्रों से देखना इस प्रकार प्राणियों की रक्षा करना प्रतिलेखन संयम कहलाता है ॥७–८॥ जीवों को मर्दन करने वाला वा जीवों को बाधा देने वाला जो किसी ने प्रतिलेखन किया है उसके लिये संयम पालन करना, सब तरह के प्रमाद छोड कर सूक्ष्म प्राणियों की दया पालन करने के लिये उन पदार्थों को बार बार प्रमार्जन करना पीछी से शोधना भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा दुःप्रतिलेखन नाम का संयम कहा जाता है ॥९–१०॥ संयम में मन न लगाना उपेक्षा है। धर्मोपकरणों को रख कर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्छन जीवों को देख कर उपेक्षा का संयमन वा निग्रह करना

दर्शनं तत्रजन्मिनाम् ॥११॥ सम्मूर्च्छनं विलोक्योपेक्षायाः संयमनं मुहुः । प्रत्यहं दर्शनंयत्किलोपेक्षासंयमोऽत्र सः ॥१२॥ अथापहरणं पिच्छिकयैकाक्षादिदेहिनाम् । अन्यत्रक्षेपणं तस्मात्तस्य संयमनं परम् ॥ १३ ॥ अनिराकरणं यत्नात्तत्रैव परिरक्षणम् । यत्सोपहरणख्योत्रसयमो यमिनां स्मृतः ॥ १४ ॥ मनो वचनकायानांनिसर्गं चंचलात्मनाम् । ध्यानाद्यैर्निग्रहो यः सः त्रिविधो योगसंयम ॥ १५ ॥ एतेऽत्रयोगिनां सप्तदशभेदाः प्ररूपिताः । संयमस्यगणाधीशै–रागमे व्रतशुद्धिदाः ॥ १६ ॥ पंचाक्षव्रजतास्वस्वविषयेषु विरागिभिः । व्रताद्यैर्दमनं यत्स पंचधेन्द्रियसंयमः । १७ ॥ स्वेच्छयागच्छतो लोके मनसो यन्निरोधनम् । ध्यानाध्ययनकर्माद्यैर्मनः संयमएव सः ॥ १८ ॥ चतुर्दशविधा जीवसमासा यत्र यत्नतः । रक्ष्यन्ते योगिभिर्मुक्त्यै स प्राणिसयमोद्भूतः ॥ १९ ॥ इत्येते संयमाः सर्वे प्राणी–न्द्रियाभिधावुधैः । विधेया वलवीर्याभ्यां संवराय शिवाय च ॥ २० ॥ अनुगूहितवीर्याणां स्युर्विश्वेसंयमाः पराः ।

प्रतिदिन वार वार उसे देखना उपेक्षासंयम कहलाता है ॥११–१२॥ एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदि जीवों को पीछी से हटा कर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों की न तो अन्यत्र स्थापन करना न जाने से रोकना प्रयत्न पूर्वक वहीं पर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नाम का संयम कहलाता है ॥१३–१४॥ मन वचन काय ये तीनों स्वभाव से ही चंचल हैं उनको ध्यानादिक द्वारा निग्रह करना तीन प्रकार योगसंयम कहलाता है ॥१५॥ भगवान गणधरदेव ने अपने आगम में योगियों के लिये व्रतों को शुद्ध करने वाले ये संयम के सत्रह भेद बतलाये हैं ॥१६॥ पाँचों इन्द्रियाँ जो अपने अपने विषयों में गमन करती हैं उनको रागरहित व्रती पुरुष जो दमन करते हैं उसको पाँच प्रकार का इन्द्रियसंयम कहते हैं ॥१७॥ इस प्रकार यह मन भी तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करता है उसको ध्यान अध्ययन आदि कार्यों से निग्रह करना मनसंयम कहलाता है ॥१८॥ योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो जीव समासों के भेद से चौदह प्रकार के जीवों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं उसको भी उत्कृष्ट प्राणिसंयम कहते हैं ॥१९॥ बुद्धिमान् पुरुषों को कर्मों का संवर करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपना बल और वीर्य प्रगट कर ऊपर लिखे हुए प्राणी और इन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के संयमों का सदा पालन करते रहना चाहिये ॥२०॥ जो संयमी

सत्तपांसि च सर्वाणिगुणा ज्येष्ठाः शिवादयः ॥ २१ ॥ मत्वेतिसंयमाचारे तपसां करणे खिले । योगाद्यन्यत्र वा कार्यं न वीर्याच्छादनंमनाक् ॥ २२ ॥ एवपचविधान्जिनेन्द्रगदितानाचारभेदात्परान् । मुक्त्यै ये निपुणा भजन्ति परया भक्त्यात्रिशुद्ध्याखिलान् । हत्वाघातिरिपून्समाप्यपरमं ज्ञानं सुरैः पूजन, तेऽन्त्यांगाश्चनिहत्यकर्मवपुसोयान्त्येव–मुक्त्यालयम् ॥ २३ ॥ येन्येश्रीमुनिनायकाः सुरनताः शक्त्या चरन्त्युर्जितान्, एतान्पंचविधानविमुक्तिजनकाम् आचारसारान्सदा । ते भुक्त्वात्रिजगद्भवं वरसुखंसर्वार्थसिध्यादिजं राज्यं चानुसमाप्यसंयममतोगच्छन्तिमोक्ष–क्रमात् ॥ २४ ॥ इति विदिततदर्थाः पचधाचारसारान् । शिवसुखगतिहेतून् कर्ममातंगसिहान् । कुगतिगृहकपाटान्

अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हैं उन्हीं के समस्त उत्कृष्ट संयम होते हैं उत्कृष्ट समस्त तपश्चरण होते हैं उत्तम गुण प्रगट होते हैं और उन्हीं को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥२१॥ यही समझ कर संयमों के पालन करने में समस्त तपश्चरणों के करने में वा आतापनादि योग धारण करने में अथवा और ऐसे ही कार्यों में अपनी शक्ति को कभी नहीं छिपाना चाहिये। अपने वीर्य को कभी ढकना नहीं चाहिये ॥२२॥ ये पाँचों प्रकार के आचार भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये जो चरम शरीरी चतुर पुरुष मन वचन काय को शुद्ध कर परमभक्ति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन पाँचों आचारों का पालन करते हैं वे महा पुरुष घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर परम केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय वे देवों के द्वारा पूजे जाते है और अंतमें समस्त कर्म और शरीर को नाश कर परम मोक्षस्थान में जा विराजमान होते हैं ॥२३॥ अनेक देव जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे और भी अनेक मुनिराज जो अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष देने वाले सर्वोत्कृष्ट इन सारभूत पाँचों आचारों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले सर्वार्थ सिद्धि आदि के श्रेष्ठ सुख भोगते हैं श्रेष्ठ राज्य का अनुभव करते हैं और अंतमें संयम पालन कर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२४॥ ये पाँचों आचार सारभूत हैं, स्वर्ग मोक्ष के कारण है. कर्मरूपी हाथियों के लिये सिंह के समान हैं, कुगति रूपी घर को बंद करने के लिए कपाट के समान हैं और तीर्थंकर परमदेव भी इनका पालन करते हैं। अतएव इन पंचाचारों के अर्थ को समझने वाले पुरुषों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये

तीर्थनाथैःनिषेव्यान्, भजत शिवसुखाप्त्यैमोहशत्रुं निहत्य ॥ २५ ॥ नाभेयाद्यै र्जिनेशैस्त्रिभुवनमहितै र्यैःप्रणीताधरित्र्या- माचारामुक्तिसिध्यै गणधरसहितैस्तत्फलेनात्र लब्धः। मोक्षो यैः सिद्धनाथैस्त्रिविधमुनिगणैराहता येऽत्र यत्नात् ते सर्वेधर्मनाथास्त्रिजगतिगुरुवो मेप्रदद्युःस्वभूतीः ॥ २६ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार व्यावर्णने ज्ञानचारित्रतपो वीर्याचार वर्णनो नाम षष्ठोधिकारः।

मोहरूपी शत्रु को नाश कर इन पाँचों आचारों का पालन करना चाहिये ॥२५॥ तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे जिन वृषभदेव आदि तीर्थंकरों ने वा जिन गणधर देवों ने मोक्ष की सिद्धि के लिये इन पाँचों आचारों का इस लोक में निरूपण किया है तथा जिन सिद्ध भगवान ने इन पंचाचारों के फल से मोक्ष की प्राप्ति की है और जिन आचार्य उपाध्याय साधुओं ने प्रयत्नपूर्वक इन आचारों का पालन किया है वे सब धर्म के स्वामी और तीनों लोकों के गुरु भगवान पंच परमेष्ठी मेरे लिये अपनी अपनी विभूति प्रदान करें ॥५२६॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ में पंचाचार के वर्णन में ज्ञान चारित्र तप वीर्याचार को निरूपण करने वाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ।



सप्तमोऽधिकारः ।



श्रीमतस्तीर्थनाथांश्चसमाचारप्ररूपकान् । सिद्धान्साधून्जगत्पूज्यान्गुणाब्धींनौमिसिद्धये ॥ १ ॥ अथ यः सम्यगाचारः समानः सर्वयोगिनाम् । समजातोथवा वक्ष्येसमाचाराख्यमेव तम् ॥ २ ॥ एकः औघिकः संगोद्वितीय पदविभागिकः । इत्यत्र स समाचारोद्विधोक्तः श्रीजिनागमे ॥ ३ ॥ औघिकोऽपिसमाचारो दशभेदोजिनाधिपैः । मतोऽनेकविधोमूलाचारेपदविभागिकः ॥ ४ ॥ इच्छाकारो हि मिथ्याकारस्तथाकार आसिका । निषेधिका किला–

सातवां अधिकार ।

मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिये अंतरंग वहिरंग विभूति से सुशोभित और समाचार नीति को प्ररूपण करने वाले तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करता हूं जगतपूज्य सिद्धों को नमस्कार करता हूं और गुणों के समुद्र ऐसे साधुओं को नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो समस्त मुनियों को समान रीति से पालन करने पड़े ऐसे श्रेष्ठ आचरणों को समाचार कहते हैं। ऐसे समाचारों को अब आगे इस अध्याय में निरूपण करते हैं ॥२॥ यह समाचार भगवान जिनेन्द्रदेव के आगम में दो प्रकार का बतलाया है। एक औघिक और दूसरा पदविभागिक ॥३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने औघिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं और मूलाचार ग्रन्थों में पदविभागिक के अनेक भेद बतलाये हैं ॥४॥ इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सन्निमंत्रण और उपसंपत्

पृच्छाप्रतिपृच्छा च छन्दनम् ॥ ५ ॥ सन्निमंत्रण एव वाथोपसंपद्योगिनामिमे । दशभेदाःसमाख्याता औघिकस्य समासतः ॥ ६ ॥ इष्टेरत्नत्रयादौवेच्छाकारः शुभकर्मणि । अपराधेऽखिलेमिथ्याकारोव्रताद्यतिक्रमे ॥ ७ ॥ प्रतिश्रवणयोगेसिद्धान्तार्थानां तथैव हि । गुहाशून्यगृहादेर्निर्गमनेत्रासिकास्मृता ॥ ८ ॥ देवगेहगुहाद्यंत.प्रवेशे च निषेधिका । स्वकार्यारम्भनेकार्या पृच्छागुर्वादियोगिनाम् ॥ ६ ॥ गुरुसाधर्मिकाद्यन्यैः पूर्वं निःसृष्टवस्तुनि । पुनस्तद्ग्रहणे युक्त्या प्रतिपृच्छा शुभप्रदो ॥ १० ॥ सूरिसाधर्मिकादीनांगृहीते पुस्तकादिके । सेवनं तदभिप्रायेण यच्छदनमेव तत् ॥ ११ ॥ गुरूपाध्यायसाधूनां धर्मोपकरणे शुभे । अगृहीते तदर्थं या यांचा सा सन्निमत्रणा ॥ १२ ॥ युष्माकमह मेवेतिनिजेगुरुकुलेशुभे । निसर्ग.स्वात्मनस्त्याग उपसम्यतसुवाक्व्रजा ॥१३॥ एष उक्तः समाचारोदशधौघिक आगमे ।

ये औघिक समाचार के संक्षेप से दश भेद कहलाते हैं ॥५–६॥ रत्नत्रयादिक इष्ट पदार्थों में वा शुभ कामों में इच्छाकार किया जाता है। व्रतों के अतिचारों में वा अपराध हो जाने पर मिथ्याकार किया जाता है ॥७॥ सिद्धांतशास्त्र के अर्थ सुनने पर वा ग्रहण करने पर तथाकार किया जाता है। किसी गुफा वा सूने मकान में से जाते समय आसिका की जाती है ॥८॥ किसी देव के मंदिर में वा गुफादिक में प्रवेश करते समय निषेधिका की जाती है। अपने किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय गुरु आदि योगियों से आपृच्छा की जाती है ॥६॥ किसी गुरु वा साधर्मी मुनि के पास पहले कोई वस्तु रखदी हो और फिर उसके लेने की इच्छा हो तो शुभ देने वाली प्रतिपृच्छा युक्तिपूर्वक की जाती है ॥१०॥ किसी आचार्य वा अन्य साधर्मी मुनि की पुस्तक आदि वस्तु उनकी इच्छानुसार अपने काम के लिए लेनी हो तो छंदन नाम का समाचार किया जाता है ॥११॥ आचार्य उपाध्याय वा साधु के शुभ धर्मोपकरण अपने काम के लिये लेने हों तो उसके लिये जो याचना करना है उस समय सन्निमंत्रण नाम का समाचार किया जाता है ॥१२॥ मैं आपका हूँ इस प्रकार कह कर अपने शुभ गुरुकुल में स्वभाव से अपने आत्मा को समर्पण कर देना। श्रेष्ठ वचनों को कहलाने वाला उपसंपत् नाम का समाचार कहलाता है ॥१३॥ इस प्रकार जिनागम में संक्षेप से औघिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं। अब

समासेन ततश्चोर्ध्वं वक्ष्ये पदविभागनम् ॥ १४ ॥ सूर्यस्योद्गममारभ्य कृत्स्नेऽहोरात्रमंडले । यन्नियमादिकं सर्वमाचरन्ति निरन्तरम् ॥१५॥ आचारांगभवंयत्नाच्छ्रमणाभवहानये । समाचारो जिनैः सोऽत्र प्रोक्तः पदविभागकः ॥१६॥ पुनर्येप्रोदिताःपूर्वमिच्छाकारादयो दश । संक्षेपाद्विस्तरेणात्र वक्ष्ये तेषांसुलक्षण ॥ १७ ॥ संयमज्ञानधर्मोपकरणादिकयाचने । आतापनादियोगनांग्रहणेतपसां सताम् ॥ १८ ॥ करणेपठनेंगानां सर्वत्रशुभकर्मणि । इच्छाकारश्च कर्तव्यः परिणामोमुमुक्षुभिः ॥ १९ ॥ अतीचारे व्रतादीनां जातेगवाक्यमानसैः । अशुभैश्चप्रमादाद्यैरेतन्मेदुष्कृतंकृतम् ॥ २० ॥ मिथ्यास्तुनिष्फलंसर्वंकरिष्येजातुनेदृशम् । त्रिशुध्य्त्यपराधस्यमिथ्याकारः सतांमतः ॥ २१ ॥ सिद्धांतादिमहार्थानां श्रवणेचोपदेशने । गुरुणाक्रियमाणेत्रवितथेयन्निरूपितम् ॥ २२ ॥ भवद्भिः सकलार्थं तदेवमेव न चान्यथा । इत्युक्त्वा

अब आगे पदविभागी नाम के समाचार को कहते हैं ॥१४॥ मुनिलोग अपने संसार को नाश करने के लिये सूर्योदय से लेकर समस्त दिन और रात में आचारांग सूत्र के अनुसार जो यत्नपूर्वक समस्त नियमों का पालन करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव पदविभागिक नाम का समाचार कहते हैं ॥१५—१६॥ ऊपर औघिक समाचार के जो संक्षेप से दश भेद बतलाये हैं अब आगे विस्तार के साथ उन्हीं का लक्षण कहते हैं ॥१७॥ संयमोपकरण ज्ञानोपकरण वा धर्मोपकरण की याचना करते समय आतापन आदि योगों को ग्रहण करते समय, किसी तपश्चरण को ग्रहण करते समय, अंगों का पठन पाठन करते समय वा अन्य समस्त शुभ कार्यों में मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने इच्छाकार रूप परिणाम रखने चाहिये ॥१८—१९॥ अशुभ मन वचन काय से, प्रमाद से वा इन्द्रियों से व्रतादिकों में अतिचार लग जाय तो यह मैंने बुरा किया वा पाप किया यह सब मिथ्या हो निष्फल हो अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूंगा । इस प्रकार मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक अपराध का पश्चात्ताप करना सज्जनों के द्वारा मिथ्याकार कहलाता है ॥२०—२१॥ सिद्धांत आदि महा शास्त्रों के अर्थ सुनने पर अथवा गुरु के यथार्थ उपदेश देने पर यह कहना कि "आपने जो कहा है सो सब यथार्थ कहा है वह अन्यथा नहीं" इस प्रकार कह कर उन शास्त्रों का सुनना तथाकार कहलाता

श्रवणंतेषांयत्तथाकार एव सः ॥ २३ ॥ गिरिकन्दरजीर्णोद्यानगुहापुलिनादिषु । प्रवेशसमये कार्याण्यवधायनिषेधिका ॥ २४ ॥ तेभ्योद्ग्रादिप्रवेशेभ्योन्येभ्योनिर्गमनेसदा । विधातव्यासिका व्यंतरादिप्रीत्यैविचक्षणैः ॥ २५ ॥ आतापनादियोगानाग्रहणे तपसां भुवि । करणे कायसंस्थित्यैचर्यादिव्रजनेपरे ॥ २६ ॥ ग्रामादिगमने चान्याखिले कार्येशुभेनिजे । सूर्यादीन् विनयेनैत्यापृच्छा कार्यासुशैद्यकैः ॥ २७ ॥ यत्किंचिन्महत्कार्यं दुष्करं धर्मसम्भवम् । करणीयंप्रणम्यात्मगुर्वाचार्यादिकाखिलान् ॥ २८ ॥ पृष्ट्वापुनर्मुदासाधून्साधुपृच्छतिसिद्धये । निजकार्यस्य तांविद्धि प्रतिपृच्छां शुभप्रदाम् ॥ २९ ॥ पुस्तकादिगृहीतेषु विनये वन्दनादिके । जैनागमपदार्थानांप्रश्नेऽन्येधर्मकर्मणि ॥ ३० ॥

है ॥२२–२३॥ किसी पहाड़ की गुफा में, पुराने वन में, कंदरा में किसी नदी के किनारे पर प्रवेश करना हो तो उस समय जीवों का बध न हो इसलिये मुनियों को निषेधिका करनी चाहिये । णिसही णिसही ऐसा उच्चारण करना चाहिये ॥२४॥ चतुर मुनियों को व्यंतरादिक देवों को प्रसन्न करने के लिये पर्वत की गुफा सूने मकान आदि से बाहर जाते समय असही असही ऐसा कह कर आसिका करनी चाहिये ॥२५॥ शिष्य मुनियों को आतापन आदि योग के धारण करते समय, तपश्चरण धारण करते समय, शरीर को स्थिर रखने के लिये चर्या करने को जाते समय, दूसरे गाँव को जाते समय तथा और भी अपने शुभ समस्त कार्यों के करने पर विनयपूर्वक आचार्यों से पूछना चाहिये इसी को आपृच्छा नाम का समाचार कहते हैं ॥२६–२७॥ यदि किसी साधु को धर्म सम्बन्धी कोई अत्यंत कठिन और बहुत बड़ा कार्य करना हो तो वह पहले अपने गुरु आचार्य वा वृद्ध मुनि आदि सबको पूछ लेता है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिये फिर भी वह साधु अन्य साधुओं को भी पूछता है इस कल्याण करने वाले समाचार को प्रतिपृच्छा कहते हैं ॥२८–२९॥ चतुर मुनि किसी आचार्य आदि से पुस्तकादि के ग्रहण करते समय, विनय करते समय, वंदना आदि करते समय, अथवा जैन शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों के स्वरूप को पूछते समय अथवा और भी किसी शुभ कार्यों के करते समय समस्त भव्य जीवों का हित करने वाले वृषभसेन आदि गणधरों की वा आचार्य आदि की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति करना अथवा

गणेशवृषभादीनांविश्वभव्यहितात्मनाम् । दद्यौरिच्छानुवृत्तिर्याचर्यतेछन्दनं च तत् ॥ ३१ ॥ गुरुसाधर्मिकान्येषांपुस्तकादिपरिग्रहम् । धर्मोपकरणंवान्यदिच्छन्गृहीतुमात्मवान् ॥ ३२ ॥ तदार्नाविनयेनैत्य तेषां नत्वा पदाम्बुजान् । कुर्यान्निमत्रणांयोगीयाचनां कार्यसिद्धये ॥ ३३ ॥ उपसम्पज्जिनैः प्रोक्ता पंचधा विनयेसताम् । चेत्रेमार्गे तथासौख्येदुःखेसूत्रेमहात्मनाम् ॥ ३४ ॥ आघूर्णकयतीनांविनयोपचार ऊर्जितः । अंगांघ्रिमर्दनै-संस्तरासनादिनिवेदनम् ॥ ३५ ॥ आवासभूमिसंपृच्छापुस्तकादिसमर्पणम् । इत्यादिकरणाद्विनयोपसम्पदेव सा ॥ ३६ ॥ दृग्ज्ञानसंयमाद्याश्चसत्तपोनियमाद्यः । यमशीलव्रताचाराः क्षमादिगुणराशयः ॥ ३७ ॥ यस्मिन्साम्येशुभेचेत्रेवर्द्धन्तेधीमतां सताम् । तस्मिन्क्षेत्रेनिवासो यः क्षेत्रोपसम्पदेव सा ॥ ३८ ॥ पादोष्णागतवास्तव्यमुनीनां योगधारिणाम् । तपः संयम–

उस उपकरण के स्वामी की इच्छानुसार उस उपकरण को लेना छंदन नाम का समाचार कहलाता है ॥३०–३१॥ यदि किसी साधु को अपने गुरु से वा अन्य साधर्मी मुनियों से कोई पुस्तक वा कोई धर्मोपकरण लेने की इच्छा हो तो लेते समय उस साधु को उन गुरु वा अन्य साधर्मी साधुओं के समीप विनयपूर्वक जाना चाहिये उनके चरण कमलों को नमस्कार करना चाहिये और फिर अपने कार्य की सिद्धि के लिए उनसे याचना करनी चाहियेइसको निमंत्रण नाम का समाचार कहते हैं ॥३२–३३ भगवान जिनेन्द्रदेव ने सज्जन पुरुषों के लिए उपसंपत् नाम का समाचार पाँच प्रकार का बतलाया है। विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदुःख, और सूत्र के विषय में महात्माओं के लिए अपनी सेवा का निवेदन करना पाँच प्रकार की उपसंपत् है ॥३४॥ जो मुनि बाहर से आये हैं और अपने स्थान में आकर ठहरे हैं उनका उनका उत्कृष्ट विनय और उपचार करना उनके शरीर को दाबना, पैरों को दाबना, उनके लिए सोने तथा बैठने का आसन देना, उनके स्थान को वा उनके गुरु के स्थान को पूछना तथा उनके मार्ग को पूछना (कहाँ से आये कहाँ जॉयगे आदि पूछना) उनके लिये पुस्तक उपकरण आदि देना आदि कार्यों के करने को विनयोपसंपत् कहते हैं ॥३५–३६॥ जिस शुभ और समानशीतोष्ण क्षेत्र में बुद्धिमान सज्जनों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, श्रेष्ठतप, यम, नियम, शील व्रत आचार क्षमा आदि अनेक गुण बढ़ते जॉय ऐसे क्षेत्र मे निवास करना क्षेत्रसंपत् कहलाती है ॥३७–३८॥ जो मुनि तप और संयम को धारण करने वाले हैं और योग

युक्तानां गमनागमनादिकैः ।। ३९ ।। परस्परं सुखप्रश्ने व्रतदृग्ज्ञानवृद्धये । यो जिनैर्गदिता शास्त्रे मार्गोपसम्पदेव सा ।। ४० ।। उपचारोमुनीन्द्राणांनिमित्तेसुखदुःखयोः । मठपुस्तकधर्मोपदेशदानादिभिः परैः ।। ४१ ।। युष्माकमहमत्राशुकरिष्येनिखिल वचः । इत्यादिकथनशर्मदुःखोपसम्पदेव च ।। ४२ ।। सूत्रोपसम्पदेकान्यार्थोपसम्पत्समाह्वया । तदा तदुभयात्रेधासूत्रोपसम्पदित्यपि ।। ४३ ।। यः सूत्रपठनेयत्नःसूत्रोपसम्पदत्र सा । अर्थादानेत्र यो यत्नः सार्थोपसम्पदूर्जिता ।। ४४ ।। यत्नस्तदुभयेयोत्रसोपसम्पद्द्वयात्मिका । अधुनालक्षणंकिंचिद्ब्रुवेपदविभागिनः ।। ४५ ।। अथकश्चिद्महाप्राज्ञः समर्थः सकलैर्गुणैः । वीर्यधैर्यतपोयोगोत्सहाद्यैःसयताग्रणीः ।। ४६ ।। स्वगुर्वादिगतंसर्वं श्रुतंज्ञात्वापरागमम् । ज्ञातुमिच्छन्प्रणम्योच्चैःपृच्छतीतिनिजगुरुम् ।। ४७ ।। युष्मत्पादप्रसादेन १ भवन्सूरिमूर्जितम् ।

को धारण करने वाले हैं तथा बाहर से आकर अपने स्थान में ठहरे हैं अथवा अपने ही संघ के मुनि बाहर जाकर आए हैं उनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और व्रतों की वृद्धि के लिए आने जाने के समय की कुशल वार्ता पूछना परस्पर सुख का प्रश्न करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने शास्त्रों में मार्गोपसंपत् बतलाई है ।।३९–४०।। यदि किसी मुनि पर कोई सुख वा दुःख आपड़े तो उस समय मठ पुस्तक धर्मोपदेश वा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थों को (आहार औषधि आदि को) देकर उनका उपचार वा उपकार करना अथवा हम सब आपके हैं हम लोग आपके कहे हुए सब वचनों का पालन करेंगे इस प्रकार उनसे कहना सुखदुःखोपसंपत् कहलाती है ।।४१–४२।। सूत्रसंपत् के तीन भेद हैं सूत्रसंपत् अर्थसंपत् और उभयसंपत् । सूत्रों के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रसंपत् है । अर्थ के पढ़ने में प्रयत्न करना श्रेष्ठ अर्थसंपत् है । सूत्र और अर्थ दोनों के पढ़ने में प्रयत्न करना तदुभयसंपत् है । अब आगे पदविभागी समाचार का थोड़ा सा लक्षण कहते हैं ।।४३–४५।। जो कोई उत्तम मुनि अत्यंत बुद्धिमान् हो, समस्त गुणों से, वीर्य धैर्य तप योग और उत्साह आदि समस्त गुणों से सुशोभित हो और उसने अपने गुरु से उनके जाने हुए समस्त शास्त्र पढ़ लिये हों तथा फिर अन्य शास्त्रों के पढ़ने की उसकी इच्छा हो तो वह अपने गुरु को प्रणाम कर पूछता है कि हे प्रभो ! अब मैं आपके चरणों की आज्ञानुसार किसी ऐसे उत्तम और पूज्य आचार्य के पास जाना चाहता हूँ जो समस्त आगम के ज्ञान मे कुशल हों तथा

---

१ विख्यातं

सर्वांगमपरिज्ञान कुशलं चापरं प्रति ॥ ४८ ॥ गन्तुमिच्छामिशक्त्यान्यागमाध्ययनहेतवे । इतितिस्रोथवा पंच षट्वापृच्छा करोति सः ॥ ४९ ॥ एवमापृच्छ्ययोगीन्द्रंप्रेषितोगुरुणा यतिः । आत्मचतुर्थएवात्मतृतीयो वा जितेन्द्रिय ॥५०॥ अथवात्मद्वितीयोसौनत्वाचार्यादिपाठकान । निर्गच्छति ततः संघादेकाकी नतुजातुचित् ॥५१॥ यत. एकोगृहीतार्थोविहारोखिलसद्गुणैः । समर्थानां द्वितीयोन्योगृहीतार्थैनसंश्रितः ॥ ५२ ॥ सामान्ययोगिनां-युक्त्यात्रैताभ्यां नापरः कचित् । विहारस्तृतीयःसर्वैरनुज्ञातोजिनेश्वरैः ॥५३॥ सर्वोत्कृष्टतयाद्वादशांगपूर्वाखिलार्थवित् । सद्वीर्यधृतिसत्त्वाद्यस्त्यादिसंहननोवली ॥ ५४ ॥ एकत्वभावनापन्नः शुद्धभावोजितेन्द्रियः । चिरप्रव्रजितो धीमान्

वहाँ जाकर अपनी शक्ति के अनुसार अन्य आगमों का अध्ययन करना चाहता हूँ। इस प्रकार वह शिष्य तीन बार पाँच बार वा छह बार पूछता है ॥४६–४९॥ इस प्रकार वह अपने गुरु से पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो वह मुनि अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक अन्य मुनि को अपने साथ लेकर अत्यंत जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य और उपाध्यायों को नमस्कार कर तथा वृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है। किसी भी मुनि को अकेले कभी नहीं निकलना चाहिये ॥५०–५१॥ इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का ही विहार बतलाया है एक गृहीतार्थ विहार और दूसरा गृहीतार्थ के आश्रय होने वाला विहार। जो समर्थ मुनि हैं समस्त तत्त्वों के जानकार हैं अपने मार्ग का चरणानुष्ठान अच्छी तरह कर सकते हैं ऐसे मुनियों का समस्त गुणों से सुशोभित होने वाला विहार गृहीतार्थ विहार कहलाता है। यदि ऐसी सामर्थ्य न हो फिर समस्त मार्गानुष्ठान को जानने वाले किसी मुनि के साथ विहार करना चाहिये। इसको गृहीतार्थाश्रित विहार कहते हैं। यह विहार सामान्य मुनियों के लिए निरूपण किया गया है। इन दो विहारों के सिवाय तीसरा कोई भी विहार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने नहीं बतलाया है ॥५२–५३॥ जो मुनि अत्यंत उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठ वीर्य श्रेष्ठ धैर्य और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते हैं जो पहले के तीन संहननों में से किसी एक संहनन को धारण करने वाले हैं, बलवान् हैं, जो सदा एकत्व

जिताशेषपरीषहः ॥ ५५ ॥ इत्याद्यन्यगुणग्रामोमुनिः समतो जिनैः । श्रुतेत्रैकविहारीहि नान्यस्तद्गुणवर्जितः ॥५६॥ भिक्षोत्सर्गादिकालेषुगमनागमनदिकम् । अकालेशयनंनिंद्यमुपवेशनमात्मनः ॥ ५७ ॥ विकथाकरणं यस्यस्वेच्छया जल्पनंसच । माभूदीदृशएकाकी मे शत्ररपि भूतले ॥ ५८ ॥ गुरोः परिभवः शास्त्रव्युच्छेदो जडताभुवि । मलिनत्वं च तीर्थस्यविह्वलत्वंकुशीलता ॥ ५९ ॥ पार्श्वस्थताप्यनाचारइत्याद्यन्योगुणव्रजः । स्वेच्छयास्वगुणं त्यक्त्वाजायतै-कविहारिणः ॥ ६० ॥ कंटकप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पभूरिभिः । म्लेच्छाद्यैर्दुर्जनैर्दुष्टैर्विसूचिकाविषादिकैः ॥ ६१ ॥ अन्यैरुपद्रवैर्घोरैरेकाकीविहरन् भुविः । प्राप्नोत्यात्मविपत्तिं च दृगादिसद्गुणैःसमा ॥ ६२ ॥ कश्चिद्गौरवकोमन्दो-

भावना में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो जितेन्द्रिय हैं चिरकाल के दीक्षित हैं बुद्धिमान् हैं समस्त परीषहों को जीतने वाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित है ऐसे मुनियों को शास्त्रों में एकविहारी (अकेले विहार करने वाले) होने की आज्ञा है। जो इन गुणों से रहित है उनको भगवान जिनेन्द्रदेव ने एकविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है ॥५४–५६॥ जो मुनि भिक्षा के समय में वा मल मूत्रादिक के समय में गमन आगमन करते हैं असमय में सोते हैं वा निंदनीय आसन लगा कर बैठते हैं, जो विकथायें कहते हैं और अपनी इच्छानुसार बहुत बोलते हैं ऐसे मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये फिर भला मुनियों की तो बात ही क्या है ॥५७–५८॥ अकेले विहार करने से गुरु का तिरस्कार वा उनकी निंदा होती है, श्रुतज्ञान का विच्छेद होता है, मूर्खता वा अज्ञानता बढ़ती है, जिनशासन मलिन होता है, विह्वलता तथा कुशीलता बढ़ती है, पार्श्वस्थ आदि मुनियों में रहने वाले अवगुण आजाते हैं और अनाचार बढ़ जाते हैं। इस प्रकार अकेले विहार करनेसे गुण सब चले जाते हैं और अवगुणों का समूह सब आ जाता है ॥५९–६०॥ इसके सिवाय अकेले विहार करने से आप-त्तियाँ भी बहुत आती हैं काँटे, शत्रु कुत्ते पशु सर्प, विच्छू, म्लेच्छ आदि दुर्जन दुष्ट आदि अनेक जीवों के द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगों के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी अनेक घोर उपद्रवों के द्वारा अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं। तथा सम्यग्दर्शनादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं ॥६१–६२॥ जो मुनि गौरव सहित है अर्थात् किसी ऋद्धि आदि का

गुद्धिक कुटिलाशयः । दृक्च्युतोविषयासक्तोमायावीशिथिलोधमः ॥ ६३ ॥ आलस्यप्रमितोलुब्धोनिर्धर्मः पापधीः शठः । स्वेच्छाचारणशीलोत्र संवेगादिगुणातिगः ॥ ६४ ॥ कुशील. कुत्सिताचारोजिनाज्ञादूरगोनिजे । संवसन्नपि गच्छे नेच्छति - संघाटकंपरम् ॥ ६५ ॥ जिनाज्ञोल्लंघनंचैकमनवस्थास्वशासने । मिथ्यात्वाराधनंस्वात्मनाश सार्द्ध-दृगादिभिः ॥ ६६ ॥ समस्तसंयमस्यात्रविराधनाग्रमूनि भोः । निकाचितानिपंचस्युःस्थानान्येकविहारिणः । न तत्र कल्पते वासः सतां गुरुकुले भुवि । यत्रैतेगुणवृध्यै न पचाधाराभवन्त्यहो ॥ ६८ ॥ महान्सूरिरुपाध्यायः प्रवर्तको गुणाकरः । स्थविरश्चगणाधीशः पंचाधारापराइमे ॥ ६९ ॥ पंचाचाररत.शिष्यानुग्रहे कुशलोमहान् । दीक्षाशि-

जिसको अभिमान है जो मंदबुद्धि है लोभी है, हृदय का कुटिल है, सम्यग्दर्शन से रहित है, विषयासक्त है, मायाचारी है, शिथिल है, नीच है, आलसी है, लंपटी है, धर्महीन है, पापी है, मूर्ख है, जो इच्छा-नुसार अपने आचरण करता है, संवेग आदि गुणों से रहित है, कुशील है कुत्सित आचरणों को पालन करने वाला है, और भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से दूर रहता है, ऐसा कोई मुनि अपने गच्छमें[१] रह जाय वा निवास करता हो तो वह अन्य किसी की भी सहायता नहीं चाहता। क्योंकि वह स्वयं शिथिल है ॥६३–६५॥ अकेले विहार करने वाले मुनि के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। एक तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, दूसरे जिन शासन में अव्यवस्था हो जाती है- अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं, तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ साथ अपने आत्मा का ज्ञान चारित्र आदि सब गुणों का नाश हो जाता है और पाँचवें समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार एक विहारी के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं ॥६६–६७॥ जिस गुरुकुल में गुणों की वृद्धि के लिये महान् आचार्य उपाध्याय, गुणों के समुद्र प्रवर्तक स्थविर और गणाधीश ये पाँच उत्कृष्ट आधार न हों उस गुरुकुल सज्जन मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥६८–६९॥ जो पंचाचार पालन करने में तत्पर हों,

१ —तीन मुनियों का गण और सात मुनियों का गच्छ कहलाता है।

त्तादिसंस्कारैराचार्य. स्याद्गुणार्णव' ॥ ७० ॥ धर्मोपदेशकोधीमान् धीमतांपाठनोद्यत. । अंगपूर्वप्रकीर्णानांयोत्रतं-विद्धिपाठकम् ॥ ७१ ॥ चतु श्रमणसघानांचर्यादिमार्गदेशने । प्रवृत्याद्यु पकारान् य करोति स प्रवर्तक' ॥ ७२ ॥ वालवृध्यादिशिष्याणांसन्मार्गस्योपदेशक' । यः सर्वज्ञाज्ञयायुक्त्यास्थविर सोन्यमानितः ॥ ७३ ॥ गणस्य सर्वसंघस्य पालक' परिरक्षकः । यो नानोपायशिक्षाद्यैर्ज्ञेयोगणधरोत्रस' ॥ ७४ ॥ अमीपां निकटेनूनवसतांगुणराशयः । वर्द्धन्तेसाहचर्येणयथाब्धौवायुनोर्मय. ॥ ७५ ॥ स्वेच्छावामविहारादिकृतामेकाकिनांभुवि । हीयन्तेसद्गुणानित्यं वर्द्धन्ते दोपकोटयः ॥७६॥ अयाहोपंचमेकालेमिथ्यादृग्दुष्टपूरिते । हीनसहननाना च मुनीनां चंचलात्मनाम् ॥७७॥ द्वित्रितुर्यादिसंख्येनसमुदायेन क्षेमकृत् । प्रोक्तोवासोविहारश्चव्युत्सर्गकरणादिक. ॥ ७८ ॥ सर्वोयतिशुभाचारो

जो शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों जो दीक्षा शिक्षा आदि संस्कारों से सर्वोत्कृष्ट हों और जो गुणों के समुद्र हों उनको आचार्य कहते हैं ॥७०॥ जो सदा धर्म का उपदेश देते हों अत्यंत बुद्धिमान हों और बुद्धिमान शिष्यों के लिये जो अंग पूर्व वा प्रकीर्णक शास्त्रों के पढ़ाने मे सदा तत्पर रहते हो उनको पाठक वा उपाध्याय कहते हैं ॥७१॥ जो श्रेष्ठ मुनि चारों प्रकार के मुनियों को चर्या आदि के मार्ग को दिखलाने में वा प्रवृत्ति कराने में उपकार करते हों उनको प्रवर्तक साधु कहते हैं ॥७२॥ जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यों को श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देते हैं तथा जिन्हे सब मानते हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥७३॥ जो शिक्षा आदि अनेक उपायों से समस्त संघ की रक्षा करते हो सबका पालन करते हों उनको गणधर कहते हैं ॥७४॥ जिस प्रकार वायु से समुद्र की लहरें बढती हैं उसी प्रकार इन आचार्य आदि के समीप निवास करने से उनके सहवास से अनेक गुणों के समूह बढ़ते हैं ॥७५॥ जो मुनि अकेलें ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहॉ निवास करते हैं चाहे जहॉ विहार करते हों उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोप प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं ॥७६॥ यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टी और दुष्टों से ही भरा हुआ है। तथा इस काल में जो मुनि होते हैं वे हीन संहनन को धारण करने वाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचम काल में दो तीन चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना समुदाय से ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहा है ॥७७-७८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव

यत्याचारो जिनेश्वरैः । आचारगुणचिद्वृध्यै नान्यथाकार्यकोटिभिः ॥ ७९ ॥ यतोत्रविषमेकालेशरीरेचान्नकीटके । निसर्गचंचले चित्तेसत्वहीनेखिले जने ॥ ८० ॥ जायतैकाकिनां नैवनिर्विघ्नेनव्रतादिकः । स्वप्नेपि न मनः शुद्धिः निष्कलंकनदीक्षणाम् ॥ ८१ ॥ विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः संघाटकेन संयतैः । विहारस्थितियोगाद्यास्तभिर्विघ्नाय-शुद्धये ॥ ८२ ॥ इमां तीर्थंकृतामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमार्गगाः । स्वेच्छावासविहारादीन्कुर्वतेदृष्टिदूरगाः ॥ ८३ ॥ तेषामिहैव नूनंस्याद्दृग्ज्ञानचरणक्षयः । कलंकता च दुस्त्याज्या अपमानः पदेपदे ॥ ८४ ॥ परलोकेसर्वज्ञाज्ञोल्लंघना-यतिपापत. । श्वभ्रादिदुर्गतौघोरं भ्रमणं च चिरमहत् ॥ ८५ ॥ इत्यपायं विदित्वात्रामुत्रचैकविहारिणाम् ।

ने यत्याचार ग्रन्थों में यतियों के समस्त शुभ आचार आचार गुण और आत्मा की शुद्धता की । शुद्धि के लिये कहे हैं इसलिये करोड़ों कार्यों के होने पर भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥७९॥ क्योंकि यह पंचम काल विषय काल है, इसमें मनुष्यों के शरीर अन्न के कीड़े होते हैं, तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सब ही मनुष्य शक्ति हीन होते हैं । अतएव एकाकी विहार करने वालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न नहीं पल सकते । तथा उनके मन की शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है । इन सब बातों को समझ कर मुनियों को अपने विहार निवास वा योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिए संघ के साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये, अकेले नहीं ॥८०–८२॥ जो कुमार्गगामी इस तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार विहार वा निवास आदि करते हैं उनको सम्यग्दर्शन से ही रहित समझना चाहिये । ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं, इसी लोक में वे कलंकित हो जाते हैं संघ के बाहर करने योग्य हो जाते हैं और पद पद पर उनका अपमान होता है । भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करने रूप महापाप से वे लोग परलोक में भी नरकादिक दुर्गतियां में चिरकाल तक महा घोर परिभ्रमण किया करते हैं ॥८३–८५॥ इस प्रकार अकेले विहार करने वाले मुनियों का इस लोक में नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है यही समझ कर अपने मन में भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को ही प्रमाण मानना चाहिये और उसको प्रमाण मान कर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥८६॥

अनुल्लंघ्यांजिनेन्द्राज्ञांप्रमाणीकृतमानसे ॥ ८६ ॥ स्थितिस्थानविहारादीन्समुदायेनसंयताः । कुर्वन्तुस्वगुणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ॥८७॥ गच्छतातेनयल्लब्धकिंचिद्विद्यार्थिनायदि । सचिनाचित्तमिश्र च द्रव्यं सत्पुस्तकादिकम् ॥८८॥ अन्तरालेत्र तस्यार्हे. एषसूरिर्नचापरः । एवं गुणविशिष्ट.स्यात्सोपि विश्वहितकरः ॥ ८६ ॥ संग्रहानुग्रहाभ्यां च कुशलोधर्मप्रभावकः । सतांविख्यातकीर्तिर्जिनसूत्रार्थविशारद. ॥ ६० ॥ सत्क्रियाचरणाधारः षट्त्रिंशद्गुणभूषितः गम्भीरोऽब्धिरिवात्तोभ्यःक्षमयाक्ष्मासमोमहान् ॥ ६१ ॥ सौम्येन चन्द्रसादृश्य.स्वच्छाम्बुवत्प्रशान्तवान् । पंचाक्षारि जयेशूरोमिथ्यात्वशत्रु घातकः ॥ ६२ ॥ इत्याद्यन्यगुणाधारोयोत्राचार्योजगद्धित. । अजय्यःप्राप्तवान्शिष्यः स विद्याप्त्यैक्रमेणतम् ॥ ६३ ॥ आगच्छन्तनिजास्थानंप्राघूर्णक सुसयतम् । तं वीक्ष्यसहसासर्वेसमुत्तिष्ठन्तिसंयताः ॥६४॥

मुनियो को अपने गुणों की वृद्धि करने के लिये तथा विघ्नों को शांत करने के लिये अपना निवास वा विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिये अकेले न रहना चाहिये न विहार करना चाहिये ॥८७॥ मार्ग में चलते हुए उस विद्यार्थी मुनि को पुस्तक आदि अचित्त वा विद्यार्थी आदि सचित्त अथवा मिले हुये पदार्थ मिले तो उसको ग्रहण करने के अधिकारी आचार्य ही होते हैं। तथा वे आचार्य भी ऐसे होने चाहिये जो समस्त जीवों का हित करने वाले हों, संग्रह (दीक्षा देकर अपना बनाना वा संघ बढ़ाना) और अनुग्रह (संस्कारों से दीक्षितों के गुण बढ़ाना) करने में कुशल हों धर्म की प्रभावना करने वाले हों, सज्जनों में जिनकी कीर्ति प्रसद्धि हो, जो जिनसूत्रों के अर्थ कहने में निपुण हों, श्रेष्ठ क्रिया और आचरणों के आधार हों, छत्तीस गुणों से विभूषित हों, समुद्र के समान गम्भीर हों परन्तु जो कभी भी क्षुब्ध न होते हों, क्षमा गुण के कारण जो पृथ्वी के समान सर्वोत्कृष्ट हों, सौम्यता गुण से जो चन्द्रमा के समान हों, निर्मल जल के समान अत्यन्त शांत वा शीतल हों, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने में जो अत्यन्त शूर वीर हों, मिथ्यात्व रूपी शत्रुओं को घात करने वाले हों, तथा और भी अनेक गुणों के आधार हों, तीनों लोकों का हित करने वाले हों और जो किसी से भी नहीं जीते जा सकते हों उनको आचार्य कहते हैं। वह शिष्य अपनी विद्या की प्राप्ति के लिये अनुक्रम से चलता हुआ ऐसे आचार्य के समीप पहुँचता है ॥८८—६३॥ उस शिष्य के वहाँ पहुँचने पर उस संघ के सब मुनि अपने स्थान में आए हुए उन अभ्यागत मुनि को देख कर अपना वात्सल्य दिख—

वात्सल्यहेतवेदत्ताजिनाज्ञापालनाय च। परस्परंप्रणामाय आत्मीयकरणाय वा ॥९५॥ ततः सप्तपदान्गत्वा भक्त्या तत्सन्मुखं च ते। प्रकुर्वन्तियथायोग्यं वंदनांप्रतिवंदनाम् ॥९६॥ यस्यागतस्य यत्कृत्यंकृत्वांघ्रिमर्दनादितत्। रत्नत्रयपरिप्रश्नंप्रीत्यैकुर्युस्तपोधनाः ॥९७॥ आयातस्त्रिरात्रमत्परीक्षाकरणाय च। संघाटकः प्रदातव्योनियमात्तेन सूरिणा ॥९८॥ आगन्तुकाश्च वास्तव्याः परीक्षन्ते परस्परम्। अवबोधायवृत्तानांयत्नेनाचरणाय च ॥९९॥ आवश्यकतनूत्सर्गस्वाध्यायकरणादिषु। भिक्षाकाले मलोत्सर्गेसमित्यादिप्रपालने ॥१००॥ विश्रान्तस्तद्दिनं स्थित्वा परीक्ष्याचार्यमुत्तमम्। स्वास्यागमनकार्यं स विनयेन निवेदयेत् ॥१॥ ततस्तस्यकुलनामगुरुदीक्षादिनानि च।

लाने के लिये, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने के लिए उनके साथ परस्पर नमस्कार करने के लिए और उनको अपना बनाने के लिये एक साथ उठ कर खड़े हो जाते हैं ॥९४–९५॥ तदनंतर वे सब मुनि भक्ति पूर्वक सात पेंड तक उनके सन्मुख जाते हैं तथा अपनी अपनी योग्यता के अनुसार वंदना अथवा प्रतिवंदना करते हैं ॥९६॥ फिर संघ के वे सब मुनि उन आये हुए मुनि के पादमर्दन (पैर दाबना) आदि करने योग्य कार्य करते हैं और फिर अपना प्रेम दिखलाने के लिए रत्नत्रय की विशुद्धि पूछते हैं ॥९७॥ तदनंतर उस संघ के आचार्य आये हुये, उन मुनि की परीक्षा करने के लिए तीन रात तक नियम से उनकी सहायता करते हैं। रहने, चर्या करने साथ रहने आदि में सहायता करते हैं ॥९८॥ उन आये हुए मुनियों को अपने यहाँ निवास कराना चाहिये और उनके चारित्र का ज्ञान तथा परस्पर का ज्ञान करने के लिये प्रयत्नपूर्वक आचरण कराने के लिये आवश्यक करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, स्वाध्याय करते समय, भिक्षा करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय और समितियों के पालन करते समय उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥९९–१००॥ वे आये हुए मुनि उस दिन ठहर कर विश्राम लेते हैं अथवा दो तीन दिन तक विश्राम करते हैं और फिर उत्तम आचार्य की परीक्षा कर बड़ी विनय के साथ उनसे अपने आने का प्रयोजन निवेदन करते हैं ॥१०१॥ तदनंतर वे आचार्य आदर के साथ उनसे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है तुम किस गुरु के शिष्य हो, दीक्षा

श्रुतागमनकष्टाटीन्गणीपृच्छतिचादरात् ॥ २ ॥ इतिप्रश्नपरीक्षाद्यैर्यद्यसौशुद्धमानसः । विनीतउद्यमीधीमान् व्रतशीलापरिच्युतः ॥ ३ ॥ तदास्यसूरिणा तेन निजशक्त्यासमीहितम् । श्रुतादिपाठनंसर्वंविधेयंविधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥ यद्यशुद्धो व्रताचारैरागन्तुकस्ततोस्य च । दातव्यंगणिना छेदोपस्थापनादिक तपः ॥ ५ ॥ यदीच्छति न शिष्योसौ तत्प्रायश्चित्तमंजसा । वर्जनीयस्ततस्तेनस्वसघाच्छिथिलोद्रतम् ॥ ६ ॥ व्यामोहेनाथवाचार्योऽशुद्धं गृह्णातितादृशम् । ततः सोपि गणी नूनंछेदार्हःस्यान्नचान्यथा ॥ ७ । एवमुक्तक्रमेणैपप्राघूर्णकउपस्थितः । गृहीतोविधिनानेनकुर्यादिवं ततश्चिदे ॥ ८ ॥ सम्यग्द्रव्यधरांगाद्यान् प्रतिलेख्यप्रयत्नतः । क्षेत्रकालविशुद्धि च भावशुद्धिंश्रुताम्विकाम् ॥ ६ ॥

किससे ली है, दीक्षा लिये कितने दिन हो गये तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और किस दिशा से कहाँ से आये हो। ये सब बातें आचार्य उनसे पूछते हैं ॥२॥ इस प्रकार के प्रश्नों से तथा परीक्षा आदि से यदि वे मुनि शुद्ध हृदय वाले सिद्ध हो जाते हैं तथा वे मुनि विनयवान् उद्यमी बुद्धिमान् हैं व्रतशील से परिपूर्ण हैं तो वे आचार्य उनसे कह देते हैं कि तुम जो अपनी इच्छानुसार श्रुतादिका पठन पाठन करना चाहते तो वह अपनी शक्ति के अनुसार विधि पूर्वक करो ॥३–४॥ यदि उस परीक्षा में आचार्य यह समझते हैं कि इनके व्रत आचरण आदि शुद्ध नहीं है तो वे आचार्य उनको व्रतों की शुद्धि के लिये छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण करने के लिये कहते हैं ॥५॥ यदि वे आए हुये शिष्य मुनि उन आचार्यों के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो वे आचार्य ऐसे शिथिलाचारियों को शीघ्र ही छोड़ देते हैं अपने संघ में नहीं रखते ॥६॥ यदि वे आचार्य किसी मोह वा अज्ञानता के कारण उस अशुद्ध आचरण वाले शिथिलाचारी को अपने संघ में रख लेते हैं तो फिर वे आचार्य भी छेद नाम के प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं। फिर विना छेद प्रायश्चित्त के वे आचार्य भी शुद्ध नहीं हो सकते ॥७॥ यदि आचार्य ने विधि पूर्वक उन आए हुए मुनियों को ग्रहण कर लिया हो तो फिर उन आये हुये शिष्यों को अपनी आत्मशुद्धि के लिये नीचे लिखे अनुसार कार्य करने चाहिये ॥८॥ सबसे पहले उपकरण आदि द्रव्यों को पृथ्वी को अपने शरीर आदि को प्रतिलेखन करना चाहिये, फिर क्षेत्र शुद्धि काल

विधायसूरिमानम्योपचारविनयादिभिः । शिष्येणात्रत्रिशुध्यासदाध्येतव्यंजिनागमम् ॥ १० ॥ सुसूत्रार्थात्मसंस्कारशि-चालोभादिभिर्न सः । कुर्यात्परिभवंशास्त्राणांद्रव्यादिव्यतिक्रमैः ॥ ११ ॥ यतःपरिभवान्नूनंज्ञानस्याचार्यशिष्ययोः । अप्रीतिबुद्धिनाशश्च ज्ञानावरणकर्म च ॥ १२ ॥ असमाधिजिनेन्द्राज्ञोल्लंघनंदग्विनाशनम् । कलहः श्रुतहानिश्च-रुग्वियोगादिकं भवेत् ॥ १३ ॥ विज्ञायेत्याखिलैर्दक्षैः कालादिशुद्धमंजसा । कृत्वाजिनागमनित्यमध्येतव्यंविशुद्धये ॥१४॥ संस्तरावासकादीनामुभयोः कालयोः सदा । प्रकाशे वसता तत्र कर्तव्यंप्रतिलेखनम् ॥ १५ ॥ ग्रामादिगमनेभिक्षा-

---

शुद्धि और भावशुद्धि धारण कर आचार्य और जिनवाणी माता को नमस्कार करना चाहिये। और उस शिष्य को उपचारादिक विनय के साथ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक जिनागम का सदा अभ्यास करते रहना चाहिये ॥६–१०॥ उस शिष्य को सूत्र और अर्थ के ज्ञान के लोभ से द्रव्य क्षेत्र आदि के अविनय से शास्त्रों का अविनय वा तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये ॥११॥ क्योंकि ज्ञान का अविनय करने से आचार्य और शिष्यों में प्रेम नहीं रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है ज्ञाना-वरण कर्म का आस्रव होता है, समाधि का नाश होता है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है, परस्पर गुरु शिष्यों में कलह हो जाती है, श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है अनेक रोगादिक हो जाते हैं और इष्ट वियोग हो जाता है ॥१२–१३॥ यही समझ कर समस्त चतुर पुरुषों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए काल शुद्धि आदि को धारण कर प्रतिदिन जिनागम का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥१४॥ वहाँ पर रहते हुए उस शिष्य को प्रातःकाल और संध्याकाल दोनों समय अपने संस्तर और रहने के अवकाश को प्रकाश में ही प्रतिलेखन कर लेना चाहिये। पीछी से शोध लेना और नेत्रों से देख लेना चाहिये ॥१५॥ किसी गाँव को जाते समय भिक्षार्थ चर्या के लिए जाते समय वा और भी समस्त शुभ कार्यों के करते समय उस आये हुए शिष्य को पहले के समान आचार्य से वा अन्य साधुओं से पूछना चाहिये। जिस प्रकार अपने गण में रह

दानेकार्येशुभेखिले । उत्तरादिसुयोगेचापृच्छाकार्यात्रपूर्ववत् ॥ १६ ॥ वसतान्यगणेतेनात्र चर्यादि तपोभृताम् । वैयावृत्यंयथायोग्यं कर्तव्यं दशधादरात् ॥ १७ ॥ अहोरात्रभवा. पंचचतुर्मासाब्दगोचराः । सर्वाक्रियाविधातव्यास्तेन तैर्योगिभिःसमम् ॥१८॥ यस्मिन् गच्छेतिचारोत्र जातोवाक्कायमानसैः । मिथ्याकारादिभस्तत्रकार्यंतस्यविशोधनम् ॥१६॥ आर्यिकाद्यखिलस्त्रीणांकालेचागमने क्वचित् । स्थातव्यं विजने नैव मुनिनैकाकिना भुवि ॥ २० ॥ ताभिरार्यास्त्रियो- षिद्भि सहालापोतिदोषकृत् । अकार्येण न कर्तव्योमुनिभिर्निर्मलाशयैः ॥ २१ ॥ एकाकिन्यार्यिकायाश्च कृतं प्रश्नं सुसूत्रजम् । मुनिनैकाकिना जातु कथनीयं न शुद्धये ॥ २२ ॥ गणिनीमग्रतः कृत्वा यदि प्रश्नं करोतिसा । तदास्याः कथयेन्नूनं तदर्थंसंयमीस्फुटम् ॥ २३ ॥ तरुणोयदिसद्योगीतरुण्यार्यिकयासमम् । कथालापादिकं कुर्यात्तस्येदं

कर आचार्य आदि से पूछ कर कार्य करता था उसी प्रकार परगण में रहते हुए भी आचार्य आदि से पूछ कर ही सब काम करना चाहिये ॥१६॥ दूसरे के गण में रहते हुए भी उस शिष्य मुनि को आचार्य तपस्वी आदि दश प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य यथायोग्य रीति से आदर के साथ करते रहना चाहिये ॥१७॥ उस समय आए हुए शिष्य को उस संघ के मुनियों के साथ ही दैवसिक रात्रिक पाक्षिक चातुर्मासिक वा वार्षिक प्रतिक्रमण आलोचना आदि समस्त क्रियाएं करनी चाहिये ॥१८॥ जिस गण वा गच्छ में अतिचार लगा हो उसको मन वचन काय से होने वाले मिथ्याकारादिक के द्वारा उसी गण वा गच्छ में शुद्ध करना चाहिये ॥१६॥ अर्जिका आदि समस्त स्त्रियाँ यदि आने के समय भी आवें तो भी निर्जन स्थान में अकेले मुनि को कभी नहीं ठहरना चाहिये ॥२०॥ उन अर्जिका आदि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है। अतएव निर्मल हृदय को धारण करने वाले मुनियों को बिना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये ॥२१॥ यदि कोई अकेली अर्जिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिए कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिये ॥२२॥ यदि वह अर्जिका अपनी गणिनी को (गुराणी को) आगे कर कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्र का अर्थ समझा देना चाहिये वा प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये ॥२३॥ यदि कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी

दोषपंचकः ॥२४॥ आज्ञाभंगोजिनेन्द्रस्यानवस्थाजिनशासने । मिथ्यात्वाराधनासार्द्धमात्मनाशोगुणव्रतैः ॥ २५ ॥ समस्तसंयमस्यैवविराधनानिकाचिताः । इमे पंच महादोषाः कृतास्तेनवृथात्मनः ॥ २६ ॥ मुनीनामार्यकास्थानेस्थातु जातुनयुज्यते । स्वाध्यायश्चतनूत्सर्गोगृहीतु शयनासनम् ॥ २७ ॥ विधातु नोचितंकतु प्रतिक्रमणसत्क्रिया । अन्यद्वा श्रुतपाठादिरोगक्लेशादिकारणैः ॥ २८ ॥ एताः सर्वाः क्रिया चान्ये पादप्रक्षालनादयः । जातुकर्तु न युज्यन्तेत्रा-र्यिणांसंयताश्रमे ॥ २९ ॥ यतःस्थविरमात्मानचिरप्रवृजितंगुरुम् । वहुश्रुतागमज्ञंचाचार्यंपूज्यंतपस्विनम् ॥ ३० ॥

अर्जिका के साथ कथा वा बातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पाँचों दोष लगते हैं ॥२४॥ पहले तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग होता है। दूसरे जिनशासन में अव्यवस्था हो जाती है सब लोग ऐसा ही करने लग जाते हैं। तीसरे मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है। चौथे गुण और व्रतों के साथ साथ उसके आत्मा का नाश हो जाता है और पाँचवें उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार महापापों के स्थान ऐसे पाँचों दोष उस मुनि को व्यर्थ ही लग जाते हैं ॥२५–२६॥ मुनियों को अर्जिकाओं के स्थान में कभी नहीं ठहरना चाहिये, न वहाँ स्वाध्याय करना चाहिये न कायो-त्सर्ग करना चाहिये न शयन वा आसन ग्रहण करना चाहिये, प्रतिक्रमण आदि श्रेष्ठ क्रियाएं भी वहाँ नहीं करनी चाहिये अथवा शास्त्रों का पठन पाठन भी वहाँ पर नहीं करना चाहिये। किसी रोग वा क्लेश हो जाने के कारण भी ये सब क्रियायें अर्जिकाओं के आश्रम में मुनियों को नहीं करनी चाहिये। तथा इनके सिवाय पादप्रक्षालन आदि क्रियाएं भी मुनियों को अर्जिकाओं के आश्रममें नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार अर्जिकाओं को भी मुनियों के आश्रम में ये सब क्रियाएं नहीं करनी चाहिये ॥२७-२८॥ इसका भी कारण यह है कि जिसका हृदय काम के विकार के दुःख से मलिन हो रहा है ऐसा मुनि न तो किसी वृद्ध मुनि को समझता है, न अपने आत्मा को समझता है, न चिरकाल के दीक्षित मुनि को गिनता है न गुरु को गिनता है, महा श्रुतज्ञान और आगम को जानने वाले उपाध्याय को गिनता है, न आचार्य को गिनता है न किसी पूज्य को समझता है न घोर तपस्वी को गिनता है, न महा गुण और

महागुणपदारूढंवंद्य न गणयेदुयमी । कामार्तःमलिन. शीघ्रं कुलं चापि विनाशयेत् ॥ ३१ ॥ कन्यकां विधवां वृद्धांस्वैरिणींयौवनात्मिकाम् । राज्ञीं विलासिनींदासींलिंगिनीं वा तपस्विनीम् ॥ ३२ ॥ वार्तादिजल्पनैरेपोलीयमानो चिरादपि । अपवादमवाप्नोतिसंयमी विश्वनिन्दितम् ॥ ३३॥ दृढधर्मोतिसविग्नोऽवद्यभीरुमहातपाः । धीरःस्थिरमनाः शुद्धोविक्रियाकौतुकातिगः ॥ ३४ ॥ संग्रहानुग्रहादौ च कुशल. सघयोगिनाम् । गम्भीरोमितवादी च ज्येष्ठो दीक्षा-श्रुतादिभिः ॥ ३५ ॥ इत्याद्यन्यगुणैःपूर्णोयोजय्यःसूरिरुत्तमः । सः स्याद्गणधरोत्रार्याणांप्रतिक्रमणादिषु ॥ ३६ ॥ एवंसूरिगुणैःसारैर्व्यतिरिक्त. करोतियः । मुधागणधरत्वसंयतीनांसत्क्रियादिषु ॥ ३७ ॥ गणपोषणमेवात्मसंस्कारका-

महा पदों पर आरूढ़ हुए महा मुनियों को गिनता है और न किसी वंदनीय मुनि को गिनता है। वह काम सेवन की इच्छा करने वाला मुनि शीघ्र ही अपने कुल तक को नाश कर देता है। भावार्थ—वह मुनि सबका तिरस्कार करता है और अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ॥३०–३१॥ जो संयमी किसी कन्या, विधवा, वृद्धा, इच्छानुसार घूमने वाली, यौवनवती, रानी, वैश्या, दासी, तपस्विनी, स्वमत वा अन्य मत की दीक्षिता आदि किसी भी प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत कर उनके साथ संलग्न होता है वह मुनि बहुत ही शीघ्र संसारभर में अत्यन्त निंदनीय अपवाद को प्राप्त होता है अर्थात् तीनों लोकों में उसकी निंदा फैल जाती है ॥३२–३३॥ अतएव जो अपने धर्म में दृढ हैं, जो धर्म और धर्म के फल में हर्ष मनाने वाले हैं, जो पापों से भयभीत हैं, महातपस्वी हैं, धीर वीर हैं, जिनका मन अत्यंत स्थिर है जो अत्यंत शुद्ध हैं, जो विकार और कौतुक से सर्वथा दूर रहते हैं जो संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं गम्भीर हैं आवश्यकता के अनुसार उतना ही भाषण करते हैं, जो दीक्षा और श्रुतज्ञान से सबसे बड़े हैं जो अजेय हैं तथा जो ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनको गणधर कहते हैं। समस्त संघ के मुनि और अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कार्यों को ऐसे गणधर ही कराते हैं ॥३४–३६॥ इस प्रकार उत्तम आचार्यों के सारभूत गुणों से रहित जो आचार्य अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में गणधर बन कर बैठता है वह आचार्य

लऊर्जितः । सल्लेखनातथैवोत्तमार्थकालइमेपराः ॥ ३८ ॥ चत्वारःउत्तमाःकालाःपरमार्थविधायिनः । विराधिता निजास्तेनगुणरिक्तेनसूरिणा ॥ ३६ ॥ बहुनोक्तेन किं साध्यंयेच्छाचार्यस्यसाखिला । कर्तव्या वमतातत्रतेन पुण्याकरोचिता ॥ ४० ॥ सुश्रूषावंदनाभक्त्यनुकूलाचरणादिभिः । एषएवविधिः कार्यस्तच्छिष्यापरयोगिभिः ॥ ४१ ॥ अयमेवसमाचारो यथाख्यातस्तपस्विनाम् । तथैवसंयतीनां च यथायोग्यंविचक्षणैः ॥ ४२ ॥ अहोरात्रेखिलो मुक्त्यै-विज्ञयोहितकारकः । वृक्षमूलादिसयोगरहितोजिनभाषितः ॥ ४३ ॥ परस्परानुकूला सदान्योन्यरक्षणोद्यताः । लज्जामर्यादसंयुक्तामायारागादिदूरगाः ॥ ४४ ॥ आचारादिसुशास्त्राणां पठनेपरिवर्तने । तदर्थकथनेविश्वानुप्रेक्षा गुणचिन्तने ॥४५॥ सारार्थश्रवणेशुद्धध्यानेसंयमपालने । तपोविनयसद्योगेमदाकृतमहोद्यमाः ॥४६॥ मलजल्लविलसांगा

गणपोषण काल, उत्तम आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल, और उत्तमार्थ काल इन परमार्थ को सिद्ध करने वाले चारों उत्तम कालों की विराधना करता है। गुणरहित आचार्य इन सबका नाश कर देता है ॥३७–३९॥ बहुत कहने से क्या लाभ थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि वहाँ रहते हुए उस शिष्य को पुण्य को बढ़ाने वाली और उचित ऐसी आचार्य की जो जो इच्छाएं हैं वे सब करनी चाहिये ॥४०॥ उन बाहर से आए हुए शिष्यों को तथा अन्य योगियों को अपनी अपनी भक्ति के अनुसार आचरणादि कर के आचार्य की सुश्रूषा और वंदना करनी चाहिये ॥४१॥ यह जो समाचार मुनियों के लिए कहा है उसी प्रकार चतुर पुरुषों ने अर्जिकाओं के लिये भी यथायोग्य रीति से यही समाचार बतलाया है ॥४२॥ अर्जिकाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिये हित करने वाला यही समाचार दिन रात करना चाहिये। वृक्ष के नीचे योग धारण करना आदि कठिन योग अर्जिकाओं को नहीं करने चाहिये ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥४३॥ अर्जिकाओं को परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहना चाहिये, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिये, लज्जा और मर्यादा के साथ रहना चाहिये, मायाचारी लोभ राग आदि से अलग रहना चाहिये, आचारादिक शास्त्रों के पढ़ने में, पाठ करने में, उसके अर्थ कहने में, समस्त अनुप्रेक्षाओं के तथा गुणों के चिंतवन करने में उन शास्त्रों के श्रेष्ठ अर्थ सुनने में, शुद्ध ध्यान में, संयम के पालन करने में, तप और विनय के करने मे और योग

वपुसंस्कारवर्जिताः । विक्रियातिगवस्त्रैर्वृताः शान्ताचलासनाः ॥ ४७ ॥ संवेगतत्परादत्ताःधर्मध्यानपरायणा. । कुलकीर्तिजिनेन्द्राज्ञारक्षणोद्यतमानसा ॥ ४८ ॥ दुर्बलीकृतसर्वांगास्तपसासकलार्यिका. । द्वि त्र्यादिगणनायुक्ता निवसन्तिशुभाशयाः ॥ ४९ ॥ असयतजनातीतेगृहस्थपशुवर्जिते । एकान्तस्थेगृहेगूढेमलोत्सर्गार्ह भूयुते ॥ ५० ॥ स्वकार्यमन्तरेणैव जातु गच्छन्ति नार्यिकाः । गृहस्थनिलव वा कुलिंग्यन्तसयताश्रमम् ॥ ५१ ॥ अवश्यंगमनेकार्ये सतिभिक्षादिगोचरे । सिद्धान्तार्थादिपृच्छादौप्रायश्चितादियाचने ॥ ५२ ॥ आपृच्छ्य गणिनीं नत्वा सघाठकेनतद्गृहे ।

धारण करने में सदा महा उद्यम करते रहना चाहिये ॥४४–४६॥ यदि उनके शरीर पर पसीना आ गया हो वा उस पसीना पर धूल जम गई हो वा अन्य किसी अंग का नाक कान आदि का मल लगा हो तो कोई हानि नहीं परन्तु उन अर्जिकाओं को अपने शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये, जिनसे विकार उत्पन्न न हों ऐसे वस्त्रों से अपना शरीर ढकना चाहिये शांत और अचल आसन से बैठना चाहिये, संसार से भयभीत रहनेरूप संवेग में सदा तत्पर रहना चाहिये, चतुरता से रहना चाहिये, धर्मध्यान में लीन रहना चाहिये, अपने मन में कुल, कीर्ति, और भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना चाहिए, उनको इतना तपश्चरण करना चाहिये जिससे उनका शरीर भी दुर्बल हो जाय। उन अर्जिकाओं को दो तीन वा अधिक दश बीस आदि अर्जिकाओं के साथ रहना चाहिये अर्थात् तीन से कम नहीं रहना चाहिये। इस प्रकार अपने हृदय को शुद्ध कर उन अर्जिकाओं को निवास करना चाहिये ॥४७–४६॥ उन अर्जिकाओं को ऐसे एकाँत और गूढ़ वा छिपे हुए घर में रहना चाहिये जो असंयमी लोगों से दूर हो गृहस्थ और पशुओं के स्थान से दूर हो और मलमूत्र के लिये योग्य स्थान की जहाँ व्यवस्था हो ॥५०॥ आर्जिकाओं को विना अपने काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिये न किसी कुलिंगिनी के घर जाना चाहिये और न मुनियों के आश्रम में कभी जाना चाहिये ॥५१॥ भिक्षा लेने के लिये किसी शास्त्र के अर्थ आदि को पूछने के लिये वा प्रायश्चित्त लेने के लिए जाना आवश्यक हो तो अपनी आचार्याणी को पूछ कर उनको नमस्कार कर दो चार अर्जिकाओं के साथ ही जाना चाहिये, सो भी धर्म कार्य के लिये ही जाना चाहिये, अन्य

गन्तव्यमार्यिकाभिश्चधर्मकार्यायनान्यथा ॥ ५३ ॥ या ह्यो निरंकुशा नार्यो भ्रमन्तिस्वेच्छयाभुवि । गृहियत्याश्रमादौ क तासांशीलंशुभाक्रिया ॥ ५४ ॥ यतोयथात्रसिद्धान्नंभोक्तुं सुखेनशक्यते । तथाचास्वामिकांनारींस्वाश्रमेस्वयमागताम् ॥ ५५ ॥ अतो जातु न विश्वेतकचित्काले निजेच्छया । एकाकिन्यार्यिकायाश्चविहारोगमनादिकः ॥५६॥ संयता वा गृहस्थानामार्यिकाणां च मन्दिरम् । कलंकशंकया जातुविनाकार्यं न यान्तिमोः ॥५७॥ यतो रंडासमा ये त्र वानवस्थवृषोपमाः । स्त्रीवृन्दसंकुलंरागाद्दिगेहंगेहमटन्ति च ॥ ५८ ॥ निर्विकारंस्थिरंचितंकस्त्रीशृंगारदर्शनात् । ब्रह्मचर्यं न नश्येत्किंतेषांकुटिलचेतसाम् ॥ ५६ ॥ स्नपनंरोदनंश्रेष्ठाआदिपाकनिवर्तनम् । सत्सूत्रकरणंगीतगानंवादित्र–

किसी काम के लिए कभी नहीं जाना चाहिये ॥५२–५३॥ जो निरंकुश स्त्रियों अपनी इच्छानुसार गृहस्थों के घर वा मुनियों के आश्रम में घूमती फिरती हैं उनका शील और उनकी शुभ क्रियाएं कभी नहीं फल सकतीं ॥५४॥ जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा मकता है उसी प्रकार विना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में वा घर में आजाय तो वह आसानी से भोगी जा सकती है ॥५५॥ इसलिये अकेली अर्जिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिये ॥५६॥ इसी प्रकार संयमी मुनियों को भी कलंक के डर से विना काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिये और न अर्जिकाओं के आश्रम में ही कभी जाना चाहिये ॥५७॥ क्योंकि जो साधु रागपूर्वक स्त्रियां के समूह से भरे हुए घरों में घूमते रहते हैं उन्हें जंगली बैलों के समान समझना चाहिये। इसी प्रकार घर घर घूमने वाली अर्जिकाओं को भी रंडाओं के समान समझना चाहिये ॥५८॥ जो साधु विना काम के घर घर फिरते हैं उनका चित्त स्त्रियों के शृंगार देखने से विकार रहित और स्थिर कभी नहीं रह सकता तथा कुटिल हृदय को धारण करने वाले उन साधुओं का ब्रह्मचर्य भी अवश्य नष्ट हो जाता है ॥५६॥ श्रेष्ठ अर्जिकाओं को दूसरे के घर जाकर स्नान नहीं करना चाहिये, रोना नहीं चाहिये, श्रेष्ठ अन्न पान के बनाने का काम वा पकाने का काम नहीं करना चाहिये, सूत नहीं कातना चाहिये, गीत नहीं गाना चाहिये बाजे नहीं बजाना चाहिये, असि मसि आदि छहों प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिये, किसी के स्नेह वा लोभादिक के कारण भी

वादनम् ॥ ६० ॥ षड्विधारम्भकर्माणि पदप्रक्षालनादिकान् । संयतानां च बालानां स्नेहलोभादिकारणैः ॥ ६१ ॥ दुर्गोष्ठीविकथादीनिहीत्याद्याश्रपराक्रियाः । परगेहं गता जातु न कुर्यु रार्यिकाःशुभाः ॥ ६२ ॥ तिस्र.पचाथवा सप्तस्थविरान्तरिताभुवि । अन्योन्यरक्षणोद्युक्ता शुद्धाहारगवेषिकाः ॥ ६३ ॥ पर्यटन्तिप्रयत्नेनभिक्षार्थैगृहपक्तिषु । वा व्रजन्तिमुनीन्द्राणां वंदनायैव क्षान्तिकाः ॥ ६४ ॥ पंचषट्सप्तहस्तान्तमन्तरालेमहीतलम् । सूरिपाठकसाधूनां भक्तिपूर्वकमर्जिकाः ॥ ६५ ॥ मूर्ध्नागवासनेनैवप्रणामंकुर्वतेन्वहम् । विनयेयोग्यकाले वा श्रुतार्थश्रवणादिके ॥६६॥ एवयुक्तःसमाचारः समासेन तपस्विनाम् । बहुभेदोबुधैर्ज्ञेयोविस्तरेणजिनागमात् ॥ ६७ ॥ विश्वंसर्वगुणाकरंशिवकरं चेममया वर्णितं, ह्याचारं च चरन्तियेत्रनिपुणाः सद्योगिनोचार्यिकाः । तेतादिव्यसुखजगत्त्रयभुवं,भुक्त्वापुन.सयम,

किसी संयमी वा बालक के पादप्रक्षालन (पैर धोना) आदि कार्य नहीं करने चाहिये, शृंगारादिक की कथाएं वा विकथाएं वा और भी ऐसी ही ऐसी हीन क्रियाएं कभी नहीं करनी चाहिये ॥६०–६२॥ वे अर्जिकाएं शुद्ध आहार ढूंढ़ने के लिये जब भिक्षा के लिए जाती हैं तब तीन पाँच या सात वृद्ध अर्जिकाओं के बीच में चलती हैं अर्थात् कुछ अर्जिकाएं आगे पीछे कुछ अंतर से रहती हैं उस समय में भी वे सब एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं। इस प्रकार वे अर्जिकाएं प्रयत्न पूर्वक पंक्तिबद्ध घरों में भिक्षा के लिए जाती हैं। अथवा मुनियों की वंदना के लिए भी वे इसी प्रकार जाती हैं ॥६३–६४॥ वे अर्जिकाएं प्रतिदिन वंदना करने के लिये वा शास्त्रों के अर्थ को सुनने आदि के लिए योग्य समय पर जब मुनियों के पास जाती हैं तब वे आचार्य से पाँच हाथ दूर उपाध्याय से छः हाथ दूर और साधुओं से सात हाथ दूर गवासन से बैठ कर मस्तक झुका कर उनको भक्ति पूर्वक नमस्कार करती हैं ॥६५–६६॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से मुनियों का समाचार बतलाया बुद्धिमानों को इसके विस्तार पूर्वक बहुत से भेद जिनागम से जान लेना चाहिये ॥६७॥ यह समाचार जो मैंने बतलाया है वह सब समस्त गुणों की खानि है और मोक्ष प्राप्त कराने वाला है। जो चतुर और उद्योगी मुनि वा अर्जिकाएं इन समाचारों का पालन करते हैं वे मुनि वा अर्जिकाएं पहले तो तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले दिव्य सुखों का अनुभव करते हैं और फिर संयम धारण कर अनुक्रम से केवल श्रेष्ठ तपश्चरण से

मासाद्यानु च केवलंसुतपसा यान्त्येवमोक्षंक्रमात् ॥ ९८ ॥ असमगुणनिधानं नाकनिर्वाणहेतुं, जिनवरमुखजातं धारितं मर्वशक्त्या । गणधरमुनिवृन्दैर्मुक्तिकामाःप्रयत्नात्, चरतशिवसुखाप्त्यै कृत्स्नमाचारमारम् ॥ ९९ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेसमाचारवर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः ।

ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥१६८॥ ये समस्त समाचार अनुपम गुणों के निधान हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुए हैं, और गणधर देव वा मुनियों के समूह ही अपनी शक्ति के अनुसार इनको धारण करते हैं । इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को या अर्जिकाओं को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक इन समस्त सारभूत समाचारों का पालन करना चाहिये ॥१६९॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रथ में समाचारों को वर्णन करने वाला यह सातवां अधिकार समाप्त हुआ ।



अष्टमोधिकारः ।



त्रैलोक्यतिलकान्सर्वान् जगन्मंगलकारिणः । लोकोत्तमान्शरण्यांश्चार्हतःसिद्धान्नमाम्यहम् ॥ १ ॥ दशधाशुद्धिमापन्नास्त्रिजगच्छुद्धिदायिनः । सूरश्चिपाठकान्साधून्मंगलादिकरान्स्तुवे ॥ २ ॥ श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नांवाग्देवींभुवनाम्बिकाम् । विश्वशुद्धिकरांचित्तेस्थापयाम्यर्थसिद्धये ॥ ३ ॥ इत्यर्हत्सिद्धगुर्वादीन्नत्वामांगल्यहेतवे । अनगारमहर्षीणा

आठवां अधिकार ।

जो अरहंत वा सिद्ध भगवान् तीनों लोकों के तिलक हैं तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं तीनों लोकों में उत्तम हैं और तीनों लोकों में शरण भूत हैं ऐसे समस्त अरहंत और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो आचार्य उपाध्याय साधु दश प्रकार की शुद्धि को प्राप्त हुए हैं तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले है और तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं ऐसे समस्त आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ॥२॥ जो सरस्वती देवी भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई हैं जो तीनों लोकों की माता है, और समस्त भव्य जीवों को शुद्ध करने वाली है ऐसी सरस्वती देवी को मैं अपने अर्थ की सिद्धि के लिये अपने हृदय में स्थापन करता हूँ ॥३॥ इस प्रकार मैं अपनी मंगल कामना के लिए अरहंत सिद्ध और गुरुओं को नमस्कार करता हूं और फिर इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्ती

मिन्द्रनागेन्द्रचक्रिभिः ॥४॥ भव्यैर्वंद्यार्च्यसंसेव्यपादाब्जानांहिताप्तये । वक्ष्याम्यहमनागारभावनाग्रंथमुत्तमम् ॥ ५ ॥ श्रुतेनयेनभव्यौघामहापापकलंकिताः । अग्निनाकनकानीवशुध्यन्तिश्रद्धयाभृशम् ॥६॥ यदाचरणयोगेनहत्वाकर्मकदम्ब-कम् । यान्तिधीराहिनिर्वाणंतस्य कावर्णनापरा ॥ ७ ॥ लिंगसद्व्रतशुद्धीवसतिकाशुद्धिरूर्जिता । विहारशुद्धिसंज्ञा-थभिक्षाज्ञानसमाह्वये ॥ ८ ॥ शुद्धिरुज्झननाम्नी वाक्तपः ध्यानाख्यशुद्धयः । इमा दशविधाः प्रोक्ताः शुद्धयोत्र महात्मनाम् ॥ ९ ॥ विद्युत्स्फुरणसादृश्यं जीवितं धनयौवनम् । स्वजनादिकमन्यद्वा ज्ञात्वाहत्वाजगद्रिपम् ॥ १० ॥ तद्गतंमोहमात्मज्ञैर्धीरैर्यद्धार्यतेमुदा । विशुद्धंजिनलिंगं सा लिंगशुद्धिःसुयोगिनाम् ॥ ११ ॥ प्रस्वेदलग्नसर्वांगमलाः कर्ममलातिगा । तीव्रशीतोष्णतापादिदग्धवृक्षोपमाविदः ॥ १२ ॥ निर्विण्णाः कामभोगादौ वपुःसंस्कारदूरगाः ।

और समस्त भव्य जिनके चरण कमलों की पूजा करते हैं वंदना करते हैं और सेवा करते हैं ऐसे महा ऋषि महा मुनियों का हित करने के लिए मुनियों की भावनाओं को निरूपण करने वाला उत्तम ग्रन्थ (अध्याय) निरूपण करता हूँ ॥४—५॥ जिस प्रकार अग्नि से सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार श्रद्धा पूर्वक इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से महा पाप से कलंकित हुए समस्त भव्य जीव शुद्ध हो जाते हैं ॥६॥ जिन भावनाओं के आचरण करने से धीर वीर मुनि अपने समस्त कर्मों के समूह को नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन भावनाओं की प्रशंसा भला क्या करनी चाहिये ॥७॥ लिंगशुद्धि, श्रेष्ठ व्रतशुद्धि, वसतिकाशुद्धि, उत्तमविहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वचनशुद्धि, तपशुद्धि, और ध्यानशुद्धि । इस प्रकार मुनियों के लिये ये दश शुद्धियाँ कही गई हैं ॥८—९॥ यह धन, जीवन, यौवन, कुटम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है यही समझ कर और इस जगतरूपी शत्रु को मार कर जो आत्मा को जानने वाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जिनलिंग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिंगशुद्धि कहलाती है ॥१०—११॥ जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का वा पसीने में मिली हुई धूलि का मल लगा हुआ है, परन्तु जो कर्म मल से सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं अत्यन्त तीव्र शीत वा उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग

दिगम्बरधरा धीराः कृत्स्नसंगपरान्मुखाः ॥ १३ ॥ जन्ममृत्युजरोद्विग्नाभवाब्धिपातभीरवः । निर्विकारमनोनेत्रमुखाः सत्पिच्छिकांकिताः ॥ १४ ॥ लिंगशुद्धिविधायोच्चैः प्रवर्तन्तेमहर्षयः । निर्ममा निरहंकाराधर्मशुक्लपरायणाः ॥१५॥ अंगपूर्वामृतैःपूर्णस्वान्तं कर्ममलापहम् । जगच्छुद्धिकरं धर्मतीर्थं तीर्थकृतांपरम् ॥ १६ ॥ भावयन्ति त्रिशुध्याते भवाग्निदाहशान्तये । अस्मान्नान्यद्धितं श्रेष्ठं मत्वेतित्रिजगत्यपि ॥ १७ ॥ द्विषड्भेदमहाघोरे तपस्युत्साहकारिणः । पंचाक्षशर्मजेच्छायाः सर्वदानिग्रहोद्यताः ॥ १८ ॥ क्षमादिलक्षणैःसाध्यं दशभिर्धर्ममुत्तमैः । चारित्राचरणैः शुद्धैर्निष्प्रमादाश्चरन्ति च ॥ १९ ॥ इत्याद्यैर्निर्मलैर्वान्यैः शुद्धाचारान् भजन्ति ये । लिंगशुद्धिर्मतातेषांधृतार्हल्लिंग-

से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का संस्कार कभी नहीं करते, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर रक्खी है जो धीर वीर हैं समस्त परिग्रह से रहित हैं, जन्म मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुःखी हैं, जो संसाररूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं, जिनके नेत्र मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता जो श्रेष्ठ पीछी धारण करते हैं, जो महा ऋषि हैं जो लिंगशुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित हैं, अहंकार रहित हैं, जो धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसाररूपी अग्नि के दाह को शांत करने के लिए मन वचन काम की शुद्धता पूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूपी अमृत से भरे हुए, अपने अंतःकरण के कर्ममल को दूर करने वाले तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चिंतवन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़ कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करने वाला नहीं है यही समझ कर जो बारह प्रकार के महा घोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पंचेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमाद रहित होकर शुद्ध चारित्राचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं। ऐसे भगवान अरहंतदेव के लिंग को (निर्ग्रंथ अवस्था को) धारण करने वाले महा मुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पालन करते हैं उनके ही लिंगशुद्धि

योगिनाम् ॥ २० ॥ अष्टप्रवचनाख्याभिर्मातृभिर्यतिमातृभिः । त्रिशुध्या सार्द्धमादायमहाव्रतानि पंच च ॥ २१ ॥ यत्नेन प्रतिपाल्यन्ते यत्ररागातिगैर्बुधैः । अप्रमत्तैः सदामुक्त्यैव्रतशुद्धिः स्मृतात्रसा ॥ २२ ॥ समस्तग्रंथनिर्मुक्ता-स्त्रिरत्नग्रंथभूषिताः त्यक्तदेहप्रतीकाराःसर्वारम्भविवर्जिताः ॥ २३ ॥ मौनव्रतधराःसत्यधर्मसूचनतत्पराः । अदत्तं तृणमात्रं न गृह्णन्ति शीलमंडिताः ॥ २४ ॥ वालाग्रकोटिमात्रं श्रामण्यायोग्यंपरिग्रहम् । स्वप्नेपि जातुनेच्छन्ति सन्तोषिणोदिगम्बराः ॥ २५ ॥ काये वा तत्प्रतीकारे ममतां जातु कुर्वते । न निस्पृहा य यथाजातरूपालंकृत-विग्रहाः ॥ २६ ॥ यत्रारण्येश्मशाने वा रविरस्तं प्रयातिभोः । तत्रैवाप्रतिवद्धास्ते वसन्तिव्रतशुद्धये ॥ २७ ॥

मानी गई है ॥१२–२०॥ रागद्वेष रहित प्रमाद रहित जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक मुनियों की माता के समान अष्ट प्रवचन मातृकाओं के साथ साथ (पाँच समिति और तीन गुप्तियों के साथ साथ) पंच महा व्रतों को धारण करते हैं और फिर प्रयत्न पूर्वक उनका पालन करते हैं उनके ही व्रतशुद्धि आचार्यों ने बतलाई है ॥२१–२२॥ जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित हैं, किंतु रत्नत्रय रूपी परिग्रह से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते, जो समस्त आरम्भों से रहित हैं, सदा मौनव्रत धारण करते हैं, जो सत्यधर्म का उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं जो बिना दिया हुआ तृणमात्र भी कभी ग्रहण नहीं करते और जो शीलों से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नहीं करते, जो अत्यन्त संतोषी हैं दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं जो अपना निस्पृहत्व गुण धारण करने के लिए शरीर में वा शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी भी मोह वा ममता नहीं करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिये जिस वन में वा जिस श्मशान में सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं। इस प्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतों को निर्मल रीति से पालन करते है उनके ही जैन शास्त्रों में

इत्याद्यैर्निर्मलाचारैर्निर्मलानिव्रतानि ये । चरन्ति सर्वथा तेषां व्रतशुद्धिर्मतागमे ॥ २८ ॥ अरण्येनिर्जनेस्थाने शून्यगेहे गुहादिषु । निरवद्ये प्रदेशे वा श्मशानेतिभयंकरे ॥ २९ ॥ वासो यः क्रियतेधीरैर्निःसंगैर्निर्मलाशयैः । एकान्ते ध्यानसिध्यै सा शुद्धिवसतिकाह्वया ॥ ३० ॥ ग्रामेत्रैकमहोरात्रं नगरेदिनपंचकम् । वसन्ति प्रासुकावासाविविक्तैकान्तवासिन ॥ ३१ ॥ अन्वेषयन्तएकान्तं शुक्लध्यानार्पिताशया. । लभन्ते त्रैवगन्धेभाध्यानानन्दसुखंमहत् ॥ ३२ ॥ अहीनमानसाधीराएकाकिनो ह्यविह्वलाः । वपुरादौ न कुर्वन्तोममत्वं वनवासिनः ॥ ३३ ॥ सर्वत्राप्रतिवद्धाश्च भीमाद्रिकन्दरादिषु । तिष्ठन्तिरममाणास्तेश्रीवीरवचनेन्वहम् ॥ ३४ ॥ सिंहव्याघ्रादिचौराद्यैः श्मशानकन्दरादिषु । भीतिदेपुप्रदेशेषु नृणां कापुरुषात्मनाम् ॥ ३५ ॥ सदा वसतिकां वीरमहापुरुषसेविताम् । महापुरुषसिंहाश्च सेवन्ते

व्रतशुद्धि बतलाई है ॥२३–२८॥ जो समस्त परिग्रहों से रहित शुद्ध हृदय को धारण करने वाले धीर वीर मुनि अपने ध्यान की सिद्धि के लिये किसी वन में, निर्जन स्थान में, सूने घर में किसी गुफा में, वा अन्य किसी एकांत स्थान में, वा अत्यंत भयंकर श्मशान में निवास करते हैं उसको वसतिका शुद्धि कहते हैं ॥२९–३०॥ प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकांत स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गाँव में एक दिन रहते हैं और नगर में पाँच दिन रहते हैं। सर्वथा एकांत स्थान को ढूंढ़ने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गंध गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महा सुख प्राप्त करते हैं ॥३१–३२॥ जिन मुनियों का हृदय विशाल है, जो धीर वीर हैं, एकविहारी हैं, अत्यन्त निर्भय हैं, जो वन में ही निवास करते हैं अपने शरीर आदि से कभी ममत्व नहीं करते और जो सर्वत्र विहार करते हैं कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान महावीर स्वामी के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओं में वा कंदराओं में ही निवास करते हैं ॥३३–३४॥ वे महा पुरुषरूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यान की सिद्धि के लिये सिंह बाघ सर्प और चोर आदि के द्वारा कापुरुष वा भयभीत मनुष्यों को अत्यंत भय उत्पन्न करने वाले श्मशान कंदरा आदि प्रदेशों में धीर वीर महा पुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका

ध्यानसिद्धये ॥ ३६ ॥ एकान्तेद्रिगुहादौ ते वसन्तोनिशिभीषणम् । शृण्वन्तः शब्दसंघातमत्यासन्नंभयानकम् ॥३७॥ सिंहव्याघ्रादिदुष्टानां नरसिंहाश्चनिर्भयाः । चलन्ति न मनाग्ध्यानादचलाइवसंस्थिताः ॥ ३८ ॥ अनुद्विग्नाशया दत्ता महोपद्रवकोटिभिः । श्रद्धानाजिनेन्द्राज्ञां वसन्त्यद्रिगुहादिषु ।३६॥ ध्यानाध्ययनसयुक्ताजागरूका अहर्निशम् । अप्रमादाजिताक्षास्ते यान्ति निद्रावशं न च ॥ ४० ॥ पर्यंकेणार्द्ध पर्यंकेणसद्वीरासनेन च । उत्कटेन तथा हस्तिशौंडेन च निषद्यया ॥ ४१ ॥ आसनैर्मकरास्याद्यैः कायोत्सर्गेण चापरैः । रात्रिं नयन्ति ते दुग्रादावेकपार्श्वादिशय्यया ॥४२॥ उपसर्गाग्निसंयाते महापरीषहा कुले । रौद्रसत्त्वभृतेभीमे वनादौसुष्टु दुष्करे ॥ ४३ ॥ वसन्तिमोक्षमार्गस्था वज्रसंहनना अहो । शुद्धिं वसतिकाख्यां चापन्नाः सध्यानसिद्धये ॥ ४४ ॥ इत्याद्यामसमांशुद्धां वसतिं ये श्रयन्तिभोः । तेषां

को ही सदा सेवन करते हैं अर्थात् सदा ऐसी ही वसतिका में ठहरते हैं ॥३५–३६॥ अत्यंत निर्भय और नरसिंह वृत्ति को धारण करने वाले वे महा मुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफा आदि अत्यंत एकांत स्थान में रहते हुए तथा सिंह बाघ आदि अत्यंत दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यंत समीप ही सुनते हुए भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं पर्वत के समान वे निश्चल ही बने रहते हैं ॥३७–३८॥ करोड़ों महा उपद्रव होने पर भी जो अपने मन मे कभी चंचलता धारण नहीं करते ऐसे चतुर मुनिराज भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओ में ही निवास करते हैं ॥३६॥ सदा ध्यान और अध्ययन में लगे रहने वाले तथा रातदिन जगने वाले और प्रमाद रहित जितेन्द्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में कभी नहीं होते ॥४०॥ वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन वा उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूंड़ के समान आसन लगा कर, अथवा मगर के मुखकासा आसन लगा कर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से बैठ कर अथवा एक कर्वट से लेट कर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं ॥४१–४२॥ वसतिका शुद्धि को धारण करने वाले, वज्रवृषभनाराच संहनन को धारण करने वाले और मोक्षमार्ग में निवास करने वाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यान की सिद्धि के लिए सैकड़ों उपसर्ग आजाने पर, अग्नि लग जाने पर तथा महा परीषहों के समूह आजाने पर भी

वसतिकाशुद्धिर्भवेद्विरागयोगिनाम् ॥४५॥ उदयेसतिसूर्यस्यप्रासुकेपथ्यनस्तमे । धर्मप्रवृत्तयेलोकेगमनंयद्विधीयते ॥४६॥ महीतलेमुनीन्द्रौघैः सत्स्वच्छंदविहारिभिः । युगान्तरेक्षणाभ्यां सा विहारेशुद्धिरुत्तमा ॥ ४७ ॥ जीवयोनिसमासादीन् सूक्ष्मबादरकायिकान् । ज्ञानेनसुष्टुविज्ञायविश्वजन्तु कृपापराः ॥ ४८ ॥ ज्ञाननेत्रा मरुत्तुल्या सावद्यं त्रिविधेन च । यत्नात्परिहरन्तस्ते कस्यचित्कारणादिभिः ॥ ४६ ॥ एकेन्द्रियादिजन्तूनां बाधां वात्रविराधनम् । विहरन्तोपिभूभागे न कुर्युः कारयन्ति न = ५० ॥ तृणपत्रप्रवालादिहरितांकुरजन्मिनाम् । कंदबीजफलादीनांवनस्पत्यखिलांगिनाम् ॥५१॥ पादाद्यैर्मर्दनं नून छेदनं वातिपीडनम । स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न संयताः ॥ ५२ ॥ पृथिव्याःखननाद्यै–

भयानक जीवों से भरे हुए भयंकर और अत्यंत घोर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं ॥४३–४४॥ इस प्रकार जो वीतराग मुनि अत्यंत शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसतिका का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्ध होती है ॥४५॥ स्वतंत्र विहार करने वाले एकविहारी मुनिराज सूर्य उदय होने के बाद तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्ग में केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिए गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं। उन मुनियों के ऐसे शुद्ध गमन करने को उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं॥४६–४७॥ जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय बादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञान से जान कर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायु के समान परिग्रह रहित हैं ऐसे मुनि मन वचन काय से प्रयत्नपूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं। वे मुनि समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रियादिक जीवों की बाधा वा विराधना न तो कभी स्वयं करते हैं और न कभी किसी से कराते हैं। वे मुनिराज तृण पत्र प्रवाल (कोमल पत्ते) हरे अंकूरे, कंद बीज फल आदि समस्त वनस्पतिकायिक जीवों को पैर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदते हैं न छिदवाते हैं, न स्पर्श करते हैं न स्पर्श कराते हैं और न उनको पीड़ा पहुँचाते हैं वा पहुँचवाते हैं ॥४८–५२॥ वे चतुर मुनि न तो खोद पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते है, न

जलानांप्रक्षालनादिभिः । अग्नेर्विध्यापनाद्यैश्च वातक्षेपादिभिः क्वचित् ॥ ५३ ॥ वायोस्त्रसात्मनांस्थाननिशयागमनादिभिः । पीडांविराधनां दक्षाः कृताद्यैर्नच कुर्वते ॥ ५४ ॥ दण्डादिसर्वहिंसोपकरणातीतसत्कराः । निर्ममाभवभीमाब्धेः पतनाच्छंकिताशयाः ॥ ५५ ॥ तीक्ष्णैःपाषाणखण्डैश्चकंटकाद्यैः क्रमादिषु । पीड्यमाना अपि प्राज्ञा मनःक्लेशादिदूरगाः ॥ ५६ ॥ चर्याशरीषहारातेर्विजये कृतसूद्यमाः । चतुर्गतिषुरौद्रासुरौद्रश्वभ्रादियोनिषु ॥ ५७ ॥ भ्रमणं सुचिरंनिंद्यं कृत्स्नदुःखभराकरम् । पराधीनंविधेः स्वेषांचिन्तयन्तोनिरन्तरम् ॥ ५८ ॥ संवेगं त्रिविधंचित्ते भावयन्तोखिलागमम् । ज्ञानध्यानसुधापानं कुर्वन्तोतिनिराकुलाः ॥ ५९ ॥ पुरपत्तनखेटाद्रिग्रामाटवीवनादिषु ।

प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न बुझाकर वा जलाकर अग्निकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न पंखादिक से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं और न गमन करने बैठने वा सोने में त्रस जीवों को बाधा पहुँचाते हैं। वे चतुर मुनि मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा वा विराधना नहीं पहुँचाते ॥५३–५४॥ उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में दंडा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता, वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसाररूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं ॥५५॥ यदि उनके पैर में काँटा लग जाय वा तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार छिद जाय और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान मुनि अपने मन में कभी क्लेश नहीं करते हैं। क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं,॥५६॥ वे मुनिराज चर्यापरीषह रूपी शत्रुओं को जीतने के लिए सदा उद्योग करते रहते हैं, तथा मेरा यह आत्मा भयानक रूप चारों गतियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहा है, यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यंत निंद्य है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के आधीन है। इस प्रकार वे मुनिराज अपने आत्मा के परिभ्रमण को निरंतर चिंतवन करते रहते हैं ॥५७–५८॥ अत्यंत निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में संसार शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं समस्त आगम का चिंतवन करते रहते हैं, और ज्ञान तथा ध्यानरूपी अमृत का पान सदा करते रहते है ॥५९॥ वे मुनिराज अपनी इच्छानुसार

रम्यारम्येषु सर्वत्र विहरन्तोनिजेच्छया ॥ ६० ॥ पश्यन्तोपिपथ चान्धा रामारूपादिवीक्षणे । व्रजन्तोपि सुतीर्थादौ कुतीर्थेपंगवोविद. ॥ ६१ ॥ सुकथाः कथयन्तोपिमूकादुर्विकथादिषु । उपसर्गजयेशूराः कातरा.कर्मबन्धने ॥ ६२ ॥ निस्पृहा निजदेहादौसस्पृहामुक्तिसाधने । सर्वत्राप्रतिवद्धाः प्रतिवद्धा जिनशासने ॥ ६३ ॥ निर्ममत्वाय दुष्कर्मपरीषह–जयाय च । विहरन्तिमही वह्वीमतन्द्रामुनिनायकाः ॥ ६४ ॥ सिंहसादृश्यवृत्तीनां निष्पापमार्गचारिणाम् । विहार–शुद्धिरेवात्रामीषां नायत्नचारिणाम् ॥ ६५ ॥ कृताद्यैः सकलैर्दोषैस्त्यक्त. शुद्धोमलातिग' । भुज्यते भिक्षयाहारोयोग्यगेहे जितेन्द्रियै' ॥ ६६ ॥ तपोयोगवपु स्थित्यैषष्ठाष्टमपारणे । पक्षमासोपवासादौ वा भिक्षाशुद्धिरेव सा ॥ ६७ ॥

नगर पत्तन, खेट, पर्वत, गॉव, जंगल वन आदि सुन्दर असुन्दर समस्त स्थानों मे विहार करते रहते हैं उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में वे अंधे ही बने रहते हैं। यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना के लिए विहार करते हैं चलते हैं तथापि कुतीर्थों के लिये वे लंगड़े ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिये वे गूंगे बन जाते हैं। यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिये वे शूर वीर हैं तथापि कर्म बंधन करने के लिये वे कायर बन जाते है। यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यंत निस्पृह हैं तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिये वे तीव्र लालसा रखते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र अप्रतिवद्ध हैं किसी के बंधे हुए वा किसी के आधीन नही हैं तथापि वे जिनशासन के सदा आधीन रहते हैं। ऐसे वे प्रमाद रहित मुनिराज मोह का ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिये तथा अशुभ कर्म और परीषहों को जीतने के लिये बहुतसी पृथ्वी पर विहार करते हैं॥६०–६४॥ इस प्रकार सिंह के समान अपनी निर्भय वृत्ति रखने वाले और पाप रहित मार्ग में चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है। जो मुनि यत्नाचार पूर्वक नही चलते उनके विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती॥६५॥ जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण योग और शरीर की स्थिति के लिये वेला, तेला के बाद के पारणा के दिन, एक पक्ष के उपवास के बाद के पारणा के दिन अथवा महीना दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घर में जाकर कृत कारित अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित वा अपना समस्त दोषो से रहित अत्यंत शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको

नवकोटिविशुद्धं द्व्यैकविशुद्दोषवर्जितम् । सयोजनाप्रमाणाख्यधूमांगारमलोज्झितम् ॥ ६८ ॥ अशनं विधिनादत्तं योग्य कालेसुगेहिभिः । पाणिपात्रेस्थितिं कृत्वा ते भजन्तिशिवाप्तये ॥ ६९ ॥ उद्देशकं तथा ज्ञातं कृतमन्नं स्वशंकितम् । दूरागतंसदोषं ते वर्जयन्तिविपान्नवत् ॥ ७० ॥ विज्ञातानुमतातीतं नीचोच्चगृहपंक्तिषु । मौनेनैवान्नजन्तोत्रभिक्षां गृह्णन्तिनिस्पृहाः ॥ ७१ ॥ उष्णं वा शीतलंशुष्कंरूक्षंशुद्धं रसान्वितम् । क्षारं वा लवणातीतंसुस्वादंस्वाददूरगम् ॥७२॥ अयाचितंयथालब्धमाहारंपारणादिषु । स्वादं त्यक्त्वा च भुञ्जन्तिजिह्वाहिकीलनोद्यताः ॥ ७३ ॥ अक्षम्रक्षणमात्रान्नं प्राणस्थित्यैभजन्ति ते । प्राणान् रक्षन्तिधर्मार्थं धर्मंचरन्तिमुक्तये ॥ ७४ ॥ इत्यादिलाभसंसिध्यै तत्परंपरयाविदः ।

भिक्षाशुद्धि कहते हैं ॥६६–६७॥ वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये सागृहस्थों के द्वारा योग्य काल में विधि पूर्वक पाणिपात्र में दिया हुआ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना की शुद्धता पूर्वक ब्यालीस दोषों से रहित, संयोजना प्रमाण धूम अंगार नाम के दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं ॥६८–६९॥ वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं, दूर से आए हुए आहार को छोड़ देते हैं जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हो गई हो उसको भी छोड़ देते हैं, उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्न को भी छोड़ देते हैं ॥७०॥ वे निस्पृह मुनि जाने हुए और अनुमोदना किए हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं ॥७१॥ जिह्वा आदि समस्त इन्द्रियों को कीलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहने वाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना याचना किया हुआ ठंडा, गर्म, सूखा, रूखा, सरस, लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट, स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं ॥७२–७३॥ जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए पहिया ओंगते हैं उसमें तेल देते हैं उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिए वे मुनिराज थोड़ासा आहार लेते हैं। वे मुनिराज धर्म के लिये प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिए धर्म का साधन करते हैं ॥७४॥ वे मुनिराज परम्परा से चले आए इस प्रकार के लाभ

श्रयंत्यशनमात्मार्थंनचस्वादादिहेतवे ॥ ७५ ॥ आहारेशोभनेलब्धेसंतुष्टास्ते भवन्ति न । अलाभेवाशुभान्नाप्तेदुर्मनस्का न जातुचित् ॥७६॥ देहीति दीनवाक्यं ते प्राणान्तेपि वदन्ति न । स्तुवत्यन्यं न दानायसन्मौनव्रतधारिणा. ॥७७॥ अनशनीयमाहारं कंदबीजफलादिकम् । अपकमग्निनाकिंचिद्धीरानेच्छन्तिदोषदम् ॥ ७८ ॥ रात्रौस्थितयदन्नादिसुस्वा— दचलित तथा । तद्दिनोत्थं न गृह्णन्तितत्सर्वं मुनयः क्वचित् ॥ ७६ ॥ निर्दोषाशनमप्यत्र भुक्त्वा तद्दोषशंकिताः । प्रतिक्रमणमात्मज्ञाः कुर्वन्ति व्रतशुद्धये ॥ ८० ॥ इत्यादि यत्नजांभिक्षामेषणाशुद्धिपूर्विकाम् । ये श्रयन्ति सदातेषां भिक्षाशुद्धिर्न चान्यथा ॥ ८१ ॥ कालक्षेत्रादिशुध्याविनयेनैकाग्रचेतसा । अंगपूर्वादिसूत्राणां पठनं परिवर्तनम् ॥८२॥ पाठन व सतां मुक्त्यै क्रियते यन्मुनीश्वरैः । ज्ञाननेत्रैर्मदातीतैर्ज्ञानशुद्धिःस्मृतात्रसा ॥ ८३ ॥ महातपोभराक्रान्ता

की सिद्धि के लिये तथा आत्मा शुद्ध करने के लिए आहार लेते हैं स्वाद के लिए आहार नहीं लेते ॥७५॥ यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाय तो वे सन्तुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले वा मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं ॥७६॥ 'मुझे दो' इस प्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होने पर भी कभी नहीं करते हैं तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करने वाले वे मुनिराज दान के लिये कभी किसी की स्तुति भी नहीं करते ॥७७॥ जो आहार ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसे अग्नि में बिना पके हुये और इसीलिये अत्यंत दोष उत्पन्न करने वाले कंद बीज फल आदि को ग्रहण करने की कभी इच्छा भी नहीं करते हैं ॥७८॥ वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रक्खे हुए अन्न को कभी ग्रहण नहीं करते, तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुए अन्न को भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं ॥७६॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के लिए आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण कर के भी प्रतिक्रमण करते है ॥८०॥ इस प्रकार जो मुनिराज एषणाशुद्धि पूर्वक यत्नाचार पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षा शुद्धि होती है, अन्य किसी के नहीं ॥८१॥ ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले और ज्ञान के अभिमान से सर्वथा रहित ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये कालशुद्धि क्षेत्रशुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ साथ विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से अंगपूर्व वा सूत्रों का जो पठन पाठन करते हैं वा पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञानशुद्धि कहते हैं ॥८२-८३॥ जो मुनिराज महातपश्चरण

दृढ चारित्रधारिणः । शुष्कचर्मास्थिपर्वांगाविश्वासाख्यातिवर्जिताः ॥ ८४ ॥ महाष्टांगनिमित्तज्ञाःसर्वांगमाब्धि-पारगाः । द्वादशांगार्थवेत्तारः परार्थैकनिवेशनः ॥ ८५ ॥ धारणग्रहणे शक्ता अंगार्थानां मतेर्बलात् । पादानुसारिणो बीजबुद्धयः कोष्ठबुद्धयः ॥ ८६ ॥ संभिन्नबुद्धयोदक्षाः सद्धिभूषिता विदः । श्रुतामृतारसत्कर्णामहाबुद्धिविशा-रदाः ॥ ८७ ॥ मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययमंडिताः । ज्ञातविश्वार्थसाराश्च सध्यानलीनमानसाः ॥ ८८ ॥ त्रिशुध्या-निखिलांगानांपठनैःपाठनैःसताम् । तदर्थचिन्तनैर्लोके वर्तन्ते ज्ञानिनोन्वहम् ॥ ८९ ॥ विदोपिसकलांगानां तदुगतं न मनागमदम् । कुर्वन्ति न समीहन्ते ख्यातिपूजादिकं क्वचित् ॥ ९० ॥ जिनवाक्यसुधापानं जन्ममृत्युविषापहम् ।

के बोझ से दबे हुये हैं, दृढ़ चारित्र को धारण करने वाले हैं, जिनका चमड़ा हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है, जो अपने मन में विश्वास और प्रसिद्ध आदि को कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्तशास्त्रों के जानकार हैं, समस्त आगम रूपी समुद्र के पारगामी हैं, द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं, अपने मन को सदा दूसरे के उपकार में ही लगाते रहते हैं, जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ हैं, जो अत्यंत चतुर हैं, पादानुसारी बीजबुद्धि कोष्ठबुद्धि, संभिन्नबुद्धि आदि सातों प्रकार की ऋद्धियों से सुशोभित हैं जो महाज्ञानी हैं, शास्त्ररूपी हैं अमृत के पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यंत श्रेष्ठ बना लिया है, जो महा बुद्धिमान और महा चतुर हैं, मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं जो समस्त पदार्थों के सार को जानते हैं और जो अपने मन को सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन-वचन काय की शुद्धता पूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों को चिंतवन करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है ॥८४–८९॥ वे मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित् भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्ध वा बड़प्पन पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते ॥९०॥ यह जिनवाणी रूपी अमृत का पान करना जन्ममृत्युरूपी विष को नाश करने वाला है,

विश्वक्लेशहरं पचेन्द्रियतृष्णाग्नि वारिदम् ॥ ९१ ॥ विज्ञायजन्मदाहार्त्तिशान्तये शिवशर्मणे । कुर्वन्ति कारयन्त्य-न्यान् विस्तारयन्ति ते भुवि ॥ ९२ ॥ अत्यभीक्ष्णमहाज्ञानोपयोगवशवर्तिनाम् । ज्ञान शुद्धिर्मतासद्भिर्नान्येषां च प्रमोदिनाम् ॥ ९३ ॥ आत्मीये य. शरीरेपि सस्कार. क्षालनादिभिः । वध्वादिविषयेस्नेहो मोहारि जनकोऽशुभः ॥९४॥ सगेममत्वभावो वा निर्ग्रंथैः क्रियतेनच । कचित्कालेमतादक्षै' शुद्धि. सात्रोज्झनाभिधा ॥ ९५ ॥ धावनंमुखदन्ता-नामुद्वर्तनं च मर्दनम् । पादप्रक्षालनं नेत्रांजन च कायधूपनम् ॥ ९६ ॥ मज्जनं मंडनं जातु वमनं च विरेचनं । इत्याद्यापरसंस्कारं निर्ममास्ते न कुर्वते ॥ ९७ ॥ कुष्ठज्वरमरुत्पित्ताद्यसाध्यरुक्शतादिपु । दुस्सहेष्वत्र जातेषु

समस्त क्लेशों को दूर करने वाला है, और पंचेन्द्रियों की तृष्णा रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान है। यही समझ कर वे मुनिराज जन्ममरणरूपी दाह को शांत करने के लिये और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए स्वयं जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और इस लोक में उस जिनवाणी रूपी अमृत का विस्तार करते रहते हैं ॥९१–९२॥ जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञानमय अपने उपयोग के वशीभूत हैं अर्थात् जो निरंतर ज्ञान में ही अपना उपयोग लगाये रहते हैं उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञानशुद्धि कही जाती है अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञानशुद्धि कभी नहीं हो सकती ॥९३॥ अपने शरीर मे प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है और अत्यंत अशुभ है, इसलिये चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्व भाव धारण नहीं करते इसको आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं ॥९४–९५॥ मोहरहित वे मुनिराज मुख और दाँतों को न कभी धोते हैं न कुल्ला करते हैं न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अंजन लगाते हैं, न शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, न वमन विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे ही ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते ॥९६–९७॥ अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्म के उदय से अत्यंत असह्य और असाध्य ऐसे

पूर्वासातोदयेन भोः ॥ ६८ ॥ स्वकर्मपाकवेत्तारः औपधाद्यैर्न जातुचिन् । तच्छान्तयेप्रतीकारमिच्छन्तिपाप-हानये ॥६६॥ दुर्व्याधिवेदनाव्याप्तसर्वांगा अपि निस्पृहाः । भवन्ति दुर्मनस्का न स्वस्था प्राग्वन्नचान्यथा ॥१००॥ तपोरत्नत्रयं जन्ममृत्युकृत्स्नरुजान्तकम् । विश्वक्लेशहरं चैकं सेवन्ते ते नचापरम् ॥ १ ॥ रोगोरगविलनिंद्यं कृतान्तमुखमध्यगम् । शुक्रशोणितवीजोत्थंसप्तधातुकुलालयम् ॥ २ ॥ क्रमिकोटिशताकीर्णं वीभत्सं च घृणास्पदम् । विष्ठादिनिचितासारं मलमूत्रादिभाजनम् ॥ ३ ॥ पंचाक्षतस्करावासं विश्वदुःखनिवन्धनम् । कृत्स्नाशुच्याकरीभूतं शुचिद्रव्याशुचिप्रदम् ॥ ४ ॥ क्षुत्तृपाकामकोपाग्निदीपितं भववर्द्धकम् । रागादिपूरितं पूतिगंधदुष्कर्मकारणम् ॥ ५ ॥

कोढ़, ज्वर वायु का विकार वा पित्त का विकार आदि सैकड़ों रोग उत्पन्न हो जाँय तो वे मुनि अपने पापों को नाश करने के लिए उस दुःख को सहते रहते हैं उन रोगों को दूर करने के लिये औपधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते, तथा न कभी प्रतीकार करने की इच्छा ही करते है ॥६८—६६॥ निस्पृह वृत्ति को धारण करने वाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा हो तो भी वे अपने मन में खेद खिन्न नहीं होते वे पहले के ही समान स्वस्थ वने रहते हैं उन रोगों से उनके मन में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता है ॥१००॥ वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करने वाले और जन्ममरणरूपी समस्त रोगों को नाश करने वाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं रत्नत्रय और तप के सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते ॥१॥ यह शरीर रोगरूपी सर्पों का विल है, अत्यंत निंद्य है, यमराज के मुख में ही उसका सदा निवास है, यह शुक्र रुधिर रूपी वीज से उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं से भरा हुआ है, करोड़ों अरवों कीड़ों से भरा हुआ है, अत्यंत भयानक है अत्यंत घृणित है, मल मूत्र आदि असार पदार्थों से भरा हुआ है, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है, पाँचों इन्द्रिय रूपी चोर इसमें निवास करते हैं, समस्त दुःखों का यह कारण है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है, पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करने वाला है, भूख प्यास, काम क्रोधरूपी अग्नि से सदा जलता रहता है, जन्ममरणरूप संसार को वढ़ाने वाला है। रागद्वेप से भरा हुआ है, दुर्गंध और अशुभ कर्मों का कारण है, तथा और भी अनेक महा दोपों का मूल कारण

इत्याद्यन्यमहादोषमूलं कायकलेवरम् । पश्यन्तश्चिन्तयन्तस्तेभावयन्तोनिरन्तरम् ॥ ६ ॥ तस्मात्सदापृथग्भूतंस्वात्मानं सद्गुणार्णवम् । कथं कुर्वन्तिरागादीन्निर्विरणा कायशर्मणि ॥ ७ ॥ स्वान्यांगजनितान्भोगांश्चतुर्गतिनिवन्धनान् । जगद्दुःखाकरीभूतान् महापापकरान् बुधैः ॥ ८ ॥ निंद्यान् दाहार्तरुग्हेतून् पशुम्लेच्छादिसेवितान् । निंद्यकर्मभवान् शत्रूनिवेहन्ते न ते कचित् ॥ ६ ॥ मोहशात्रवसन्तानेवधुवर्गेतिदुस्त्यजे । धर्मघ्ने पापवीजे ते स्नेहं जातु न कुर्वते ॥ १० ॥ इत्यादिनिर्मलाचारः स्वतो विश्वान्यवस्तुषु । त्यक्तरागाश्च ये तेषांस्याच्छुद्धिरुज्झनाह्वया ॥ ११ ॥ जिनसूत्राविरुद्धं यदनेकान्तमताश्रितम् । एकांतदूरगं तथ्यं विश्वजन्तुहितावहम् ॥ १२ ॥ मितं च ब्रूयतेसारं वचनं धर्मसिद्धये । उन्मार्गहानये दक्षैः सा वाक्यशुद्धिरुत्तमा ॥ १३ ॥ वाक्यं च विनयातीतं धर्महीनमकारणम् ।

ऐसे शरीर को देखते हुए वे मुनिराज निरंतर उसी रूप से चितवन करते हैं तथा अनन्त गुणों का समुद्र ऐसे अपने आत्मा को उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं। इस प्रकार शरीर के सुख से विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं ॥२–७॥ अपने शरीर से वा अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए ये भोग चारों गति के कारण हैं, संसार के समस्त दुःखों की खानि हैं, महापाप उत्पन्न करने वाले हैं, विद्वान् लोग सदा इनकी निंदा करते रहते हैं, दाह दुःख और अनेक रोगों के ये कारण हैं पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं और निंद्य कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं ॥८–९॥ ये बंधुवर्ग भी मोहरूपी शत्रु की संतान हैं पाप के कारण हैं धर्म को नाश करने वाले हैं और अत्यंत कठिनता से छोड़े जा सकते हैं ऐसे बंधुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते ॥१०॥ जो मुनिराज इस प्रकार स्वयं निर्मल आचरणों को पालन करते हैं और अन्य समस्त पदार्थों में कभी राग नही करते ऐसे मुनियों के उज्झन नाम की शुद्धि होती है ॥११॥ चतुर मुनि कुमार्ग को नाश करने के लिये और धर्म की सिद्धि के लिये सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिनशास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकांत मत के आश्रय हों, एकांत मत से सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करने वाले हों, परिमित हों और सारभूत हों। ऐसे वचनों का कहना उत्तम वाक्यशुद्धि कहलाती है ॥१२–१३॥ जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं

विरुद्धं ते परैः पृष्टा अपृष्टा वा वदन्ति न ॥ १४ ॥ पश्यन्तोविविधानर्थान्नेत्रैः शृण्वन्तऊर्जितान् । कर्णैश्च ते हि जानन्तश्चित्तेसारेतरान् भुवि ॥ १५ ॥ मूकीभूता इवात्यर्थं लोके तिष्ठन्ति साधवः । कुर्वन्त्यन्यस्य निन्दां न न वार्तां स्तुत्यकारणम् ॥१६॥ स्त्रीकथार्थकथाभक्तराजचौरमृषाकथाः । खेटकर्वटदेशाद्रिपुराकरादिजाः कथाः ॥१७॥ नटानां सुभटानां च मल्लानामिन्द्रजालिनाम् । द्यूतकारकुशीलानां दुष्टम्लेच्छादिपापिनाम् ॥ १८ ॥ वैरिणां पिशुनानां च मिथ्यादृशां कुलिंगिनाम् । रागिणां द्वेषिणांमोहार्तादीनांविकथाः वृथा ॥ १९ ॥ इत्याद्या अपरा बह्वीः कथा. पापखनींर्विदः । कथयन्ति न मौनाढ्याः जातुशृण्वन्तिनाशुभाः ॥ २० ॥ विकथाचारिणां स्वान्य-वृथाजन्मविधायनाम् । दुर्धियां क्षणमात्रं न संगमिच्छन्ति धीधना. ॥ २१ ॥ कौत्कुच्यमथकन्दर्पं मौखर्यं

और जिनके कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा बिना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं ॥१४॥ यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं कानों से बडे बडे अनर्थ सुनते हैं, और अपने हृदय में सार असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोक में गूंगे के समान सदा बने रहते हैं, वे कभी किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की स्तुति करने वाली बात कहते हैं ॥१५–१६॥ मौन धारण करने वाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वा मिथ्या कथाएं कभी नहीं कहते हैं। इसी प्रकार खेट कर्वट देश पर्वत, नगर, खानि आदि की कथाएं भी कभी नहीं कहते हैं। तथा वे मुनिराज नट, सुभट, मल्ल इन्द्रजालिया, जूआ खेलने वाले, कुशील सेवन करने वाले. दुष्ट, म्लेच्छ, पापी, शत्रु, चुगलखोर, मिथ्यादृष्टी, कुलिंगी, रागी द्वेषी, मोही और दुःखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं ॥१७–२०॥ जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों का जन्म व्यर्थ ही खोते हैं ऐसे मूर्ख लोगों की संगति वे बुद्धिमान मुनिराज एक क्षण भर भी नहीं चाहते ॥२१॥ वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहते, कामवासना को बढ़ाने वाले वचन कभी नहीं कहते साधुओं के द्वारा निंदनीय ऐसी बकवाद कभी नहीं करते और हंसी

साधुनिन्दितम् । हास्यादिप्रेरकं जातु दुर्वचो न ब्रुवन्ति ते ॥ २२ ॥ निर्विकाराविचारज्ञाः शिवश्रीसाधनोद्यताः । शिवाय धीमतां नित्यं दिशन्तिधर्मदेशनाम् ॥ २३ ॥ श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नामहापुरुषसम्भवाः । संवेगजननीःसारास्त-त्त्वगर्भाः शिवंकराः ॥ २४ ॥ रागारिनाशिनीश्चित्तपंचेन्द्रियनिरोधिनीः । सत्कथा धर्मसंबद्धाः कथयन्तिसतां विदः ॥ २५ ॥ सत्त्वाधिका अनगारभावनारतमानसाः । स्वात्मध्यानपरास्तेस्युस्तत्त्वचिन्तावलम्बिनः ॥ २६ ॥ इत्याद्यन्यगुणग्रामा. ये मौनव्रतधारिणः । मूका इवात्र तिष्ठन्ति ते वाक्यशुद्धिधारका ॥ २७ ॥ द्विषड्भेदं तपः सार सर्वशक्त्याजिनोदितम् । दुष्कर्मारातिसन्तानोन्मूलनंशिवकारणम् ॥ २८ ॥ अप्रमत्तैर्महायोगव्रतगुप्त्यादिमंडितैः । क्रियते ज्ञानपूर्वं यत्सा तपः शुद्धिरुद्भुता ॥२९॥ तपोग्निशुष्ककर्मणाप्रादुर्भूतास्थिसचयाः । सात्विका निष्कपायास्ते

को उत्पन्न करने वाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं ॥२२॥ विकार रहित, विचारशील और मोक्ष लक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं ॥२३॥ जो धर्म संबंधिनी श्रेष्ठ कथा भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है, जो संवेग को उत्पन्न करने वाली है, सारभूत है, तत्त्वों के स्वरूप को कहने वाली है, मोक्ष देने वाली है रागद्वेष रूपी शत्रु को नाश करने वाली है, तथा मन और पंचेन्द्रियों को रोकने वाली है ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिये कहते हैं ॥२४–२५॥ जो मुनिराज समर्थशाली हैं, अपने मन को सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते हैं जो अपने आत्मध्यान में सदा तत्पर रहते हैं और तत्त्वों के चिंतवन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है ! इस प्रकार के और भी अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूंगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती है ॥२६–२७॥ महायोग व्रत और गुप्ति समिति आदि से सुशोभित रहने वाले और प्रमाद रहित जो मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अशुभ कर्मरूप शत्रुओं की संतान को भी जड़मूल से उखाड़ देने वाले तथा मोक्ष के कारण, भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं उसको उत्तम तप शुद्धि कहते हैं ॥२८–२९॥ तपरूपी अग्नि से जिनके कर्म

क्षीणगात्राधृतेर्बलात् ॥ ३० ॥ बहून् षष्ठाष्टमादींश्च पक्षमासादिगोचरान् । उपवासांश्चरन्त्यत्रनि शक्ता अपि मुक्तये ॥ ३१ ॥ पक्षमासोपवासादि पारणाहनि निस्पृहाः । ग्रासमात्राधिकाहारं भुजन्ति शिवशर्मणे ॥ ३२ ॥ कृत्वामासोपवासादीन्पारणे चत्वरादिभिः । गृह्णन्त्यवग्रहं धीराभिक्षालाभाय दुर्घटम ॥ ३३ ॥ त्यक्त्वापंचरसान् षड्वा धौतान्नमुष्णवारिणा । पंचाक्षसुखहान्यै ते भजन्ति पारणे मुदा ॥ ३४ ॥ भीमारण्ये श्मशाने वा मांसाशिक्रूरसंकुले । स्त्र्यादिदूरे भयातीताः श्रयन्तिशयनासनम ॥ ३५ ॥ हेमन्ते चत्वरे घोरे शीतदग्धद्रुमे निशि । ध्यानोष्मणाष्टदिग्वस्त्राः शीतवाधां जयन्ति ते ॥ ३६ ॥ ग्रीष्मेसूर्यांशु संतप्ते तुंगाद्रिस्थशिलातले । तापक्लेशा—

सब सूख गये हैं, जिनके शरीर में हड्डीमात्र रह गई है जो कषाय रहित हैं तथापि जो शक्तिशाली हैं ऐसे शरीर से अशक्त मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने धैर्य के बल से वेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास एक महीने का उपवास दो महीने का उपवास इस प्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं ॥३०—३१॥ वे निस्पृह मुनिराज मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये पंद्रह दिन का वा एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास कर के पारणा के दिन एक ग्रास वा दो ग्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं ॥३२॥ वे धीर वीर मुनि मासोपवास आदि कर के भी पारणा के भिक्षा लेने के लिये "आज चौराये पर आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" अथवा "पहले घर में आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" इस प्रकार पडगाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं ॥३३॥ अथवा वे मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के सुख नष्ट करने के लिये पारणा के दिन छहों रसों का त्याग कर अथवा पाँचों रसों का त्याग कर आहार लेते हैं अथवा गर्म जल से धोये हुये अन्न को ही वे ग्रहण करते हैं ॥३४॥ वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यंत दूर तथा हड्डी माँस वा क्रूर जीवों से भरे हुये श्मशान में वा भयानक वन में अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन वा आसन ग्रहण करते हैं ॥३५॥ वे मुनिराज जिसकी ठंड से वृक्ष भी जल जाते हैं ऐसे जाड़े के दिनों में रात के समय आठों दिशारूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यानरूपी गर्मी से तपते हुए घोर चौराये पर खड़े होकर शीतबाधा को जीतते हैं ॥३६॥ गर्मी के क्लेश को सहन करने में अत्यंत धीर वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में

सहाधीरास्तिष्ठन्तिभानुसन्मुखाः ॥ ३७ ॥ स्रवद्बिन्दूत्करेवृक्षमूलेमर्पादिवेष्टिते । प्रावृटकालेस्थिता शक्त्याश्रयन्त्यु-पद्रवान् बहून् ॥ ३८ ॥ एवं त्रिकालयोगस्था ऋतुजोपद्रवान्परान् । क्षुत्तृट्शीतोष्णदंशाहि वृश्चिकादिपरीपहान् ॥३६॥ देवतिर्यग्नराचेतनोत्थोपसर्गदुर्जयान । सहन्ते सर्वशक्त्या च मनाक् क्लेशंव्रजन्ति न ॥ ४० ॥ इति वाह्यंतपो-घोरमाचरन्तस्तपोधनाः । प्रायश्चित्तादि सर्वेषां षडन्तस्तपसां क्रमात् ॥ ४१ ॥ आरोहन्ति परा कोटिं निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः । द्विधारत्नत्रयाशक्ता वाह्यान्त संगदूरगाः ॥ ४२ ॥ मिथ्यादृग्दुर्जनादीनांदुर्वाक्यादन्तकोपमात् । ताडनात्तर्जनाद्घाताद्यान्ति क्षोभं न ते क्वचित् ॥ ४३ ॥ पचात्वविपयाकांक्षाविश्वानर्थखनी नृणाम् । या तां

सूर्य की किरणों से तप्तायमान ऐसे ऊंचे पर्वतों की शिला पर सूर्य के सामने खड़े होते हैं ॥३७॥ वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहाँ पर बहुत देर तक पानी की बूंदें झरती रहती हैं और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे हुए हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहाँ पर अपनी शक्ति के अनुसार अनेक उपद्रवों को सहन करते रहते हैं ॥३८॥ इस प्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करने वाले वे मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं, क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण की परीपह सहन करते हैं साँप बिच्छुओं के काटने की परीपह सहन करते हैं देव मनुष्य तिर्यंच और अचेतनों से उत्पन्न हुए घोर दुर्जय उपसर्गों को सहन करते हैं। वे मुनिराज अपनी पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीपहों को सहन करते हैं अपने मन में रंचमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते ॥३६–४०॥ व्यवहार निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने में लीन रहने वाले, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह से सर्वथा दूर तथा जितेन्द्रिय और प्रमाद रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार वाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुये भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अंतरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूप से धारण करते है ॥४१–४२॥ वे मुनिराज यमराज के समान मिथ्यादृष्टी और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से, तर्जना से, वा उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार किसी जाल से हिरण को बाँध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों

वैराग्यपाशेनतेवध्नन्तिमृगीमिव ॥ ४४ ॥ इत्याद्यन्यमहाघोरोग्रतपश्चरितात्मनाम् । जितात्ताणां तपः शुद्धि केवलं विद्यतेनघा ॥ ४५ ॥ निर्विकल्पं मनः कृत्वा त्यक्त्वार्त्तरौद्रमंजसा । स्थित्वागिरिगुहादौसध्यानमेकाग्रचेतसा ॥ ४६ ॥ धर्मशुक्लाभिधं दत्तैः सिद्धये यद्विधीयंते । कर्मारण्ये ज्वलज्ज्वालाध्यानशुद्धिरिहास्ति सा ॥ ४७ ॥ भ्रमतिविषयारण्ये दुर्द्धरं स्वमनोगजम् । ध्यानांकुशेनचाहृत्यानयन्ति स्ववशं बुधाः ॥ ४८ ॥ चंचलान् कुर्वतः क्रोडां पंचेन्द्रियजलोद्भवान् । रत्यब्धौ ध्यानजालेनवध्नन्तिध्यानिनोद्रुतम् ॥ ४९ ॥ कषायतस्करानीकं मनोभूपेन्द्रपालितम् । विश्वसन्तापिनं घ्नन्तिध्यानखड्गेनयोगिनः ॥ ५० ॥ ध्यानेन निखिलान्योगान्मूलोत्तरगुणान्परान् । शमेन्द्रियदमादींश्च नयन्ति पूर्णतां विदः ॥ ५१ ॥ सद्ध्यानवज्रघातेन द्रुतं दुष्कर्मपर्वतान् । सार्द्धं मोहादिवृत्तैः आपयन्तिशतचूर्ण–

की खानि ऐसी मनुष्यों की पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्य रूपी जाल से बहुत शीघ्र बाँध लेते हैं ॥४४॥ जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महा घोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इन्द्रियों को जीतते हैं उन्हीं मुनियों के पापरहित निर्दोष तपःशुद्धि होती है ॥४५॥ जो चतुर मुनि अपने मन के समस्त संकल्प विकल्पों को दूर कर तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठ कर एकाग्रचित्त से धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिये धारण करते हैं उनके कर्मरूपी वन को जलाने के लिये की ज्वाला के समान ध्यानशुद्धि कही जाती है॥४६–४७॥ यह अपना मनरूपी दुर्धर हाथी विषयरूपी वन में घूमता रहता है। इसको ध्यानरूपी अंकुश से पकड़ कर बुद्धिमान लोग ही अपने वश में कर लेते हैं ॥४८॥ पंचेन्द्रियरूपी जल से उत्पन्न हुईं और रति रूप समुद्र में क्रीड़ा करती हुईं चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष ही ध्यानरूपी जाल में शीघ्र बाँध लेते हैं ॥४९॥ मनरूपी उत्कृष्ट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुःख देने वाली ऐसी इस कषायरूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यानरूपी तलवार से मारते हैं ॥५०॥ चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को, उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तरगुणों को उपशम परिणामों को और इन्द्रियों के दमन को कर्मरूप से धारण कर लेते हैं ॥५१॥ वे मुनिराज श्रेष्ठध्यानरूपी वज्र की चोट से मोहादिक

ताम् ॥ ५२ ॥ गच्छन्तो वा सुखासीना वह्वीः सुखसुखादिका । अवस्था मुनय प्राप्ताः कचिद्ध्यानं त्यजन्ति न ॥ ५३ ॥ आर्तरौद्रकुलेश्यानां धर्मशुक्लार्पिताशयाः । स्वप्नेपि न वशं यान्ति शुक्ललेश्यामहोदयाः ॥ ५४ ॥ परीषहमहासेन्यैरुपसर्गव्रजै कचित् । चलन्ति न मनाग्ध्यानादद्रीन्द्रइवनिश्चलाः ॥ ५५ ॥ रागद्वेपहयौ दुष्टौ नयन्तावुत्पथं वलात् । सद्ध्यानरथमात्मध्यानरज्वा स्थापयन्ति ते ॥ ५६ ॥ पिवन्तः परमात्मोत्थं ध्यानानन्दामृतं सदा । मुख्यवृत्या न जानन्ति क्षुत्तृषादिपरीषहान् ॥ ५७ ॥ जिनशासनभूमिस्थं चारित्रशीलवेष्ठितम् । विवेकगोपुराकीर्णंजिनज्ञाखातिका वृतम् ॥ ५८ ॥ गुप्तिवज्रकपाटंसत्तप. सुभटपूरितम् । क्षमादिमंत्रिवर्गाढ्य सद्ज्ञानतलरक्षकम् ॥ ५९ ॥ संयमारामसीमान्तं ह्यगम्यं भंगवर्जितम् । कषायमदनारातिव्रजैः पंचाक्षतस्करैः ॥ ६० ॥ साधुलोक

वृक्षों के साथ साथ अशुभकर्मरूपी पर्वतों के सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं ॥५२॥ वे मुनि चाहे चल रहे हों चाहे आराम से बैठे हों वा सुख दुःख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हों तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५३॥ शुक्ललेश्या को धारण करने वाले और अपने मन में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को चिंतवन करने वाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के बश में नहीं होते हैं ॥५४॥ मेरु पर्वत के समान निश्चल रहने वाले वे मुनिराज परीषहों की महासेना तथा उपसर्गों के समूह आजाने पर भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं ॥५५॥ ये राग द्वेष रूपी घोड़े बड़े ही दुष्ट हैं ये मनुष्यों को जबर्दस्ती कुमार्ग में ले जाते हैं ऐसे इन घोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ में जोत देते हैं ॥५६॥ वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यानरूपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं, इसलिये वे क्षुधातृषा आदि की परीषहों को मुख्यवृत्ति से कभी नहीं जानते ॥५७॥ देखो यह श्रेष्ठध्यान एक उत्कृष्ट नगर है, यह नगर जिनशासन की भूमि पर बसा हुआ है, चारित्ररूपी परकोट से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञारूपी खाई से वेष्ठित है, इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड़ हैं श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी योद्धाओं से यह भर रहा है, उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है, सम्यग्ज्ञानरूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं इसकी सीमा के अंतमें संयमरूपी बगीचे

भृतंरम्यंसद्ध्याननगरंपरम् । अधिष्ठितामहाशीलसन्नाहाखिलवर्मिता: ॥६१॥ समतुंगगजारूढा धैर्यचापकरांकिता: । रत्नत्रयशरोपेता:मुनीन्द्रसुभटोत्तमा: ॥ ६२ ॥ नि:शंकगुणमाकृष्यद्दगादिशरवर्षणै: । मोक्षराज्याय निघ्नन्तिससैन्यं मोहविद्विषम् ॥ ६३ ॥ ततोहतमहामोहानिर्द्धूतकर्मशात्रवा: । व्रजन्ति मुक्तिसाम्राज्यं शाश्वत्तं ते सुरार्चिता: ॥६४॥ श्रमयन्ति तपोभिर्ये स्वात्मानं श्रमणा हि ते । शमयन्तिकषायान् वा खानि ये तेत्रसयता. ॥ ६५ ॥ अर्पयन्ति स्वकर्माणि गमयन्ति किलर्षय: । मन्यन्ते स्वपरार्थानां सिद्धिं ये मुनयोत्रते । मत्याद्यै: पचसद्ज्ञानैर्युता वा मुनयोद्धृता: ॥ ६७ ॥ साधयन्तिद्दगादीनि त्रीणि ये तेत्रसाधव. । येषां न विद्यतेंगारमनगारास्तएव हि ॥ ६८ ॥

लग रहे हैं, कपाय और कामरूपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रियरूपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते, न इस नगर का भंग कभी हो सकता है, वह ध्यानरूपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते हैं जो महाशीलरूपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं जो समतारूपी ऊंचे हाथी पर चढ़े रहते हैं, जिनके हाथ मे धैर्यरूपी धनुप सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रयरूपी वाणों को धारण करते रहते हैं ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठध्यानरूपी नगर के राजा होते हैं ॥५८—६२॥ वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज नि:शंकितरूपी डोरी को खींच कर रत्नत्रयरूपी वाणों की वर्षा करते हैं और मोक्षरूपी राज्य को प्राप्त करने के लिये समस्त सेना के साथ मोहरूपी शत्रु को मार डालते हैं ॥६३॥ तदनंतर मोहरूपी महाशत्रु के मर जाने पर उन मुनियों के कर्मरूपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य वे मुनिराज सदा काल रहने वाले मोक्षरूपी साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं ॥६४॥ वे मुनिराज तपश्चरण कर के अपने आत्मा को श्रम वा परिश्रम पहुँचाते हैं इसलिये वे श्रमण कहलाते हैं। वे कपाय तथा इन्द्रियों को शांत करते हैं इसलिये संयत कहलाते हैं। वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं भगा देते हैं वा नष्ट कर देते हैं इसलिये ऋपि कहे जाते हैं। वे सप्त ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं इसलिये महर्पि कहे जाते हैं। वे मुनिराज अपने आत्मा का अथवा अन्य पदार्थों का मनन करते हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों से वे सुशोभित रहते है इसलिये भी वे मुनि कहलाते हैं। वे मुनिराज

येषां वीतोविनष्ठो हि रागोदोषाखिलैः समम् । वीतरागास्तएवात्र त्रिजगन्नाथपूजिताः ॥ ६६ ॥ इतिसार्थाकना-माप्तवीतरागतपस्विनाम । ध्यानिनां परमाध्यानशुद्धि र्न रागियोगिनाम् ॥ ७० ॥ इतिजिनमुखजाता ये त्र शुद्धिर्दशैव ह्यशुभसकलहंत्रोस्वर्गमोक्षादिकर्त्री । परम चरणयत्नैपालयन्त्यात्मशुध्यै रहितविधिमलांगास्तेऽचिरात्स्युर्महान्तः ॥७१॥ एता मुक्तिवधूसखीश्चपरमानागारसद्भावना ये शृण्वन्ति च भावयन्तिनिपुणाः शक्त्याचरन्त्युद्यता । ते तद्धर्म-वशाज्जगत्त्रयवरंसर्वार्थसिध्यादिजं भुक्त्वासौख्यमनारतंसुतपसामुक्तिप्रयान्तिक्रमात् ॥ ७२॥ ये सर्वेजिननायिकाश्च परयाशुध्याबभूवु पुरा सिद्धाअन्तविवर्जितानिरुपमा. आप्ता शिवस्त्रीपराम । येनागारसुभावनारतमहायोगा-

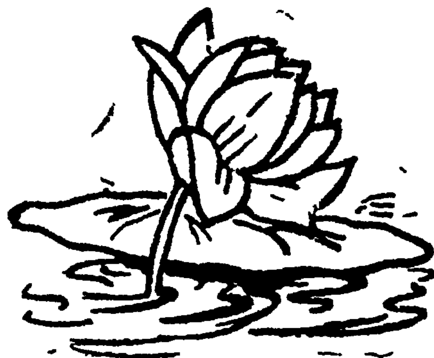
सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध करते हैं इसलिये साधु कहे जाते हैं। उनके रहने का कोई नियत स्थान नहीं रहता इसलिये वे अनगार कहलाते हैं। उनके राग द्वेप आदि समस्त दोप नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं और तीनो लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं ॥६५–६६॥ इस प्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करने वाले वीतराग ध्यानी तपस्वियों के परम ध्यान की शुद्धि होती है रागी मुनियों के ध्यान की सिद्धि कभी नहीं हो सकती ॥७०॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई ये दश शुद्धियाँ समस्त अशुभों को नाश करने वाली हैं और स्वर्गमोक्ष की देने वाली हैं। जो महापुरुप अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक धारण किये हुये परम चारित्र के द्वारा इन दशों शुद्धियों को पालन करते हैं वे बहुत ही शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं ॥७१॥ ये मुनियों की श्रेष्ठ भावनाएं सर्वोत्कृष्ट हैं और मोक्षरूपी स्त्री की सखी हैं। जो चतुर मुनि इनको सुनते हैं इनका चिंतवन करते हैं और उद्योगी बन कर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते हैं वे उस धर्म के निमित्त से तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि आदि के सुखों को निरंतर भोगते रहते हैं और फिर अंतमें श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥७२॥ पहले समय में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब इन परम शुद्धियों से ही हुए हैं तथा उपमा रहित अनंत सिद्ध हुए हैं और उन्होंने जो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष स्त्री प्राप्त की है वह भी सब इन परम शुद्धियों का

स्त्रिधामाधव: ते स्तुत्याममभावनास्वसकत्ना: शुद्धी: प्रदद्यु र्निजा: ॥ १७३ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
अनगारभावना वर्णनो नामाष्टमोधिकार:

ही फल समझना चाहिये। इसी प्रकार आचार्य उपाध्याय साधु भी जो महा योगीश्वर कहलाते हैं वे भी मुनियों इन भावनाओं में लीन होने से ही महा योगीश्वर कहलाये हैं। इसलिये मैं इन अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओ की स्तुति करता हूं ये पाँचों परमेष्ठी अपनी सब भावनाएं मुझे प्रदान करें तथा अपनी समस्त आत्मशुद्धि प्रदान करें ॥१७३॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रंथ में
मुनियो की भावनाओ को निरूपण करनेवाला यह
आठवां अधिकार समाप्त हुआ।



नवमोधिकारः ।



सिद्धान्तसमयादीनांप्रणेतॄन्परमेष्ठिनः । त्रिजगन्नाथपूज्यांघ्रीन्वंदेतद्गुणसिद्धये ॥ १ ॥ अथाखिलागमस्यात्रदर्शनज्ञानयोः परः । चारित्रतपसो सारभूत. श्रीजिनभाषित. ॥ २ ॥ महान् यो ग्रंथसार' समयसाराभिधः सताम् । सर्वार्थसिद्धिदोवक्ष्येसमासेनतमूर्जितम् ॥ ३ ॥ द्रव्यशुद्धिपरां क्षेत्रकालशुद्धी च निर्मले । भावशुद्धि समाश्रित्य

नौवां अधिकार ।

जो पाँचों परमेष्ठी सिद्धांत और समय आदि को निरूपण करने वाले हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह समयसार नाम का महा ग्रंथ (अध्याय) सब ग्रंथों का सारभूत है समस्त आगम का सार है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सार है, चारित्र और तपश्चरण का सार है सबका सारभूत है भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, सर्वोत्कृष्ट है और सज्जनों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाला है इसलिये अब मैं उसको संक्षेप से कहता हूं ॥२—३॥ जो वीतराग तपस्वी निर्मल, द्रव्यशुद्धि क्षेत्रशुद्धि कालशुद्धि और भावशुद्धि का आश्रय लेकर तथा उत्कृष्ट दृढ संहननों का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र के धारण करने में सदा प्रयत्न करता रहता है

दृढंसंहननंपरम् ॥ ४ ॥ चारित्रेयततेनित्यंदर्शनज्ञानपूर्वके । य स्तपस्वी विरागी स निर्वाणंलभतेचिरात् ॥ ५ ॥ धीरोवैराग्यसम्पन्नः शिक्षित्वास्तोकमागमम् । चारित्राचरणात्सम्यग्दृष्टिः शुध्यति नापरः ॥ ६ ॥ वैराग्यवर्जितो ज्ञानी पठित्वा सकलागमम् । चारित्रविकलो जातु न शुध्यति विधेर्वशात् ॥ ७ ॥ भिक्षां चर वसारण्ये स्तोकं स्वादातिगंजिम् । माविधेहि वृथासारं बहुजल्पनमात्मवान् ॥ ८ ॥ सहस्वसकल दुःखं जयनिद्रां च भावय । मैत्रीं च सुष्ठुवैराग्यं कुरुकृत्यंवृषाप्तये ॥ ९ ॥ एकाकीध्यानसंलीनोनिष्कषायोऽपरिग्रहः । निष्प्रमादो निरालम्बो जिताक्षो भवसन्मुने ॥ १० ॥ निरसगस्तत्वविल्लोकव्यवहारातिगोयते । भवैकाग्रस्थचित्तस्त्वं वृथा सत्कल्पनैश्चकिम् ॥ ११ ॥ यो योगीदृढचारित्रःपठित्वाल्पजिनागमम् । दशपूर्वधरं सोन्यं जयेन्मुक्त्यादिसाधनात् ॥ १२ ॥ चारित्ररहितो योत्र

वह मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥४—५॥ जो धीर वीर और वैराग्य को धारण करने वाला सम्यग्दृष्टी थोड़ा सा आगम भी पढ़ कर चारित्र का पालन करता है वह पुरुष उस चारित्र को पालन करने से ही शुद्ध होता है बिना चारित्र के कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता ॥६॥ जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य से रहित है वह समस्त आगम को पढ़ कर भी यदि चारित्र धारण न करे तो वह कर्म के बंधन से कभी शुद्ध नहीं हो सकता ॥७॥ अतएव हे मुने ! तू भिक्षावृत्ति धारण कर, वन में निवास कर, स्वादरहित थोड़ा भोजन कर तथा व्यर्थ और असारभूत बहुत सी बकवाद मत कर। हे आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तू सब दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना को चिंतवन कर, उत्कृष्ट वैराग्य धारण कर, जो कुछ कर वह धर्म की प्राप्ति के लिये कर, एकाकी होकर ध्यान में लीन हो, कषायरहित हो, परिग्रह रहित हो, प्रमाद रहित हो, आलंबन वा किसी के आश्रय से रहित हो, और जितेन्द्रिय बन ॥८—१०॥ हे मुने ! तू समस्त परिग्रहों से रहित हो, तत्त्वों का जानकार बन, लोकव्यवहार से दूर रह, और चित्त की एकाग्रता धारण कर। क्योंकि व्यर्थ की अनेक कल्पनाएं करने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥११॥ जो योगी दृढ़ चारित्र को धारण करता है वह थोड़े से आगम को भी पढ कर जानकार ऐसे अन्य मुनि को स्वर्गमोक्ष को सिद्ध करने के कारण दश पूर्व के जानकार को भी जीत लेता है ॥१२॥ जो पुरुष चारित्र रहित है वह यदि बहुत से श्रुतज्ञान को पढ़ले

श्रुतेन बहुनापिकिम् । साध्यं तस्य यतो नूनं मज्जनं भववारिधौ ॥ १३ ॥ ज्ञाननिर्जीविकेनात्रध्यानवातेन धीधनाः । चारित्रपोतमारूढास्तरन्त्याशुभवार्णवम् ॥ १४ ॥ ज्ञानं प्रकाशक विश्व तत्त्वातत्त्वादिकर्मणाम् । दुष्कर्मनाशकंध्यानं संयमः संवरप्रदः ॥१५॥ संयोगेसत्यमीषा च त्रयाणां स्यान्महामुने । जिनेन्द्रशासने मोक्षो नान्यथाभवकोटिभिः ॥१६॥ चारित्रवर्जितम् ज्ञानं लिंगग्रहणमूर्जितम् । द्विधासंयमहीनं च तपोदर्शनदूरगम् ॥ १७ ॥ योज्ञः करोति कुर्यात् स केवलं हि निरर्थकम् । यतो न निर्जरा मोक्षो नास्य कर्मास्रवात्कचित् ॥ १८ ॥ सल्लेश्याध्यानचारित्रविशेषैस्तपसा सताम् । सद्गतिः स्याच्चतेभ्योऽपिध्यानं कार्यंबुधैःपरम ॥ १९ ॥ सम्यक्त्वाज्जायते ज्ञान ज्ञानात्सर्वार्थदर्शिनी ।

तो भी उससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि बिना चारित्र के वह संसाररूपी समुद्र में ही डूबता है ॥१३॥ जो बुद्धिमान् पुरुष चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जात हैं वे ज्ञानरूपी पतवार से, और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं ॥१४॥ ज्ञान समस्त तत्त्वों को अतत्त्वों को और कर्मों को प्रकाशित करता है तथा ध्यान अशुभ कर्मों का नाश करता है और संयम आते हुए कर्मों को रोकता है ॥१५॥ यदि किसी महा मुनि के ज्ञान ध्यान और संयम इन तीनों का एक साथ संयोग हो जाय तो भगवान जिनेन्द्रदेव के शासन में उसी मुनि को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है बिना इन तीनों के मिले करोड़ों भवों में भी कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१६॥ जो अज्ञानी चारित्र हीन ज्ञान को धारण करता है और दोनों प्रकार के संयम से रहित तथा तप और सम्यग्दर्शन से रहित उत्कृष्ट जिन लिंग धारण करता है वह निरर्थक ही जिन लिंग धारण करता है क्योंकि बिना चारित्र के निरंतर कर्मों का आस्रव होता रहता है इसलिये उनके न तो कर्मों की निर्जरा हो सकती है और न मोक्ष हो सकती है ॥१७–१८॥ उत्तम शुभ लेश्या ध्यान और चारित्र की विशेषता से तथा तपश्चरण से सज्जनों को श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा उनमें भी बुद्धिमानों को उत्कृष्ट ध्यान ही करना चाहिये ॥१९॥ देखो सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली स्वकीय और परकीय समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है। जिसको समस्त पदार्थों की

उपलब्धिः पदार्थानांसर्वेषांस्वपरात्मनाम् ॥ २० ॥ उपलब्धपदार्थोंगीश्रेयोश्रेयश्च वेत्तिवै । श्रेयोश्रेयोर्थवेत्तोद्धू तद्‌ःशील: सुशीलवान् ॥ २१ ॥ शीलेनाभ्युदयः सर्वस्ततोमोक्षंलभेत स । अतोज्ञानव्रतादीनां सम्यक्त्वमूलमुच्यते ॥ २२ ॥ कृत्स्नं चापि श्रुतज्ञानं पठितं सुष्ठुसंश्रितम् । गुणितं भ्रष्ट चारित्रं ज्ञानवन्तंयतिं क्वचित् ॥ २३ ॥ सद्गतिंनेतुमत्यर्थं न समर्थं भवेद्भवान् । अतो ज्ञानात्प्रधानत्वं चारित्रं विद्धिमोक्षदम् ॥ २४ ॥ यदिप्रदीपहस्तो यः पतेत्कूपेप्रमादवान् तस्यदीपफलंकिंस्यान्नकिंचिदपिभूतले । ॥ २५ ॥ शिक्षित्वायोखिलं ज्ञानं यदि चारित्रमंजसा । पालयेन्नात्र किं तस्य श्रुतज्ञानफलंभुवि ॥ २६ ॥ पिण्ड वसतिकां ज्ञानसयमोपधिमात्मवात् । उद्गमोत्पादनादिभ्योदोषेभ्य:प्रत्यहं सुधी. ॥ २७ ॥ शोधयेद्योतिनिर्दोषचारित्रशुद्धयेमुनिः । विशुद्धं तस्य चारित्रंजायते शिवकारणम् ॥ २८ ॥

उपलब्धि प्राप्त हो जाती है वह मनुष्य अपने कल्याण अकल्याण को जान लेता है। तथा कल्याण अकल्याण को जान लेने से शील रहित मनुष्य भी शीलवान बन जाता है। शील पालन करने से सब तरह के अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं तथा अभ्युदय प्राप्त होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतएव कहना चाहिये कि सम्यग्ज्ञान और व्रतादिकों के लिए सम्यग्दर्शन ही मूल कारण है ॥२०-२२॥ जिस किसी यति ने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़ लिया है तथा अच्छी तरह उसको धारण कर लिया है मनन कर लिया है तो भी चारित्र से भ्रष्ट उस ज्ञानी पुरुष को श्रेष्ठ गति में पहुँचाने के लिए आप कभी समर्थ नहीं हो सकते अतएव हे मुने! ज्ञान की अपेक्षा तू सम्यक्चारित्र को ही प्रधान समझ। क्योंकि यह निश्चित है कि मोक्ष सम्यक्चारित्र से ही प्राप्त होती है ॥२३-२४॥ जो कोई प्रमादी मनुष्य हाथ में दीपक लेकर भी कूए में पड़ जाय तो फिर उसने उस दीपक का फल ही क्या पाया अर्थात् इस लोक में उसे दीपक का फल कुछ नहीं मिला। इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त ज्ञान को पढ कर भी यदि चारित्र को पालन नहीं करता है तो समझना चाहिये कि उसे इस संसार में श्रुतज्ञान का फल कुछ नही मिला ॥२५-२६॥ जो आत्मा के स्वरूप को जानने बाला बुद्धिमान् अपने निर्दोष चारित्र को सिद्ध करने के लिये आहार वसतिका ज्ञानोपकरण और संयमोपकरणों को उद्गम उत्पादन आदि दोषों से प्रतिदिन शुद्ध करता है आहार भी निर्दोष ग्रहण करता है तथा उपकरणों के ग्रहण में भी कोई दोष नहीं लगाता उसी मुनि के मोक्ष का

पूर्णमचेलकत्वं च लोचोवैराग्यवर्द्धकः । सर्वसंस्कारहीनापराव्युत्सृष्टशरीरता ॥ २९ ॥ प्रतिलेखनमित्येपर्लिगकल्पश्चतुर्विधः । जिनेन्द्रलिंगिनां व्यक्तो लोकेसंवेगसूचकः ॥ ३० ॥ रजःप्रस्वेदयोरग्रहणंमृदुतापरा । सौकुमार्यं लघुत्वं च यत्रपंचगुणाइमे ॥ ३१ ॥ सन्ति मयूरपिच्छेत्रप्रतिलेखनमूर्जितम् । तं प्रशंसन्तितीर्थेशादयार्थे योगिनां परम् ॥३२॥ प्रक्षिप्तं चक्षुषोर्यन्मनाक्पीडा करोति न । निर्ग्रंथैर्निर्भयंरम्यं तद्ग्राह्यं प्रतिलेखनम् ॥ ३३ ॥ उत्थायशयनाद्रात्रौ विनात्रप्रतिलेखननात । कृत्वाप्रस्रवणादींश्चपुन. स्वपन्व्रजन्भुवि ॥ ३४ ॥ उद्वर्तनपरावर्तनानि कुर्वन्नगोचरे । नेत्राणां वा यतिः सुप्तो जीवघातं कथं त्यजेत ॥ ३५ ॥ मत्वेति कार्तिकेमासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम् । स्वयंपतितपिच्छाना

कारण ऐसा अत्यंत शुद्ध चारित्र होता है ॥२७-२८॥ पूर्णरूप से नग्नता धारण करना, वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलोच करना, सब तरह के संस्कारों से रहित शरीर से भी निर्ममता धारण करना और प्रतिलेखन के लिए पीछी धारण करना ये चार लिंगकल्प कहे जाते हैं ये चारों ही भगवान जिनेन्द्रदेव के लिंग को प्रगट करते हैं और लोक में वैराग्य के चिन्ह हैं ॥२९-३०॥ जिस पर न तो धूल लग सके, न पसीना लग सके, जो अत्यंत कोमल हो, सुकुमार हो, और छोटी हो ये पाँच गुण जिसमें हों वही प्रतिलेखन उत्तम गिना जाता है। ये पाँचों गुण मयूरपिच्छ में हैं इसलिए भगवान जिनेन्द्रदेव जीवों की दया पालन करने के लिये मुनियों को मयूरपिच्छ की पीछी की ही प्रशंसा करते हैं ॥३१-३२॥ जिसको आँख में डाल देने पर भी रंचमात्र पीड़ा न हो वही निर्भय और मनोहर प्रतिलेखन निर्ग्रंथ मुनियों को ग्रहण करना चाहिये। (जिसके रखने में कोई भय न हो मूठ में सोना चाँदी न लगा हो उसको निर्भय कहते हैं) ॥३३॥ यदि मुनि के पास प्रतिलेखन वा पीछी न हो तो जब कभी रात्रि में वह अपनी शय्या से उठेगा मूत्र की बाधा दूर करने जायगा फिर आकर सोवेगा, चलेगा, किसी पुस्तक कमंडलु आदि को उठावेगा रक्खेगा उठेगा कर्वट बदलेगा अथवा ये सब क्रियाएं न भी करे तो भी नेत्र से न दिखने वाले स्थान में सोवेगा, इन सब क्रियाओं में वह यति बिना पीछी के जीवों के घात को कैसे बचा सकेगा। अर्थात् मुनि के पास पीछी हर सयम होनी चाहिये बिना पीछी के जीवों की हिंसा का त्याग हो ही नहीं सकता ॥३४-३५॥ अतएव मुनियों को कार्तिक महीने में

लिंगचिह्नं च योगिभिः ॥ ३६ ॥ असने शयनेस्थाने व्युत्सर्गेगमनादिके । ग्रहणे स्थापने ज्ञानशौचोपकरणात्मनाम् ॥ ३७ ॥ उद्वर्तनपरावर्त्तनांगकंडूयनादिषु । कृपयायत्नतः कार्यंदृष्टिपूर्वंप्रमार्जनम् ॥ ३८ ॥ यो विशोध्यमुनिर्भुक्तेपिण्डापध्याश्रयादिकान् । मूलस्थानं सएवाप्तो यतित्वगुणदूरगः ॥ ३६ ॥ पिण्डोपध्यादिशुद्धियोऽकृत्वातिमूढमानसः । कायक्लेशं तपः कुर्याच्चिरप्रवृजितोपिसन् ॥ ४० ॥ तस्यसंयमहीनं तत्तपो व्यर्थंयमादि च । न चारित्रं क्रियाश्रेष्ठा नस्यात्पापास्रवाद्वृथा ॥ ४१ ॥ छित्वामूलगुणानाद्यान्ख्यातिपूजादिहेतुना । वृत्तमूलादियोगान् यो

स्वयं गिरे हुये पंखों की पीछी बनानी चाहिये क्योंकि यह मुनियों का खास चिह्न है ॥३६॥ मुनियों को सोते समय बैठते समय खड़े होते समय कायोत्सर्ग करते समय, गमनागमन करते समय ज्ञानोपकरण वा शौचोपकरण के उठाते रखते समय उठते समय करवट बदलते समय और खुजाते समय कृपापूर्वक प्रयत्नपूर्वक, आँख से देख कर पीछी से प्रमार्जन करना चाहिये ॥३७–३८॥ जो मुनि आहार के आश्रित रहने वाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है वह मुनि मुनिपने के गुणों से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है, (उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिये) ॥३६॥ जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का दीक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामिग्री को बिना शुद्ध किये कायक्लेश तपश्चरण को करता है उसका वह तपश्चरण संयम रहित कहलाता है और इसीलिये वह व्यर्थ है । इसी प्रकार उस मुनि के किये हुये यम नियम चारित्र भी सब व्यर्थ समझने चाहिये । उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती । क्योंकि संयम हीन मुनि के सदा पापकर्मों का आस्रव होता रहता है और इसीलिये उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती हैं ॥४०–४१॥ जो मुनि अपनी कीर्ति के लिये अथवा अपना बड़प्पन वा पूज्यपना दिखलाने के लिये महाव्रतरूप मूलगुणों का तो भंग कर देता है और वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योगधारण करना आदि अत्यंत कठिन बाह्य तपश्चरणों को धारण करता है उसके मूलगुण रहित उत्तरगुण ऐसे ही समझने चाहिये जैसे बिना जड़ के वृक्ष होता है । जिस प्रकार बिना जड़ का वृक्ष न ठहर सकता है न बढ़ सकता

वाह्यान गृह्णातिदुर्द्धरान् ॥ ४२ ॥ तस्योत्तरगुणाःसर्वेमूलहीना द्रुमा इव । समीहितफलं किं ते करिष्यन्ति जगत्त्रये ॥ ४३ ॥ हत्वाप्राणान् वहून् कुर्यादात्मनो यो महाबलम् । अप्रासुक सुखाकांक्षी मोक्षाकांक्षी न स कचित् ॥ ४४ ॥ एकद्वित्रिमृगादींश्च सिंहव्याघ्रादिकोत्र यः । निहत्य खादयेत्पापी नीच स कथ्यते यदि ॥ ४५ ॥ यो मुनिः प्रत्यहं हत्वा बहूँश्चस्थावरत्रसान् । भक्षयेत्स कथंपापी नीचो वा नाधमोभवेत् ॥४६॥ आरंभाज्जीवराशीनां वधोवधादघंमहत् । अघाद्बंधोभवेत्स्वस्यदुर्गतौतीव्रदु:खद ॥ ४७ ॥ तस्मादात्मा न हंतव्य स्वयं स्वेनवधादिना । तेनप्राणिवधोनित्यंमोक्तव्योयत्नतोवुधैः ॥ ४८ ॥ ये स्थानमौनवीरासनाद्या हि दुष्कराः कृताः । आतापनादियोगाश्चसद्ध्यानाध्ययनादय ॥ ४९ ॥ षष्ठाष्टमादिमासान्ताउपवासाअधास्रवात् । सर्वेनिरर्थकानूनमध कर्मान्नसे–

है और न फल सकता है उसी प्रकार मूलगुण रहित उत्तरगुण तीनों लोकों में कभी इच्छानुसार फल नहीं दे सकते ॥४२–४३॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य अनेक प्राणियों को मार कर अपने को महाबली प्रगट करता है उसी प्रकार अप्रासुक पदार्थों को ग्रहण करने वाला मुनि सुख को चाहने वाला कहा जाता है वह मोक्ष को चाहने वाला कभी नहीं कहा जा सकता ॥४४॥ देखो सिंह बाघ आदि जीव एक दो तीन चार आदि हिरण वा अन्य पशुओं को मारकर खा जाता है इसलिए वह पापी और नीच कहलाते हैं। इसी प्रकार जो मुनि विना शुद्ध किया हुआ आहार ग्रहण करता है अर्थात् अनेक त्रस स्थावर जीवों की हिंसा कर आहार ग्रहण करता है वह क्यों नहीं पापी नीच और अधम कहलावेगा अर्थात् अवश्य कहलावेगा ॥४५–४६॥ और देखो आरंभ करने से जीवराशियों की हिंसा होती है हिंसा होने से महा पाप उत्पन्न होता है, और उस महापाप से अपने ही आत्मा को नरकादिक दुर्गतियों में तीव्र दुःख देने वाला कर्मबंध होता है ॥४७॥ इसलिये बुद्धिमानों को जीवों की हिंसा करके अपने आत्मा की हिंसा नहीं करनी चाहिये और इसके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा के लिये प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ जो मुनि अधः कर्म नाम के दोष से दूषित आहार को ग्रहण करते हैं वे चाहे कयोत्सर्ग धारण करें, चाहे मौन धारण करें चाहे वीरासन धारण करें चाहे आतापन आदि कठिन कठिन योग धारण करे चाहे श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन आदि शुभ कार्यों में लगे रहें और चाहे

विलाम् ॥ ५० ॥ यथोत्सृजति रौद्राहिः कंचुकं न विषं तथा । कश्चिन्माधुस्त्यजेद्द्रव्यं पंचसूना न मंदधीः ॥ ५१ ॥ उदूखलस्तथा चुल्हीप्रेषणी च प्रमार्जिनी । उदकुम्भः इमाःपंचसूनाः मत्त्वसंकराः ॥ ५२ ॥ आसुप्रवर्ततेयोऽधी. कृतकारितमोदनैः । मुखस्वादायतस्याहो धृयादीत्वादुरात्मनः । ५३ ॥ योधःकर्मानिनिष्पन्नं भुंक्तेन्नंरमनागधी. । जडोविराधनां कृत्वा षड्जीवानां च घातनम् ॥ ५४ ॥ श्रावकः सोधमोज्ञानः पापारम्भप्रवर्तनात् । उभयभ्रष्टता-माप्तोदानपूजादिवर्जनात् ॥५५॥ पचनेपाचनेन्नानांमनानुमनने शठः । त्रतंत्वाङ्मनःकायैस्तस्मागोत्रबिभेति न ॥५६॥ मिथ्यादृष्टिः स मन्तव्योविरुद्धाचरणाद्भुवि । न तस्यचेह लोकोस्तिकुकीर्तिवर्तनात कचित् ॥ ५७ ॥ परलोको न

वेला तेला करें पंद्रह दिन वा महीने भरका उपवास करें परंतु उनके सदा पापकर्मों का ही आस्रव होता रहता है इसलिये उनका सब तपश्चरण निरर्थक ही समझना चाहिये ॥४९–५०॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्प काँचली को छोड़ देता परंतु विष को नहीं छोड़ता उसी प्रकार कोई कोई साधु वस्त्रों का त्याग तो कर देते हैं परंतु वे मूर्ख पंचपापों का त्याग नहीं करते ॥५१॥ चक्की, उखली, चूली, बुहारी और पानी रखने का परंडा ये पाँच अनेक जीवों की हिंसा करने वाले पंच पाप कहलाते हैं ॥५२॥ जो मूर्ख मुनि अपने स्वादिष्ट अन्न के लिये कृत कारित अनुमोदना से इन पंचपापों में अपनी प्रवृत्ति करते हैं उन दुष्टों की दीक्षा लेना भी व्यर्थ समझना चाहिये ॥५३॥ जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता के कारण अंधा हुआ जो मूर्ख श्रावक छहों प्रकार के जीवों की विराधना कर के वा छहों प्रकार के जीवों का घात कर के अधः कर्म से उत्पन्न हुए अन्न को भक्षण करता है वह पापारंभ में प्रवृत्ति करने के कारण अधम कहलाता है और उस द्रव्य से वह दान पूजा करने का भी अधिकारी नहीं रहता इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों से भ्रष्ट गिना जाता है ॥५४–५५॥ जो मूर्ख मन वचन काय से अन्न के पकाने पकवाने वा अनुमोदना करने में प्रवर्त होते हैं इन ऊपर लिखे पंच पापों से नहीं डरते उनको मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिये। क्योंकि वे विरुद्ध आचरणों को ही धारण करते हैं और इसीलिये इस लोक में भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड़ जाता है तथा संयमरूप आचरण

जायेत संयमाचरणाद्विना । किन्तु स्याद्दुर्गतौ नून गमन व्रतभंगत ॥ ५८ ॥ प्रायश्चित्तं विधायोच्चैर्योभुनक्तिपुनः शठः । अध कर्मकृताहार तस्य तन्निष्फलं भवेत् ॥ ५६ ॥ य. साधुर्यत्र देशादौ शुद्धेऽशुद्धेथवोभयोः । आहारोपधिवासादि यथालब्धं निजेच्छया ॥ ६० ॥ शुद्धं वा शुद्धमादत्तोधवत्परीक्षया विना । मुक्तोयतिगुणैःसोऽपि प्रोक्त संसार–वर्द्धक. ॥ ६१ ॥ योज्ञोधःकर्मजाहारेनित्यं परिणतः कचित् । प्राप्तेपिप्रासुकेहारे वधक. स हृदो भवेत् ॥ ६२ ॥ शुद्धं मृगयममाणो योन्नादिं कृतादिदूरगम् । अध कर्मकृतान्नाप्तेक्कचिच्छुद्धोहृदोत्र स ॥ ६३ ॥ मूलोत्तरगुणेष्वत्र भिक्षाचर्योदिताजिनैः । प्रवरा तां विना विश्वे ते कृताःस्युर्निरर्थका ॥ ६४ ॥ प्रत्यह वरमाहारो भुक्तो दोषातिग

धारण न करने के कारण उनका परलोक भी बिगड़ जाता है । इस प्रकार उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और व्रतभंग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गतियों मे अवश्य पहुँचते हैं ॥५६–५८॥ जो मूर्ख अधःकर्म दोप से दूषित आहार ग्रहण करने के कारण प्रायश्चित्त ले लेते हैं और प्रायश्चित्त लेकर फिर भी अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं उनका भी वह सब तपश्चरण निष्फल समझना चाहिये ॥५६॥ जो मुनि शुद्ध वा अशुद्ध देश में अथवा शुद्ध अशुद्ध मिले हुए देश मे आहार उपकरण वसतिका आदि अपनी इच्छानुसार जैसा प्राप्त हो जाय चाहे वह शुद्ध हो वा अशुद्ध हो उसको अंधे के समान विना परीक्षा किए हुये ग्रहण कर लेता है उसको भी मुनियों के गुणों से रहित ही समझ लेना चाहिये । उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने संसार को वढ़ाने वाला ही बतलाया है ॥६०–६१॥ जो मूर्ख प्रतिदिन अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करता है उसे यदि किसी दिन प्रासुक आहार भी मिल जाय तो भी हृदय से वह कर्मों का बंध करने वाला ही समझा जाता है ॥६२॥ इसी प्रकार यदि कोई मुनि कृत कारित अनुमोदना से रहित शुद्ध आहार को ढूंढता है और दैवयोग से उसे अधःकर्म जन्य आहार मिल जाता है तो भी उसे हृदय से शुद्ध ही समझना चाहिये ॥६३॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों में भिक्षा के लिये चर्या करना ही उत्तमगुण माना जाता है उस शुद्ध भिक्षाचर्या के विना बाकी के समस्त गुण निरर्थक ही बतलाये हैं ॥६४॥ सज्जनों को दोपरहित प्रतिदिन आहार कर

सताम् । पक्षमासोपवासादिपारणेदोषजो न च ॥ ६५ ॥ मृत्यादिभयभीतानां सर्वथाखिलदेहिनाम् । ददात्यभयदानं यस्तस्यैवसकला गुणाः ॥ ६६ ॥ आचार्यो ज्ञानवान्वैद्यः शिष्यो रोगीविरक्तवान् । चर्यौषधं च निष्पापं क्षेत्रं सावद्यवर्जितम् ॥६७ ॥ वैयावृत्यकराः साह्यकर्त्तारः परयानया । सामग्र्याकर्मरुक्त्यक कुर्यात्सूरिर्मुनिं द्रुतम् ॥६८॥ भिक्षाशुद्धिं सुचर्यायै धूमांगारमलोज्झिताम् । प्रागुक्त सर्वदोषातीतां कुर्वन्तु मुमुक्षवः ॥ ६९ ॥ जुगुप्सा लौकिकी वाह्या व्रतभंगादिजापरा । लोकोत्तरा जुगुप्सातस्त्रिरत्नशुद्धिहानिजा ॥ ७० ॥ व्रतातिचारसंशुद्धिः प्रायश्चित्तादि-निन्दनैः । कर्तव्यास्वोत्तमाचारैर्लोकनिन्दादिहानये ॥ ७१ ॥ शंकादीन्दूरतस्त्यक्त्वा शुद्धिं रत्नत्रये पराम् । कृत्वा लोकोत्तरानिन्दाहेयासंसारवर्द्धिनी ॥ ७२ ॥ यत्रोत्पत्तिः कषायाणांयान्तिस्वंखानिविक्रियाम् । दुर्जनाभक्तिहीनाश्च-

---

लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा एक महीने के उपवास के बाद पारणा के दिन सदोष आहार लेना अच्छा नहीं ॥६५॥ जो मुनि मृत्यु के भय से भयभीत हुए समस्त प्राणियों को अभय दान देता है उसी के समस्त गुण अपने आप आ जाते हैं ॥६६॥ संघ में आचार्य तो महाज्ञानी वैद्य हैं, संसार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है, पापरहित चर्या ही औषधि है पापरहित स्थान ही उसके लिए योग्य क्षेत्र है और वैयावृत्य करने वाले उसके सहायक हैं। वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनि को कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही नीरोग सिद्ध बना देते हैं ॥६७–६८॥ अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपनी चर्या के लिए पहले कहे हुये समस्त दोषों से रहित तथा धूप अंगार आदि दोषों से रहित भिक्षाशुद्धि धारण करनी चाहिये ॥६९॥ इस संसार में लौकिक घृणा तो बाह्य जुगुप्सा है व्रतों के भंग होने से उत्पन्न होने वाली घृणा अंतरंग जुगुप्सा है और रत्नत्रय की शुद्धि की हानि होना लोकोत्तर जुगुप्सा है। मुनियों को लोक निंदा दूर करने के लिये प्रायश्चित्त धारण कर आत्मनिंदा कर तथा उत्तम आचरण पालन कर अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिये ॥७०–७१॥ मुनियों को शंकादिक दोषों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और रत्नत्रय की परम विशुद्धि धारण कर संसार को बढ़ाने वाली लोकोत्तर निंदा का भी सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥७२॥ जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, अपनी इन्द्रियाँ प्रबल हो जाँय वा विकृत हो जाँय जहाँ पर दुष्ट और

सन्त्युपद्रवराशयः ॥ ७३ ॥ जायन्तेद्वेषरागाद्याः विघ्नाध्यानादिकर्मणाम् । व्रतभंगश्चलं चित्तं तत्क्षेत्रं वर्जयेद्यतिः ॥७४॥ एकान्तेनिर्जनेस्थानेवैराग्यगुणवृद्धिदे । श्मशानाद्रिगुहादौ च शून्यगेहे वनादिषु ॥ ७५ ॥ पशुस्त्रीक्लीवदुष्टादिहीनेशाम्ये शमप्रदे । क्षेत्रे वासं प्रकुर्वन्तिमुनयोध्यानसिद्धये ॥ ७६ ॥ नृपहीनं च यत्क्षेत्रंयत्र दुष्टो नृपो भवेत् । यत्र स्त्रीबालराजा च तत्र वासो न युज्यते ॥ ७७ ॥ दीक्षाग्रहणशीलाश्च यत्रसन्ति न धार्मिकाः । हानयः सयमादीनां स्थातव्यं तत्र नोर्जितैः ॥ ७८ ॥ स्त्रीक्षान्तिकाश्रमेस्थातुं क्षणमात्रं न कल्पते । यतीनां आसनस्थानस्वाध्यायग्रहणादिभिः ॥ ७९ ॥ संसर्गेणार्यिकास्त्रीणांव्यवहाराभिधा भुवि । जुगुप्सापरमार्थान्या जायते यमिनां द्रुतम् ॥ ८० ॥ जलकुम्भेयथा पद्मसम्पर्केण च वर्द्धते । सुशीतत्व सुगंधित्वं हीयतेऽनलसंगमात् ॥ ८१ ॥ तथोत्तमाश्रयेणात्र सद्बोधि-

---

भक्ति हीन मनुष्य रहते हों, जहाँ पर अनेक उपद्रव होते रहते हों, जहाँ पर रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते रहते हों, जहाँ पर ध्यान अध्ययन आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित होते हो जहाँ पर व्रतों का भंग होता हो और जहाँ पर चित्त चंचल हो जाता हो ऐसा क्षेत्र मुनियों को छोड़ देना चाहिये ॥७३-७४॥ मुनि लोग अपने ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत और निर्जन स्थान में वैराग्य गुण को बढ़ाने वाले, श्मशान पर्वत की गुफाएं सूने मकान और वन मे अत्यंत शांत और परिणामों को शांत करने वाले तथा पशु स्त्री नपुंसक तथा दुष्ट जीवों से रहित क्षेत्र में निवास करते हैं ॥७५-७६॥ जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो, जहाँ का राजा दुष्ट हो, और जहाँ पर स्त्री राज्य करती हो अथवा बालक राजा राज्य करता हो वहाँ पर मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥७७॥ जहाँ पर दीक्षा ग्रहण करने वाले लोग न हों जहाँ पर धर्मात्मा लोग निवास न करते हों, और जहाँ पर संयम की हानि होती हो ऐसे स्थान में उत्कृष्ट मुनियों को कभी नहीं रहना चाहिये ॥७८॥ मुनियों को बैठने कायोत्सर्ग करने अथवा स्वाध्याय ग्रहण करने के लिए भी स्त्रियों के अथवा अर्जिकाओं के आश्रम में क्षण मात्र भी नहीं ठहरना चाहिये । क्योंकि अर्जिका वा स्त्रियों के संसर्ग से मुनियों को व्यवहार जुगुप्सा भी प्रगट होती है और लोकोत्तर जुगुप्सा भी प्रगट होती है ॥७९-८०॥ जिस प्रकार जल के घड़े में कमल के संसर्ग से उसका शीतलपना और सुगंधितपना गुण बढ़ता है तथा अग्नि के संयोग से वे दोनों गुण

र्वद्धतेतराम् । क्षीयन्ते नीचसंगेनगुणदोषावयोगिनाम् ॥ ८२ ॥ प्रचण्डश्चपलोमन्दः पृष्टमांसादिभक्षकः । गुर्वादि-बहुलोमूर्खोदुराशयः सतां यतिः ॥ ८३ ॥ दम्भान्वितमदोषाणां दोषोक्तवनतत्परम् । मारणत्रासनोच्चाटनवशीकरणा-शयम् ॥ ८४ ॥ वैद्यज्योतिष्कसावद्यारम्भादिपरिवर्तकम् । पिशुनं कुत्सिताचारंमिथ्यात्वोपगतंशठम् ॥ ८५ ॥ लोकलोकोत्तराचाराजानन्तं स्वेच्छयायुतम् । चिरप्रव्रजितंचापीत्याद्यन्यदोषभाजनम् ॥ ८६ ॥ संयतंवर्जयेद्दूरंसदाचारी महामुनिः । पापापवादभीतात्मा तत्संगं नाश्रयेत्कचित् ॥ ८७ ॥ सूरेमु क्त्वा कुलं योत्रैकाकीभ्रमेन्निजेच्छया । उपदेशं न गृह्णाति पापश्रमण एव सः ॥ ८८ ॥ यः शिष्यत्वमकृत्वात्र पूर्वंस्वस्यशठाशयः । त्वरितः कर्तुमाचार्यत्वं हिंडति निजेच्छया ॥ ८९ ॥ घोंघाचार्यः स एवोक्तो मदान्तीव पापधीः । निरंकुशो गुणैर्हीनः स्वान्यदुर्गति-

नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उत्तम पुरुषों के आश्रय से मुनियों का रत्नत्रय अत्यंत बढ़ता है और नीच पुरुषों के आश्रय से रत्नत्रय गुण घटता है वा मलिन होता है ॥८१-८२॥ जो मुनि नीच लोगों की संगति करता है वह क्रोधी, चंचल, मंद, पीठका मांस भक्षण करने वाला अर्थात् पीठ पीछे निंदा करने वाला और मूर्ख होता है तथा वह अनेक गुरुओं का शिष्य होता है ॥८३॥ जो मुनि पाखंडी है, निर्दोषों को भी दोषी कहने के लिये तत्पर रहता है, जो मारण, त्रासन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करने की इच्छा रखता है, जो वैद्य ज्योतिष्क और पापरूप आरम्भों में प्रवृत्ति करता है, जो चुगलखोर है, जिसके आचरण निंदनीय हैं, जो मिथ्यादृष्टी है, मूर्ख है, जो लौकिक और लोकोत्तर आचरणों को नहीं जानता, जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है और चिरकाल का दीक्षित होने पर भी अन्य अनेक दोषों का भाजन है ऐसे मुनि का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये। जो सदाचारी महामुनि हैं और पाप तथा अपवाद से सदा भयभीत रहते हैं वे महामुनि ऊपर कहे हुये पाखंडी मुनियों की संगति कभी नहीं करते हैं ॥८४-८७॥ जो मुनि आचार्य के कुल को छोड़ कर अपनी इच्छानुसार अकेला परिभ्रमण करता है तथा किसी का उपदेश नहीं मानता उसको पापी मुनि कहना चाहिये ॥८८॥ जो मूर्ख पहले किसी आचार्य का शिष्य तो बनता नहीं और शीघ्र ही आचार्य पद धारण करने के लिए अपनी इच्छानुसार घूमता है उसको घोंघाचार्य वा दंभाचार्य समझना चाहिए। वह पापी है और मदोन्मत्त हाथी के समान गुणों से रहित होकर निरंकुश होता हुआ

कारकः ॥ ६० ॥ आचार्यत्वं नयतेस्वस्याजानन् मः जिनागमम् । स कुत्सितोपदेशैश्चात्मानं परं विनाशयेत् । ६१ ॥ वर्षादिगणनैश्चाहं सर्वं ज्येष्ठोत्र दीक्षया । मत्तोन्ये लघवोहीतिगर्वः कार्यो न सयतैः ॥ ६२ ॥ यतो वर्षाणिगण्यन्ते न मुक्तिसाधनेसताम् । केचिदन्तमुहूर्तेन गता मोक्षं दृढव्रताः ॥ ६३ ॥ रागद्वेषात्तमोहादीनिष्टोयोगोतिदुर्द्धरः । करोति कर्मणां बन्धं कषायैःसहदेहिनाम् ॥ ६४ ॥ जीवस्यपरिणामेनाणवः परिणमन्ति नुः । कर्मत्वेन स्वतोनांगी तन्मयत्वंप्रपद्यते ॥ ६५ ॥ ज्ञानचारित्रसम्पन्नः सद्ध्यानाध्ययने रतः । निष्कषायः स्थिरात्मात्रकर्मबन्धंकरोति न ॥६६॥ किन्तुसवरपोतेन तपसाखिलकर्मणाम् । विधायनिर्जरां ध्यानी तरत्याशुभवाम्बुधिम् ॥ ६७ ॥ कुर्वन्स्वाध्यायमात्मज्ञ

घूमता है। ऐसा मुनि स्वयं भी दुर्गति में जाता है और अन्य जीवों को भी दुर्गति में पहुँचाता है ॥८६–६०॥ जो मुनि श्री जिनागम को तो जानता नहीं और आचार्य बन बैठता है वह मुनि अपने निंद्य उपदेश से अपने आत्मा को भी नष्ट करता है और अन्य जीवों को भी नष्ट करता है ॥६१॥ "मैं अपने वर्ष का दीक्षित हूँ अतएव मैं इन सब मुनियों में बड़ा हूं ये सब मुनि दीक्षा में मुझ से छोटे हैं" इस प्रकार का अभिमान मुनियों को कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष को सिद्ध करने के लिए सज्जन पुरुष वर्षों की गिनती नहीं करते। अपने व्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करने वाले बहुत से मुनि ऐसे हो गये हैं जो अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष चले गये हैं ॥६२–६३॥ राग द्वेष इन्द्रियाँ और मोहादिक में लगे हुए दुर्धर मन बचन काय के योग कपायों का संबंध पाकर जीवों के कर्मों का बंध करते हैं। तीनों लोकों में भरे हुये कर्म परमाणु जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर जीवों के कर्मरूप परिणित हो जाते हैं। यह आत्मा बिना योग और बिना कपायों के स्वयं कर्मरूप परिणित नहीं होता ॥६४–६५॥ जो आत्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित है श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन में लीन है, कपायरहित है और स्थिर है अर्थात् मन बचन काय के योगों से रहित है वह आत्मा कभी कर्मों का बंध नहीं कर सकता ॥६६॥ किंतु ऐसा कपायरहित स्थिर ध्यानी आत्मा संवररूपी जहाज पर चढ़ कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से पार हो जाता है ॥६७॥ आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि विनय के साथ स्वाध्याय

पंचाक्षसंवृतोभवेत् । त्रिगुप्तश्चैकचित्तोत्रविनयेननिरास्रवः ॥ ९८ ॥ द्विषड्भेदतपोभ्योपिस्वाध्यायेन समं तपः । न भूतं परमं नास्ति न भविष्यतिमोक्षदम् ॥ ९९ ॥ ससूत्रा च यथा सूचि र्न नश्यतिप्रमादतः । तथा ससूत्रएवात्मा ज्ञानीरत्नत्रयांकितः ॥ १०० ॥ यत्नेन जयनिद्रां त्व यतो निद्रा ह्यचेतनम् । कृत्वात्रराक्षसीवाशुगिलेज्जनंगतक्रियम् ॥१॥ तथानिद्रावशःप्राणीखाद्त्यखाद्यमंजसा । अगम्यगमनं कुर्याद्विश्वपापेषु वर्तते ॥ २ ॥ इषुकारे यथा धत्ते ऋजुं चेषुं स्वचक्षुषा । तथैकाग्रत्वमापन्नंध्यानेध्यानीनिजंमनः ॥ ३ ॥ द्रव्यात्क्षेत्राथमीकालाद्भवाद्भावाद्भवेन्वहम् । विश्वदुःखाकरे कश्चिन्तयेत्परिनर्तनम् ॥ ४ ॥ महामोहाग्निनानित्यंदह्यमानेजगत्त्रये । विरक्ताः स्वसुखाद्धीराः

करता है वह पाँचों इन्द्रियों को वश में करता है, तीनों गुप्तियों को पालन करता है और एकाग्र चित्त होने के कारण कर्मों के आस्रव से रहित हो जाता है ॥९८॥ बारह प्रकार के तपश्चरण में भी स्वाध्याय के समान अन्य कोई तपश्चरण उत्कृष्ट और मोक्ष देने वाला न आज तक हुआ है न है और न आगे कभी हो सकता है ॥९९॥ जिस प्रकार सूत्रसहित (डोरा सहित) सुई प्रमाद के कारण नष्ट नहीं होती, खोती नहीं उसी प्रकार सूत्रसहित सूत्रों का वा सिद्धांतशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी आत्मा रत्नत्रय से सुशोभित होता है ॥१००॥ हे मुने तू प्रयत्नपूर्वक निद्रा को जीत क्योंकि यह निद्रा राक्षसी के समान है। राक्षसी जिस प्रकार मनुष्यों को मार कर खा जाती है उसी प्रकार यह निद्रा भी मनुष्य को अचेतन के समान क्रियारहित बना कर निगल जाती है ॥१०१॥ इसके सिवाय इस निद्रा के वशीभूत हुए प्राणी अभक्ष्य भक्षण करते हैं अगम्य गमन करते हैं और समस्त पापों में प्रवृत्ति करते हैं ॥१०२॥ जिस प्रकार बाण चलाने वाला आँख से देख कर अपना बाण सीधा रखता है उसी प्रकार ध्यान करने वाला मुनि अपने ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त हुए अपने मन को सरल ही रखता है ॥३॥ यह समस्त संसार द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव से प्रतिदिन दुःखों की खानि बना रहता है फिर भला ध्यान करने वाला किस को बदल कर चिंतवन करे ॥४॥ ये तीनों लोक महा मोहरूपी अग्नि से जल रहे हैं इसलिये जो धीर वीर मुनि अपने सुख से विरक्त हैं वे ही मुनि ध्यान से उत्पन्न हुए अमृत का

पिबन्तिध्यानजामृतम् ॥५॥ यथा नेत्रसमुद्राद्यासहन्तेन्तर्गतं न च । तृणादीनि तथा दत्ताः कषायाचसुखादिकान् ॥६॥ कैवल्यदर्शनज्ञानमयंस्वात्मानमूर्जितम् । अनादिनिधनं कर्मातिग निश्चयवेदिनः ॥ ७ ॥ पृथक्कृत्वाशरीरादिपर्यायेभ्यो— मुमुक्षवः । ध्यायन्ति स्वेकचित्तेननिर्विकल्पपदाश्रिताः ॥ ८ ॥ अकषायं तु चारित्रं कषायवश आत्मवान् । भवेदसंयतो नूनं मिथ्यादृष्टिः कुमार्गगः ॥ ९ ॥ यदोपिशमितोविश्वकषायेभ्योतिशान्तधीः । तदेवसंयतः पूज्योभवेद् ज्ञानीशिवाध्वगः ॥ १० ॥ अन्तकाले यतेः स्वस्य गणप्रवेशतो वरम् । प्रवेशनं विवाहेत्र रागोत्पत्तिर्विवाहतः ॥११॥ भवेत्पुनर्गणः सर्वदोषोत्पत्त्यादिहेतुकः । शिष्यादिमोहसंयोगात्तस्मान्मृत्योगण त्यज ॥ १२ ॥ यथापृथ्वीजलादीनाम—

पान करते रहते हैं ॥५॥ जिस प्रकार नेत्र और समुद्र आदि पदार्थ अपने भीतर आए हुए तृणादिकों को सहन नहीं कर सकते हैं बाहर निकाल कर फेंक देते हैं उसी प्रकार चतुर पुरुष भी कषाय और इन्द्रियों के सुखों को सहन नहीं करते बाहर निकाल कर फेंक देते हैं ॥६॥ जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं निश्चयनय से आत्मा के स्वरूप को जानते हैं और जिन्होंने निर्विकल्पक पद का आश्रय ले लिया है वे मुनि केवलदर्शनमय, केवलज्ञानमय, अनादि अनिधन कर्मों से रहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसे अपने आत्मा को शरीरादिक पर्यायों से सर्वथा अलग समझते हैं और एकाग्रचित्त से उस आत्मा का ध्यान करते हैं ॥७–८॥ चारित्र उसी को कहते हैं जो कषायरहित होता है इसीलिये जो आत्मा कषाय के वशीभूत है वह अवश्य ही असंयमी है तथा कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है ॥९॥ अत्यंत शांत बुद्धि को धारण करने वाला मुनि जब अपने कषायों को अत्यंत शांत कर लेता है तभी वह संयमी, पूज्य, ज्ञानी और मोक्षमार्ग में चलने वाला कहलाता है ॥१०॥ मुनियों को अंतिम समय में (समाधि मरण के समय) अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिये। उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है ॥११॥ अपने गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है इसीलिये अपने गण में सब तरह के दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव हे मुने समाधिमरण के समय तू अपने गण का त्याग कर ॥१२॥ जिस प्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा

मावे जायतेऽत्र न । अंकुरोखिलबीजानां वृद्धिहेतुः फलप्रदः ॥ १३ ॥ तथाशिष्यादिसंगोत्थरागद्वेषाद्यभावतः । कर्मणां च कषायाणांतोत्पत्तियमिनांभवेत् ॥ १४ ॥ कषायैर्हेतुभूतैश्चविश्वेपरिग्रहादयः । जायन्तेमानसे नृणामन- र्थशतकारिणः ॥ १५ ॥ तेषांसर्वकषायाणामनुत्पत्त्यैमुनीश्वरैः । विधेयंपरमंयत्नंक्षमातोषादिभिः सदा ॥ १६ ॥ अर्थार्थं जीवितार्थं च जिह्वाकामार्थमंजसा । म्रियतेनन्तवारान् भो मारयेच्चापरान् जनः ॥ १७ ॥ जिह्वोपस्थनिमित्तं च जीवोनादिभवार्णवे । प्राप्तोघोरतरं दुःखंमज्जनोत्थमनंन्तशः ॥ १८ ॥ चतुरंगुलमानात्रजिह्वाही विश्वभक्षिका । चतुरंगुलमात्रोपस्थोनन्तभववर्द्धकः ॥ १९ ॥ एतैरष्टांगुलोत्पन्नैर्दोषैर्दोषनिबन्धनैः । अनन्तदुःखसन्तानंप्राप्नुवन्ति- खलम्पटा ॥ २० ज्ञात्वेतिरमनोपस्थसर्पौ त्रैलोक्यभीतिदौ । दृढवैराग्यमंत्रेण कीलयन्तु तपोधनाः ॥ २१ ॥ काष्ठा-

---

बिना अंकुर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग सकते हैं उसी प्रकार शिष्य आदि के संगति से उत्पन्न हुए राग द्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥१३–१४॥ इन मनुष्यों के हृदयों में सैकड़ों अनर्थ करने वाले समस्त परिग्रह इन कषायों के ही कारणों से होते हैं इसलिये मुनियों को क्षमा और संतोष आदि आत्मगुण धारण कर समस्त कषायों को उत्पन्न न होने देने के लिये परम प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥१५–१६॥ देखो ये मनुष्य धन के लिए, जीवन के लिये, जिह्वा इन्द्रिय के लिये और कामेन्द्रिय के लिये अनंतवार स्वयं मरता है और अनंतवार ही दूसरों को मारता है ॥१७॥ इस जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के कारण यह जीव अनादि काल से इस संसाररूपी समुद्र में अनंतवार डूबा है और इसने अनंतवार ही अत्यंत महा घोर दुःख पाये हैं ॥१८॥ यह जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी यद्यपि चार अंगुलप्रमाण है तथापि समस्त संसार को खा जाने वाली है। इसी प्रकार यह कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनंत संसार को बढ़ाने वाली है ॥१९॥ इस प्रकार इन आठ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रिय से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले होते हैं और उन्हीं से यह इन्द्रियलंपटी जीव अनंत दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं ॥२०॥ यही समझ कर तीनों लोकों को भय उत्पन्न करने वाले ये जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रियरूपी सर्प वैराग्यरूपी मंत्र के द्वारा तपस्वियों को कील देने चाहिये ॥

दिर्जागनारूपाद्भेतव्यं संयतैः सदा । यतस्तद्दर्शनान्नूनंचित्तक्षोभोभवेन्नृणाम् ॥ २२ ॥ सर्पिर्भृतघटाभोंगीस्त्रीज्वल-ज्ज्वालसन्निभा । तयोः सम्पर्कतः किं किमनर्थो जायते न नुः ॥ २३ ॥ स्त्रीसमीपं गतायेत्रहास्यवार्तादिलोकनैः । नष्टास्ते भ्रष्टचारित्राइतरे च शिवंगताः ॥ २४ ॥ मातृभग्नीसुतामूकावृद्धास्त्रीरूपतोनिशम् । भेतव्यंमुनिभिर्यस्मात्क्षोभ स्यान्नेत्रचित्तयोः ॥२५॥ हस्तपादपरिछिन्नां कर्णनासाविवर्जिताम् । शतवर्षप्रमां नारी दूरतोवर्जयेद्व्रती ॥२६॥ भावेनविरतोयोगीविरक्तोविश्ववस्तुषु । भवेत्स्वमुक्तिगामी च द्रव्येण भववर्द्धकः ॥ २७॥ विपुलाहारसेवार्था वपुसुखादिशोधनम् । गधमाल्यादिकादानगीतवाद्यादिसंश्रुतिः ॥ २८ ॥ सरागोचित्रशालादौकोमलेशयनासनम् ।

मुनियों को काठ की बनी हुई स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिये । क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ॥२२॥ यह मनुष्य घी से भरे हुये घड़े के समान है और यह स्त्री जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान है । इन दोनों के संबंध से मनुष्यों को भला क्या क्या अनर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् सब कुछ तरह के अनर्थ हो सकते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य हंसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिये स्त्रियों के पास जाते हैं वे चारित्र से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते है । तथा जो ऐसा नहीं करते स्त्रियों से अलग रहते हैं वे अवश्य मोक्ष जाते हैं ॥२४॥ मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूंगी और वृद्धा आदि स्त्रियों के रूप से भी सदा डरते रहना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के रूप से भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ॥२५॥ जिस स्त्री के हाथ पैर कटे हुए हों और जिसके नाक कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की हो तो भी व्रतियों को ऐसी स्त्री का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ॥२६॥ जो मुनि अपने भावों से विरक्त है उसे सब वस्तुओं से विरक्त समझना चाहिए तथा उसे ही स्वर्गमोक्ष जाने वाला समझना चाहिए । जो मुनि ऊपर से विरक्त है भावों से विरक्त नहीं है उसे संसार को बढ़ाने वाला ही समझना चाहिये ॥२७॥ बहुत सा आहार खाना, अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, गंध लगाना वा माला पहनना, गीत बाजे सुनना, राग को उत्पन्न करने वाली और स्त्री पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल

स्त्रीसंसर्गोर्थवस्त्रादिग्रहणंभोगसिद्धये ॥ २९ ॥ पूर्वसेवितभोगानुस्मरणंस्वस्यमानसे । इन्द्रियार्थरतौ चेहा सर्वेष्ठरससेवनम् ॥ ३० ॥ इमानब्रह्महेतून् यो दशदोषांस्त्यजेत्सदा । दृढव्रतो यति सोऽत्र भवत्येवनचापरः ॥ ३१ ॥ मोहादिककषायाद्यैर्गृह्णात्यंगीपरिग्रहान् । अस्माद्बाह्यान्तराः संगाः सर्वेत्याज्याः शिवार्थिभिः ॥ ३२ ॥ निस्संगोऽत्रनिरारम्भो भिक्षाचर्याशुभाशयः । सद्ध्यानरतएकाकीगुणाढ्यः श्रमणो भवेत् ॥ ३३ ॥ नाम्नास्थापनया द्रव्यभावाभ्यां श्रमणस्य च । चतुर्विधोऽत्रनिक्षेपोगुणिभिर्गुणसम्भवः ॥ ३४ ॥ भावश्रमणएकोऽत्र शुद्धरत्नत्रयांकितः । विश्वाभ्युदयसौख्यादीन् भुक्त्वास्यान्मुक्तिवल्लभः ॥ ३५ । नामाद्या श्रमणा शेषाः गुणहीनाविधेर्वशात् । भ्रमन्ति ससृतौनैवलभन्तेस्वेष्टसम्पदः ॥ ३६ ॥ मत्वेतिभावलिंगा त्व भवरत्नत्रयान्वितः । त्यक्त्वायोगिन्द्विधासंगंयदीच्छसिशिवश्रियम् ॥ ३७ ॥

शय्या पर सोना वा बैठना, स्त्रियों की संगति करना, भोग भोगने के लिए धन और वस्त्रादिक का ग्रहण करना, पहले भोगे हुए भोगों का अपने मन में स्मरण करना, इन्द्रियों के विषयों में रत होने की लालसा रखना और समस्त रसों का सेवन करना ये दश ब्रह्मचर्य को घात करने के कारण हैं। जो मुनि इन दशों दोषों का त्याग कर देता है वही दृढव्रती कहलाता है, अन्य नहीं ॥२८--३१॥ यह जीव मोह कषाय और इन्द्रिय आदि के द्वारा परिग्रहों को ग्रहण करता है इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को बाह्य और अभ्यंतर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥३२॥ जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, समस्त आरंभों से रहित है, भिक्षार्थ चर्या करने के लिए जिसके हृदय में शुद्धता है, जो श्रेष्ठ ध्यान में लीन रहता है, एकाकी है। आत्मा को सबसे भिन्न समझता है और अनेक गुणों से सुशोभित है उसी को श्रमण कहते हैं ॥३३॥ गुणी पुरुष नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से अपने अपने गुणों के अनुसार इन श्रमणों के चार भेद बतलाते हैं ॥३४॥ इनमें से एक भावश्रमण ही शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित है वही मुनि समस्त अभ्युदयों के सुखों को भोग कर मोक्ष का स्वामी बनता है ॥३५॥ बाकी के नामश्रमण स्थापनाश्रमण वा द्रव्यश्रमण गुणों से रहित हैं और अपने अपने कर्मों के निमित्त से संसार में परिभ्रमण ही करने वाले हैं। इसलिये वे अपनी मोक्षरूप इष्ट सामग्री को कभी नहीं पा सकते ॥३६॥ इसलिये हे मुने! यदि तू मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो

व्रतशीलगुणाः सर्वेस्युर्भिक्षाचर्यया पराः । भिक्षाचर्यां विशोध्यातो विहरन्तुशिवार्थिनः ॥ ३८ ॥ भिक्षांवाक्यंमनो- यत्नाद्योविशोध्यचरेत्सदा । चारित्रं स जिनैः प्रोक्तो मुनिर्विश्वगुणाकरः ॥ ३९ ॥ द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं भावं शक्तिं विबुध्य च । ध्यानाध्ययनमत्यर्थं वृत्तं चरन्तुपण्डिताः ॥ ४० ॥ कलत्रसंगभेदाभ्यां द्विधात्यागो भवेद्विदः । कृत्वातदुभयत्यागंलभन्तेमुक्तिकामिनीम् ॥ ४१ ॥ पृथ्व्यादिकायिकाजीवा ये पृथ्व्यादिवपुः श्रिताः । सतिपृथ्व्यादि- कारम्भे ध्रुवं तेषां विराधना ॥ ४२ ॥ तस्मात्पृथ्व्यादिकारम्भोद्विविधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं न कल्पेत जिन-

ऊपर कही हुईं सब बातों को समझ कर और बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह छोड़ कर भावलिंगी बन और शुद्ध रत्नत्रय को धारण कर ॥३७॥ भिक्षा के लिए होने वाली चर्या की शुद्धि से व्रत शील आदि समस्त उत्कृष्ट गुण प्रगट होते हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को भिक्षा के लिए होने वाली चर्या को विशुद्धतापूर्वक धारण करते हुए विहार करना चाहिये ॥३८॥ जो मुनि भिक्षा वचन मन और चारित्र को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध कर अपनी प्रवृत्ति करता है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त गुणों की खानि कहते हैं ॥३९॥ अतएव विद्वान् मुनियों को द्रव्य क्षेत्र काल भाव और अपनी शक्ति को समझ कर ध्यान अध्ययन और चारित्र को अच्छी तरह पालन करना चाहिये ॥४०॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का त्याग और परिग्रहों का त्याग इस प्रकार दो तरह का त्याग बतलाया है अतएव विद्वान पुरुष इन दोनों का त्याग कर मुक्तिस्त्री को प्राप्त करते हैं ॥४१॥ यदि पृथ्वी के खोदने आदिका आरंभ किया जायगा तो पृथिवीकायिक जीवों का तथा पृथिवीकाय के आश्रित रहने वाले जीवों का अवश्य ही नाश होगा उनकी विराधना अवश्य होगी। अतएव जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को मन वचन काय से जीवन पर्यंत दोनों प्रकार का (पृथिवीकायिक और पृथिवी कायाश्रित) पृथिवी आदि का आरम्भ सदा के लिये छोड़ देना चाहिये तथा इसी प्रकार जलकायिक जलकायाश्रित वायुकायिक वायुकायाश्रित अग्निकायिक अग्निकायाश्रित वनस्पतिकायिक और वन-

मार्गानुचारिणाम् ॥ ४३ ॥ पृथ्व्यादिकायिकान्सत्त्वानेतान्श्रीजिनभाषितान् । नचश्रद्दधाति यः स्याद्भ्रष्टो रत्नत्रयात्कुधीः ॥४४॥ विश्वसत्त्वाकुले लोके कथं चरेत्संयमी । कथं तिष्ठेत् कथं कुर्याच्छयनं चोपवेशनम् ॥४५॥ कथं भुंक्ते कथंब्रूयाद्विहारं कथमाचरेत । कथं धत्ते क्रियाकर्मकथंवध्नातिनाशुभम् ॥ ४६ ॥ चरेत्सर्वत्रयत्नेनतिष्ठे-यत्नेन भूतले । यत्नेन प्रासुकेदध्याच्छयनं च दृढासनम् ॥ ४७ ॥ भिक्षाशुध्या च भुंजीत वाक्समित्या यत्नतो भजेत् ॥ ४८ ॥ प्रयत्नेन क्रियाकर्म करोति सकलं सदा । इति पापं न वध्नातिक्षपयेत्प्राक्तनाशुभम् ॥ ४९ ॥ इति कथितमदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या परमसमयसार ग्रंथमाप्तैः प्रणीतम् । त्रिभुवनपति भूति सुष्ठुविज्ञायमुक्त्वा

स्पतिकायाश्रित जीवों की विराधना का भी त्याग कर देना चाहिये ॥४२-४३॥ जो मुनि भगवान जिनेन्द्र-देव के द्वारा कहे हुये इन पृथिवीकायिक पृथ्वीकायाश्रित जलकायिक जलकायाश्रित अग्निकायिक अग्निका-याश्रित वायुकायिक वायुकायाश्रित और वनस्पतिकायिक वनस्पतिकायाश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उस दुर्बुद्धि को रत्नत्रय से भ्रष्ट ही समझना चाहिये ॥४४॥ कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इस लोक में सब जगह जीवराशि भरी हुई है फिर भला मुनियों को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये किस प्रकार खड़े होना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे आहार लेना चाहिये, कैसे बोलना चाहिये, कैसे विहार करना चाहिये, किस प्रकार आचरण पालन करना चाहिये, किस प्रकार वंदना प्रतिक्रमण आदि क्रिया कर्म करना चाहिये और किस प्रकार अशुभ कर्मों से दूर रहना चाहिये ॥४५-४६॥ तो इसका उत्तर यह है कि मुनियों को यत्नाचार पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, यत्नाचार पूर्वक पृथिवी पर बैठना चाहिये, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक स्थान पर सोना चाहिये और प्रासुक स्थान पर ही दृढ़ आसन से बैठना चाहिये । इसी प्रकार उनको भिक्षा भी शुद्धता पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये, भाषासमिति पूर्वक वचन बोलने चाहिये और विहार ईर्या समिति पूर्वक दिन में ही यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये । इसी प्रकार मुनियों को यत्नाचार पूर्वक ही वंदना प्रतिक्रमण आदि सब क्रियाकर्म सदा करते रहना चाहिये । इस प्रकार करने से वह मुनि पापों से लिप्त कभी नहीं होता किंतु पहले के अशुभ कर्मों को नाश ही करता है ॥४७-४९॥ इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इस परम समयसार को जो

सकलचरणयोगात्सुश्च ते मुक्तिनाथाः ॥ ५० ॥ सर्वासातहरंविशुद्धजनकं पापारिनाशंकरं स्वर्मोक्षैकनिबधनंसुविमलं–
संसारतापापहम् । श्रीतीर्थेश्वरभाषितंमुनिवरैः सेव्यं सदा यत्नतः सेवध्वंनिपुणाःपरंसमयसाराख्यंशिवाप्त्यैस्फुटम् ।५१।
नाभेयाद्याजिनेन्द्रास्त्रिभुवनयजिताः धर्मचक्राधिपा ये सिद्धालोकाग्रभूताहतविधिवपुषोत्रान्तहीनाः प्रसिद्धाः ।
आचार्याःपाठका ये गुणगणसदनाः साधवोमुक्तिकामाः आचारांगागमज्ञाममनिजसुगुणान्संस्तुतास्तेप्रदद्युः ॥१५२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथेभट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते
समयसार वर्णनो नाम नवयोधिकारः ।

मुनि अपनी शक्ति के अनुसार निर्दोष रीति से पालन करते हैं वे पूर्ण चारित्र को धारण करने के कारण भगवान जिनेन्द्रदेव की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंत में मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होते हैं ॥५०॥ यह ऊपर कहा हुआ परमसमयसार समस्त दुःखों को दूर करने वाला है, विशुद्धियों को उत्पन्न करने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, स्वर्ग मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अत्यंत निर्मल है, संसार के संताप को नाश करने वाला है, भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सदा सेवन धारण करने योग्य है। अतएव चतुर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न–पूर्वक इस परमसमयसार को अच्छी तरह पालन करते रहना चाहिये ॥५१॥ इस संसार में जो धर्मचक्र के स्वामी और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं तथा लोक शिखर पर विराजमान, समस्त कर्म और शरीर से रहित संसार के परिभ्रमण से रहित और सर्वत्र प्रसिद्ध ऐसे अनंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं और आचारांग आदि समस्त आगम के जानकार मोक्ष की इच्छा करने वाले और अनेक गुणों के समूह के स्थान ऐसे आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु विद्यमान हैं इस प्रकार के पाँचों परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूं इसके बदले में वे पाँचों परमेष्ठी मुझे अपने अपने श्रेष्ठ गुण प्रदान करें ॥१५२॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके
महाग्रथ में समयसार को वर्णन करन वाला
यह नौवा अधिकार समाप्त हुआ।

दशमोधिकारः ।



अर्हत' सिद्धनाथांश्चसमाधिवोधिपारगान् । जन्ममृत्युजराहंतॄन् नौमि वोधिसमाधये ।१। मंक्षेपेणाथ वक्ष्यामि सद्यतीनां समाधये । अधिकारं परं प्रत्याख्यानसंस्तरमंज्ञकम् ॥ २ ॥ उपसर्गेतिदुर्भिक्षेवृद्धत्वेव्याधिसचये । असाध्येनिष्प्रतीकारेमन्दाक्षे सति कारणे ॥ ३ ॥ व्रतभंगादिकेन्यस्मिन वा सन्यासं तपस्विनाम् । विधातुं युज्यते नूनं प्रयत्नेनहिताप्तये ॥ ४ ॥ आसन्न मरणं स्वस्य कश्चिद्विज्ञायमन्मुनि. । निमित्ताद्यैः समाध्यर्थं कुर्याद्युद्यम-

---

दशवां अधिकार ।

अब मैं रत्नत्रय और समाधि की प्राप्ति के लिये जन्म मरण तथा बुढ़ापे को नाश करने वाले और रत्नत्रय तथा समाधि पारगामी ऐसे भगवान् अरहंतदेव को तथा सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूं ॥१॥ अब मैं श्रेष्ठ मुनियों को समाधि प्राप्त करने के लिये संक्षेप से प्रत्याख्यानसंस्तर नाम के श्रेष्ठ अधिकार का निरूपण करता हूं ॥२॥ किसी उपसर्ग के आजाने पर, घोर दुर्भिक्ष पड़ जाने पर अत्यंत वृद्धावस्था आजाने पर, अनेक असाध्य और उपायरहित व्याधियो के आजाने पर नेत्रों की ज्योति मंद हो जाने पर, वा व्रतभंग के कारण मिल जाने पर वा और भी ऐसे ही ऐसे कारण आजाने पर तपस्वियों को अपना आत्महित करने के लिये प्रयत्नपूर्वक सन्यास धारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥३–४॥ श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जान

मंजसा ॥ ५ ॥ आपृच्छ्यस्वसुगुर्वादीन्त्तमयित्वाखिलान्परान् । त्रिशुध्द्यायुक्तिमद्वाक्यै स्वयंत्तांत्वास्वमानसे ॥६॥ द्विञ्यादियोगिभि. सार्द्धं परित्यज्य निजगणम् । मोहादिहानयेसोस्मान्निर्गच्छतिसमाधये ॥ ७ ॥ क्रमात्परगणस्थं स विख्यातसूरिपुंगवम् । आसाद्य सपरीक्ष्योच्चैर्नत्वा कार्यंनिवेदयेत् ॥ ८ ॥ विश्वभव्यहितोद्युक्तः पचाचारपरो- महान् । आगमे कुशली धीमान्त्तोऽव्य'परमार्थवित् ॥ ६ ॥ आलोचितरहस्यापरिस्रावीसूरिसत्तमः । यः स निर्यापकः कार्य. उत्तमः स्वसमाधये ॥ १० ॥ यथापत्तनमासन्नाः कर्णधारैर्विनांवुधौ । रत्नहेमभृता नावः प्रमज्जन्ति प्रमादतः ॥ ११ ॥ तथात्त्पनावोऽत्र मुक्तिद्वीपसमीपगाः । दृग्ज्ञानचरणानर्घ्यरत्नपूर्णा भवाम्बुधौ ॥ १२ ॥ निमज्जन्ति

कर समाधि के लिये बहुत शीघ्र उद्यम करना चाहिये ॥५॥ इसके लिये सबसे पहले उन मुनियों को अपने श्रेष्ठ गुरु से पूछना चाहिये और फिर मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक युक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से चमा मॉगनी चाहिये तथा अपने मन में सबको चमा कर देना चाहिये ॥६॥ तदनंतर अपना मोह नाश करने के लिए दो तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गण का त्याग कर समाधि धारण करने के लिए वहाँ से चल देना चाहिये ॥७॥ फिर अनुक्रम से चल कर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुँचना चाहिये और उन आचार्य की अच्छी तरह परीचा कर तथा उनको नमस्कार कर उनसे अपना कार्य निवेदन करना चाहिये ॥८॥ जो समस्त भव्य जीवों के हित करने मे तत्पर हों, पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों बुद्धिमान हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ को जानने वाले हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किये हुए दोषों को कभी प्रगट न करते हों और जो सर्वोत्तम हों ऐसे उत्तम आचार्य को अपनी समाधि के लिये निर्यापकाचार्य बनना चाहिये ॥९-१०॥ जिस प्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुँची हुई कोई नाव विना मल्लाहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षरूपी द्वीप के समीप पहुँची हुई क्षपकरूपी नाव विना निर्यापकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसाररूपी समुद्र में डूब जाती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है इसलिये बुद्धिमान मुनियों को समाधिमरण धारण करने के लिए निर्यापकाचार्य

न संदेहो विना निर्यापकैर्भुवि । प्रमादेन ततो मृग्यामृत्यौनिर्यापका: बुधैः ॥ १३ ॥ आचार्यः सोऽपि तं युक्त्या प्रपरीक्ष्यपरार्थकृत् । स्वीकुर्यात्स्वगणंपृष्ट्वोत्तमार्थसाधनोद्यतम् ॥ १४ ॥ ततोसौक्षपको नत्वा ह्येकान्तेसूरिसन्निधौ । ऋजुचित्त स्वशुध्यर्थंकुर्यादालोचनंस्फुटम् ॥ १५ ॥ मूलोत्तरगुणादीनांरत्नत्रयस्य जातुचित् । अतीचाराः कृताः स्वेन कारिता ये परेण च ॥ १६ ॥ हृदनुमानिता ये तान्त्रिशुध्यासकलान्मलान् । त्यक्त्वालोचनदोषान् स सर्वान् सूरिं निवेदयेत् ॥ १७ ॥ ऋजुबुद्धिर्यथा बालो ब्रूयात्स्वस्यमनोगतम् । याथातथ्येनचाजानन् वाच्या वाच्यादिकं वचः ॥ १८ ॥ मायाभिमानलज्जार्तीस्त्यक्त्वाशुद्धिमतिस्तथा । यथाजातान् तथा दोषान् भाषतेसूरिसन्निधौ ॥ १९ ॥ तदेवागमदृष्ट्यासौगणी तद्दोषशान्तये । ददातिविधिना तस्मै प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥ २० ॥ ततः स क्षपकः

अवश्य तलाश कर लेना चाहिये ॥११–१३॥ तदनंतर परोपकार करने में तत्पर वे आचार्य भी युक्तिपूर्वक उसकी परीक्षा करते हैं फिर अपने गण को पूछ कर मोक्ष के साधन में लगे हुए उन मुनि को अपने पास रहने की स्वीकारता देते हैं ॥१४॥ तदनंतर सरल हृदय को धारण करने वाला वह क्षपक भी किसी एकांत में आचार्य के समीप नमस्कार कर बैठता है और अपने आत्मा की शुद्धि के लिये स्पष्ट रीति से अपने दोषों की आलोचना करता है ॥१५॥ मूलगुण वा उत्तरगुणों में वा रत्नत्रय में कभी भी जो अतिचार लगाये हो, वा दूसरों से लगवाये हों वा हृदय से उनकी अनुमोदना की हो उन सबको आलोचना के समस्त दोषों से रहित होकर मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक आचार्य से निवेदन कर देना चाहिये ॥१६–१७॥ जिस प्रकार सरल बुद्धि को धारण करने वाला बालक कहने योग्य वा न कहने योग्य वचनों को नहीं जानता हुआ यथार्थ रीति से अपने मन की बात बतला देता है उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि को धारण करने वाले उन मुनियों को भी मायाचारी अभिमान और लज्जा को छोड़ कर आचार्य के समीप समस्त दोषों को यथार्थ रीति से कह देना चाहिये ॥१८–१९॥ तदनंतर उन दोषों को शांत करने के लिए वे आचार्य भी आगम में कहे अनुसार विधिपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त उनके लिये देते हैं ॥२०॥ तदनंतर वह क्षपक भी अपने रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिये आचार्य के

शक्त्यारत्नत्रयविशुद्धये । योदत्त. सूरिणादण्डस्तं सर्वमाचारेत्क्रमात् ॥ २१ ॥ यथाचार्योमुनेस्तस्यहितायाह शुभाशुभान् । मृत्युभेदान्श्रतात्सप्तदशनीचोच्चजन्मदान् ॥ २२ ॥ आवीचिस्तद्भवाख्यं चावधिराद्यन्तसंज्ञकम् । सशल्यं गृध्रपृष्टाख्यं जिघ्रासगरणं ततः ॥ २३ ॥ व्युत्सृष्टं हि वलाकाख्यंसंक्लिश्यमरणं नृणाम् । मरणानिदशैतानि भाषितानि जिनेश्वरैः ॥ २४ ॥ वालवालमृतिर्वालो वालपंडितनामकम् । चतुर्थं मरणं भक्तप्रत्याख्यानाभिधान-कम् ॥ २५ ॥ इंगनीमरणं नाम प्रयोपगमनाभिधम् । मरणं सप्तमं सर्वज्येष्टं पण्डितपण्डितम् ॥ २६ ॥ इमानि देहिनांसप्तदशोक्तानिजिनागमे । सद्गतीता कतृणिमरणानि गणेशिना ॥ २७ ॥ यथाम्बुधौ जलौघानां वीचयः सयमं प्रति । उद्भूयोद्भूयतत्रैवविलीयन्तेतथांगिनाम् ॥ २८ ॥ उद्भूयोद्भूयकर्मायुः पुद्गलाणपु य. त्तयः । रसनाश्रत्यह ज्ञेयमावीचिमरणं हि तत् ॥ २९ ॥ भुज्यमानायुप. पुंसो योऽन्तिमेसमयेभुवि । प्राणत्यागो हि तद्विद्धिमरण

द्वारा दिये हुए समस्त दंड को अपनी शक्ति के अनुसार अनुक्रम से पालन करता है ॥२१॥ इसके बाद वे आचार्य उन मुनिराज का हित करने के लिए ऊंच और नीच योनि में जन्म देने वाले और इसीलिये शुभ अशुभ ऐसे मृत्यु के सत्रह भेदों को शास्त्र के अनुसार कहते हैं ॥२२॥ आवीचिमरण, भवमरण, अवधिमरण, आद्यंतमरण, सशल्यमरण, गृद्धपृष्ठमरण, जिघ्रासमरण, व्युत्स्टष्टमरण, वलाकामरण, और संक्लिश्यमरण इस प्रकार ये दश प्रकार के मरण भगवान जिनन्द्रदेव ने वतलाये हैं ॥२३–२४॥ वालवालमरण, वालमरण, वालपंडितमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण और सर्वोत्तम पंडितपंडितमरण, इस प्रकार सात मरण ये वतलाये हैं ॥२४–२६॥ इस प्रकार भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम मे प्राणियों को सद्गति और असद्गति देने वाले ये सत्रह प्रकार के मरण वतलाये हैं ॥२७॥ जिस प्रकार समुद्र में पानी के समूह की लहरें समय समय पर उठती हैं और उठ उठकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार संसार जीवों का आयुकर्म प्रत्येक समय में उदय होता रहता है और अपना रस देकर खिर जाता है इसको आवीचिमरण कहते हैं। यह आवीचिमरण प्रति दिन प्रति समय होता रहता है ॥२८–२९॥ जो मनुष्य अपनी आयु को भोग कर अंतिम समय में

तद्भवाह्वयम् ॥ ३० ॥ प्रकृत्याद्यैश्चतुर्विधैर्यादृशै प्राग्भवे मृतः । यस्तस्य तादृशैर्बावधाख्यंमरणं हि तत् ॥ ३१ ॥ प्राक्तनात्स्वभवाद्बंधैरन्यादृशैश्चतुर्विधैः । प्रकृत्याद्यैर्मृतिर्यानुरायन्तमरणं हि तत् ॥ ३२ ॥ मायामिथ्यानिदानाद्यैः शल्यैः सार्द्धं कषायिणाम् । यत्प्राणमोचन निंद्यं सशल्यमरणं हि तत् ॥ ३३ ॥ मृत्यु र्यः क्रियतेहस्तिकलेवरादिषुकचित् । प्रविश्य प्राणिभिर्गृध्रपृष्टाख्यमरणरवुतत् ॥ ३४ ॥ स्वस्यस्वेनदुराचारैः कृत्वा प्राणनिरोधनम् । क्रियतेस्वात्मघातो यो जिघ्रासमरण हि तत् । ३५ ॥ दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमुक्त्वाशठात्मभिः । विधीयतेमृतिर्यात्रिव्युत्सृष्टमरण च तत् ॥ ३६ ॥ पार्श्वस्थेनाश्रयत्प्राणमोचनंशिथिलात्मनाम् । दीक्षितानांदुराचारैर्वलाकामरण हि तत् ॥ ३७ ॥ दृग्ज्ञानचरणाचारेपुसक्लेश विधाय य. । मृत्युस्तपस्विनां चिरोसक्लिश्वमरण खु तत् ॥ ३८ ॥ सम्यग्ज्ञानव्रताचा–

प्राणत्याग कर देता है उसको भवमरण कहते हैं ॥३०॥ इस जीव ने पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि चारों प्रकार के कर्मों का बंध कर मरण किया था यदि वैसे ही कर्मों का बंध कर मरण करे तो उसको अवधिमरण कहते हैं ॥३१॥ पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि कर्मों का बंध किया था उससे भिन्न प्रकृति स्थिति आदि कर्म प्रकृतियों का बंध कर जो मरण करता है उस मरण को आद्यंत मरण कहते हैं ॥३२॥ कषायों को धारण करने वाले जीव माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों के साथ साथ जो प्राण त्याग करते हैं उसको निंद्य सशल्यमरण कहते हैं ॥३३॥ हाथी आदि पशुओं के कलेवरों में प्रवेश कर जो प्राणी मर जाते हैं उसको गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं ॥३४॥ जो मनुष्य अपने ही दुराचारों से स्वयं साँस रोक कर आत्मघात कर लेते हैं उसको जिघ्रासमरण कहते हैं ॥३५॥ जो मूर्ख सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रयों को छोड़ कर मर जाते हैं उसको व्युत्सृष्टमरण कहते हैं ॥३६॥ शिथिल आचरणों को धारण करने वाले दीक्षित मुनि अपने दुराचरण के कारण प्राण त्याग करते हैं अथवा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के त्याज्य मुनि जो प्राण त्याग कर करते हैं उसको वलाकामरण कहते हैं ॥३७॥ अपने हृदय में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में वा अपने आचरणों में संक्लेश उत्पन्न कर जो तपस्वियों की मृत्यु होती है उसको संक्लेशमरण कहते हैं ॥३८॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है

राद्दते प्राणविसर्जनम् । मिथ्यादृशा हि यद्बालबालाख्यंमरणं च तत् ॥ ३९ ॥ दृग्ज्ञाने सति सद्दृष्टेर्योल्पेतरव्रता-द्विना । शिशोरिववपुस्त्यागस्तद्बालमरणाह्वयम् ॥४०॥ स्थावरध्वसनाद्यैर्यैं सूक्ष्मपचाद्यवर्तनै. । बालास्त्रसांगिरक्षाद्यैः स्थूलपचाघवर्जनैः ॥ ४१ ॥ पण्डिता श्रावकाश्चात्रप्रोच्यन्ते बालपण्डिता । अणुव्रत जुषां तेषांमरण बालपण्डि-तम ॥ ४२ ॥ यद्भुक्ताहारपानादींस्त्वक्त्वास्वस्यप्रतिज्ञया । प्राणोज्झन च सा भक्तप्रत्याख्यानाह्वयामृति. ॥ ४३ ॥ आत्मनोत्रेगिताकारेणाभिप्रायेणयोगिभिः । साध्यते मरण यत्तदिंगिणीमरण हि तत् ॥ ४४ ॥ प्रायेणोपगमं कृत्वा जना स्थानाद्वनान्तरे । पापाद्यैकाकिनाधीरयमिनाद्वभाव्यते ॥ ४५ ॥ मरणस्ववपुःक्षिप्त्वा ह्येकस्मिन्नचलासने । कस्मिंश्चिन्मरणं तत्स्यात्प्रायोपगमनाह्वयम् ॥ ४६ ॥ भक्तोज्झनादिनामानोमृत्युभेदास्त्रयोप्यमी । ज्ञेया पण्डितमृत्योश्च-

है उसको बालबालमरण कहते हैं ॥३९॥ सम्यग्दृष्टी पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी अणुव्रत वा महाव्रतों के बिना बच्चे के समान जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उसको बालमरण कहते हैं ॥४०॥ श्रावक लोग स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म मिथ्याभाषण आदि सूक्ष्मरूप से पाँचों पापों की प्रवृत्ति करने के कारण बालक कहलाते हैं तथा त्रस जीवों की रक्षा करते हैं स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं इस प्रकार स्थूल रीति से पाँचों पापों का त्याग कर देते हैं इसलिये वे पंडित कहलाते हैं। इस प्रकार वे श्रावक बालपंडित कहलाते हैं उन अणुव्रत धारण करने वाले सम्यग्दृष्टी श्रावकों का जो मरण है उसको बालपंडितमरण कहते हैं ॥४१-४२॥ जो मुनि प्रतिज्ञापूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्राण त्याग करता है उसको भक्त प्रत्याख्यान नाम का मरण कहते हैं ॥४३॥ जो योगी अपने आत्मा के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसको इंगिनीमरण कहते हैं ॥४४॥ जो धीर वीर एकाकी मुनि पापरूप मनुष्यों के स्थान को छोड कर प्रायः निर्जन वन में चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसको प्रायोपगमम् मरण कहते हैं ॥४५-४६॥ भक्तप्रत्याख्यानमरण इंगिनीमरण और प्रायोपगमन मरण ये तीनों मरण पंडित मरण के भेद हैं और प्रमत्तसंयमी वा

प्रमत्तादिमहात्मनाम् ॥ ४७ ॥ त्यक्त्वा केवलिनां प्राणान्गमनंयच्छिवालये । मरणंतज्जगज्ज्येष्टं वंधं पण्डितपण्डितम ॥ ४८ ॥ अमीषां मरणानां च मध्ये यत्पण्डिताह्वयम् । मरणं क्षपक त्वं तत्साधयात्रातियत्नतः ॥४६॥ साधितं मरणं ह्येकपण्डिताख्यंप्रयत्नतः । वहुजन्मशतादीनिक्षपकाणां छिनत्त्यहो ॥ ५० ॥ अत.सन्मरणेनात्र मर्तव्यं तेन धीधनैः । येनोत्पत्तिः पुन र्न स्याज्जन्ममृत्युजराविधा ॥ ५१ ॥ ये प्रणष्टमतिज्ञानाश्चतुःसंज्ञाविडंविताः । कौटिल्य-परिणामाश्चमोहारिग्रसिताःशठाः ॥ ५२ ॥ कषायाकुलचेतस्काः सनिदानादृगुज्झिताः । आर्तरौद्रत्रिदुर्लेश्याः शुभध्यानातिगा नराः ॥ ५३ ॥ असमाधिहता क्लेशेनम्रियन्ते समाधिना । आराधके न ते प्रोक्तामृतौ संसृति-वर्द्धनात् ॥ ५४ ॥ मरणेनष्टबुद्धीनांविराधितेमतिस्फुटम् । देवदुर्गतयोनूनंभवन्त्यात्रशुभाकराः ॥ ५५ ॥ वोधिसम्यक्त्व-

---

अप्रमत्तसंयमियों के होते हैं ॥४७॥ केवली भगवान जो अपने शरीर को छोड़ कर मोक्ष के लिए गमन करते हैं वह तीनों लोकों में उत्तम और वंदनीय पंडित पंडितमरण कहलाता है ॥४८॥ हे क्षपक ! इन सब मरणों में जो पंडितमरण है उसी को तू प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर ॥४६॥ यदि यह एक पंडितमरण ही प्रयत्न पूर्वक सिद्ध कर लिया जायगा तो उससे उस क्षपक के अनेक सैंकड़ों जन्ममरण क्षणभर में नष्ट हो जॉयगे ॥५०॥ अतएव बुद्धिमानों को श्रेष्ठ मरण से ही मरना चाहिये जिससे कि जन्म मरण और बुढ़ापे को उत्पन्न करने वाला जन्म फिर कभी न हो ॥५१॥ जिन जीवों का मतिज्ञान नष्ट हो गया है, जो आहार भय मैथुन परिग्रह इन चारों संज्ञाओं से विडंवित हैं, जिनके परिणाम कुटिल रहते हैं, जो मोहरूपी शत्रु से दवे हुये हैं जो मूर्ख हैं जिनके हृदय कषाय से आकुलित रहते हैं जो सदा निदान करते रहते हैं जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान में लीन रहते हैं पहिली तीन अशुभलेश्याओं को धारण करते हैं जो शुभध्यान से वहुत दूर रहते हैं और जिनके हृदय में कभी भी समाधि को स्थान नहीं मिलता ऐसे लोग बिना समाधिमरण के केवल क्लेशपूर्वक ही मरते हैं। इसलिये आराधना करने वालों को मरण के समय इन सवका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि ये सव जन्म मरणरूप संसार को वढ़ाने वाले हैं ॥५२–५४॥ नष्ट वुद्धि को धारण करने वाले जो लोग अपने मरण की विराधना कर देते हैं वे जीव महा पाप की खानि ऐसी देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं ॥५५॥ इस

मत्यन्तदुर्लभ भवकोटिभिः । आगमिष्यति कालेह्यनन्तादुर्भवपद्धतिः ॥ ५६ ॥ देवदुर्गतयः काश्च का वोधिमंरणं हृदा । विनश्यतिमुमुक्षूणांकीदृशेन भवोभवेत् ॥ ५७ ॥ अनन्तः केनशिष्येणपृष्टः सूरिरितिस्फुटम् । उवाच देवदुर्गत्यादिकं सर्वं तदीहितम् ॥ ५८ ॥ कदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषाकरम् । स्वमोहत्वतथैवासुरन्वमेतेः कुलक्षणैः ॥ ५६ ॥ सम्पन्नादुर्द्धियोमृत्वागच्छन्ति देवदुर्गतिः । कदर्पाद्याइति प्रोक्ता नीचयोनिभवादिवि ॥ ६० ॥ असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसरागवचनादिकान् । कन्दर्पोद्दीपकाल्लोकेकदर्परतिरञ्जितः ॥ ६१ ॥ कन्दर्पाःसन्तिदेवा ये नग्नाचार्याः सुरालये । कंदर्पकर्मभिस्तेपुष्टु त्यग्नतेसततस्मः ॥ ६२ ॥ मंत्रतन्त्रादिकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च ।

लोक में रत्नत्रय और सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है, करोड़ों भवों में भी प्राप्त नहीं होता यदि प्राप्त होता है तो काललब्धि के अनुसार प्राप्त होता है। तथा नीच जन्मों की परम्परा अनंतवार प्राप्त होती चली आ रही है ॥५६॥ यहाँ पर कोई शिष्य अपने आचार्य से पूछता है कि हे प्रभो ! देव दुर्गति क्या है ? रत्नत्रय किसको कहते हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों का मरण कैसे हृदय से नष्ट हो जाता है जिससे कि उसको अनंत संसार की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में आचार्य उस शिष्य की इच्छानुसार देव दुर्गति आदि का स्वरूप कहते हैं ॥५७–५८॥ जो मूर्ख कंदर्प जाति के कुलक्षणों को अभियोग्य जाति के कुलक्षणों को पाप की खानि ऐसे किल्विष रूप कुलक्षणों को स्वमोहत्व और असुर रूप कुलक्षणों को धारण कर मरते हैं वे देव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं। स्वर्गों में कंदर्प आदि नीच योनि में उत्पन्न होने वाले जो देव हैं उन्हीं की गति को देव दुर्गति कहते हैं ॥५६–६०॥ जो साधु होकर भी असत्य वचन बोलते हैं, हंसी ठट्ठा के वचन कहते हैं राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं कामदेव को बढ़ाने वाले उत्तेजित करने वाले वचन कहते हैं और जो कामसेवन में लीन हो जाते हैं ऐसे जीव मर कर स्वर्ग मे कंदर्प जाति के देव होते हैं वहाँ पर भी वे काम को बढ़ाने वाली क्रियाएं ही करते रहते हैं। इस प्रकार कंदर्पमय क्रियाओं के करने से वे पाखंडी स्वर्ग में भी वैसे ही कंदर्पमय क्रियाएं करने वाले होते हैं। ऐसे देवों को नानाचार्य भी कहते हैं ॥६१–६२॥ जो मनुष्य साधु होकर भी मंत्र तंत्र आदि अनेक कार्यों को करता है ज्योतिष्क वा वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और

ज्योतिष्कमेपजादीनिपराकार्याशुभानि च ॥ ६३ ॥ हास्यकौतूहलादीनि करोतिस्वेच्छया वदेत् । हस्त्यश्ववाहनेष्वत्र जायते सोमरोधमः ॥ ६४ ॥ तीर्थंकृतां च-संघस्य चैत्यचैत्यालयस्य च । आगमस्याविनीतो यः प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥ ६५ ॥ मायावीकिल्विपाक्रान्तः किल्विपादि कुकर्मभिः । स किल्विपसुरो नीचो भवेत्किल्विष जातिपु ॥६६॥ उन्मार्गदेशको योऽत्र जिनमार्गविनाशकः । सन्मार्गाद्विपरीतोऽत्र दृष्टहीनः कुमार्गगः ॥ ६७ ॥ मिथ्यामायादिमोहेन मोहयन्मोहपीडित. । जायते स स्वमोहेपुस्वभंडामरजातिपु ॥ ६८ ॥ क्षुद्रः क्रोधीखलोमानीमायावीदुर्जनोयतिः । युक्तोनुवद्धवैरेणतपश्चारित्रकर्मसु ॥ ६६ ॥ संक्लिष्टसनिदानो यः उत्पद्यतेऽघकर्मणा । रौद्रासुरकुमारेषुमोम्त्रादि कुजातिपु ॥ ७० ॥ मिथ्यादर्शनरक्ता ये सनिदानाः कुमार्गगा । कृष्णलेश्योद्धतारौद्रपरिणामागुणातिगः ॥ ७१ ॥

भी बहुत से अशुभ कार्य करता है हंसी करता है कौतूहल तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है वह मर कर हाथी घोड़ा आदि बनने वाले वाहन जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है ॥६३–६४॥ जो तीर्थंकरों की अविनय करता है, संघ की अविनय करता है, चैत्य चैत्यालयों की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्मात्माओं के प्रतिकूल रहता है, जो मायाचारी है और महा पापी है वह अपने महा पापों के कारण किल्विप जाति के देवों में नीच किल्विप देव होता है ॥६५–६६॥ जो साधु कुमार्ग का उपदेश देता है, जिनमार्ग का नाश करता है, श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है कुमार्गगामी है, जो मिथ्यात्व मायाचारी आदि तीव्रमोह से मोहित है, जो तीव्रमोह के कारण अत्यंत दुःखी है वे स्वच्छन्द देवों में उत्पन्न होते हैं। देवों की स्वभंड नाम की नीच जाति में स्वमोह वा श्वमोह (कुत्ते के समान इधर उधर स्वच्छंद फिरने वाले) देव होते हैं ॥६७–६८॥ जो साधु क्षुद्र हैं, क्रोधी हैं, दुष्ट हैं अभिमानी हैं मायाचारी हैं दुर्जन हैं, जो पहले जन्म के वा इसी भव के पहले वैरभावों को धारण करते हैं जो तपश्चरण और चारित्र की क्रियाओं में संक्लेशता धारण करते हैं और जो निदान करते रहते हैं वे पापरूप कर्मों के कारण अवांवरीप जाति के नीच और रौद्र असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं ॥६९–७०॥ जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं जो कुमार्गगामी हैं कृष्णलेश्या को धारण करने के कारण जो अत्यंत उद्धत रहते हैं, जो रौद्र परिणामों

त्यक्त्वा सद्दर्शनंसंक्लेशयान्मृयन्तेसमाधिना । ससारे भ्रमतां तेषां वोधिश्चातीवदुर्लभा ॥ ७२ ॥ सम्यग्दर्शनसम्पन्ना अनिदाना' शुभाशयाः । शुक्ललेश्याः शुभध्यानरताः सिद्धान्तवेदिनः ॥७३॥ धर्मध्यानादिसन्यासैर्येमृयन्तेसमाधिना । तेपामासन्नभव्यानांसुलभावोधिरुत्तमा ॥ ७४ ॥ गुरूणांप्रत्यनीका ये दीर्घमिथ्यात्ववासिताः । महमोहावृतादुष्टा आर्तरौद्रपरायणाः ॥७५॥ मदोद्धताः कुशीलाश्चमृयन्तेऽत्रासमाधिना । स्युस्तेह्यनन्तसंसारा विश्वदुःखशताकुलाः ॥७६॥ जिनवाक्यनुरक्ता ये गुरूणां भक्तितत्पराः । शुद्धभावाः सदाचारा रत्नत्रयविभूषिताः ॥ ७७ ॥ गुर्वाज्ञापालकादचा धर्मध्यानसमाधिना । उत्तमं मरणं यान्ति स्युस्ते संसारपारगाः ॥ ७८ ॥ वालवालाशुभान्मृत्यून्मरिष्यन्तिवहूँश्च

को धारण करते हैं और गुणों से सर्वथा दूर रहते हैं ऐसे जो जीव सम्यग्दर्शन को छोड़ कर विना समाधि के संक्लेश परिणामों से मरते वे जीव सदा इस संसार में परिभ्रमण किया करते हैं। उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ हो जाती है ॥७१–७२॥ जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, कभी निदान नहीं करते, जिनका हृदय शुद्ध है, जो शुक्ललेश्या धारण करते हैं, शुभध्यान में सदा लीन रहते हैं और सिद्धांतशास्त्रों को जानते हैं ऐसे जो मुनि समाधि पूर्वक धर्मध्यान वा शुक्लध्यान धारण कर सन्यास से मरण करते हैं उन आसन्न भव्य जीवों के उत्तम रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यंत सुलभ रीति से हो जाती है ॥७३–७४॥ जो जीव आचार्य वा गुरु से सदा प्रतिकूल रहते हैं जो दीर्घमिथ्यात्व को धारण करते हैं जो तीव्र मोह से घिरे हुए हैं, जो दुष्ट हैं आर्त रौद्र परिणामों को धारण करते हैं मद से मदोन्मत्त हैं जो कुशीली हैं ऐसे जीव विना समाधि के मर कर अनंत संसार में परिभ्रमण किया करते हैं और सब तरह के सैकड़ों महा दुःखों से व्याकुल रहते हैं ॥७५–७६॥ जो जीव जिनवाणी में सदा अनुरक्त रहते हैं गुरुओं की भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, सदाचार पालन करते हैं रत्नत्रय से सुशोभित हैं, गुरु की आज्ञा को सदा पालन करते रहते हैं, और जो चतुर है ऐसे जीव धर्मध्यान और समाधि पूर्वक उत्तम मरण को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं ॥७७–७८॥ जो जीव अनेक वार अत्यंत अशुभ ऐसे वालवालमरण से मरते हैं, जो

ते । जिनवाक्यं न जानन्ति वराका येऽघवंचिताः ॥ ७९ ॥ स्वान्यशस्त्रादिघातेनविषादिभक्षणेन च । जलानल-प्रवेशाभ्यामनाचारादिकोटिभिः ॥ ८० ॥ उच्छ्वासरोधनाद्यैर्येदुर्मृतिस्वस्यकुर्वते । जन्ममृत्युजरादुःखौघस्तेषां वर्द्धतेतराम् ॥ ८१ ॥ उद्वेगभयसंक्लेशैरूर्ध्वाधस्त्रिजगत्स्वपि । त्रिसस्थावर जीवेषु पराधीनतया त्वया ॥ ८२ ॥ मरणानि ह्यनन्तानिवालवालाशुभानि च । अन्यैः प्राप्तानि च सर्वैरक्षांधैर्बोधिदूरगैः ॥ ८३ ॥ ज्ञात्वेति क्षपकेह त्व मृयस्वाखिलयत्नतः । पण्डितेनमुदायेनमृत्युघ्नश्चभविष्यसि ॥ ८४ ॥ इत्याचार्योपदेशेन योग्यस्थाने मठादिके । समाधिसिद्धये युक्त्यासंस्तरं स प्रपद्यते ॥ ८५ ॥ तदैवाराधनाशुद्धीश्चतुर्विधाद्दगादिकाः । मनोवाकायसंशुध्या कर्तुमारभतेसुधी. ॥ ८६ ॥ शंकादिदोषदूरस्थाः सद्गुणाष्टविभूषिताः । धर्मरत्नखनीमेस्तु दृग्विशुद्धिर्दृढापरा ॥८७॥

जिनवचनों को जानते ही नहीं, जो नीच हैं पाप से ठगे हुए हैं जो अपने ही शस्त्र से वा दूसरे के शस्त्र घात से मरते हैं, वा विषभक्षण से मरते हैं, जल में डूब कर वा अग्नि में जल कर मरते हैं वा करोड़ों अनाचारों के कारण श्वास रोक कर मरते हैं इस प्रकार जो दुर्मरण से मरते हैं उनके जन्म मरण जरा आदि अनेक दुःखों के समूह निरंतर बढ़ते रहते हैं ॥७९–८१॥ हे क्षपक इस ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक रूप तीनों लोकों में तथा त्रसस्थावर आदि अनेक जीव योनियों में पराधीन होकर उद्वेग भय और संक्लेश रूप परिणामों से अनंतवार अशुभ वालवालमरण किये हैं तथा इसी प्रकार रत्नत्रय से रहित और जीवों की रक्षा करने में अंधे ऐसे अन्य समस्त जीवों ने अनंतबार वालवालमरण किये हैं ॥८२–८३॥ यही समझ कर हे क्षपक तू प्रसन्न होकर प्रयत्न पूर्वक पंडितमरण से मर जिससे कि तेरा जन्ममरण सदा के लिए नष्ट हो जाय ॥८४॥ इस प्रकार आचार्य का उपदेश सुन कर वह क्षपक अपनी समाधि धारण करने के लिये युक्तिपूर्वक किसी मठ आदि योग्य स्थान में अपने बनाये हुये सांथरे पर पहुँचता है ॥८५॥ तदनंतर वह बुद्धिमान मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक सम्यग्दर्शन आदि चारों प्रकार की आराधनाओं की शुद्धि करना प्रारंभ करता है ॥८६॥ वह चिंतवन करता है कि शंकादिक दोषों से रहित तथा निःशंकित आदि आठों गुणों से सुशोभित और धमरत्न की खानि ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मेरी सदा उत्कृष्ट और दृढ़ बनी रहे ॥८७॥ जो ज्ञानाराधना भगवान

सर्वज्ञध्वनिसम्भूतास्वांगपूर्वादिगोचरा । शुध्या भवतुमेज्ञानाराधनाचारपूर्विका ॥ ८८ ॥ त्रयोदशविधा पूर्णा व्रतैः समितिगुप्तिभि. । सर्वैः दोषातिगा चास्तुचारित्राराधनामम् ॥ ८९ ॥ समस्तेच्छानिरोधोत्थां तपः आराधनापराम् । उग्रोग्राख्यां द्विषड्भेदां कुर्वेहं कर्महानये ॥ ९० ॥ आराधनाइमासारामहतीश्चचतुर्विधाः । सर्वोत्कृष्टाः करोत्येष विशुद्धामुक्तिमातृकाः ॥ ९१ ॥ तथाकषायकायाभ्या द्विधासल्लेखनां कृती । विधत्ते भुवि निःशल्यः क्षमातोषादिभिः परैः ॥ ९२ ॥ आदौ कुर्यात्कषायाणां परां सल्लेखनामिति । क्षमेह विश्वजीवानामपराधकिलांजसा ॥ ९३ ॥ कृत मयापराधं मे क्षम्यतांत्रिजगज्जनाः । सर्वभूतेषु मैत्री च ममास्तुसुखकारिणी ॥ ९४ ॥ गुणानुरागएवालं न वैरं केनचित्सम‌म् । रागं कषायसम्बन्ध प्रद्वेषहर्षमंजसा ॥ ९५ ॥ दीनभावं भयं शोकं सोत्सुकत्वं कुचिन्तनम् । कालुष्यं

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से प्रगट हुई है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के गोचर है ऐसी आचार पूर्वक मेरी ज्ञानाराधना सदा शुद्धि बनी रहे ॥८८॥ पाँच महाव्रत तीनगुप्ति और पाँच समितियों से परिपूर्ण ऐसी तेरह प्रकार की मेरी चारित्राराधना समस्त दोषो से रहित हो ॥८९॥ मैं अपने कर्म नष्ट करने के लिए समस्त इच्छाओं के निरोध करने से उत्पन्न हुई तथा घोर वा उग्र उग्र रूप को धारण करने वाली और बारह प्रकार के भेदों से सुशोभित ऐसी तप आराधना को धारण करूंगा ॥९०॥ इस प्रकार चिंतवन करता हुआ वह क्षपक मोक्ष की इच्छा देने वाली, अत्यंत विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत ऐसी इन चारों प्रकार की महा आराधनाओं को धारण करता है ॥९१॥ तदनंतर शल्यरहित वह बुद्धिमान् वह क्षपक क्षमा संतोष आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर कषाय और काय दोनों की सल्लेखना करता है अर्थात कषायों को घटाता है और शरीर से ममत्व का त्याग करता है ॥९२॥ वह क्षपक सबसे पहले कषायों की सल्लेखना करता है वह कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूं तथा मुझसे जो अपराध बने हों उनको तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर देवें । तथा सुख देने वाली मेरी मैत्री समस्त जीवों में हो ॥९३–९४॥ समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ वैरभाव नहीं रखता, मैं राग को कषायों के संबंध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनतारूप परिणामों को, भय, शोक को उत्सुकता को अशुभध्यान को, कलुषता को, सब तरह के दुर्ध्यान को, स्नेह को रति तथा अरति को,

कृत्स्नदुर्ध्यानस्नेहं रत्यरतिद्वयम् ॥ ९६ ॥ जुगुप्सादिकमन्यद्वा त्रिशुध्या व्युत्सृजाम्यहम् । सर्वभूतदयाचित्तः शत्रुमित्रादिवर्जितः ॥ ९७ ॥ ममत्वं निजदेहादौ जहामि सर्वथाखिलान् । निर्ममत्वं सदा चित्तेप्रकुर्वंत्रिजगत्स्वपि ॥९८॥ आत्मैकालम्बनंमेऽस्तुसार्द्धं दृगादिसद्गुणैः । तं विना त्रिजगज्जालंसर्वंद्रव्यंत्यजाम्यहम् ॥ ९९ ॥ आत्मैव मे परं ज्ञानमात्मा क्षायिकदर्शनम् । आत्मा परमचारित्रं प्रत्याख्यानं च निर्मलम् ॥ १०० ॥ आत्मैव सकलो योग आत्मैवमोक्षसाधनः । यतोऽत्रैतेगुणाःसन्ति विनात्मानं न जातुचित् ॥ १ ॥ एकाकीम्रियते देही ह्येकं उत्पद्यते विधेः । एको भ्रमति संसारे एकः शुध्यति नीरजाः ॥२॥ एको मे शाश्वतोऽत्रात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः । शेषा मेंगादयोभावा वाह्याः संयोगसम्भवाः ॥ ३ ॥ येनसंयोगमूलने प्राप्तादुःखपरंपरा । मया तं कर्मजंसर्वंसंयोगं व्युत्सृजाम्यहम् ॥४॥

जुगुप्सा को तथा और भी कर्म जन्य जो आत्मा के विकार हैं उन सबका मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक त्याग कर देता हूँ। मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिए दया धारण करता हूँ, तथा सबसे शत्रुता वा मित्रता का त्याग करता हूँ। मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूं मैं तीनों लोकों के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूँ ॥९१–९८॥ अब मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूं उसके सिवाय तीनों लोकों में भरे हुए समस्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूँ ॥९९॥ मेरा यह आत्मा ही परम ज्ञान है आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है आत्मा ही परम चारित्र है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है ॥१००॥ मेरा यह आत्मा ही समस्त योग रूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है। क्योंकि आत्मा में जितने गुण हैं वा मोक्ष के कारणभूत जितने गुण हैं वे विना आत्मा के कभी हो ही नहीं सकते हैं ॥१०१॥ यह प्राणी इस संसार में कर्म के निमित्त से अकेला ही मरता है अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है ॥२॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप यह मेरा एक आत्मा ही नित्य है बाकी के शरीरादिक जितने मेरे वाह्य भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं और सब कर्मादिक के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ॥३॥ जिस कर्म के संयोग से मुझे अनादि काल से आज तक दुःखों की परंपरा प्राप्त हुई है उन कर्मों से उत्पन्न हुए समस्त संयोगों को मैं त्याग करता हूँ ॥४॥

मूलोत्तरगुणादीनांमध्येनाराधितागुणः । यः कश्चित्तं त्रिधादोषं गर्हे प्रतिक्रमामि च ॥ ५ ॥ भयान् सप्तमदानष्टौ चतुः सञ्ज्ञास्त्रिगौरवान् । गर्हेह च त्रयस्त्रिंशदासादना हि सर्वथा ॥ ६ ॥ इहामुत्रभयोत्राणागुप्तिमृत्युभयानि च । वेदनाकस्मिकश्चैते जहामि भयसप्तकम् ॥ ७ ॥ विज्ञानैश्वर्यमाज्ञा च कुलजातितपोवलाः । रूपं सत्सु गुणेष्वत्रैतेषु गच्छामि नो मदम् ॥ ८ ॥ पचैवात्रास्तिकायाश्चषड्जीवजातयस्ततः । महाव्रतानिपंचप्रवचनस्याष्टमातरः ॥ ९ ॥ पदार्था नव चोक्ता हि त्रयस्त्रिंशदितिस्फुटम् । आसादना जिनै जातु मनाक् कार्यामया न भो ॥ १० ॥ निन्दनीयं च यत्किंचित्तत्सर्वंनिन्दामि तद्धृदि । गर्हणीयमकृत्यंयद्गर्हेतद्गुरुसन्निधौ ॥ ११ ॥ इत्याद्यन्यशुभध्यानैः कृत्वा

मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कोई गुण मैंने आराधन न किया हो उस दोष की मैं मन वचन काय से गर्हा करता हूँ निंदा करता हूं और उसके लिए प्रतिक्रमण करता हूँ ॥५॥ मैं सातों भयों की निंदा करता हूँ, आठों मदों की निंदा करता हूं चारों संज्ञाओं की निंदा करता हूं तीनों गौरव वा अभिमानों की निंदा करता हूँ और तेतीस आसादनाओं की सर्वथा निंदा करता हूं ॥६॥ इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी रक्षा न होने का भय अगुप्ति (नगर में परकोट के न होने) का भय, मृत्यु का भय, वेदना का भय और आकस्मिक भय ये सात भय हैं मैं इन सातों भयों का त्याग करता हूँ ॥७॥ ज्ञान का मद, ऐश्वर्य का मद, आज्ञा का मद, कुल का मद जाति का मद तप का मद वल का मद और रूप का मद ये आठ मद हैं। मैं इन गुणों में होने वाले सब मदों का त्याग करता हूँ ॥८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने पाँच अस्तिकाय छह प्रकार के जीव, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएं नौ पदार्थ वतलाये हैं इन सवकी संख्या तेतीस होती है इन तेतीसों से संवंध रखना वा इनसे ममत्व रखना इनका तिरस्कार करना इनके निमित्त से रागद्वेष उत्पन्न करना तेतीस आसादनाएं वतलाई हैं इन आसादनाओं का मैं रंचमात्र भी नहीं लगने दूंगा ॥९–१०॥ इस संसार में जो कुछ निंदनीय है उसकी मैं अपने हृदय में निंदा करता हूं तथा जो गर्हा करने योग्य दुष्कृत्य हैं उनकी मैं गुरु के समीप में गर्हा करता हूं ॥११॥ इस प्रकार के ध्यान से अथवा और भी शुभध्यानों से अपने हृदय

सल्लेखनां यतिः ॥ १२ ॥ षष्ठाष्टमादिपक्षैकमासाद्यनशनैः वरैः । तपोभेदैर्द्विषड्भिश्चशोषयेत्क्रमतो वपुः ॥ १३ ॥ ततस्त्यक्त्वाक्रमेणान्नंस्तोकस्तोकेनधर्मधीः । गृह्णाति केवलं नीरं धर्मध्यानसमाधये ॥ १४ ॥ पश्चाद्युक्त्याम्बुपानं च परित्यज्यकरोति सः । परलोकोत्तमार्थाय, ह्युपवासान्निरन्तरम् ॥ १५ ॥ मुण्डनंदशमुण्डानां करोत्येषुसुयुक्तितः । संकोच्येन्द्रियवाक्कायमनोऽवयवचंचलात् ॥ १६ ॥ स्वस्वाद्यविषयेष्वत्र व्रजतः पंचखात्मकान् । जित्वा शक्त्या स पंचेन्द्रियमुण्डान्कुरुतेबलात् ॥ १७ ॥ मौनेन वचसः कृत्वामुण्डनंहस्तपादयोः । वपुषोरोधनंयुक्त्यास्वस्वेच्छाचलना-द्बुधः ॥ १८ ॥ निरुध्यश्रुतपाशेन भ्रमन्तं चित्तमर्कटम् । पंचेति मुण्डनान्येषकरोति च शिवाप्तये ॥ १९ ॥

में कषायों की सल्लेखना करनी चाहिये और फिर उस मुनि का काय की सल्लेखना करनी चाहिये ॥१२॥ वेला तेला कर के वा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास कर के तथा और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण कर के अनुक्रम से अपने शरीर को कृप करना चाहिये ॥१३॥ तदनंतर उस धर्मबुद्धि को धारण करने वाले यति को धर्मध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिए थोड़ा थोड़ा कर के अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिये ॥१४॥ तदनंतर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिये वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सदा के लिये उपवास धारण कर लेता है ॥१५॥ तदनंतर वह क्षपक पाँचों इन्द्रिय मन वचन काय और शरीर की चंचलता को छोड़ कर युक्ति पूर्वक दश प्रकार का मुंडन धारण करता है ॥१६॥ पाँचो इन्द्रियाँ अपने अपने विपयों में दौड़ लगाती हैं उनको अपनी शक्ति के अनुसार जीत कर जवर्दस्ती पाँचों इन्द्रियों को मुंडन करता है। इसी प्रकार मौन धारण कर वचन का मुंडन करता है हाथ पैरों की क्रियाओं को रोक कर हाथ पैरों का मुंडन करता है तथा वह बुद्धिमान अपनी इच्छानुसार चलायमान होने वाले शरीर को रोक कर शरीर का मुंडन करता है। चारों ओर कूदते हुए इस मनरूपी वंदर को भी श्रुतज्ञान के जाल में बाँध कर मन का मुंडन कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए वह यति हाथ पैर शरीर मन और वचन इन पाँचों का मुंडन करता

पचेन्द्रियारिमुण्डास्त्रिमुण्डाहस्तांघ्रिकायजाः । मनो वचोद्विमुण्डौचामीमुण्डादशवर्णिताः ॥ २० ॥ अमीभिर्मुण्डनै र्दीक्षासफलामुक्तिदा सताम् । एभिर्विनाजिताक्षाणांशिरसोमुण्डनं वृथा ॥ २१ ॥ तस्मिन्वहूपवासानां करणेतीववेदना । क्षुधाद्यैर्यदि जायेत तदेतिचिन्तयेत्सुधीः ॥ २२ ॥ अहोक्षुद्वेदनाश्वभ्रे साध्याविश्वान्नभक्षणैः । अब्धिनीरैस्तृपा पीडाचानुभुतामयाचिरम् ॥ २३ ॥ मयात्रारण्यशैलादौ मृगादिपशुजातिषु । मृगतृष्णादिभिः प्राप्ता तीव्राक्षुत्तृट्क्- वेदना ॥ २४ ॥ इत्याद्या अपरा घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । भ्रमतात्रभवारण्येनुभूता दुस्सहा मया ॥ २५ ॥ सर्वा पुद्गलराशिश्चान्नाद्यात्रभक्षिता मया । क्षुत्तृपाशान्तयेपीतमब्ध्यम्वोरधिकं जलम् ॥ २६ ॥ तथापि न मनागासी-

---

है ॥१७-१६॥ पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का मुंडन, हाथ पैर और शरीर का मुंडन तथा मन और वचन का मुंडन इस प्रकार आचार्यों ने दश प्रकार का मुंडन बतलाया है ॥२०॥ सज्जन पुरुषों की मोक्ष देने वाली दीक्षा इन्हीं दश मुंडनों से सफल मानी जाती है। इन मुंडनों के बिना इन्द्रियों को न जीतने वाले लोगों का मस्तक का मुंडन करना व्यर्थ ही है ॥२१॥ इस प्रकार उपवास धारण करने से यदि भूख प्यास की वेदना अधिक होती हो तो उस बुद्धिमान् क्षपक को भी नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये ॥२२॥ देखो मैंने नरकों में भूख की इतनी महा वेदना सहन की है कि यदि उस समय तीनों लोकों का समस्त अन्न खाने को मिल जाता तो भी वह भूख नहीं मिटती तथा वहीं पर प्यास की भी इतनी वेदना सही है कि यदि तीनों लोकों के समुद्रों का जल भी पीने को मिल जाता तो वह प्यास नहीं मिटती। इसी प्रकार जंगल और पर्वतों पर हिरण आदि पशुओं की पर्याय मृगतृष्णा के द्वारा अत्यंत तीव्र भूख और प्यास की वेदना सहन की है ॥२३-२४॥ इस संसाररूपी वन में परिभ्रमण करते हुये मैंने इनके सिवाय और भी भूख प्यास की असह्य और घोर वेदनाएं वा परीषहें सहन की हैं ॥२५॥ अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए मैंने भूख की वेदना मिटा देने के लिए अन्न की समस्त पुद्गल राशि भक्षण करली है तथा प्यास की वेदना मिटाने के लिए समुद्रों के जल से भी अधिक जल पी डाला है ॥२६॥ तथापि इस अन्न जल के भक्षण करने से रंचमात्र भी मेरी

स्तृप्तिमेंआदिभक्षणैः । किन्तुनित्यंप्रवर्द्धेते तीव्र चुत्तृट्कुवेदने ॥ २७ ॥ यथेन्धनचयैरग्निः समुद्रश्च नदीशतैः । तृप्ति नैति तथा जीवः कामभोगैः प्रमातिगैः ॥ २८ ॥ कांक्षितो मूर्च्छितो रोगी कामभोगैश्चमानसे । नित्यं कलुषितोभूतो भुंजानोऽपिकुमार्गगः ॥ २९ ॥ भोगान् दुष्परिणामेनश्वभ्रदुःखनिवन्धनम् । दुरन्तं पापसन्तापंवध्नाति केवलं वृथा ॥ ३० ॥ आहारस्य निमित्तेन नरकं यान्ति सप्तमम् । मत्स्यायदि ततो नूनमाहारोनर्थसागरः ॥३१॥ पूर्वं कृततपोभ्यासस्त्यानिदानः शिवाप्तये । पश्चात्कृतकषायो यो जित्वासर्वान् परीषहान् ॥ ३२ ॥ चुत्तृषादिभवां- स्तीव्रान् साधयेन्मरणोत्तमम् । धन्यःसएवलोकेऽस्मिन्सार्थंतस्यतपोखिलम् ॥ ३३ ॥ पूर्वंकृततपोघोराः प्रतिपालितस- द्व्रताः । पश्चात्कर्मगुरुत्वेनचुधाद्यतिपरीषहैः ॥ ३४ ॥ ये पतन्तिन्वधैर्यदिमृत्युकाले भवार्णवे । मज्जनंनिश्चितं तेषां

तृप्ति नहीं हुई है किंतु ये भूख प्यास की दोनों कुवेदनाएं प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं ॥२७॥ जिस प्रकार ईंधन के समूह से अग्नि तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रमाण से अधिक काम भोगों का सेवन करने पर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता ॥२८॥ यह जीव अपने मन में काम भोगों के ही कारण अनेक पदार्थों की इच्छायें करता है मूर्छित होता है रोगी होता है तथा वह कुमार्गगामी भोगों को नहीं भोगता हुआ भी सदा कलुषित परिणामों को धारण करता है उस कलुषितरूप अशुभ परिणामों के कारण व्यर्थ ही नरक के महा दुःखों के कारण और अत्यंत कठिन ऐसे अनेक पाप कर्मों का बंध करता है ॥२९–३०॥ देखो इस आहार के ही निमित्त से बड़े बड़े मत्स्य सातवें नरक तक पहुँचते हैं इसलिये कहना चाहिये यह आहार ही अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥३१॥ जिन्होंने पहले बहुत से तपश्चरण का अभ्यास किया है, तथा कभी निदान किया नहीं है और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन्होंने कषायों को नष्ट कर भूख प्यास आदि से होने वाली समस्त तीव्र परीषहों का सहन किया है तथा अंत में जिन्होंने उत्तम पंडितमरण सिद्ध कर लिया है वे ही मुनि इस संसार में धन्य हैं और उन्हीं का समस्त तपश्चरण सार्थक है ॥३२–३३॥ जिन्होंने पहले घोर तपश्चरण किये हैं और श्रेष्ठ व्रतों का अच्छी तरह पालन किया है परंतु पीछे कर्मों के तीव्र उदय से क्षुधादिक कठिन परीषहों के कारण मरण के समय में अपने धैर्य से गिर जाते हैं वे इस संसाररूपी

वृथातपोयमादिकम् ॥ ३५ ॥ इत्यादिचिन्तनैरेभीत्रासेभ्यः शुद्धचेतसा । सहतेपरयाशक्त्यात् धातृपादिवेदनाम् ॥३६॥ शुष्काधरोदरस्यास्यक्षीणगात्रस्ययोगिनः । चर्मास्थिमात्रशेषस्यकाठिन्यसस्तरेण च ॥ ३७ ॥ उत्पद्यतेमहादुःखयद्येष- मानसे तदा । चिन्तयेत्प्राकनस्वस्य भवभ्रमणमंजसा ॥ ३८ ॥ अहोजलस्थलाकाशेकंटकादिभवाभुवि । प्राग्भवे वसता भुक्तामहतीवेदनामया ॥ ३९ ॥ वज्रकंटकसकीर्णेश्वभ्रे परवशेन भोः । स दुःखंवसितंपापचिरकालमयविधे ॥ ४० ॥ कियन्मात्रा ततोत्रेयंवेदनासंस्तरादिजा । विचिंत्येति सदुःखंसहतेसस्तरोद्भवम् ॥ ४१ ॥ इत्यादिसद्विचाराद्यैर्ध्यानै- र्धर्मशतैः परैः । परमेष्ठिपदध्यानैरनुप्रेक्षार्थचिन्तनैः ॥ ४२ ॥ आगमामृतपानैश्च तर्पयित्वानिजंमनः । स्वस्थं कुर्यात्स

समुद्र में अवश्य डूबते हैं तथा उनका तप यम आदि सब व्यर्थ समझा जाता है ॥३४–३५॥ इस प्रकार शुद्ध हृदय से चिंतवन करता हुआ वह यति कभी क्षुब्ध नहीं होता और अपनी परम शक्ति प्रगट कर क्षुधा तृषा आदि परीषहों को सहन करता है ॥३६॥ जिसके ओठ पेट सब सूख रहे हैं, जिसका शरीर अत्यंत क्षीण हो रहा है और केवल हड्डी चमड़ा ही बाकी रह गया है ऐसे उस क्षपक योगी को कठिन सांथरे का महा दुःख उत्पन्न होता है उस समय उसको अपने हृदय में पहले किये हुए संसार के परिभ्रमण का चिंतवन करना चाहिये ॥३७–३८॥ उसको चिंतवन करना चाहिये कि देखो पहले भवों में मैंने जल स्थल आकाश और पर्वतों पर निवास किया है तथा उनसे उत्पन्न हुई अनेक महा वेदनाएं मैंने सहन की हैं ॥३९॥ कर्म के परवश हुए मैंने पापकर्म के उदय से वज्रमय काँटों से भरे हुए नरक में चिरकाल तक निवास किया है और वहाँ पर अनेक महा दुःख भोगे हैं ॥४०॥ फिर भला यह कठिन संस्तर से उत्पन्न हुई वेदना कितनी है यही चिंतवन कर वह क्षपक कठिन संस्तर से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों को सहन करता है ॥४१॥ तत्त्वों को जानने वाला वह क्षपक अपने आत्म ध्यान और समाधि के लिए ऊपर कहे अनुसार श्रेष्ठ विचारों को धारण कर, सैकड़ों उत्कृष्ट धर्मध्यानों को धारण कर परमेष्ठी के चरण कमलों का ध्यान कर अथवा परमेष्ठी के वाचक पदों का ध्यान कर वा अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन कर अथवा आगमरूपी अमृत का पान कर अपने मन को संतुष्ट करता है और उसको

तत्त्वज्ञः स्वात्मध्यानसमाधये ॥ ४३ ॥ निर्विकल्पमनाः ध्यानी चिदानन्दमयंपरम् । ध्यातुमारभतेचित्ते परमात्मानमजसा ॥ ४४ ॥ अस्मिन्नवसरे योगी क्षीणदेहपराक्रमः । बाह्ययोगंविधातुं सोऽशक्तः सन्नपि धीधनः ॥ ४५ ॥ योगमभ्यन्तरं सारं सर्वाराधनपूर्वकम् । एकचित्तेनमुक्त्यर्थं विधत्तेत्रनिरन्तरम् ॥ ४६ ॥ एतस्मिन्समयेदक्षोद्वादशांगाखिलागमम् । चित्ते चिन्तयितुं धीरः सोऽशक्तोपिमहामनाः ॥ ४७ ॥ सर्वसिद्धान्तमूलंयत्पदमेकंद्वयादिकम् । सारं तच्चिन्तयेद्युक्त्या प्रशस्तध्यानसिद्धये ॥ ४८ ॥ क्षीणगात्रे तदा तस्य दुर्व्याधिर्जायतेयदि । सोघपाकेनतद्धान्त्यै हीदं गृह्णाति चौषधम् ॥ ४९ ॥ जिनेन्द्रवचनं तथ्यं जन्ममृत्युजरान्तकम् । रोगक्लेशहरंयत्स्याद्विश्वदुःखक्षयंकरम् ॥ ५० ॥ ग्राह्यं तद्धिमयासारं रोगक्लेशार्तशान्तये । जन्मादिदाहनाशायसुधारसमिवोर्जितम् ॥ ५१ ॥ अस्मा

सब तरह से निराकुल बना लेता है ॥४२–४३॥ जिसका मन सब तरह के संकल्प विकल्पों से रहित है ऐसा ध्यान करने वाला वह क्षपक शीघ्र ही अपने मन में चितानंदमय सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का ध्यान करना प्रारंभ करता है ॥४४॥ जिसका शरीर और पराक्रम क्षीण हो गया है ऐसा वह बुद्धिमान योगी यदि उस समय बाह्य योग धारण करने में असमर्थ हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस योगी को एकाग्रचित्त से निरंतर समस्त आराधनाओं की आराधना पूर्वक सारभूत अभ्यंतर योग धारण करना चाहिये ४५–४६॥ यदि उस समय वह महामना धीर वीर चतुर क्षपक अपने मन में द्वादशांग श्रुतज्ञान को चितवन करने में समर्थ न हो तो उसको प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिए समस्त सिद्धांतों का मूलकरण और सारभूत ऐसा पंचपरमेष्ठी का वाचक एक पद का वा दो पद का युक्तिपूर्वक चिंतवन करना चाहिये ॥४७–४८॥ कदाचित् पापकर्म के उदय से उस समय उस क्षपक के क्षीण शरीर में कोई दुष्ट व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिए उस क्षपक को नीचे लिखे अनुसार औषधि ग्रहण करनी चाहिये अर्थात् नीचे लिखे अनुसार चितवन करना चाहिये ॥४९॥ उसे चिंतवन करना चाहिये कि इस संसार में भगवान जिनेन्द्रदेव के वचन ही तथ्य हैं वे ही जन्म मरण और बुढ़ापे को नष्ट करने वाले हैं, रोग और क्लेश को दूर करने वाले हैं और समस्त दुःखों को क्षय करने वाले हैं। अतएव रोग और क्लेशों के दुःखों को दूर करने के लिए और जन्ममरण का संताप शांत करने के लिए उत्कृष्ट अमृतरस के समान सारभूत जिनवचन मुझे ग्रहण करने चाहिये ॥५०–५१॥

द्रोगभवक्लेशाच्छरणंयामिसंप्रति । सर्वार्हत्सिद्धसाधूनांशरण्यानांजगत्सताम् ॥ ५२ ॥ केवलिप्रोक्तधर्मस्यशरण्यस्या-खिलापदि । तपोरत्नत्रयादीनां विश्वसातारिघातिनाम् ॥ ५३ ॥ यतो लोकोत्तमा ये ते विश्वमंगलकारिणः । शरण्या भव्यजीवानांममापिसन्तुसिद्धिदाः ॥ ५४ ॥ धीरत्वेनापि मर्तव्यं कातरत्वेन, वा यदि । कातरत्वं मुदा त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥ ५५ ॥ धीरत्वेनापिसोढव्यं रोगादिकर्मजं फलम् । कातरत्वेन वा पुंसां धीरत्वेन वरं च यत् ॥ ५६ ॥ शीलेनाप्यत्र मर्तव्यं निःशीलेनापिचेत्सताम् । निःशीलत्वं परित्यज्य शीलत्वे मरणवरम् ॥ ५७ ॥ इत्यादिचिन्तनैर्ध्यानै कुर्वन् स स्वमनःस्थिरम् । ददाति जातुगन्तुं न मनाक्क्लेशार्तसन्निधिम् ॥ ५८ ॥ तदासोति

अब मैं इन रोगों से उत्पन्न हुए क्लेशों को शांत करने के लिए तीनों लोकों के सज्जनों को शरणभूत ऐसे समस्त अरहंत सिद्ध और साधुओं की शरण लेता हूं तथा समस्त आपत्तियों में शरणभूत ऐसे केवली भगवान के कहे हुए धर्म की शरण लेता हूँ और समस्त दुःखरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले तप और रत्नत्रय की शरण लेता हूं ॥५२–५३॥ क्योंकि संसार में ये ही लोकोत्तम हैं, ये ही समस्त मंगल करने वाले हैं और ये ही भव्य जीवों को शरण हैं। इसलिये ये सब मेरे लिये भी समस्त कार्यों की सिद्धि करें अथवा मुझे सिद्ध अवस्था प्रदान करें ॥५४॥ देखो मरना धीर वीरता के साथ भी होता है और कातरता के समय (रो रो कर) भी होता है। परंतु कातरता का त्याग कर धीरवीरता के साथ मरण करना अच्छा है इसी प्रकार रोग क्लेश कर्मों का फल धीरवीरता के साथ भी सहन किया जाता है और कायरता के साथ भी सहन किया जाता है परंतु कायरता को छोड़ कर धीरवीरता के साथ रोग वा क्लेशों को सहन करना मनुष्यों के लिए हितकारक है ॥५५–५६॥ इसी प्रकार शीलादिक व्रतों को धारण कर भी मरण होता है और बिना शील व्रतों को धारण किये ही भी मरण होता है परंतु सज्जन पुरुषों को निःशीलता का त्याग कर शील धारण कर मरना अच्छा ॥५७॥ उस क्षपक को इस प्रकार चिंतवन कर तथा ध्यान धारण कर अपने मन को स्थिर रखना चाहिये और अपने मन को क्लेश और दुःखों के समीप रंचमात्र भी नहीं जाने चाहिये ॥५८॥ उस समय यद्यपि वह क्षपक निरीह वृत्ति को धारण करता है तथापि वह किसी महा लोभ के लिए उद्यम करता

निरीहोऽपिमहालोभंकृतोधमः । उत्तमामुत्तमार्थाप्त्यैयाचांकुर्यादिमांभुवि ॥ ५६ ॥ अर्हतांवीतमोहानामकायानां च या गतिः । पंचमीत्रिजगत्प्रार्थ्या सा मे भवतुशर्मणे ॥ ६० ॥ तीर्थेशसिद्धनिर्मोहयोगिनां ये परागुणाः । अनन्त-ज्ञानदृष्ट्याद्यास्ते मे सन्तुशिवाप्तये ॥ ६१ ॥ रत्नत्रययुता बोधिःसमाधिः शुक्लपूर्वकः । यावत्प्राप्स्याम्यहं मोक्षं तावन्मेस्तु भवेभवे ॥ ६२ ॥ अमीभिर्दुद्धराचारैः कृत्स्नदुष्कर्मणांक्षयः । चतुर्गतिजदुःखानां मे चास्तुमुक्तिहेतवे ॥६३॥ जिननाथजगत्पूज्य देहि त्वं सन्मृतिमम् । अधुना त्वद्गुणान्सर्वान्स्वद्गतिंचाशुभक्षयम् ॥ ६४ ॥ मृत्यवस्थां क्रमादाप्य परमेष्ठ्याख्यसत्पदान् । पचैवाप्रजपेद्वाचासचैकद्व्यादिसत्पदम् ॥ ६५ ॥ यदि तान् जपितुं योगी सोऽसमर्थोगिरा तदा । ध्यायेत्पंचनमस्कारांश्चेतसापरमेष्ठिनाम् ॥ ६६ ॥ इत्यादिसर्वयत्नेनध्यायन् जपन्पदोत्तमान् ।

है और इसीलिए वह उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए नीचे लिखे अनुसार सबसे उत्तम याचना करता है ॥५६॥ वह याचना करता है कि भगवान वीतराग अयोगकेवली अरहंतदेव की जो तीनों लोकों के द्वारा प्रार्थनीय पंचम गति होती है वही सुख देने के लिए मुझे प्राप्त हो। भगवान तीर्थंकर परमदेव, भगवान सिद्ध परमेष्ठी और मोह रहित मुनियों जो अनंतज्ञान अनंतदर्शन आदि उत्तम गुण हैं वे सब मोक्ष प्राप्त होने के लिए मेरे आत्मा में प्रगट हों ॥६०–६१॥ जब तक मैं मोक्ष प्राप्त न कर लूं तब तक मुझे भवभव में रत्नत्रय सहित बोधि की प्राप्ति होती रहे और शुक्लध्यान पूर्वक समाधि की प्राप्ति होती रहे ॥६२॥ मैंने जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये कठिन कठिन तपश्चरण किये हैं उनके फल से मेरे समस्त कर्मों का नाश हो तथा चारों गतियों के समस्त दुःखों का नाश दो ॥६३॥ हे जिन-नाथ ! हे जगत्पूज्य ! आप मुझे इस समय श्रेष्ठ मरण देवें, अपने सब गुण देवें, अपनी सब सद्गति देवें और मेरे सब अशुभों को नाश करें। इस प्रकार उस क्षपक को चिंतवन करना चाहिये ॥६४॥ इस प्रकार चिंतवन करते हुए उस क्षपक की यदि मृत्यु अवस्था अत्यंत समीप आजाय तो उसे अपने वचन से परमेष्ठी के वाचक पाँचों श्रेष्ठ पदों का जप करना चाहिये अथवा किसी भी एक दो पद का जप करना चाहिये ॥६५॥ यदि वह योगी उन परमेष्ठी के वाचक पदों को उच्चारण पूर्वक जप करने में असमर्थ हो जाय तो उसको अपने हृदय में ही पंचपरमेष्ठी के वाचक पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करना चाहिये ॥६६॥ इस प्रकार शल्य

कुर्वन् वा स्वात्मनोध्यानंशृण्वन्निर्यापकास्यजान् ॥ ६७ ॥ सारधर्माक्षरान् ध्यानी निःशल्योनिर्भयः सुधीः । ध्यानाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यां त्यजेत्प्राणान्समाधिना ॥ ६८ ॥ ततोसौ शुद्धिमापन्नोऽहमिन्द्रपदमूर्जितम् । नाकं सर्वार्थसिद्धिं वा गच्छेत्सन्मृतिसाधनात् ॥ ६६ ॥ सन्यासोत्थ सुधर्मेणसुदेवनृगतौसुखम् । महत्त्रिभवपर्यन्तसुरेशचक्रिभूतिजम् ॥७०॥ भुक्त्वाहत्वास्यकर्माणि तपसायान्तिनिर्वृतिम् । पण्डिता मुनयः प्राप्यह्यष्टौसिद्धगुणान्परान् ॥ ७१ ॥ जघन्याराधना येषां तेऽपि भुक्त्वा परंसुखम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तद्विगतौयान्तिनिर्वृतिम् ॥ ७२ ॥ इतिज्ञात्वा फलं सारं मरणस्योत्तमस्य च । साधयन्तुविदोयत्नाच्छिवायमरणोत्तमम् ॥ ७३ ॥ यदिसर्पविषाद्यैश्च चोपसर्गैर्नृपादिजैः । मरणं जायते

रहित, भय रहित, ध्यान करने वाले उस बुद्धिमान् क्षपक को ऊपर लिखे अनुसार सब तरह के प्रयत्न पूर्वक पंच परमेष्ठी के वाचक उत्तम पदों का जप करते हुए, ध्यान करते हुये, वा अपने आत्मा का ध्यान करते हुये अथवा उन निर्यापकाचार्य के मुख से निकले हुए सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण कर समाधि पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करना चाहिये ॥६७–६८॥ तदनंतर अत्यंत शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ वह क्षपक श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध कर लेने के कारण उत्कृष्ट अहमिंद्र पद प्राप्त करता है वा सर्वार्थ सिद्धि में उत्पन्न होता है अथवा स्वर्गों में उत्तम देव होता है ॥६६॥ इस समाधिमरण से उत्पन्न हुये श्रेष्ठ धर्म से विद्वानों को वा मुनियों को उत्तम देव गति वा उत्तम मनुष्यगति में सर्वोत्तम सुख मिलते हैं तथा तीन भव तक वे इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूतियों का अनुभव कर अंतमें अपने तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और सिद्धों के आठों परमगुणों को प्राप्त कर लेते हैं ॥७०–७१॥ जो भव्य जीव जघन्य रीति से आराधनाओं की आराधना करते हैं वे भी सात आठ भव तक परम सुखों का अनुभव करते हैं और अंतमें कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥७२॥ इस प्रकार उत्तममरण का ऐसा अच्छा फल समझ कर विद्वान् लोगों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक उत्तम मरण को सिद्ध करना चाहिये ॥७३॥ यदि सर्प काट ले वा विष भक्षण कर ले वा राजा आदि का घोर उपसर्ग

स्वस्य ससन्देहं तदासुधीः ॥ ७४ ॥ समासेन जगज्जन्तून् क्षमयित्वा स्वमानसे । कृतकारितदोषादीनविनिंद्यनिन्दनादिभिः ॥ ७५ ॥ भूत्वासर्वत्रनिःशल्योनिर्ममत्वंविधाय च । सन्यासंद्विविधंहीदंगृह्णातिशिवसिद्धये ॥ ७६ ॥ अस्मिन्देशेऽवधौकाले यदि मे प्राणमोचनम् । तदास्तु जन्मपर्यन्तंप्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥ ७७ ॥ जीविष्याभिकचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात् । करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये ॥ ७८ ॥ यदि नीरं विनाप्रत्याख्यनमादातुमिच्छति । तदा समाधयेस्वस्येदंप्रत्याख्यानमाचरेत् ॥ ७९ ॥ प्रत्याख्यामि विना नीरं चतुर्धाहारमामृतौ । अन्तर्बाह्योपधीन् सर्वान् सावद्यं त्रिविधेन च ॥ ८० ॥ यः कश्चिदुपधिर्मेत्रवाह्योवाभ्यन्तरोऽशुभः । तमाहारं शरीरं च यावज्जीवं

आ जाय और अपने मरने में सन्देह हो जाय तो उस बुद्धिमान को संक्षेप से ही अपने मन में संसार के समस्त प्राणियों को क्षमा कर देना चाहिये, तथा कृत कारित अनुमोदना से हुए समस्त दोषों की निंदा गर्हा के द्वारा आलोचना करनी चाहिये तथा सर्वत्र शल्यरहित ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए नीचे लिखे अनुसार दोनों प्रकार का सन्यास धारण करना चाहिये ॥७४–७६॥ उसको पहला सन्यास तो इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जाँय तो मेरे जन्म पर्यंत चारों प्रकार के आहार का त्याग है। तथा दूसरा सन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिये कि यदि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊंगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिए इतने काल के बाद अवश्य ही पारणा करूंगा ॥७७–७८॥ यदि वह क्षपक उस समय पानी को रखना चाहता है पानी को छोड़ कर बाकी का त्याग करना चाहता है तो उसे अपनी समाधि धारण करने के लिए नीचे लिखे अनुसार प्रत्याख्यान वा त्याग करना चाहिये ॥७९॥ मैं अपने मरण पर्यंत पानी को छोड़ कर बाकी के चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूं तथा मैं मन वचन काय से अंतरंग और वाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग करता हूं और समस्त पापों का त्याग करता हूँ। इस समय मुझसे संबंध रखने वाला जो अशुभ वाह्य और अभ्यंतर परिग्रह है मैं उसका जीवन पर्यंत तक के लिए त्याग करता हूं तथा जीवन पर्यंत ही आहार और शरीर का

त्यजाम्यहम् ॥ ८१ ॥ अथवा स्वस्यनिश्चित्यमरणं प्रागतं भुवि । प्रत्याख्यानमितिग्राह्यं दक्षैः सिध्यै चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥ एषोऽपि पूर्ववत्सर्वान् धर्मध्यानादिकान्परान् । स्वीकृत्य साधयित्वाशु चतुराराधनाः परा ॥ ८३ ॥ समाधिना वपुस्त्यक्त्वासन्यासाज्जिनधर्मतः । सौधर्मादिसर्वार्थसिध्द्यन्तधर्मधीर्व्रजेत् ॥ ८४ ॥ इतिगणधरजातंपण्डिताख्यंप्रयत्नादनघमरणसारं साधयेद्यः स्वसिध्यै । सुरनरपतिसौख्यं प्राप्यमुक्त्यंगनां स श्रयति परमयोगात्कृत्स्नकर्माणिहत्वा ॥ ८५ ॥ मत्वेतीह बुधाप्रयत्नमनसास्वमुक्तिसंसिद्धये, कृत्वा सत्तपऊर्जितनिरुपमसार्द्धं समस्तैर्व्रतैः । जन्मान्तेकिलमाधयन्तुमरणसत्पण्डिताख्यपर, स्याद्येनात्रनृजन्मसद्व्रततप सर्वार्थसिद्धिप्रदम ॥ ८६ ॥ विश्वार्च्या विश्ववन्द्या शिवसुखजननीधर्मरत्नादिखानी, सेव्यानित्यमुनीन्द्रै सकलविधिहराअर्गलाश्वभ्रगेहे । सारा. सोपानमालाः

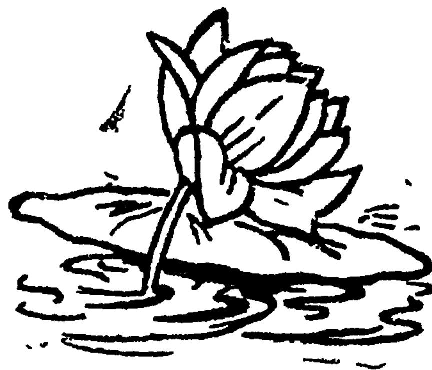
त्याग करता हूँ शरीर से ममत्व छोड़ता हूं ॥८०-८१॥ अथवा यदि अपने मरने का अवश्य निश्चय हो जाय तो चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिये ॥८२॥ इस क्षपक को भी पहले के समान उत्कृष्ट धर्मध्यानादिक सब धारण करने चाहिये चारों प्रकार की आराधनाओं को आराधन करना चाहिये और समाधिपूर्वक सन्यास से शरीर का त्याग करना चाहिये । इस प्रकार समाधिमरण करने वाला धर्मात्मा जिनधर्म के प्रसाद से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि तक उत्तम देवों में जन्म लेता है ॥८३-८४॥ इस प्रकार जो भव्य जीव अपने आत्मा की सिद्धि के लिए भगवान गणधरदेव के द्वारा कहे हुये पाप रहित और सारभूत इस पंडितमरण को प्रयत्न पूर्वक सिद्ध कर लेता है वह जीव इन्द्र और चक्रवर्तियों के सुख भोग कर तथा अंतमें परमयोग धारण कर समस्त कर्मों को नाश करता है और फिर मोक्षस्त्री को प्राप्त कर लेता है ॥८५॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को स्वर्ग मोक्ष सिद्ध करने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त व्रतों के साथ साथ उपमारहित ऐसा सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण करना चाहिये, तथा अंतमें सर्वोत्कृष्ट पंडितमरण को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे कि श्रेष्ठ व्रत उत्तम तप और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय ॥८६॥ यह चारों प्रकार की आराधनारूपी देवता तीनों लोकों में पूज्य है तीनों लोकों में वंदनीय है, मोक्ष सुख देने वाली है, धर्मरत्न की खानि है, श्रेष्ठ मुनिराज ही नित्य

सुरगृहगमनैसद्गुणग्रामधात्री:, वन्देत्राराधनाप्त्यैजिनवरपददाराधनादेवता वै ॥ १८७ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेप्रत्याख्यानसंस्तरवर्णनो नाम दशमोऽधिकारः ।

इसका सेवन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करने वाली है, नरक के घर को बंद करने के लिए वेंडा है, सबमें सार है, स्वर्ग की सीढ़ी है, अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाली है और तीर्थंकर पद को देने वाली है ऐसी इस आराधना को मैं आराधना प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१८७॥

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ में प्रत्याख्यान संस्तर को वर्णन करने वाला यह दशवां अधिकार समाप्त हुआ।



एकादशोधिकारः ।



सर्वशीलगुणाधारान्विश्वातिशयभूषितान् । वन्देऽर्हतइहामुत्रत्रिजगच्छर्मकारकान् ॥ १ ॥ अथवक्ष्ये समासेनशीलानिसकलान्यपि । गुणाश्चनिखिलान्युक्त्यासंख्ययोत्तमयोगिनाम् ॥ २ ॥ त्रियोगा करणत्रेधा चतुःसंज्ञाखपंच वै । दशपृथ्व्यादिकायाश्चधर्माःक्षमादयो दश ॥ ३ ॥ अन्योऽन्यं गुणिता एते योगाद्याः श्रुतकोविदैः । अष्टादशसहस्त्राणिशीलानिस्युर्महात्मनाम् ॥ ४ ॥ मनोयोगोवचोयोग. काययोगोऽशुभाश्रितः । योगानांयानिपापा–

ग्यारहवां अधिकार ।

जो भगवान अरहंतदेव समस्त शील और समस्त गुणों के आधार हैं, जो समस्त अतिशयों से विभूषित हैं और इस लोक तथा परलोक में तीनों जगत के जीवों का कल्याण करने वाले हैं उन भगवनान अरहंतदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ अब मैं उत्तम योगियों के लिए युक्ति और संख्या पूर्वक समस्त शीलों को कहता हूँ और समस्त गुणों को कहता हूँ ॥२॥ तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, "पृथ्वीकायिक आदि दश प्रकार के जीव और उत्तम क्षमादिक दशधर्म इन सब योगादिकों को परस्पर गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं ये ही महात्माओं के शील हैं ऐसा, श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादिक देव कहते हैं ॥३–४॥ शुभ मनोयोग. शुभ वचनयोग, और शुभ काययोग ये तीन तो योग कहलाते हैं तथा उन योगों के द्वारा जो पुण्य पाप रूप क्रिया

दिक्रियाप्रवर्तकानि च ॥ ५ ॥ तानित्रिकरणान्यत्रोच्यन्ते करणरोधनैः । अभ्यस्तास्तैत्रयोगानवभेदा भवन्ति वै ॥६॥ आहारभयसंज्ञे संज्ञे मैथुनपरिग्रहे । चतुरआदिसंज्ञानां चतुर्धाविरतो त्रयः ॥ ७ ॥ क्रियन्तेमुनिभिस्ताभिश्चतुर्भिर्गुणिता नव । भेदाभवन्तिशीलस्य षट्त्रिंशत्संख्यकाःसताम् ॥ ८ ॥ स्पर्शाक्षरसनघ्राण चक्षुःश्रोत्रनिवारणैः । षट्त्रिंशद्गुणिता भेदाः स्युरशीत्यधिकशतम् ॥ ६ ॥ पृथ्व्यपूतेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायिकाःभुवि । द्वित्रितुर्येन्द्रियाःपंचाक्षाश्चेतिदशधांगिनः ॥ १० ॥ अमीषां रक्षणान्यत्र विधीयन्तेमुनीश्वरैः । यत्नेनयानि तानिस्युर्दशशीलानि धीमताम् ॥११॥ दशभिर्गुणितं चैतेयुक्त्याशीत्यधिकंशतम । अष्टादशशतान्युत्पद्यन्तेशीलानियोगिनाम ॥ १२ ॥ उत्तमाद्यात्क्षमामार्दवं सारं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहत्संयमस्तपस्त्यागऊर्जितः ॥ १३ ॥ आकिंचन्योत्तमोब्रह्मचर्यंदशविधः परः ।

होती है उनको यहाँ पर तीन करण कहते हैं। यदि उन मन वचन काय की होने वाली क्रियाओं को करणों को रोक दिया जाय तो योगों के नौ भेद हो जाते हैं ॥५–६॥ आहार भय मैथुन और परिग्रह ये संज्ञा के चार भेद हैं इनका त्याग करना अर्थात् आहार संज्ञा का त्याग करने के लिये अन्नादिक का त्याग कर देना भय के त्याग के लिये परिग्रह नहीं रखना, मैथुन के त्याग के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना और परिग्रह के त्याग के लिये ममत्व छोड़ना संज्ञाओं का त्याग है। ऊपर कहे हुए योग निरोधों के नौ भेदों से इन चार के साथ गुणा करने से शील के छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥७–८॥ स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनको वश में करना इन्द्रियों का त्याग है। इसलिये छत्तीस से इन पाँचों को गुणा करने से शील के एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं ॥६॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक साधारण वनस्पतिकायिक दोइन्द्रिय तेन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकार के जीव हैं। मुनिराज इन दशों प्रकार के जीवों की रक्षा प्रयत्न पूर्वक करते हैं। इसलिये ये दश भेद भी शील के ही गिने जाते हैं। ऊपर जो शील के एकसौ अस्सी भेद बतलाये हैं उनसे इन दश के साथ गुणा कर देने से शील के अठारहसौ भेद हो जाते हैं ॥१०–१२॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य

एषधर्मो जगत्पूज्यः श्रमणानां शिवप्रदः ॥ १४ ॥ दशभिर्गुणितान्येभि अष्टादशशतानि च । अष्टादशसहस्राणि सन्ति शीलानियोगिनाम् ॥ १५ ॥ इत्यादिगणनाभिश्च जायन्ते व्रतधारिणाम् । सुशीलाना यतीशानां शीलानि निखिलान्यपि ॥१६॥ अष्टादशसहस्रप्रमाणान्यर्च्यानि नाकिभिः । निर्मलानीह त्रैलोक्ये नन्तशर्माकराणि वै ॥१७॥ शीलाभरणयुक्तांश्च त्रिजगच्छ्रीः स्वयंमुदा । वृणोत्येत्य जिनश्रीश्चमुक्तिरालोकतेमुहुः ॥ १८ ॥ प्रकम्पन्तेसुरेशानां शीलेनाशासतानि भोः । किंकराइवसेवन्ते पादान् शील जुषांसुरा ॥ १९ ॥ विघटन्ते सुशीलानां सर्वोपद्रवकोट्यः । निरर्गला भ्रमेत्कीर्तिश्चन्द्रांशुवज्जगत्त्रये ॥२०॥ जीवितव्यंदिनैकं च वरं शीलवतां भुवि । नि.शीलानां वृथा नून पूर्वकोटिशतप्रमम् ॥ २१ ॥ मत्वेतीमानिशीलानि सर्वाणि कृत्स्नयत्नतः । पालयन्तु बुधा मुक्त्यैदुर्लभान्यल्पचेत–

यह दश प्रकार का धर्म है। यह धर्म जगत्पूज्य है और मुनियों को मोक्ष प्रदान करने वाला है ॥१३–१४॥ ऊपर जो शील के अठारहसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश धर्मों के साथ गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं। ये सब मुनियों के शील कहलाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार की गणना से व्रतों को धारण करने वाले और शीलों को पालन करने वाले मुनिराजों के शीलों के सब भेद हो जाते हैं ॥१६॥ ये अठारह हजार शील इन्द्रों के द्वारा भी पूज्य हैं अत्यंत निर्मल हैं और तीनों लोकों में अनंत कल्याण करने वाले हैं ॥१७॥ जो महा पुरुष इन अठारह हजार शीलों से सुशोभित हैं उनको तीनों लोकों की संपदा प्रसन्नता के साथ स्वयं आकर स्वीकार करती है तथा भगवान जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी और मुक्तिरूपी लक्ष्मी बार बार उनको देखती है ॥१८॥ इन शीलों के प्रभाव से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा शील पालन करने वालों के चरण कमलों की देव लोग भी सेवक के समान सेवा करते रहते हैं ॥१९॥ शील पालन करने वालों के समस्त करोड़ों उपद्रव स्वयं नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा के समान उनकी निर्मल कीर्ति निरर्गल होकर तीनों लोकों में फैल जाती है ॥२०॥ शील पालन करने वालों का एक दिन भी जीना अच्छा परंतु विना शील के सैकड़ों करोड़ वर्ष भी जीना व्यर्थ है ॥२१॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न पूर्वक इन समस्त शीलों का पालन करते रहना चाहिये। जो छोटी बुद्धि को धारण करने वाले हैं उनके लिये

साम् ॥ २२ ॥ एकविंशतिर्हिंसाद्याश्चत्वारोतिक्रमादयः । शतपृथ्व्यादिकायाश्चदशब्रह्मविराधनाः ॥ २३ ॥ दशालोचनजा दोषा दशशुद्धिकरा इमे । अन्योन्यंवर्गिता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ २४ ॥ प्राणिहिंसामृषावादोऽदत्तादानं च मैथुनम् । संगः क्रोधोमदोमायालोभोभयोऽरतिस्ततः ॥२५॥ रतिस्तथाजुगुप्साथ मनोवाकाय चंचलाः । मिथ्यादर्शनमेवप्रमादः पैशून्यमेव हि ॥ २६ ॥ अज्ञानंसकलाक्षाणामनिग्रह इमेभुवि । एकविंशति दोषाःस्युर्नृणां दोषविधायिनः ॥२७॥ यैर्दयादिव्रताचारैर्विपरीताः कृता इमे । दोषागुणा हि तेषांस्युस्त्रिजगत्पूज्ययोगिनाम् ॥ २८ ॥ प्रतिक्रमणमेवैकं व्यतिक्रमण एव हि । अतीचारोप्यनाचारोदोषाश्चत्वारइत्यमी ॥ २९ ॥ व्रतादीनांप्रयत्नेनसहिता ये जितेन्द्रियाः । जायन्ते ते गुणास्तेषां व्रतादिधर्मवृद्धिदाः ॥ ३० ॥ गुणैश्चतुर्भिरेभिस्तेप्राग्गुणाएकविंशतिः । गुणाश्चतुरशीतिश्चभवेयुर्गुणिताः सताम् ॥ ३१ ॥ पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायदेहिनः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तु

तो इन शीलों का पालन करना अत्यंत कठिन है ॥२२॥ हिंसादिक के इकईस भेद हैं, अतिक्रमणादिक के चार भेद हैं, पृथ्वीकायादि के सौ भेद हैं, ब्रह्मचर्य की विराधना के दश भेद हैं, आलोचना के दश दोष हैं और इनके त्याग को शुद्ध करने वाले दश गुण हैं। इन सबको गुणा करने से चौरासी लाख हो जाते हैं ॥२३–२४॥ प्राणियों की हिंसा करना १ झूंठ बोलना २ चोरी करना ३ मैथुन सेवन करना ४ परिग्रह रखना ५ क्रोध ६ मद ७ माया ८ लोभ ९ भय १० अरति ११ रति १२ जुगुप्सा १३ मन की चंचलता १४ वचन की चंचलता १५ काय की चंचलता १६ मिथ्यादर्शन १७ प्रमाद १८ पैशून्य १९ अज्ञान २० और पंचेन्द्रियों का निग्रह न करना ये समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले प्राणिहिंसादिक इकईस दोष हैं ॥२५–२७॥ यदि दया आदि व्रतों को पालन कर इन दोषों के विपरीत आचरण किये जॉय तो तीनों जगत के द्वारा पूज्य मुनियों के लिए वे ही सब गुण हो जाते हैं ॥२८॥ प्रतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार अतिक्रम आदि दोष कहलाते हैं। जो जितेन्द्रिय पुरुष इन दोषों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करने वाले वे गुण हो जाते हैं ॥२९–३०॥ पहले जो हिंसा का त्याग आदि इकईस गुण बतलाये हैं उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने से गुणों के चौरासी भेद हो जाते हैं ॥३१॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय,

येंन्द्रियाः पंचेन्द्रियादश ॥ ३२ ॥ इमे भेदा किलाभ्यस्ताःपृथ्व्याद्याः परस्परम् । शतभेदाभवन्त्यत्रदोषास्तेषाविराधनात् ॥ ३३ ॥ अमीषांसर्वयत्नेन रक्षणं ये प्रकुर्वते । तेषां सद्व्रतिनांदोषास्तावन्तःस्युगु णा हि ते ॥ ३४ ॥ गुणाश्चतुरशीतिस्तेशतेनानेनवर्गिताः । गुणाभवन्ति दक्षैश्चतुराशीतिशतप्रमाः ॥३५॥ स्त्रीसंसर्गोमहास्वादरसाद्याहारभोजनम् । गंधमाल्यादिसस्पर्शःकोमलशयनासनम् ॥ ३६ ॥ शरीरमण्डनं गीतवाद्यादिश्रवणं ततः । अर्थहेमादिसम्पर्कः कुशीलदुर्जनाश्रयः ॥ ३७ ॥ राजसेवाक्षसौख्यायरात्रिसचरणं वृथा । एते विराधनादोषाब्रह्मचर्यस्य वै दश ॥३८॥ त्रिशुध्या ये त्यजन्ते तान्दशदोषांस्तपस्विनः । जायन्तेसद्गुणास्तेषां दशैव व्रतशुद्धिदाः ॥ ३६ ॥ एतैर्दशविकल्पैश्चतुरशीतिशतान्यपि । गुणितानिसहस्राश्चतुरशीतिप्रमाणकाः ॥ ४० ॥ आकंपितश्चदोषोनुमानितोऽदृष्टवादरौ ।

चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये दश जीवों के भेद होते हैं तथा इन दशों प्रकार के जीवों की विराधना के दश भेद हो जाते हैं इनको परस्पर गुणा कर देने से दश प्रकार के प्राणी और उनकी दश प्रकार की विराधना इन दोनों को परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते हैं ॥३२–३३॥ श्रेष्ठ व्रतों को धारण करने वाले जो मुनि प्रयत्न पूर्वक इन दशों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते रहते हैं और उनको दश प्रकार की विराधना से बचते रहते हैं उनके उत्तरगुणों के सौ गुण माने जाते हैं ॥३४॥ पहले उत्तरगुणों में चौरासी गुण बतला चुके हैं उनको इन सौ से गुणा कर देने से चौरासीसौ भेद हो जाते हैं ॥३५॥ स्त्रियों की संगति करना १ महा स्वादिष्ट सरस आहार का भोजन करना २ गंध माला आदि को सूंघना ३ कोमल शयन और आसन पर सोना बैठना ४ शरीर को सुशोभित बनाये रखना ५ गीत बाजे आदि का सुनना ६ सोना चाँदी आदि धन से संबंध रखना ७ कुशीली दुष्टों की संगति रखना ८ राजसेवा करना ९ और इन्द्रियों के सुख के लिये व्यर्थ ही रात्रि में घूमना १० ये दश ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले दोष हैं ॥३६–३८॥ जो तपस्वी मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दश गुण प्रगट हो जाते हैं ऊपर गुणों के चौरासीसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश को गुणा कर देने से गुणों के चौरासी हजार भेद हो जाते हैं ॥३९–४०॥ आकंपित, अनुमानित, अदृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन,

सूक्ष्मः प्रच्छन्नदोषोथशब्दाकुलितसंज्ञकः ॥ ४१ ॥ दोषो बहुजनोऽव्यक्तस्तत्सेवीति दशस्फुटम् । दोषा आलोचनस्यैव ज्ञेया एतेघकारकाः ॥ ४२ ॥ अमीषां दशदोषाणांयत्नेनत्यजनात्सताम् । उत्पद्यन्तेगुणाः शुद्धिकरोस्तावन्त एव हि ॥ ४३ ॥ एतैश्चतुरशीतिश्च सहस्रावर्गितागुणैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि ह्यष्टलक्षाधिकान्यपि ॥ ४४ ॥ आलोचनं त्रिशुध्याप्रतिक्रमणं च तद्द्वयम् । विवेकोथतनूत्सर्गस्तपश्छेदः स्वदीक्षया ॥ ४५ ॥ मूलं च परिहारोथश्रद्धानंदशसख्यकाः । प्रायश्चित्तस्य भेदा हि भवन्त्येतेविशुद्धिदाः ॥ ४६ ॥ विपरीता अमीदोषा जायन्तेत्रप्रमादिनाम् । सम्यगाचरिता नूनं गुणाः शुद्धिकराः सनाम् ॥ ४७ ॥ एतैर्दशगुणैश्चत्वारिंशत्सहस्रसद्गुणाः । अष्टलक्षाधिका युक्त्याप्राक्तनागुणिता वुधैः ॥ ४८ ॥ लक्षाश्चतुरशीतिश्चभवेयु.पिण्डितागुणाः । सर्वदोषारिहतारोमुनीनां मुक्तिहेतवः ॥ ४९ ॥ एतैर्महागुणैर्यान्तित्रिजगत्पूज्यतापदम् । गणेशजिनचक्र्यादिभूतिं च गुणशालिनः ॥ ५० ॥ यथात्रैव

अव्यक्त, तत्सेवी ये दश पाप उत्पन्न करने वाले आलोचना के दश दोष हैं ॥४१–४२॥ जो सज्जन पुरुष प्रयत्नपूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दश गुण प्रगट हो,जाते है ॥४३॥ ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके हैं उनके साथ इन दश का गुणा कर देने से आठ लाख चालीस हजार गुण हो जाते हैं ॥४४॥ मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना दोनो करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षा का छेद, मूल परिहार और श्रद्धान ये दश समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाले प्रायश्चित्त के भेद होते हैं ॥४५–४६॥ यदि इन प्रायश्चित्तों के विपरीत आचरण किया जाय तो ये ही दश दोप हो जाते हैं तथा ये दोष प्रमादियों को अवश्य लगते हैं। यदि इन्हीं प्रायश्चित्तों के भेदों को अच्छी तरह पालन किया जाय तो सज्जनों के व्रतों को शुद्ध करने वाले ये ही दश गुण हो जाते हैं ॥४७॥ ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणों के भेद बतलाये हैं उनके साथ इन दश से गुणा कर देने से चौरासी लाख गुण हो जाते है। ये सब गुण मुनियों के समस्त दोप रूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं और मुक्ति के कारण हैं ॥४८–४९॥ जो महा पुरुष इन गुणों को धारण कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं वे पुरुप इन गुणों के महात्म्य से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य पद को प्राप्त होते हैं और गणधर तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि की महा विभूति को प्राप्त होते हैं ॥५०॥ जो पुरुप इन उत्तम गुणों को धारण करते हैं उनका इस लोक में यश फैलता है,

ममदूषणम् ॥ ६६ ॥ न मारयतिमां मे न किंचिद्गृह्णातिसद्गुणम् । इत्यादिचिन्तनैस्तेन सोढव्यनिन्दनादिकम् ॥६७॥ यदि कश्चित्परोक्षेणमुनिमाक्रोशतिक्रुधा । तदेति मुनिना ध्येयंक्रोधाग्निजलदोपमम् ॥ ६८ ॥ आक्रोशति परोक्षेयं प्रत्यक्षे मां न पापधीः । लाभोस्मान्मम मत्वेतिक्षतव्यं तेन तत्कृतम् ॥ ६९ ॥ वाक्रोशतियर्ति कश्चित्प्रत्यक्षेण दुरात्मकः । तदेतिचिन्तनीयंसन्मुनिना कोपनाशवम् ॥ ७० ॥ ददाति केवलमेयगालीं हन्ति न मां शठ । गालीभिः किं व्रणान्यत्र जायन्तेमेऽशुभानि वा ॥ ७१ ॥ अतोत्रामुत्रहानिश्चास्यैवनिन्दनतो न मे । विचिन्त्येतिस्वंमौनेन सोढव्यं तेन दुर्वचः ॥ ७२ ॥ अथवायथधीःकश्चित्साधुंताडयतिक्रुधा । तदेत्थ साधुना चित्ते चिन्तनीयंक्षमा–

तो नहीं है अथवा मेरे श्रेष्ठ गुणों को तो ग्रहण नहीं करता अथवा नहीं छीनता इस प्रकार चितवन कर उन मुनियों को अपनी होने वाली निंदा को सहन करना चाहिये ॥६५–६७॥ यदि कोई दुष्ट पुरुष क्रोध में आकर परोक्ष में किसी मुनि को गाली देता हो वा कड़वे बुरे वचन कहता हो तो क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान उन मुनि को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह पापी परोक्ष में ही मुझे गाली देता है प्रत्यक्ष में आकर तो गाली नहीं देता मेरे लिये यही बड़ा लाभ है। यही समझ कर उन मुनियों को उस दुष्ट का अपराध क्षमा कर देना चाहिये ॥६८–६९॥ यदि कोई दुरात्मा प्रत्यक्ष में ही आकर किसी मुनि को गाली देवे तो उस मुनि को क्रोध को नाश करने वाला इस प्रकार का चितवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे गाली ही देता है मुझे मारता तो नही है गाली से मेरे घाव थोड़े ही हुए जाते है अथवा मेरी कुछ हानि थोड़ी ही होती है। यदि वास्तव में देखा जाय तो मेरी निंदा करने से इस लोक में भी इसकी हानि होती है और परलोक में भी इसकी हानि होती है। इसमे मेरी कुछ हानि नही होती इस प्रकार चिंतवन कर और मौन धारण कर उन मुनिराज को उस दुष्ट के दुर्वचन सहन कर लेने चाहिये ॥७०–७२॥ यदि कोई मूर्ख क्रोध में आकर किसी साधु को ताड़ना करे मारे तो उन मुनिराज को अपने चित्त में क्षमा की खानिरूप ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारता ही है मेरे प्राणों का हरण तो नहीं करता अतएव इसमें मेरा

करम् ॥ ७३ ॥ हन्त्येवायंकुधीर्मां भत्प्राणान् हरतिनांजसा । अस्मान्मे लाभएवात्रनचहानिरघक्षयात् ॥ ७४ ॥ बात्रायंवधवंधाद्यैर्मे पापं हरतिस्फुटम् । नच पुण्यमतोऽस्यैवहानिवृद्धिर्ममोर्जिता ॥ ७५ ॥ अथवामद्रिपुश्चायंप्राग्भवे ताडितो मया । ततो मां ताडयत्यत्रदोषोमेऽस्य न जातुचित् ॥ ७६ ॥ प्राग्भवे वा कृतं कर्म यत्तान्मयैवभुज्यते । निमित्तमात्रमत्रेमं मन्ये दुःखादिकारकम् ॥ ७७ ॥ मदीयमपिचेच्चित्तं व्रजेत्क्रोधाग्निसन्निधिम् । अज्ञस्यास्यविदोमेत्र कोविशेषस्तदापृथक् ॥ ७८ ॥ क्रोधहालाहलाक्रान्तंनिर्विषीकर्तु मक्षमः । अहं यदि कथं क्रोधविषं पिवामिमाम्य-तम् ॥ ७९ ॥ अभ्यस्तो यः शमः पूर्वं वहुकष्टैर्मयाधुना । वैफल्यं तस्य जायेत यदि कोपं करोम्यतः ॥ ८० ॥

लाभ ही है मेरी हानि कुछ नहीं है मेरे तो इसमें पाप नष्ट होते हैं असाताकर्मों की निर्जरा होती है ? इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये। अथवा इस प्रकार चिंतवन करना चाहिए कि यह मूर्ख मुझे मार कर वा बाँध कर मेरे पापों का हरण करता है मेरे पुण्य को तो हरण नहीं करता ? इसलिए ऐसा करने में इसकी तो हानि है और मेरे लिये लाभ है। अथवा उस मुनिराज को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह मेरे पहले भव का शत्रु है मैंने पहले भव में इसको मारा होगा इसलिए यह इस भव में मुझे मारता है यह तो मेरा ही दोष है इसमें इसका क्या दोष है ॥७३–७६॥ अथवा उन मुनिराज को इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मैंने पहले भवों में जो कर्म किए हैं वे मुझे ही भोगने पड़ेंगे। यह प्राणी तो उन कर्मों के उदय से होने वाले दुःखों में केवल निमित्त कारण है। मुख्य कारण तो मेरे ही कर्मों का उदय है। यदि इस समय मेरे हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो आवे तो फिर इस मूर्ख में और मुझ ज्ञानी में अलग अलग विशेषता क्या होगी फिर तो दोनों ही समान हो जाँयगे ॥७७–७८॥ यदि मैं क्रोधरूपी महा विष से अक्रांत हुए इस पुरुष को निर्विष करने में समर्थ नहीं हूं अर्थात् यदि मैं इसका क्रोधरूपी विष दूर नहीं कर सकता हूं तो फिर मैं इस समय क्रोधरूपी विष का पान क्यों करूं ॥७९॥ यदि मैं इस समय क्रोध करता हूँ तो मैंने पहले अनेक कष्ट सहन कर जो उपशम रूप (अत्यंत शांत) परिणामों का अभ्यास किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥८०॥ इस प्रकार चिंतवन

लभन्तेहोयशःसत्कारपूजनम् । नमस्कारस्तवादीनिगुणिनश्चपदेपदे ॥ ५१ ॥ तथाहमिन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्रादिपदानि च । प्राप्यामुत्रश्रयन्ते ते पूजास्तुतिशतानि च ॥ ५२ ॥ गुणाःसर्वत्रपूज्यन्तेदक्षैःसत्पुरुषाश्रिताः । निर्गुणा नच लोकेस्मिन् सत्कुलादियुताअपि ॥ ५३ ॥ इहामुत्र च जीवन्तिजीवन्तो वा मृताः स्फुटम् । गुणितोगुणिसयोगाज्जगद्विख्यात– कीर्तितः ॥ ५४ ॥ जीवन्तोपिमृताज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमाः । दृक्तपोज्ञानवृत्तादिगुणहीना. कुकीर्तितः ॥ ५५ ॥ मत्वेति धीधनानित्यं पालयन्तुगुणोत्तमान् । गुणिनां पदसंसिध्यै दृगाद्यान्यत्नतोभुवि ॥ ५६ ॥ अथधर्मं प्रवक्ष्यामि दशभेदं सुखाम्बुधिम् । साक्षान्मुक्तिपरींगन्तुं पाथेयंपथि योगिनाम् ॥ ५७ ॥ आद्याक्षमोत्तमा श्रेष्ठं मार्दव

लोग पद पद पर उनका आदर सत्कार करते हैं उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं ॥५१॥ तथा इसी प्रकार परलोक में भी अहमिंद्र, देवेन्द्र, नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम पद उनको प्राप्त होते हैं और वहाँ पर भी सैकड़ों बार उनकी पूजा होती है और सैकड़ों बार उनकी स्तुति होती है ॥५२॥ सत्पुरुषों के आश्रित रहने वाले गुण विद्वान पुरुषों के द्वारा सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो पुरुष निर्गुण होते हैं वे चाहे कितने ही अच्छे कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों तथापि उनकी पूजा कोई नहीं करता ॥५३॥ गुणी पुरुष उन गुणों के निमित्त से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल जाती है। इसलिये वे इस लोक में भी जीते हैं और परलोक में भी जीते हैं। वे मर जाने पर भी सदा जीवित ही रहते हैं ॥५४॥ जो पुरुष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप आदि गुणों से रहित हैं उनकी अपकीर्ति चारों ओर फैल जाती है इसलिये वे जीवित रहते हुए भी सुगंध रहित पुष्प के समान मरे हुए के समान समझे जाते हैं ॥५५॥ यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को गुणियों का पद प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुणों को प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक पालन करते रहना चाहिये ॥५६॥ अथानंतर—अब आगे दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप कहते हैं। ये दश प्रकार के धर्म मुनियों के लिये सुख के समुद्र हैं और मोक्षरूपी नगर में जाने के लिए मार्ग का साक्षात् पाथेय हैं मार्ग व्यय हैं ॥५७॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव. उत्तम शौच,

चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहान् संयमस्तपस्त्यागसत्तमः ॥ ५८ ॥ आकिंचन्यं परं ब्रह्मचर्यंसल्लक्षणान्यपि । इमानि धर्ममूलानि श्रमणानां दशैव हि ॥ ५६ ॥ मिथ्यादृक्शत्रुदुष्टाद्यैःकृतेसत्यत्युपद्रवे । अपकीर्तिभयादिभ्यः सह्यतेताडनादिकम् ॥६०॥ संयतैरिह लोकार्थं न परमार्थसिद्धये । यत्सा क्षमोच्यते सद्भिः सामान्यपुरुषाश्रिता ॥६१॥ आस्यदृष्टिविषर्ध्यादीनांसमर्थेंत्रसत्यपि । केवलंकर्मनाशायसह्यते यो महात्मभिः ॥ ६२ ॥ प्राणनाशकरोघोरोपसर्गो दुर्जनैः कृतः । उत्तमाख्यात्तसासोक्ताधर्मरत्नखनीपरा ॥ ६३ ॥ स्वदोषगुणाचिन्ताद्यैः प्रत्यक्षादिविचिन्तनैः । विचार चतुरैः कार्यासर्वत्रैका क्षमापरा ॥ ६४ ॥ यदिकश्चित्कुधीः कुर्यात्साधोर्निन्दां तदायमी । इदीतिचिन्तयेद्दे-तेदोषाःसन्ति न वा मयि ॥ ६५ ॥ विद्यते यदिदोषोमे नचास्यासत्यभाषणात् । दोषाभावेथवाऽज्ञानाद्ब्रवत्येष

उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य उत्तम ब्रह्मचर्य यह मुनियों के दश धर्म हैं और समस्त धर्मों का मूल हैं ॥५८—५६॥ यदि कोई मिथ्यादृष्टी, शत्रु वा दुष्ट लोग किसी मुनि पर घोर उपद्रव करें उनकी अपकीर्ति करें उन्हें भय दिखलावें वा ताड़नादिक करें तो जो मुनि केवल इस लोक के लिए उसको सहन करते हैं परलोक के लिये सहन नहीं करते उसको सज्जन पुरुष सामान्य पुरुषों के आश्रित रहने वाली क्षमा कहते हैं ॥६०—६१॥ परंतु जो मुनि उसी विष ऋद्धि दृष्टि विष ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होने पर भी केवल कर्मों को नाश करने के लिए दुष्टों के द्वारा किये हुये प्राणों को नाश करने वाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं उन महात्माओं के के धर्मरत्न की खानि ऐसी सर्वोत्तम उत्तम क्षमा होती है ॥६२—६३॥ अपने गुण दोषों को चिंतवन कर अथवा प्रत्यक्ष परोक्ष के गुण दोषो को चितवन कर विचारशील चतुर पुरुषों को सर्वत्र एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये ॥६४॥ यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधु की निंदा करता हो तो उस समय उस साधु को अपने मन में विचार करना चाहिये कि मुझ में ये दोष हैं वा नहीं। यदि मुझ में ये दोष हैं तो इसका कोई दोष नही है क्योंकि यह तो सत्य भाषण कर रहा है। यदि अपने में ये दोष न हों तो उनको विचार करना चाहिये कि यह अपने अज्ञान से मेरे दोषों को कहता है मुझे मारता

इत्यादिचिन्तनैश्चित्तस्थिरीकृत्याशुसाधुना । सोढव्यं निखिलंलोके ताडनं दुर्जनोद्भवम् ॥ ८१ ॥ यदि कश्चिद्दृषेः– प्राणान् गृह्णातिश्वभ्रनायकः । ऋषिणेदं तदा चिन्तनीयंकोपाग्नि नीरदम् ॥ ८२ ॥ आदत्तेयं ममप्राणान् नच धर्मं शिवप्रदम् । अस्माद्बालाद्धि मे लाभो न हानिर्धर्मवर्द्धनात् ॥ ८३ ॥ जरा जर्जरितकायहत्वादिव्यंगुणाकरम् । वपुदत्तो वधार्थे मे कथं स न सुहृद्वरः ॥ ८४ ॥ वधार्थैः पापकर्मभ्योथ्यय मा न मोचयेत् । तदामोक्षः कुतस्तेभ्यो– मेस्मादेषहितकरः ॥८५॥ कारागारनिभात्कायान्मोचयित्वाशुमां हि य· । स्वर्गादौस्थापयत्येव कथं स शत्रुरुच्यते ॥८६॥ इत्यादिसद्विचारौघैः प्राणनाशेपि साधुना । क्षमैका सर्वथा कार्या कोपः कार्यो न जातुचित् ॥ ८७ ॥ छेदनैः

कर उन मुनिराज को अपना चित्त स्थिर कर लेना चाहिये और इस लोक में दुष्टों के द्वारा उत्पन्न हुए मारण ताड़न आदि सब उपद्रव सहन कर लेने चाहिये ॥८१॥ यदि कोई नरक को जाने वाला दुष्ट किसी मुनि के प्राण ही हरण करता हो तो उन मुनिराज को उस समय क्रोधरूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान इस प्रकार का चिंतवन करना चाहिये यह मूर्ख मेरे प्राणों को लेता है, मोक्ष देने वाले मेरे धर्म को तो नहीं लेता इसलिये इस मूर्ख से मेरी कोई हानि नहीं है किंतु मेरे धर्म की वृद्धि होने से मेरा लाभ ही है ॥८२–८३॥ और देखो यह प्राणी मुझे मार कर जरा से जर्जरित हुए मेरे शरीर को नाश को नाश करता है और अनेक गुणों की खानि ऐसा दिव्य शरीर मुझे देता है इसलिए यह तो मेरा सबसे बढ़ कर मित्र है ॥८४॥ यदि यह प्राणी मुझे मार कर पाप कर्मों से मुझे नहीं छुड़ाता तो मैं उन पापों से कैसे छूटता ? इसलिए कहना चाहिये कि यह तो मेरा सबसे अच्छा हित करन वाला है ॥८५॥ अरे जो पुरुष कारागार के समान इस शरीर से मुझे शीघ्र ही छुड़ा कर मुझे स्वर्गादिक में पहुँचा देता है यह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है उसे तो मैं अपना मित्र समझता हूँ ॥८६॥ इस प्रकार अनेक तरह से अपने श्रेष्ठ विचार धारण कर, प्राण नाश होने पर भी मुनिराज को एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उन मुनिराज को क्रोध कभी नहीं करना चाहिये ॥८७॥ जिस प्रकार चंदन को छेदने से काटने से वा जलाने से चंदन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार

कर्तनैर्दाहैर्विक्रियां यातिचन्दनम् । न यथात्र तथा योगी सर्वोपद्रवराशिभिः ॥ ८८ ॥ कम्पते न यथा पृथ्वीखनन-ज्वालनादिभिः । उपसर्गैस्तथा विश्वैर्ध्यानस्थो धीरसंयमी ॥ ८९ ॥ कचिद्दुग्धामृतादीनि विषायन्ते विधेर्वशात् । नोपसर्गैश्च साधूनांचित्तानन्दामृतानि भोः ॥ ९० ॥ न कोपसदृशो वन्हिर्विश्वप्रज्वालनक्षमः । अमृतं न क्षमातुल्यं त्रिजगत्प्रीणन-क्षमम् ॥ ९१ ॥ द्वीपायनः स्वकोपेनदग्ध्वाद्वारावतीं मुनिः । सर्वां स्वस्य शरीरंचागात्तैजसेन दुर्गतिम् ॥ ९२ ॥ क्रोधेनाघार्जनं कृत्वा बहवो नारदादयः । रौद्रध्यानाद्गताःश्वभ्रं स्त्रीस्त्र्यादिरहिता अपि ॥ ९३ ॥ कोपाग्नि र्जृम्भते साधोर्यस्य कायकुटीरके । तस्यदृष्ट्यादिरत्नानि भस्मीभावव्रजन्त्यतः ॥ ९४ ॥ पूर्वं दहति कोपाग्निर्देहं

समस्त उपद्रवों के समूह आजाने पर भी योगी के हृदय में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता ॥८८॥ जिस प्रकार पृथ्वी को खोदने वा जलाने से पृथ्वी कभी कंपायमान नहीं होती उसी प्रकार समस्त उपसर्गों के आजाने पर भी ध्यान में स्थिर हुए धीरवीर संयमी अपने ध्यान से कभी चलायमान नहीं होते हैं ॥८९॥ कभी कभी कर्मों के निमित्त से वा अन्य किसी कारण से दूध वा अमृत आदि उत्तम पदार्थ भी विषरूप हो जाते हैं परंतु साधुओं के हृदय से उत्पन्न हुआ आनंदामृत सैकड़ों उपसर्गों के आजाने पर भी कभी विषरूप वा विकाररूप नहीं होता ॥९०॥ इस संसार में क्रोध के समान अन्य कोई अग्नि नहीं है क्योंकि यह क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ है। इसी प्रकार क्षमा के समान इस संसार में कोई अमृत नही है क्योंकि इस क्षमा से तीनों लोकों के प्राणी अत्यंत संतुष्ट हो जाते हैं ॥९१॥ देखो द्वीपायन मुनि ने क्रोध कर तैजस समुद्घात के द्वारा समस्त द्वारिका नगरी जला डाली, अपना शरीर जला डाला और अंत में उसे नरकरूप दुर्गति में जाना पड़ा ॥९२॥ इनके सिवाय स्त्री धन आदि से रहित ऐसे नारद आदि बहुत से प्राणी क्रोध के कारण अनेक पापों को उपार्जन कर अंतमें रौद्रध्यान से मर कर नरक पहुँचे हैं ॥९३॥ जिस साधु के शरीररूपी झोंपड़ी में क्रोधरूपी अग्नि लग जाती है उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जल कर भस्म हो जाते हैं ॥९४॥ यह क्रोधरूपी अग्नि पहले तो अपने शरीर को जलाती है फिर अन्य प्राणियों को जलाती है और फिर

ततोपरान्जनान् । इहपुंसां च धर्मादीन् दत्तेमुत्राधोगतिम् ॥ ६५ ॥ यदि कोपं कश्चित्कुर्यान्नग्नो वा चीवरावृतः । तदा नीचो जिनैः प्रोक्तः सोन्त्यजादपिपापधीः ॥ ६६ ॥ न क्रोधेन समो वैरी सर्वानर्थाकरोशुभः । इहामुत्रमनुष्याणां सप्तमश्वभ्रकारकः ॥ ६७ ॥ इत्यादिदोषकर्तारं क्रोधशत्रुं तपोधनाः । क्षमाखड्गेनमोक्षायदुर्जयंघ्नन्तुशक्तितः ॥ ६८ ॥ क्षमामुक्तिसखी प्रोक्ता जिनैर्मुक्तिवशीकरा । कल्पवल्लीक्षमा नृणां संकल्पितसुखप्रदा ॥ ६६ ॥ क्षमा रक्षापरापुंसां शत्रुभ्यः शममातृकाः । क्षमा धर्मसुरत्नानां खनीसाराशुभंकरा ॥ १०० ॥ पार्श्वेशसंजयन्ताख्यशिवभूत्यादियोगिनः । क्षमयात्राचिराज्जित्वाबहूपसर्गान्वैरिजान् ॥ १ ॥ केवलावगमंप्राप्यत्रिजगद्भव्यपूजनम् । लोकाग्रशिखरंजग्मुर्बहवः

उन साधुओं के धर्मादिक गुणों को नष्ट करती है तथा फिर अंतमें परलोक में नरकादिक अधोगति को देती है ॥६५॥ यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला एलक वा क्षुल्लक कहीं पर क्रोध करता है तो भगवान जिनेन्द्रदेव उस पापी को चांडाल से भी नीच समझते हैं ॥६६॥ इस संसार में क्रोध के समान मनुष्यों का अन्य कोई शत्रु नहीं है। क्योंकि यह क्रोध इस लोक में भी समस्त अनर्थों को करने वाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करने वाला है और परलोक में भी सातवें नरक तक पहुँचाने वाला है ॥६७॥ इस प्रकार अनेक दोप उत्पन्न करने वाले और अत्यंत दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति से क्षमारूप तलवार के द्वारा नाश कर डालते हैं ॥६८॥ भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस क्षमा को मोक्ष को वश करने वाली ऐसी मोक्ष की सखी बतलाई है। तथा यही क्षमा मनुष्यों के लिए इच्छानुसार सुख देने वाली कल्पलता के समान है ॥६६॥ मनुष्यों को शत्रुओं से रक्षा करने वाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है। यह क्षमा उपशम की माता है, सबमें सारभूत है, शुभ करने वाली है और धर्मरूप रत्नों की खानि है ॥१००॥ देखो, भगवान पार्श्वनाथ स्वामी, संजयंत मुनि और शिवभूत आदि कितने ही मुनि इस क्षमा को धारण कर ही शत्रुओं से उत्पन्न अनेक उपसर्गों को जीत कर शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं तथा तीनों लोकों के भव्य जीवों के द्वारा पूजे जाकर अनंत सुखों के समुद्र ऐसे लोक शिखर पर जा विराजमान हुए

शर्मसागरम ॥ २ ॥ क्षमासमं तपोनास्तिक्षमातुल्यं न सद्व्रतम् । क्षमाभं न हितंकिंचित्क्षमानिभं न जीवितम् । ३॥ इत्यादीन्परमान् ज्ञात्वा क्षमायाः गुणसंचयान् । कुर्वन्तुसुधियोनित्यं क्षमां कृत्स्नप्रयत्नतः ॥ ४ ॥ इत्येकं लक्षणं सारं धर्मस्याख्यायधीमताम् । क्षमाख्यं धर्ममूलं च द्वितीयं मार्दवं ब्रुवे । ५ ॥ सत्सूत्तमेषुमर्वेषुसज्जात्यादिषुचाष्टसु । मृदूभित्त्विचतवाक्कायैर्निहत्य तत्कृतंमदम् ॥ ६ ॥ क्रियतेमृदुभावोयोखिलाहंकारवर्जितः । तद्धर्मलक्षणं श्रेयं मार्दवं सत्कृपाकरम् ॥ ७ ॥ व्रतशीलसमस्तानि यान्तिसम्पूर्णतां सताम् । सुमार्दवेन मुक्तिस्त्रीदत्तं चलिंगनं दृढम् ॥ ८ ॥ त्रियोगमार्दवत्वेन धर्मिणां धर्मउल्वणः । उत्पद्यतेगुणैर्विश्वैः सार्द्धं विश्वसुखाकरः ॥ ९ ॥ काठिन्यपरिणामेन जायते पापमूर्जितम् । क्षयोखिलव्रतादीनांनिंद्यं च श्वभ्रसंवलम् ॥ १० ॥ इतिसन्मृदुकाठिन्यचित्तयो'फलमंजसा ।

है ॥१–२॥ इस संसार में क्षमा के समान अन्य कोई तप नहीं है क्षमा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ व्रत नहीं है, क्षमा के समान कोई हित नहीं है और क्षमा के समान कोई जीवन नहीं है ॥३॥ इस प्रकार इस क्षमा के सर्वोत्कृष्ट गुणों के समूह को समझ कर बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयत्न के साथ नित्य ही क्षमा धारण करनी चाहिये ॥४॥ इस प्रकार बुद्धिमानों के लिए धर्म का मूल और सारभूत ऐसे एक उत्तम रूप धर्म का लक्षण कहा। अब आगे दूसरे उत्तम मार्दव का लक्षण कहते हैं ॥५॥ ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर ये अभिमान के आठ कारण बतलाये हैं इन सबकी उत्तमता प्राप्त होने पर भी मुनियों को अपने कोमल मन वचन काय को धारण कर इन आठों मदों का त्याग कर देना चाहिये तथा सब तरह के अभिमानों का त्याग कर अपने कोमल परिणाम धारण करने चाहिये। श्रेष्ठ दया को पालन करने वाला यही मार्दव धर्म का लक्षण है ॥६–७॥ इस मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं तथा इस मार्दव धर्म से ही मुक्तिस्त्री दृढ आलिंगन देने को तत्पर रहती है ॥८॥ मन वचन काय तीनों को कोमल रखने से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ साथ समस्त सुखों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रगट होता है ॥९॥ तथा कठिन परिणामों को रखने से प्रबल पाप उत्पन्न होता है, समस्त व्रतों का नाश होता है और अत्यंत निंद्य ऐसा नरक गति का साधन प्रगट हो जाता है ॥१०॥ इस प्रकार कोमल परिणामों का फल शुभ और कठिन परिणामों का

शुभाशुभंविदित्वाहोहत्वाकठिनमानसम् ॥ ११ ॥ विश्वसत्वकृपाक्रान्तं मार्दवं सुष्ठुयत्नतः । कुर्वन्तुमुनयोधर्मशिव-श्रीसुखवृद्धये ॥ १२ ॥ हृदियत्संस्थितंकार्यंब्रूयते वचसा च तत् । वपुषाचर्यतेतथ्यमृजुबुद्धिभिरंजसा ॥ १३ ॥ एतदा-र्जवमत्यर्थमुत्ताम धर्मलक्षणम् । प्रणीतं धर्मनाथेन सतां धर्मकुलालयम् ॥ १४ ॥ पुंसां चार्जवभावेन जायन्ते निर्मला गुणाः । त्रिजगत्सुखसाराणि तीर्थेशादिविभूतयः ॥ १५ ॥ धर्मिणामृजुचित्तेनोत्तमो धर्मोभवान्तकः । साक्षान्मुक्तिवधूदाताभवेत्सर्वार्थसाधकः ॥ १६ ॥ आर्या आर्जवयोगेनह्यव्रताअपिभोगिनः । यान्तिदेवालयं नूनं ? मतोस्याप्यमातृकः ॥ १७ ॥ कौटिल्यपरिणामेन कुटिलायान्तिदुर्गतिम् । अहोपापार्जनंकृत्वामार्जारमकरादिकाः ॥१८॥ कूटद्रव्यमिवव्यर्थंनिष्फलंस्वप्नराज्यवत् । विषमिश्रितदुग्धं वा तपोध्यानादिदुर्धियाम् ॥ १९ ॥ मायाविनां तपोध-

---

फल अशुभ समझ कर कठिन परिणामों का त्याग कर देना चाहिये और उन मुनियों को धर्मतथा मोक्ष की लक्ष्मी और सुख बढ़ाने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त जीवों की कृपा से परिपूर्ण ऐसा मार्दव मार्दव धर्म धारण करना चाहिये ॥१२-१३॥ अपनी सरल बुद्धि को धारण कर अपने मन में जो कार्य जिस रूप से चिंतवन किया है उसको उसी रूप से कहना और शरीर के द्वारा उसी रूप से करना उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है। धर्म की परंपरा का घर ऐसा यह आर्जव धर्म का लक्षण सज्जनों के लिए भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥१३-१४॥ इस आर्जव धर्म के निमित्त से मनुष्यों को अत्यंत निर्मल गुण प्राप्तहोते हैं तीनों जगत के सारभूत सुख प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरादिक की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥१५॥ सरल हृदय को धारण करने से धर्मात्माओं को संसार को नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देने वाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है ॥१६॥ देखो सदा भोगोपभोग सेवन करने वाले और अव्रती ऐसे भोग भूमिया भी मन वचन काय को सरल रखने के कारण स्वर्ग में ही जाकर जन्म लेते हैं ॥१७॥ तथा बिल्ली मगर आदि मायाचारी कुटिल जीव अपने कुटिल परिणामों के ही कारण अनेक पापों को उत्पन्न कर दुर्गति में जाकर जन्म लेते हैं ॥१८॥ जो सरल बुद्धि को धारण नहीं करते उनके तप और ध्यानादिक सब नित्य द्रव्य के समान व्यर्थ हैं, स्वप्न में मिले हुए राज्य के समान निष्फल हैं और विष मिले हुए दूध के समान हानि करने वाले हैं ॥१९॥

ऋजुभावेन कुर्वीध्वमार्जवं मुक्तयेबुधाः ॥ २१ ॥ स्वान्येषां हितमुद्दिश्य धर्मतत्त्वार्थगर्भितम् । श्रूयतेयद्वचस्तथ्यं सार सिद्धान्तवेदिभिः ॥ २२ ॥ भाषासमितिमालंव्य तत्सत्य धर्मलक्षणम् । ज्ञानबीजं जगन्मान्यं कर्मघ्नं मोक्षकारणम् ॥ २३ ॥ सत्येन विमला कीर्तिश्च भ्रमेल्लोकत्रयेमताम् । महाधनञ्च जायेत ज्ञानाद्यैः सद्गुणैः सह ॥ २४ ॥ त्रिजगच्छ्रीः परं सौख्यं जगत्पूज्या च भारती । सर्वज्ञत्वमवसत्याल्लभ्यतेसत्यवादिभिः ॥ २५ ॥ जडत्वंमुखरोगत्व मपकीर्तिः दुःखसंजया । दुर्गतिं च महत्पापलमन्तेनृतभाषिणः ॥२६॥ इत्येतयोःफलं ज्ञात्वा त्यक्त्वामृषावचोखिलम् ।

मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम या शुभ क्रियाएं कुछ नहीं बन सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न हुए पाप के कारण मायाचारियों को तिर्यंच गति की ही प्राप्त होती है ॥२०॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मायाचारी से मिले हुये मन वचन काय को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और मन वचन काय की सरलता धारण कर आर्जव धर्म का पालन करना चाहिये ॥२१॥ सिद्धांत को जानने वाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते है तथा भाषा समिति का आलंबन कर वचन कहते हैं वह सत्यधर्म का लक्षण है। यह सत्यधम ज्ञान का बीज है, तीनों लोकों में मान्य है कर्मों को नाश करने वाला है और मोक्ष का कारण है ॥२२—२३॥ इस सत्य धर्म के कारण सज्जनों की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है और सम्यग्ज्ञानादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ साथ उनको महाधर्म की प्राप्ति होती है ॥२४॥ सत्यवादियों को इस सत्यधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है परम सुख की प्राप्ति होती है तीनों लोकों में पूज्य ऐसी सरस्वती की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ की विभूति प्राप्त होती है ॥२५॥ मिथ्या भाषण करने वालों को अज्ञानता की प्राप्ति होती है, मुख के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, संसार में अपकीर्ति फैल जाती है, अनेक दुःखों की प्राप्ति होती है और महा पाप उत्पन्न होता है ॥२६॥ इस प्रकार सत्य

वदन्तुनिपुणाः सत्यं मधुरंसद्वचोहितम् ॥ २७ ॥ इन्द्रियार्थेष्वनासक्तं निस्पृहं विश्ववस्तुषु । सर्वांगिकरुणाकान्तंमनः कृत्वाघवर्जितम् ॥ २८ ॥ लोभशत्रुं निहत्योच्चैः सन्तोषो यो विधीयते । विश्वार्थस्वसुखादौतच्छौचं सद्धर्मलक्षणम् ॥२९॥ जीवितारोग्य पंचेन्द्रियोपभोगैश्चतुर्विधः । स्वान्ययोरत्रलोभोदक्षैस्त्याज्य समुक्तये ॥ ३० ॥ निर्लोभानां जिताक्षाणां शौचधर्मोहिकेवलम् । जायतेपरमोमुक्त्यै न कामाशक्तचेतसाम् ॥ ३१ ॥ शौचेन महती लक्ष्मीभुवनत्रयगोचरा मुक्तिस्त्रीस्वयमायातिनिर्लोभांश्चयशःपरम् ॥ ३२ ॥ लोभिनां लोभपापेनदारिद्र दुःखमुल्वणम् । दुर्गतौभ्रमण पापंदुर्ध्यानं चाशुभो भवेत् ॥ ३३ ॥ मत्वेत्याहत्यलोभारिंसन्तोषखड्गघातत । अंन्तः शौचंविधातव्यंबुधै–

असत्य दोनों का फल समझ कर बुद्धिमानों को सब तरह के मिथ्या भाषण त्याग कर देना चाहिये और हित करने वाले मधुर सत्य वचन कहने चाहिये ॥२७॥ जो मुनि अपने मन से इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग कर देते हैं, अपने ही मन में समस्त पदार्थों की निस्पृहता धारण करते हैं और समस्त जीवों की दया पालन करते हैं। इस प्रकार अपने मन को पाप रहित बना कर लोभ रूपी शत्रु को सर्वथा नाश कर डालते हैं और समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादिक में पूर्ण संतोष धारण करते हैं उसको शौच नाम का धर्म कहते हैं ॥२८–२९॥ इस संसार मे लोभ चार प्रकार का है, जीवित रहने का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ पंचेन्द्रियों का लोभ और भोगोपभोगों की सामिग्री का लोभ। चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने तथा दूसरों के दोनों के लिए चारों प्रकार के लोभ का त्याग कर देना चाहिये ॥३०॥ जो इन्द्रियों को जीतने वाले निर्लोभी हैं उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करने वाले परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है उनके शौचधर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती ॥३१॥ निर्लोभी पुरुषों को इस शौचधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाली महा लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा मोक्ष लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त हो जाती है और उनका सर्वोत्कृष्ट यश तीनों लोकों मे फैल जाता है ॥३२॥ लोभी पुरुषों को लोभ रूप पाप से दरिद्रता उत्पन्न होती है घोर दुःख प्राप्त होते हैं अनेक दुर्गतियों मे परिभ्रमण होता है महा पाप उत्पन्न होता है निंद्य अशुभध्यान होता है और अशुभ कर्मों का बंध होता है ॥३३॥ यही समझ

मुक्त्यै जलाद्दते ॥ ३४ ॥ मनः पंचेन्द्रियाणांयद्रोधनंपरिरक्षणम् । षड्जीवानांत्रिशुध्या चाचयंतेत्रमुमुक्षुभिः ॥ ३५ ॥ संयमः स जिनैः प्रोक्तः साक्षान्मुक्तिनिवन्धनः । तपोदृग्ज्ञानधर्मादिगुणानांशुद्धकारकः ॥ ३६ ॥ उपेक्षापहृताभ्यां स संयमोद्विविधोमतः । आद्यउत्कृष्टकायानांद्वितीयोऽपरयोगिनाम् ॥३७॥ उत्कृष्टांगवलाद्यस्यविदस्त्रिगुप्तिधारिणः । रागद्वेषाद्यभावो यः उपेक्षासंयमो ऽत्र सः ॥३८॥ दक्षैः समितयः पंच यत्रसंवरमातृकाः । यत्नेन प्रतिपाल्यन्तेऽपहृताख्यः स सयमः ॥ ३६ ॥ सामायिकाभिधं छेदोपस्थापनसमाह्वयम् । परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्परायनामकम् ॥ ४० ॥ यथाख्याताख्य चारित्रं पंचभेदा इमेपराः । संयमस्य बुधैर्ज्ञेयाश्चारित्राख्यः शिवंकराः ॥ ४१ ॥ सर्वसावद्ययोगानांसर्वथायच्चवर्जितम् । निंदास्तुतिसुहृच्छत्रुदृषद्रत्नादिवस्तुषु ॥ ४२ ॥ सुखदुःखादिसंयोगे समता

कर बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए संतोष रूपी तलवार की चोट से लोभ रूपी शत्रु को मार डालना चाहिये और बिना जल के अंतरंग शौच को धारण करना चाहिये ॥३४॥ मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि लोग मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पाँचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव संयम कहते हैं। यह संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा तप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और धर्मादिक समस्त गुणों को शुद्ध करने वाला है ॥३५–३६॥ अथवा उपेक्षा संयम और अपहृत सयम के भेद से इस संयम के दो भेद हैं। उत्कृष्ट शरीर को धारण करने वालों के उपेक्षा संयम होता है और अन्य मुनियों के अपहृत संयम होता है ॥३७॥ महा ज्ञानी और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाले महा मुनियों के उत्कृष्ट शरीर में वल होने के कारण जो राग द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं ॥३८॥ जो चतुर मुनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करने वाली पाँचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं ॥३९॥ सामायिक छेदोपस्थाना परिहार विशुद्ध, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के उत्कृष्ट भेद हैं। ये सब मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हैं और संयम के ही उत्कृष्ट भेद कहलाते हैं। ऐसा बुद्धिमानों को समझ लेना चाहिये ॥४०–४१॥ जहाँ पर बुद्धिमान पुरुष मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक समस्त सावद्यरूप (पापरूप) योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं, तथा निंदा स्तुति में, शत्रुमित्र में, रत्न

करणं बुधैः । विधीयते त्रिशुध्या तद् वृत्तं सामायिकाह्वयम् ॥ ४३ ॥ देशकालनिरोधार्थैः प्रमादेन च कारणैः । अंगीकृतव्रतादीनां जातातीचारदोषतः ॥ ४४ ॥ प्रायश्चित्तस्वनिन्दाद्यैः यद्विशोधनमंजसा । क्रियते व्रतिभिस्तद्धि छेदोपस्थापनमतम् ॥ ४५ ॥ त्रिंशद्वर्षप्रमायुस्त्रिवर्षाणामुपरिस्फुटम् । अधस्तलेनवाष्टानां पादसेवीजितेन्द्रियः ॥४६॥ तीर्थंकरस्य सद्धैर्यवीर्यकायवलांकितः । योनेकदेशभाषादिचतुरो नवपूर्ववित ॥ ४७ ॥ निष्प्रमादो महादुःखचर्य्या सत्तपसायुतः । परिहारविशुद्धिं सः कर्तुमर्हति नापरः ॥ ४८ ॥ वर्जयित्वात्रिसंध्याचानेकदेशविहारिणा । एकाकिना प्यनेनैवयोगिना वनवासिना ॥ ४९ ॥ गम्यते यत्नयत्नेन गव्यूतिद्वयमन्वहम् । परिहारविशुध्याख्यं तच्चारित्रं विशु-

---

और पाषाण में और सुख दुःखादि के संयोग में समता धारण करते हैं उस चारित्र को सामायिक नाम का चारित्र कहते हैं ॥४२—४३॥ किसी देश काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किये हुए व्रतों में कोई अतिचार लग जाय तो अपनी निंदा गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार संशोधन करना दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध करना छेदोपस्थापन नाम का संयम कहलाता है ॥४४—४५॥ जिस मुनि की आयु कम से कम तीस वर्ष की है जो तीन वर्ष से ऊपर आठ नौ वर्ष तक भगवान तीर्थंकर परमदेव के समीप चरण कमलों के समीप रह चुका हो, जो जितेन्द्रिय हो, श्रेष्ठ धैर्य, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ वल और श्रेष्ठ शरीर से सुशोभित हो तो अनेक देश की भाषाओं के जानने में चतुर हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी हो, प्रमाद रहित हो, जो अत्यंत कठिन और दुःखमय चर्या करता हो और श्रेष्ठ तपश्चरण करता हो वही मुनि परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र को धारण कर सकता है। जिसमें ये गुण नहीं है वह परिहार विशुद्धि चारित्र को कभी धारण नहीं कर सकता ॥४६—४८॥ परिहार विशुद्धि संयम को धारण करने वाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़ कर बाकी के समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है वह आत्मा को अत्यंत विशुद्ध करने वाला परिहार

द्धिरम् ॥ ५० ॥ सूक्ष्मीकृतस्वलोभेन शुक्लध्यानविधायिना । क्षपकोपशमश्रेण्यारूढेनमोहघातिना ॥ ५१ ॥ सूक्ष्मात्मानुभावोयोऽत्रक्रियतेशुद्धचेतसा । तत्सूक्ष्मसाम्परायाख्यचारित्रलोभघातकम् ॥ ५२ ॥ यथातथ्येन सर्वेषां व्रतादीनां च पालनम् । आगमोक्त्यान्तरेस्वानुभवनं परमात्मनः ॥ ५३ ॥ निर्मोहानां भवेयत्र शुक्लध्यानसुधाशिनाम् । तच्चारित्रं यथाख्यानाभिघघातियिघ्नानकम् ॥ ५४ ॥ चारित्रैः पंचभिश्चैतैश्चतुर्भिर्वाशिवांगना । ध्यानिभिर्लभ्यते नूनं समस्तगुणभूषिता ॥ ५५ ॥ संयमेनमतांस्याच्च संवरोखिलकर्मणाम् । निर्जरासद्गुणग्रामः सुखं वाचामगोचरम् । ५६ ॥ संयमेनसमं स्वल्पं कृतं तपोमहाफलम् । फलत्यत्र न संदेहो धीमतां स्वशिवादिषु ॥ ५७ ॥ संयमेन बिना पुंसां

विशुद्ध नाम का चारित्र कहलाता है ॥४९–५०॥ जिन महा मुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यंत सूक्ष्म कर लिया है जो शुक्लध्यान धारण कर रहे हैं जो क्षपकश्रेणी वा उपशम श्रेणी में विराजमान हैं जो मोहनीय कर्म को घात करने वाले हैं ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ को घात करने वाला सूक्ष्म सांपराय नाम का चारित्र कहते हैं ॥५१–५२॥ जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यानरूपी अमृत का पान कर रहे हैं ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों को यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उसको घातिया कर्मों को नाश करने वाला यथाख्यान चारित्र कहते हैं ॥५३–५४॥ इन पाँचों प्रकार के चारित्र से अथवा चार प्रकार के चारित्र से ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है ॥५५॥ इस संयम को धारण करने से सज्जन पुरुषों के समस्त कर्मों का संवर होता है समस्त कर्मों की निर्जरा होती है समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है ॥५६॥ इस संयम के साथ साथ थोड़ा सा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादिक की प्राप्ति में महा फल देता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥५७॥ इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव

तपोध्यानव्रतादिकम् । वृथा भवेन्न च सार्थंसर्वपापभवाश्रयात् ॥ ५८ ॥ विदित्वेतिविधातव्यः संयमः संवरार्थिभिः कृत्स्नयत्नेनमुक्त्यर्थंरत्नत्रयविशुद्धये ॥ ५९ ॥ पंचाक्षविषयाणांयत्समस्तेच्छानिरोधनम् । तत्तपः सूरिभिः प्रोक्तं परं सद्धर्मकारणम् ॥ ६० ॥ प्रागुक्तं यद्द्विषड्भेदंविस्तरेण तपोखिलम् । धर्मार्थिभिर्विधेयं तत्सद्धर्माय भवापहम् ॥ ६१ ॥ अन्तर्वाह्योपधीनांयन्मूर्च्छात्यजनमंजसा । मनोवाक्काययोगैः स त्यागउत्तमधर्मदः ॥ ६२ ॥ तथाज्ञानहरं ज्ञानदानसिद्धान्तगोचरम् । शब्दार्थोभयसम्पूर्णं यत्सत्पात्राय दीयते ॥ ६३ ॥ अभयाख्यं महद्दानं भयभीताखिलात्मनाम् । त्यागः स उच्यते सद्भिः केवलज्ञाननेत्रदः ॥ ६४ ॥ ज्ञानदानेन लभ्यन्ते श्रुतज्ञानादयोखिलाः । वुधैश्चनिर्भयस्थानं दयादानेननिश्चितम् ॥ ६५ ॥ संगत्यागेन जायेत चित्तशुद्धिः परासताम् । तयाध्यानं प्रशस्तं च ध्यानात्कर्मक्षय—

होता ही रहता है ॥५८॥ यही समझ कर संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिये ॥५९॥ पाँचों इंद्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना आचार्यों के द्वारा तप कहलाता है यह तप उत्कृष्ट धर्म है और श्रेष्ठ धर्म का कारण है ॥६०॥ पहले इस तप के बारह भेद विस्तार के साथ कह चुके हैं । वह सब तप संसार को नाश करने वाला है इसलिए धर्मात्मा पुरुषों को श्रेष्ठ धर्म धारण करना चाहिये ॥६१॥ मन वचन काय के तीनों योगों से अंतरंग और वाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है । यह त्याग सबसे उत्तम धर्म को देने वाला है ॥६२॥ अज्ञान को हरण करने वाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है । यह ज्ञानदान सिद्धांत शास्त्र के गोचर है अर्थात् सिद्धांत शास्त्रों का पढ़ाना ज्ञान दान है । सिद्धांत शास्त्र के शब्द अर्थ वा शब्द अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिये दिए जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं ॥६३॥ तीसरा त्याग अभयदान है भय से भयभीत हुए समस्त जीवों को अभय दान देना अभय दान है यह सब दानों में उत्तम दान है और केवलज्ञान रूपी नेत्रों को देने वाला है ऐसा श्रेष्ठपुरुषों ने कहा है ॥६४॥ विद्वान पुरुषों को ज्ञानदान देने से पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दयादान देने से मोक्षरूप निर्भय स्थान की प्राप्ति होना अवश्य ही निश्चित है ॥६५॥ परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यंत शुद्ध

स्ततः ॥ ६६ ॥ केवलज्ञानलक्ष्मीश्चततोमुक्तिवधूस्तथा । अनन्तसुखमात्मोत्थं सिद्धश्रियागुणैः समम् ॥ ६७ ॥ संगादिमूर्च्छया पुंसां दुर्ध्यानंजायतेतराम् । दुर्ध्यानाच्चमहापापं पापाद्दुःखपरंपरा ॥ ६८ ॥ संगत्यागसमो धर्मो न जगच्छ्रीसुखाकरः । संगमूर्च्छानिभं पापं न महच्छ्वभ्रदुःखदम् ॥ ६९ ॥ विज्ञायेतिनिहत्याशुसंगाकांक्षांसुखार्थिनः । धर्मायाखिलसंगानां त्यागं कुर्वन्तु धर्मदम् ॥ ७० ॥ देहोपधिखशर्मादौममत्वं त्यज्यतेत्रयत् । निस्पृहैर्योगशुध्या तदाकिंचन्यंसुखाकरम् ॥७१॥ यथा यथा शरीरादौनिर्ममत्वंप्रवर्द्धते । तथा तथा निरोधश्चपापानांनिर्जरासताम् ॥७२॥ अक्षार्थोपधिशर्मादित्यक्तु यच्छक्यते बुधैः । तत्त्याज्यंसकलं वस्तुमनोवाकायशुद्धिभिः ॥७३ ॥ त्यक्तुं यच्छक्यते

हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनंत गुण और अनंत लक्ष्मी के साथ साथ आत्मा से उत्पन्न होने वाला अनंत सुख प्राप्त होता है ॥६६–६७॥ परिग्रहादिक में ममत्व रखने से मनुष्यों के अशुभध्यान होता है, अशुभध्यान से महा पाप होता है और पाप से अनेक दुःखों की परंपरा प्राप्त होती है ॥६८॥ इस संसार में परिग्रह के त्याग के समान अन्य कोई धर्म नहीं है क्योंकि यह धर्म तीनों लोकों की लक्ष्मी और सुख की खानि है। इसी प्रकार परिग्रह में मूर्च्छा रखने के समान अन्य कोई पाप नहीं है क्योंकि परिग्रह में मूर्च्छा रखना महा नरक के दुःख देने वाली है ॥६९॥ यही समझ कर सुख चाहने वाले पुरुषों को धर्म की प्राप्ति के लिए समस्त परिग्रहों की आकांक्षा का त्याग कर देना चाहिये और उसके साथ समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये। यह परिग्रहों का त्याग ही धर्म की प्राप्ति कराने वाला है ॥७०॥ जो निस्पृह मुनि मन वचन की शुद्धता पूर्वक शरीर परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग कर देते हैं उसको सुख देने वाला आकिंचन्य धर्म कहते हैं ॥७१॥ जैसे जैसे शरीरादिक में निर्ममत्व बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे सज्जनों के पापों का निरोध होता रहता है और कर्मों की निर्जरा होती रहती है ॥७२॥ बुद्धिमान पुरुष इन्द्रियों के विषयों को और परिग्रहों के सुख को जितना त्याग कर सकते हैं उनको उतना त्याग मन वचन काय की

नाहो कायादिपुस्तकादिकम् । त्याज्यं तेषांममत्वं च सर्वथादोषकारणम् ॥ ७४ ॥ एव ये कुर्वते नित्यंह्याकिंचन्यं परं भवेत् । तेषां वर्नाणंत्रंदोषसंचयंममकारिणम् ॥ ७५ ॥ मत्वेति ममता त्यक्त्वासर्वा कायादिवस्तुषु । निर्ममत्वाशयैः कार्यमाकिंचन्यशिवाप्तये ॥ ७६ ॥ दृश्यन्ते सकला नार्यो यत्रमात्रादिसन्निभाः । त्यक्तरागैर्मनोनेत्रैब्रह्मचर्यं तदुत्तरम् ॥ ७७ ॥ ब्रह्मचर्येणमुक्तिस्त्री वृणोति ब्रह्मचारिणम् । सर्वैःगुणैः समं शीघ्रंस्वर्गश्रियोत्र का कथा ॥७८॥ उत्पद्यतेपरोधर्मो हृच्छुध्या ब्रह्मचारिणाम् । कामिनां चित्तशुद्धिः क तथाविनाशुभंकुतः ॥ ७९ ॥ ज्ञात्वेतिधीधना नित्यंयोगशुध्याविमुक्तये । पालयन्तुविरक्त्याहो ब्रह्मचर्यं सुधर्मदम् ॥ ८० ॥ एषोदशविधोधर्मोमुक्तिस्त्रीहृदयप्रियः ।

शुद्धता पूर्वक अवश्य कर देना चाहिये । तथा जो शरीर वा पुस्तक आदि ऐसे परिग्रह हैं जिनका त्याग किया ही नहीं जा सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ऐसा ममत्व अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥७३–७४॥ इस प्रकार जो परिग्रह का त्याग वा ममत्व का त्याग कर देते हैं उनके धर्म का सागर ऐसा सर्वोत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म होता है तथा जो परिग्रहादिकों में ममत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं ॥७५॥ यही समझ कर निर्ममत्व धारण करने वाले पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए शरीरादिक समस्त पदार्थों में पूर्ण ममत्व का त्याग कर उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारण करना चाहिये ॥७६॥ राग द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है ॥७७॥ ब्रह्मचारियों को इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्तिस्त्री समस्त गुणों के साथ साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्ग की लक्ष्मी की तो बात ही क्या है ॥७८॥ ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध रहता है इसलिये उनको परम धर्म की प्राप्ति होती रहती है तथा कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता इसलिये उनका कल्याण भी नहीं हो सकता ॥७९॥ यही समझ कर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक तथा परिणामों में विरक्तता धारण कर श्रेष्ठ धर्म देने वाला यह ब्रह्मचर्य सदा पालन करते रहना चाहिये ॥८०॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का

क्षमादिलक्षणावयवं कर्तव्यो मुमुक्षुभिः ॥ ८१ ॥ न धर्मसदृशो बंधुरिहामुत्रहितंकरः । नान्यधर्मसमः कल्पद्रुमः कल्पितभोगदः ॥८२॥ चिन्तामणिर्न धर्माभश्चिन्तितार्थशतप्रदः । धर्मतुल्योनिधिनास्ति ... वा सुहृद्वरः ॥८३॥ नधर्मसन्निभं पुंसां पाथेयं परजन्मनि । सहगामीकश्चिन्नान्योधर्माद्धारामदः शुभः ॥ ८४ ॥ धर्माद्विना न कोप्यन्यो मोक्षं नेतुं नरान्क्षमः । उद्धर्तुं नरकाद्वाहो दातुं चेन्द्रादिसत्पदम् ॥८५॥ इत्याद्यस्य फलं ज्ञात्वाप्रवरंसुष्ठुशक्तितः । भजध्वंधर्ममेकं च त्यक्त्वापापसुखार्थिनः ॥ ८६ ॥ इतिमुदितसुधर्मविरचनार्थेमुदाढ्यं दशविधमपदोषं ये चरन्त्या-

---

धर्म है और मुक्तिस्त्री के हृदय को अत्यंत प्रिय है अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उत्तम क्षमा आदि समस्त धर्मों को धारण कर सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ॥८१॥ इस संसार में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में हित करने वाला धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा इसी धर्म के समान इच्छानुसार भोगों को देने वाला अन्य कोई कल्पवृक्ष नहीं है ॥८२॥ इस धर्म के समान सैकड़ों चिंतित पदार्थों को देने वाला कोई चिंतामणि रत्न नहीं है, अथवा इस धर्म के समान कोई अखंड निधि नहीं है और इस धर्म के समान अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है ॥८३॥ मनुष्यों को परजन्म में जाने के लिए इस धर्म के समान कोई पाथेय (मार्ग का व्यय) नहीं है तथा कल्याण करने वाला शुभ रूप ऐसा वा साथी भी इस धर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है ॥८४॥ इस धर्म के सिवाय अन्य कोई भी मनुष्यों को मोक्ष ले जाने में समर्थ नहीं है अथवा नरक से उद्धार करने के लिये भी तथा इन्द्रादिक श्रेष्ठ पद देने के लिए भी धर्म के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है ॥८५॥ अतएव सुख की इच्छा करने वालों को इस धर्म का ऐसा श्रेष्ठ फल समझ कर अपनी शक्ति के अनुसार पापों का त्याग कर इस एक धर्म का ही सेवन करना चाहिये ॥८६॥ इस प्रकार यह दश प्रकार का धर्म तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है और समस्त दोषों से रहित है। ऐसे इस धर्म को जो अपनी शक्ति के अ ... वे तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवनीय ऐसे सारभूत सुखों का अनुभव कर

त्मशक्त्या । त्रिभुवनपतिसेव्यंशर्मसारं च भुक्त्वा जिनपतिविभव ते यान्तिमोक्षंगुणाब्धिम् ॥ ८७ ॥ धर्मश्रीधन-काङ्क्षिणां च धनदो धर्मश्रयन्तेविदो धर्मेणैवमवाप्यतेवरसुखं धर्मायभक्त्यानम । धर्मान्नास्त्यपरोगुणाष्टजनको धर्मस्यखानिः क्रिया: धर्मेमेदधतोमनः प्रतिदिनंहेधर्म पापं जहि ॥ १८८ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
शीलगुणदशलाक्षणिकधर्मवर्णनोनामैकादशमोऽधिकारः ।

तीर्थंकर की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें अनेक गुणों के समुद्र ऐसे मोक्षस्थान में जा विराज-मान होते हैं ॥८७॥ यह धर्म लक्ष्मी और धन की इच्छा करने वालों को धन देता है, विद्वान लोग ही इस धर्म को धारण करते हैं, इस धर्म से ही श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होती है, इसीलिए मैं इस धर्म के लिये भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं । इस धर्म के सिवाय सम्यक्त्व आदि आठों गुणों को देने वाला अन्य कोई नहीं है, क्रियाकर्म वा धर्मानुष्ठान ही-इस धर्म की खानि है अतएव मैं अपने मन को प्रतिदिन धर्म में ही लगाता हूं, हे धर्म तू मेरे पापों को नाश कर ॥१८८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रंथ में
शीलगुण दशलक्षण धर्म को निरूपण करनेवाला यह
ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।



द्वादशमोऽधिकारः ।



वीतरागान्मुनीन्द्रौघाननुप्रेक्षार्थचिन्तकान् । सद्ध्यानध्वस्तकर्मारीन् वन्देविश्वहितोद्यतान् ॥ १ ॥ प्रत्यहं या अनुप्रेक्षा द्वादशैव मुनीश्वरैः । वैराग्यायसदाध्येयास्तावक्ष्येरागहानये ॥ २ ॥ अनित्याख्या ह्यनुप्रेक्षा द्वितीयाशरणाभिधा । संसारसंज्ञिकैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवाह्वयाः ॥ ३ ॥ संवरो निर्जरा लोको बोधिदुर्लभनामकः । धर्मराताअनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ ४ ॥ अनित्यानिसमस्तानि वपुरायुः सुखानि च । इन्द्रचापसमानानि

बारहवां अधिकार ।

जो मुनिराज वीतराग हैं अनुप्रेक्षाओं का सदा चिंतवन करते रहते हैं जिन्होंने अपने श्रेष्ठध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और जो समस्त संसार का हित करने वाले हैं ऐसे मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ मुनियों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रतिदिन चिंतवन करना चाहिये। इसलिये रागद्वेष को नष्ट करने के लिए मैं उन अनुप्रेक्षाओं का निरूपण करता हूं ॥२॥ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं भगवान जिनेन्द्रदेव ने कही हैं ॥३-४॥ यह शरीर आयु सुख राज्य भवन और धन आदि सब अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं ॥५॥

राज्यसौधधनानि च ॥ ५ ॥ यौवनं जरयाक्रान्तं स्वायुर्यममुखेस्थितम् । रोगैः सन्मिश्रिता भोगा सौख्यं दुःखपुरस्सरम् ॥ ६ ॥ इन्द्रचक्रिवलेशादिपदानि शाश्वतानि न । इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यबलान्यभ्रोपमानि च ॥ ७ ॥ शृंखलाभाश्चलानार्यः कुटम्बस्वविडम्बकम् । पुत्राः पाशोपमा गेह वासा वन्दिगृहोपम. ॥ ८ ॥ रूप पुंसां क्षणध्वंसि संपाचञ्चलजीवितम् । सम्पदोविपदोन्तेस्युर्भंगुरनिखिल जगत् ॥ ६ ॥ आजन्मदिनमारभ्य जीवान् स्वान्तनयत्यहो । समयाद्यैः सदापापोयमोखण्डप्रयाणकैः ॥ १० ॥ यत्किंचिद्दृश्यतेवस्तु सुन्दरं भुवनत्रये । कालानलेनतत्सर्वं भस्मीभावभवेद्विधेः ॥ ११ ॥ इत्यनित्यं जगद्ज्ञात्वा नित्यंमोक्षसुलोभिन' । अनित्यै स्वशरीराद्यै. साधयन्तुदृगादिभिः ॥१२॥ वनेऽयाघ्रगृहीतस्यमृगस्येव जगत्त्रये । यमारातिगृहीतस्य जन्तोः न शरण क्वचित् ॥ १३ ॥ अर्हन्तोत्राशरीराश्चात्रेविधा

यह यौवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, अपनी आयु यमराज के मुख में ही रह रही है, भोग सब रोगों से मिले हुए हैं और सुखों के आगे सदा दुःख ही बने रहते हैं ॥६॥ इन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहने वाले नहीं हैं, तथा इन्द्रिय आरोग्य सामर्थ्य और बल सब बादल के समान थोड़ी देर तक ही ठहरने वाले हैं ॥७॥ चंचल स्त्रियाँ सांकल के समान बंधन में डालने वाली हैं कुटम्ब सब विडम्बना मात्र है, पुत्र जाल के समान बाँधने वाले हैं और घर का निवास कारागार के समान है ॥८॥ मनुष्यों का यह रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, संपत्तियाँ सब विपत्तियों के मध्य में रहती हैं। इस प्रकार यह समस्त जगत क्षणभंगुर है ॥६॥ यह महापापी यमराज समय समय के अनुसार थोड़ा थोड़ा चल कर जन्मपर्यंत सवेरे से शाम तक अनेक जीवों को अपने पास बुला लेता है ॥१०॥ इस संसार में तीनों लोकों में जो कुछ सुन्दर पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब कालरूपी अग्नि से जल कर भस्म हो जाते हैं ॥११॥ इस प्रकार जगत को अनित्य समझ कर मोक्ष के लोभी पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर इस अनित्य शरीरादिक से नित्य स्वरूप मोक्ष को सिद्ध कर लेना चाहिये ॥१२॥ जिस प्रकार किसी वन में किसी हिरण को सिंह पकड़ लेता है उस समय उस हिरण का कोई शरण नहीं है उसी प्रकार जब इस जीव को यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब इसको बचाने वाला शरणभूत तीनों लोकों में कोई दिखाई नहीं देता ॥१३॥ इसलिये

साधबोखिलाः । इहामुत्रशरण्याः स्युःसर्वत्रापदिधीमताम् ॥ १४ ॥ तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मोरत्नत्रयात्मकः । सहगामीशरण्यः स सतां यमान्तकोमहान् ॥ १५ ॥ संसारभयभीतानांजिनशासनमद्भुतम् । शरण्यंविद्यतेपुंसां जन्म-मृत्युसुखापहम् ॥ १६ ॥ मंत्रतंत्रौषधादीनि व्यर्थानिनिखिलान्यपि । सन्मुखेसति जन्तूनांयमेऽकिंचित्कराणि च ॥१७॥ नीयमानोयमेनांगीवराकः स्वालयप्रति । इन्द्रचक्रिखगेशाद्यैः क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥ १८ ॥ यत्रेन्द्राद्यायमेनाधः पात्यन्तेस्वपदाद्बलात् । कस्तत्रोद्धरतेन्योऽस्मात्सर्वजीवक्षयकरात् ॥ १९ ॥ विज्ञायेतिजिनेन्द्रोक्तधर्मस्यपरमेष्ठिनाम् । नित्यं मोक्ष यमादिभ्योव्रजन्तु शरणं बुधाः ॥ २० ॥ द्रव्यक्षेत्राभिधे कालभवभावाह्वयेऽशुभे । संसारे दु:खसम्पूर्णे भ्रमन्ति कर्मणांगिनः ॥ २१ ॥ कर्मनोकर्मपर्याप्तिभिर्गृहीता न पुद्गलाः । न मुक्ता बहुशो जीवैर्ये ते न स्युर्जग-

---

बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ही शरण हैं ॥१४॥ अथवा उन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ, तथा तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला, सर्वोत्कृष्ट और यमराज को नाश करने वाला ऐसा रत्नत्रय रूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है ॥१५॥ जीव मनुष्य संसार से भयभीत हैं उनके लिए जन्ममृत्यु के दुःखों को दूर करने वाला सर्वोत्कृष्ट यह जिनशासन ही शरणभूत है ॥१६॥ जिस समय यमराज इन जीवों के सन्मुख होता है उस समय मंत्र तंत्र और औषधि आदि सब न कुछ करने वाली व्यर्थ हो जाती हैं ॥१७॥ जिस समय यह यमराज इस दुखिया जीव को अपने घर ले जाता है उस समय इन्द्र चक्रवर्ती विद्याधर आदि कोई भी क्षणभर के लिये भी नहीं बचा सकता ॥१८॥ अरे जब यह यमराज इन्द्र को भी जबर्दस्ती अपने पैरों के नीचे डाल लेता है तो फिर समस्त जीवों को क्षय करने वाले यमराज से और कौन बचा सकता है ॥१९॥ यही समझ कर विद्वान पुरुषों को भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये धर्म की शरण लेनी चाहिये पाँचों परमेष्ठियों की शरण लेनी चाहिये और यम नियम पालन कर सदा रहने वाली मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥२०॥ यह संसार द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव के भेद से पाँच प्रकार का है, यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है ऐसे संसार में ये प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं ॥२१॥ इन तीनों लोकों में

दुगृहे ॥ २२ ॥ अधोमध्योर्ध्वलोकेषुभ्रमन्तोनिखिलांगिनः । यत्रोत्पन्नामृतानैव स प्रदेशो न विद्यते ॥ २३ ॥ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्देहिनः कर्मणा धृताः । येषु जातामृताहो न नस्युस्तेसमयाभुवि ॥ २४ ॥ चतुर्गतिषु जीवैश्च-यावद्ग्रैवेयकान्तिमम् । न गृहीता न मुक्ता या सा योनिर्नास्तिभूतले ॥ २५ ॥ मिथ्याविरतिदुर्योगकषायैश्चनि-रन्तरम् । प्रमादैर्विषयान्धाःस्वंनिघ्नन्ति कर्मपुद्गलैः ॥ २६ ॥ इति संसारकान्तारेऽनादौघोरेभ्रमन्त्यहो । धर्मरत्न-त्रयोयेतं ह्यप्राप्येन्द्रिलोलुपाः ॥ २७ ॥ जन्ममृत्युजरादुःखरोगक्लेशशतानि च । इष्टवस्तुवियोगं चानिष्टसंयोग-सचयम् ॥ २८ ॥ अपमानशतादीनिदारिद्र्यंविरहान्वहून् । दौर्भाग्यादिमहादुःखान्प्राप्नुवन्तिभवांगिनः ॥ २९ ॥

ऐसे कोई पुद्गल नहीं है जो इस जीव ने कर्म नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनंतवार ग्रहण न किए हो और अनंतवार ही न छोडे हों ॥२२॥ ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई लोक का प्रदेश नहीं है जहाँ पर संसार मे परिभ्रमण करते हुए ये जीव उत्पन्न न हुए हों अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुए हों ॥२३॥ इसी प्रकार इस उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है जिसमें ये प्राणी अपने अपने कर्मों के उदय से न जन्मे हों और न मरे हों ॥२४॥ इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अंत तक ऐसी कोई योनि नहीं है जो इस जीव ने न ग्रहण की हो न मर कर छोड़ी हो ॥२५॥ विषयों में अंधे हुए ये जीव मिथ्यात्व अविरत कषाय प्रमाद और योगों के द्वारा निरंतर पुद्गलों के द्वारा बने हुए कर्मों का बंध करता रहता है ॥२६॥ इस प्रकार इन्द्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादि काल से चले आए घोर दुःखमय संसाररूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करते हैं ॥२७॥ ये संसारी-जीव सैकड़ों जन्म मरण जरा दुःख रोग और क्लेशों को प्राप्त होते हैं, इष्ट पदार्थों के वियोग और अनिष्ट पदार्थों के संयोग को प्राप्त होते हैं, सैकड़ों अपमानों को प्राप्त होते हैं, दरिद्रता को प्राप्त होते हैं अनेक प्रकार के विरहों को प्राप्त होते हैं दुर्भाग्यता को प्राप्त होते हैं और अनेक महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥२८—२९॥ ये जीव अपने अपने कर्म के निमित्त से नरक में उत्पन्न होते हैं,

श्वभ्रस्थलजलाकाशेजायमानाविधेर्वशात् । म्रियमाणाः पराधीनालभन्तेदुःखमुल्वणम् ॥ ३० ॥ सुखदुःखद्वयंभान्ति संसारेनिर्विवेकिनाम् । किंचित्सुखलवेनैवसर्वंदुःखंविवेकिनाम् ॥ ३१ ॥ इत्यशर्माकरं ज्ञात्वाभवंमोक्षंसुखार्णवम् । साधयन्तु बुधाः शीघ्रं तपोरत्नत्रयादिभिः ॥ ३२ ॥ एकोरोगभराक्रान्तोरुदन् दीनोयमालयम् । गच्छेत्स्वजनमध्याच्च कोपि तेनसमंव्रजेत् ॥३३॥ एकोबध्नाति कर्माणि ह्येकोभ्रमतिसंसृतौ । एकोत्र जायते देही एकश्चम्रियतेसदा ॥३४॥ यत्रनानाहितैर्भोगैर्यैः कायः पोषितोपि सः । पादैकं न व्रजेद्देहिनासार्द्ध दुर्जनादिवत् ॥ ३५ ॥ तत्र ये स्वजना जाताःस्वस्वकार्यपरायणाः । कर्मायत्ताः कथं यान्ति जीवेनसहतेखिलाः । ३६ ॥ एकः पापार्जनाद्गच्छेन्नरकं दुःख-

---

जल, स्थल, वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर पराधीन होकर मरते हैं इस प्रकार महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥३०॥ इस संसार में जो निर्विवेकी पुरुष हैं उनके लिये सुख दुःख दोनों अच्छे लगते हैं और विवेकी पुरुषों को सुख किञ्चिन्मात्र दिखाई देता है बाकी समस्त संसार महा दुःखमय प्रतीत होता है ॥३१॥ अतएव विद्वान् पुरुषों को इस संसार को अनेक दुःखों का घर समझ कर तपश्चरण और रत्नत्रय के द्वारा बहुत शीघ्र सुख का समुद्र ऐसा मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३२॥ यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्री होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता ॥३३॥ यह जीव अकेला ही कर्मबंध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है ॥३४॥ यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देने वाली भोगोपभोग सामग्री से पालन पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पेंड़ भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वह वहीं पड़ा रहता है ॥३५॥ इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटंबी लोग जो अपने अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे वे सब इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ? ॥३६॥ यह जीव इकट्ठे किए हुए पाप कर्म के उदय से अकेला ही दुःखों से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्म के उदय से अकेला ही समस्त सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता

पूरितम् । पुण्यपाकवशादेकः स्वर्गं सर्वसुखांकितम् ॥ ३७ ॥ त्रसस्थावरकायेष्वेकाकीभ्रमतिदुःखभाक् । आर्यम्लेच्छ–कुलेष्वत्रनृगतौविधिवञ्चितः । ३८ ॥ एकस्तपोसिनाहत्वाकर्मारातीन् स्वपौरुषात् । मोहेनसहभव्योत्र व्रजेन्मोक्षं गुणाकरम् ॥ ३९ ॥ इत्येकत्वंपरिज्ञायसर्वत्रसर्वत्रधीधनाः । एकत्वं भावयन्त्वात्मनोत्रैकत्वपदाप्तये ॥ ४० ॥ यत्रदेहा–त्पृथग्भूतोमृतःसाक्षात्विलोक्यते । देही जडेतरैस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः ॥ ४१ ॥ जीवात्पंचेन्द्रियाण्यत्रभिन्नरू–पाणि तत्त्वतः । कर्मजान्यन्यवस्तूनि मन कायवचांसि च ॥४२॥ अन्यामातापितान्यन्योन्याभार्यास्वजनोखिल. । पुत्राद्यन्यत्कुटंबं च स्याद्देहिनां चतुर्गतौ ॥ ४३ ॥ आत्मानदर्शनज्ञानवृत्तादिगुणभाजनम् । मुक्त्वा किंचिन्न वस्तुस्या–त्स्वकीयभुवनत्रये ॥४४॥ इत्यन्यत्वंविदित्वास्वदेहादेस्तत्त्ववेदिन' । पृथक्कृत्यांगतोऽभ्यन्तरेध्यायन्तुस्वचिन्मयम् ॥४५॥

है ॥३७॥ कर्मों से ठगा हुआ वह प्राणी अकेला ही दुःखी होता हुआ त्रस और स्थावरकायिक जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्यगति में आर्य वा म्लेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है ॥३८॥ इसी प्रकार यह अकेला ही भव्य जीव अपने पौरुष से तपश्चरणरूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ साथ समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर अनंत गुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है ॥३९॥ इस प्रकार सर्वत्र अपने अकेलेपन का परिज्ञान कर के बुद्धिमानों को मोक्षरूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिए इस एकत्व भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ॥४०॥ जहाँ पर मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यमय अन्य पदार्थ वा कुटम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं ॥४१॥ वास्तव में देखा जाय तो पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने अपने कर्म के उदय से प्राप्त हुए हैं ॥४२॥ चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न हैं पिता भी भिन्न हैं स्त्री भी भिन्न हैं समस्त कुटम्ब वर्ग भी भिन्न है और पुत्रादिक भी सब भिन्न हैं ॥४३॥ इन तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्मा को छोड़ कर बाकी का और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है ॥४४॥ तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इस प्रकार अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न समझ कर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप

दृश्यते यत्रदुर्गंधेस्वदेहेप्यशुभाकरे । विश्वाशुचित्वबाहुल्यंभार्यादौ तत्र किं शुचिः ॥ ४६ । एकान्ततोऽशुभं तीव्रं नरकेछेदनादिजम् । नारकांगेऽशुचित्वं च कृत्स्नदुःखनिबन्धनम् ॥ ४७ ॥ देहछेदांगभारारोपणाद्यशुभमुल्बणम् । तिर्यग्गतौतद्गादौ चाशुचित्वकृमिव्रजम् ॥४८॥ वीभत्सेश्वभ्रसादृश्ये गर्भे वसन्तिदेहिनः । नवमासान् ततो जन्मलभन्तेऽशुचियोनितो ॥४९॥ बालत्वेऽशुचिमध्येंऽलोटन्ति यौवन नराः । सेवन्ते चाशुचिद्वारंस्त्रीणांकामार्तपीडिता ॥५०॥ रक्तमांसाशुभाकीर्णं चर्मबद्धास्थिसंचयम् । विश्वाशुभाकरीभूतं मलमूत्रादिभाजनम् ॥ ५१ ॥ रोगोरगविलनिंद्यमशुभं स्वकलेवरम् । विद्धि त्वं दुःखदंसर्वानर्थानां मूलमञ्जसा ॥ ५२ ॥ स्त्र्यशुचिद्वार जाता ये भोगाश्चस्वान्यदेहयोः ।

आत्मा को अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए उसका ध्यान करना चाहिये ॥४५॥ जहाँ पर अनेक अशुभों की खानि और दुर्गंधमय अपने शरीर में ही समस्त अपवित्रता की बहुलता दिखाई देती है फिर भला स्त्रियों के शरीर में पवित्रता कैसे आ सकती है ॥४६॥ देखो नरक में नारकियों के शरीर में तीव्र अपवित्रता है, वह अपवित्रता स्वभाव से ही अशुभ रूप है छेदन भेदन से उत्पन्न होती है और अन्य समस्त दुःखों के कारणों से उत्पन्न होती है ॥४७॥ तिर्यंचगति में भी तिर्यंचों का शरीर छेदा जाता है अधिक भार से वह थक जाता है अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं उसमें कीड़े पड़ जाते हैं इस प्रकार तिर्यंचों का शरीर भी अत्यंत अपवित्र है ॥४८॥ मनुष्यभव में यह प्राणी नौ महीने तक तो नरक के समान अत्यंत वीभत्स गर्भ में निवास करता है और फिर अत्यंत अपवित्र योनि के द्वारा जन्म लेता है ॥४९॥ फिर बालकपन में अपवित्र स्थानों में ही लोटता फिरता है और यौवन अवस्था में काम से पीड़ित होकर स्त्रियों की महा अपवित्र योनि का सेवन करता है ॥५०॥ हे जीव देख तेरा यह शरीर रुधिर माँस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका है भीतर हड्डियो का ढेर भर रहा है मल मूत्र का भाजन है समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोगरूपी सर्पों का बिल है अत्यंत निंद्य है अनेक दुःख देने वाला है और समस्त अनर्थों की जड़ है। हे जीव तू अपने शरीर को ऐसा समझ ॥५१–५२॥ जा भोग स्त्रियों की अत्यंत अपवित्र योनि से

कदर्थनाभवास्तेषामशुभवर्ण्यतेत्रकिम् ॥५३॥ इत्याद्यशुचिसम्पूर्णंजगद्ज्ञात्वाविरागिणः । वपुषाऽशुचिना मोक्षं साधयन्तु शुचिप्रदम ॥ ५४ ॥ भयदुःखशताकीर्णे घोरेससारसागरे । कर्मास्रवैर्निमज्जन्तिधर्मपोतातिगा जनाः ॥ ५५ ॥ रागद्वेषौ-द्विधामोहःखानि सज्ञाश्चतुःप्रमाः । गौरवाणिकषायाश्चयोगाहिंसादयोनृणाम् ॥ ५६ ॥ एते नर्थाकरीभूताद्दुस्त्याज्या कातरागिनाम् । त्याज्याः कर्मारिभीतैः कृत्स्नकर्मास्रवहेतवः ॥ ५७ ॥ येनात्र तुष्यति द्रव्ये कुत्सिते द्वेष्टि दुर्जनः । दृग्वृत्तादौ च तौ रागद्वेषौधिग्भवतोऽशुभौ ॥ ५८ ॥ येनादत्ते न सन्मार्गं कुमार्गमन्यते जनः । अत्तामिपे सुख वेत्ति द्विधामोहोधिगस्तु सः ॥ ५९ ॥ अभिभूता जगज्जीवा वार वार चतुर्गतौ । स्व जानन्ति न यैस्तानिखानिथान्तु-

---

उत्पन्न हुए हैं तथा अपने और दूसरों के शरीर को संघट्टित करने से उत्पन्न होते हैं उन भोगों की अपवित्रता का भला क्या वर्णन करना चाहिये । अर्थात् वे तो अत्यंत अपवित्र हैं हीं ॥५३॥ इस प्रकार इस प्रकार समस्त जगत को अपवित्रमय जान कर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यंत पवित्र ऐसी मोक्ष सिद्ध कर लेनी चाहिये ॥५४॥ जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्रव होते रहने से सैकड़ों भय और दुःखों से भरे हुये इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं ॥५५॥ राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियाँ, चारों प्रकार की संज्ञा, गारव, कषाय, योग और हिंसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं और कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इसका त्याग कर सकते हैं इसलिये कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहने वाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥५६-५७॥ जिस राग द्वेष के कारण दुष्ट पुरुष धनादिक द्रव्यों में संतोष मनाते हैं और कुत्सित द्रव्य में द्वेष करते हैं अथवा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र में द्वेष करते हैं ऐसे अशुभ रागद्वेष को वार वार धिक्कार हो ॥५८॥ जिस मोह के कारण यह जीव श्रेष्ठ मार्ग को तो ग्रहण नहीं करता और कुमार्ग को बहुत अच्छा मानता है तथा जिस मोह इन्द्रियों के विषयों में ही सुख मानता है ऐसे दोनों प्रकार के मोह को वार वार धिक्कार हो ॥५९॥ जिन इन्द्रियों के कारण ये जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर वार वार तिरस्कृत होते हैं और अपने

त्यंसताम् ॥ ६० ॥ संज्ञाभिर्याभिरत्यर्थंपीड़िताजन्तवोखिलाः । अर्जयन्तिमहापापं ता यान्तुप्रलयं स्वतः ॥ ६१ ॥ गारवैर्यैर्जडाः पाप घोरं गुरुतरं वृथा । उपार्ज्य नरकं यान्ति गच्छन्तु नाशमाशु ते ॥ ६२ ॥ कषायरिपवस्तेत्र व्रजन्तुक्षयमंजसा । यैर्दुष्कर्मस्थितिं कृत्वा पतन्ति नरकेंगिनः ॥ ६३ ॥ दुर्योगैर्यैर्निजात्मानंनिवद्धकर्मवन्धनैः । क्षयन्तिदुर्गतौ जीवास्तेधिग्भवन्तु चंचला ॥ ६४ ॥ हिंसाद्यैः पंचभिर्घोरंयैरुपार्ज्याघकिल्विषम् । गच्छन्तिदुर्धियःश्वभ्रं प्रलयंयान्तुपच ते ॥ ६५ ॥ इत्याद्यैः प्रत्ययैःसर्वैः कर्मास्रवैर्गले धृताः । भ्रमन्तोत्र शठाः नित्यं लभन्ते दुःखमुल्वणम् ॥ ६६ ॥ यावत्कर्मास्रवोल्पोपिकुर्वतामपि सत्तपः । न तावच्छाश्वतस्थानं किन्तुसंसारएव हि ॥ ६७ ॥ इत्यास्रवमहादोषान् ज्ञात्वानिरुध्यप्रत्ययान् । योगशुध्यास्रवान्विश्वान् निराकुर्वन्तुधीधनाः ॥ ६८ ॥ रागद्वेषादिपूर्वोक्तान्

आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते ऐसी इन सज्जनों की इन्द्रियों का शीघ्र ही नाश हो ॥६०॥ जिन आहारादिक संज्ञाओं के कारण ये समस्त जीव अत्यंत पीड़ित वा दुःखी हो रहे हैं और महापाप उत्पन्न कर रहे हैं उन संज्ञाओं का भी अपने आप नाश हो ॥६१॥ जिन गारव तथा अभिमानों से ये अज्ञानी जीव व्यर्थ ही महा पाप उपार्जन कर नरक में जाते हैं उन अभिमानों का भी शीघ्र ही नाश हो ॥६२॥ जिन कषायों से ये जीव कर्मों की स्थिति बाँध कर नरक में पड़ते हैं वे कषायरूपी शत्रु शीघ्र ही नाश को प्राप्त हों ॥६३॥ जिन चंचल योगों से ये जीव अपने आत्मा को कर्मरूपी बंधनों से बाँध कर दुर्गति में गिर पड़ते हैं उन चंचल योगों को भी धिक्कार हो ॥६४॥ जिन हिंसादिक पाँचों पापों से ये मूर्ख जीव घोर पापो का उपार्जन कर नरक में पड़ते हैं उन पाँचों पापों का भी शीघ्र ही नाश हो ॥६५॥ इस प्रकार कर्मास्रव के समस्त कारणों से जकड़े हुए मूर्ख प्राणी इस संसार में सदा परिभ्रमण किया करते हैं और घोर दुःखों का अनुभव किया करते हैं ॥६६॥ श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियों के भी जब तक थोड़े से कर्मों का भी आस्रव होता रहता है तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किंतु उनका संसार ही बढ़ता रहता है ॥६७॥ इस प्रकार आस्रव के महा दोषों को समझ कर बुद्धिमान मुनियों को मन वचन काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोक कर समस्त आस्रव को बंद कर देना चाहिये ॥६८॥ पहले जो राग द्वेष आदि आस्रव के कारण बतलाये हैं उन

निरुध्यास्रवकारणान् । कर्मास्रव निरोधे यः संवरः स शिवंकरः ॥ ६९ ॥ रागद्वेषौनिरुध्येतेसर्पोवा ज्ञानमंत्रतः । दृग्वृत्ताभ्यांद्विधामोहो रुध्यते दुष्टदंतिवत् ॥ ७० ॥ तपसेन्द्रियसंज्ञानिराक्रियन्तेजितेन्द्रियैः । गौरवाविनयेनात्रत्यज्यन्ते वैरिणोयथा ॥ ७१ ॥ निगृह्यन्तेकषायाश्चक्षमाद्यस्त्रैरिवारयः । निरुध्यन्ते चलायोगागुप्तिपाशेन वा मृगाः ॥ ७२ ॥ हिंसादीनिनिवार्यन्तेसमितिव्रतसंयमैः । प्रशस्तध्यानलेश्याद्यै रुध्यतेसकलास्रव. ॥ ७३ ॥ इतियुक्त्यासुयोगाद्यैर्निरुध्य-निखिलास्रवान् । ये कुर्यु: संवर तेषा निर्वाणनिर्जरायुतम् ॥ ७४ ॥ येन कर्मास्रवोरुद्धः संवरोयुक्तिभिः कृतः । तस्यैवेष्टसुसिद्धिः स्यात्ताविनानिष्फल तप. ॥ ७५ ॥ मत्वेति मंवर दक्षाःकुर्वन्त्वेक शिवाप्तये । परीषह जयैर्ज्ञान-सध्यानसंयमादिभिः ॥ ७६ ॥ रुद्धास्रवमहर्षेश्चारित्रसद्गुणभागिनः । तपोभिर्दुष्करैर्मुक्तिजननीनिर्जराभवेत् ॥७७॥

सबको रोक कर कर्मों के आस्रव का निरोध करना चाहिये। कर्मों के आस्रव का निरोध होना ही मोक्ष देने वाला संवर है ॥६९॥ ये राग द्वेषरूपी सर्प ज्ञानरूपी मंत्र से रोके जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से दुष्ट हाथी के समान दोनों प्रकार का मोह रुक जाता है ॥७०॥ जितेन्द्रिय पुरुष तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय और संज्ञाओं को रोकते हैं और गारवों वा अभिमानों को शत्रुओं के समान विनय से रोकते हैं ॥७१॥ इसी प्रकार कषायरूपी शत्रुओं को क्षमा मार्दव आदि शस्त्रों से वश में करते हैं गुप्तिरूपी जाल से हिरणों के समान चंचल योगों को वश में कर लेते हैं ॥७२॥ इसी प्रकार व्रत समिति और संयम से हिंसादिक पाँचों पापों को निवारण करते हैं और प्रशस्त ध्यान तथा शुक्ललेश्या से समस्त आस्रव को रोक देते हैं ॥७३॥ इस प्रकार योग धारण कर युक्तिपूर्वक जो समस्त आस्रवों को रोक लेते हैं और संवर धारण कर लेते हैं उनके कर्मों की निर्जरा के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥७४॥ जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोक कर संवर धारण किया है उसी के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिये ॥७५॥ यही समझ कर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये परीषहों को जीत कर, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठध्यान को धारण कर और संयम को पालन कर एक संवर ही सिद्ध कर लेना चाहिये ॥७६॥ जिन महामुनियों ने समस्त आस्रव को रोक दिया है और जो चारित्ररूपी श्रेष्ठ

निर्जरा सा द्विधाज्ञेयादेशतः सर्वतोनृणाम । स्वकर्मवशतोदेशनिर्जरान्यतपो भवा ॥ ७८ ॥ चतुर्गतिषुसर्वेषांभ्रमतां कर्मणां क्षयात् । श्रमाद्‌यानिर्जराजाता साहेयादेशनिर्जरा ॥ ७६ ॥ संवरेण समं यत्नात्तपोभिर्याबुधैः कृता । विपुला मुक्तिसंसिध्यै सा ग्राह्यासर्वनिर्जरा ॥ ८० ॥ अग्निना धातुपाषाणो यथाशुध्यतियोगतः । तथा तपोग्निनाभव्यः कृतःसंवरनिर्जरः ॥८१॥ यथा यथामुनीन्द्राणां जायते कर्मनिर्जरा । तथातथा च मुक्तिस्त्रीमुदायातिस्वयंवरा ॥८२॥ ध्यानयोगेनभव्यानां समस्तकर्मनिर्जरा । यदातदैव जायेत मोक्षलक्ष्मी गुणैःसमम् ॥ ८३ ॥ मत्वेतिनिर्जरानित्यं कर्तव्यामुक्तयेबुधैः । तपोयोगैः सदाचारैः सर्वासंवरपूर्विका ॥ ८४ ॥ अधोवेत्रासनाकारो मध्येस्याद्‌झल्लरीसमः ।

गुण को धारण करते हैं उनके कठिन कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोक्ष की देने वाली निर्जरा होती है ॥७७॥ वह निर्जरा दो प्रकार की है एक एकदेश निर्जरा और दूसरी सर्वदेश निर्जरा। उनमें से एकदेश निर्जरा अपने अपने कर्मों के उदय से होती है और सर्वदेश निर्जरा तपश्चरण से होती है ॥७८॥ चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीवों के कर्मों के क्षय होने से जो निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है ॥७९॥ बुद्धिमान् लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर के साथ साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है ॥८०॥ जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातुपाषाण (जिस पाषाण में सोना वा चाँदी निकले) युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरणरूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करने वाला भव्य जीव अत्यंत शुद्ध हो जाता ॥८१॥ मुनियों के जैसी जैसी कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे स्वयं वरण करने वाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है ॥८२॥ जिस समय भव्य जीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय अनंत गुणों के साथ साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥८३॥ यही समझ कर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए तपश्चरण ध्यान और सदाचार धारण कर संवर पूर्वक पूर्ण कर्मों की निर्जर सदा करते रहना चाहिये ॥८४॥ यह लोकाकाश

मृदंगसद्दशश्चाग्रे लोकस्येतित्रिधास्थिति. । ८५ ॥ पापिनः पापपाकेनपच्यन्तेखेदनादिभिः । सप्तश्वभ्रेष्वधोभागे नारका' नरकेसदा' ॥८६॥ पुण्येनपुण्यवन्तोस्योर्ध्व भागेसुखमुल्बणम् । कल्पकल्पान्तविश्वेपुभुजन्तिस्त्रीमहर्द्धिभि. ॥८७॥ कचित्सौख्यं कचिद्दुःखं मध्येलोके कचिद्दद्वयम् । प्राप्नुवन्तिनृतिर्यंचपुण्यपापवशीकृता: ॥ ८८ ॥ लोकाग्रेशाश्वतं धाम मनुष्यक्षेत्रसम्मितम् । सिद्धा यत्रलभन्तेहो अनन्त सुखमात्मजम् ॥ ८६ ॥ इति लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थ शिवालयम् । हत्वामोह दृगाद्यैश्चसाधयन्तुविदोद्रुतम ॥ ६० ॥ युगच्छिद्रेप्रवेशश्चसमिलाया यथाम्बुधौ । दुर्लभोऽन–

नीचे वेत्रासन के (स्टूल के) आकार हैं, मध्य में झल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग (परवावज) के आकार है। इस प्रकार यह लोक तीन भागों में बटा हुआ है ॥८५॥ इस लोक के अधो भाग में सातों नरकों में महा पापी नारकी अपने पाप कर्म के उदय से छेदन भेदन आदि के द्वारा महा दुःख भोगा करते हैं ॥८६॥ इसी प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्पवासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्य कर्म के उदय से देवांगना और महा ऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महा ऋद्धियों के द्वारा अत्यंत उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं ॥८७॥ इसी प्रकार मध्य लोक में पुण्य पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यंच कहीं सुख भोगते हैं कहीं दुःख भोगते हैं और कहीं सुख दुःख दोनों भोगते हैं ॥८८॥ इस लोक के शिखर पर मनुष्य लोक के समान एक नित्य स्थान है जहाँ पर सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत सुखों का अनुभव किया करते हैं ॥८६॥ इस प्रकार तीनों लोकों का स्वरूप समझ कर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझ कर विद्वान पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥६०॥ यदि किसी समुद्र में एक ओर बैल के कंधे का जूआ डाला जाय और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जूए के छिद्र में पड़ने वाली बाँस की कील डाली जाय जिस प्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जूए के छिद्र में उस बॉस की कील का पड़ जाना अत्यंत कठिन है

न्नसंसारेन्नृभवोत्रतथांगिनाम् ॥ ६१ ॥ कचिल्लब्धेमनुष्यत्वेप्यार्यदेशोतिदुर्लभः । तस्मात्सुकुलमत्यर्थं दुर्लभंकल्पशाखिवत् ॥ ६२ ॥ कुलतोदुर्लभंरूपं रूपादायुश्चदुर्घटम् । आरोग्यमायुषोप्याणिपद्वनिसुलभानि न ॥ ६३ ॥ तेभ्योपि सुमतिः साध्वीनिष्पापासुष्ठुदुर्लभा । मतेः कषायहीनत्वं विवेकाथतिदुर्लभम् ॥ ६४ ॥ एतेभ्यः सद्गुरो सारः संयोगोदुर्लभस्तराम् । संयोगाद्धर्मशास्त्राणांश्रवणंधारणं नृणाम् ॥ ६५ ॥ सुगमं न ततः श्रद्धानंनिश्चयोतिदुर्लभः । ततःसद्दर्शनज्ञानेविशुद्धिःसुष्ठुदुर्लभा ॥ ६६ ॥ ततो निर्मलचारित्रं दुष्प्राप्यंनिधिवत्तराम् । लब्धेप्यनेपुमर्त्येपुयावज्जीवं

उसी प्रकार अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है ॥६१॥ यदि कदाचित् किसी काल में मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाय तो आर्य देश में जन्म होना अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् आर्य देश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यंत कठिन है ॥६२॥ इसी प्रकार उत्तम कुल से सुन्दर रूप का प्राप्त होना दुर्लभ है, उससे पूर्ण आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है। पूर्ण आयु से भी नीरोग शरीर का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है और नीरोग शरीर की प्राप्ति होने पर भी इन्द्रियों की चतुरता प्राप्त होना कभी सुलभ नहीं हो सकता ॥६३॥ कदाचित् इन्द्रियों की चतुरता भी प्राप्त हो जाय तो पापरहित श्रेष्ठ बुद्धि का मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् निष्पाप बुद्धि भी प्राप्त हो जाय तो कषाय रहित होना और विवेक का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥६४॥ इन समस्त संयोगों के मिल जाने पर भी सारभूत श्रेष्ठ गुरु का संयोग मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् श्रेष्ठ गुरु का भी संयोग मिल जाय तो धर्मशास्त्रों का सुनना तथा उनका धारण करना उत्तरोत्तर अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् इनका भी संयोग मिल जाय तो उन धर्मशास्त्रों में कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करना उनका निश्चय करना अत्यंत ही दुर्लभ है। तथा उस श्रद्धान से भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विशुद्धि रखना अत्यंत ही दुर्लभ है ॥६५–६६॥ कदाचित् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की विशुद्धि भी प्राप्त हो जाय निधि के मिलने के समान निर्मल

निरन्तरम् ॥ ९७ ॥ सर्वदानिरवद्याचरणमत्यन्तदुर्घटम् । तस्मात्समाधिमृत्युः स्यान्निधिवद्दुर्लभःसताम् ॥ ९८ ॥ इतिदुर्लभवोधिं ये प्राप्ययत्नेनधीधनाः । साधयन्तिशिवादीनि तेषां वोधिफलं भवेत् ॥ ९९ ॥ आसाद्यवोधिमज्ञा ये कुर्वते मोक्षसाधने । प्रमाद दीर्घसंसारे ते भ्रमन्तिविधेर्वशात् ॥ १०० ॥ मत्वेतिवोधिसद्रत्नंप्राप्यशीघ्रं शिवश्रियम् । साधयन्तु वुधायत्नाद्येन तत्फलंभवेत् ॥ १ ॥ प्रागुक्तोदशधाधर्मं कर्तव्योधर्मकाङ्क्षिभिः । भुक्तिमुक्तिप्रदोनित्यं क्षमादि लक्षणोत्तमः ॥२॥ अनुप्रेक्षा इमा सद्भिर्द्वादशैव निरन्तरम् । वैराग्यवृद्धये ध्येया रागहान्यै शिवंकरा ॥३॥ एताद्वादशभावनाः सुविमलास्तीर्थेश्वरैः सेविता प्रोक्ताभव्यनृणांहिताय परमा वैराग्यवृध्यै वुधाः । ये ध्यायन्ति

चारित्र का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् इन सबका संयोग प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन पर्यंत निरंतर सर्वदा निर्दोष चारित्र का पालन करना अत्यंत ही दुर्लभ है। यदि कदाचित् यह भी प्राप्त हो जाय तो सज्जनों को निधि मिलने के समान समाधिमरण का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥९७–९८॥ इस प्रकार अत्यंत दुर्लभ ऐसे वोधि रूप रत्नत्रय को पाकर जो विद्वान् प्रयत्न पूर्वक मोक्षादिक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को वोधि का फल प्राप्त हुआ समझना चाहिये ॥९९॥ जो मूर्ख पुरुष इस रत्नत्रय रूप वोधि को पाकर मोक्ष के सिद्ध करने में प्रमाद करते हैं वे पुरुष अपने कर्मों के उदय से दीर्घकाल तक इस महा संसार में परिभ्रमण किया करते हैं ॥१००॥ यही समझ कर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे उनका वोधि का प्राप्त होना सफल हो जाय ॥१०१॥ धर्म की इच्छा करने वाले पुरुषों को उत्तम क्षमा मार्दव आदि लक्षणों से सुशोभित तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाला जो ऊपर कहा हुआ दश प्रकार का धर्म है वह सदा पालन करते रहना चाहिये ॥१०२॥ विद्वान् पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए और रागद्वेष को नष्ट करने के लिए इन वारह अनुप्रेक्षाओं का निरंतर चिंतवन करते रहना चाहिये। क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएं अवश्य मोक्ष प्रदान करने वाली हैं ॥१०३॥ ये वारह भावनाएं अत्यंत निर्मल हैं, तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिंतवन करते हैं और भव्य जीवों का हित

सदाऽमलेस्वहृदये तेषांमुदावद्धं तेसंवेगोत्रपरोविनश्यतितरांरागः शिवश्रीर्भवेत् ॥ ४ ॥ निरुपमगुणखानीर्मोक्षलक्ष्मी-सखीश्च जिनवरमुखजाताः सेविता श्रीगणेशैः दुरितगिरिविघातेवज्रधाराः सदैव प्रभजतशिवकामा भावना द्वादशैताः ॥ ५ ॥ मुनीनां श्रेयसांढ्व्याः परीषहाश्चतानिह । मार्गाच्यवनदुष्कर्मनिर्जरार्थंनिशाम्यहम् ॥ ६ ॥ क्षुत्पिपासाख्यशीतोष्णाख्यौ दंशमशकालयः । नाग्न्यारत्यभिधौस्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहौ ॥ ७ ॥ शय्याक्रोशोवधोयांचालाभोरोगपरीषहः । तृणस्पर्शोमलःसत्कारपुरस्कारसंज्ञकः ॥ ८ ॥ प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनान्येतेपरीषहाः । सोढव्या यतिभिर्नित्यंद्वात्रिंशतिः शिवाप्तये ॥ ९ ॥ षष्ठाष्टमेकपक्षाद्यु पवासान्नाक्रमगैः । उत्पद्यतेमुनेः स्वान्तर्दाहिन्यग्निशिखेवक्षुत् ॥ १० ॥ यदातेन तदाचिन्तोस्मरणीयमिदं स्फुटम् । अहो परवशेनात्रयाप्ता क्षुद्वेदनामया ॥ ११ ॥

करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिए कही गई हैं। इसलिये जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है ॥१०४॥ ये बारह भावनाएं अनुपम गुणों की खानि हैं मोक्षलक्ष्मी की सखी हैं भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई हैं तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पापरूपी पर्वतों को चूर चूर करने के लिए वज्र की धारा के समान हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इन बारह भावनाओं का चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥१०५॥ मुनिराज अपने चारित्रमार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए तथा पाप कर्मों की निर्जरा करने के लिए जिन परीषहों को अवश्य सहन करते हैं उनको मैं कहता हूं ॥१०६॥ क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्नन्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, यांचा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिये ॥७-९॥ किसी मुनिराज ने वेला वा तेला किया हो अथवा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास किया और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अंतरंग को जलाने वाली क्षुधा [illegible] होती है ॥१०॥ उस समय उन मुनिराज को अपने हृदय में यह चिंतवन करना चाहिये

नृगतौवन्दिगेहाद्यैः जलस्थलखगादिषु । तिर्यग्गतौनिरोधाद्यैश्वभ्रेषु भ्रमता चिरम् ॥ १२ ॥ तस्या इयं कियन्मात्रा विचिन्त्येतिशिवार्थिना । जेतव्या वेदना क्षुज्जा सन्तोषात्तेननान्यथा ॥ १३ ॥ बहूपवासमार्गश्रमविरुद्धान्नसेवनैः । ग्रीष्मभानुकरैस्तीव्रापिपासा जायतेयने ॥ १४ ॥ तदेदंचिन्तनीयं सन्मुनिनादुर्धरातृषा । पराधीनतयात्राहो अनुभूताचिरमया ॥ १५ ॥ नरतिर्यग्गतौश्वभ्रप्रदेशेनिर्जले वने । इति ध्यानेनधीरः सज्जयतात्तृट्परीषहम् ॥ १६ ॥ शुष्कोष्ठमुखसर्वांगस्तृषाग्निस्तपितोपिसन् । तच्छान्त्यै जातु न कुर्यान्मुखप्रक्षालनादिकम् ॥ १७ ॥ तुषारबहुलेशीतकालेचतु.पथादिषु । स्थितस्यशीतवाताद्यै. शीतबाधापराभवेत् ॥१८॥ तत्रैश्वनारकाणां च पशूनां नृदरिद्रिणाम् ।

कि मैंने परवश होकर जो भूख की वेदना सही है मनुष्यगति में बंदीगृह में पड़ कर भूख की वेदना सही है जलचर थलचर और नभचर के पशु पक्षियों की योनियों में जो भूख की वेदना सही है। तिर्यंचगति में बाँधे जाने वा रोके जाने के कारण जो भूख की वेदना सही है तथा नरकगति में जो भूख की वेदना सही है उसके सामने यह भूख कितनी है कुछ भी नहीं है इस प्रकार चितवन कर मोक्ष चाहने वालों को संतोष धारण कर भूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिये विना संतोष के क्षुधा वेदना कभी नहीं जीती जा सकती ॥११–१३॥ अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों को तीव्र प्यास की वेदना होती है। उस उस समय उन मुनियों को इस प्रकार चितवन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर मनुष्यगति में तिर्यंचगति में नरक में और निर्जन वनों में चिरकाल तक बड़ी बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है। इस प्रकार चितवन कर उन धीरवीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतनी चाहिये ॥१४–१६॥ यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के ओठ सूख गये हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी वे उस प्यास की शांति के लिए अपना मुख प्रक्षालन आदि कभी नहीं करते हैं ॥१७॥ जिस शीत ऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराये पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है। उस समय वे मुनिराज नारकियों के पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों

चिन्तनैः शीतदुःखौघं सहनेद्दृढचेतसा ॥ १६ ॥ तथाध्यानोष्मणा योगी शीतबाधांनिवारयेत् । मनाक्प्रावरणा-
ग्न्यादीन्शीतशान्त्यैर्नचिन्तयेत ॥ २० ॥ ग्रीष्मोग्रभास्करोष्णांशुपित्तरोगपथश्रमैः । आतापनमहायोगक्षाराग्नानश-
नादिभिः ॥ २१ ॥ दुस्सहोष्णमहातापो जायते वनवासिनः । निराश्रयपशुनॄणां नारकाणां विधेर्वशात् ॥ २२ ॥
आतोष्णचिन्तनेनासौसद्ज्ञानामृतपानतः । उष्णदुःखं जयेन्नाम्बुसेकावगाहनादिभिः ॥ २३ ॥ दंशैश्चमशकैः सर्वै-
र्मक्षिकावृश्चिकादिभिः । भक्षमाणोत्र दिग्वस्त्रो वृक्षमूलादिषुस्थितः ॥ २४ ॥ न मनाक्खिद्यतेयत्रध्यानीध्यानबलेन
च । परीषहजयो ज्ञेयः स दंशमशकाह्वयः ॥ २५ ॥ नग्नत्वेन च ये जाताः शीतोष्णाद्याउपद्रवाः । शरीरविक्रिया

को चिंतवन करते हुए अपने चित्त को दृढ़ बना कर शीत की वेदना को सहन करते हैं ॥१८-१९॥ उस समय वे मुनिराज ध्यानरूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिए न तो किसी के ओढ़ने का चिंतवन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करने वाले पदार्थों का चिंतवन करते हैं ॥२०॥ गर्मी के दिनों में जब सूर्य की किरण अत्यंत तीव्र और उष्ण होती हैं वा पित्त रोग हो जाता है अथवा मार्ग के चलने से परिश्रम बढ़ जाता है वा वे मुनिराज आतापन महा योग धारण कर लेते हैं अथवा वे अधिक लवण मिला हुआ अन्न ग्रहण कर लेते हैं उस समय वन में निवास करने वाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महा संताप उत्पन्न होता है। उस समय वे निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के, वा नारकियों के कर्मों के उदय से होने वाली तीव्र उष्ण वेदना का चिंतवन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते ॥२१-२३॥ जो मुनि दिगम्बर अवस्था को धारण किये हुए किसी वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, उस समय यदि कोई डांस मच्छर मक्खी बीछू आदि कीड़े मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंचमात्र भी खेद खिन्न नहीं होते और न वे ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं इसको दंशमशक परीषह विजय कहते हैं ॥२४-२५॥ नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठंडी गर्मी के उपद्रव होते हैं अनेक जीव काट लेते हैं शरीर में कोई विकार

जीवभक्षणैर्हसनादिभिः ॥ २६ ॥ सह्यन्ते यत्रधैर्येण ते संक्लेशाद्विनान्वहम् । दिगम्बरधरैर्ज्ञेयो नाग्न्यदोषजयोत्र सः ॥ २७ ॥॥ अरण्यवासशीतोष्णोग्रतपश्चरणादिभिः । शब्दैर्भयानकैर्जातारतिः सिंहादिजैर्निशि ॥ २८ ॥ मुनिभिर्जीयते यात्र रतिं कृत्वागमामृते । ध्यानज्ञानरतैःस्याच्चारतिबाधाजयोऽत्र सः ॥ २९ ॥ हावभावविलासागास्यभ्रूविकार जल्पनैः । कटाक्षशरविक्षेपैः शृंगाररसदर्शनैः ॥ ३० ॥ उन्मत्तयौवनास्त्रीभि. कृतोनर्थोव्रतान्तकः । सह्यतेयोगिभिर्योत्रस्त्रीबाधाजयएव सः ॥ ३१ ॥ भीमारण्याद्रिदुर्गेषु नानादेशपुरादिषु । विहरद्भि सदाखंडपाषाण-कंटकादिभिः ॥ ३२ ॥ जातपादव्यथाया यः क्रियतेसर्वथाजय । निर्ग्रंथैर्मुक्तयेचर्यापरीषह जयोत्रसः ॥ ३३ ॥ बहूप-

---

भी हो जाता है और अनेक दुष्ट लोग भी उनको देख कर हंसते हैं इन सब उपद्रवों को वे दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ प्रति दिन सहन करते हैं इसको नाग्न्य परीषह जय कहते हैं ॥२६–२७॥ वन का निवास, शीत उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं तथापि ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले वे मुनिराज आगमरूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति की बाधा को जीतते हैं इसको अरति परीषह जय कहते हैं ॥२८–२९॥ कोई मुनिराज किसी एकांत स्थान में विराजमान हों और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियाँ आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार मुख के विकार भोहों के विकार गाना बजाना बकवाद करना कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना, और शृंगार रस का दिखाना आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करने वाला अनर्थ करती हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं। इसको स्त्रीपरीषह जय कहते हैं ॥३०–३१॥ जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वतों पर, किलों में अनेक देश और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े वा कांटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे छोटे घाव हो जाते हैं तथापि वे दिगम्बर मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस सबको सहन करते हैं जीतते हैं इसको चर्यापरीषह जय कहते हैं ॥३२–३३॥ जो मुनिराज किसी गुफा में पर्वत पर वा

सर्गसंजातैः कन्दराद्रिवनादिषु । कृतवज्रासनादिभ्योऽचलनं यन्महात्मनाम् ॥ ३४ ॥ धृतासनविशेषाणांध्यानारोपितचेतसाम् । सर्वदाचलयोगानां निषद्याजय एव सः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायध्यानयोगाध्वश्रमखेदादिहानये । निद्रां मौहूर्तिकीं युक्त्यानुभवद्भिर्जिताशयैः ॥ ३६ ॥ दण्डैकपार्श्वशय्यादौक्रियतेपरिवर्तनम् । न सिंहाद्युपसर्गौर्धैर्येच्छय्या जयएव सः ॥ ३७ ॥ मिथ्यादृग्म्लेच्छचांडालशत्रुपापिदुरात्मनम् । परुषाद्यपमानावज्ञाधिक्कारवचांसि च ॥ ३८ ॥ आक्रोशादीन्बहून्श्रुत्वात्रिशुध्यासहनंहियत् । विनाक्लेशेन दक्षाणामाक्रोशजय एव सः ॥३९॥ मिथ्यादृग्दुर्जनैर्दुष्टैः शत्रुभिः श्वभ्रगामिभिः । कोपादिभिःप्रयुक्ताश्चवधबधादिताडनाः ॥ ४० ॥ सन्तः प्राणहरायत्रसह्यन्तेधीरयोगिभिः ।

वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसी प्रकार विशेष विशेष कठिन आसन धारण कर के भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं उनके इस परिषह सहन करने को निषद्या जय कहते हैं ॥३४–३५॥ जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिए युक्तिपूर्वक मुहूर्तमात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दंड के समान वा किसी एक कर्वट से सोते हैं सिंहादिक का उपद्रव होने पर भी जो कभी कर्वट नहीं बदलते उसको शय्या परीषह जय कहते हैं ॥३६–३७॥ जो मुनिराज मिथ्यादृष्टी, म्लेच्छ, चांडाल, शत्रु, पापी और दुरात्माओं के कठोर वचनों को अपमान जनक शब्दों को तिरस्कार वा धिक्कार के वचनों को वा अनेक प्रकार के गालीगलौज के शब्दों को सुन कर के भी मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उनको सहन करते हैं उनको सुन कर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उन चतुर मुनियों के आक्रोश परीषह जय कही जाती है ॥३८–३९॥ जो मुनिराज अपने पापो को नाश करने के लिये मिथ्यादृष्टी दुर्जन दुष्ट नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोध पूर्वक किये गये वध बंधन वा ताड़न आदि को सहन करते है तथा वे धीर वीर मुनि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उसी समय प्राण

योगशुध्यायघनाशायवधमर्षणमेवतत् ॥ ४१ ॥ व्याधिक्लेशशताद्यर्यद्बहूपवासपारणैः । याच्यते नौपधाम्ब्वादियांचा-सहनमेवतत् ॥ ४२ ॥ अलाभो योन्नपानादे' षष्टाष्टमादिपारणे । त्रिशुध्या सह्यते तुष्टैरलाभविजयात्र सः ॥४३॥ कुष्ठोदरव्यथावातपित्तज्वरादिरुकूशतैः । दुस्सहैः पापपाकोत्थैर्विश्वदुःखनिबन्धनैः ॥ ४४ ॥ जाताया वेदनाया यन्महत्याः सहनं बुधैः । कर्महान्यैप्रतीकारविनारोगजयोत्र सः ॥ ४५ ॥ शुष्कपत्रतृणादीनांस्पर्शनैश्चमरुद्धशैः । जातकडुविकारादेस्त्यक्तदेहमहात्मभिः । ॥ ४६ ॥ क्लेशाद्दतेघनाशायसहन यद्विधीयते । त्रिशुध्या स तृणस्पर्शपरीपह जयोत्रसः ॥४७॥ मलजल्लाविलिप्तांगध्रियते यद्विरागिभि' । सस्कारक्षालनातीतमर्द्धदग्धशवप्रमम् ॥ ४८ ॥ स्नानादीन्

हरण करने वाले बधबंधनादि को भी सहन करते हैं उसको बधपरीषह जय कहते हैं ॥४०–४१॥ जो मुनि सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी औपधि वा जल आदि की याचना नहीं करते हैं उसको यांचापरीषह जय कहते हैं ॥४२॥ जो मुनिराज वेला तेला आदि अनेक उपवास कर के पारणा को निकलें और अन्न पानादिक का लाभ न हो तो भी वे मुनिराज संतुष्ट होकर मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उस भूख प्यास की तथा आहारादिक के न मिलने की वाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परीषह विजय कहते हैं ॥४३॥ जो मुनिराज अपने कर्मों की नाश करने के लिए कोढ़, उदर शूल, वातज्वर, पित्तज्वर आदि अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दुःखों को देने वाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महा वेदना को भी विना प्रतिकार वा इलाज कराये सहन करते हैं उन बुद्धिमानों के रोगपरीषह जय कहलाती है ॥४४–४५॥ अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देने वाले जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिए मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक वायु से उड़ कर आये हुए सूखे पत्ते वा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उसको तृणस्पर्श परीषह जय कहते हैं ॥४६–४७॥ जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिए, राग को नष्ट करने के लिए, और पाप कर्मरूपी मल को नाश करने के लिए स्नान आदि को दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान

दूरतस्त्यक्त्वादयार्थैरागहानये । दुष्कर्ममलनाशायमलधारणमेवतत् ॥ ४९ ॥ नमःस्तवप्रशंसादिः सत्कारउच्यतेबुधैः । अग्रतः करणं यात्रादः पुरस्कारएव सः ॥ ५० ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्नैस्तपःसद्गुणशालिभिः । द्विधैषस्त्यज्यतेसत्कारपुरस्कारएवसः ॥५१॥ अहंविद्वान् जगद्वेत्ता वलीवर्दाइमे जडाः । किंचित्तत्त्वं न जानन्तिहीत्यादिगर्वएव यः ॥५२॥ सर्वांगपूर्वविद्भिस्त्वनिवार्यतेमदान्तकैः । सद्धादिभिर्महाप्राज्ञैः प्रज्ञाजय स ऊर्जितः ॥ ५३ ॥अज्ञोयं वेत्तिकिंचिन्न परमार्थंपशूपमः । इत्यादिकटुकालापसहनंयज्जनोद्भवम् ॥ ५४ ॥ईदृशादुर्द्धरं घोरं तपो मे कुर्वतोनघम् । अद्याप्युत्पद्यते कश्चिद् ज्ञानाद्यतिशयो त्र न ॥ ५५ ॥ इत्यादि वहुकालुष्यंमनसोयन्निहन्यते । स्वल्पज्ञानिभिरज्ञानपरीषह जयोहि

मल पसीना नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको मलपरीषह जय कहते हैं ।।४८–४९।। नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार कहलाता है तथा चलते समय यात्रादिक में उनको आगे रखना स्वयं पीछे चलना पुरस्कार कहलाता है। जो मुनिराज ज्ञान विज्ञान से सुशोभित हैं और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं ऐसे मुनिराज इन दोनों सत्कार पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते उसको सत्कार पुरस्कार परीषह जय कहते हैं ।।५०–५१।। जो मुनि ग्यारह अंग चौदह पूर्व के जानकार हैं महा बुद्धिमान हैं, वाद विवाद करने में सर्व श्रेष्ठ हैं और अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूं संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूं, बाकी के ये लोग सब बैल के समान मूर्ख हैं तत्त्वों का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते इस प्रकार के अभिमान को वे सदा के लिए त्याग कर देते हैं उसको प्रज्ञा परीषह जय कहते हैं ।।५२–५३।। जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं उनके लिए अन्य दुष्ट लोग "यह अज्ञानी है यह परमार्थ को कुछ नहीं जानता पशू के समान है" इस प्रकार कड़वे वचन कहते हैं तथापि वे उनको सहन करते हैं तथा "मैं इस प्रकार का दुर्धर और घोर और पापरहित तपश्चरण करता हूँ तो भी मुझे ज्ञान का कुछ भी अतिशय प्रगट नहीं होता श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रगट नहीं होता" इस प्रकार की कलुषता अपने मन में कभी नहीं लाते उसको अज्ञान

स. ॥ ५६ ॥ प्रातिहार्याणिकुर्वन्ति सुरा'सद्योगधारिणाम् । महातपस्विनामेतत्प्रलापमात्रमेव हि ॥ ५७ ॥ यतो मे दुर्द्धरानुष्ठानसत्तपोविधायिनः । विख्यातोतिशयःकश्चिज्जातेनामरैः कृतः ॥ ५८ ॥ प्रव्रज्यानर्थिकात्रेत्रमित्यादि-स्त्यज्यते च य' । सकल्पोद्दग्विशुध्या हि सोऽदर्शनजयो बुधै. ॥ ५६ ॥ एते कर्मोदयोत्पन्नाद्वाविंशतिपरीषहाः । सर्वशक्त्याघनाशाय सोढव्यामुक्तिगामिभिः ॥ ६० ॥ ज्ञानावरणपाकेनप्रज्ञाज्ञानपरीषहौ । दर्शनाभिधमोहोदयेना-दर्शनसज्ञक ॥ ६१ ॥ लाभान्तरायपाकेनस्यादलाभपरीषहः । नाग्न्याभिधानिषद्याचाक्रोशोयांचापरीषहः ॥ ६२ ॥ स्यात्सत्कारपुरस्कारोमानाख्यकषायतः । अरत्यरतिनाम्नोवेदोदयात्स्त्रीपरीषह' ॥ ६३ ॥ वेदनीयोदयेनात्र क्षुत्पिपासा

परीषह जय कहते हैं ॥५४—५६॥ "शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करने वाले महा तपस्वियों के लिए प्रातिहार्य प्रगट करते हैं उनका अतिशय प्रगट करते हैं परन्तु यह कहना प्रलापमात्र है यथार्थ नहीं है क्योंकि मैं बड़े बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्धर अनुष्ठान पालन करता हूं तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रगट नहीं करते इसलिये कहना चाहिये कि यह दीक्षा लेना भी व्यर्थ है" इस प्रकार के कलुषित संकल्प विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं उसको बुद्धिमान लोग अदर्शन परीषह जय कहते हैं ॥५७—५६॥ ये बाईस परीषह अपने अपने कर्मों के उदय से प्रगट होती हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करने वाले मुनियों को अपने पाप नाश करने के लिए अपनी सब शक्ति लगा कर ये परीषहों का सहन करना चाहिये ॥६०॥ इन परीषहों में से ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह प्रगट होती हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह प्रगट होती है ॥६१॥ लाभांतराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है। नाग्न्यपरीषह, निषद्या, आक्रोश, यांचा, और सत्कार पुरस्कार परीषह मान कषाय नाम के चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती हैं अरति परीषह अरति नाम के नोकषाय चारित्र मोहनीय के उदय से होती है और स्त्रीपरीषह वेद नाम के नोकषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है। इस प्रकार सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती हैं ॥६२—६३॥ क्षुधा, पिपासा, शीत,

परीषहः । शीतोष्णाख्यौ तथा दंशमशको हि परीषहः ॥ ६४ ॥ शय्या चर्यावधोरोगस्तृणस्पर्शोमलाह्वयः । एकादश इमे पुंसांप्रजायन्ते परीषहाः ॥६५॥ एकस्मिन्समये ह्येकजीवस्ययुगपत्क्वचि । परीषहाःप्रजायन्तेंगिनां चैकोनविंशति ।६६। मध्येशीतोष्णयोर्नूनमेकएवपरोषहः । शय्या चर्यानिषद्यानांतयैकः स्यान्नचान्यथा ॥ ६७ ॥ मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्त-गुणस्थानेषुसप्तसु । सर्वेपरीषहाः सन्ति ह्यपूर्वकरणेसताम् ॥ ६८ ॥ अदर्शनंविनाह्येकविंशति स्युःपरीषहाः । विंशतिश्चानिवृत्तौ हिविनारतिपरीषहात् ॥ ६९ ॥ शुक्लध्यानेनतत्रैवप्रनष्टे वेदकर्मणि । स्त्र्याख्ये परीषहे नष्टे ते स्युरेकोनविंशतिः ॥ ७० ॥ ततोमानकषायस्यक्षयात्तत्रैव वाशमात् । नाग्न्यनामनिषद्याख्याक्रोशयाचापरीषहाः ॥७१॥ सत्कारादिपुरस्कारश्चामीभिः पचभिर्विना । अनिवृत्यादिषु क्षीणकषायान्तेषुनिश्चितम् ॥ ७२ ॥ गुणस्थानचतुष्केषु

उष्ण, दंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती हैं ॥६४—६५॥ एक जीव के एक समय में एक साथ जीवों के उनईस परीषह हो सकती हैं। क्योंकि शीत और उष्ण परीषह में से कोई एक ही परीषह होती है, तथा शय्या चर्या निषद्या इन तीनों परीषहों में से कोई एक परीषह होती है। इसमें कभी अंतर नहीं होता ॥६६—६७॥ मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह होती हैं। अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में अदर्शन को छोड़ कर बाकी की इक्कईस परीषह होती हैं। अनिवृत्ति करण नाम के नौवें गुणस्थान में अरति परीषह को छोड़ कर बाकी की बीस परीषह होती हैं। उसी नौवें गुणस्थान में जब शुक्लध्यान के द्वारा वेद कर्म नष्ट हो जाता है तब स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाती हैं और उस समय नौवें गुणस्थान में उनईस परीषह ही रह जाती हैं ॥६८—७०॥ इसी नौवें गुणस्थान में आगे चल कर जब मान कषाय नष्ट हो जाता है अथवा मान कषाय का उपशम हो जाता है तब नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार, पुरस्कार ये पाँच परीषह नष्ट हो जाती हैं उस समय उसी नौवें गुणस्थान में इन पाँचों के बिना चौदह परीषह रह जाती हैं। ये चौदह परीषह नौवें गुणस्थान के इस भाग से लेकर क्षीण कषाय नाम के बारहवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में रहती हैं। परंतु छद्मस्थ वीतरागों के अर्थात् ग्यारहवें

चतुर्दशपरीषहाः, छद्मस्थवीतरागाणां भवन्त्यल्पाःसुखप्रदाः ॥ ७३ ॥ नष्टेघातिविधौक्षीणकषाये च परीषहाः । प्रज्ञा-ज्ञानाह्वयालाभा नश्यन्तिघातिघातिनः ॥ ७४ ॥ केवलज्ञानिनोवेदनीयाख्यविद्यमानतः । उपचारेण कथ्यन्तेत्रैकादशे-परीषहाः ॥ ७५ ॥ घातिकर्मबलापायात्स्वकार्यकरणेऽक्षमा । दातुं दुःखमशक्ताश्चविगतान्तसुखाश्रयात् ॥ ७६ ॥ सर्वे तीव्रतराः सन्तिसर्वोत्कृष्टाः परीषहाः । नारकाणां गतौ घोरास्तथातिर्यग्गतावपि ॥ ७७ ॥ प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शना-लाभनाग्न्यसञ्ज्ञकाः । अरतिस्त्रीनिषद्याख्याक्रोशयांचापरीषहाः ॥ ७८ ॥ सत्कारादिपुरस्कारः क्षुत्पिपासावधोप्यमी । सन्ति देवगतौस्वल्पाश्चतुर्दशपरीषहाः ॥ ७९ ॥ एते परीषहाविश्वे कर्मजाः कर्महानये । सोढव्याः संयतैः शक्त्या ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥ ८० ॥ चारित्रसगरेघोरे परीषह महाभटाः । यैर्जिताः सत्तपोबाणैर्वृत्तचापार्पितैर्दृढैः ॥ ८१ ॥

बारहवें गुणस्थान में ये परीषह बहुत ही थोड़ी रहती हैं और सुख देने वाली ही होती हैं दुःख नहीं देतीं ॥७१–७३॥ क्षीण कषाय के अंतमें जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब उन केवली भगवान के प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाती हैं अतएव केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाती हैं ॥७४–७५॥ केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकती। तथा उन भगवान के अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिये वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकतीं ॥७६॥ नरकों में नारकियों के और तिर्यंचगति में तिर्यंचों के समस्त परीषह होती हैं तथा अत्यंत तीव्र और उत्कृष्ट होती हैं ॥७७॥ देव गति मे प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश यांचा, सत्कार पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा, और बध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूप में होती हैं ॥७८–७९॥ ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होती हैं। इसलिये मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा अवश्य सहन करनी चाहिये ॥८०॥ अपने चारित्र में अचल रहने वाले जो मुनिराज चारित्ररूपी घोर युद्ध में चारित्र रूपी धनुष पर श्रेष्ठ तप रूपी बाण चढ़ा कर परीषह रूपी महा योद्धाओं को जीत लेते हैं उनके समस्त कर्म पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों के साथ साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी

तेषां नश्यन्ति कर्माणिपंचात्ततस्करैःसमम् । ढौकतेत्रिजगल्लक्ष्मीमुक्तिश्रियासहाचिरात् ॥ ८२ ॥ परीषहभटेभ्यो ये भीता नश्यन्ति कातराः । मचारित्ररणात्प्राप्यतेपकीर्तिजगत्त्रये ॥ ८३ ॥ हास्यं स्वजनसाधूनांमध्येचतुर्गताविह । अमुत्रपापपाकेनस्युर्विश्वदुःखभाजनाः ॥ ८४ ॥ मत्वेति सुधियोनित्यंस्वारीनिवपरीषहान् । जयन्तु धैर्यखड्गेन मुक्तिसाम्राज्यसिद्धये ॥ ८५ ॥ ऋद्धीरथमुनीन्द्राणामृषीणां सत्तपोभवाः । समासेन प्रवक्ष्यामि तपोमाहात्म्यव्य-क्तये ॥ ८६ ॥ ऋद्धिर्बुध्याह्वया चाद्याक्रियर्द्धिर्विक्रियाह्वया । तपऋद्धिर्बलर्द्धिश्चौषधर्द्धिरससंज्ञका: ॥ ८७ ॥ क्षेत्रर्द्धि-र्योगिनामेताऋद्धयोष्टविधाःपराः । जनन्योखिलसौख्यानां तपःशुद्धिप्रभावजाः ॥८८॥ केवलावधिसंज्ञाने मन:पर्य-बोधनः । बीजकोष्ठाह्वयेबुद्धीपादानुसारिसंज्ञका ॥ ८९ ॥ संभिन्नश्रोत्रदूरास्वादनस्पर्शनदर्शना: । घ्राणाश्रवणसमर्थ्ये दशपूर्वित्वमेवहि ॥ ९० ॥ सचतुर्दशपूर्वित्वविश्वार्थावगमक्षमम् । अष्टांगपरिपूर्णा महानिमित्तज्ञतापरा ॥ ९१ ॥

के साथ साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥८१–८२॥ जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डर कर भाग जाते हैं वे उस चारित्ररूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हंसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उनको चारोंगतियों के समस्त महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥८३–८४॥ यही समझ कर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिये अपनी धैर्य रूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान ये समस्त परीषह सदा के लिए जीत लेनी चाहिये ॥८५॥ अथानंतर—मुनियों के ऋषियों के श्रेष्ठ तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव उस तप का महात्म्य प्रगट करने के लिए संक्षेप से उन ऋद्धियों का स्वरूप कहता हूं ॥८६॥ बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ मुनियों के होती हैं। ये सब ऋद्धियाँ तपश्चरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रगट होती हैं और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥८७–८८॥ केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पादानुसारि, संभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दशपूर्वित्व वा चतुर्दश-पूर्वित्व, समस्त पदार्थों के जानने की सामर्थ्य, अष्टांग महा निमित्त की पूर्णता, प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येक

सत्प्रज्ञाश्रवणत्व च प्रत्येकबुद्धता परा । वादित्वमृद्धिभेदाःस्युर्बुद्धेरष्टादशाप्यमी ॥ ६२ ॥ चारणत्वंतथाकाशगामित्व व्योमगामिनाम् । द्विधाक्रियर्धिरत्रेति तत्रैते चारणाः पराः ॥ ६३ ॥ जलजघाभिधास्तन्तुपुष्पपत्राख्यचारणाः । बीजश्रेणिफलाग्निशिखाद्युपरिगामिनः ॥ ६४ ॥ जलमादाय वाप्यादिष्वप्कायिकविराधनाम् । अकुर्वन्तोमनाग्भूमाविव कार्यायपादयोः ॥ ६५ ॥ व्रजन्त्युद्धारनिक्षेपाभ्यां येखिलांगिरक्षकाः । महाकारुण्यचित्तास्ते भवन्ति जलचारणाः ॥ ६६ ॥ भूमेरुपरिचाकाशेचतुरंगुलसम्मिते । स्वजघोत्क्षेपनिक्षेपाभ्यांयान्तिवहुयोजनान् ॥ ६७ ॥ विहारकर्मणे ये ते योगिनोजंघचारिणः । एवमन्येपिविज्ञेयातन्त्वादिचारणा. पराः ॥ ६८ ॥ पर्यंकासनयुक्ता वा निषण्णा वा सुचारणाः । कायोत्सर्गस्थिताः पादोद्धारनिक्षेपणेन वा ॥ ६९ ॥ वा ताभ्यामन्तरेणैववहुयोजनगा–

बुद्धता और श्रेष्ठ वादित्व इस प्रकार अठारह अतिषयों का प्राप्त होना बुद्धिऋद्धि के भेद हैं ॥८९–९२॥ चारण ऋद्धि और आकाशगामी ऋद्धि ये दो प्रकार की क्रियाऋद्धियाँ आकाशगामी मुनियों के होती हैं। अब आगे चारण ऋद्धियों का विशेष रीति से लिखते हैं। जलचारण, जंघाचारण, तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, बीजचारण, श्रेणीचारण, फलचारण, अग्निशिखाचारण आदि चारण ऋद्धि के अनेक भेद हैं। जो मुनि अपने कार्य के लिए बावड़ी सरोवर आदि जल में जलकायिक जीवों की रंचमात्र भी विराधना न करते हुए पृथ्वी के समान उस जल पर पैरों को उठाते रखते हुए चलते हैं ऐसे समस्त जीवों की रक्षा करने वाले, और हृदय में महा करुणा धारण करने वाले वे मुनिराज जलचारण ऋद्धि को धारण करने वाले कहलाते हैं ॥९३–९६॥ जो मुनि भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में अपनी जंघाओं को उठाते रखते हुए विहार करते हैं और इसी प्रकार अनेक योजन चले जाते हैं उन मुनियों को जंघाचारण ऋद्धिधारी कहते हैं। इसी प्रकार तंतुचारण पुष्प फल चारण आदि चारण ऋद्धियों के भेद समझ लेने चाहिये ॥९७–९८॥ आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि चलने में अत्यंत चतुर होते हैं तथा पर्यंकासन से बैठ कर वा अन्य किसी आसन से बैठ कर वा कायोत्सर्ग से खड़े होकर वा पैरों को उठाते रखते हुए वा पैरों को विना उठाए रक्खे अनेक योजन चले जाते हैं।

मिनः । आकाशगामिनो ज्ञेयाः कुशलाः व्रजने च खे ॥ २०० ॥ अणिमा महिमा नाम्नी लघिमा गरिमा ततः । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्ववशित्वं वशकारकम् ॥ १ ॥ तथैवाप्रतिघातोन्तर्द्धानमदृश्यकारणम् । कामरूपित्वमित्याद्या–विक्रियर्द्धिरनेकधा ॥ २ ॥ उग्रोदीप्ततपस्तप्तोमहद्घोरतपस्ततः । सर्वकार्यविधौशक्तस्तपोघोरपराक्रमः ॥ ३ ॥ घोराद्यन्तगुणब्रह्मचर्यंस्वप्नेप्यखण्डितम् । सत्तपोतिशयर्द्धिश्चैषामता सप्तधासताम् ॥ ४ ॥ मनोवाक्कायभेदेन त्रिधा बलर्द्धिरुच्यते । सर्वांगपाठचिन्तादौसत्तपश्चरणोत्तमाः ॥ ५ । आमखेलाख्यजल्लमलोविटसर्वौषधिस्ततः । तथैवास्य–विषोदृष्टिविषर्द्धिरितियोगिनाम् ॥ ६ ॥ विश्वरोगहराज्ञेयात्रौषधर्द्धिः पराष्टधाः । सत्तपोवृत्तधर्मादिमाहात्म्यव्यक्ति–कारिणी ॥ ७ ॥ परा आस्यविषादृष्टिविषामहर्षयोद्धताः । सन्क्षीराश्राविणोमध्वाश्राविणो मुनिपुंगवाः ॥ ८ ॥ सर्पिराश्राविश्चैवामृताश्राविण ऊर्जिताः । एवंरसर्द्धिसंप्राप्ताः षड्विधास्तपयोमताः ॥ ९ ॥ द्विधाक्षेत्रर्द्धिसंप्राप्ताः

उसको आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं ॥९९–२००॥ विक्रिया ऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशत्व, बश करने वाली वशित्व, अप्रतिघात, अदृश्यता का कारण अंतधान और कामरूपित्व आदि अनेक भेद हैं ॥१–२॥ उग्रदीप्ततप, तप्ततप, महाघोरतप, समस्त कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ ऐसा घोर तप, घोर पराक्रम घोरगुण और स्वप्न में अखंडित रहने वाला घोर ब्रह्मचर्य इस प्रकार तपोतिशय ऋद्धि के सात भेद हैं ॥३–४॥ मनोबल वचनबल और कायबल के भेद से बलऋद्धि के तीन भेद हैं। वे मुनिराज इस बलऋद्धि से समस्त अंगों का पाठ और चिंतवन क्षणभर मे कर लेने के लिए समर्थ हो जाते हैं ॥५॥ आम, खेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्य विष, और दृष्टि विष ये समस्त रोगों को हरण करने वाली औषधि ऋद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। ये सब ऋद्धियाँ तप चारित्र और धर्म के महात्म्य को प्रगट करने वाली हैं ॥६–७॥ रसऋद्धि के छह भेद हैं आस्यविषा, दृष्टिविषा, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी और अमृतस्रावी। इनसे सुशोभित होने वाले मुनि रसऋद्धिधारी कहलाते हैं ॥८–९॥ क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं एक अक्षीण महानस और

इत्यक्षीणमहानमा. । जनावगाहदाःस्वस्याश्रमेक्षीणमहालयाः ॥१०॥ इमा अष्टविधाः साराः ऋद्धयोविविधास्तथा । तपामाहात्म्यजा ज्ञेया ऋषीणांशिवशर्मदाः ॥ ११ ॥ निराकांक्षास्त्रिशुध्यायेऽनघकुर्वन्तिसत्तपः । ऋद्धयः सकलास्तेषां जायन्ते स्वयमेव हि ॥ १२ ॥ जिनदीक्षामुदादाय तपोयेत्र न कुर्वते । तेषां रोगव्रजोमुत्रदुर्गतिर्नित्यभक्षणात् ॥ १३ ॥ मत्वेति शिवसिध्यर्थं कुर्वन्तुसत्तपोन्वहम् । विश्वर्द्धिजनकशक्त्या भवभीताः शिवार्थिनः ॥ १४ ॥ इतिविमलमहर्ध्यालकृता ये महान्तः सकलगुणसमुद्राः विश्वपूज्याऋषीन्द्राः । शिवगतिसुखकामा वन्दिताः सस्तुतास्ते ममनिखिल निजर्द्धीमुक्तिसिध्यैप्रदद्युः ॥ १५ ॥ मूलाचारादिशास्त्रान्वरगणिगदितान्संविलोक्यार्थतो थ मूलाचारप्रदीपाभिधममृतसम ज्ञानतीर्थंमयात्र । सम्यक्स्त्राचारदीपंजगतिसुयमिनांधर्मबीजंबुधार्च्यं मेतत्स्वान्यार्थहान्यैदुरितचयहरंप्रथसारं

आश्रम में समस्त लोगों को जगह देने वाली अक्षीण महालय इनसे सुशोभित होने वाले मुनि क्षेत्र ऋद्धिधारी कहलाते हैं ॥१०॥ इस प्रकार ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ कहलाती हैं इन सारभूत ऋद्धियों के अनेक भेद हैं तथा ऋषियों के तपश्चरण के महात्म्य से प्रगट होती हैं और उन्हें मोक्ष देने वाली होती हैं ॥११॥ जो मुनि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक विना किसी अकांक्षा के पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके अपने आप समस्त ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं ॥१२॥ जो मुनि अपनी इच्छानुसार दीक्षा धारण कर के भी तपश्चरण नही करते उनके अनेक रोग प्रगट होते हैं और नित्य भक्षण करने से परलोक में दुर्गति होती हैं ॥१३॥ यही समझ कर संसार से भयभीत हुए और मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियो को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त ऋद्धियों को प्रगट करने वाला यह श्रेष्ठ तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥१४॥ इस प्रकार जो मुनि निर्मल महा ऋद्धियों से सुशोभित हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, ऋषिराज हैं और मोक्ष गति के सुखों की इच्छा करने वाले हैं उनकी मैं वंदना करता स्तुति करता हूं। वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए मुझे अपनी समस्त ऋद्धियों को प्राप्त करें ॥१५॥ मैंने श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा कहे हुए मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों को देख कर तथा उनका सार लेकर अपने और अन्य जीवों के पाप नाश करने के लिए अमृत के समान यह मूलाचार प्रदीप नाम का सारभूत

च चक्रे ॥ १६ ॥ न कीर्तिपूजादिकलाभवांछया नवा कवित्वाद्यभिमानकांक्षया । ग्रंथः कृतः किन्तुपरार्थसिद्धये स्वधर्मवृत्त्यै भुवि केवलंमया ॥ १७ ॥ अस्मिन्ग्रंथवरेसुमार्गकथकेकिंचिन्मयोक्तं च यत् मात्रासन्धिपदादिहीनमखिला ज्ञानप्रमादादिभिः । आचारागमसंविरुद्धमथवासर्वंक्षमत्वाम्वतं पूज्ये भारति तीर्थनाथमुखजे दोषंमदीयं भुवि ॥१८॥ येपठन्तिसुविदोवरशास्त्र धर्मरत्ननिधिमात्महिताय । आदिमांगजमिमंनिरवद्यं ते विबुध्ययतिमार्गसमग्रम् ॥ १९ ॥ तत्त्वतोनुचरणादिविसौख्यं प्राप्यशक्रपदजंशुभवीजम् । चक्रिराजविभवं च निहत्य कृत्स्नकर्मकिलयान्तिशिवान्तम् ॥२०॥ ये पाठयन्तिनिपुणा यमिनः शिवाय शुद्धं यथार्थसहितं वरशास्त्रमेतत् । ते ज्ञानदानजनिताद्भुतधर्मतःस्यु लब्ध्वा-

---

ग्रंथ मुनियों के लिए बनाया है। यह ग्रंथ ज्ञान का तीर्थ है, श्रेष्ठ आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, धर्म का बीज है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है और पापों के समूह को नाश करने वाला है ॥१६॥ यह ग्रंथ मैंने न तो अपनी कीर्ति वा पूजा आदि के लाभ की इच्छा से बनाया है और न अपना कवित्व के अभिमान को दिखलाने की इच्छा से बनाया है। किंतु केवल दूसरों का उपकार करने के लिए और अपने धर्म की वृद्धि के लिए मैंने यह ग्रंथ बनाया है ॥१७॥ हे माता सरस्वती, हे तीर्थंकर के मुख कमल से उत्पन्न हुई देवी! मैंने सुमार्ग को दिखलाने वाले इस श्रेष्ठ ग्रंथ में अपने पूर्ण अज्ञान वा प्रमादिक से आचारांग शास्त्र के विरुद्ध कहा हो वा मात्रा संधि पद आदि कुछ कम कहा हो उस मेरे दोष को हे पूज्य सरस्वती तू क्षमा कर ॥१८॥ यह मूलाचार प्रदीप नाम का शास्त्र धर्मरूप रत्नों का निधि है, पहले आचारांग अंग से उत्पन्न हुआ है और निर्दोष है। इसलिये जो बुद्धिमान पुरुष अपना हित करने के लिए इसको पढ़ते हैं वे मुनियों के समस्त मार्ग को जानकर और यथार्थ रीति से उसको आचरण कर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ के सुखों को प्राप्त कर वा वहाँ के इन्द्रपद के सुखों को प्राप्त कर बचे हुए पुण्य कर्म से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त करते हैं। तथा अंतमें समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष मे जा विराजमान होते हैं ॥१९–२०॥ जो चतुर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस शास्त्र को यथार्थ अर्थ सहित शुद्ध रीति से पढ़ाते हैं वे ज्ञानदान से उत्पन्न हुए अद्भुत धर्म के प्रभाव

निर्मला: ज्ञानांगाममवोदिशन्तुसकलांसिद्धिंनिजांसंस्तुता: ॥ २५ ॥ पंचाचारपरायणा. सुगणिन: स्वाचारसंदर्शिन स्वाचाराद्यखिलांगपाठनिपुणाअध्यापका. साधव विश्वेशक्तिभरेणयोगसहिता: स्वाचारमार्गोद्यता: ये ते विश्वहितंकराश्चममवोदत्त:स्वकीयान्गुणान् ॥ २६ ॥ भवरिपुभयभीतानां शरण्यं बुधाच्यं निरुपमगुणपूर्णंस्वर्गमोक्षैकहेतुम् । गणधरमुनिसेव्यं धर्ममूल गरिष्ठ जयतु जगति जैन शासनपापदूरम् ॥ २७ ॥ विश्वेशंज्ञानतीर्थंमहितमपमल वन्दितं संस्तुत च विश्वाचारप्रदीपगुणगणजनकंतीर्थनाथै: प्रणीतम् । अर्थादंगादिपूर्वैर्गणधरयमिभिर्यन्निवद्धं मयातत् नित्यं यात्वत्रवृद्धिंसकलयतिगणैर्धर्मतीर्थं हि यावत् ॥ २८ ॥ एतद्ज्ञानसुतीर्थसारमतुलं प्रोक्तंमयासस्तुतं वद्यमेति सुलोभिन:

हैं। ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूँ वे सिद्ध परमेष्ठी तुम लोगों के लिए अपनी समस्त सिद्धि प्रदान करें ॥२५॥ इस संसार में पंचाचारों के पालन करने में तत्पर तथा अपने आचारों को दिखलाने वाले दूसरों से पालन कराने वाले जितने आचार्य हैं तथा आचारांगादि समस्त अंगों के पढ़ने पढ़ाने में निपुण जितने उपाध्याय हैं, और अपनी शक्ति के अनुसार योगों को धारण करने वाले अपने आचार मार्ग में उद्यत रहने वाले तथा समस्त जीवों का हित करने वाले जितने साधु हैं वे सब तुम्हारे लिए और मेरे लिए अपने अपने समस्त गुण प्रदान करें ॥२६॥ इस संसार में यह जैनशासन संसाररूपी शत्रु से भयभीत हुए जीवों के लिए शरणभूत है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है, उपमा रहित गुणों से पूर्ण है, स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, गणधर और मुनियों के द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म का मूल है, सर्वोत्कृष्ट है और पापों से रहित है। ऐसा यह जैनशासन तीनों लोकों में जयवंत हो ॥२७॥ जो आचार प्रदीप ज्ञान का तीर्थ है, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, वंदनीय है, स्तुति करने योग्य है, समस्त आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, अनेक गुणों के समूह को उत्पन्न करने वाला है, अर्थरूप से भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है, तथा अर्थरूप से अंग पूर्व के द्वारा गणधर परमदेवों ने इसकी रचना की है, उसी को मैंने रचना रूप में प्रगट कर दिया है ऐसा यह ग्रन्थ जब तक धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति रहे तब तक समस्त मुनियों के समूह के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे ॥२८॥ यह वंदना करने योग्य स्तुति करने योग्य उपमा रहित और सारभूत ऐसा मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान तीर्थ अत्यंत लोभ करने वाले

खिलागममिहत्रिजगच्छरण्या. ॥ २१ ॥ ये सलिखन्तिसुधिय.स्वयमेव वेम ग्रथ धनेनधनिन. खलुलेखयन्ति । ते ज्ञानतीर्थपरमोद्धरणाद्धरित्र्यां तीर्थेश्वराः किल भवेयुरहो क्रमेण ॥ ९२ ॥ रहितसकलदोषा ज्ञानपूर्णा ऋषेन्द्रा स्त्रिभुवनपतिपूज्याः शाधयन्त्वेवयत्नात् । विशदसकलकत्यर्ख्येनचाचारशास्त्रमिदमिहगणिनासकीर्तित धर्मसिध्यै ।२३। सर्वेतीर्थकरा. परार्थजनका लोकत्रयोद्योतकाः वंद्याविश्वहितोद्यता भवहराधर्मार्थकामादिदा. । अन्तातीतगुणार्णवा निरुपमामुक्तिस्त्रियोवल्लभा लोकेऽकारणबधवोनिजगुणाप्त्यैसन्तु नोव.स्तुता. ॥ २४ ॥ सिद्धामुक्तिवधूसुसगसुखिनोऽनन्तास्त्रिलोकाग्रगा ध्येयास्तत्पदकाङ्क्षिभिःमुनिवरै.प्राक्तीर्थनाथैरपि । वद्याअष्टगुणाकिता.शिवकरा.मूर्तातिगा

से समस्त आगम के पारगामी होकर तीनों लोको को शरणभूत हो जाते हैं, अर्थात् अरहंत वा सिद्ध हो जाते हैं ॥२१॥ इसी प्रकार जो बुद्धिमान् इस ग्रंथ को स्वयं लिखते है वा जो धनी धन खर्च कर लिखाते हैं वे इस पृथ्वी पर ज्ञानरूपी तीर्थ के परम उद्धार करने वाले कहे जाते हैं और इसीलिए वे अनुक्रम से तीर्थंकर पद को प्राप्त करते है ॥२२॥ यह आचारशास्त्र ग्रन्थ धर्म की सिद्धि के लिए अत्यंत प्रसिद्ध ऐसे आचार्य सकलकीर्ति ने बनाया है। जो मुनिराज समस्त दोषों से रहित हो, ज्ञान से परिपूर्ण हो और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हों वे इस ग्रंथ को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करे ॥२२३॥ इस संसार में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को प्रगट करने वाले, तीनो लोको के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले, तीनो लोकों के द्वारा वंदनीय, समस्त जीवो का हित करने वाले, संसार को नाश करने वाले, धर्म अर्थ काम आदि पुरुषार्थों को देने वाले, अनंत गुणों के समुद्र, उपमारहित मुक्तिस्त्री के स्वामी और इस लोक मे बिना कारण सबका हित करने वाले बंधु रूप हुए है। इसीलिये मैं उनकी स्तुति करता हूँ। वे तीर्थंकर परम देव मेरे लिए अपने समस्त गुण प्रदान करें ॥२४॥ इसी प्रकार अनंत सिद्ध परमेष्ठी मुक्तिरूपी स्त्री के समागम से अत्यंत सुखी हैं, तीनो लोको के शिखर पर विराजमान हैं, सिद्ध पद की इच्छा करने वाले मुनियो को ध्यान करने योग्य हैं पहले भगवान तीर्थंकर परम देव ने भी उनको वंदना की है, वे सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हैं, मोक्ष के देने वाले है अमूर्त हैं निर्मल हैं और ज्ञानरूप शरीर को धारण करने वाले

शिवपथंरत्नत्रयंनिर्मलम् । शुद्धिवाक्तनुद्देतमां च सुमृतिं बोधिंसमाधिंगुणान् तीर्थेशांसुगतिंददातुसकलं दुःखं निहत्य द्रुतम् ॥ २६ ॥ असमगुणनिधानास्तीर्थनाथाः शरण्याः जगतिरहितदेहा विश्वलोकाग्रभूताः । त्रिविधगुणमहान्तः साधवोयेखिलास्ते ममसकलसुखाप्त्यैसन्तुमांगल्यदा वः ॥ ३० ॥ पंचषष्ठ्यधिकाः श्लोकास्त्रियस्त्रिंशच्छतप्रमाः । अस्याचारसुशास्त्रस्य ज्ञेयाः पिण्डीकृताभुवि ॥ २३१ ॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक
श्रीसकलकीर्तिविरचितेनुप्रेक्षापरीषह
ऋद्धिवर्णनो नाम द्वादशमोऽधिकार ।

मेरे समस्त दुःखों को दूर कर मुझे मोक्ष मार्ग प्रदान करें निर्मल रत्नत्रय प्रदान करें, मन वचन काय की शुद्धि प्रदान करें, पंडितमरण प्रदान करें, बोधि और समाधि को प्रदान करें, तीर्थंकरों के गुणों को प्रदान करे और सबसे उत्तम गति प्रदान करे ॥२६॥ इस संसार में अनुपम गुणों के निधान और सबको शरणभूत जितने तीर्थंकर हैं तथा शरीर रहित और लोक शिखर पर विराजमान जितने सिद्ध हैं और अनेक गुणों से सुशोभित जितने आचार्य उपाध्याय साधु हैं वे सब मेरे लिये समस्त सुखो को देने वाले हों और तुम्हारे लिये समस्त मंगलों को देने वाले हो ॥२३०॥ विद्वान् पुरुषों ने इस आचार शास्त्र के समस्त श्लोकों की संख्या तीन हजार तीन सौ पंसठ बतलाई है ॥२३१॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रंथ में अनुप्रेक्षा परिषह और ऋद्धियों को वर्णन करने वाला यह बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

* समाप्त *

मुद्रक—श्री नेमीचन्द्र जैन द्वारा 'बनारसी प्रेस' जलेसर (एटा) [उत्तर प्रदेश] में छपा।